अर्थशास्त्र के आधुनिक सिद्धान्त

लेखक

केवल कृष्ण ड्यूवेट

एम० ए०, पी-एच० डी०, पी० ई० एस० (I)

अवकाशप्राप्त

प्रिंसिपल, दयालसिंह कालेज, नई दिल्ली

भूतपूर्व अध्यक्ष पंजाब विश्वविद्यालय अर्थशास्त्र विभाग;

सह लेखक : भारतीय अर्थशास्त्र, प्रारम्भिक अर्थशास्त्र

लेखक : इकॉनॉमिक्स फॉर बैंकर्स

(चौथा संस्करण)

१९६०

प्रीमियर पब्लिशिंग कम्पनी

पुस्तक प्रकाशक तथा विक्रेता

फव्वारा—दिल्ली

लेखक की अन्य पुस्तकें--

भारतीय अर्थशास्त्र—१९५९ १५)
सुबोध अर्थशास्त्र-सिद्धान्त १९५७ ६)
सुबोध भारतीय अर्थशास्त्र १९६० ७)
इनके अतिरिक्त ये ग्रन्थ अंग्रेजी में भी उपलब्ध हैं।

प्रीमियर पब्लिशिंग कम्पनी
(एस० चन्द एण्ड कम्पनी से सम्बद्ध)
आसफ अली रोड नई दिल्ली
फव्वारा दिल्ली
माई हीरा गेट जालन्धर
लाल बाग लखनऊ

मूल्य १०.५० नये पैसे

श्यामलाल गुप्ता, प्रीमियर पब्लिशिंग कम्पनी, फव्वारा, दिल्ली द्वारा प्रकाशित
तथा राकेश प्रेस, अजीज गंज, दिल्ली में मुद्रित

प्रस्तावना

प्रस्तुत ग्रन्थ मेरी 'Modern Economic Theory' के आठवें संस्करण के आधार पर तय्यार किया गया है। इस संस्करण मे भाषा को पूर्ववर्ती संस्करण की तुलना में काफी निखार दिया गया है और उस संस्करण में यत्र-तत्र जो त्रुटियाँ रह गई थीं, उनका परिहार कर दिया गया है। इस संस्करण की एक प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें कई अध्यायों—विशेषकर नियोजन सिद्धान्त, व्यापार चक्र और घाटे की वित्त-व्यवस्था को फिर से लिखा गया है। पुस्तक की एक अन्य उल्लेखनीय विशेषता लोकहितकारी राज्य सम्बन्धी सामग्री का समावेश है। वर्तमान हिन्दी संस्करण का आकार भी पूर्ववर्ती संस्करण की अपेक्षा कुछ कम कर दिया गया है लेकिन महत्त्व की कोई बात नहीं छूटने दी गई है।

वर्तमान हिन्दी संस्करण के संशोधन और संपादन का कार्य सर्वश्री विश्व प्रकाश एवं राजेन्द्र प्रकाश ने किया है। इसके लिए मैं उनका हृदय से आभार स्वीकार करता हूँ। मुझे पूरी आशा है कि यह संस्करण छात्रों तथा अध्यापकों और आर्थिक समस्याओं में रुचि रखने वाले सामान्य प्रबुद्ध जनों के लिए समान रूप से उपयोगी एवं लाभप्रद सिद्ध होगा।

नई दिल्ली
१५ मई, १९६०

—लेखक

विषय-सूची

अर्थशास्त्र के आधुनिक सिद्धान्त

(MODERN ECONOMIC THEORY)

अध्याय १

अर्थशास्त्र का स्वरूप तथा क्षेत्र

(The Nature and Scope of Economics)

१ परिभाषा की समस्या (The Problem of Definition)—डा० जे० एन० कीन्स (Dr J. N Keynes) का यह कथन अनुचित नही है कि "राज्य अर्थशास्त्र अथवा अर्थविज्ञान अपनी परिभाषाओं में फँसा हुआ है।'[1] अतएव कुछ ऐसे भी अर्थशास्त्री है, जैसे रिचर्ड जोन्स (Richard Jones) और कॉम्टे (Comte) जो अर्थशास्त्र की किसी प्रकार की परिभाषा की आवश्यकता ही नही समझते। परन्तु एक विद्यार्थी को अपने अध्ययन के आधार के लिए किसी न किसी परिभाषा की बहुत जरूरत होती है। इसके अतिरिक्त, परिभाषा की ओर ले जानेवाली चर्चा विषय के स्पष्टीकरण के लिए बहुत लाभदायक है। इसलिए हमको समय-समय पर दी गई परिभाषाओं पर विचार करना चाहिए।

२ क्या अर्थशास्त्र धन का विज्ञान है ? (Is Economics a Science of Wealth ?)—एडम स्मिथ (Adam Smith) के कथनानुसार, अर्थशास्त्र का सम्बन्ध 'राष्ट्रों के धन के स्वरूप तथा कारणों की जाँच' से था।[2] प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने अर्थशास्त्र को धन का विज्ञान (science of wealth) कहा था। अब स्थिति बदल गई है।

धन का अत्यधिक महत्त्व कम हो गया है। आजकल यह सर्वमान्य है कि धन केवल लक्ष्य का एक साधन है, लक्ष्य तो मानवीय कल्याण (human welfare) है। धन न तो मनुष्य का एकमात्र लक्ष्य तथा उसके प्रयत्नों का अन्त है और न यह समझा जा सकता है कि केवल यह ही मनुष्य के सुख का एकमात्र कारण हो सकता है। अब धन के स्थान पर मनुष्य का महत्त्व अधिक हो गया है। मनुष्य का स्थान प्राथमिक और धन का द्वितीय है। मार्शल (Marshall) का कथन उचित है कि 'अर्थशास्त्र एक ओर धन का अध्ययन है और दूसरी ओर, जो अधिक महत्त्वपूर्ण है, मनुष्य के अध्ययन का एक भाग है।'[3] इस प्रकार अर्थशास्त्र धन का विज्ञान नहीं है परन्तु प्राथमिक रूप से मनुष्य का अध्ययन है। इसको मनुष्य के कल्याण का विज्ञान कहा जा सकता है।

---

1 Keynes J N —Scope and Method of Political Economy 1930, p. 153

2 According to Adam Smith, 'Economics was concerned with an enquiry into the nature and causes of wealth of Nations'

3 'Economics is on the one side a study of wealth and on the other and more important side, a part of study of man —Marshall, A Principles of Economics (8th ed) p 1

• अर्थशास्त्र मनुष्य की उन चेष्टाओं का अध्ययन है जो कि मनुष्य के भौतिक कल्याण मे सहायक है।

अर्थशास्त्रियों ने अपना सम्बन्ध भौतिक कल्याण से क्यों रखा है ? मानवीय कल्याण प्रत्येक प्रकार से ही अमाप्य है। परन्तु अर्थशास्त्रियों के पास एक ऐसा उपकरण है जिससे भौतिक दृष्टिकोण से मनुष्य का कल्याण नापा जा सकता है। यह उपकरण धन है। यह मानव जाति को उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति के भौतिक साधन प्राप्त कराता है और उसके कल्याण को बढाता है। जो अर्थशास्त्री धन का अध्ययन करते हैं, वे वास्तव मे भौतिक कल्याण के कारणों का अध्ययन ही करते हैं।

परन्तु लियोनेल रॉबिन्स (L Robbins) ने इस धारणा पर सीधा वार किया है। वह अर्थशास्त्रियों के लिए यह उचित नहीं समझते कि वे अपने विचार भौतिक कल्याण तक ही सीमित रखे। अर्थशास्त्र के वास्तविक अध्ययन मे "भौतिक" तथा 'अभौतिक" दोनों कल्याण मिश्रित हैं। 'मजदूरी का वह सिद्धान्त असहनीय होगा जिसके अनुसार धनराशि को या तो 'अभौतिक' सेवाओं के चुकाने मे या 'अभौतिक' लक्ष्यों के लिए व्यय किया गया हो।"[1] अर्थशास्त्रियों ने उत्पादन की 'अभौतिक' परिभाषा को भी एकमत से ग्रहण किया है। रॉबिन्स ने अपनी पुस्तक "Nature and Significance of Economic Science" म उन पदार्थों के अनेक उदाहरण दिए हैं जो मानवीय कल्याण के लिए अत्यन्त सहायक हैं परन्तु जिनमे कोई भी भौतिकता नही है। उदाहरणार्थ डाक्टरों, वकीलों इत्यादि की सेवाएँ। इन सेवाओं का आर्थिक महत्त्व है। वे दुर्लभ हैं और उनका मूल्य है। रॉबिन्स का कथन है "वह तुष्टि के साधनों की भौतिकता नहीं है वरन् उनसे मूल्य निर्णय का सम्बन्ध है जो उनको आर्थिक माल की प्रतिष्ठा देता है।" यह 'भौतिक' परिभाषा निन्दित निर्बाधावादी (Physiocratic) विचारों पर आधारित है। इस प्रकार अर्थशास्त्र का भौतिक तथा अभौतिक दोनों वस्तुओं से सम्बन्ध है।

रॉबिन्स (Robbins) का विरोध केवल 'भौतिक' शब्द से ही नहीं है। वे अर्थशास्त्र का कल्याण से कोई भी सम्बन्ध नहीं रखना चाहेंगे। जो अर्थशास्त्र का कल्याण की दृष्टि से अध्ययन करते हैं उनकी असन्तुलित स्थिति स्पष्ट है। मादक वस्तुएं धन समझी जाती हैं। परन्तु किसी भी दृष्टिकोण से वे मनुष्य के कल्याण मे सहायक नहीं मानी जा सकती। दुर्लभ होने के कारण वे 'मूल्य निर्णय विधि' (Pricing Process) के अधीन हैं। संक्षेप मे उनका आर्थिक महत्त्व है, यद्यपि वे मानवीय कल्याण के लिए उपयोगी नहीं हैं। रॉबिन्स कहते हैं, "कल्याण की बात क्यों की जाए ? इस परदे को बिलकुल हटा क्यो न दिया जाए ?"

इन अनियमितताओं के अतिरिक्त जिनमे कल्याण में विश्वास करने वाले अर्थशास्त्री फँस जाते हैं कुछ अन्य कारण भी हैं, जो केवल आर्थिक विमर्शों से कल्याण के विचार को हटा देते हैं। कल्याण के विचार समय-समय पर देश देश मे और व्यक्ति

---

1 "A theory of wages which ignored all those sums which were paid for immaterial services or spent on immaterial ends would be intolerable"
—Robbins, Nature and Significance of Economic Science, p. 6

व्यक्ति के अनुसार भिन्न होते हैं। एक सम्भावित विज्ञान के लिए कल्याण पर्याप्त आधार प्रदान करने में अत्यन्त अस्थिर और अनिश्चित सुझाव है।

एक एतराज यह भी है कि मानवीय कल्याण के निर्धारण में हमको यह निर्णय देना होगा कि हम मानवीय कल्याण के लिए क्या सहायक समझते हैं और क्या इतना सहायक नहीं समझते। हम लोग नीतिशास्त्र (Ethics) के क्षेत्र में पहुँच जाएँगे जब कि रॉबिन्स (Robbins) के मतानुसार अर्थशास्त्र लक्ष्य के सम्बन्ध में तटस्थ है। इसका कार्य नैतिकता का पाठ पढाना और बुरे-भले का अन्तर बताना नहीं समझा जाता।

इस प्रकार अर्थशास्त्र भौतिक कल्याण के कारणों का अध्ययन नहीं समझा जा सकता। "अर्थशास्त्र चाहे जिससे भी सम्बद्ध हो, यह भौतिक कल्याण के इस प्रकार के कारणों से सम्बद्ध नहीं है।"[1]

४ रॉबिन्स की परिभाषा (Robbins's Definition)—मार्शल ने अर्थशास्त्र की परिभाषा की समस्या सम्भवतः हल कर दी थी और अनेक विद्वानों के मत उनके विचारों पर निर्धारित हैं। परन्तु रॉबिन्स की पुस्तक "Nature and Significance of Economic Science" के सन् १९३१ में प्रकाशन से वाद-विवाद फिर से चलने लगा।

लियोनेल रॉबिन्स ने अर्थशास्त्र के स्वरूप के प्रचलित दृष्टिकोण को चुनौती दी। हमने ऊपर उनके कुछ विरोधों का उल्लेख किया है। वह अब तक की स्वीकृत और विख्यात अर्थशास्त्र की परिभाषाओं को वर्गीकृत तथा अवैज्ञानिक कहता है। "भौतिक" शब्द ने अर्थशास्त्र का अनावश्यक रूप से सीमित कर दिया है। अर्थशास्त्र की कल्याण की धारणा में व्यापकता और वैज्ञानिक सूक्ष्मता नहीं है। रॉबिन्स का दृढ़ कथन है कि उनकी परिभाषा में इनमें से कोई भी त्रुटि नहीं है।

रॉबिन्स के अनुसार "अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जिसमें मानव-व्यवहार का साध्य और न्यून और अनेक उपयोग वाले साधनों के बीच सम्बन्ध के रूप में अध्ययन किया जाता है।"[2] विश्लेषण द्वारा हमको ज्ञात होगा कि यह परिभाषा उन तीन मूल प्रस्तावनाओं को स्पष्ट करती है जो अर्थशास्त्र के आकार के आधार का निर्माण करती हैं।

'दुर्लभ' शब्द यहाँ पर एक विशेष अर्थ म प्रयोग किया गया है। इस दुर्लभता का सम्बन्ध आवश्यकताओ से है। दुर्लभता का अर्थ निरपेक्ष भाव म नही लेना चाहिए। एक वस्तु थोडी मात्रा म हो सकती है, किन्तु यदि इसका किसी के लिए कोई उपयोग नही है तो हम इसको आर्थिक दृष्टिकोण से दुर्लभ नही कहेगे। इस प्रकार दुर्लभता सापेक्ष शब्द है।

(ग) रॉबिन्स की परिभाषा के अन्तर्गत तीसरी प्रस्तावना यह है कि दुर्लभ साधनो के अनेक उपयोग हो सकते हैं। यदि एक वस्तु का एक ही उपयोग हो सकता हो और अन्य कोई नही तो उसके सम्बन्ध म बहुत कम आर्थिक समस्याएँ उठेंगी। जब इसका वह उपयोग हो चुकेगा तो यह स्वामित्वहीन वस्तु हो जाएगी और इसका कोई आर्थिक महत्त्व नही होगा।

जब तक ये सब परिस्थितियाँ नही है तब तक कोई आर्थिक समस्या उत्पन्न नही होगी। केवल साध्या का वर्द्धन अथवा केवल साधनो की दुर्लभता न तो आर्थिक समस्या और न केवल दुर्लभ साधनो की वैकल्पिक प्रयोजनीयता उत्पन्न कर सकती है। "परन्तु जब साध्य की प्राप्ति के लिए समय और साधन सीमित तथा वैकल्पिक प्रयोग के योग्य होते हैं और साध्य महत्व की दृष्टि से विभेद योग्य होते हैं, तब व्यवहार अवश्य ही इच्छा या रुचि (choice) का रूप धारण कर लेता है।"[1] अर्थात् इसका एक आर्थिक रूप होता है।

रॉबिन्स के "मतानुसार आर्थिक चेष्टा अनेक साध्यो को पूरा करने के लिए मनुष्य के दुर्लभ साधनो का उपयोग है। 'साधनो' का अभिप्राय समय, द्रव्य अथवा किसी अन्य प्रकार की सम्पत्ति से है। वे सब सीमित है।'[2]

प्रत्येक दशा म हम अपने सीमित स्रोतो का अधिकतम उपयोग करने की कोशिश करते हैं। राज्य के दृष्टिकोण से 'अर्थशास्त्र उन नियमो का अध्ययन है जिन पर एक समाज के स्रोत इस प्रकार नियमित तथा प्रशासित हो जिनमे सामाजिक लक्ष्य बिना क्षय के प्राप्त हो सकें।"[3]

स्टिगलर (Stigler) के शब्दो म "अर्थशास्त्र उन सिद्धान्तो का अध्ययन है जो प्रतिस्पर्द्धी लक्ष्यो म न्यून साधनो के बँटवारे को नियत करता है जब कि बँटवारे का उद्देश्य लक्ष्यो की प्राप्ति को परम सख्या तक बढाना है।"[4]

रॉबिन्स ने इस प्रकार अर्थशास्त्र के भौतिक कल्याण पर आधारित पुराने ढाँचे

---

1 But when time and means for achieving ends are limited and capable of alternative application and the ends are capable of being distinguished in order of importance then behaviour necessarily assumes the form of choice' Robbins—Nature and Significance of Economic Science p 14

2 Economic action lies in man's utilisation of scarce means for the satisfaction of multiple ends The means refer to time money or any other form of property They are all limited Robbins

3 Study of those principles on which the resources of a community should be so regulated and administered as to secure communal ends without waste —Wicksteed

4 Economics is the study of the principles governing the allocation of scarce means among competing ends when the objective of allocation is to maximise the attainment of the ends Stigler G J Theory of Price (1947), p 12

को तोड़ दिया है और एक नया स्वरूप दिया है, जिसके दो आधार हैं, आवश्यकताओं की वृद्धि तथा साधनों की दुर्लभता।

रॉबिन्स का यह दृढ़ विश्वास है कि उनकी परिभाषा दूसरी परिभाषाओं से श्रेष्ठ है। यह अधिक वैज्ञानिक है। यह उस सकुचित क्षेत्र को बढ़ाती है जिसमे कि भौतिक परिभाषा अर्थशास्त्र को सकुचित करती है। यह कुछ ऐसे सिद्धान्त सामने रखती है जो हर समय प्रत्येक स्थान पर सही हैं। जैसा कि विक्स्टीड (Wicksteed) का कथन है 'अर्थशास्त्र के नियम जीवन के नियमों की भाँति हैं और उन क्षेत्रों के अनुकूल हैं जिनका कारबार तथा धन के उत्पादन से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है।"

जब अर्थशास्त्र की यह परिभाषा की जाती है तब इस पर लालच या नीचता अथवा कुबेर की पूजा का कोई आरोप नहीं लगाया जा सकता। इसको अब एक 'निकृष्ट' (dismal) विज्ञान नहीं कहा जा सकता। इस पर साध्यों के चुनाव का कोई उत्तरदायित्व नहीं है। साध्य अच्छे हों या बुरे, इनका अर्थशास्त्र से कोई सम्बन्ध नहीं है। जहाँ कहीं साध्य अनेक हैं तथा साधन न्यून हैं वहीं अर्थशास्त्र का उससे सीधा सम्बन्ध है।

परन्तु रॉबिन्स (Robbins) के भी समालोचक हैं। मार्शल (Marshall) की विचारधारा का अभी अन्त नहीं हुआ है। डरबिन (Durbin) फ्रेजर (Fraser) वूटन (Wootton) तथा बेवरिज (Beveridge) जैसे अर्थशास्त्रियों ने मार्शल के अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों की बड़ी रक्षा की है। वूटन (Wootton) का कथन है "अर्थशास्त्रियों के लिए यह बहुत ही कठिन है कि वे अपने विवेचन से अर्थशास्त्र के आदर्श के महत्त्व का पूर्ण अपहरण करें।' फ्रेजर (Fraser) के अनुसार "अर्थशास्त्र का मूल्य सिद्धान्त अथवा साम्य विश्लेषण से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है।" यद्यपि रॉबिन्स (Robbins) की अर्थशास्त्र की धारणा अधिक वैज्ञानिक है फिर भी साध्यों के प्रति वह निष्पक्ष, व्यक्तिगत और तटस्थ है। उनका कहना है "साम्य का अर्थ केवल साम्य या समतोल ही है।"

कहा जाता है कि रॉबिन्स (Robbins) ने अर्थशास्त्र को केवल मूल्य निर्धारण का सिद्धान्त ही बना दिया। अर्थशास्त्र के अध्ययन के अन्य रूपों की उपेक्षा की गई है। रॉबिन्स की परिभाषा उस एकत्रित ज्ञान को जो विद्यमान है परिमित नहीं करती परन्तु यह अर्थशास्त्र के क्षेत्र से उसके उस भाग को जो पहले से मौजूद था, अलग कर देती है।[1]

रॉबिन्स (Robbins) की परिभाषा में मानवीय स्पर्श नहीं के समान है। ऐली (Ely) के अनुसार यह दृढ़ कथन उचित होगा कि 'अर्थशास्त्र विज्ञान से कहीं बढ़कर है। यह एक ऐसा विज्ञान है जो मानव-जीवन के अनेक प्रकार के रूपों में व्याप्त है जिसके लिए केवल क्रमानुसार विचार ही नहीं वरन् मानवीय सहानुभूति,

1 Robbins it is said has reduced Economics merely to valuation theory. Other aspects of the study of Economics have been relegated to the background. Robbins's definition does not circumscribe an aggregate already in existence but it leaves outside the city wall a part of the city already existing. A paper read by M. H. Gopal in the Indian Economic Conference held in 1940

कल्पना तथा असाधारण माना मे व्यावहारिक ज्ञान का सचित अनुग्रह भी आवश्यक है।"[1]

रॉबिन्स ने अर्थशास्त्र को अधिक निराकार तथा गूढ और इसीलिए कठिन बना दिया है। यह साधारण मनुष्य के लिए उसकी उपयोगिता घटा देता है। अर्थशास्त्र की उपयोगिता अधिक मात्रा म ठोस और वास्तविक अध्ययन म है।

५ **अर्थशास्त्र का क्षेत्र** (Scope of Economics)—विरोध केवल अर्थशास्त्र की परिभाषा पर ही नही वरन् उसके क्षेत्र के सम्बन्ध म भी है। अर्थशास्त्र के क्षेत्र की चर्चा में हमारा सम्बन्ध विशेषकर उसके विषय से सम्बद्ध प्रश्नों से होता है। क्या यह व्यक्ति का पृथक् अध्ययन करता है अथवा समाज के एक सदस्य के रूप म? क्या यह व्यावहारिक समस्याओं को हल कर सकता है? क्या यह वास्तविक विज्ञान (Positive Science) है अथवा आदर्श विज्ञान (Normative Science) है?

विषय (Subject matter)—हम पहले परिभाषा म ही इसके विषय का उल्लेख कर चुके हैं। हम फिर दोहरा सकते हैं कि मनुष्य की व सब चेष्टाएँ जिनका सम्बन्ध धन से है अथवा वे सब घटनाएँ जो 'प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से द्रव्य के मापदण्ड से सम्बद्ध की जा सकती हैं" अर्थशास्त्र से सम्बद्ध हैं। रॉबिन्स (Robbins) का अभिप्राय है कि अर्थशास्त्र का सम्बन्ध उन मानव व्यवहारों से है जो असीमित साध्यों को तृप्त करने वाले वैकल्पिक उपयोग वाले दुर्लभ साधनों के प्रयोग से जुड़े हैं। अवश्य ही इसम चुनाव और मूल्य निर्णय (valuation) की आवश्यकता है। अतएव यह कहा जाता है कि मूल्य निर्णय प्रत्येक दृष्टिकोण मे अर्थशास्त्र की मुख्य समस्या है।

वास्तव म अर्थशास्त्र का विषय बहुत विस्तृत है। यह मनुष्य की आवश्यकताओं का विश्लेषण करता है और उनकी तृप्ति के नियमों को स्पष्ट करता है। यह उत्पादन के उन चार साधनों के प्रयत्नों का जो धन के उत्पादन म लगे हैं और उनकी कार्य-पटुता की हालतों का अध्ययन करता है। इसके बाद वह यह चर्चा करता है कि माँग और पूर्ति की शक्तियाँ कैसे परस्पर प्रतिक्रिया करती हैं और धन का वितरण समाज के विभिन्न उत्पादकों म कैसे होता है। विनिमय (exchange) की रचना द्रव्य तथा बैंकिंग प्रथाओं पर आधारित है तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की समस्याएँ, वैदेशिक विनिमय और सार्वजनिक वित्त भी इसके अध्ययन के मुख्य भाग हैं।

एक सामाजिक विज्ञान (A Social Science)—अर्थशास्त्र प्राथमिक रूप से मनुष्य का अध्ययन है न कि धन का। किन्तु यह एक ऐसे व्यक्ति का, जिसने ससार को छोड़ दिया हो अध्ययन नहीं करता। दूसरी ओर यह उन व्यक्तियों का अध्ययन करता है जो समाज मे रहते हैं, अपने कार्यों से समाज को प्रभावित करते हैं और जिन पर समाज का प्रभाव पड़ता है।

क्या यह व्यावहारिक समस्याओं को हल कर सकता है? (Can it Solve

---

1 'Economics is something more than a science a science shot through with the infinite variety of human life calling not only systematic thinking but for human sympathy imagination and in an unusual degree for the saving grace of common sense —Fly and others—Outline of Economics (1930), p 4

Practical Problems?)—अंग्रेज अर्थशास्त्रियों का प्राय यह विश्वास है कि अर्थशास्त्र का उद्देश्य यह नही है कि वह व्यावहारिक समस्याओं को हल करे। यद्यपि इन समस्याओं का आर्थिक स्वरूप बहुत महत्वपूर्ण और परमावश्यक हो सकता है तब भी केवल आर्थिक आधारों पर ही कोई समस्या हल नहीं की जा सकती, क्योंकि वह राजनीतिक विचारो से भी प्रभावित हो सकती है। 'अर्थशास्त्र के सिद्धान्त में ऐसे निश्चित निष्कर्ष प्राप्त नहीं हैं जिनका नीति के लिए तत्काल प्रयोग हो सकता हो। यह एक सिद्धान्त नहीं वरन् एक प्रणाली है, मस्तिष्क का एक यन्त्र तथा विचार की एक कला है जो इसके अधिकारी को सही हल प्राप्त करने में सहायता करती है।"[1]—कीन्स

हम इस कथन से पूरे तौर पर सहमत नहीं हैं। कोई अर्थशास्त्री इस आदर्श का प्रतिपादन नहीं कर सकता है। एडम स्मिथ (Adam Smith), रिकार्डो (Ricardo) माल्थस (Malthus) तथा इस युग के स्वर्गीय लार्ड कीन्स (Lord Keynes) ने भी अपने-अपने समय की समस्याओं में तीव्र रुचि रखी है। फ्रेजर (Fraser) के शब्दों में "वह अर्थशास्त्री जो केवल अर्थशास्त्री ही है एक शोचनीय दशा वाली सुन्दर मछली के समान है।"[2] टगवेल (Tugwell) के अनुसार यह अर्थशास्त्र का अधूरा विकास है जो उसको व्यावहारिक जीवन से अलग करने का उत्तरदायित्व रखता है। वूटन (Wootton) यह असंतोष प्रकट करते हैं कि 'हम सैद्धान्तिक साधनों के गढ़ने में अधिक समय और उनका व्यावहारिक प्रयोग करने में कम समय व्यतीत करते हैं।'[3] अतएव यह अधिकाधिक अनुभव किया जाता है कि अर्थशास्त्री को व्यावहारिक समस्याओं को अवश्य ही हल करना चाहिए। जब हम अर्थशास्त्र का अध्ययन करते हैं तो "हमारी प्रवृत्ति एक दार्शनिक की प्रवृत्ति अर्थात् ज्ञान के हेतु ज्ञान नहीं है वरन् ऐसा ज्ञान है जो शरीर-विज्ञान शास्त्री के व्याधिमुक्त ज्ञान के समान पीडाओं को दूर करने में सहायता दे।"[1] —पीगू

अतएव हमारा मत यह है कि अर्थशास्त्री को व्यावहारिक समस्याओं को हल करने में सहायक होना चाहिए। वह ऐसा करने में आर्थिक ज्ञान से रहित एक राजनीतिज्ञ की अपेक्षा कहीं अच्छी स्थिति में है। अर्थशास्त्रियों से प्रतिदिन की व्यावहारिक समस्याओं पर सलाह और सहायता ली जाती है। पीगू के शब्दों में "अर्थशास्त्र का मूल्य न तो बुद्धि-सम्बन्धी व्यायामशाला होने में है और न अपने लिए सच्चाई

1 The theory of Economics does not furnish a body of settled conclusions immediately applicable to policy. It is a method rather than a doctrine, an apparatus of the mind, a technique of thinking which helps its possessor to draw correct conclusions. —Keynes

2 An Economist who is only an Economist is a poor pretty fish. —Fraser

3 We spend too much time forging theoretical tools and too little time in trying to make practical use of them. —Wootton

4 Our impulse is not the philosopher's impulse, knowledge for the sake of knowledge, but rather the physiologist's, knowledge for the healing that knowledge may help to bring. —Pigou

स्थापित करने के साधन में, परन्तु नीतिशास्त्र की दासी तथा व्यवहार का एक दास होने में है।"[1]

क्या यह वास्तविक विज्ञान है अथवा आदर्श विज्ञान ? (Is it a Positive or a Normative Science ?) वास्तविक विज्ञान (Positive Science) हमको सिखाता है कि "क्या है" किन्तु आदर्श विज्ञान हमको सिखाता है कि "क्या होना चाहिए।" अर्थात् वह किसी वस्तु के सत्य और असत्य भागों का प्रतिपादन करता है। हम अब यह विचार करेंगे कि अर्थशास्त्र शील का निर्णय कर सकता है या सिर्फ वस्तुओं का 'कारण' स्पष्ट कर सकता है। अंग्रेजी प्रतिष्ठित सम्प्रदाय (English Classical School) के मतानुसार अर्थशास्त्री का आर्थिक स्थिति की सत्यता या असत्यता की व्याख्या करने का कोई कार्य नहीं था। सीनियर (Senior) का विचार था कि अर्थशास्त्री सलाह का एक शब्द भी नहीं जोड सकता। कैरनस (Cairnes) के अनुसार अर्थशास्त्र साध्यों के सम्बन्ध में पूर्णतया इस प्रकार तटस्थ है जैसे यान्त्रिकी विज्ञान (Mechanics) रेलों के निर्माण की नाना योजनाओं में निष्पक्ष रहता है। हाल ही में रॉबिन्स (Robbins) ने इस तटस्थता को फिर से पुष्ट किया है। उनके अनुसार अर्थशास्त्र का सम्बन्ध 'साध्यों' (ends) के उचित तथा अनुचित होने से नहीं है। '*अर्थशास्त्री का कार्य अधिकाधिक रूप में एक ऐसे विशेषज्ञ जैसा दिखाई* देता है जो यह बता सके कि अमुक कार्यों से कैसे नतीजे निकलने वाले हैं, किन्तु अर्थशास्त्री के नाते वह उन कार्यों की वाञ्छनीयता के बारे में निर्णय नहीं दे सकता।" यह कहा जाता है कि अर्थशास्त्री का कार्य खोज करना और व्याख्या करना है न कि समर्थन करना या निन्दा करना। हमारे विचार में यह उचित मत नहीं है।

हम हॉट्रे (Hawtrey) से सहमत हैं कि अर्थशास्त्र नीतिशास्त्र से पृथक् नहीं किया जा सकता है। 'आर्थिक यथार्थता" (economic ought) पर भी विचार करना पड़ता है। उदाहरणार्थ धन के अनुचित वितरण के कारणों का विश्लेषण करके अर्थशास्त्री यह कहने में क्यों संकोच करें कि इसका उचित रूप से वितरण होना चाहिए ? "अतएव मनोविज्ञान से रहित अर्थशास्त्र को अवश्य ही या तो एक दिखावटी कल्पना या स्पष्ट रूप से अवैज्ञानिक शास्त्र समझना चाहिए। यह हैमलेट का ड्रामा बिना हैमलेट के है।"[2] अतएव अर्थशास्त्र वास्तविक विज्ञान तथा आदर्श विज्ञान दोनों है। हम रॉबिन्स (Robbins) के इस कथन से सहमत नहीं हैं कि *वास्तविक अर्थशास्त्र और आदर्श अर्थशास्त्र में इतना अधिक अन्तर है कि मनुष्य की* कोई उक्ति उसकी पूर्ति नहीं कर सकती। किसी अच्छे अर्थशास्त्री का यह कर्तव्य है कि वह इस खाई को पूरा करे। जब साध्य भी दिए हुए हों तो अर्थशास्त्र उन साधनों पर निर्णय कर सकता है जो उन साध्यों की प्राप्ति के लिए प्रयोग में लाए जाने चाहिएँ।

1 Economics is chiefly valuable neither as an intellectual gymnastic, nor as a means of winning truth for its own sake but as a handmaid of Ethics and a servant of practice —Pigou

2 Wolfe in Tugwell's Trends of Economics (1935) p 460

साध्य और साधन (Ends and Means)—यह उल्लेख किया जा चुका है कि अर्थशास्त्र का सम्बन्ध साधनों से है और साध्य उसके क्षेत्र से बाहर हैं। इसका अर्थ केवल यह है कि साध्यों या उद्देश्यों के स्थिर करने में अर्थशास्त्र का कोई हाथ नहीं है। यह निश्चित करना सरकार अथवा व्यक्तियों का कार्य है कि वे क्या पाना चाहते हैं अथवा क्या करना चाहते हैं। जब वे यह निश्चित कर लेते हैं तब अर्थशास्त्री यह सलाह देते हैं कि स्रोतों के कम-से-कम खर्च में उन साध्यों को कैसे भली भाँति प्राप्त किया जा सकता है। अर्थशास्त्री केवल विशिष्ट साध्यों की पूर्ति के लिए साधनों के न्यूनतम उपयोग का समर्थन करते हैं। अर्थशास्त्र साध्यों को सापेक्ष मूल्य निर्णय (relative valuation) के परिमाणों में दिए गए रूप में लेता है। यह केवल इन साध्यों की पूर्ति के लिए साधनों के उपयोग की व्याख्या कर सकता है। इस विचार से साध्य इसके क्षेत्र से बाहर हैं।

अतएव यह नतीजा निकलता है कि अर्थशास्त्री पर साध्यों के स्वरूप की कोई जिम्मेदारी नहीं है। साध्य चाहे श्रेष्ठ अथवा अप्रतिष्ठित हों, अर्थशास्त्री उनसे सम्बन्ध नहीं रखता।

६ अर्थशास्त्र का अन्य विज्ञानों से सम्बन्ध (Relation of Economics to other Sciences)—अर्थशास्त्र के स्वरूप का अध्ययन करके अब हम इसके अन्य विज्ञानों से सम्बन्ध पर विचार कर सकते हैं। मानव स्वभाव एक समान है। मनुष्यों की समस्याओं का आर्थिक दृष्टिकोण दूसरे—कानून सम्बन्धी, राजनीतिक इत्यादि—दृष्टिकोणों से जुदा नहीं किया जा सकता। अतएव अर्थशास्त्र का अन्य विज्ञानों से गहरा सम्बन्ध है। यह प्रत्येक विज्ञान मुख्यत इतिहास, गणित, सांख्यिकी (Statistics), भौतिक विज्ञान, मनोविज्ञान आदि से बहुधा सहायता लेता है। तब भी अर्थशास्त्र न तो भौतिक विज्ञानों के नियमों को निश्चित करने का और न उनकी व्याख्या करने का प्रयत्न करता है। यह उनका प्रयोग केवल अपने निष्कर्षों के आधारों के लिए करता है।

अर्थशास्त्र में मनोविज्ञान का अधिक उपयोग हुआ है। वरण के सिद्धान्त (Law of Choice) का जो अर्थशास्त्र का परम मूल सिद्धान्त है, एक मनोवैज्ञानिक आधार है। मिल (Mill) की व्याख्या के अनुसार 'अर्थशास्त्र एक शीलाचार सम्बन्धी अथवा मनोवैज्ञानिक विज्ञान है।'[1] जैवन्स (Jevons) ने इसको और अधिक मनोवैज्ञानिक बना दिया है। उनके लिए "अर्थशास्त्र के सिद्धान्त उपयोगिता तथा आत्महित की रचना और केवल सुख और दुःख की गणना के आधार हैं।"[2]

वास्तव में अर्थशास्त्र का अन्य सामाजिक विज्ञानों से गहरा सम्बन्ध है। काम्टे (Comte) जैसे दार्शनिक, अर्थशास्त्र को समाजशास्त्र के अधीन मानेंगे और इसे उसका एक अंग समझेंगे। परन्तु समाजशास्त्र का विकास होना अभी बाकी है जबकि

---

1 Mill described Political Economy as a moral or psychological science

2 The theory of Economics is the mechanics of utility and self interest entirely based on a calculus of pleasure and pain —Jevons

अर्थशास्त्र उन्नत अवस्था पर पहुँच गया है। इसलिए इसका जुदा अध्ययन हो सकता है। यह विशेषीकरण वैज्ञानिक पूर्णता के लिए अत्यधिक सहायक है, यद्यपि इसको पूरे तौर से स्वतन्त्र विज्ञान मानना अनुचित है। अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र को पूरी तौर से जुदा करने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र का गहरा सम्बन्ध है क्योंकि समस्त आर्थिक चेष्टाएँ नैतिक विचारो से अवश्य ही प्रभावित होनी चाहिएँ। उत्पादन तथा वितरण की चर्चा करने मे हमे नैतिक विचार सदैव ध्यान म रखना चाहिए। आर्थिक चेष्टाओ का सचालन आचार के क्षेत्र मे ही होना चाहिए। प्राचीन अर्थशास्त्री अर्थशास्त्र को नीतिशास्त्र के अधीन मानते थे। वह (अर्थशास्त्र) केवल 'नीतिशास्त्र का दास ही नही था वरन् उसके इस पुष्ट तथा समृद्धिशाली सहविज्ञान ने उसे कुचलकर नष्ट कर दिया।"

हम अर्थशास्त्र पर नीतिशास्त्र के प्रभाव की पहले ही चर्चा कर चुके हैं। तब हमने यह विचार किया था कि अर्थशास्त्र एक वास्तविक विज्ञान है अथवा आदर्श विज्ञान। (देखिए विभाग ५)। नीतिशास्त्र मान्यताओ (values) का अध्ययन है, यह उन साध्यो के उचित तथा अनुचित होने का विवेचन करता है जिनकी प्राप्ति के लिए दुर्लभ साधनो का बँटवारा किया जाता है। परन्तु बहुत से आधुनिक अर्थशास्त्री इस मत के है कि अर्थशास्त्र का सम्बन्ध उचित-अनुचित अथवा अच्छे-बुरे के प्रश्न से नही है। ऐसा करना एक दार्शनिक का काम है। अधिक-से-अधिक एक अर्थशास्त्री यह कह सकता है कि कुछ स्रोतो का उपयोग लक्ष्य के अनुसार उचित नही हैं।

अर्थशास्त्र का न्यायशास्त्र अथवा विधि विज्ञान मे भी सम्बन्ध है। आर्थिक क्रियाओ का सचालन कानूनी ढाँचे के अन्दर होना चाहिए। अर्थशास्त्री गैर-कानूनी कामो का, वे चाहे कितने ही आकर्षक क्यो न हो समर्थन नही कर सकता। कानून-व्यवस्था हमारी आर्थिक क्रियाओं को सीमित तथा निर्धारित करती है।

अर्थशास्त्र और इतिहास का भी एक-दूसरे से गहरा सम्बन्ध है। अर्थशास्त्र साध्यो और साधनो के सम्बन्ध मे तथा उनके अन्तर्गत अनेक समस्याओ का अध्ययन करता है। अर्थशास्त्र का इतिहास समय समय पर इन सम्बन्धो मे रूप का अध्ययन करता है। आर्थिक इतिहास एक पृष्ठभूमि बनाता है जिसके सम्मुख आर्थिक सिद्धान्त तथा समस्याओ का भली भाँति अध्ययन किया जा सकता है। इतिहास द्वारा हम पुराने सिद्धान्तो की पुष्टि तथा खडन और नये सिद्धान्तो की खोज कर सकते हैं। सोने की खानो की खोज से मुद्रा-परिमाण-सिद्धान्त (Quantity Theory of Money) और प्लेग की घटना ने श्रम की माँग तथा पूर्ति के सिद्धान्त को पुष्ट कर दिया। इसी प्रकार इतिहास, व्यापार-चक्र (trade cycles) के सिद्धान्तो के बनाने मे अत्यन्त सहायक हुआ है।

परन्तु जबकि अर्थशास्त्र इतिहास का ऋणी है आर्थिक सिद्धान्त का ज्ञान भी इतिहासकारो के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वास्तव मे वह इतिहास जो आर्थिक दशाओ का विश्लेषण त्याग देता है, यदि भ्रम उत्पादक नही तो अधूरा तो है ही।

यह कथन सत्य है कि—

"Economics without History has no root,
History without Economics has no fruit"

अर्थात् बिना इतिहास के अर्थशास्त्र जड़रहित है और इतिहास बिना अर्थशास्त्र के फलहीन है।

सब विज्ञानों म अर्थशास्त्र का राजनीतिशास्त्र से सबसे गहरा सम्बन्ध है। यह अब अधिकाधिक माना जाता है कि अर्थशास्त्र वस्तुत राजनीतिक अर्थशास्त्र होता जा रहा है। इसका अर्थ है कि यह राजनीतिशास्त्र से मिश्रित होता जा रहा है। एक राजनीतिज्ञ के लिए आर्थिक विचारों का बड़ा महत्त्व है। उसे राजनीतिक नीति ग्रहण करने से पूर्व आर्थिक व्यवस्था तथा संस्थाओं का विचार अवश्य करना चाहिए। राजनीतिक नीतियों को निश्चित करने म आर्थिक विचार मुख्य हैं।

इसी प्रकार राजनीतिक हालात और संस्थाएँ किसी देश की आर्थिक परिस्थितियों पर गहरा प्रभाव डालती हैं। इस बात को कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता कि भारतवर्ष म आर्थिक विकास पर राजनीतिक कारणों का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है। राजनीतिशास्त्र तथा अर्थशास्त्र एक दूसरे पर अपना-अपना प्रभाव डालते हैं।

सभी प्रचलित राजनीतिक समस्याओं की तह में आर्थिक समस्याएँ रहती हैं। मण्डियों तथा कच्चे माल को हथियाने के लिए जोरदार प्रयत्नों के कारण आधुनिक काल म समस्त युद्ध हुए हैं। हमारे देश की साम्प्रदायिक समस्या वास्तव म एक आर्थिक समस्या रही है। यह किसी विशेष सम्प्रदाय के आर्थिक हितों को बढ़ाने की इच्छा से उत्पन्न होती है। सरकारों को सलाह देने के लिए आर्थिक सलाहकार परिषदों (Economic Advisory Councils) अथवा "ब्रेन ट्रस्ट" (Brain Trusts) की स्थापना यह स्पष्ट करती है कि अर्थशास्त्र राजनीतिशास्त्र का दास होता जा रहा है। इसी कारण यह कहा जाता है कि अर्थशास्त्र अधिकाधिक राजनीतिक अर्थशास्त्र होता जा रहा है।

अर्थशास्त्र तथा गणित की सीमा पर एक नया विज्ञान सांख्यिकी (Statistics) है। अर्थशास्त्री सांख्यिकी का, जिसको तथ्यों तथा अंकों का शास्त्र कहते हैं अधिकाधिक उपयोग कर रहे हैं। कोई भी आर्थिक चर्चा पूर्ण नहीं होती जब तक कि उसको सम्बन्धित आंकड़ों और तथ्यों का सहारा न मिले। तथा किसी भी आर्थिक समस्या का हल सन्तोषजनक नहीं हो सकता जब तक कि सम्बन्धित सही तथा नवीनतम आंकड़े प्राप्त न हों। उदाहरणार्थ भारत की खाद्य समस्या को ही लीजिए। बिना सही आंकड़ों को सामने रखे कोई भी आर्थिक नीति अपनाना केवल अँधेरे म छलांग लगाना मात्र होगा।

आंकड़े और तथ्य आर्थिक सिद्धान्तों को दृढ़ कर सकते हैं अथवा उनको फिर से परीक्षा के लिए मजबूर कर सकते हैं यदि वे तथ्य अथवा अंकों के विपरीत हैं। ऐसा भी हो सकता है कि आंकड़ों और तथ्यों की सूचना अपूर्ण अथवा अशुद्ध हो यदि वह एक स्थापित सिद्धान्त की पुष्टि न करे। इस प्रकार सांख्यिकी अर्थशास्त्र सिद्धान्त बनाने वालों के लिए अमूल्य सहायता है।

जैसा कि कॉलिन क्लार्क (Colin Clark) का कहना है कि "तमाम किताबों

तथा लेखो म आधुनिक पेचीदा आर्थिक समस्याओं को बिना तथ्यो की ओर सकेत किए हुए व्याख्या करना, यदि दुखद नही तो, हँसने के योग्य अवश्य होगा।" फिर "अर्थशास्त्र विज्ञान के विकास म सिद्धान्त का एक बहुत बडा महत्वपूर्ण हिस्सा है। परन्तु सिद्धान्त को तथ्यो का आदर करना चाहिए न कि उल्लघन।'[1]

७ अर्थशास्त्र के नियम (Laws of Economics)—अन्य विज्ञानो की भाति अर्थशास्त्र में भी उसके कुछ साधारण सिद्धान्त हैं जो अर्थशास्त्र के नियम कहलाते हैं। वे नियम समस्त आर्थिक चेष्टाओं की व्याख्या तथा उनका सचालन करते हैं। मार्शल (Marshall) के शब्दो में आर्थिक नियमो की परिभाषा इस प्रकार है—

"आर्थिक नियम या आर्थिक प्रवृत्तियो के विवरण आचरण की उन शाखाओं से सम्बन्धित सामाजिक नियमों को कहते हैं जिनमें मोटे तौर पर सम्बन्धित मनोवृत्तियो की शक्ति मुद्रा द्वारा मापी जा सकती है।"[2] रॉबिन्स (Robbins) की आर्थिक क्रियाओ की परिभाषा के अनुसार हम यह कह सकते है कि आर्थिक नियम एकरूपता के मान दण्ड हैं जो उस मानव व्यवहार का सचालन करते ह, जो असीमित साध्यो की पूर्ति के प्रति सीमित स्रोतो की उपयोगिता स सम्बद्ध हैं। सक्षप म य वे सिद्धा त ह जिनके अनुसार हम दैनिक जीवन म आर्थिक क्रिया कलाप करते है।

कुछ आर्थिक नियम स्वयसिद्ध हैं, उदाहरणार्थ अधिक लाभ को कम लाभ से श्रेष्ठ समझा जाता है। कुछ अन्य ऐसे आर्थिक नियम ह जिनका स्वभाव भौतिक नियमो जैसा है उदाहरणार्थ घटती हुई उपज का नियम (Law of Diminishing Returns) परन्तु अधिकतर आर्थिक नियम कल्पित (hypothetical) तथा अनिश्चित होते हैं।

तो भी, यह स्मरण रखना चाहिए कि अर्थशास्त्र के नियम किसी अन्य सामाजिक शास्त्र से अधिक ठीक है, क्योंकि आर्थिक घटनाओ का द्रव्य द्वारा माप किया जा सकता है। इतिहास और राजनीतिशास्त्र जैसे किसी अन्य सामाजिक शास्त्र म ऐसा कोई द्रव्य का मापदण्ड नही है।

यदि प्रारम्भिक कल्पनाओ (assumptions) की पूर्ति हो जाए तो आर्थिक नियम अनिवार्य तथा अटल है। परन्तु इन कल्पनाओं की सदा पूर्ति नही होती। अतएव आर्थिक नियम भविष्य नही बता सकते। 'ऐसा कोई सरल मापदण्ड नही है जिससे व्यवसाय के कामो के प्रवाह को मापा जा सके। क्योंकि य श्रम की उमगो या अनिश्चित आशावाद के अधीन है और उनके बारे में भूडोल की तरह पहले से निश्चित रूप म कुछ नही कहा जा सकता।'[3] अतएव हम यह नही कह सकते कि आगे क्या होगा क्योकि यह अनेको स्थितियो की पूर्ति पर निर्भर है। हम केवल यह कह सकते हैं कि क्या हो सकने की सम्भावना है। अतएव अर्थशास्त्र के नियम केवल प्रवृत्तियो का अथवा सांख्यिकीय अनुमानों का विवरण है।

1 Quoted by Stigler in his Theory of Price (1957) p 18

2 Economic laws or statements of Economic tendencies according to Marshall are those social laws which relate to branches of conduct in which the strength of the motives chiefly concerned can be measured by money price

3 There is no convenient yard stick by which to measure the currents in business affairs for these are subject to gusts of fear or perhaps of fantastic optimism a unpredictable as earthquakes —Moore and others—Modern Economics (1940) p 3

ही नहीं ग्रहण कर सकते । सैद्धान्तिक अर्थशास्त्रियों का अपने अध्ययन को बहुधा विज्ञान शब्द से पुकारना भ्रमपूर्ण है।" फिर अर्थशास्त्र के उत्साही विद्यार्थी को समय समय पर यह याद रखना चाहिए कि सब माँग तथा पूर्ति की तालिकाएँ (demand and supply schedules), लागत वक्र (cost curves) अथवा तटस्थता वक्र (indifference curves) जो उसकी पाठ्य पुस्तकों को इतना मोटा कर देते हैं, कोई भी (कुछ को छोडकर) किसी तथ्य पर आधारित नहीं हैं। पाठक को एक ऐसी भविष्यवाणी पाने के लिए, जो उन घटनाओं की प्रगति के प्रभुत्वशाली मत के प्रभाव से दृढ की गई है और जिसका पुनज्ञान किसी साकार ऐतिहासिक अवस्था में किया जा सकता है, विश्लेषक अर्थशास्त्रियों के साहित्य में अधिक छानबीन करने पर भी मुश्किल से ही मिलेगी।[1] फिर अर्थशास्त्र को विज्ञान कैसे कहा जा सकता है?

फिर यह कहा जाता है कि आर्थिक घटनाएँ अत्यन्त जटिल बहुरूपी तथा अस्थिर हैं, क्योंकि मनुष्य में इच्छा की स्वतन्त्रता है। एक विज्ञान को इतने क्षीण आधार पर स्थापित करना न केवल कठिन है वरन् असम्भव है। अतएव अर्थशास्त्र का वैज्ञानिक रूप पूर्णतया नष्ट किया गया प्रतीत होता है। परन्तु ऐसी बात नहीं है।

अमुक ज्ञान की शाखा को हम विज्ञान कहें अथवा नहीं यह इस बात पर निर्भर है कि हम विज्ञान किसे मानते हैं। यदि हम विज्ञान से यह आशा करते हैं कि वह ऐसे सिद्धान्तों को प्रतिपादित करेगा जो प्रत्येक स्थान पर तथा प्रत्येक समय में लागू हों या वह भविष्य की घटनाओं को घोषित करेगा, तब तो, वास्तव में अर्थशास्त्र एक विज्ञान नहीं है। परन्तु विज्ञान में होने वाली यह आवश्यक बातें विज्ञान की परिभाषा के आधुनिक मत के अनुकूल नहीं हैं। विज्ञान में हमारा अभिप्राय ज्ञान के एक क्रमबद्ध रूप (systematized body of knowledge) में है। यह केवल तथ्यों का सचय नहीं है। परन्तु तथ्य इस प्रकार क्रमबद्ध हो कि वे स्वयं ही स्पष्ट हों। जब नियम बना दिए जाते हैं तो ज्ञान की एक शाखा विज्ञान हो जाती है। प्वाइनकेयर (Poincare) के शब्दों में, "विज्ञान तथ्यों से इस प्रकार बना है जिस प्रकार पत्थरों से एक मकान बनाया जाता है। परन्तु केवल तथ्यों का एकीकरण इस प्रकार विज्ञान नहीं कहा जा सकता जैसे पत्थरों के ढेर को मकान नहीं कह सकते।'[2]

इस प्रमाण के अनुसार अर्थशास्त्र अवश्य ही एक विज्ञान है। अर्थशास्त्री ने पहले तो तथ्यों को जमा किया है। फिर तथ्यों का ध्यानपूर्वक विश्लेषण किया है *तथा उनका उचित वर्गीकरण किया है और अब इन तथ्यों को निश्चित करने वाले* साधारण सिद्धान्तों को खोजा तथा उनका वर्णन किया है। अर्थशास्त्र को फिर विज्ञान मानने में क्या कमी रह जाती है?

यह अब पूरी तौर से मान लिया गया है कि अर्थशास्त्र एक परिपूर्ण विज्ञान है। वास्तव में यह दूसरे विज्ञानों से किसी भी प्रकार घटिया विज्ञान नहीं है। "आर्थिक नियम दूसरे विज्ञानों के नियमों से समता रखते हैं।'[3]

1 Wootton—Lament for Economics (1938) p 111—118

2 'Science is built up of facts as a house is built up of stones, but an accumulation of facts is no more a science than a heap of stones is a house'—Poincare

3 Robbins opp citd p 104

परन्तु अर्थशास्त्र के वास्तविक रूप को समझना आवश्यक है। अर्थशास्त्र का विरोधाभास यह है कि एक विज्ञान होते हुए भी यह भौतिक तथा रसायनशास्त्र जैसे प्राकृतिक विज्ञानों की भांति घटनाओं की भविष्यवाणी नहीं कर सकता। व्यक्ति म इच्छा की स्वतन्त्रता है। अतएव मानव व्यवहार म भविष्यवाणी करना असम्भव है। डरबिन (Durbin) के कथनानुसार, "निश्चितता हम से जुदा रहेगी और भविष्य-वाणी गलत हो जाएगी—जिस प्रकार मनुष्य अनुभव से सीख सकते हैं उसी प्रकार वे अर्थशास्त्र से भी सीख सकते हैं। इस प्रकार विषय अपनी ही खोज से अपने परिणामो की काट करता रहता है।"[1] इस प्रकार अर्थशास्त्र "निरन्तर बदलने वाले सिद्धान्तो" को प्रस्तुत करता रहता है।

१० क्या अर्थशास्त्र कला भी है ? (Is Economics also an Art ?)—यह निश्चित हो चुका है कि अर्थशास्त्र एक विज्ञान है। परन्तु क्या इसे कला भी माना जा सकता है ? अंग्रेज अर्थशास्त्रियों का यह मत है कि अर्थशास्त्र सिर्फ विज्ञान है और कला नहीं। "विज्ञान का रूप, जिसके विकास करने का अर्थशास्त्री प्रयास करेगा, कला के आधार के अनुकूल होना चाहिए। वास्तव म यह स्वय कला न होगा। यह एक शुद्ध तथा व्यावहारिक विज्ञान है, न कि विज्ञान तथा कला।"[2]—मार्शल

इस मनोवृत्ति को प्रस्तुत करने का एकमात्र तर्क यही है कि सैद्धान्तिक अर्थ-शास्त्र वैज्ञानिक पूर्णता की एक मात्रा केवल इसी एक विधि से प्राप्त कर सकता है। इसको एक कला बनाने के असम्बद्ध विचार उसके कार्य म बाधा डालेंगे और उसको बिलकुल अपूर्ण कला बना देंगे। अर्थशास्त्र का कार्य केवल खोज तथा व्याख्या करना है और विशेष लक्ष्यो की प्राप्ति के लिए सूत्र तथा धारणाएँ प्रस्तुत करना नहीं।

फिर भी हम इस मत से सहमत नहीं है। प्रत्येक "कला" का सैद्धान्तिक अथवा वैज्ञानिक पक्ष है और इसी प्रकार प्रत्येक विज्ञान में "कला" अथवा व्यावहारिक पक्ष है। हमारे मतानुसार अर्थशास्त्र म 'कला" का भाग अधिक महत्व रखता है। यदि अर्थशास्त्र एक निराकार विज्ञान हो जाए, जैसा कि अधिकाधिक हो रहा है, तो साधारण जनता के लिए यह अधिक गूढ़ हो जाएगा। वह अपनी व्यावहारिक उपयोगिता से अलग हो जाएगा। हमारे मतानुसार अर्थशास्त्र एक विज्ञान है जो प्रकाश डालने वाला तथा फलदायक भी है। वे भी, जो इसे शुद्ध विज्ञान मानते हैं, व्यावहारिक अर्थशास्त्र (Applied Economics) जैसी शाखा को मानते हैं।

११. अर्थविज्ञान की रीतियाँ (Methods of Economic Science)—अर्थशास्त्र के विज्ञान माने जाने का एक कारण यह है कि दूसरे विज्ञानो की

---

1 "Certainty will always escape us and prediction miss the mark. Just because men can learn from experience they can learn from Economics itself and as the subject destroys its own conclusions by its own discoveries." —Durbin Economics Man and his Material Resources (New Education Library) Pp 333 34

2 "The type of science that the Economist will endeavour to develop must be one adopted to form the basis of an art. It will not indeed itself be an art. It is a science pure and applied rather than a science and an art." —Marshall

भांति यह वैज्ञानिक रीतियो का उपयोग करता है । अब हमें यह देखना चाहिए कि यह रीतियाँ क्या हैं ?

प्राचीन अंग्रेज अर्थशास्त्रियों ने, जिन्होंने प्रतिष्ठित सम्प्रदाय (Classical School of Economists) बनाया, अर्थशास्त्र को कुछ थोडे से साधारण सामान्य अनुमानो से विज्ञान बनाने का प्रयत्न किया । जो रीति उन्होंने प्रयुक्त की उसे निगमनीय या आनुमानिक (deductive), वैश्लेषिक (analytical), अमूर्त्त या शुद्ध (abstract) और तर्कगम्य अथवा बिना परीक्षा वाली (a priori) रीति कहते हैं। उनमे से सीनियर (Senior), मिल (Mill), कैरनेस (Cairnes) तथा मुख्यतः रिकार्डो (Ricardo) के नाम उल्लेखनीय है । इनम भी रिकार्डो प्रमुख है । इस रीति के समर्थक मानवीय स्वभाव के कुछ निर्विवाद तथ्यो से शुरू करते हैं और साकार व्यक्तिगत स्थितियो के विषयो में अनुमान निकालते है, उदाहरणार्थ, वे विश्वास करते है कि केवल निजी स्वार्थ ही मनुष्य के दैनिक जीवन का मार्गदर्शक है और वे अनेक मानवीय व्यवहारो की निजी स्वार्थ के रूप म व्याख्या करते हैं तथा उनकी भविष्यवाणी करने का प्रयत्न करते हैं, जो स्पष्ट रूप से अनुचित है ।

यदि धारणाएँ ठीक हो तो इस रीति की श्रेष्ठता यह है कि वह सरल, प्रभावशाली तथा निश्चित होगी । वास्तव मे यह "यदि" बडा महत्त्वपूण है । बहुधा यह धारणाएँ असत्य या थोडी मात्रा म सत्य होती हैं । यह अर्थ-विज्ञान को सिद्धान्तवादी (dogmatic) बना देता है, क्योकि वे अपने अन्तगत अपने पूर्ववाक्य (premise) मे कोई त्रुटि नही मानते । जब अपूर्ण अथवा गलत धारणाओ पर आधारित सामान्य अनुमान सार्वजनिक और सार्वभौमिक रूप से ठीक समझे जाते हैं और इन सामान्य अनुमानो के आधार पर देश की व्यावहारिक रीतियों की व्यवस्था करने का प्रयास किया जाता है, निगमनीय या आनुमानिक (deductive) रीति हानिकारक सिद्ध होती है ।

ऐतिहासिक सम्प्रदाय (Historical School) इस मनोवत्ति के विरुद्ध है । यह विरोध विशेषकर जर्मनी मे अनुभव किया गया था और इसे रासचर (Roscher), हिल्डब्रैंड (Hildebrand) तथा फ्रेडरिक लिस्ट (Frederich List) जैसे अर्थशास्त्रियो ने व्यक्त किया था । इस नय आन्दोलन के अनुयायी इग्लैण्ड म क्लिफ लैसले (Cliffe Leslie) भी थे । उन्होंने एक रीति का समर्थन किया जिसे ऐतिहासिक (historical) सामान्यानुमान (inductive) अथवा यथार्थिक (realistic) रीति कहते हैं । यह रीति तथ्यों की जांच पर जोर देती है और तब सामान्य नियम प्रस्तुत करती है । यहाँ हम "विशिष्ट" से "सामान्य" की ओर जाते हैं जबकि निगमनीय रीति (deductive method) म हम "सामान्य" से "विशिष्ट" की ओर आते हैं ।

अवलोकन तथा अनुभव सामान्यानुमान वादी (inductive) अर्थशास्त्री के मुख्य शस्त्र हैं । इस रीति का यही गुण है कि यह यथार्थता पर निर्भर है और इसलिए एक निश्चित आधार रखती है । परन्तु अपूर्ण तथ्यो से तात्कालिक परिणाम निकाले जाने का भय है । यह हो सकता है कि कुछ मुख्य तथ्य छोड दिए गए हो और परिणाम अनुचित हो । कालिन क्लार्क (Colin Clark) के शब्दो मे, "सामान्यानुमान

(Inductive) की रीति तथ्यों रूपी घोडे के आगे सिद्धान्त रूपी गाडी लगा देती है।"[1] इसके अतिरिक्त, उस विज्ञान मे, जो मानवीय क्रियाओं से सम्बद्ध है, अवलोकन तथा अनुभव का बहुत ही सीमित प्रयोग होता है।

इसके विपरीत यह कहा जा सकता है कि यद्यपि सचेत अनुभव (conscious exprimentation) अर्थ-विज्ञान से परे है तो भी इतिहास समय-समय पर प्रयोग मे लाए गए आर्थिक साधनो के रूप मे अनेक अनुभव प्रदान करता है। भारत मे विभेद पूर्ण सरक्षण (discriminating protection) का प्रदान करना एक महत्त्वपूर्ण अनुभव था। आधुनिक काल मे सामान्यानुमान रीति (inductive method) का प्रयोग अत्यन्त बढा दिया गया है। प्रत्येक देश में साख्यिकीय प्रकाशनों (statistical publications) की अधिकता है। "सरकारी पुस्तकें" तथ्यों तथा अकों से भरी हैं और अर्थशास्त्री के पास अपने परिणामो को प्राप्त करने के लिए अधिक तथा विश्वसनीय सामग्री है। आधुनिक युग को सामान्यानुमान युग (inductive era) कहा गया है।

फिर भी आधुनिक अर्थशास्त्री एक रीति पर दूसरी का निषेध करके आश्रय नहीं लेता। वह दोनो का प्रयोग करता है। मार्शल के प्राय दोहराए हुए शब्दों मे, "वैज्ञानिक विचारधारा के लिए सामान्यानुमान तथा आनुमानिक दोनो रीतियों की आवश्यकता होती है, जैसे चलने म दाहिने तथा बायें दोनों पैरो की आवश्यकता होती है।"[2] सर्वप्रथम अर्थशास्त्री आनुमानिक (deductive) विचार पर आधारित एक निश्चित कल्पना (hypothesis) से आरम्भ करता है और तब तथ्यो की कसौटी से उसकी जाँच करता है और तब कल्पना सिद्धान्त का रूप धारण कर लेती है। सिद्धान्त के नियम में परिवर्तित होने से पूर्व उपस्थित दशा के आधार पर और जाँच करनी पडती है। इस प्रकार एरिक राल (Eric Rall) के अनुसार "अनुमान एव सामान्यानुमान का अन्तर-प्रवेश" (interpenetration of deduction and induction) होता है।

इस प्रकार "रीति के इस प्रतिवाद का वास्तविक हल अनुमान एव सामान्यानुमान के निर्वाचन में नही वरन् अनुमान एव सामान्यानुमान की स्वीकृति म है।"—वैगनर (Wagner)। अवसर विशेष पर इन दो रीतियो म से कौनसी काम म लाई जाए, यह जाँच के स्वरूप, उपलब्ध सामग्री तथा जाँच की अवस्था पर निर्भर है। वास्तविक वैज्ञानिक रीति की भिन्न भिन्न तीन अवस्थाएँ हैं अर्थात् अवलोकन, कल्पना तथा तर्क (*observation, the use of imagination, and reason*) का प्रयोग और अन्त मे सिद्धान्तो की पडताल।

१२ अर्थशास्त्र के अध्ययन की उपयोगिता (Value of the Study of Economics)—अर्थशास्त्री का यह अभिमान उचित ही होगा कि उसका विज्ञान निश्चित ही ज्ञान की अन्य शाखाओं से अधिक लाभदायक है। किसी अन्य विज्ञान का

1 The Inductive Method puts the theoretical cart before the factual horse'—Colin Clark

2 'Induction and Deduction are both needed for scientific thought, as the right and left foot are both needed for walking"—Marshall

मानवीय कल्याण से इतना प्रत्यक्ष तथा प्राथमिक सम्बन्ध नही होता। अर्थशास्त्री अपने नम्र भाव से मानवीय कल्याण को बढाने का भरसक प्रयत्न करता है।

अर्थशास्त्र की **ज्ञानसम्बन्धी उपयोगिता** (intellectual value) बहुत अधिक है। जो आर्थिक समस्याओ के समझने और विश्लेषण में अपना समय व्यतीत करते हैं, उन्हे बुद्धि की तीव्रता के रूप मे उचित पुरस्कार मिल जाता है। मूल्य के अनेक सिद्धान्त, मज़दूरी तथा ब्याज आदि का अध्ययन, वैदेशिक विनिमय (foreign exchange) की गूढ समस्याओ को सुलझाना और जटिल मुद्रा तथा आर्थिक समस्याओ के समझने का प्रयत्न उत्तम मानसिक शिक्षा का अभ्यास प्रदान करते हैं। दृढ विचारो द्वारा यह जनता के विचारो को परिष्कार प्रदान करता है

अर्थशास्त्र के अध्ययन का **सास्कृतिक महत्त्व** (cultural value) भी है। अर्थशास्त्र का विद्यार्थी आर्थिक यन्त्र (economic machine) की कार्य-प्रणाली की गूढ समस्याओ मे प्रवेश करता है। वह समझ लेता है कि वह स्वय ही किस प्रकार बिना प्रत्यक्ष झटके के और बिना किसी कुशल सचालक के कार्य करती रहती है। प्रत्येक व्यक्ति इस विस्तृत तथा पेचीदा उत्पादन की प्रणाली में कार्यकर्ता है। मानसिक सुधार की किसी भी योजना मे अर्थशास्त्र का महत्त्वपूर्ण अश अवश्य स्वाभिमान ही रहेगा।

अर्थशास्त्र का **व्यावहारिक महत्त्व अथवा व्यावसायिक उपयोगिता** भी बहुत है। राजनीतिज्ञ को अर्थशास्त्र का ज्ञान उसके सम्मुख आने वाली राजनीतिक समस्याओ को ग्रहण करने में और सुलझाने म बहुत सहायता देता है। वित्त प्रबन्धक के लिए अर्थशास्त्र का ज्ञान अनिवार्य है। यह श्रमनेता को औद्योगिक स्थिति समझने में सहायता देता है। यह उसको पूंजी (capital) के विरुद्ध श्रम की लडाई लडने मे प्रभावशाली शक्ति प्रदान करता है। अर्थशास्त्र के ज्ञान से वह जान जाएगा कि कब अपनी माँग पर जोर डालना चाहिए और कब शिष्टतापूर्वक झुक जाना चाहिए।

अर्थशास्त्र व्यवसायी मनुष्य का सबसे बडा सहायक है। वह व्यापार के सगठन के सिद्धान्तो को सीख सकता है। वह अपने व्यापार की उचित रूप से योजना बना सकता है और उत्पादन तथा क्रय-विक्रय की समस्याओ को भली भाति हल कर सकता है। इस प्रकार यह व्यापारी को प्रत्यक्ष रूप से सहायता देता है। अर्थशास्त्र के अध्ययन द्वारा बना हुआ विस्तृत दृष्टिकोण उसको सकट के समय मे लाभदायक सिद्ध होता है।

यह देखकर कि आर्थिक विज्ञान के अनुयायी बढते जा रहे हैं तथा इस ओर विद्यार्थी अत्यधिक सख्या मे आकर्षित होते जा रहे हैं, हम डरबिन (Durbin) के शब्दो मे यह कह सकते हैं कि "अर्थशास्त्र आज के युग का मानसिक धर्म है।"

आर्थिक विकास की कोई भी अवस्था (stage) क्यों न हो मनुष्य के लिए आर्थिक विचार अधिक महत्त्व रखते रहे हैं। रॉबिन्सन क्रूसो के सामने भी साधनों की दुर्लभता तथा आवश्यकताओ की वृद्धि की समस्याएँ उठी। समाजवादी राज्य (Socialist State) भी बिना अर्थशास्त्र के कुछ नही कर सकता। चाहे शान्ति हो अथवा युद्धकाल हो अर्थशास्त्र मानवीय कल्याण को बढाने में एक सशक्त मित्र है।

अतएव, अर्थशास्त्र प्रत्येक दृष्टिकोण से अत्यन्त लाभदायक तथा महत्त्वपूर्ण

विषय है। इसकी महत्ता अन्य विषयों की महत्ता को ढक लेती है। दूसरे विज्ञानों से प्राप्त किए हुए परिणामों को अन्त में वाणिज्य के प्रयोग में लाना पड़ता है। यही अर्थशास्त्र की महत्ता है। अन्त में आर्थिक संगठन ही मनुष्य की सेवा में अन्य विज्ञानों के परिणामों के तत्वों को एकत्रित करता है।

निर्देश पुस्तकें

Marshall A Principles of Economics

Robbins L Nature and Significance of Economic Science

Keynes J N Scope and Method of Political Economy

Wicksteed Commonsense of Political Economy

Wootton B Lament for Economics

Tugwell and others Trends of Economics

Cairncross A Introduction to Economics Chapter I

Benham F Economics

Pigou A C Economics of Welfare

Economics Man and his Material Resources (New Education Library) Ch XII

Indian Journal of Economics (Allahabad) Vol XX 1939 40

Fraser L M Economic Thought and Language (1937) Chap II and III

Samuelson P A Economics (1948) Chaps I and II

Hess and others Outside Readings in Economics

Stigler G J Theory of Price (1947) Chap I

Lange O Article on Nature and Scope of Economics' in Review of Economic Studies 1945 46 pp 19 32

अध्याय २

आर्थिक शब्द तथा मूल धारणाएँ

(Economic Terms and Basic Concepts)

१ भूमिका (Introduction)—पहले अध्याय मे हम अर्थशास्त्र के स्वरूप का प्राथमिक सर्वेक्षण कर चुके हैं। इसके पूर्व कि हम, विषय का विस्तृत अध्ययन प्रारम्भ करें यह आवश्यक है कि हम कुछ उन शब्दो तथा धारणाओ का जिनका हम प्रयोग करेंगे ठीक ठीक अर्थ भली भाँति समझ लें।

'वस्तु' अथवा 'वस्तुओ' (Good' or Goods') के प्रयोग का अर्थशास्त्र म विशेष अभिप्राय होता है। कोई वस्तु जो मानवीय आवश्यकता की तृप्ति करने योग्य हो 'वस्तु' कही जाती है। वस्तुओ का वर्गीकरण इस प्रकार हो सकता है—

(१) निर्मूल्य माल (Free Goods)—उदाहरणार्थ वायु, धप आदि। य सब प्रकृति की निर्मूल्य देन (Free Gifts of Nature) हैं। य बहुतायत म पाई जाती हैं।

(२) आर्थिक माल (Economic Goods)—ये वस्तुएँ दुर्लभ हैं। इनको प्राप्त करने के लिए कीमत चुकानी पड़ती है तथा बलिदान करना पडता है। अर्थशास्त्र आर्थिक वस्तुओं से ही सम्बद्ध है क्योकि मानवीय आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिए दुर्लभ वस्तुओ के उपयोग से ही आर्थिक क्रिया होती है।

यह समझ लेना आवश्यक है कि आर्थिक वस्तुओ की दुर्लभता सापेक्ष है, निरपेक्ष नही, यह हमारी आवश्यकताओं से सम्बद्ध है। एक वस्तु बहुत थोडी मात्रा में हो सकती है किन्तु यदि मनष्य न इसके किसी उपयोग की खोज नही की तो वह दुर्लभ नही कही जावेगी। दूसरी ओर कोई अन्य वस्तु हो सकती है जो अधिक मात्रा म हो किन्तु यदि वह मानवीय आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए कम हो तो वह दुर्लभ समझी जावेगी। किसी वस्तु की दुलभता का विचार वास्तव म सापेक्ष है। इस सम्बन्ध म रॉबिन्स (Robbins) लिखता है, 'कोई वस्तु उस समय तक आर्थिक महत्त्व की वस्त नही हो सकती जब तक कि वह मनष्यो के काम की न हो। साथ ही किसी वस्तु या किसी सेवा का आर्थिक महत्त्व तभी माना जाएगा जबकि उसका कुछ मूल्य होगा।'[1]

आर्थिक वस्तुओ तथा निमूल्य वस्तुओ में स्थायी अन्तर नही है। एक वस्तु आज निर्मूल्य वस्तु है कल वही आर्थिक वस्तु हो सकती है अथवा वह एक स्थान पर

1 There is no quality in things taken out of their relation to men, which can make them Economic goods Whether a particular thing or a particular service is an Economic good depends entirely on its relation to valuation —Robbins

निर्मूल्य वस्तु हो सकती है और दूसरे स्थान पर आर्थिक वस्तु हो सकती है। प्राकृतिक स्रोत के निकट जल एक निर्मूल्य वस्तु है परन्तु एक नगर में नहीं।

एक देश की समृद्धि निर्मूल्य वस्तुओं की मात्रा से मापी जाए अथवा आर्थिक वस्तुओं की मात्रा से? "यह कथन विरोधाभास सा प्रतीत होगा कि एक सम्प्रदाय धन के रूप में जितनी आर्थिक वस्तुएँ रखता है उतना ही वह कम समृद्धिशाली है।" (Taussig)।[1] यह इसलिए है कि सम्प्रदाय का कल्याण केवल धन अर्थात् दुर्लभ अथवा आर्थिक वस्तुओं पर ही निर्भर नहीं है। निर्मूल्य वस्तुएँ मानवीय कल्याण के लिए स्वयं सहायक हैं। यदि इस वर्ग में अधिक वस्तुएँ हैं तो मानवीय कल्याण और विस्तारपूर्वक फैलेगा। किन्तु यदि दूसरी ओर आर्थिक वस्तुओं का घेरा और विस्तृत होता है, तो इसका अभिप्राय यह है कि वे वस्तुएँ जो पहले बिना मूल्य मिल सकती थी अब भुगतान द्वारा ही मिल सकेंगी। स्पष्ट रूप से इसका अर्थ यह है कि मानवीय कल्याण कम होगा।

वस्तुओं के वर्गीकरण कुछ और भी हुए हैं, जैसे, भौतिक वस्तुएँ, अभौतिक वस्तुएँ, हस्तान्तरणीय वस्तुएँ (transferable goods), अ-हस्तान्तरणीय वस्तुएँ; सार्वजनिक वस्तुएँ एवं प्राइवेट वस्तुएँ, वैयक्तिक वस्तुएँ और अ-वैयक्तिक या बाह्य वस्तुएँ, उपभोक्ता वस्तुएँ और उत्पादक वस्तुएँ आदि आदि।

२ उपयोगिता (Utility)—दूसरा शब्द उपयोगिता है जिसका अर्थशास्त्र में बारम्बार प्रयोग होता है। हमने ऊपर देखा है कि प्रत्येक 'वस्तु' अथवा माल का एक गुण है जिससे मनुष्य की आवश्यकता की सन्तुष्टि होती है। अर्थशास्त्र में यह आवश्यकता—सन्तुष्टि करने की शक्ति या उपयोगिता कहलाती है। प्रत्येक वस्तु जो प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से मनुष्य की आवश्यकता की सन्तुष्टि करती है, उपयोगिता रखती है। उपयोगिता किसी वस्तु का प्रयोग मूल्य (value in-use) है।

जब हम यह कहते हैं कि आम की उपयोगिता १० इकाई (units) है और एक पेस्ट्री के टुकड़े की सात इकाई तो हम केवल अपना अधिमान माप (scale of preference) घोषित करना चाहते हैं और इन दो वस्तुओं के उपभोग से अपनी सन्तुष्टि की सापेक्ष मात्राएँ प्रकट करना चाहते हैं। अतएव उपयोगिता केवल एक रूढ़िगत प्रतिनिधित्व (conventional representation) अथवा किसी आत्मपरक (subjective) वस्तु का वस्तुपरक (objective) भाव अर्थात् अपने अधिमानों (preferences) की मात्रा है।

प्रत्येक वस्तु में कुछ स्वाभाविक गुण होते हैं जिसके कारण वह मनुष्य की एक आवश्यकता की तृप्ति करती है। परन्तु जब हम उपयोगिता का वर्णन करते हैं तो हमारा सम्बन्ध वस्तु के इस प्रकार के आन्तरिक गुणों से नहीं है। बल्कि हम वस्तु का एक व्यक्ति की आवश्यकता के सम्बन्ध में विचार करते हैं। उदाहरणार्थ एक सिगरेट में स्वयं ही में कुछ गुण होते हैं जिनके कारण वह एक मानवीय आवश्यकता की तृप्ति के योग्य है। परन्तु एक न पीने वाले के लिए यह बेकार है। अतएव उपयोगिता आत्मपरक और सापेक्ष (relative) है।

[1] "It may be said with an appearance of a paradox that the more things in the nature of wealth a community has the less prosperous it is."—Taussig

उपयोगिता केवल व्यक्ति व्यक्ति ही से भिन्न नहीं होती। यह एक ही व्यक्ति के लिए भिन्न समय पर भिन्न हो सकती है। रुचि, ऋतु अथवा फैशन मे परिवर्तन किसी वस्तु अथवा किसी सेवा की उपयोगिता पर प्रभाव डाल सकते हैं।

उपयोगिता और सन्तुष्टि (satisfaction) में अन्तर किया जा सकता है। उपयोगिता वस्तु की सन्तुष्टि देने वाली शक्ति को कहते हैं। सन्तुष्टि वह है जो हमें प्राप्त होती है, यह उपयोगिता का परिणाम है। यदि किसी वस्तु मे उपयोगिता है तो यह हमे सन्तुष्टि प्रदान करती है।

उपयोगिता और लाभ (usefulness) मे और अधिक महत्त्वपूर्ण अन्तर है। साधारण बोलचाल मे दोनो शब्दो के अर्थ मे प्राय गडबडी हो जाती है और वे पर्यायवाची शब्दो की भाँति प्रयुक्त किए जाते हैं। किन्तु वे पर्यायवाची नही हैं। यदि कोई वस्तु उपयोगी है तो यह आवश्यक नही कि वह हितकर भी है। धूम्रपान करना हितकर नहीं है, शराब पीना अथवा अन्य मादक वस्तुओ का प्रयोग अहितकर है परन्तु अर्थशास्त्री की दृष्टि मे सिगरेट, शराब तथा अन्य ऐसी वस्तुओ मे केवल इस कारण उपयोगिता है कि मनुष्य इनके लिए भुगतान करने को तैयार रहते हैं; क्योकि ये उनकी आवश्यकताओं की तृप्ति करती हैं। अर्थशास्त्री वस्तुओ को एक नीतिज्ञ के दृष्टिकोण से नही देखता। अतएव उपयोगिता शब्द का कोई नैतिक अभिप्राय नहीं है।

यह भी बता देना आवश्यक है कि "उपयोगिता" शब्द का सम्बन्ध केवल उपभोक्ता की वस्तुओ से है उत्पादक की वस्तुओ से नहीं। साइकिल की उपयोगिता उसके लिए है जो उसका प्रयोग करता है। यह उसे सन्तुष्टि प्रदान करती है। परन्तु यन्त्र जिनका प्रयोग साइकिलें बनाने मे हुआ है निर्माता (manufacturer) को कोई सन्तुष्टि नही देते। वह केवल लाभ से ही प्रेरित होता है और यन्त्र से उसे कोई आत्मिक सन्तुष्टि नही मिलती। उपयोगिता का सम्बन्ध आत्मिक सन्तुष्टि से है और किसी अन्य भाव मे सन्तुष्टि से नही।

३. मूल्य (Value).—'मूल्य' दूसरा शब्द है जो अर्थशास्त्र के अध्ययन मे प्रायः गडबडी डालता है। एडम स्मिथ (Adam Smith) के शब्दों मे, "मूल्य शब्द के दो भिन्न अर्थ हैं और कभी-कभी यह विशिष्ट पदार्थ की उपयोगिता तथा कभी-कभी अन्य वस्तुओ की वह क्रय शक्ति जो उस पदार्थ के अधिकार से प्रकट है, स्पष्ट करता है।" किन्तु मूल्य शब्द का आधुनिक प्रयोग एडम स्मिथ (Adam Smith) के प्रयोग से भिन्न है।

अब अर्थशास्त्री 'मूल्य' शब्द का प्रयोग केवल एक ही विचार से करते है। एडम स्मिथ द्वारा बताए हुए शब्द के पहले प्रयोग अर्थात् प्रयोग-मूल्य (value-in-use) के लिए वे 'उपयोगिता' शब्द का प्रयोग करते हैं। मूल्य शब्द केवल दूसरे विचार में ही अर्थात् विनिमय मूल्य (value-in-exchange)—वास्तविक अथवा सम्भावित (actual or potential) भाव में प्रयोग किया जाता है।

किसी वस्तु के मूल्य का अर्थ केवल यह है कि कितनी अन्य वस्तु अथवा वस्तुएँ इसके विनिमय (exchange) से प्राप्त हो सकती हैं। किसी वस्तु के अपने विनिमय से दूसरी वस्तुओ को प्राप्त करने की शक्ति को मूल्य कहते हैं। यदि एक

फाउन्टेनपैन का आपकी दो पुस्तकों से विनिमय हो सकता है तो उसका मूल्य दो पुस्तकों के बराबर होगा। जब मूल्य को द्रव्य के रूप में व्यक्त किया जाता है तो वह कीमत कहलाता है।

क्या मूल्यों अथवा कीमतों में सामान्य वृद्धि हो सकती है ? (Can there be a General Rise in Values or Prices ?)—मूल्य सापेक्ष है। हम किसी वस्तु के मूल्य का निरपेक्ष (absolute) रूप म नहीं कह सकते। उदाहरणार्थ हम यह नहीं कह सकते कि किसी विशिष्ट वस्तु का मूल्य अधिक है जब तक कि हम साथ ही यह न जानें कि कितनी वस्तुएँ यह अपने विनिमय से प्राप्त कर सकती है। मूल्यों में सामान्य वृद्धि नहीं हो सकती, जबकि कीमतों में सामान्य वृद्धि हो सकती है।

हम यह समझ लेना चाहिए कि मूल्यों में सामान्य वृद्धि क्यों नहीं हो सकती ? उपर्युक्त उदाहरण के अनुसार एक फाउन्टेनपैन दो पुस्तकों के बराबर है। यदि फाउन्टेनपैन के मूल्य म वृद्धि होती है तो यह पहले की अपेक्षा अधिक पुस्तकें विनिमय में प्राप्त करेगा। दूसरे शब्दों में पुस्तकों का मूल्य कम हो जाएगा। दोनों वस्तुओं के मूल्यों म साथ-साथ वृद्धि नहीं हो सकती। इस प्रकार चूंकि मूल्य सापेक्ष है अतएव समस्त वस्तुओं के मूल्यों में एक ही समय मे वृद्धि नहीं हो सकती अर्थात् मूल्य म सामान्य वृद्धि नहीं हो सकती।

परन्तु कीमतों म सामान्य वृद्धि हो सकती है जैसा कि युद्धकाल म हुआ। प्रत्येक वस्तु की कीमतें चढ गई। यहाँ समीकरण (equation) के दो पक्ष हैं, वस्तुओं का पक्ष (money side) तथा द्रव्य का पक्ष (goods side)। इस दशा मे वस्तुओं के पक्ष म वृद्धि हो गई है जबकि द्रव्य के पक्ष अर्थात् द्रव्य के मूल्य मे कमी हो गई है। अतएव जब कीमतों में वृद्धि हो जाती है तो इसका अर्थ यह है कि वस्तुओं के मूल्य म वृद्धि हो जाती है। किन्तु द्रव्य का मूल्य घट जाता है। इस प्रकार कीमतों मे सामान्य वृद्धि हो सकती है परन्तु मूल्यों म नहीं।

४ **धन (Wealth)**—इस विषय म अत्यधिक मतभेद है कि धन क्या है और क्या नहीं। भाग्यवश इस मौलिक विचार के विषय म अब एक सामान्य मत है। जब भी 'धन' शब्द हमारे सम्मुख आता है तो हम फौरन नकदी भूमि, इमारतों, यन्त्र, लकडी के सामान, बंधकाधिकारों (Mortgage Rights), सरकारी प्रतिभूतियों (Government Securities), स्टॉक तथा शेयर्स (Stocks and Shares) आदि का विचार करते हैं।

अब यदि हम इन वस्तुओं के स्वरूप को सामान्य रूप देने का प्रयत्न करें तो हम ज्ञात होगा कि वे सब ऐसे पदार्थ हैं जिनकी मनुष्य इच्छा करता है। उनकी आवश्यकता इसलिए होती है कि वे प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से मानवीय आवश्यकताओं की तृप्ति कर सकते हैं। संक्षेप म उनमे उपयोगिता है। अतएव किसी वस्तु को 'धन' कहने से पूर्व हम एक गुण (उपयोगिता) जो वस्तुओं म अवश्य होना चाहिए निश्चित कर सकते है।

परन्तु इस विषय पर और विचार करने पर हम यह देखेंगे कि धन की निश्चित कसौटी केवल उपयोगिता ही नहीं है। वायु म अत्यधिक उपयोगिता होती है। किन्तु

क्या यह धन है ? क्या कोई मनुष्य इसके लिए भुगतान करता है ? नही। यह धन नही है। हम इस प्रकार की अनेक 'वस्तुओ' को स्मरण कर सकते हैं जैसे धूप, सागर के किनारे की रेत, प्राकृतिक स्रोतो से निकला हुआ जल आदि। वे धन नही हैं क्योंकि वे असीमित मात्रा में हैं। अतएव सीमित होना अथवा दुर्लभता धन का दूसरा आवश्यक गुण है।

एक और भी गुण आवश्यक है अर्थात् हस्तान्तरणीयता (transferability) अथवा विक्रय-शक्ति (marketability)। जब तक हम वस्तुओ पर अधिकार न कर सकेंगे उनका कोई मूल्य न होगा। बिना हस्तान्तरणीयता के अधिकार असम्भव है। जब तक किसी वस्तु का विनिमय न हो सके तब तक वह अधिकारी के लिए धन नही हो सकती। वस्तु का स्वय हस्तान्तरित होना आवश्यक नही है केवल अधिकार का हस्तान्तरित होना यथेष्ट है। इसके अतिरिक्त यह आवश्यक नहीं है कि वस्तुओ का वास्तव मे विक्रय हो। उदाहरण के लिए सार्वजनिक पार्क, पुस्तकालय, स्कूल, अस्पताल आदि धन हैं यद्यपि उनका क्रय विक्रय नही होता।

साराश यह है कि धन के तीन आवश्यक गुण हैं—(i) उपयोगिता, (ii) पूर्ति में दुर्लभता अथवा सीमित होना, तथा (iii) हस्तान्तरणीयता अथवा विक्रय शक्ति।

धन की उपर्युक्त परिभाषा आर्थिक वस्तुओ के समानार्थ है क्योंकि वे उपयोगिता रखती हैं, सीमित हैं तथा हस्तान्तरणीय (transferable) हैं। जे० एन० कीन्स (J N Keynes) के शब्दों म, 'धन के अन्तर्गत मानवीय आवश्यकताओ की तृप्ति के समस्त प्रभावयुक्त विनिमयशील साधन हैं। प्रत्येक वस्तु जिसमें विनिमय-मूल्य (value-in exchange) (सक्षेप में मूल्य) है वह धन है।"[1]

हमको एक प्रश्न पर बल देना चाहिए। धन एक सापेक्ष शब्द है। यह वस्तुओ का मनुष्य से सम्बन्ध है जो उन्हे धन बनाता है। ऐसी अनेक वस्तुएँ हैं जिनका मनुष्य जाति के लिए कभी कोई उपयोग न था। वे निर्मूल्य वस्तुएँ थी और धन नही। उद्योगो के अनेक उपोत्पाद (bye-products) कूडे की भाँति फेंक दिए जाते थ। हाल ही म भारत म शक्कर के कारखानो म शीरा इतना एकत्रित हो गया था कि वे इस बेकार पदार्थ से छुटकारा पाने के लिए कुछ भुगतान करने को भी तत्पर थे। शराब खीचने के कारखानो के स्थापित होने से वही शीरा धन बन गया। कालिदास के नाटक एक जगली मनुष्य के लिए धन नही हैं। रॉबिन्स (Robbins) के शब्दो म, 'धन अपने सारपूर्ण गुणो के कारण धन नही है। यह दुर्लभ होने के कारण धन है।"[2]

धन के इस अभिप्राय म समस्त भौतिक तथा अभौतिक पदार्थ और उनके प्रयोग से उत्पन्न होने वाले अधिकार तथा लाभ और साथ ही सब प्रकार की सेवाएँ, यदि

---

1 'Wealth consists of all potentially exchangeable means of satisfying human needs Anything which possesses value in exchange (in short value) is wealth'—J N Keynes

2 'Wealth is not wealth because of its substantial qualities It is wealth because it is scarce —Robbins

उनमे विनिमय मूल्य है, धन ही है। प्रेम, मित्रता तथा चरित्र जैसी अत्यन्त प्रशंसनीय वस्तुएँ धन की परिभाषा के बाहर केवल इस कारण हैं कि उनका क्रय-विक्रय नही हो सकता।

अब हम कुछ प्रकार की वस्तुओ को इन कसौटियो पर रखना चाहिए और यह देखना चाहिए कि क्या वे धन हो सकती हैं। हमें एक बार फिर सावधानी से विचार करना चाहिए। हम अन्धविश्वास से यह नही कह सकते कि यह धन है और वह धन नही। एक वस्तु कुछ दशाओ मे, किसी निश्चित स्थान पर अथवा किसी निश्चित समय मे धन हो सकती है और अन्य प्रकार की दशाओ में पूर्णतया धन नही होती। उदाहरणार्थ साधारणतया वायु धन नही है, किन्तु भूमि के नीचे के कमरो म जहाँ उसकी प्राप्ति के लिए द्रव्य व्यय करना पड़ता है वह धन हो जाती है।

निम्नलिखित पर विचार कीजिए :—

वैयक्तिक गुण (Personal Qualities)—क्या शल्यचिकित्सक (सर्जन) की कुशलता, वकील की तर्क चतुराई, मनुष्य की बुद्धि तथा योग्यता धन है? यह वैयक्तिक योग्यताएँ धन का स्रोत हैं। हम सर्जन को उसकी कार्यकुशलता के लिए पैसा अदा करते है। उसने कदाचित् इसकी प्राप्ति के लिए काफी पैसा तथा मेहनत की होगी। किन्तु वैयक्तिक गुण धन नही माने जाते। वे हस्तान्तरणीय नही अतएव विनिमयशील भी नही हैं।

वैयक्तिक सेवायें (Personal Service)—क्या डाक्टर, वकील, अध्यापक, घरेलू नौकर इत्यादि की सेवाएँ धन हैं? हाँ, वे धन हैं। वे मानवीय आवश्यकता की सतुष्टि कर सकती हैं तथा इसलिए उपयोगिता रखती हैं, वे दुर्लभ हैं और विनिमयशील हैं। ऐसी सेवाएँ पैसे के एवज की जाती हैं।

द्रव्य (Money)—द्रव्य स्वय क्या है? यह कहा जाता है कि द्रव्य केवल एक विनिमय का माध्यम है। स्वय इसका कोई मूल्य नही होता। अब यह विचार गलत है। धात्वीय द्रव्य (metallic money) आसानी से धन माना जा सकता है। इसमे आन्तरिक (intrinsic) मूल्य है और यह दुर्लभ तथा विनिमयशील है। परन्तु कागजी द्रव्य (paper money) भी धन है। यह क्रय-शक्ति (purchasing power) रखता है तथा यह उन वस्तुओ तथा सेवाओ का सग्रह प्रस्तुत करता है जिसे द्रव्य रखने वाला खरीद सकता है। निस्सदेह द्रव्य का विनिमय-मूल्य (value-in-exchange) है और प्रत्येक वस्तु जिसका विनिमय मूल्य है वह धन है।

प्रतिष्ठा (Goodwill)—यह अस्पृश्य है। किन्तु यह अवश्य ही धन है। बाजार म इसकी कीमत होती है। एक फर्म (firm) जिसने अधिक परिश्रम करके या ईमानदारी के व्यवहार द्वारा अपनी प्रतिष्ठा स्थापित कर ली है अवश्य ही प्रतिष्ठा (goodwill) को व्यवसाय के स्वामित्व को किसी अन्य को सौंपते समय द्रव्य मे बदल सकती है।

उपाधिप्रों के प्रलेख (Documents of Title)—ऐसे अनेक प्रकार के प्रलेख हैं जिन्हे उनके स्वामी धन मानते हैं, उदाहरणार्थ चेक, विनिमय-पत्र (Bills of Exchange), प्रतिज्ञा-पत्र (Pormissory Notes), वहन-पत्र (Bills of Lading),

राज्य बध (Govt. Bonds), परम प्रतिभूतियाँ (Giltedged Securities), स्टॉक तथा शेयर प्रमाण-पत्र (Stock and Share Certificates), आगोप लेख (Insurance Policies), भूमि तथा इमारतों से सम्बन्धित रहननामे (Mortgage Deeds) तथा अन्य सम्पत्ति अधिकार (property rights) आदि। यह सब द्रव्य-मूल्य (money value) रखते है; यद्यपि आगोप लेखो के विषय मे द्रव्य-मूल्य कभी-कभी केवल उसकी अध्यर्पण अर्हा मान (surrender value) के बराबर है। परन्तु यह प्रलेख स्वय धन नही है। यह धन साक्ष्य अथवा केवल उसके प्रमाण-पत्र हैं। वे कही पडे हुए धन को प्रस्तुत करते है जिन पर इन प्रलेखो के रखने वालो का अधिकार है। इसलिए वे प्रतिनिधि-धन (representative wealth) कहलाते हैं।

५ धन का वर्गीकरण (Wealth Classified)—धन वैयक्तिक अथवा निजी किसी प्रकार का भी हो सकता है। एक व्यक्ति का धन उसके ऐसे भौतिक अधिकार हैं जैसे नक्दी, भूमि, इमारतें आदि तथा अन्य वैयक्तिक सम्पत्ति, सम्पत्ति का अधिकार, स्टॉक, शेयर, एकस्व (patents) आदि। इसके अन्तर्गत उसके व्यवसाय की ख्याति जैसी अस्पृश्य आस्तियाँ (intangible assets) भी हैं। तो भी उसके वैयक्तिक गुण इससे अलग हैं। उसके ऋण उसके कुल धन से घटा दिए जाते हैं।

सामाजिक अथवा साम्प्रदायिक धन (Social or Communal Wealth) के अन्तर्गत वे वस्तुएँ शामिल हैं जो सबकी सामूहिक सम्पत्ति है। उदाहरण के लिए, सार्वजनिक पार्क, सार्वजनिक पुस्तकालय, सार्वजनिक इमारतें, रेलें आदि।

राष्ट्रीय धन (National Wealth) का अभिप्राय देश के समस्त नागरिकों के धन के कुल योग से है। इसके अन्तर्गत सामाजिक तथा साम्प्रदायिक धन भी शामिल है जिस पर सबका मिला-जुला अधिकार है।

परन्तु राष्ट्रीय धन की विस्तृत परिभाषा भी की जाती है। विस्तृत रूप में अन्य अनेक वस्तुएँ जिन्हे राष्ट्रीय आस्तियाँ (assets) समझा जा सकता है राष्ट्रीय धन के अन्तर्गत हैं। उदाहरणार्थ पहाड़, नदियाँ, स्वस्थ जलवायु, अच्छा शासन, नागरिकों का चरित्र आदि। इस अर्थ मे हिमालय पर्वत, गगा तथा अन्य इस प्रकार के प्राकृतिक उपहार राष्ट्रीय धन के अन्तर्गत हो सकते है।

सार्वभौमिक धन (Cosmopolitan Wealth) सम्पूर्ण विश्व का धन है। सम्पूर्ण विश्व के सभी देशों के राष्ट्रीय धन का कुल योग सार्वभौमिक धन (Cosmopolitan wealth) है। विस्तृत अर्थो मे सार्वभौमिक धन के अन्तर्गत पहाड़ और नदियाँ भी ली जा सकती हैं।

नकारात्मक धन (Negative Wealth)—नकारात्मक धन से अभिप्राय उस धन मे है जो सकारात्मक (positive) धन के विरुद्ध हो। ऋणी के लिए ऋण नकारात्मक धन है परन्तु ऋणदाता के लिए सकारात्मक धन है। कुछ पशु भयकर होने के अतिरिक्त अत्यधिक हानि पहुँचाते हैं और नकारात्मक धन समझे जाते हैं। खरगोश, सुअर तथा वानरों को नकारात्मक धन समझा जा सकता है।

६. धन और आय (Wealth and Income)—धन और आय मे भेद करना अति आवश्यक है। धन एक कोष अथवा एक व्यक्ति अथवा सम्प्रदाय के स्रोतों अथवा

आस्तियों की राशि है जबकि आय उसमें निकली हुई समय की एक इकाई पर अर्थात् साप्ताहिक, माहवारी अथवा वार्षिक उपयोगिता या सन्तुष्टि है। एक मनुष्य अपनी पाँच लाख की सम्पत्ति से २५,००० रुपयों की आय करता है। सम्पत्ति धन है और जो कुछ इससे प्राप्त होता है वह आय है।

७ धन तथा कल्याण (Wealth and Welfare)—अर्थशास्त्रियों में धन तथा कल्याण के सम्बन्ध म निरन्तर किन्तु व्यर्थ विवाद पाया जाता है। हम देख चुके हैं कि अर्थशास्त्र धन को न कि मानवीय कल्याण को अपने अध्ययन का केन्द्र-बिन्दु बनाता है। परन्तु अर्थशास्त्र को स्वार्थता पर केन्द्रित होने का दोष देना तथा उसे निकृष्ट विज्ञान कहना अनुचित होगा। अर्थशास्त्रियों ने यह घोषित कर दिया है कि धन का अध्ययन स्वय उसके लिए नहीं होता परन्तु इसलिए होता है कि वह मानवीय कल्याण को बढ़ाता है। धन साधन तथा क्षेम या कल्याण साध्य है। दोनों परस्पर भिन्न हैं। धन का अभिप्राय माल की राशि से है किन्तु कल्याण का मस्तिष्क की दशा से। यह समस्त सतोषों तथा असतोषों का योग है।

यह अब मान लिया गया है कि मनुष्य की क्रियाएँ केवल स्वार्थभाव से ही प्रेरित नहीं होतीं। प्रत्येक मनुष्य द्रव्य के लिए उत्सुक है। तो भी, द्रव्य की आवश्यकता स्वय द्रव्य की प्राप्ति के ही लिए नहीं होती, किन्तु उन वस्तुओं तथा सेवाओं के लिए होती है, जिनका इसमें क्रय हो सकता है। अतएव जब अर्थशास्त्री धन का अध्ययन करता है तो कल्याण को नहीं भूलता। इसे सबसे आगे रखा जाता है।

धन का अध्ययन केवल इसलिए किया जाता है कि ससार म धन ही केवल मानवीय प्रेरणाओं की तीव्रता का सरल माप है। प्रेम, मित्रता, कुटुम्ब अनुराग, दान आदि जैसी अन्य प्रेरणाएँ भी अपना प्रभाव डालती हैं। किन्तु तथ्य यह है कि आर्थिक क्रिया कलापों के पीछे सबसे अधिक दृढ़ तथा परमावश्यक प्रेरणा द्रव्य आय (money income) प्राप्त करना है।

एक अन्य कारण भी है कि अर्थशास्त्री कल्याण की अपेक्षा धन का अध्ययन करता है। कल्याण के प्रति प्रत्यक व्यक्ति के विचार भिन्न-भिन्न ह। कल्याण के अन्तर्गत क्या है इसके प्रति प्रत्यक मनुष्य की अपनी अपनी धारणाएँ हैं। कुछ अपनी भौतिक समृद्धि बढ़ाना चाहते हैं और कुछ शील, समृद्धि तथा कुछ आध्यात्मिक समृद्धि को उन्नति देने म विश्वास करते हैं। इसके अतिरिक्त कल्याण के विचार समय-समय पर तथा देश देश म भिन्न रहे हैं। अर्थशास्त्र का आधार एक ठोस धन की नींव है न कि एक अति अस्थिर दलदल। इस आस्था के प्रति सब एकमत हैं।

कुछ विषयों म धन तथा कल्याण म भिन्नता है। वायु अथवा धूप जो जीवन अथवा मानवीय कल्याण के लिए अनिवार्य हैं, किसी प्रकार धन नहीं माने जाते हैं। फिर आनन्द प्रेम, मित्रता, स्वास्थ्य, सस्कृति आदि जो जीवन में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं और जीवन को रहने योग्य बनाते हैं, धन के क्षेत्र के बाहर हैं। अतएव कुछ वस्तुएँ जो मनुष्य की समृद्धि में अधिक सहायक हैं उनका धन म कोई स्थान नहीं है।

दूसरी ओर भी देखिए। अनेक वस्तुएँ जो धन के अन्तर्गत हैं केवल हमारी भौतिक समृद्धि को नहीं बढ़ातीं अपितु इसके विपरीत इसके लिए हानिकारक भी हैं।

मादक पदार्थ, अश्लील साहित्य तथा अन्य अनेक निन्दित वस्तुएँ तथा सेवायें जिन्हें अर्थशास्त्री धन मानता है हमारे कल्याण पर बुरा प्रभाव डालती हैं।

और फिर एक धनवान समाज अवश्य ही एक उन्नतिशील समाज का वास्तविक रूप नहीं है। इसके विपरीत घोर भौतिकवाद के इस युग म धनी वर्ग सम्पूर्ण समाज मे पाई जाने वाली समस्त भ्रष्टता एव बुराइयो पर सर्वाधिकार करता हुआ प्रतीत होता है। धन मनुष्य की आत्मा म विष घोलता है, उसे कुमार्ग पर ले जाता है तथा भ्रष्ट करता है।

परन्तु ऐसा नहीं है। कदाचित् हम ने धन का अनुचित निराशावादी रूप म चित्रण किया है। जहाँ हमने इसके भ्रष्ट करने वाले प्रभावो का वर्णन किया है, हम इसकी हितकारी प्रबलता को भी अवश्य स्वीकार करना चाहिए। सब कुछ धन के उपयोग के ढग पर निर्भर है। एक धनी पुरुष निस्सन्देह अपना और अपने कुटुम्ब का अच्छा जीवन-स्तर (standard of living) स्थापित रखने के लिए सहायक हो सकता है तथा इस प्रकार अपना भौतिक कल्याण बढा सकता ,ससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि वह अपने से कम भाग्यशाली भाइयो की सहायता कर सकता है।

आधुनिक काल म उत्पादन के स्थान पर वितरण पर अधिक जोर दिया जाता है क्योंकि यह विश्वास किया जाता है कि समुदाय का कल्याण केवल कुछ धन पर ही निर्भर नहीं है किन्तु उसके समान वितरण पर विशेष रूप से है। न्यूनतम मजदूरी (minimum wage) *प्रणालियाँ प्रचलित कर दी गयी हैं, अत्यधिक सूद लेने* (usury) के विरुद्ध कानून पास किए गए हैं और लाभ सीमित करने के प्रयत्न किए गए हैं। *यह सब इसको निश्चित करने के लिए किया गया है कि धन म मानवीय* कल्याण के प्रति अधिकाधिक लाभाश (dividends) प्राप्त किए जावे।

सार्वजनिक वित्त (public finance) म आधुनिक *प्रवृत्तियाँ देखिए—धनिको* पर तीव्र उत्तरोत्तर कर (steeply progressive tax), श्रेष्ठ चिकित्सा सहायता, अच्छी शिक्षा, अच्छी सडके तथा सार्वजनिक पार्क, अजायबघर, पुस्तकालय आदि जैसे अन्य सामाजिक वस्तुओ के साधन आदि के रूप म गरीबों के लिए अधिकतम सुविधाओ का प्रबन्ध। ऐसे सब प्रयत्न स्पष्ट रूप से यह बताते हैं कि धन मानवीय कल्याण को बढाने का एक प्रबल तथा कुछ के अनुसार एकमात्र प्रभावी साधन है। धन और मानव कल्याण म अति निकट सम्बन्ध है।

पान, तथा सामाजिक सस्कारो पर अत्यधिक व्यय आदि । हमको बुद्धिमत्ता से उपभोग करने की उतनी ही आवश्यकता है जितनी कुशलतापूर्वक उत्पादन तथा समान वितरण की है ।

२ उपभोग करने की प्रवृत्ति[1] (Propensity to Consume)—उपभोग के स्तर से रोजगार की मात्रा निश्चित होती है । इससे पता चलता है कि उपभोग कितना महत्त्वपूर्ण है । उपभोग के सम्बन्ध में व्यक्तियो के निश्चय से उपभोग की मात्रा तय होती है । उपभोग का निश्चय इस बात से होता है कि बचत कितनी हो सकती है। इस प्रकार उपभोग करने की प्रवृत्ति आत्मपरक अवस्थाओ (subjective conditions) से निश्चित होती है (अर्थात् मानवीय चेष्टाएँ) तथा वस्तुपरक (objective) अवस्थाओ से जैसे कीमतें, स्वाद, पूँजीगत लाभ तथा हानि, राजकोषीय नीति (fiscal policy) में परिवर्तन, सूद की दर आदि । परन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण साधन है आय का आकार । उपभोक्ता की आय के आकार तथा खर्च की गई राशि म परस्पर स्थायी कार्यगत (functional) सम्बन्ध है । इस प्रकार उ=का (आ) अर्थात उ= उपभोग, आ=आय और का=कार्यगत सम्बन्ध, और यह आय और उपभोग म परस्पर कार्यगत (functional) सम्बन्ध बताती है ।

हम उपभोग करने की प्रवृत्ति को समझने के लिए एक अनुसूची (schedule) बना सकते हैं जिसमें यह दिखाया गया है कि किसी समुदाय म विभिन्न स्तर पर आय पाने वाले लोग कितनी मात्रा म उपभोग करते हैं । हम इस अनुसूची के स्वरूप के सम्बन्ध म यह धारणा बना सकते हैं, जो कि बिलकुल वास्तविक है, (i) यदि समुदाय की आय में वृद्धि होगी तो उपभोग म भी वृद्धि होगी परन्तु नियम के अनुसार, यह वृद्धि आय म होने वाली वृद्धि के समान नही होगी ।

गणित के अनुसार इस प्रकार है कि यह $\frac{\delta c}{\delta y}$ δy आय म बहुत कम वृद्धि है और δc यह उपभोग म होने वाली वृद्धि है। $\frac{\delta c}{\delta y}$ यह आय मे हुई वृद्धि का अनुपात है जिसे खर्च किया जाता है तथा इस प्रकार यह उपभोग करने की सीमान्त प्रवृत्ति (marginal propensity) है । यह निश्चयात्मक है परन्तु १ से कम है अर्थात् १ इससे बडा है और यह ० से बडा है । (ii) नियम के अनुसार लोग अपनी आय से अधिक उपभोग नही करते । (iii) जैसे आय म वृद्धि होती है उपभोग करने की सीमान्त प्रवृत्ति म गिरावट आती है । यह धारणा उपभोग करने की प्रवृत्ति के वक्र को रूप देती है जो इस प्रकार है—

TPC वह वक्र है जो कि समुदाय की उपभोग करने की कुल प्रवृत्ति का प्रदर्शन करता है । ४,००० रु० तक कुल आय का उपभोग हो जाता है । इसलिए TPC वक्र तथा चिह्नांकित रेखा ४५° पर मिल जाती हैं । इस बिन्दु से आगे यह नीचे की ओर जाती है । जब आय १०,००० रु० हो जाती है तो उपभोग ७,००० रु० है और बचत ३,००० रु० । TPC का मुडना यह बताता है कि जैसे आय म वृद्धि होती है,

1 Stonier and Hague A Text Book of Economic Theory, 1953, Ch. XX

औसत तथा सीमान्त उपभोग (average and marginal consumption) करने की औसत तथा सीमान्त प्रवृतियाँ गिरती जाती है, परन्तु सीमान्त प्रवृति औसत प्रवृत्ति से अधिक तीव्रता से गिरती है। चूंकि गरीब लोग अमीरो की अपेक्षा अपनी आय का अधिक भाग उपभोग करते हैं, इसलिए यदि हम उपभोग बढ़ाना चाहते हैं तो हमें अमीरो पर कर लगाना चाहिए और यदि घटाना चाहते है तो गरीबो पर कर लगाना चाहिए।
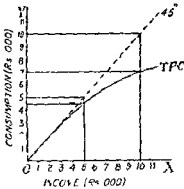
३ मानवीय आवश्यकताएँ (Human Wants)—उपभोग का अध्ययन मानवीय आवश्यकताओ से जुड़ा है। आवश्यकताएँ असीम हैं यद्यपि प्रत्यक मानवीय इच्छा को पूरा करना सम्भव नहीं है, परन्तु किसी इच्छा विशेष का पूरा किया जा सकता है। जब हम किसी आवश्यकता की तप्ति कर लेते है तो दूसरी प्रत्यक्ष हो जाती है और उसका स्थान ले लेती है। मानवीय आवश्यकताओ का यह लक्षण सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम (diminishing marginal utility) का आधार है। क्योंकि प्रत्यक आवश्यकता की तप्ति की जा सकती है, इसलिए जैसे-जैसे उपभोग प्रगतिशील होता जाता है, वैसे ही हमारी सन्तुष्टि क्रम से घटती जाती है।

(1) आवश्यकताएं पूरक होती हैं (Wants are Complementary)—इसका अर्थ यह है कि एक आवश्यकता की पूर्ण तृप्ति करने म हम अनेक वस्तुओ की एक-साथ आवश्यकता होती है। घोड़ा और गाड़ी चश्मे का शीशा और उसका फ्रेम, फाउन्टेनपेन तथा स्याही आदि की साथ-साथ आवश्यकता होती है। वास्तव मे केवल अकेली माँग बहुत कम होती है। प्रत्यक वस्तु की आवश्यकता माँग की प्रणाली का एक भाग है। हमें वस्तुओ की सामूहिक (group) रूप में आवश्यकता होती है।

(2) आवश्यकताओ में आपस में प्रतिस्पर्द्धा होती है—हमारी आवश्यकताएँ असीम हैं किन्तु हमारे साधन सीमित हैं। उपलब्ध साधनो के अनुसार ही हमारी इच्छाएं सीमित होती हैं। इसलिए हमको वरण (choice) करना ही पड़ता है। हम कॉफी हाउस सिनेमा देखने, खेल-कूद अथवा दगल देखने, किताब खरीदने आदि जाना चाहते हैं। इससे एक सिद्धान्त निकलता है जिसको प्रतिस्थापना नियम (Law of Substitution) कहते हैं।

(3) कुछ आवश्यकताएँ वैकल्पिक होती हैं। कभी कभी एक विशिष्ट आवश्यकता की तृप्ति के लिए हमारे सामने भिन्न भिन्न वैकल्पिक साधन होते हैं। जब हम कुछ पीना चाहते है तो हम चाय, कॉफी अथवा कोको पी सकते हैं।

(4) आवश्यकताएं दुबारा उत्पन्न हो जाती हैं। बार बार की सन्तुष्टि उसको स्वभाव में परिणत कर देती है।

४ अनिवार्यताएँ, सुविधाएँ तथा विलासिताएँ (Necessaries, Comforts

and Luxuries)—आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिए जो वस्तुएँ काम मे लाई जाती हैं उनका वर्गीकरण अनिवार्यताओ, सुविधाओं तथा विलासिताओं मे किया जा सकता है। "अनिवार्यताओं" से हमारा अभिप्राय उन वस्तुओं और सेवाओं से है जिनकी आवश्यकताओं की तृप्ति अवश्य होना चाहिए । अनिवार्यताओं का वर्गीकरण इस प्रकार है : (१) जीवनरक्षक अनिवार्यताएँ (necessaries for life)—जिनका अभिप्राय उन वस्तुओ से है जो जीने के लिए नितान्त आवश्यक हैं, (२) कार्य-कुशलता के लिए अनिवार्यताएं (necessaries for efficiency)—वे हैं जो हमारी कार्यकुशलता मे वृद्धि करती हैं, उदाहरणार्थ मेज, कुर्सी तथा एक विद्यार्थी के लिए टेबल लैम्प आदि। उनके प्रयोग से होने वाला लाभ लागत से अधिक है, (३) रूढ़िगत अनिवार्यताएँ (conventional necessaries)—कोई व्यक्ति मादक वस्तु तम्बाकू अथवा शराब का आदी हो गया हो, अथवा उसको एक ऐसा व्यय करना हो जिसकी समाज उससे आशा करता है, उदाहरणार्थ, विवाह और अन्य सामाजिक सस्कारो पर व्यय; अथवा उसको प्रचलित पोशाक पहननी ही पडती है।

सुविधाएँ (Comforts)—वे वस्तुएँ तथा सेवाएँ हैं जिनका एक व्यक्ति अपने आपको सुखी बनाने के लिए अनिवार्यताओं के अतिरिक्त उपभोग करता है, उदाहरणार्थ, गर्मी मे बिजली का पखा तथा जाडो मे हीटर मोटी गद्देदार कुर्सियाँ अथवा पलँग, कई नौकर आदि। निस्सन्देह ये वस्तुएं भी निजी कार्यक्षमता को तो बढाती हैं परन्तु व्यय के अनुपात मे नही।

विलासिताएँ (Luxuries)—कुछ विशिष्ट साधनो के उपयोग अथवा जीवन-स्तर के बाहर मनुष्य जो व्यय करता है उन्हे विलासिताएँ कहते हैं। यह व्यर्थ व्यय है। ऐली (Ely) के अनुसार, विलासिताओं की परिभाषा अत्यधिक निजी उपभोग है। उनका कथन है कि "साधारण भाव मे विलासिता का अर्थ कोई भी वह वस्तु है जो व्यर्थ की आवश्यकताओं की सन्तुष्टि करे।"

परन्तु 'विलासिताएँ', अनिवार्यताए' तथा 'सुविधाएँ' सापेक्ष शब्द हैं। स्थान, समय और व्यक्ति का सामाजिक स्तर भी अनिवार्यताओ, विलासिताओ और सुविधाओं मे क्रम परिवर्तन कर सकते हैं। वही वस्तु किसी मनुष्य के लिए विलासिता हो सकती है और दूसरे के लिए अनिवार्यता। एक रईस के लिए जो निकट स्थान पर रहता हो, मोटर विलासिता है, परन्तु एक कुलीन व्यवसायी, मन्त्री अथवा उच्च अधिकारी के लिए ऐसा नही है।

५ जीवन-स्तर (Standard of Living)—अनिवार्यताएँ, सुविधाएँ तथा विलासिताएँ जिनके उपयोग का कोई व्यक्ति अभ्यस्त हो जाता है, जीवन स्तर बनाती हैं। यह स्तर विभिन्न प्रभावो का परिणाम है। कुछ अशो म हम अपना जीवन-स्तर अपने माता-पिता से ग्रहण करते हैं और तब हम उसे अपनी रुचि, शिक्षा, अनुभव, सामाजिक वातावरण तथा अनुकरण की प्रेरणा के अनुसार बना लेते हैं। यदि हमारी आय अधिक होती है तो जीवन-स्तर ऊँचा उठाना आनन्ददायक और सरल है। किन्तु आय कम हो जाने पर जीवन-स्तर गिराना बडा कष्टकारी लगता है। जीवन-स्तर से हमारी कार्यक्षमता और हमारी आय पर प्रभाव पडता है।

एक समुदाय का जीवन-स्तर ऊंचा रखा जा सकता है तथा उसकी उन्नति हो सकती है, यदि—

(क) उपयोग के लिए प्राप्त कोई भी आर्थिक स्रोत बेकार न रहे,

(ख) उपलब्ध आर्थिक स्रोतो को उन पदार्थों के उत्पादन म लगाया जाए जिनकी उपभोक्ता को अधिक जरूरत है ,

(ग) समुदाय की आय व्यक्तियो म इस तरह विभाजित की जाए जिससे राष्ट्रीय आय (national income) से अधिकाधिक सन्तुष्टि प्राप्त हो, तथा

(घ) समस्त जनसख्या तथा पूंजी का कुल सग्रह उचित मात्रा म पर्याप्त हो।

६ ऐंजिल का नियम (Engel's Law)—ऐंजिल के उपभोग नियम को परिवारा के जीवन निर्वाह स्तर अथवा पारिवारिक आय व्यय के आधार पर रखा गया है। अर्नेस्ट ऐंजिल प्रशा (Prussia) के साख्यिकीय कार्यालय का अध्यक्ष था। उसने निम्नलिखित मुख्य परिणाम इस बारे म निकाले —

(१) जैसे जैसे आय बढती है भोजन तथा जीवन की अन्य अनिवार्यताओ पर प्रतिशत व्यय घटता जाता है और इसके विपरीत भी सच है।

(२) आय के बढन पर विलासिताओ पर तथा अन्य सास्कृतिक और मनोरजक आवश्यकताओ पर प्रतिशत व्यय बढता जाता है और आय घटने पर घटता जाता है। कम आय मे प्राय लुप्त हो जाता है।

(३) निवास-स्थान का किराया, ईंधन तथा प्रकाश पर प्रतिशत व्यय सब आयो म लगभग समान रहता है।

(४) कितनी भी आय हो कपडो पर प्रतिशत व्यय प्राय एक सा रहता है।

यह सावधानी से ध्यान म रखना होगा कि प्रतिशत व्यय बढता घटता है न कि कुल व्यय।

अध्याय ४

उपभोग (क्रमशः)

(Consumption) (*Contd.*)

आह्रासी उपयोगिता का नियम

(Law of Diminishing Utility)

१. भूमिका (Introduction)—हमने पिछले अध्याय में 'उपयोगिता' शब्द के अर्थ का अध्ययन किया है। उपयोगिता का अर्थ किसी वस्तु की आवश्यकता तृप्ति की शक्ति से है। हमने यह भी देखा है कि उपयोगिता आत्मपरक है और प्रत्येक व्यक्ति के लिए भिन्न है। उपयोगिता का अभिप्राय न तो सन्तुष्टि से है और न "उपयोगिता" शब्द "हितकर" के समानार्थ है। इसका कोई नैतिक महत्त्व नहीं है। अब हम उपभोग म एक महत्त्वपूर्ण नियम जिस पर उपयोगिता आधारित है अर्थात् आह्रासी सीमान्त उपयोगिता नियम का अध्ययन करेंगे।

२ आह्रासी सीमान्त उपयोगिता का नियम (Law of Diminishing Marginal Utility)—यह नियम प्रत्येक उपभोक्ता के साधारण अनुभव से सम्बन्ध रखता है। मान लीजिए कि एक व्यक्ति एक एक करके सेब खाना आरम्भ करता है। पहला सेब उसको अधिक आनन्द देता है। दूसरा सेब खाने के पूर्व उसकी भूख कम हो जाती है और वह सेब, कम तीव्र आवश्यकता होने के कारण, कम सन्तुष्टि प्रदान करता है। तीसरे की सन्तुष्टि दूसरे से और चौथे की तीसरे से कम होगी और इसी प्रकार घटती जाएगी। प्रत्येक क्रमिक सेब की सन्तुष्टि घटती जाएगी यहाँ तक कि वही शून्य हो जाएगी, और यदि उपभोक्ता को और सेब खाना पड़े तो सन्तुष्टि या तो निषेधात्मक (negative) हो सकती है या उपयोगिता अनुपयोगिता में परिवर्तित हो सकती है।

निम्नलिखित तालिका से यह विचार स्पष्ट हो जाएगा—

(१) इकाइयाँ (सेब)	(२) कुल उपयोगिता (सन्तुष्टि की इकाइयाँ)	(३) सीमान्त उपयोगिता (सन्तुष्टि की इकाइयाँ)
१	२०	२०
२	३८	१८
३	५३	१५
४	६४	११
५	७०	६
६	७०	०
७	६२	−८
८	४६	−१६

नोट—यह आँकड़े उपयोगिता की मात्रा की व्याख्या करते हैं। यदि उपयोगिता की मात्रा म पीछे दी हुई तालिका की भाँति परिवर्तन हो तो कोई दूसरे अंक लिये जा सकते हैं।

जब हमारा कल्पित उपभोक्ता सेब खाता जाता है, प्रत्यक क्रमिक सेब के उपभोग से प्राप्त अतिरिक्त सन्तुष्टि घटती जाती है, यहाँ तक कि छठी इकाई पर शून्य हो जाती है और तब निषेधात्मक हो जाती है (देखो पंक्ति ३)। कुल उपयोगिता पाँचवी इकाई के उपभोग तक बढती जाती है परन्तु यह बात ध्यान देने योग्य है कि यह वृद्धि भी ह्रासी (decreasing) गति स बढ़ती जाती है। चैपमैन (Chapman) का कथन है कि "हम किसी वस्तु का जितना अधिक उपभोग करते हैं उतनी ही उसकी इच्छा कम होती जाती है।"[1] मार्शल (Marshall) ने इस नियम को इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

'किसी मनुष्य के पास किसी वस्तु की दी हुई मात्रा में वृद्धि होने से उससे प्राप्त अतिरिक्त लाभ की मात्रा प्रत्येक वृद्धि के साथ साथ घटती जाती है।'[2] हम यह भी कह सकते हैं कि उसकी मात्रा की प्रत्यक घटौती पर सीमान्त उपयोगिता बढ़ती जाएगी। दूसरे शब्दों म उपयोगिता राशि के विपरीत बदलती है यद्यपि आवश्यकत उसी अनुपात में नहीं। सीमान्त उपयोगिता के ह्रास के दो महत्त्वपूर्ण कारण हैं (क) प्रत्यक विशेष आवश्यकता सन्तुष्ट होने योग्य है, और (ख) वस्तुएं एक दूसरे के लिए पूरे तौर पर एक दूसरे के स्थान पर नहीं रखी जा सकती और वे उचित अनुपात म उपभोग की जाती हैं।
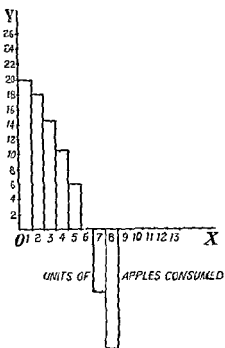
चित्र न० २

रेखाचित्र द्वारा निरूपण (Diagrammatic Representation) – दिया गया रेखाचित्र सेब के उपभोग पर लागू ह्रासी उपयोगिता के नियम की व्याख्या करता है। (पृष्ठ ३५ पर दी हुई तालिका देखिए।)

---

1 The more we have of a thing the less we want additional increments of it "—Chapman

2 The additional benefit which a person derives from a given increase of his stock of a thing diminishes with every increase in stock that he already has —Marshall

OX तथा OY दो अक्ष रेखाएँ हैं। सेब की इकाई OX पर और उपयोगिता की इकाई OY पर मापी गई है। X अक्ष रेखा के एक भाग पर खड़ा हुआ समकोण चतुर्भुज सेब की पहली इकाई की उपयोगिता बतलाता है (देखो रेखाचित्र 2)। इसी भाँति प्रत्येक उपभोग की हुई क्रमिक इकाई की उपयोगिता समकोण चतुर्भुजो द्वारा प्रस्तुत की गई है जैसा कि चित्र मे दिखाया गया है। जैसे-जैसे सेबो का उपभोग होता जाता है यह समकोण चतुर्भुज छोटे होते जाते हैं। छठे सेब की उपयोगिता कुछ नही है, सातवें तथा आठवें की नकारात्मक उपयोगिताएँ हैं जैसा कि X अक्ष रेखा के नीचे दिए हुए समकोण चतुर्भुजो द्वारा दिखाया गया है।

सेबो की बडी इकाइयाँ हैं। यदि काई वस्तु अधिक छोटी इकाइयों में उपभोग की जाए तो समकोण चतुर्भुज पतले होते जाएंगे। हम सैद्धान्तिक रूप से कल्पना कर सकते है कि वे इतने पतले हो जाते हैं कि एक रेखा से ही प्रस्तुत किए जा सकते हैं। अब यदि ऐसे पास-पास रेखाओ के सिरे आपस मे मिला दिए जाएँ तो एक ऐसी वक्र रेखा बन जाती है जो कि बाँयें से दाहिनी ओर नीची होती जाती है जैसा कि रेखा-चित्र 3 में दिखाया गया है।

यदि वक्र रेखा पर किसी बिन्दु P से PM OX के लम्ब रूप मे खीची जाए, तो PM OM, उपभोग की हुई मात्रा की सीमान्त उपयोगिता होगी। यदि उपभोग OM' तक ले जाया जाए तो सीमान्त उपयोगिता निषेधात्मक अर्थात् P' M' हो जाएगी। जब उपभोग OZ है सीमान्त उपयोगिता शून्य होगी।

चित्र न० ३

हमने यह कल्पना की है कि यह नियम उपभोग की प्रथम इकाई के बाद लागू हो जाता है जैसा कि हमारे सेब के दृष्टान्त मे है। परन्तु यह सम्भव है कि किसी सीमा तक सीमान्त उपयोगिता बढ सकती है। यह उस वक्र रेखा द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है जो कि पहले दाहिनी ओर से बढती है और फिर गिर जाती है। यह बिन्दु-रेखा से बतलाया गया है।
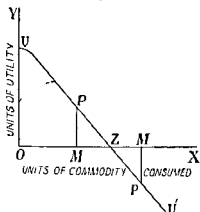
३. ह्रासी उपयोगिता के नियम की सीमाएँ (Limitations of the Law of Diminishing Utility)—घटती हुई उपयोगिता का नियम जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, कुछ धारणाओं पर आधारित है।

(1) यह मान लिया गया है कि वस्तु या उपभोग उचित इकाइयो (suitable units) म किया गया है, यदि आप प्यासे होने पर चम्मच भर-भरकर जल पीने लगें अथवा यदि आप पूरी चपाती के बजाय टुकडो की उपयोगिता जाँचने लगें तो आपकी प्यास अथवा भूख पहले शान्त होने की बजाय तीव्र होगी और उपयोगिता घटने की बजाय बढेगी। परन्तु कभी-न-कभी एक ऐसी सीमा आएगी जबकि उपयोगिता

घटने लगेगी। अतएव जब तक इकाई उचित आकार की नही है, तब तक नियम लागू न होगा।

(ii) फिर, यह माना गया है कि वस्तु का उपभोग किसी सीमित समय में (within a certain time) किया गया है अन्यथा नियम लागू न होगा। यदि आप अपना पहला भोजन सुबह १० बजे और दूसरा २ बजे दोपहर को करें तो कोई कारण नही कि दूसरे भोजन की उपयोगिता कम हो। परन्तु यदि पहला भोजन करने के एक घण्टे के अन्दर आपको दूसरा भोजन मिले तो नियम लागू होगा और दूसरे भोजन की उपयोगिता कम होगी।

(iii) तीसरी धारणा यह है कि उपभोक्ता के स्वभाव में कोई परिवर्तन नहीं होता है। उपभोक्ता म लालसा उत्पन्न न हुई हो। जितना अधिक गाना मनुष्य सुनता है, जितना अधिक साहित्य का अध्ययन करता है, जितनी ज्यादा मदिरा (शराब) पीता है और जितना अधिक द्रव्य एक कजूस के पास होता है, तो इससे हर दशा मे उपयोगिता की वृद्धि होगी। ऐसा इसलिए है कि उपभोक्ता के स्वभाव म परिवर्तन हो गया है। अधिक अध्ययन मनुष्य को भाव जगत् मे पहुँचा देता है और वह साहित्य को पहले से अच्छी तरह समझ सकता है तथा उसका आनन्द ले सकता है। इसके अतिरिक्त यह नियम साधारण मनुष्यो पर लागू होता है न कि सनकी या कजूस जैसे असाधारण मनुष्यो पर।

(iv) यह भी आवश्यक है कि उपभोक्ता की आय समान रहे। आय मे परिवर्तन होने से नियम गलत हो जाएगा। किसी व्यक्ति की आय की वृद्धि से उसके अहाते के उन भिन्न-भिन्न प्लॉट्स की कीमत उसकी दृष्टि म बढ जाएगी जिनका कि वह पहले अधिक उपयोग न कर सकता था।

(v) वस्तुओ के दुलभ सग्रह के प्रति यह नियम लागू नही होता। यदि कोई मनुष्य पुराने सिक्के एकत्रित कर रहा है, तो जितने अधिक वह इकट्ठे करेगा, उसकी उतनी ही अधिक सन्तुष्टि होगी।

(vi) एक और भी अपवाद है। नियम के अनुसार राशि की वृद्धि होने से उपयोगिता घटती है। परन्तु कभी कभी उपयोगिता म परिवर्तन हमारी राशि म परिवर्तन होने के कारण नही वरन् दूसरो की राशि में परिवर्तन होने से होता है। उदाहरणार्थ यदि पुराने सिक्के सग्रह करने वाला शहर मे कोई दूसरा व्यक्ति भी है और किसी कारण वह अपने सग्रह को खो देता है तो मेरे सग्रह किए हुए सिक्को की उपयोगिता अपने आप बढ जाती है।

(vii) उपयोगिता हमारी दूसरी वस्तुओ के स्वामित्व पर भी निर्भर है। चाहे हमारे पास गाडी बेकार पडी हो परन्तु एक घोडा खरीद लेने पर उसकी उपयोगिता तुरन्त बढ जाती है।

(viii) उपयोगिता फैशन में परिवर्तन होने पर भी निर्भर है। जैसे ही मेरी पोशाक का फैशन हो जाता है उस पोशाक की उपयोगिता बढ जाती है। दूसरी ओर यदि उसका फैशन चला जाता है तो उसकी उपयोगिता कम हो जाती है।

ह्रासी उपयोगिता का नियम दूसरे आर्थिक नियमो की भाँति केवल एक

प्रवृत्ति (tendency) का विवरण है। यह अनेक स्थितियो पर निर्भर है। इन स्थितियो के न होने पर यह नियम लागू नही होता जैसा कि ऊपर लिखे हुए अपवादो मे बताया गया है।

४. ह्रासी सीमान्त प्रतिस्थापनीयता का नियम (The Law of Diminishing Marginal Substitutability)—ह्रासी सीमान्त उपयोगिता के नियम के विरुद्ध बहुत से आक्षेप लगाए गए है। इस तथ्य के अतिरिक्त कि उपयोगिता आत्मपरक (subjective) होने से अनुमान योग्य है, उपभोक्ता अमुक वस्तु खरीदते समय जिस सन्तुष्टि की आशा करता है वह वास्तविक अथवा प्राप्त की गई सन्तुष्टि से भिन्न हो सकती है।

और एक विशिष्ट इकाई पर जिसको सीमान्त इकाई भी कहते हैं, खरीदना बन्द कर देना, विचार-शक्ति तथा सुन्दर गणना को सूचित करता है जो एक औसत उपभोक्ता मे नही पाई जाती।

इसके अतिरिक्त उपयोगिता के मापन के हर प्रयत्न मे यह मान लिया जाता है कि मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता स्थिर रहती है, परन्तु यथार्थ मे हर एक नई खरीद के साथ मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता बढ जाती है क्योंकि मुद्रा का सग्रह घट जाता है।

ह्रासी उपयोगिता के नियम मे एक मुख्य दोष यह है कि ध्यान दूसरी वस्तुओ से हटकर एक ही वस्तु पर केन्द्रित हो जाता है। वास्तव मे उपभोक्ता मुद्रा को व्यय करते समय केवल एक जुदा चीज को ही नही परन्तु बहुत सी वस्तुओ को, जिनको कि वह उससे खरीद सकता है, सोचता है। अतएव यह अधिक उचित होगा कि उपभोक्ता की माँग उसके अधिमान मापो (scales of preferences) मे प्रस्तुत की जाए।[1] यह मान लिया गया है कि हम एक वस्तु को अधिक मात्रा म तभी खरीद सकते हैं जबकि हम दूसरी का बलिदान करें।

यदि एक उपभोक्ता एक विशिष्ट वस्तु की एक इकाई का बलिदान केवल दूसरी वस्तु की अधिक मात्रा के प्रस्ताव से ही कर देने के लिए प्रोत्साहित किया जा सकता है, तो यह अधिक सीमान्त प्रतिस्थापनीयता (greater marginal substitutability) प्रकट करती है। तो भी, आमतौर पर एक उपभोक्ता अपने पास की वस्तु की एक अधिक इकाई का बलिदान करने के लिए दूसरी वस्तु की कम इकाइयो से ही सन्तुष्ट हो जावेगा। अतएव सीमान्त प्रतिस्थापनीयता घट जावेगी। इस प्रकार ह्रासी उपयोगिता के नियम का दूसरा नाम सीमान्त प्रतिस्थापनीयता नियम भी हो सकता है, और यह एक सुधार होगा, क्योंकि यह मार्शल (Marshall) के मुद्रा के स्थिर सीमान्त उपयोगिता (constant marginal utility of money) की धारणा तथा जेवन्स (Jevons) के उपयोगिता के मानिक सीमान्त उपयोगिता (quantitative marginal utility) से दूर हट जाता है।

५. नियम के कुछ आशय (Some Implications of the Law)—

---

१. अध्याय ५ के ३ तथा १३ विभाग देखिए।

ह्रासी उपयोगिता का नियम इसलिए लागू नही होता क्योकि एक वस्तु की क्रमिक (successive) इकाइयाँ हीन समझी जाती है। यद्यपि यह सही है कि यदि एक इकाई हीन लक्षण की है तो इसी स तो उसकी उपयोगिता कम होगी, तो भी नियम कही अधिक मूल गुण वाला है। यह गुण से स्वतन्त्र है। सेब एक से ही हो सकते हैं तो भी जैसे उपभोग अधिक होगा, वैसे ही उनकी अतिरिक्त उपयोगिता घटती जाएगी।

यह नियम निर्वाचन से भी स्वतन्त्र है। प्रत्यक क्रमिक सेब की अतिरिक्त उपयोगिता इसलिए नही गिरती क्योकि हमारी इच्छा उसके स्वाद पर केन्द्रित होती है। नियम तो पूरी तौर पर लागू होगा ही, चाहे सेब के अतिरिक्त और कोई वस्तु हमारे सामने हो ही नही

इस नियम स सिद्ध होता है कि अधिक आवश्यक इच्छाओ की सन्तुष्टि पहले की जाती है। जैसे जैसे राशि बढती जाती है, वह कम आवश्यक प्रयोगो में लगाई जाती है।

यह नियम हर प्रकार की सन्तुष्टि म लागू होगा। चाहे वह अच्छी हो अथवा बुरी। हम यह नहीं मानते कि उपभोक्ता सदैव विवेकशील होता है।

६ सीमान्त उपयोगिता अथवा महत्त्व (Marginal Utility or Significance)—एक मनुष्य के क्रय का अन्त अथवा सीमा कहाँ है ? जब एक मनुष्य कोई वस्तु खरीदता है वह सचेत अथवा अचेत रूप से यह सोच लता है कि उसको कितनी कीमत देनी है और उसको प्रत्यक इकाई से कितनी उपयोगिता मिलती है। जब तक कि उपयोगिता और कीमत समान न हो जाएँ वह खरीदता ही चला जाएगा।

हमारा उपभोक्ता कहा रुक जाएगा ? यह कीमत पर निभर है। यदि कीमत ६ पैसे प्रति सेब है तो वह ५ सेब खरीदेगा क्योकि वहाँ पर उपयोगिता कीमत के बराबर होगी (सीमान्त उपयोगिता पैसो की इकाइयो म प्रस्तुत की गई है)। यदि कीमत ११ पैसे प्रति सेब है तो वह केवल ४ सेब खरीदेगा। और यदि वे मुफ्त म मिलते हैं तो वह उपभोग करता जाएगा यहाँ तक कि उसकी अतिरिक्त उपयोगिता शून्य हो जाएगी (अर्थात छठी इकाई तक)। वह इससे आग न जाएगा क्योकि परिणाम अनुपयोगिता (disutility) होगा। वह वहाँ रुक जाता है जहाँ कीमत और उपयोगिता प्राय बराबर होते ह। यह सीमान्त क्रय और इसकी अतिरिक्त (extra) उपयोगिता सीमान्त उपयोगिता कहलाती है। यही वह स्थिति है, जहाँ हम सोच विचारकर खरीदते है, क्योकि यहाँ द्रव्य के त्याग से पीड़ा और वस्तु के खरीदने से लाभ में उचित सन्तुलन है।

सीमान्त उपयोगिता की परिभाषा इस प्रकार भी की गई है कि यह कुल उपयोगिता में किया गया वह जोड है जो उचित समझी जाने वाली अन्तिम इकाई के उपभोग से मिलता है। इस प्रकार यदि हम ५ सेब खरीदते है तो पाचवाँ सेब सीमान्त सेब है। परन्तु सीमान्त उपयोगिता पाँचवें सेब की उपयोगिता नही है, क्योकि सब सेब समान हैं। इसका सम्बन्ध केवल उस अश से है जो पूर्व योग म इस विशिष्ट इकाई के उपभोग से जुडता है। सीमान्त उपयोगिता कुल उपयोगिता म वह वृद्धि है जो सीमान्त इकाई के उपभोग स मिलती है।

यह सीमा कोई दृढ़ अथवा स्थिर सीमा नहीं है। यह कीमत के अनुसार आगे-पीछे बदलती रहती है। यदि कीमत गिर जाएगी तो सीमा (margin) नीचे हो जाएगी और यदि कीमत बढ़ जाएगी तो सीमा ऊपर चली जाएगी।

७ जब एक वस्तु कई प्रयोगों में लाई जा सकती है (When a Commodity has Several Uses)—कुछ वस्तुएँ निश्चित (specific) होती हैं। सामान्यत एक वस्तु कई कामों में लाई जा सकती है। पहले इसे सबसे आवश्यक काम में लाया जाता है। और जब प्रथम उपयोग में सीमान्त उपयोगिता दूसरे उपयोग की प्राथमिक उपयोगिता (initial utility) के समान आ जाती है तो यह दोनों कामों में लाई जाने लगेगी। जब दूसरे उपयोग में सीमान्त उपयोगिता तीसरे उपयोग की प्राथमिक उपयोगिता के समान आ जाती है तब वस्तु तीनों कामों में लाई जाती है तथा इसका क्रम इसी प्रकार चलता है। इस घटना का निरूपण नीचे दिए हुए रेखाचित्र द्वारा हो सकता है —

O M इकाइयों तक वस्तु केवल पहले उपयोग में लाई जाएगी क्योंकि तब तक पहले उपयोग में समस्त इकाइयों की उपयोगिता दूसरे उपयोग की प्राथमिक उपयोगिता D′ O से अधिक है। यदि हमारे पास O M से अधिक वस्तु है तो यह दोनों कामों में लाई जाएगी परन्तु केवल O M+O M′ तक। उसके बाद दूसरे

पहला उपयोग — दूसरा उपयोग — तीसरा उपयोग

चित्र नं० ४
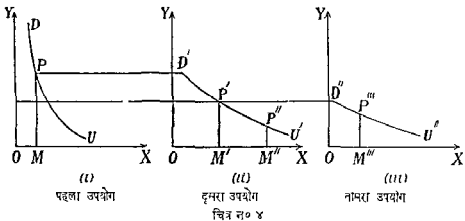
उपयोग में सीमान्त उपयोगिता, तीसरे उपयोग में प्राथमिक उपयोगिता के बराबर है और वस्तु तीनों कामों में लाई जाएगी, क्योंकि तीसरे उपयोग में कुछ इकाइयाँ उदाहरणार्थ (रेखाचित्र iii) में O M″′ दूसरे उपयोग में P″ M″ (रेखाचित्र ii) से अधिक उपयोगिता (P‴ M‴) रखती हैं।

रेखाचित्र iv एक मिश्रित वक्र है जो कि तीनों कामों में वस्तु की उपयोगिता दिखाता है।

यह बिलकुल स्पष्ट है कि यदि एक वस्तु कई प्रयोगों में लाई जा सकती है तो उसकी

Y D‴ U‴ O X

(iv)
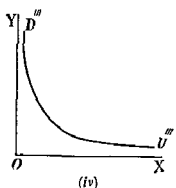
तीनों उपयोगों का मिश्रित वक्र

चित्र नं० ५

सीमान्त उपयोगिता उसके एक उपयोग में लाई जाने वाली सीमान्त उपयोगिता से शीघ्र नहीं घटती। जब वह कई उपयोगों में लाई जा सकती है तो उसकी सीमान्त उपयोग का गिराव रुक जाएगा।

८ द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता (Marginal Utility of Money)—क्या घटती हुई सीमान्त उपयोगिता का नियम द्रव्य पर लागू होता है? यह कहा जाता है कि वस्तु के क्रय की सीमा हो सकती है परन्तु द्रव्य के सचय की कोई सीमा नहीं है। द्रव्य एक सामान्य क्रय-शक्ति है। यह खरीदार को अपनी इच्छा की वस्तु खरीदने की सामर्थ्य प्रदान करती है। अतएव यह कहा जाता है कि कभी ऐसी स्थिति नहीं आती जबकि द्रव्य के लिए इच्छा समाप्त हो जाए।

हम इस विवाद के महत्त्व को मान सकते हैं। परन्तु यह भी सच है कि घटती हुई उपयोगिता का नियम द्रव्य में भी अवश्य लागू होता है। जैसे जैसे द्रव्य बढ़ता है, उसका महत्त्व उसके स्वामी के लिए घटता जाता है।

९ सीमान्त उपयोगिता और कीमत (Marginal Utility and Price)—ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि सीमान्त उपयोगिता और कीमत समान होते हैं अथवा कीमत से सीमान्त उपयोगिता मापी जाती है। उपभोक्ता उस समय उपभोग करना बन्द कर देता है जब कीमत और उपयोगिता समान हो जाते हैं। और यह स्तर सीमान्त उपयोगिता का स्तर है। वस्तु की समस्त इकाइयाँ परस्पर बदलने योग्य होने से जो कुछ सीमान्त इकाई के लिए भुगतान किया जाता है वही हर एक इकाई के लिए दिया जाता है। अतएव हम कह सकते है कि सीमान्त उपयोगिता कीमत निर्धारित (determines) करती है। यह सीमान्त उपयोगिता है कुल उपयोगिता (total utility) नहीं, जो कीमत निर्धारित करती है, अन्यथा जल की कीमत अधिक होती और सोने की कम। वास्तव में सीमान्त उपयोगिता कीमत निर्धारित नहीं करती, यह केवल उसको प्रकट करती है। कीमत निर्धारण करने वाले साधन माँग और पूर्ति हैं। यदि कीमत में परिवर्तन होता है तो सीमान्त उपयोगिता भी बदल जाती है। इस प्रकार कीमत तथा सीमान्त उपयोगिता साथ साथ चलते हैं।

सामाजिक सीमान्त उपयोगिता (Social Marginal Utility)—परन्तु किस की सीमान्त उपयोगिता कीमत निर्धारित करती है? सीमान्त उपयोगिता आत्मपरक (subjective) है और प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न है, जबकि बाजार में एक ही कीमत प्रचलित रहती है। सीमान्त उपयोगिता जिससे बाज़ार में कीमत निर्धारित होती है, किसी व्यक्ति विशेष की उपयोगिता नहीं वरन् समुदाय में समस्त व्यक्तियों का एक प्रकार का औसत (average) है, और उसे सामाजिक सीमान्त उपयोगिता (social marginal utility) कहा जा सकता है। यह समस्त समाज की सीमान्त उपयोगिता है।

सीमान्त उपयोगिता तथा पूर्ति (Marginal Utility and Supply)—सीमान्त उपयोगिता बताना पूर्ति का काम है अर्थात् यह पूर्ति के साथ बदलती है। एक निर्मूल्य वस्तु जिसकी पूर्ति असीमित है, उसकी सीमान्त उपयोगिता शून्य है। केवल दुर्लभ पदार्थों की ही सीमान्त उपयोगिता वास्तविक होती है। यह पूर्ति के घटने

पर बढती है और उसके बढने पर घटती है। जब पूर्ति अत्यधिक हो जाती है तो यह शून्य हो जाती है। अतएव सीमान्त उपयोगिता पूर्ति के विपरीत बदलती है।

सापेक्ष सीमान्त उपयोगिता (Relative Marginal Utility)—एक वस्तु की सीमान्त उपयोगिता अन्य वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिता से अलग नही है। नाइट (Knight) का कथन है "उपयोगिता सापेक्ष है और इसका सार तुलना (comparison) है।"[1] जब हम यह निर्णय कर रहे हो कि कौनसी वस्तु अधिक मात्रा में खरीदें और कौनसी वस्तु कम मात्रा में तो हम अन्य दूसरी वस्तुओं की, जो कि हम खरीद सकते हैं, सचेत अथवा अचेत रूप से, उपयोगिता की तुलना करते हैं अतएव सीमान्त उपयोगिता का निरपेक्ष (absolute) रूप मे विचार नही किया जा सकता।

यद्यपि ह्रासी सीमान्त उपयोगिता का नियम केवल एक ही वस्तु के होने पर तथा वरण (choice) न होने पर भी लागू होता है, तो भी हमको व्यवहार मे कुछ-न-कुछ वरण करना ही पडता है। बहुत सी अन्य वस्तुएँ है, जिन्हे हम खरीद सकते हैं। हम आम खरीदना रोक देते हैं, क्योंकि हम कुछ बेर भी खरीदना चाहते हैं और हम बेर खरीदना भी बन्द कर देते हैं ताकि हम कुछ नाशपाती भी ले सकें। इस प्रकार इन तीनो वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिताएँ एक दूसरे पर आश्रित हो जाती हैं। सक्षेप में सीमान्त उपयोगिता सापेक्ष (relative) है।

१०. ह्रासी सीमान्त उपयोगिता के नियम का व्यावहारिक महत्त्व (Practical Importance of the Law of Diminishing Marginal Utility)—ह्रासी उपयोगिता के नियम का व्यावहारिक महत्त्व बहुत है (१) हमने देखा है कि ह्रासी सीमान्त उपयोगिता का नियम द्रव्य पर भी लागू होता है। यह करारोपण (taxation) प्रणाली के सिद्धान्त तथा व्यवहार का आधार है। इस नियम का उत्तरोत्तर कर (progressive taxation) पद्धति में, जो धनी पुरुषो पर अधिक भार डालती है, सार्वजनिक वित्त (public finance) के क्षेत्र मे व्यावहारिक प्रयोग है।

(२) नियम यह स्पष्ट करता है कि पूर्ति म वृद्धि होने से वस्तु का मूल्य अवश्य ही क्यो गिर जाना चाहिए। इस प्रकार यह मूल्य सिद्धान्त (theory of value) का आधार बनता है। इस भाँति सामान्य उपभोक्ता तथा व्यवसायी के हेतु इस नियम का व्यावहारिक महत्त्व अत्यधिक है।

(३) नियम यह व्याख्या करता है कि माँग वक्र (demand curves) नीचे की ओर क्यो गिरते हैं। इस नियम के कारण ही छोटी उपयोगिता की रेखायें वस्तु की रेखा अर्थात् कक्ष रेखा को बडे भागो मे काटती हैं (विभाग दो मे उपयोगिता वक्र देखिए।)

(४) यह उपयोग-मूल्य (value in-use) तथा विनिमय मूल्य (exchange-value) की भिन्नता को भी व्याख्या करता है। वायु की अधिक उपयोगिता (उपयोग-मूल्य) है परन्तु विनिमय-मूल्य कम है, क्योंकि इसकी कोई सीमान्त उपयोगिता नही है।

---

1 "Utility is relative and its essence a comparison'—Knight.

दृष्टिकोण पर निर्भर है। उपयोगिता एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति म और एक ही व्यक्ति के लिए समय-समय पर तथा भिन्न-भिन्न स्थितियो म भिन्न होती है। एक व्यक्ति अपने आप अपने मन मे भिन्न-भिन्न वस्तुओ की उपयोगिता की तुलना कर सकता है, परन्तु उसके पास कोई वाहरी माप नही जिससे कि वह एक वस्तु की उपयोगिता पूर्ण रूप से नाप सके।

हमारे पास किसी मनुष्य की सन्तुष्टि की तीव्रता (intensity) को मापने के लिए कोई मापदण्ड नही है। तो भी भाग्यवश हमारे पास द्रव्य के रूप मे एक सरल तथा कारगर माप है। द्रव्य उपयोगिताओ को नापता है। दो वस्तुओ की उपयोगिताओ मे वही अनुपात होता है जो उनकी तत्सम्बन्धी बाजार की कीमतो में होता है। वास्तव मे, हमारा कुछ वस्तुओ के उपभोग करने का अनुभव तथा पुरानी आदत हमको दो वस्तुओ की उपयोगिताओ का द्रव्य से अलग भी तुलना करने के योग्य बना देता है।

निर्देश पुस्तकें

Marshall, A *Principles of Economics*

Davenport, H J Economics of Enterprise

Benham, F —Economics

Viner, J "The Utility Concept in Economic Theory" in the *Journal of Political Economy*, 1925

Knight, F H Risk, Uncertainty and Profit (1940), Ch III.

Stigler, G J Theory of Price, Ch I.

अध्याय ५

उपभोग (क्रमशः)

(Consumption) (*Contd*)

प्रतिस्थापन का नियम

(The Law of Substitution)

१ भूमिका (Introduction)—हम यह देख चुके हैं कि आवश्यकताएँ प्रतिस्पर्द्धी हैं। अतएव हमको अधिक आवश्यक और कम आवश्यक आवश्यकताओं में निरन्तर चुनाव करना होता है। जब हम अपने मन में यह निर्णय कर रहे हों कि किसी वस्तु को कुछ अधिक अथवा कम मात्रा में खरीदें, तो हम वस्तु तथा द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता का सन्तुलन करने लगते हैं। परन्तु हम वास्तव में उस विशिष्ट वस्तु की सीमान्त उपयोगिता तथा उसी द्रव्य से खरीदी जा सकने वाली अन्य बहुत सी वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिताओं का सन्तुलन करते हैं। द्रव्य इस प्रकार हमारे लिए एक वस्तु से दूसरी वस्तु तक जाने के हेतु एक पुल का कार्य करता है। इसी प्रकार प्रतिस्थापन (substitution) कार्य करता है।

२ नियम की व्याख्या (Statement of the Law)—प्रत्येक समझदार व्यक्ति अपने साधनों का अधिक से अधिक उपयोग करना चाहता है। यह इस कारण आवश्यक है कि आवश्यकताओं को देखते हुए हमारे साधन दुर्लभ हैं—यह वह मूल प्रस्तावना है जिससे कि हमने अर्थशास्त्र का अध्ययन आरम्भ किया था। प्रत्येक उपभोक्ता चाहता है कि उसे अधिक से अधिक सन्तुष्टि मिले। इस कारण वह कम उपयोगी वस्तु के बजाय अधिक उपयोगी वस्तु का प्रतिस्थापन करेगा।

कल्पित उपभोक्ता सचेत अथवा अचेत रूप से उस सिद्धान्त पर कार्य करता है जिसको भिन्न नामों से पुकारा गया है, जैसे प्रतिस्थापन का नियम (The Law of Substitution) तटस्थता नियम (The Law of Indifference), सम-सीमान्त उत्पत्ति नियम (The Law of Equi marginal Returns), व्यय मितव्ययिता नियम (The Law of Economy of Expenditure), अथवा अत्यधिक सन्तुष्टि नियम (The Law of Maximum Satisfaction)। इसको प्रतिस्थापन नियम इसलिए कहते हैं, क्योंकि हम एक वस्तु के स्थान पर दूसरी को खरीदते हैं। यह अत्यधिक सन्तुष्टि नियम (The Law of Maximum Satisfaction) इस कारण कहलाता है कि इसके द्वारा हम अपनी सन्तुष्टि चरम सीमा तक पहुँचा सकते हैं। यह सम-सीमान्त उपयोगिता नियम इस कारण कहलाता है कि हम अत्यधिक सन्तुष्टि तभी प्राप्त कर सकते हैं जबकि प्रतिस्थापन की विधि द्वारा सीमान्त उपयोगिताएँ समान कर दी जाती हैं।

यह इस प्रकार होता है—जबकि उपभोक्ता किसी विशिष्ट वस्तु पर कुछ द्रव्य व्यय कर चुकता है तो उसके पश्चात् उसके लिए उस वस्तु की उपयोगिता गिरने

लगती है, और वह गिरती जाती है, जब तक कि वह यह नही सोच लेता कि उसको अन्य वस्तु पर व्यय करने से अधिक सन्तुष्टि मिलेगी। वह एक स्थिति के बाद एक वस्तु के बदले मे दूसरी का प्रतिस्थापन करता रहता है, यहाँ तक कि कुल द्रव्य जो वह व्यय करना चाहता था समाप्त हो जाता है। ऐसा हो जाने के पश्चात् वह सम-सीमान्त उपयोगिता (equi-marginal utility) प्राप्त कर लेता है। वह अब किसी वस्तु पर अधिक और किसी पर कम व्यय करके कुल उपयोगिता की वृद्धि नही कर सकता। यदि वह ऐसा कर सकता होता तो पहले ही कर लेता। कोई भी हेर-फेर उपयोगिता में लाभ का अपेक्षा अधिक हानिकारक होगा। सबसे उत्तम स्थिति वह होगी जबकि प्रत्येक व्यय की मद मे उसकी सीमान्त उपयोगिता बराबर हो जाए। जब किसी उपभोक्ता का खर्च इस प्रकार व्यवस्थापित हो जाता है, अर्थात् जब प्रत्येक दिशा मे सीमान्त उपयोगिता तथा खरीद (purchases) समान होती है तो इसे उपभोक्ता की साम्यावस्था (consumers' equilibrium) कहते हैं। इस तरह उसे और माल खरीदने की इच्छा नही रहती। बाजार की कीमतें, उसकी इच्छाएँ (wants) तथा उसकी आय (income) आदि दिए होने पर, उपभोक्ता को साम्यावस्था मे उस समय माना जाएगा जब सीमान्त उपयोगिताएँ समान हो चुकी हैं तथा अधिकतम सन्तुष्टि मिल चुकी है। इसके बाद फिर उसे अपने खर्च की योजना का पुनरीक्षण (revise) करने की जरूरत नही पडेगी। वह उन्ही वस्तुओ को तथा उतनी ही मात्रा मे खरीदता रहेगा जब तक कि या तो उसकी आय या इच्छाओ में परिवर्तन नही हो जाता। इच्छाओ को अपने वातावरण (environments) से परस्पर व्यवस्थापन (adjustment) उपभोक्ता की साम्यावस्था (consumer's equilibrium) का चिह्न है। उपभोक्ता के लिए "तमाम माल (goods) को साम्यावस्था मे होने के लिए, तमाम माल का द्रव्य (money) के अर्थों मे सीमान्त महत्त्व उनकी द्रव्य कीमतो के साथ अवश्य ही समान होना चाहिए।"[1]

एक उपभोक्ता के पास जितना द्रव्य है उससे अधिकतम सन्तुष्टि पाने के लिए वह अपना खर्च इस प्रकार बाँटेगा कि खरीदी हुई वस्तुओ की सीमान्त उपयोगिता उनकी कीमतो के अनुपात में होगी। इस प्रकार—

$$\frac{\text{क की अधिकतम उपयोगिता}}{\text{क की कीमत}} = \frac{\text{ख की अधिकतम उपयोगिता}}{\text{ख की कीमत}} = \frac{\text{ग की अधिकतम उपयोगिता}}{\text{ग की कीमत}}$$

और यह क्रम इसी प्रकार चलता है।

इसी प्रकार, यदि एक वस्तु की कीमत बढ जाती है, तो इस वस्तु की कम मात्रा तथा दूसरी वस्तु की अधिक मात्रा खरीदी जाएगी, ताकि अनुपात वही रहे। टिकाऊ वस्तुओ मे यह अनुपात रहना सम्भव नही हो सकता है। ऊपर का समीकरण (equation) केवल तभी सही होगा जबकि उपभोक्ता की रुचि तथा अन्य स्थितियो मे परिवर्तन न हो।

परन्तु यह स्थिति अवास्तविक है। वास्तविक जीवन मे कोई उपभोक्ता भी

---

1 "To be in equilibrium with respect to all goods the marginal significance of all goods in terms of money must equal their money price"

मामूली सीमान्त व्यवस्थापन करने का कष्ट नहीं करता। मानव गणना करने की मशीन मात्र नहीं है। इसी प्रकार कोई भी इस बात पर पहले से विचार नहीं करता कि अपने वातावरण म किसी बड़े परिवर्तन होने पर क्या प्रतिक्रिया होगी। अ त म, उपभोक्ताओं को खरीदारी की सूची रखने की आदत होती है। और इसमें सिर्फ उसी समय परिवर्तन होगा जबकि उनके हालात (circumstance) म परिवर्तन होते हैं।

यह नियम नीचे दिए हुए चित्र द्वारा स्पष्ट हो सकता है। माना दो वस्तुए दूध तथा रोटी ह जिन पर O M+O M द्रव्य व्यय किया जाता है। माना कि A तथा B रोटी तथा दूध के तत्सम्बन्धी उपयोगिता वक्र हैं। यदि O M रोटी पर और O M दूध पर व्यय होता है तो वस्तुओं (या उन पर व्यय किया हुआ द्रव्य) की सीमान्त उपयोगिता समान होती है PM=P' +M। प्रतिस्थापन नियम अथवा सम सीमान्त उपयोगिता नियम यह दृढतापूर्वक बताता है कि द्रव्य का यह वितरण अत्यधिक कुल उपयोगिता करता है अर्थात OMPA+OM P B अत्यधिक है। यदि यह ऐसा है तो किसी भी अन्य प्रकार के वितरण को उससे कम कुल उपयोगिता प्रदान करनी चाहिए। देखें ऐसा है कि नहीं।
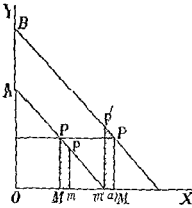
चित्र न० ६

मान लिया कि (a) का अभिप्राय द्रव्य की छोटी मात्रा से है। फिर यह मान लीजिए कि a रोटी पर अधिक और a दूध पर कम व्यय किया जाता है। दूध की सीमान्त उपयोगिता $p\ m$ तक बढ जाएगी और रोटी की $p\ m$ तक गिर जाएगी। जैसा कि गहरे रग के क्षेत्र द्वारा दिखाया गया है। इस नय क्रम से उपयोगिता की हानि लाभ की अपेक्षा अधिक होगी। कुल उपयोगिता पहल से कम होगी। इस प्रकार उपयोगिताओं का योग अधिकतम होगा, जब सीमान्त उपयोगिताएँ बराबर होगी।

यह बहुत दुर्लभ है कि इस प्रतिस्थापन की प्रवृत्ति म एक वस्तु दूसरी से पूर्णत बदल जाए उदाहरणार्थ रोटी के बदले में बिस्कुट और तरकारी के बदले में दही। हम वस्तुओं की एक व्यवस्था चाहते हैं और सबसे उपयोगी व्यवस्था की खोज म हम वस्तुओं की मात्रा अर्थात किसी वस्तु की कुछ अधिक तथा दूसरी की थोड़ी कम मात्रा मे कुछ अदल बदल करने का प्रयत्न करते हैं। प्रतिस्थापन (substitution) सीमा (margin) पर होता है।

३ तटस्थता वक्र (Indifference Curves)—मार्शल (Marshall) ने उपभोक्ता का व्यवहार सम्बन्धी जो विश्लेषण उपस्थित किया है, वह दो मान्यताओं पर आधारित है (१) उपभोक्ता अधिकतम उपयोगिता का

शोषण करना चाहता है, (२) उपयोगिताएँ बढ सकती हैं। कुछ लोगो ने विरोध किया है कि उपयोगिता मापी नही जा सकती। इसीलिए मार्शल (Marshall) के उपर्युक्त विश्लेषण के स्थान पर तटस्थता वक्रीय या रेखाचित्रीय विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। तटस्थता रेखाचित्रीय विश्लेषण (Indifference curve analysis) में मार्शल की यह मान्यता तो स्वीकार की गई है कि उपभोक्ता अधिकतम उपयोगिता का शोषण करना चाहता है। परन्तु मार्शल की दूसरी मान्यता, अर्थात् 'उपयोगिताएँ बढाई जा सकती हैं' को स्वीकार नही किया गया है यद्यपि, यह मान लिया गया है कि उपयोगिताओ की तुलना की जा सकती है, जैसे अधिक उपयोगिता या कम उपयोगिता आदि।

तटस्थता के रेखाचित्रो या वक्रो की व्यवस्था से हम यह पता लगा सकते हैं कि उपभोक्ता किन्ही दो वस्तुओ में से किस वस्तु को कितना अधिक अधिमान (preferences) प्रदान करता है। प्रत्यक तटस्थता वक्र या रेखाचित्र (Indifference Curve) इस मान्यता के आधार पर खीचा गया है कि उसके समस्त सम्भव बिन्दुओ पर सकल उपयोगिता (total utility) समान रहेगी। किसी तटस्थता वक्र (Indifference curve) पर कोई बिन्दु X और Y के सयोग का प्रतिनिधित्व करता है। X और Y के समस्त सम्भव सयोगो का एक गुण यह है कि वे सब एक ही सकल उपयोगिता का प्रतिनिधित्व करते है। फलस्वरूप कोई उपभोक्ता किसी सयोग के विषय में प्राय तटस्थ हो जाता है। या दूसरे शब्दो म हम यह भी कह सकते हैं कि वे समस्त सयोग उसके लिए समान रूप से स्वीकार्य हैं क्योकि वे सब एक ही सकल उपयोगिता (total utility) का प्रतिनिधित्व करते हैं।

तटस्थता वक्रो या रेखा चित्रो के गुण (Properties of Indifference Curves)—हम तटस्थता वक्र कैसे तैयार करें। प्राय तटस्थता वक्र दाहिनी ओर को झुकते हैं। यह ऐसा इस कारण होता है कि हम मान लेते हैं कि किसी तटस्थता वक्र पर सकल उपयोगिता स्थिर रहती है, और यदि किसी दी हुई वस्तु की समस्त इकाइयाँ उपभोक्ता को वास्तविक उपयोगिता प्रदान करती है तो उसकी सकल उपयोगिता उसी स्थिति मे स्थिर और समान रह सकती है जब कि किसी एक वस्तु म वृद्धि होने के साथ-साथ दूसरी वस्तु म उसी अनुपात म कमी हो जाए। मान लीजिए कि किसी वस्तु X की पाँच इकाइयां और किसी अन्य वस्तु Y की दस इकाइयां कुछ निश्चित सकल उपयोगिता प्रदान करती हैं। अब मान लीजिए कि किसी कारणवश X वस्तु की इकाइयाँ बढकर ६ हो जाती हैं, जब कि Y की इकाइयाँ ज्यो की त्यो १० बनी रहती हैं तो हमारा तटस्थता रेखाचित्र या वक्र बदल जाएगा, क्योकि X वस्तु की ६ इकाइयो और Y वस्तु की १० इकाइयो से जो सकल उपयोगिता प्राप्त होगी, वह X वस्तु की ५ इकाइयो और Y वस्तु की १० इकाइयो की सकल उपयोगिता की अपेक्षा अधिक होगी। कारण स्पष्ट है, क्योकि दूसरे सयोग मे X वस्तु की अधिक इकाइयाँ हैं और Y वस्तु की उतनी ही इकाइयाँ हैं। अत किसी तटस्थता वक्र या रेखाचित्र पर सकल उपयोगिता तभी समान और स्थिर रह

सकती है जब कि यदि ! क वस्तु की मात्रा बढ़ने पर दूसरी वस्तु की मात्रा उसी अनुपात मे घट जाए। या इसके विपरीत भी उसी अनुपात में अन्तर हो।

नीचे के चित्र में P, P' और P'', वस्तु X और वस्तु Y के विभिन्न सयोग दिखाते है जिनकी सकल उपयोगिता समान रहती है। बिन्दु P पर वस्तु X की OM इकाइयाँ और Y की OQ इकाइयाँ चुन ली गई है। P' पर यद्यपि X वस्तु को इकाइयाँ बढ गई (OM से OM' तक), किन्तु Y वस्तु की इकाइयाँ गिर गई हैं (OQ से OQ' तक)। इस प्रकार P और P' पर सकल उपयोगिता ज्यो की त्यो स्थिर बनी रहती है।
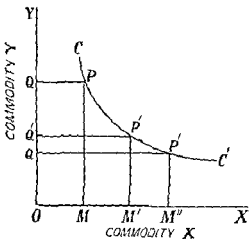
चित्र न० ७

तटस्थता वक्र एक दूसरे को काट नहीं सकते (Indifference Curves cannot Intersect)—तटस्थता वक्रो की एक विशेषता यह भी है कि वे एक दूसरे को काट नहीं सकते। यदि तटस्थता वक्र किसी विन्दु पर कट जाएँगे तो फल गलत होगे। नीचे के रेखाचित्र में तटस्थता वक्र C_2 की सकल उपयोगिता वक्र C_1 की अपेक्षा अधिक दिखाई गई है। अतः X का OM+Y का OQ बडा है बनिस्बत X का OM+Y का OR। अब मान लीजिए कि दोनो वक्र S पर कटते हैं। चूँकि दोनो तटस्थता वक्रो पर S बिन्दु पडता है अत X का OL+Y का OT=X का OM+Y का OR=X का OM+Y का OQ। यह स्थिति ग़लत है। अत यह सिद्ध हुआ कि तटस्थता वक्र आपस म एक दूसरे को काट नही सकते।
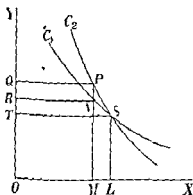
चित्र न० ८

किन्तु इसमे भी तटस्थता वक्र की आकृति का स्वरूप निश्चित नहीं हो जाता। गिरते हुए वक्र की तीन सम्भाव्य आकृतियाँ हो सकती हैं। यह सीधी रेखा (वक्र B) के रूप मे प्रस्तुत किया जा सकता है, या यह उद्‌ब्ज (convex) की दशा म हो सकता है जैसा कि (वक्र A) है, या इसे न्युब्ज (concave) (वक्र C) के समान प्रस्तुत किया जा सकता है। तटस्थता वक्र (indifference curves) जैसे

कि वे प्राय बनाए जाते है, प्राय· (वक्र A) के आकार के होते हैं; अर्थात् वे मौलिक वक्र के कुछ उदुब्ज (convex) होते हैं। ऐसा क्यो है? इसका कारण यह है कि पुराने आह्रासी सीमान्त उपयोगिता (law of diminishing marginal utility) के नियम में कुछ अतिरिक्त धारणाएँ जोड ली गई हैं। अर्थात् "कोई वस्तु जितनी अधिक मात्रा म हमारे पास होगी, उसकी उतनी ही कम सीमान्त उपयोगिता हमारे लिए रह जाएगी, अत उस वस्तु की कुछ इकाइयाँ दे देने में हमको दूसरी किसी वस्तु की कम से कम मात्रा में इकाइयो की आवश्यकता होगी।"[1] यह शर्त केवल वक्र A में पूरी होती है।
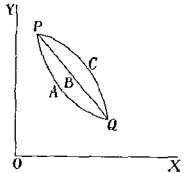
चित्र न० ९

वक्र A, मूलबिन्दु (origin) से उदुब्ज या उन्नतोदर (convex) दिशा की ओर है। यह वक्र आह्रासी सीमान्त उपयोगिता (diminishing marginal utility) की शर्तों को पूरा नही करता। जब हमारे पास वस्तु X (OM) थोडी मात्रा म रह जाती है, तो, उस समय X वस्तु का (MM') देने के लिए हमको Y वस्तु का (QQ') चाहिए। किन्तु जब X वस्तु का भण्डार बडा है, उस समय हमारे पास X वस्तु का (OM') भाग है। उसम से एक इकाई दे देने के लिए (M''M'''=MM') हमको Q'' Q''' पदार्थ की आवश्यकता होगी जो Q Q' से छोटा नही है बल्कि बडा है। अत यदि आह्रासी सीमान्त उपयोगिता का नियम (law of diminishing marginal utility) सच है, तो तटस्थता वक्र की यह शक्ल नही हो सकती। उसी प्रकार यदि तटस्थता वक्र (indifference curve) सीधी रेखा के रूप मे होगा, तो भी आह्रासी सीमान्त उपयोगिता का नियम लागू नही होगा। केवल एक गिरता हुआ वक्र जो मूल बिन्दु (origin) के उदुब्ज या उन्नतोदर होगा, वही आह्रासी सीमान्त उपयोगिता की शर्तो को पूरी करेगा। अत यदि आह्रासी सीमान्त उपयोगिता का नियम सच्चा है, तो तटस्थता वक्र निश्चय ही मूलबिन्दु (origin) के उदुब्ज या उन्नतोदर दिशा म बनाने चाहिएँ।
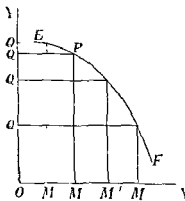
चित्र न० १०

इस प्रकार हम दो धारणाओ पर तटस्थता वक्र बना सकते हैं। (१) किसी तटस्थता वक्र में सकल उपयोगिता (total utility) ज्यो की त्यो बनी रहती है।

---

[1] "The more we have of a thing, lower is its marginal utility, and therefore to part with a given unit of it, we require less and less of the other commodity"

इस कारण वक्र गिरता हुआ बनता है, और (२) ह्रासमान सीमान्त उपयोगिता का नियम अपनी जगह अटल है। इस धारणा को मान लेने पर हम को जो तटस्थता वक्र प्राप्त होता है, वह मूल बिन्दु से उद्‌न्ज या उन्नतोदर (convex) दिशा में होगा। तटस्थता वक्र (indifference curve) का ढाल किसी स्थान पर दोनो वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिताओं का अनुपात बताएगा।

तटस्थता मानचित्र (Indifference Map)—तटस्थता वक्रों के क्रम को तटस्थता मानचित्र भी कह सकते है। कोई तटस्थता वक्र इस मान्यता पर खींचा जाता है कि उक्त वक्र के सभी बिन्दुओं पर सकल उपयोगिता समान रहेगी, अर्थात् उपभोक्ता विभिन्न सयोगो की ओर से पूर्ण तटस्थ रहेगा। अब हम एक बच्चे का उदाहरण लेंगे जिसे बिस्कुटों और चाकलेटों में से किसी वस्तु को चुनना है। इस बच्चे के अधिमानों (preferences) को नीचे की तालिका में दिया गया है, जिसमें बिस्कुटों और चाकलेटों के अनेक सयोग दिए गए हैं किन्तु उन सयोगों की ओर से उक्त बच्चा तटस्थ है—

	चाकलेट	और	बिस्कुट
	२	,,	११४
या	३	,,	९३
या	४	,,	७५
या	५	,,	५९
या	६	,,	४५
या	७	,,	३६
या	८	,,	२८
या	९	,,	२१

यह तालिका उसके अधिमानों की पूरी श्रेणी (scale) को नहीं वरन् उसके एक भाग को प्रकट करती है। ये आँकड़े अंकगणित की श्रेणियों को प्रस्तुत नहीं करते। कोई भी सख्या उन सख्याओं के अतिरिक्त ठीक होगी जो कि यह प्रस्तुत करती हैं कि जितने अधिक चाकलेट बच्चा विनिमय में प्राप्त करेगा उतने ही कम बिस्कुट वह चॉकलेट पाने के लिए देने को तैयार होगा। मान लीजिए कि बच्चा ५ चॉकलेट और ५९ बिस्कुटों से प्रारम्भ करता है। एक और चाकलेट पाने के लिए १४ (५९—४५) बिस्कुट देने को तैयार है, परन्तु सातवां पाने के लिए केवल ९ (४५—३६) ही देने को तैयार है। ऊपर दिए हुए सयोगों को प्रस्तुत करने वाले बिन्दुओं को स्थापित करके और उनका क्रम मानकर हम C C_1 तटस्थता वक्र प्राप्त करते हैं।

ऊपर दी हुई तालिका एक अधिमानों के अनुमाप को प्रस्तुत करती है जो तटस्थता वक्र में दिखलाए गए हैं। पर ऊँचे-नीचे बहुत से अनुमाप हो सकते हैं और फिर प्रत्येक नई श्रेणी की सगत में एक दूसरा तटस्थता वक्र हो जाएगा। उदाहरणार्थ, बच्चे का प्रथम सयोग ५ चॉकलेट और ५९ बिस्कुट था। परन्तु वह दोनो अधिक मात्रा में ले सकता है, अर्थात् ६ चॉकलेट और ७० बिस्कुट अथवा ८ चॉकलेट और ८० बिस्कुट इत्यादि। यह बिन्दु उपभोक्ता को एक से दूसरे ऊँचे तटस्थता वक्र

पर ले जाते हैं, जिसमें से प्रत्येक प्रथम वक्र की अपेक्षा अधिक लाभदायक स्थिति प्रस्तुत करते हैं। उसको उन कम लाभदायक सयोगो से ही सन्तुष्ट होना पडेगा जो कि नीचे वाले तटस्थता वक्र से प्रस्तुत होगें। तटस्थता वक्रो के सयोगो को तटस्थता मानचित्र (Indifference Map) कहते हैं जैसा कि चित्र न० ११ में दिखाया गया है। तटस्थता मानचित्र इस विधि से तैयार किया जाता है कि वक्र C_2 वक्र C_1 की अपेक्षा अधिक ऊँची उपयोगिता प्रदर्शित करता है, प्रकार वक्र C_3 वक्र C_2 की अपेक्षा ऊँची उपयोगिता प्रदर्शित करता है।
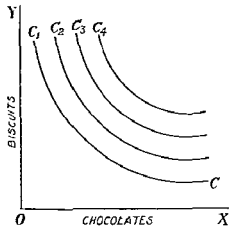
चित्र न० ११

उपभोक्ता का साम्य (Consumer's Equilibrium)—तटस्थता वक्र, उपभोक्ता की मनोवैज्ञानिक पसन्द प्रदर्शित करते हैं। उपभोक्ता की पसन्द या अधिमान पर न तो उसकी आय का प्रभाव पडता है और न इच्छित वस्तुओ की कीमतो का ही प्रभाव पडता है। उपभोक्ता जो कुल व्यय करेगा, उस सम्बन्ध में हमको केवल यही जानना है कि दोनो वस्तुओ पर कुल कितना व्यय किया जाने को है और उक्त दोनो वस्तुओ की कीमतें क्या हैं। पहले हम कीमत रेखा खीचते हैं जिसके झुकाव से दोनो वस्तुओ के मूल्यो के अनुपात का ज्ञान हो जाता है। कीमत रेखा दो मान्यताओ की धारणा पर खीची जाती है।

(१) दोनो वस्तुओ पर जो कुल व्यय किया जाने को है वह एक सा रहता है; और
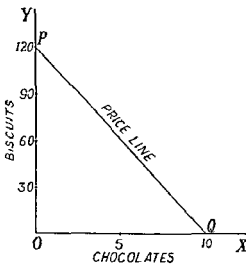
चित्र न० १२

(२) दोनो वस्तुओ की कीमतें भी एक-सी रहती हैं।

अब हम पुन उसी बच्चे के बिस्कुट और चॉकलेट सम्बन्धी अधिमान का अध्ययन करेंगे। हम मान लेते हैं कि उसके पास द्रव्य की १२० इकाइयाँ हैं जिन्हे वह बिस्कुटो और चाकलेटो पर व्यय करना चाहता है। मान लीजिए कि बिस्कुट की कीमत द्रव्य की १ इकाई है और चॉकलेट की कीमत द्रव्य की १२ इकाइयां हैं। यदि वह बच्चा अपना समस्त द्रव्य केवल बिस्कुटो पर ही व्यय कर देता है तो उसे

१२० बिस्कुट प्राप्त होगे, किन्तु चॉकलेट बिलकुल नहीं मिलेंगे । इसके विपरीत यदि वह बच्चा समस्त द्रव्य चॉकलेटो पर ही व्यय करना चाहेगा, तो वह केवल १० चॉकलेट खरीद सकेगा । दोनो बिन्दुओ को मिला देने से हमको कीमत लाइन PQ प्राप्त हुई है जिसके झुकाव से दोनो वस्तुओ की कीमतो का अनुपात प्रकट हो जाता है (जिसे हमने समान मान लिया है) और इसीलिए PQ रेखा सम रेखा (straight line) है । ऊपर की दोनो स्थितियाँ अन्तिम और अत्यन्त असाधारण सयोगो के उदाहरण थे । वस्तुत समझदार उपभोक्ता मिला-जुला सयोग रखना पसन्द करेगा । बात यह है कि सयोग का स्वरूप कैसा भी हो, साम्य बिन्दु (point of equilibrium) कीमत रेखा पर ही रहेगा क्योकि, जब दोनो वस्तुओ की कीमते दी रहती हैं और दोनो वस्तुओ पर कुल कितना द्रव्य व्यय किया जाने को है यह भी मालूम रहता है, तो फिर यह निश्चित ही है कि साम्य (equilibrium) की कोई भी स्थिति कीमत रेखा PQ पर ही रहेगी । उसी बिन्दु पर दोनो वस्तुओ पर व्यय होने वाली द्रव्य राशि व्यय होगी ।

उपभोक्ता की साम्य स्थिति (equilibrium position) प्राप्त करने के लिए हमको अधिमानो की श्रेणी के ऊपर कीमत रेखा रखनी पडेगी । इसके लिए आप रेखाचित्र न० १३ देखिए । जिस बिन्दु पर कीमत रेखा तटस्थता वक्र (indifference curve) को छूती है, वही पर उपभोक्ता की साम्य की स्थिति प्रकट होती है । इस चित्र म कीमत रेखा PQ स्पर्शी रेखा (tangent) है, जो तटस्थता वक्र C_2 को T बिन्दु पर छूती है । इसलिए उपभोक्ता का साम्य क्रम चॉकलेटो के सम्बन्ध में $= OM\ (= NT)$, और बिस्कुटो के सम्बन्ध म $ON = (MT)$, यह निश्चित है कि उपभोक्ता का साम्य बिन्दु तटस्थता वक्र C_2 पर ही पडेगा क्योकि यह वक्र दो वस्तुओ पर किए जाने वाले निश्चित व्यय को दिखाने वाला सबसे ऊँचा वक्र है । वक्र C_3 उपभोक्ता की पहुँच से परे है और वक्र C_1 वस्तुत वक्र C_2 की अपेक्षा कम सकल उपयोगिता प्रदर्शित करता है । अत निश्चित व्यय की परिधि मे उपभोक्ता की सकल उपयोगिता वक्र C_2 पर अधिकतम है । यह प्रश्न किया जा सकता है कि तटस्थता वक्र C_2 पर, बिन्दु T ही क्योंकर साम्य बिन्दु है, अन्य कोई बिन्दु जैसे R क्यों नहीं । यद्यपि दोनो बिन्दु अर्थात् T और R सकल उपयोगिता प्रदर्शित करते हैं । फिर भी दोनो वस्तुओं अर्थात् बिस्कुटो और चॉकलेटो की सीमान्त उपयोगिताओं का अनुपात बिन्दु R पर वही नहीं है जो दोनो वस्तुओ की कीमतो का अनुपात है । जब तक दोनो अनुपातो में फर्क रहेगा, तब तक उपभोक्ता को अपने व्यय का पुनरीक्षण करने म लाभ है । साम्य मे
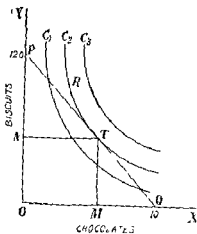
चित्र न० १३

$$\frac{X \text{ की सीमान्त उपयोगिता}}{Y \text{ की सीमान्त उपयोगिता}} = \frac{X \text{ की कीमत}}{Y \text{ की कीमत}}$$

अत निष्कर्ष निकलता है कि केवल बिन्दु T ही साम्य बिन्दु हो सकता है क्योकि उसी बिन्दु पर दोनो सीमान्त उपयोगिताएँ दोनो वस्तुओ के कीमत अनुपात के बराबर हैं (तटस्थता वक्र म बिन्दु T पर झुकाव देखिए)।

अत कीमत रेखा (price line) और तटस्थता वक्र (indifference curve) के स्पर्श से हमको उपभोक्ता की साम्य स्थिति का पता लगता है। इसका यह अर्थ है कि साम्य म

$$\frac{X \text{ की सीमान्त उपयोगिता}}{Y \text{ की सीमान्त उपयोगिता}} = \frac{X \text{ की कीमत}}{Y \text{ की कीमत}}$$

४ तटस्थता वक्रीय विश्लेषण वस्तुत मार्शल के माँग विश्लेषण से अधिक विश्वसनीय है (Superiority of Indifference Curve Analysis to the Marshallian Demand Analysis)—निम्नलिखित आधारो पर तटस्थता वक्रीय विश्लेषण, मार्शल (Marshall) के माँग विश्लेषण से अधिक विश्वसनीय है—(१) तटस्थता वक्रीय विश्लेषण (indifference curve analysis) का एक लाभ यह बताया जाता है कि हम बिना यह माने हुए कि उपयोगिता का आधारत माप किया जा सकता है, उपभोक्ता की पसन्द की समस्या को हल कर सकते हैं। तटस्यता वक्रीय विश्लेषण की सहायता से केवल यह जान लेना आवश्यक है कि उपभोक्ता कौनसा सयोग अधिक पसन्द करता है, जब कि मार्शल (Marshall) के माग विश्लेषण म यह भी जानना आवश्यक है कि उपभोक्ता एक सयोग को दूसरे सयोग की अपेक्षा कितना अधिक चाहता है। बिना यह ज्ञात किए हुए हम उपभोक्ता की मन स्थिति (behaviour) का पता नही लगा सकते और चूँकि उपयोगिता को मापा नही जा सकता अत तटस्थता वक्र (indifference curve) का विश्लेषण, मार्शल (Marshall) के माँग विश्लेषण से अधिक उपयुक्त और विश्वसनीय है क्योकि उसन उपयोगिता को मापने की आवश्यकता ही नही है।

(२) तटस्थता वक्रीय विश्लेषण के सहारे हमको माँग के सामान्य सिद्धान्त का पूर्ण निरूपण मिल जाता है जबकि मार्शल के उपयोगिता सम्बन्धी विश्लेषण से हमको माँग के सिद्धान्त का उतना पूर्ण ज्ञान प्राप्त नही होता। मार्शल के विश्लेषण मे एक दोष यह है कि यह इस धारणा पर न्याय करता है कि उपभोक्ता के द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता समान रहती है, अत कीमतो म परिवर्तन केवल यह फर्क उत्पन्न करता है कि वस्तुएँ आपस मे भिन्न शर्तो और दरो पर अदली-बदली जाती हैं। फिर भी कीमतो म परिवतन होने से दो फल निकलते हैं —प्रथमत, वास्तविक आय (real income) में अन्तर हो जाता है और द्वितीयत जिन दरो या शर्तो पर वस्तुओ का परस्पर विनिमय होता है उनम परिवर्तन हो जाता है। जब किसी वस्तु की कीमत गिर जाती है, इसका यह अर्थ लिया जाता है कि उपभोक्ता उतनी आय में अधिक वस्तु खरीद सकता है या यह कहिए कि वह उसी माल को कम कीमत पर खरीद सकता है, इस प्रकार उसकी वास्तविक आय (real income) बढ जाती है। इसको आय-सम्बन्धी

प्रभाव (income effect) कहते हैं और मार्शल के विश्लेषण मे दूसरा दोष यह है कि मार्शल यह मान लेता है कि जब किसी एक वस्तु की कीमत गिरती है तो अन्य वस्तुओ का उस वस्तु के मुकाबिले में विनिमय अभिनत (tilted) हो जाता है और इसीलिए कीमत गिरी हुई चीज की माँग बढ जाती है। इसको कीमतो की गिरावट का प्रतिस्थापन प्रभाव (substitution effect of price fall) कहते हैं। इस प्रकार किसी वस्तु की कीमत मे परिवर्तन के दो प्रभाव होते हैं। एक प्रभाव है आय सम्बन्धी प्रभाव (income effect) और दूसरा प्रभाव है प्रतिस्थापन प्रभाव (substitution effect)। चूँकि मार्शल (Marshall) का माँग सम्बन्धी विश्लेषण इस आधार पर खड़ा है कि द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता समान रहती है, अत वह आय सम्बन्धी प्रभाव (income effect) को नही मानता। इसीलिए मार्शल (Marshall) का विश्लेषण ठीक नही जँचता।

हम नीचे के चित्र १४ में आय सम्बन्धी प्रभाव (income effect) और प्रतिस्थापन प्रभाव (substitution effect) वक्रीय चित्र देखेंगे।

(A) चित्र नं० १४ (B)
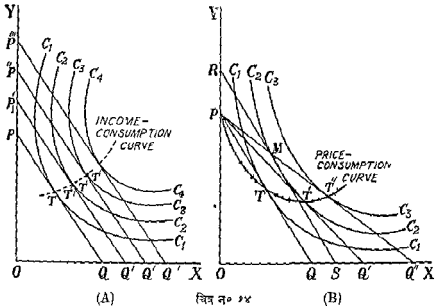
यदि दोनो वस्तुओ की कीमतें स्थिर रहती हैं और उपभोक्ता की द्रव्य की आय बढ जाती है तो इसको एक नई कीमत रेखा के द्वारा प्रदर्शित किया जाएगा जो मौलिक रेखा के दाहिनी ओर समानान्तर होगी। Fig (A) देखिए। प्रारम्भ मे उपभोक्ता का साम्य T बिन्दु पर था, किन्तु द्रव्य सम्बन्धी आय में वृद्धि के साथ जो नई कीमत रेखा P'Q' से दिखाई गई है, उपभोक्ता उच्चतर तटस्थता वक्र C_2 तक पहुँच जाता है। यदि उसकी आय में और अधिक वृद्धि होती है तो नई कीमत रेखा P' Q'' बन जाती है, और तब उपभोक्ता के साम्य की स्थिति तटस्थता वक्र C_3 के बिन्दु T''' पर जा पहुँचती है। अब यदि हम T, T', T'', T''' को मिला देते हैं तो हमको आय-उपभोग वक्र (income consumption

curve) प्राप्त होता है। इस आय-उपभोग वक्र पर हम देखेंगे कि उपभोक्ता की आय के अन्तर का उस पर क्या प्रभाव पडता है, (यह मानते हुए कि दोनो वस्तुओं की कीमतें समान रही हैं)। आमतौर पर यदि उपभोक्ता की आय मे वृद्धि होती है तो वह पहले की अपेक्षा अधिक खरीदना चाहता है, बशर्ते कि कोई खास चीज उसकी निगाह मे अब बहुत ही घटिया दर्जे की न बनने लगी हो।

चित्र B में कीमत उपभोग वक्र दिखाया गया है। यह चित्र किसी वस्तु की कीमत मे परिवर्तन होने से उस वस्तु के उपभोग पर क्या प्रभाव पडता है यही दिखाता है। इस चित्र मे कीमत रेखा PQ' वस्तु X की कम कीमत दिखाती है बनिस्बत PQ कीमत रेखा के। (इसका अर्थ यह हुआ कि यदि उपभोक्ता अपनी सारी आय X वस्तु पर ही व्यय करना चाहे, तो वह OQ' खरीद सकेगा न कि OQ जबकि X की कीमत गिर जाती है)। और PQ'' तो X वस्तु की और भी कम कीमत बताता है। दूसरी स्थिति मे उपभोक्ता का साम्य (Consumer's equilibrium) बिन्दु T' पर है। यही पर नई कीमत रेखा PQ', तटस्थता वक्र C_2 को स्पर्श करती है। इसी प्रकार यदि X वस्तु की कीमत और भी गिर जाती है तो साम्य (equilibrium) की नई स्थिति बिन्दु T'' पर होगी। अब बिन्दु P, T, T', T'' को मिला देने से हमको कीमत उपभोग वक्र प्राप्त होगा।

तटस्थता वक्र के विश्लेषण से हमको यह जानने म सहायता मिलती है कि कीमत प्रभाव (price effect) एक तो प्रतिस्थापन प्रभाव (substitution effect) और आय प्रभाव (income effect) से मिलकर बनता है। मान लीजिए कि नई कीमत रेखा PQ है, और उपभोक्ता की साम्य स्थिति बिन्दु T' पर आती है। इसका यह अर्थ हुआ कि आय प्रभाव (income effect) बिन्दु T से हटकर बिन्दु M तक जा पहुँचा। और अब यदि यह M से T तक पहुँचेगा तो ऐसा प्रतिस्थापन प्रभाव (substitution effect) के प्रभाव म होगा।

(३) चूंकि तटस्थता वक्रीय विश्लेषण (indifference curve analysis) से मार्शल (Marshall) की मान्यता, अर्थात् माँग वक्र पर द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता समान रहती है"[1] गलत सिद्ध हो जाता है, अत तटस्थता वक्रीय विश्लेषण से "उपभोक्ता की बचत" के सिद्धान्त पर भी नया प्रकाश पडता है, जिस ओर डा० हिक्स (Dr. Hicks) ने नए परिणाम निकाले हैं।

५ प्रतिस्थापन की सीमान्त दर (Marginal Rate of Substitution)—एक वस्तु की कितनी मात्रा दूसरी वस्तु की कितनी मात्रा से प्रतिस्थापन की जाती है अथवा किस दर पर हम एक वस्तु का दूसरी वस्तु से प्रतिस्थापन करते हैं ? इसका उत्तर प्रतिस्थापन की सीमान्त दर से मिलता है—इस विचार को डा० हिक्स (Dr. Hicks) और प्रो० आर० जी० एलन (Prof R G Allan) ने प्रस्तुत किया।[2] मान लीजिए कि अ के पास मिठाई है और ब के पास फल और दोनो ही तबादला करना चाहते हैं। विनिमय-अनुपात एक वस्तु की वह मात्रा होगी जो कि

1 "Along the demand curve, the marginal utility of money income remains constant —Marshall

2 Hicks Values and Capital, 1946, Ch 1, p 20

दूसरी वस्तु के लिए विनिमय में दी जाएगी जैसे मिठाई की जगह फल। परन्तु विनिमय तभी होगा जबकि अ, ब दो वस्तुओं का अनुपात अथवा सीमान्त उपयोगिताएँ भिन्न हों। जब तक कि सीमान्त उपयोगिता के अनुपात भिन्न न हों, विनिमय नहीं हो सकता। इस अनुपात को प्रतिस्थापन की सीमान्त दर (marginal rate of substitution) कहते हैं। हिक्स (Dr Hicks) के शब्दों म, 'हम अ को ब म प्रतिस्थापन की सीमान्त दर की परिभाषा ब की उस मात्रा से कर सकते हैं जो उपभोक्ता को अ की सीमान्त इकाई की हानि के लिए सन्तुलित करती है।" वास्तव म यह अ की ब में सम्बन्धित सीमान्त उपयोगिता है। विभाग ३ म दी हुई तटस्थता अनुसूची मे बच्चा १ अधिक चॉक्लेट (२ के बजाय ३) लेने के लिए तथा २१ बिस्कुट (११४ के बजाय ९३) देने के लिए तैयार है। प्रतिस्थापन की सीमान्त दर १ २१ है। इस के बाद वह एक चॉकलेट के लिए १८ (९३–७५) बिस्कुटो का त्याग करने को है और इसलिए प्रतिस्थापन दर १ १८ है और इसी तरह आगे भी प्रतिस्थापन की सीमान्त-दर सदैव गिरती रहती है।

प्रतिस्थापन की सीमान्त दर एक उपभोक्ता को किसी वस्तु की कुछ इकाइयो को दूसरी की कुछ इकाइयो से प्रतिस्थापन करने योग्य बनाती है, जिससे कि वह साम्य (equilibrium) अर्थात अधिकतम लाभ की स्थिति तक पहुँच सके। यह बतलाया जाता है कि 'एक व्यक्ति का किसी समय पर लागू मूल्यो की पद्धति के प्रति तभी साम्य हो सकता है जबकि किन्ही दो वस्तुओ के मूल्यो का अनुपात उन दोनो के बीच की सीमान्त प्रतिस्थापन दर को बराबर कर देता है, अन्यथा, उस विशिष्ट मण्डी की दर पर, उसके लिए यह लाभदायक होगा कि वह किसी वस्तु के एक भाग को दूसरे के सामान्य मूल्य के लिए प्रतिस्थापन करे।'[1]

प्रतिस्थापन की सीमान्त दर इस प्रकार निश्चित की जा सकती है—अध्याय ४, विभाग २, में दी हुई तालिका पर विचार करो। यह मान लिया गया है कि द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता स्थिर है। मान लिया कि द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता प्रत्येक रुपय की सन्तुष्टि की ३० इकाइयो के बराबर है। यदि हमारा उपकल्पित उपभोक्ता दो के बजाय तीन सेबो का उपभोग करता है तो कुल उपयोगिता ३८ से बढकर ५३ इकाइयाँ हो जाती हैं अर्थात् १५ इकाइयो की वृद्धि होती है। यह आठ आने के व्यय के बराबर है (३० इकाइयाँ=१ रुपया, १५ इकाइयाँ=८ आने के)। यह प्रतिस्थापन की सीमान्त दर है। 'प्रतिस्थापन की सीमान्त दर द्रव्य की वह मात्रा है जो कि उस वस्तु की एक इकाई के बराबर की सन्तुष्टि देगी।'[2] हम यह भी कह सकते हैं कि किसी वस्तु का मूल्य उस वस्तु के द्रव्य के लिए प्रतिस्थापन की सीमान्त दर के बराबर है जब तक कि प्रचलित मूल्य इस सीमान्त दर से कम है तब तक उस वस्तु के उपभोग को बढाना उपभोक्ता के लिए स्पष्ट रूप से लाभदायक है।

---

1 Briggs and Jordon Text Book of Economics (1935) p 94

2 'The marginal rate of substitution is the sum of money which will afford the same satisfaction as one unit of the commodity in question —Boulding K L Economic Analysis (1949) p 618

हमको मार्शल (Marshall) के उपयोगिता के विचार को परेटो के विचार (Paretian notion) से विभेद करना चाहिए। मार्शल (Marshall) ने वस्तु के आन्तरिक गुणों को सोचा जिसके कारण यह सन्तुष्टि देती है। इसका कोई भी सम्बन्ध किसी अन्य दूसरी वस्तु से नहीं है। यह निरपेक्ष (absolute) उपयोगिता का विचार है जबकि परेटो (Pareto) का विचार सापेक्ष (relative) है। वह किसी वस्तु की उपयोगिता को किसी दूसरी वस्तु की उन इकाइयों के सम्बन्ध में मानता है जो वस्तु की हानि को पूरा करती है। इस प्रकार प्रतिस्थापन की सीमान्त दर परेटो (Pareto) के उपयोगिता के विचार पर आधारित है। यह अधिक वैज्ञानिक है क्योंकि यह उपयोगिता के मात्रिक (quantitative) माप की आवश्यकता अथवा सम्भावना को त्याग देता है।

६ प्रतिस्थापन नियम का व्यावहारिक महत्त्व (Practical Importance of the Law of Substitution)—प्रतिस्थापन के नियम का विस्तृत उपयोग हो सकता है। समय की उपयोगिता, विभिन्न रूपों में आस्तियों के वितरण तथा विभिन्न कामों के लिए स्रोतों के बटन में इसको लागू किया जाता है। इस नियम को द्रव्य के मौजूदा और भविष्य के उपभोग में भी लागू कर सकते हैं, अर्थात्, वर्तमान व्यय करना तथा भविष्य के लिए बचाना। यह नियम अर्थशास्त्र के सिद्धान्त की प्रत्येक शाखा में लागू होता है।

यह उपभोग में लागू होता है (It Applies to Consumption)—प्रत्येक उपभोक्ता, यदि वह बुद्धिमान् है, तो वह अपने सीमित साधनों से अधिकतम सन्तुष्टि लेना चाहता है। *उस लक्ष्य के अनुसार अपने व्यय की व्यवस्था करते समय उसको कम उपयोगिता रखने वाली वस्तु के लिए अधिक उपयोगिता रखने वाली वस्तु का प्रतिस्थापन करना चाहिए, जब तक कि सीमान्त उपयोगिताएँ बराबर न हो जाएँ।*

उत्पादन में इसका प्रयोग (Its Application to Production)—व्यापारी तथा निर्माता के लिए यह नियम अधिक महत्त्व रखता है। वह लगाए हुए उत्पादन के साधनों का अति उत्तम मितव्ययी संयोग प्राप्त करना चाहता है। इस अभिप्राय से वह एक साधन का दूसरे के लिए प्रतिस्थापन करेगा जिससे कि उनकी सीमान्त उत्पादकता (marginal productivity) समान हो जाए।

विनिमय में इसका प्रयोग (Its Application to Exchange)—हमारे सभी प्रकार के विनिमय में यह सिद्धान्त लागू होता है क्योंकि विनिमय एक वस्तु का दूसरे के लिए केवल प्रतिस्थापन ही है।

इस सिद्धान्त का मूल्य के निर्धारण से महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध है। जब किसी वस्तु की कमी होती है, तो प्रतिस्थापन नियम हमारी सहायता करता है। हम अधिक दुर्लभ (scarce) वस्तु के बदले कम दुर्लभ वस्तु का प्रतिस्थापन करने लगते हैं। इस प्रकार दूसरे की दुर्लभता कम हो जाती है और उसका मूल्य घट जाता है।

इसका वितरण में प्रयोग (Its Application to Distribution)—वितरण में हमारा सम्बन्ध उत्पादन के भिन्न भिन्न साधनों के तत्सम्बन्धी अंशों अर्थात् लगान, मजदूरी, ब्याज तथा लाभ के निर्धारण से है। ये हिस्से सीमान्त उत्पादकता

के सिद्धान्त के अनुसार निर्धारित होते हैं। उत्पादन के प्रत्येक साधन का प्रयोग उद्यमी (entrepreneur) द्वारा लाभ की सीमा तक पहुँचाया जाता है और प्रत्येक स्थिति में सीमान्त उत्पादन बराबर होता है। यदि यह बराबर नही हो तो प्रतिस्थापन नियम उसकी सीमान्त उत्पादकता बराबर कर देता है। प्रतिस्थापन नियम इसी भाँति राष्ट्रीय लाभाश (national dividend) का उत्पादन के भिन्न-भिन्न साधनो मे वितरण करने के क्षेत्र मे लाभदायक सिद्ध होता है।

इस प्रकार प्रतिस्थापन नियम का प्रयोग हमारे आर्थिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे है। यह आर्थिक सिद्धान्त की प्रत्येक शाखा मे व्यावहारिक एव मौलिक महत्त्व रखता है।

७ **प्रतिस्थापन नियम की सीमाएँ** (Limitations of the Law of Substitution)—अन्य आर्थिक नियमो की भाँति यह नियम भी एक प्रवृत्ति (tendency) का विवरण है। लोगो का वास्तविक व्यय इस नियम के विरुद्ध हो सकता है। ऐसा नीचे दी हुई सीमाओ के कारण हो सकता है—

(१) प्रतिस्थापन नियम म पाने वाली सन्तुष्टि की गणना सावधानी से करनी पड़ती है और इस सन्तुष्टि की तुलना व्यय किए हुए द्रव्य तथा उस सन्तुष्टि से करनी होती है, जो कि इसी द्रव्य को किसी दूसरी ओर व्यय करने से हो सकती है। परन्तु हम मे से कितने ऐसी उत्तम गणना करने योग्य हैं और कितने ऐसा करने के हेतु धैर्य तथा योग्यता रखते हैं ? क्या हम सब ऐसे बुद्धिमान् तथा गणना करने म दक्ष हैं ? वास्तव मे हमारा अधिकाश व्यय हमारे स्वभाव पर निर्भर है। हम न तो इसकी गणना सचेत रूप से करते हैं और न सावधानी से उपयोगिताओ की तुलना करते हैं।

सिर्फ अधिक व्यय करने म एक समझदार आदमी कुछ सोच-विचार करता है और उसका व्यय अधिकतम सन्तुष्टि के नियम के अनुसार होता है।

अधिक से अधिक हम यह कह सकते हैं कि समस्त विचारयुक्त तथा विवेकशील पुरुष सचेत या अचेत रूप से इस नियम का पालन करते हैं। जैसा कि चैपमैन (Chapman) ने कहा है—"हम प्रतिस्थापन नियम अथवा सम-सीमान्त व्यय नियम के अनुसार अपनी आय का वितरण करने में उस प्रकार विवश नही होते, जिस प्रकार कि पत्थर का टुकड़ा वायु में फेंके जाने पर भूमि पर गिरने के लिए एक प्रकार से विवश हो जाता है, परन्तु हम वास्तव मे ऐसा एक बेढंगे रूप से करते हैं क्योंकि हम समझ बूझ से काम लेते हैं।"[1]

(२) उपभोक्ता का अज्ञान भी इस नियम के विरुद्ध एक और सीमा है। हो सकता है कि वे विकल्पो के दूसरे उपयोगो को जानते ही नही। इसीलिए शायद प्रतिस्थापन नही होता और शायद प्रतिस्थापन नियम (law of substitution) लागू नहीं होता।

---

[1] 'We are not, of course compelled to distribute our incomes according to the Law of Substitution or Equi marginal Expenditure, as a stone thrown into the air is compelled, in a sense to fall back to the earth but as a matter of fact, we do in a certain rough fashion, because we are reasonable'
—Chapman Outlines of Political Economy, p 43

(३) मनुष्य कभी कभी रीति-रिवाजो अथवा फैशन के अधीन हो जाते हैं और सही उपभोग करने योग्य नही रहते। जब तक उपभोक्ता स्वय समझदार न होगा, वह एक वस्तु के स्थान पर दूसरी उपयोगिता को समझ ही नही सकता, यह भी इस नियम के मार्ग मे एक सीमा है।

(४) एक और सीमा इसलिए लागू हो जाती है क्योंकि वस्तुओ का छोटे-छोटे टुकडो मे विभाजन नही हो सकता, जिससे कि उपभोक्ता सीमान्त उपयोगिताओ को समान कर सके। वास्तविक व्यवहार मे सीमान्त उपयोगिताएँ समान की ही नही जा सकती, अत प्रतिस्थापन का नियम केवल सैद्धान्तिक ही रह जाता है।

(५) व्यक्तियों का कोई निश्चित आय व्ययक (Budget) काल नही है। यदि एक निश्चित समय भी है तो भी इस सिद्धान्त का लागू होना उपभोग की हुई वस्तुओ की स्थिरता की भिन्न-भिन्न मात्राओ के कारण कठिन है। एक स्थायी वस्तु कई क्रमिक लेखा किये हुए काल मे उपभोग की जा सकती है।

(६) अन्त में सम-सीमान्त उपयोगिता नियम (law of equi-marginal utility) की सन्तुष्टि तभी होगी जबकि उपभोग की हुई वस्तुओ की सीमान्त उपयोगिता तथा उनकी कीमतो के बीच में अनुपात हो। इस प्रकार

$$\frac{\text{क की सीमान्त उपयोगिता}}{\text{क की कीमत}} = \frac{\text{ख की सीमान्त उपयोगिता}}{\text{ख की कीमत}} = \text{ग}$$

जब तक ग = १ नही होगा, नियम की सन्तुष्टि न होगी। लेकिन यह आवश्यक नही है कि उपभोक्ता एक वस्तु की सीमान्त उपयोगिता तथा उसकी कीमत बराबर करें।

८. उपभोक्ता के अधिमान (Consumer's Preferences)—पिछले अनुच्छेद मे हमने यह कहा था कि उपभोक्ता क्या कर सकता है या क्या नही। यहाँ पर उपभोक्ता की पसन्दो या अधिमानो के बारे म कुछ कहना असगत न होगा। जिस ससार मे हम रहते हैं, चुनाव जरूरी है। अर्थशास्त्र मे हम मान लेते हैं कि उपभोक्ता अपनी अभिरुचि, लाभ तथा त्याग का उचित विचार सचेत गणना करके करता है। अतएव हम मान लेते है कि उपभोक्ता प्रेरणा, स्वभाव, रीति-रिवाज तथा आलस्य से प्रभावित नही होता। हम यह भी मान लेते हैं कि प्रत्येक उपभोक्ता पर्याप्त समय यह सोचने म लगाता है कि वह एक वस्तु खरीदे या नही और खरीदे तो कितनी ? वह सबसे सस्ती दुकान खोजने तथा अच्छा सौदा करने की मेहनत से पीछे नही हटता। हम यह सब इस कारण मानते हैं कि अन्यथा आर्थिक सामान्य अनुमान (economic generalisations) असम्भव हो जायेंगे। तब अर्थशास्त्री भिन्न-भिन्न आर्थिक क्षेत्रो की प्रवृत्तियो का विश्लेषण करने के योग्य नही रहेगा।

परन्तु हमको यह न भूल जाना चाहिए कि उपभोक्ताओ की अभिरुचि वास्तव मे विवेकपूर्ण नही होती। अधिक मनुष्य वस्तुओ को स्वभाव तथा केवल अनुकरण के आधार पर ही खरीदते हैं। उपभोक्ताओ की अभिरुचि की कुछ भी प्रकृति हो तो भी वह हमारी आर्थिक पद्धति में निश्चित करने वाला साधन है।

उपभोक्ता की बचत
(Consumer's Surplus)

६ अर्थ (Meaning)—मार्शल ने उपभोक्ता की बचत का विचार सबसे प्रथम प्रस्तुत किया। उनका विचार उस बात के उचित वर्णन करने का था जिससे सब उपभोक्ता परिचित हैं।

हमारी साधारण खरीद-बेच में भी, कुछ न कुछ उपभोक्ता की बचत होती है चूँकि जो हम वास्तव में अदा करते हैं उससे ज्यादा अदा करने के लिए तैयार रहते हैं, विशेषकर उन वस्तुओं के खरीदने में जो विशेषतः लाभदायक तथा सस्ती होती हैं, उदाहरणार्थ पोस्ट कार्ड, अखबार, दियासलाई, नमक आदि। यदि कोई विकल्प ही न हो, तो उनके लिए हम जो कुछ देते हैं उससे कहीं अधिक देने को तैयार हो जावेंगे। जो अतिरिक्त सन्तुष्टि हम पाते हैं, उसी को उपभोक्ता की बचत (Consumer's surplus) कहते हैं।

मार्शल के शब्दों में, 'किसी वस्तु के उपभोग से वंचित रहने की अपेक्षा उपभोक्ता जो कीमत देने को तैयार है और जो कि वह वास्तव में देता है उसका अन्तर ही इस अतिरिक्त सन्तुष्टि की आर्थिक माप है। इसको उपभोक्ता की बचत कह सकते हैं।"[1]

संक्षेप में, उपभोक्ता की बचत=जो कुछ हम देने को तैयार हैं, उसमें से जो कुछ हम वास्तव में देते हैं उसको घटाकर जो कुछ बचता है, वही उपभोक्ता की बचत है। आगे हम यह दर्शाने का प्रयत्न करेंगे कि सकल उपयोगिता (total utility) और वास्तविक व्यय के बीच का फर्क ही उपभोक्ता की बचत है।

१० उपभोक्ता की बचत तथा घटती हुई उपयोगिता का नियम (Consumer's Surplus and the Law of Diminishing Utility)—उपभोक्ता की बचत का सिद्धान्त ह्रासमान उपयोगिता के नियम से निकलता है। अध्याय ४, विभाग २ में तालिका को देखिए।

मान लीजिए कि प्रत्येक सेब का मूल्य बाजार में ६ पैसा है। उपभोक्ता उस सीमा तक सेब खरीदता जाएगा जहाँ तक कि उसकी सीमान्त उपयोगिता मूल्य के बराबर हो जाए। इस भाँति वह ५ सेब खरीदेगा और प्रत्येक के लिए ६ पैसे देगा। (उपयोगिता की एक इकाई एक पैसे के बराबर मान ली गई है)। इस प्रकार वह कुल ३० पैसे व्यय करेगा परन्तु ५ सेबों से उसकी कुल उपयोगिता ७० पैसों में मापी जाती है। इस भाँति वह ४० पैसों के बराबर उपभोक्ता की बचत प्राप्त करता है। यह प्रवृत्ति इस कारण है कि उसने अपने उपभोग से वंचित रहने की अपेक्षा ७० पैसे दे दिए होते परन्तु वह वास्तव में ३० पैसे ही

---

1 "The excess of the price which he (i e consumer) would be willing to pay rather than go without the thing over that which he actually does pay is the economic measure of this surplus satisfaction. It may be called Consumer's Surplus." —Marshall

"For later refinements in the concept of Consumer's Surplus, reference may be made to Hick's article on "The Generalized Theory of Consumer's Surplus" in the "Review of Economic Studies." (1945-46), Vol. XIII (2), No 34.

देता है। यदि मूल्य ११ पैसे हो जाता है तो वह ४ सेव खरीदेगा और ४४ पैसे देगा जब कि कुल उपयोगिता ६४ पैसे के बराबर है। इससे उसको २० पैसे के बराबर उपभोक्ता की बचत मिलेगी और इसी प्रकार आगे होगा।

नीचे उपभोक्ता की बचत का रेखाचित्र द्वारा निरूपण किया गया है —

OX पर वस्तु की खरीदी जाने वाली इकाइयाँ मापी गई हैं और OY पर द्रव्य में उपयोगिता मापी गई है, जिसका अर्थ उस मूल्य से है जो उपभोक्ता, वस्तु की किसी विशिष्ट इकाई के उपभोग की अपेक्षा देने को तैयार है।

चित्र न० १५

यदि प्रचलित कीमत PM है तो उपभोक्ता M इकाई तक खरीदेगा। वह OM मात्रा खरीदेगा। ऐसा इस कारण है कि इस राशि पर उसकी सीमान्त उपयोगिता मूल्य के बराबर है। परन्तु उस की पहली इकाइयो की सीमान्त उपयोगिता PM से अधिक है। उदाहरणार्थ M इकाई की सीमान्त उपयोगिता P M है परन्तु वह इस इकाई के लिए दूसरी इकाइयों की भाँति केवल (PM=P M) प्रचलित मूल्य ही देता है। इस प्रकार M इकाई के लिए P P के बराबर अधिक उपयोगिता प्राप्त करता है। यह उस इकाई की उपभोक्ता की बचत है। इस प्रकार जब OM इकाई P M मूल्य पर खरीदी जाती है तो जो उपभोक्ता की कुल बचत उसको मिलती है वह रंगे हुए क्षेत्र U A P से दिखाई गई है। यदि प्रचलित कीमत P M तक बढ़ जाती है तो वह केवल OM मात्रा ही खरीदेगा और उपभोक्ता की बचत एक छोटे त्रिभुज UA P तक गिर जाएगी।
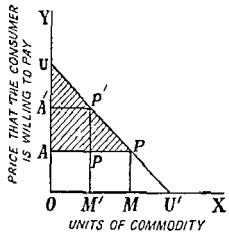
उपभोक्ता की बचत इसलिए होती है कि कुछ खरीदार सीमान्त होते हैं तथा दूसरे नहीं। वह खरीदार जो सीमान्त खरीदार के ऊपर हैं, बचत प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार एक उपभोक्ता सीमा के भीतर के क्रय में अर्थात वह क्रय जो सीमान्त नहीं है, बचत प्राप्त करता है।

उपभोक्ता की बचत की गणना करने में हम परिपूर्ण बाज़ार (perfect market) की अर्थात प्रत्येक इकाई के लिए समान कीमत की कल्पना कर लेते हैं। यदि किसी उपभोक्ता के लिए कीमत में अन्तर हो अर्थात पहले की इकाइयों के लिए अधिक कीमत तथा क्रमिक इकाइयों के लिए कम कीमत ली जाए तो परिपूर्ण बाज़ार की अपेक्षा वस्तु की उसी ही मात्रा के लिए उसको अधिक देना होगा। इस प्रकार भिन्न भिन्न कीमत वाले बाज़ार की अपेक्षा पूर्ण बाज़ार में क्रय करने से बचत प्राप्त होगी।

११ क्या उपभोक्ता की बचत मापी जा सकती है? (Can Consumer's

Surplus Measured ?)—ऐसा मालूम होता है कि यह मापी जा सकती है। हमने ऊपर स्पष्ट कर दिया था कि उपभोक्ता की बचत, जो कुछ हम उपभोग से वंचित रहने की अपेक्षा देने को तैयार हैं, तथा जो कुछ वास्तव में देते हैं, दोनों का अन्तर है, अथवा यह नीचे दिए हुए सूत्र से निश्चय किया जा सकता है—

उपभोक्ता की बचत=सकल उपयोगिता—मूल्य × क्रय की हुई इकाइयों की संख्या।

यह कितना साधारण प्रतीत होता है।

किन्तु उपभोक्ता की बचत की माप इतनी साधारण नहीं है। उपभोक्ता की बचत की ठीक-ठीक माप के लिए बहुत कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

(१) मांग की कीमतों की पूर्ण सूची प्राप्य नहीं है (A Complete List of Demand Prices is not available)—हम केवल मांग अनुसूची (demand schedule) के एक भाग को ही जानते हैं। क्योंकि हम यह नहीं जानते कि प्रत्येक इकाई के लिए हम कितना देने को तैयार होंगे, इसलिए उपभोक्ता की बचत निश्चय नहीं की जा सकती। तो भी वास्तविक जीवन में हम मांग अनुसूची के उस भाग से सम्बन्ध रखते है जिससे हम भली भांति परिचित हैं।

(२) उपभोक्ता की बचत आवश्यकताओं तथा लौकिक अनिवार्यताओं में असीमित और अमापनीय है। आवश्यक तथा लौकिक अनिवार्यताओं में से कोई निश्चित सन्तुष्टि नहीं मिलती। उनकी सन्तुष्टि से केवल दुख दूर होता है और कोई आनन्द नहीं मिलता। पैटेन (Patten) इसको 'दुखमय' अर्थ-व्यवस्था (pain economy) कहते हैं। जब आवश्यक अनिवार्यताओं की सन्तुष्टि हो जाती है तभी उपभोक्ता की बचत का प्रश्न उठ सकता है। इस अवस्था में जिसको पैटेन (Patten) 'आनन्दमय' अर्थव्यवस्था (pleasure economy) कहते हैं, उपभोक्ता की बचत होती है।

(३) उपभोक्ताओं की स्थिति भिन्न होती है (Consumers' Circumstances vary)—कुछ उपभोक्ता धनी तथा कुछ निर्धन होते हैं। एक धनी पुरुष किसी वस्तु के लिए उसके उपभोग से वंचित रहने की अपेक्षा कहीं अधिक देने को तैयार रहता है। उपभोक्ताओं की स्थिति में इस भिन्नता से उपभोक्ता की बचत मापने में कठिनाई होती है। इस कठिनाई को औसत निकालने से दूर किया जा सकता है। जब धनी तथा निर्धन, अधिक खरीदार होते हैं, तब व्यक्तिगत स्थितियों के अन्तर पर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं है।

(४) उपभोक्ताओं की चेतनता भिन्न है (Consumers Differ in Sensibilities)—प्रत्येक उपभोक्ता को भिन्न भिन्न रुचि तथा चेतनता (sensibility) होती है। कुछ दूसरों की अपेक्षा एक वस्तु को पाने के बहुत उत्सुक होते हैं तथा उसके लिए अधिक देने को तैयार रहते हैं।

(५) द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता में परिवर्तन होता रहता है (Marginal Utility of Money Changes)—जैसे-जैसे हम किसी वस्तु को खरीदते जाते हैं, हमारे पास द्रव्य की मात्रा कम होती जाती है। इसलिए द्रव्य की प्रत्येक इकाई की

सीमान्त उपयोगिता बढ जाती है। परन्तु जब हम उपभोक्ता की बचत (Consumer's surplus) मापते हैं तो हम द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता में इस परिवर्तन का ध्यान नही रखते। इस आक्षेप के उत्तर में हम कह सकते हैं कि वास्तविक व्यवहार म हम अकेली वस्तु के खरीदने मे केवल थोडी मात्रा में ही द्रव्य व्यय करते हैं। अतएव द्रव्य की सीमान्त उपयोगिताओ में परिवर्तन बहुत ही कम होता है।

(६) एक और कठिनाई यह है कि एक वस्तु के क्रय म प्रत्यक वृद्धि के साथ पहली त्रय की हुई इकाइयो की आवश्यकता घट जाती है तथा उपयोगिता कम हो जाती है। जब हम उपभोक्ता की बचत मापते हैं तो पहली इकाइयो की उपयोगिता की इस कमी का ध्यान नही रखते। उपभोक्ता की बचत ठीक-ठीक मापने के लिए यह सकेत किया जाता है कि पहली इकाइयो की माँग के मूल्य की सूची को लगातार बदलना चाहिए। यह आक्षेप सही होता यदि प्रत्यक इकाई के सामने की लिखी हुई उपयोगिता औसत होती न कि अतिरिक्त उपयोगिता। केवल औसत हर पग पर बदलता है न कि अतिरिक्त उपयोगिता।

(७) फिर प्रतिस्थापन वस्तुओ की उपस्थिति के कारण भी कुछ कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं। यह पहले हो बता दिया गया है कि उनकी उपयोगिता की माप म कैसे कठिनाई उपस्थित हो जाती है।[1] इस कठिनाई को दूर करने के लिए चाय और कॉफी जैसी दो प्रतिस्थापन वस्तुओ को एक मान लेना चाहिए जैसा कि मार्शल ने बताया है।

(८) विशिष्टता के लिए उपयोग की जाने वाली वस्तुएँ (Commodities used for distinction)—हीरा जैसी वस्तुओ की कीमत में कमी से माँग म वृद्धि न होगी। जब ऐसी वस्तुएँ सस्ती हो जाती हैं तो वे उपभोक्ता के लिए कोई श्रेष्ठता का भाव नही रखती। अतएव उनकी माँग गिर सकती है। इसलिए ऐसी स्थितियो में कीमत में कमी होने से उपभोक्ता की बचत नही बढेगी।

इसलिए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उपभोक्ता की बचत का ठीक ठीक मापना असम्भव है। परन्तु इस कारण उपभोक्ता की बचत की धारणा व्यर्थ नही है। व्यावहारिक जीवन म, चाहे वह व्यवसाय से या सार्वजनिक वित्त से सम्बद्ध हो, उपभोक्ता की बचत की माप के बारे म एक मोटा तथा कार्ययुक्त विचार हम सदैव ही बना सकते हैं।

१२ उपभोक्ता की बचत की आलोचना (Criticism of Consumer's Surplus)—कैनन (Cannan), निकलसन (Nicholson), रॉबिन्सन (Robinson) तथा डैविनपोर्ट (Davenport) जैसे अर्थशास्त्रियो न उपभोक्ता की बचत के सिद्धान्त की बडी आलोचना की है। इसके वैज्ञानिक लक्षण पर यह आक्षेप लगाया गया है कि यह ऐसी कल्पनाओ पर आधारित है जो अनुचित हैं। इसका माप करने में हम यह कल्पना कर लेते हैं कि उपयोगिताएँ ठीक-ठीक मापी जा सकती हैं और द्रव्य म बदली जा सकती हैं। यह भी मान लिया जाता है कि किसी वस्तु की

1. अध्याय ४, विभाग १२।

भिन्न भिन्न इकाइयों की भिन्न भिन्न उपयोगिताएँ होती हैं। इसके अतिरिक्त प्रत्येक वस्तु की उपयोगिता निरपेक्ष (absolute) समझ ली गई है जो कि वह वास्तव में नहीं है। यह भी मान लिया जाता है कि द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता स्थिर रहती है। जब हम द्रव्य व्यय करते जाते हैं, तो हमारे पास बची हुई द्रव्य की प्रत्येक इकाई की उपयोगिता बढ़ती जाती है; जबकि वस्तु की सीमान्त उपयोगिता गिरती जाती है। इससे उपभोक्ता की बचत को मापने में अधिक कठिनाई होने लगती है।

किन्तु हिक्स ने तटस्थता वक्र (indifference curve) द्वारा उपभोक्ता की बचत को प्रस्तुत किया है जिसके कारण यह सिद्धान्त इस कल्पना से स्वतन्त्र हो हो जाता है।[1]

अनिवार्यताओं तथा रूढ़ आवश्यकताओं (conventional necessaries) के उपभोग में यह नियम लागू नहीं होता क्योंकि ऐसी स्थिति में उपभोक्ता उससे वंचित रहने की अपेक्षा सब कुछ देने को तैयार हो जाता है। उपयोगिता अनन्त है। इसीलिए यह कहा जाता है कि सारा उपभोक्ता की बचत का विचार काल्पनिक, तथा भ्रामक है। कोई व्यक्ति निश्चित रूप से यह नहीं कह सकता कि किसी वस्तु से वंचित रहने की अपेक्षा वह उसके लिए कितना देने को तैयार होगा।

यह समालोचना वास्तव में हानिकारक है। केवल वैज्ञानिक दृष्टिकोण से इन आक्षेपों में से किसी भी आक्षेप की मान्यता पर सन्देह नहीं किया जा सकता। मुख्य आक्षेप यह है कि इसको ठीक प्रकार से रुपयों में मापा नहीं जा सकता। यह तुरन्त ही मानना पड़ेगा। परन्तु यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि वास्तविक जीवन में उपभोक्ता की बचत का विचार मूर्त रूप से उपस्थित है। किसी वस्तु के उपभोग से वंचित रहने की अपेक्षा हम वस्तु के लिए जो कुछ देते हैं उससे अधिक देने को तैयार रहते हैं। इस प्रकार हमको सन्तुष्टि में बचत मिलती है, यद्यपि हम यह नहीं कह सकते कि सही तौर पर कितनी। यह हमको अवश्य बताता है कि मण्डी की एक समान कीमत (uniform market price) की पद्धति कुछ उन उपभोक्ताओं को सन्तुष्टि में बचत प्रदान करती है जो उस वस्तु से वंचित होने की अपेक्षा उसके लिए अधिक देने के योग्य तथा तैयार होते हैं। वास्तविक जीवन में लेन-देन इस भाँति होता है कि उपभोक्ता को अतिरिक्त सन्तुष्टि मिलती है।

१३ उपभोक्ता की बचत के सिद्धान्त का महत्त्व (Importance of the Concept of Consumer's Surplus)—यद्यपि उपभोक्ता की बचत ठीक माप के योग्य नहीं है तो भी इसकी व्यावहारिक उपयोगिता तथा इसका सैद्धान्तिक महत्त्व अधिक है।

(१) संयोगिक महत्त्व (Conjunctural Importance)—इसके द्वारा हम वातावरण तथा अवसर के लाभ अथवा संयोगिक महत्त्व के लाभ की भी तुलना कर सकते हैं। एक मनुष्य जो दिल्ली में २००) रु० मासिक पाता है उस मनुष्य की अपेक्षा जीवन की अधिक सुविधाएँ प्राप्त कर सकता है, जो २००) रु० एक ऐसे शहर में पाता है जो सभ्यता के केन्द्र से बहुत दूर है। इससे हम भिन्न भिन्न समय में मनुष्यों की

1 Hicks, J H—Value and Capital (1948), pp 38—40

आर्थिक दशाओं की तुलना भी कर सकते है। जितनी अधिक उपभोक्ता की बचत होगी, उतनी ही अच्छी दशा मनुष्य की होगी।

(२) सार्वजनिक वित्त में महत्व (Importance in Public Finance) वित्त-मन्त्री नए कर लगाते समय इस बात का ध्यान रखता है कि किसी वस्तु के लिए लोग कितना देने को तैयार हैं और कर लगाने के कारण बढी हुई कीमत से उन पर कितना प्रभाव पडता है। जहाँ उपभोक्ताओं की बचत हो रही है, वहाँ कर लगाने की अधिक गुन्जाइश है, क्योंकि लोग अधिक देने को तैयार होंगे। कीमत मे वृद्धि होने से माँग पर अधिक प्रभाव न पडेगा।

कर लगाने तथा आर्थिक सहायता (bounty) देने मे उपभोक्ता की बचत पर अवश्य ही प्रभाव पडता है।[1] लेकिन प्रभाव, व्यवसाय मे ह्रासी प्रत्याय (diminishing return), स्थिर प्रत्याय (constant return) और वृद्धि प्रत्याय (increasing return) के प्रभावी होने के साथ-साथ भिन्न-भिन्न होंगे। स्थिर प्रत्याय नियम (law of constant return) के लागू होने में उपभोक्ता की बचत राज्य के सकल आगम (gross receipts) से भी अधिक घट जाएगी। "उपभोग के उस भाग पर जो चलता रहता है, उपभोक्ता उतना खो देता है जितना कि राज्य को मिलता है, तथा उपभोग के उस भाग पर जो कीमतों में वृद्धि से खत्म हो जाता है उपभोक्ता की बचत जाती रहती है और राज्य को कुछ भी नही मिलता।" इसी प्रकार आर्थिक सहायता (bounty) की दशा म बाउन्टी (bounty) की अपेक्षा उपभोक्ता की बचत में लाभ कम होता है। जहाँ घटती हुई प्राप्ति का नियम या ह्रासी प्रत्याय नियम (law of diminishing returns) लागू होता है वहाँ कर से सकल आगम उपभोक्ता की बचत की हानि की अपेक्षा अधिक हो सकता है। बाउन्टी से उपभोक्ता की बचत बढ जायेगी। बढती हुई प्राप्ति के नियम या वृद्धि प्रत्याय नियम (law of increasing returns) में कर अधिक हानिकारक तथा बाउन्टी अधिक लाभदायक होती है। कर उपभोक्ता की बचत मे राज्य की आय से अधिक कमी कर देता है तथा बाउन्टी उपभोक्ता की बचत मे राज्य से दी हुई रकम से अधिक वृद्धि कर देती है।

(३) एकाधिकार मूल्य के सिद्धान्त में महत्त्व (Importance in the theory of monopoly Value)—इसी प्रकार एक व्यवसायी अथवा एकाधिकारी (monopolist) को ज्ञात हो जाएगा कि यदि वस्तु से उपभोक्ताओं को अतिरिक्त सन्तुष्टि मिलती है तो वह कीमतों म सरलता से वृद्धि कर सकता है। यदि आवश्यकता पडे तो उपभोक्ता अधिक भी देने को तैयार हो जाएँगे। वास्तव मे किसी व्यवसायी के लिए यह उचित न होगा कि कीमत को इतना बढा दे कि समस्त बचत समाप्त हो जावे। वह इस सीमा तक कठिन सौदा न करेगा। वह अपने ग्राहको की ख्याति को बढाना तथा निभाए रखना चाहेगा और इसलिए समझौते की नीति पर अमल करेगा।

(४) उपभोग-मूल्य तथा विनिमय-मूल्य में भेद (Distinction between value in-use and value in-exchange)—हम जानते हैं कि एक वस्तु का

1 Marshall, A —Principles, Book V, Ch. XIII.

प्रचलित मूल्य उसकी उपयोगिता अथवा उपयोग मूल्य से भिन्न होता है। नमक, दियासलाई जैसी वस्तुओं का उपयोग-मूल्य अधिक है परन्तु उनका विनिमय-मूल्य बहुत कम है। ऐसी वस्तुओं में उपभोक्ता की बचत अधिक होती है क्योंकि इनके लिए हम जो कुछ देते हैं उससे कहीं अधिक देने को तैयार रहते हैं। उपभोक्ता की बचत कुल उपयोगिता अर्थात् उपयोग मूल्य पर निर्भर है और यह उपयोग मूल्य अथवा विनिमय मूल्य के अन्तर को स्पष्ट कर देता है। अत उपभोक्ता की बचत का सिद्धान्त स्पष्टत उपयोग मूल्य और विनिमय मूल्य के बीच का अन्तर स्पष्ट कर देता है। उपभोक्ता की बचत वहाँ अधिक है जहाँ उपयोग-मूल्य अधिक है चाहे विनिमय मूल्य थोड़ा भी क्यो न हो।

(५) उपभोक्ता की बचत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभ को नापती है (Consumer's surplus measures the benefits from international trade)—दूसरे देश से व्यापार करने से हम कुछ वस्तुएँ जो सस्ती होती हैं बाहर से मँगाते हैं। बाहर से मँगाने से पहले हम उसी प्रकार की वस्तुओं के लिए अधिक देते थे। वे हमको अतिरिक्त सन्तुष्टि देती हैं जिसको हम इस प्रकार माप कर सकते हैं—वह मूल्य जो हम देने के लिए तैयार थे, तथा वह मूल्य जो हम वास्तव में देते हैं, उसका अन्तर ही उस सन्तुष्टि का माप होगा। जितनी अधिक यह बचत होगी उतना ही लाभदायक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होगा।

१४ उपभोक्ता का प्रभुत्व (Sovereignty of the consumer)[1]—पूँजीवाद अथवा अबाध प्रतियोगिता (free competition) म उपभोक्ता की तुलना एक सम्राट् से की गई है। समस्त उत्पादक यन्त्र उसकी प्रभुता के अन्दर कार्य करते मान गए है। उसके मन की लहरें उसका पक्षपात तथा उसकी इच्छाएँ उत्पादन के संसार पर शासन करती हैं। आधुनिक उद्योग के उद्यमी उसके गुलाम हैं और उसकी आज्ञा पालन करने वाले एजेंट हैं। यदि उपभोक्ता प्रसन्न है तो उद्यमी भी प्रसन्न तथा सौभाग्यशाली होंगे और यदि उपभोक्ता असन्तुष्ट है तो उद्यमी के भी भाग्य पर ताला लग जाएगा। इस प्रकार उपभोक्ता को आर्थिक जगत का सम्राट् कहा गया है।

पहले जमाने मे उपभोक्ता का अधिकार स्पष्ट था। उपभोक्ता जूतों, कपड़ो इत्यादि का आर्डर करता था और बनाने वाला केवल आज्ञा का पालन सच्चाई से करता था। उपभोक्ता को जो वह चाहता या मिलता था। वह नि सन्देह सम्राट् था।

परन्तु आधुनिक उत्पादक आज्ञानुसार कार्य नही करता। वह कार्य का पहले से अनुमान करता है। उद्यमी का यह कार्य है कि वह चतुराई से यह अनुमान लगाए कि कौनसी वस्तुओं से उपभोक्ता अधिक सन्तुष्ट होगा। परन्तु यहाँ भी उपभोक्ता के अधिमानों (preference) का पूरा प्रभाव पड़ता है। यदि उद्यमी उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं का ठीक-ठीक चतुरतापूर्वक अनुमान नही लगा सकता अथवा उसकी स्थिर की हुई कीमतें उपभोक्ता के अनुकूल नही हैं तो उसकी वस्तुओं की बिक्री नही होगी।

पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में ऐसे उद्यमी ही सफल होंगे जो उपभोक्ताओं को सबसे

1 See Benham, F—Economics

अधिक सन्तुष्ट रखते हैं। "व्यापक उपभोग सर्वमताधिकार की भाँति है। यह नियन्त्रण का एक लोकप्रिय साधन है। उपभोग के लिए केवल इस गुण की आवश्यकता होगी कि उसका अपनी आय पर अधिकार हो जिससे कि वाछनीय वस्तुएँ प्राप्त होगी। आर्थिक चुनाव में एक उपभोक्ता उतने वोट डालता है जितने डालर कि उसके पास खर्च करने के लिए हो। यदि आर्थिक नियोजकगण अपना रुपया आवश्यकताओ की अपेक्षा खिलौनो पर तथा शुद्ध अथवा सुन्दर वस्तुओ की अपेक्षा बनावटी अथवा भद्दी वस्तुओ पर व्यय करना चाहते हैं तो ऐसी ही वस्तुओ का उत्पादन किया जाएगा। हमारी उद्योग सम्बन्धी क्रियाएँ उपभोक्ता के चुनाव पर चाहे वह चतुर हो अथवा मूढ, निर्भर हैं और उसी की इच्छाओ पर व्यवसाय की क्रियाओ का सचालन होता है। यह एक बिजली के सरकिट को रोकने (close the electric circuit) के समान है, जो कि ऐसी धारा पैदा करे जिससे कि उत्पादन का यन्त्र तीव्र गति से चालू हो सके।"[1] प्रत्येक आर्थिक क्रिया का मौलिक कारण उपभोक्ता की आवश्यकताओ की सन्तुष्टि है।

१५ उपभोक्ता के प्रभुत्व की सीमाएँ (Limitations on Consumer's Sovereignty)—उपभोक्ता इतना निरकुश सम्राट् नही है जैसा कि वह माना गया है। अधिक-से-अधिक हम उसको एक वैधानिक अथवा सीमित सम्राट् कह सकते हैं। वैधानिक सम्राट् प्रजा पर शासन करता है, किन्तु उसे अपना दास मात्र नही बनाता। हमारे उपभोक्ता सम्राट् के प्रभुत्व पर कुछ कडे प्रतिबन्ध हैं।

(क) उसके प्रभुत्व पर सबसे आवश्यक रोक उसकी आय का आकार है। वस्तुएँ उसकी आज्ञानुसार नही चलती जब तक कि वह द्रव्य के कोडे का प्रयोग नही करता। उपभोक्ता असली घी चाहता है पर भुगतान के साधन न होने के कारण उस को डालडा से ही सन्तुष्ट रहना पडता है।

(ख) उपभोक्ता की सन्तुष्टि उन वस्तुओ पर निर्भर है जो बाजार में मिलती हैं। कुछ भौतिक सीमाएँ भी हैं। वास्तविक उत्पादन किसी समय के औद्योगिक ज्ञान पर निर्भर है और यन्त्रकला का विकास उपभोक्ता की इच्छाओ से पीछे रहता है। हम ध्वनि-रहित रेलगाडियाँ चाहते हैं, परन्तु हम उस समय तक ठहरना होगा जब कि यन्त्रकला का विकास न हो ले। उपभोक्ता के अधिमान समय पर मिलने वाली वस्तुओ से सदैव आगे ही रहते हैं।

(ग) उच्च कोटि की बिक्री कला तथा बराबर विज्ञापन होने से उपभोक्ता की वास्तविक इच्छाओ में सुधार होता है। प्रचार का यन्त्र उपभोक्ता की रुचि का नियन्त्रण करने तथा बनाने म लगाया जाता है। अतएव उनको जो कुछ वह खरीदते हैं उससे कुछ भिन्न खरीदने का प्रोत्साहन मिलता है।

(घ) एकाधिकारी भी उपभोक्ता पर नियन्त्रण रखता है। आधुनिक काल में सघ अथवा गुटबन्दी की ओर प्रवृत्ति है। कुछ फर्मो का व्यवसाय अथवा उत्पादन पर

---

1 Kiekhofer, W. H —Economic Principles Problems and Policies, (1936), p 652

अधिकार हो जाता है। फिर वे उपभोक्ताओं से, जिनका कीमत तय करने मे तथा उत्पादन पर कोई प्रभाव नहीं होता, मनमाने दाम लेती हैं।

(ङ) साथ ही सरकारी नियन्त्रण भी हैं जिनसे हम भली भांति परिचित हैं। साधारण समय में भी सरकार कुछ मादक वस्तुओं का या तो निषेध कर देती है या उनके उपभोग पर रोक-टोक लगा देती है। सरकार उत्पादन की प्रगति पर प्रभाव डाल सकती है। इसके अतिरिक्त सरकार स्वयं ही सबसे बड़ी उपभोक्ता है और इस लिए कीमत तय करने पर और वस्तुओं के उत्पादन की श्रेणी पर प्रभाव डाल सकती है।

(च) उपभोक्ता का स्वभाव भी उसको जकड़ देता है और वह अपने बँधे हुए उपभोग की श्रेणियों से हटना नहीं चाहता। अतएव चुनाव की स्वतन्त्रता का प्रयोग नहीं किया जा सकता।

(छ) उपभोक्ता के चुनाव पर समाज के वातावरण तथा रूढ़ियों का भी निषेधक प्रभाव पड़ता है। अतएव उपभोक्ता की असीमित स्वतन्त्रता केवल एक कल्पना है।

(ज) उपभोक्ता साधारणतया अज्ञानी होते हैं और वे यह नहीं जानते कि उनके लिए क्या उत्तम है। उनका अन्ध चुनाव उनके स्वार्थ के अनुसार नहीं होता। अतएव अल्प ज्ञान उपभोक्ता की प्रभुत्व शक्ति म एक और बाधा है। यदि उपभोक्ता को देव कहे, तो वह अवश्य ही एक अन्धा देव होगा।

(झ) प्रमाणीकृत वस्तुओं की उत्पत्ति बिना व्यक्तियों की रुचि का ध्यान रखते हुए यह सिद्ध करती है कि आधुनिक आर्थिक पद्धति इस बात का पूरा ध्यान नहीं रखती कि उपभोक्ता क्या लेना चाहेगा। उपभोक्ताओं को एक झुण्ड में मिला दिया जाता है और वह समुदाय की भाति मान जाते हैं, सम्राट् के समान नहीं। उन्हें वस्तुत भेड़ों के झुण्ड के समान माना जाता है।

निर्देश पुस्तकें

Wicksteed P. H   Commonsense of Political Economy, Vol 1.
Wicksell K   Lectures on Political Economy Vol 1
Erich Roll   Elements of Economic Theoric
Hicks J R   Value and Capital
Marshall, A   Principles of Economics
Boulding, K E   Economic Analysis (1949), ch 29
Cairncross A   Introduction of Economics
Benham, F   Economics
Review of Economic Studies, 1941 43 (Symposium on Consumer's Surplus).
Meyers, A L   Elements of Modern Economics (1951) ch 7. (for Indifference Curves)
Stigler, G J   Theory of Price (1949), pp 67 85.
Fraser L M   Economic Thought and Language (1947), ch X
Stonier and Hague   A Text book of Economic Theory (1953), ch III

अध्याय ६

माँग

(Demand)

१ माँग (Demand)—माँग तथा इच्छा (desire) अथवा आवश्यकता (need) में भेद करना जरूरी है। एक बीमार बच्चे को टॉनिक (बलवर्द्धक औषधि) की आवश्यकता (need) होती है तथा एक चपरासी को एक रेडियो रखने की इच्छा (desire) होती है। परन्तु ऐसी आवश्यकताएँ तथा इच्छाएं माँग नही होती। उस समय जबकि इच्छा करने वाला मनुष्य जो कुछ चाहता है उसके लिए भुगतान करने के योग्य और तैयार है (willing and able to pay), तो इच्छा माँग म परिवर्तित हो जाती है। चैपमैन (Chapman) के शब्दो म "माँग अधिमानो की मात्रिक अभिव्यक्ति है।"[1]

माँग सदैव किसी कीमत (price) पर होती है। "किसी वस्तु की एक दी हुई कीमत पर माँग उसकी वह मात्रा है जो समय की प्रति इकाई से उस कीमत पर खरीदी जाएगी।"[2] इसका अभिप्राय केवल यह है कि एक व्यक्ति किसी दी हुई कीमत पर एक वस्तु की जितनी मात्रा को खरीदने के लिए तैयार हो जाएगा किसी दूसरी कीमत पर वह भिन्न मात्रा खरीदेगा, कम कीमत पर अधिक और अधिक कीमत पर कम खरीदेगा। माँग के बारे म बिना कीमत के निर्देश दिए हुए कुछ भी कहना निरर्थक है। इसके अतिरिक्त माँग सदैव समय की प्रति इकाई में ही मापी जाती है चाहे वह प्रति दिन, प्रति सप्ताह, प्रति माह अथवा प्रति वर्ष हो।

विक्रेता के दृष्टिकोण स माँग कीमत (demand price) वह औसत आय है जो वह उस इकाई की बिक्री से कमाता है। अत माग कीमत तथा औसत राजस्व एक-सी हैं।

यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि कोई भी माग पृथक् (isolated) नही होती। चीजो की माँग एक व्यवस्था (system) के अन्तर्गत होती है। उदाहरणार्थ विद्यार्थी को अकेले पुस्तक की जरूरत नही होती, उसे किताबें तथा स्टेशनरी आदि का सामान भी चाहिए। हम चीजें ग्रुप (group) म चाहिएँ। व्यक्ति के रहन-सहन (standard of living) से माग की व्यवस्था चलती है।

२ माँग अनुसूची (Demand Schedule)—भिन्न-भिन्न कीमतो पर खरीदी हुई अथवा माँगी हुई मात्रा की सूची माँग अनुसूची कहलाती है। माँग अनुसूची (वक्र)

1 'Demands are the quantitative expressions of preferences

—Chapman

2 'The demand for anything at a given price is the amount of it which will be bought per unit of time at that price

—Benham F Economics (1943), P 36

कीमत तथा मांगी गई मात्रा मे कृत्य सम्बन्ध (functional relationship) बताता है। निम्नलिखित एक व्यक्ति ए की सेवों की मांग अनुसूची है।

कीमत प्रति दर्जन रुपया	मांगी हुई मात्रा (दर्जनों मे)
७	१
६	२
५	३
४	४
३	६
२	८
१	१०

मांग अनुसूची द्वारा व्याख्या किए गए नियम को कीमत के बढने पर घटते हुए या ग्राह्यासी उपभोग का नियम (law diminishing consumption) कहते हैं।[1]

किसी एक व्यक्ति की मांग को निश्चित करने वाले तत्त्वों को समझना आवश्यक है। व्यक्तिगत मांग को निश्चित करने वाले तत्त्व हैं (i) व्यक्ति की आय, (ii) उस का स्वभाव अथवा अभिमान, (iii) कीमत का तल, (iv) प्रतिस्थापित वस्तुओं की कीमत तथा (v) सामाजिक रीतियाँ।

सारे बाजार की मांग अनुसूची समस्त भावी खरीदारों की उन मात्राओं के जोडने से प्राप्त होती है जो कि भिन्न भिन्न मूल्यों पर वे खरीदने को तैयार हैं। मान लिया बाजार म ५ खरीदार (बेचने वालों के सहित) अ, ब, स, द तथा इ हैं और उनकी सेवों की मांग अनुसूचियाँ इस प्रकार हैं—

कीमत प्रति दर्जन	मांग मात्रा दजनो मे					योग
रु०	अ	ब	स	द	इ	
७	१	३	०	०	०	४
६	२	४	१	०	०	७
५	३	५	३॥	॥	०	१२
४	४	५॥	४	१	॥	१५
३	६	७	५	३	२	२३
२	८	८	६	४	३	२९
१	१०	११	८	५	४	३८

अन्तिम पंक्ति बाजार की कुल मांग मिलाकर दिखाती है। पहली तथा अन्तिम पंक्तियाँ मिलाकर बाजार की मांग अनुसूची बनाई जाती है।

बाजार की मांग अनुसूची बनाने में यह मान लिया जाता है कि मांग की दिशाएँ अर्थात् उपभोक्ता का स्वभाव, आय तथा अन्य वस्तुओं की कीमतें नहीं बदलती।

1 Samuelson, P A—Economics (1948), p 44°.

परिवर्तन केवल उस विशिष्ट वस्तु की कीमत म होता है । परन्तु ऐसा बहुत कम होता है । फिर भी माँग अनुसूची अधिकतर वास्तविक होती है ।

उपर्युक्त जैसी काल्पनिक अनुसूची का खीचना तो बहुत सरल है, परन्तु एक व्यक्ति की माँग-अनुसूची तैयार करना एक कठिन समस्या है । मण्डी की अनुसूची बनाना तो असम्भव-सा ही है । लोगो के लिए यह कहना सरल नही है कि वह भिन्न-भिन्न कीमतो पर कितना खरीदेंगे । अधिक-से-अधिक यह उनका अनुमान ही होगा ।

बाजार की माँग-अनुसूची व्यक्तिगत माँग-अनुसूची से अधिक सतत (continuous) तथा सपाट (smooth) होती है । एक व्यक्ति अनिश्चित ढग मे व्यवहार कर सकता है । परन्तु वे सब अनिश्चित ढग समुदाय के निरूपण म समाप्त हो जाते हैं ।

यह बडी सावधानी से समझ लेना चाहिए कि बाजार की माँग अनुसूची केवल व्यक्तियो की माँग तालिका का जोड नही होती । एक माँग की दूसरी पर प्रतिक्रिया होती है । अतएव बाजार तालिका व्यक्तियों की अनुसूचियो के जोड के बजाय बाजार के व्यवहार (behaviour of the market) को बतलाती है ।

बाजार की तथा व्यक्तिगत माँग-अनुसूची पर समय का बडा प्रभाव पडता है । यदि उपभोक्ता को बदली हुई कीमत के साथ अपनी माँग को व्यवस्थित करने का समय मिल जाता है, तो उसकी माँग अधिक लोचदार (elastic) हो जाएगी । दूसरे, विचार के लिए समय जितना ही अधिक होगा उतना ही उस पर अनुमान अथवा भावी कीमत का प्रभाव पडेगा ।

यद्यपि माँग की ठीक अनुसूची तैयार करना बहुत कठिन है, तो भी इसका यह तात्पर्य नहीं कि माँग अनुसूची का कोई उद्देश्य नहीं है । हम मात्राओं की वह पूर्ण सूची जिसको हम भिन्न भिन्न मूल्यों पर खरीदेंगे, देने में असमर्थ हो सकते हैं । लेकिन प्रचलित कीमत की कुछ सीमाओं में हम सदैव यह भली भाँति विचार कर सकते हैं कि कीमत म परिवर्तन होने पर हम कितना खरीदेंगे और वास्तव म यही ता महत्त्व रखता है ।

इस रूप में विचार करने से माँग अनुसूची का महत्त्व अधिक बढ जाता है । वित्तमन्त्री को यह सोचना पडता है कि यदि कर लगाने से किसी वस्तु की कीमत बढ जाती है, तो लोग कहाँ तक अपनी खरीदारी कम कर देंगे । बिना ऐसी गणना के आय-व्यय (budget) का तैयार करना असम्भव होगा । एकाधिकारी (monopolist) को भी अधिकाधिक अपनी आय की खोज में उपभोक्ताओं की प्रतिक्रियाओं पर जो कि कीमतों के साथ परिवर्तित होती हैं, विचार करना ही होगा ।

३ माँग-वक्र (Demand Curve)—माँग की अनुसूची को एक वक्र में भी दिखाया जा सकता है जिसको माँग-वक्र कहते हैं । सेबों की मण्डी की माँग का वक्र अगले पृष्ठ पर दिया गया है ।

माँगी हुई मात्राएँ (दर्जनों में) OX पर मापी गई हैं तथा कीमत (रुपयों में) OY पर । यदि OX रेखा के मात्रा स्पष्ट करने वाले बिन्दुओं तथा OY की कीमत

स्पष्ट करने वाले बिन्दुओ से लम्ब रेखाएँ खीची जाएँ तो इन लम्ब रेखाओ के मिलने के बिन्दु एक वक्र रेखा पर होगे। मांग अनुसूची से प्रस्तुत की हुई दशाओ मे सेबो की मांग का वक्र इससे प्रतीत होगा।
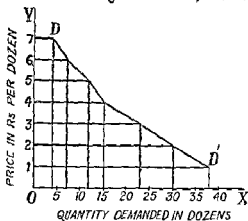
चित्र १६

वक्र बाएँ से दाहिने को उपयोगिता वक्र की भांति तिरछा है और यह दिखाता है कि जब कीमत गिरती है तो मांग की मात्रा बढती है और विपरीत रूप से जब कीमत बढती है तो मांग की मात्रा घटती है। मांग वक्र एक स्थिर स्थिति प्रस्तुत करता है। यह किसी समय के दौरान मे परिवर्तन नहीं बतला सकता। आप किसी एक दी हुई कीमत पर मांग मालूम कर सकते है। दूसरे आवश्यक तथ्यो को भी शामिल किया गया है।

ऊपर खीची हुई मांग-वक्र की कुछ धारणाओ (assumptions) को समझ लेना आवश्यक है—

(i) यह कल्पना की गई है कि उपभोक्ता के स्वभाव में, किसी भी फैशन अथवा मौसम के कारण, कोई परिवर्तन नही होता।

(ii) यह भी कल्पना की गई है कि उपभोक्ता की आय समान बनी रहती है।

(iii) यह भी मान लिया गया है कि उन वस्तुओ की कीमतो मे, जिनमें उपभोक्ता का स्वार्थ होता है, कोई परिवर्तन नही होता।

(iv) कीमत-मांग के सम्बन्ध मे क्रम अथवा लघु अन्तर (continuity and infinitesimal variations) मान लिया गया है, यद्यपि कभी कभी मांग एकदम बदल सकती है जबकि कीमत में बहुत थोडा सा परिवर्तन होता है। मांग-वक्र इन 'अविरल' (discontinuous) अथवा अलग परिवर्तनों को स्वीकार नही करता।

(v) यह कल्पना की गई है कि मांग अति लघु इकाइयो में बदली जा सकती है। परन्तु यह कल्पना वास्तविक नही है। अविभाज्य (indivisible) वस्तुओ का मांग-वक्र बराबर तथा सतत (निरन्तर) नही होगा। वह अविरल होगा।

(vi) यह भी मान लिया गया है कि कोई अकेला खरीदार कीमत को प्रभावित करने की स्थिति म नही होता। उसको कीमत को स्थिर मानकर अपनी खरीदारी को व्यवस्थित करना पडेगा। दूसरे शब्दो म, हम पूर्ण प्रतियोगिता की कल्पना करते है तथा एकाधिकार (monopoly) की स्थिति को अस्वीकार करते हैं।

४ मांग-वक्र नीचे क्यो झुकता है ? (Why does Demand Curve slope downwards ?)—साधारणतया मांग का वक्र नीचे झुकता है। यह आह्रासी

या घटती हुई उपयोगिता के नियम के अनुकूल है। हमारे बहुत से क्रय इस नियम से निश्चित होते हैं। जब कीमत गिरती है तो नए खरीदने वाले बाजार म खरीदना प्रारम्भ कर देते हैं। और सम्भव है पुराने खरीदार भी अधिक खरीदें। चूँकि यह वस्तु सस्ती हो गई है, इसलिए कुछ लोग दूसरी वस्तुओं की अपेक्षा इसे अधिक खरीदेंगे। केवल ऐसे ही झुकाव वाले वक्र म हमको कीमत की छोटी रेखाएँ मात्रा की कक्ष रेखा लम्बे टुकडो को काटती हुई मिलती हैं। यदि ह्रासी उपयोगिता का नियम सच है और यह साधारणत. सच ही होता है, तो वक्र रेखा को नीचे की ओर झुकना चाहिए। क्योंकि तभी गिरती हुई कीमतो के साथ बढती हुई माँग की घटना प्रस्तुत की जा सकती है।

कीमत के गिरने पर लोगो के अधिक खरीदने के तीन स्पष्ट कारण हैं—

(i) द्रव्य की इकाई बढ जाती है, जिससे एक व्यक्ति अधिक खरीद सकता है।

(ii) जब कोई वस्तु सस्ती हो जाती है तो लोगो का अधिक खरीदना स्वाभाविक होता है।

(iii) जब कोई वस्तु सस्ती हो जाती है तो उसका उपयोग दूसरी वस्तुओं के स्थान मे किया जा सकता है। अत उस वस्तु के पुराने क्रेता पहले से अधिक खरीदते हैं और उसके नए क्रेता बन जाते हैं। इन सबका प्रभाव यह होता है कि जब कीमत गिरती है तो माँग बढ जाती है।

परन्तु हमको थोडा गहराई म जाकर यह मालूम करना चाहिए कि अन्य बातो के पूर्ववत् रहने पर जब कीमत गिरती है तो माँग क्यो बढती है।[1] बेन्हम (Benham) ने इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया है—प्रत्येक उपभोक्ता अपनी सीमित द्रव्य की मात्रा से अधिक-से अधिक सन्तुष्टि प्राप्त करना चाहता है। अपने अधिमान माप को जानते हुए वह प्रतिस्थापन नियम तथा सम सीमान्त प्राप्ति नियम (law of substitution and equi-marginal returns) के अनुसार अपने व्यय की इस प्रकार व्यवस्था करेगा कि आखिरी इकन्नी तक से जिसे वह भिन्न भिन्न वस्तुओ पर व्यय करता है, बराबर सीमान्त उपयोगिता प्राप्त हो। यदि कीमतें समान रहती हैं तो वह इस व्यवस्था को चालू रखेगा। परन्तु यदि उस वस्तु की कीमत गिरती है जोकि उसकी वस्तुओ और सेवाओ के चुनावो म है तो उसको अपने व्यय म उसके अनुरूप परिवर्तन करना पडेगा। कीमत के गिरने से सीमान्त उपयोगिता तथा कीमत के बीच भिन्नता उत्पन्न हो जाती है जिसे दूर करना होगा। यह वस्तु की अधिक मात्रा खरीदने से हो सकता है ताकि उसकी सीमान्त उपयोगिता कीमत के बराबर हो जाए। यही कारण है कि मनुष्य कीमत गिरने पर अधिक खरीदते हैं।

अपवादस्वरूप माँग-वक्र (Exceptional Demand Curves)—कभी-कभी माँग-वक्र नीचे झुकने की अपेक्षा ऊपर को उठेगा। दूसरे शब्दो में, मूल्य बढने पर कभी कभी लोग अधिक भी खरीदेंगे। यह केवल ऊपर बढते हुए वक्र से प्रस्तुत किया जा सकता है। ऐसी घटनाएँ बहुत कम होती है परन्तु हम कुछ का अनुमान कर सकते है। इनकी परीक्षा सबसे पहले सर राबर्ट गिफेन (Sir Robert Giffen) ने की थी।

1 See Benham, F—Economics (1943), pp 42 43

उनके अनुसार माँग कीमत के बढ़ने से दृढ़ होती है तथा उसके गिरने से कमजोर होती है। बेन्हम (Benham) ने चार स्थितियाँ बतलाई हैं—[1] (१) यदि अधिक कमी (serious shortage) की सम्भावना है तो मनुष्य भयभीत होकर बढ़ती हुई कीमत पर भी खरीदेगा। ऐसी स्थिति कीमतों के अत्यधिक चढ़ाव पर आती है। (२) यदि किसी वस्तु के उपयोग करने से उसकी व्यक्तिगत प्रतिष्ठा का प्रदर्शन होता है तो धनी मनुष्य इस कारण कीमत बढ़ने पर भी अधिक खरीदेंगे ताकि वे कुछ प्रसिद्ध व्यक्तियों में गिने जा सकें। इसके विपरीत, यदि माल रद्दी किस्म का हो तो लोग खरीदना बन्द कर देते हैं। (३) कभी-कभी कुछ उपभोक्ता अज्ञान के कारण बढ़े हुए मूल्य पर अधिक मात्रा में खरीदते हैं। (४) यदि एक जीवन-रक्षक पदार्थ का मूल्य बढ़ जाता है तो उपभोक्ता को अपना सारा व्यय फिर से व्यवस्थित करना पड़ेगा। वह दूसरे खाने की वस्तुओं पर अपना व्यय कम करके उसको पूरा करने के लिए उस विशेष खाद्य-पदार्थ पर अधिक व्यय करेगा। अतएव उसकी कीमत ऊँची होने पर भी अधिक मात्रा में खरीदी जाएगी।

५ माँग का नियम (The Law of Demand)—अब हम इस अवस्था में हैं कि माँग का नियम प्रस्तुत कर सकें। यह केवल माँग की मात्रा तथा कीमत के सम्बन्ध को बताता है। यह बताता है कि माँग कीमत के विपरीत परिवर्तित होती है पर यह आवश्यक नहीं है कि वह उसी अनुपात से बदले। यदि मूल्य गिरता है तो माँग बढ़ेगी तथा इसके विपरीत भी ऐसा ही होगा। इसको इस प्रकार भी कह सकते हैं 'किसी वस्तु अथवा सेवा की कीमत में वृद्धि होने से माँग में कमी हो जाती है और कीमत में कमी होने से माँग में वृद्धि हो जाती है बशर्ते कि माँग की स्थितियाँ एक-सी रहें"। या 'किसी निश्चित समय में किसी वस्तु अथवा सेवा की माँग प्रचलित कीमत पर ऊँची कीमत की अपेक्षा अधिक है और नीची कीमत की अपेक्षा कम है।"[2]

"किसी निश्चित समय में" अथवा यदि "माँग की स्थितियाँ एक-सी रहें" जैसे वाक्य बहुत महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि माँग पर उन बहुत सी बातों का प्रभाव पड़ता है जिनका अभी विवेचन किया जाएगा और इनमें से कोई भी प्रभाव नियम को निष्फल बना सकता है।

यह भी कहा जा सकता है कि परिवर्तन एक अनुपात में नहीं होता। यदि कीमत १०% घटती है, तो यह आवश्यक नहीं है कि माँग १०% ही बढ़ेगी। हम केवल यह कह सकते हैं कि जब कीमत घटती है तो माँग बढ़ जाएगी लेकिन यह नहीं कह सकते कि कीमत कितनी बढ़ जाएगी। यह माँग की लोच (elasticity) पर निर्भर है जिसका कि हम अभी विवेचन करेंगे।

नियम की सीमाएँ (Limitations of the Law)—फिर भी माँग के नियम के कुछ अपवाद हैं। दूसरे शब्दों में ऐसी भी स्थितियाँ हैं जबकि कीमत के बढ़ने घटने से माँग नहीं घटती-बढ़ती। ये स्थितियाँ अपवादस्वरूप (ऊपर बढ़ते हुए) माँग वक्रों

---

1 See Benham F—Economics (1943), pp 4" B.

2 Thomas, S E—Elements of Economics, pp 52 53

द्वारा बतलाई गई है। यह नियम तभी तक सच होगा जब तक कि माँग की स्थिति उसी प्रकार रहती है। नियम के सच होने के लिए निम्नलिखित स्थितियों का होना आवश्यक है[1] —

(i) उपभोक्ता का स्वभाव न बदलना चाहिए।

(ii) उपभोक्ता की आय वही होनी चाहिए।

(iii) दूसरी वस्तुओं की कीमतें न बदलनी चाहिएँ।

(iv) उसकी बजाए कोई नई वस्तु प्रयोग में न होनी चाहिए।

(v) कीमत में कोई परिवर्तन की आशा न होनी चाहिए।

(vi) वह प्रतिष्ठा भेद का प्रतिपादन करने वाली वस्तु न होनी चाहिए। हो सकता है ये स्थितियाँ एक-सी न बनी रहें। इसलिए यह नियम भी सच न बना रहे।

६ माँग में परिवर्तन (Changes in Demand)—माँग का नियम माँग तथा कीमत में सम्बन्ध बताता है। यदि कीमत बढ़ती है तो माँग घटती है। तथा इसके विपरीत भी ऐसा ही होता है। परन्तु जब कीमत घटती और बढ़ती है तो माँग के साथ प्रयोग किए हुए वृद्धि और कमी (Increase and Decrease) शब्द पूर्णतया ठीक नहीं समझे जाते। इसे माँग का विस्तार तथा सकुचन (Extension and Contraction) कहना चाहिए। हमको एक ओर विस्तार तथा वृद्धि (Extension and Increase) और दूसरी ओर सकुचन तथा कमी (Contraction and Decrease) के अन्तर को समझना चाहिए।

हम माँग के विस्तार तथा सकुचन शब्दों का प्रयोग तभी करते हैं जबकि केवल कीमत में परिवर्तन होने पर माँग में परिवर्तन होता है। उपभोक्ता निष्क्रिय-सा (Passive) है। वह विशेषकर कीमत से ही प्रभावित होता है। उसकी माँग अनुसूची स्थायी है और उसके अनुरूप एक वक्र भी है, जैसा कि आगे के रेखाचित्र में दिखाया गया है, वह केवल उसी वक्र के ऊपर-नीचे चलता है।

उपभोक्ता DD' वक्र रेखा पर चलता है। यह उसका वह रास्ता है जो उसकी अधिमान माप (scale of preferences) से बनता है। PQ कीमत पर वह OQ मात्रा खरीदेगा। यदि कीमत P'Q' हो जाती है तो वह OQ' मात्रा क्रय करेगा तथा यदि वह P''Q'' तक बढ़ जाती है तो उसकी माँग घटकर OQ'' हो जाती है और यह क्रम ऐसे ही चलता है। यदि कीमतें घटती हैं तो उपभोक्ता पीछे हटने लगता है। उसने अपने स्वयं अधिमान बना रखे हैं और अब वह पूर्णतया कीमत द्वारा सचालित है। यह माँग का विस्तार अथवा सकुचन कहलाता है।

चित्र १७

1. इसी अध्याय के अनुच्छेद 3 को देखिए।
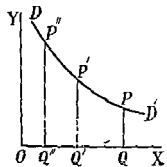
अब माँग की वृद्धि को लीजिए। यहाँ उपभोक्ता अपनी माँग को स्थिर कर लेता है, यह कीमत से पृथक् अपनी माँग को बढाता या घटाता है। वह सक्रिय भाग लेता है। उसकी घरेलू आवश्यकताएँ तथा स्थितियाँ उसको मार्ग दिखाती हैं। एक व्यक्ति की आय अथवा उसकी पारिवारिक आवश्यकताओ में वृद्धि हो सकती है। अतएव माप का एक नवीन अधिमान होना आवश्यक हो जाएगा। इस स्थिति में उपभोक्ता पुराने वक्र पर नही, वरन् एक नवीन वक्र पर चलेगा।

उदाहरणार्थ जब दूध की कीमत ६ आने सेर से घटकर पाँच आने सेर हो जाती है और उपभोक्ता चार सेर के बजाय पाँच सेर रोज दूध खरीदने लगता है तो इसको माँग का विस्तार (extension) कहेंगे। परन्तु यदि वह कीमत वही रहने पर भी ४ सेर की अपेक्षा ५ सेर खरीदने को तैयार है अथवा वही पुरानी मात्रा कीमत के बढने पर भी खरीदता है तो वह माँग की वृद्धि (increase of demand) कहलाएगी। इन दोनो स्थितियो मे वह पहले से अधिक खर्च करने को तैयार है परन्तु माँग को बढाने से खर्च मे कोई वृद्धि नही हो सकती क्योंकि वह कम कीमत पर अधिक मात्रा खरीदता है। सारांश यह है कि "माँग के बढाव से अभिप्राय कम कीमत पर अधिक मात्रा से है और माँग की वृद्धि से अभिप्राय या तो उसी कीमत पर अधिक मात्रा से है या अधिक कीमत पर उसी मात्रा से। इसी भाँति माँग के सकुचन (contraction) से अभिप्राय अधिक कीमत पर कम मात्रा मे है और माँग की कमी से अभिप्राय या तो उसी कीमत पर कम मात्रा से अथवा कम कीमत पर उसी मात्रा से है।" वे आगे के रेखाचित्र द्वारा प्रस्तुत किए जा सकते हैं।

चित्र १८ माँग की वृद्धि प्रस्तुत करता है। OX कक्ष रेखा पर मनो मे मात्राएँ और OY पर मूल्य प्रति मन रुपयो मे नापे गए हैं। माँग मे परिवर्तन होने से पहले ५) रु० प्रति मन पर (PM) माँग २० मन (OM) प्याज की माँग की थी। अब मान लीजिए कि वही २० मन बढी हुई कीमत ६½ रु० प्रति-मन (P″M) पर माँगे गए हैं अथवा ५)रु० के मूल्य पर (PM=p′m′) माँग ३० मन (OM′) है। ये बिन्दु P″ तथा P′ एक नए माँग वक्र पर (D′D′) पर हैं जो माँग की वृद्धि प्रकट करते हैं।
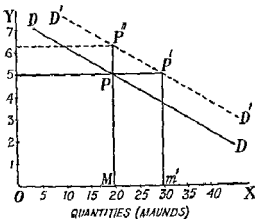
चित्र १८

चित्र १९ माँग मे कमी की व्याख्या करता है। परिवर्तन से पहले माँग ५ (MP) पर २० (OM) मन है। यदि माँग मे परिवर्तन होने पर ५)रु० (PM=P′M′) की उसी कीमत पर माँग १० (OM′) मन हो जाए अथवा ४) (P″M) प्रति

मन पर मांग २० मन (=OM) हो जाय तो बिन्दु P′ और P″ एक मांग के नए वक्र D′D′ पर होंगे जो मांग की कमी प्रकट करेंगे।

मांग में क्यों परिवर्तन होता है (Why Demand Changes)—यह स्पष्ट है कि मांग म परिवर्तन से हमारा अभिप्राय केवल उसके विस्तार अथवा सकुंचन से नही है। दूसरी ओर हमारा अभिप्राय यह है कि मांग की परिस्थितियों (conditions) में ही परिवर्तन होता है। उपभोक्ता के अधिमान माप मे परिवर्तन है। ऐसा परिवर्तन कीमत के बदले से नही होता। दूसरी ओर ऐसे बहुत से कारण हैं जो कि मांग म परिवर्तन लगते है। वे उपभोक्ता के अधिमान माप पर प्रभाव डालते हैं और उसे अपनी मांग अनुसूची बदलने के लिए विवश करते हैं।

मांग की कमी

चित्र १९
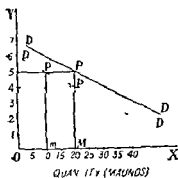
निम्नलिखित कुछ ऐसे कारण हैं जो मांग मे परिवर्तन करते हैं—

(i) **रुचि और फैशन में परिवर्तन (Changes in Tastes and Fashions)**—चाय पीने के स्वभाव म वृद्धि ने दूध की मांग को घटा दिया है। पहनावे म परिवर्तन होने से भिन्न प्रकार के कपडो की मांग मे परिवर्तन हो जाता है। महिलाओ के लम्बे या छोटे बाल रखने के फैशन से बालो की चिमटियां, बालो के जाल इत्यादि की मांग में परिवर्तन हो जाता है।

(ii) **जलवायु तथा मौसम में परिवर्तन (Climate or Weather Changes)**—यह स्पष्ट है कि मांग म ऋतु के साथ-साथ परिवर्तन होना चाहिए। जाडे मे गरम कपडो, कुछ प्रकार की बलवर्द्धक औषधियो तथा कोयला और लकडी की मांग अधिक हो जाती है। गर्मियो मे बिजली के पखो, ठण्डे शर्बतो तथा बर्फ की मांग हो जाती है।

(iii) **जनसख्या में परिवर्तन (Changes in Population)**—राष्ट्रमण्डल के देश तथा अमरीका भारतीयो को अपने देशो म स्वतन्त्र प्रवेश करने की स्वीकृति दें तो यह आशा है कि वहां भारत से उत्प्रवास (emigration) शुरू हो जाएगा। यदि भारतीय खाने-पहनने मे या अपने रहन-सहन की रीतियो पर स्थिर रहे तो वहां ऐसी वस्तुओ की मांग हो जाएगी।

केवल उपभोग करने वाली जनसख्या के आकार म परिवर्तन ही नही वरन् जनसख्या की बनावट के अन्तर्गत परिवर्तन भी कुछ वस्तुओं और सेवाओं की मांग पर प्रभाव डालता है। भारतवर्ष जैसे जन सख्या वृद्धि वाले देश म जहां बडे-बडे शहरो म प्रतिदिन सैकडो बच्चे पैदा होते हैं वहां खिलौनो, दूध पिलाने वाली बोतलों, निपिल, बच्चो की गाडियो इत्यादि की मांग स्वाभाविक ही होगी।

(iv) **द्रव्य की मात्रा में परिवतन (Changes in the quantity of Money Stock)**—जहां मुद्रा प्रसार (inflation) है, अतिरिक्त द्रव्य समुदाय की

क्रय शक्ति को बढा देगा और कीमत बढ जाएगी। परन्तु कीमतो म वृद्धि प्रत्यक वस्तु में एक-सी नही होगी। लोगो को अपने व्यय की फिर से व्यवस्था करनी पडेगी। कुछ वस्तुओ की माँग घट जाएगी और कुछ की बढ जाएगी। उदाहरणार्थ शक्कर की कमी से देशी शक्कर और गुड की माँग बढ गई और बिजली की कमी से मिट्टी के तेल के चिरागों की माँग बढ गई।

(v) वास्तविक आय में परिवर्तन (Changes in Real Income)—यहाँ ऊपर दी हुई घटना के विपरीत अर्थात् कीमत के गिरने की घटना है। यहाँ द्रव्य-आय (money-income) अर्थात् मुद्रा की वह मात्रा जो एक व्यक्ति पैदा करता है, तथा वास्तविक आय जिसका अभिप्राय पदार्थ और सेवाओं की उस मात्रा से है जो वह द्रव्य की मात्रा से खरीद सकता है, अन्तर किया जाता है। औद्योगिक उन्नति के समय सस्ते पदार्थों का उत्पादन बढ जाता है। मुद्रा की क्रय शक्ति बढ जाती है या यो कहिए कि वास्तविक आय बढ जाती है। पदार्थों की वही मात्रा खरीदने के लिए कम द्रव्य की आवश्यकता होगी। और इस भाँति जो द्रव्य बचेगा उससे दूसरी वस्तुएँ खरीदी जाएँगी। माँग अनुसूचियाँ फिर से बनानी होगी। कुछ पदार्थों को हटा दिया जा सकता है और पूर्णतया नए पदार्थ खरीदे जा सकते हैं। कुछ पदार्थों की माँग घट जाएगी और कुछ की बढ जाएगी।

(vi) आय वितरण में परिवर्तन (Change in Income Distribution)—सार्वजनिक-वित्त के द्वारा, उदाहरणार्थ धनियो पर कर लगाकर तथा निर्धनों पर द्रव्य व्यय करके धन का वितरण होता है। व्यय-शक्ति म परिवर्तन होता है। इससे माँग पर अवश्य ही प्रभाव पडेगा। उस माल की कीमत बढ जाएगी, जिसे उस वर्ग के लोग खरीदते हं जिनकी क्रय शक्ति (purchasing power) बढी हुई है, और इस के विपरीत भी ऐसा ही होगा।

(vii) सचय में परिवर्तन (Change in Savings)—पदार्थों की उपभोक्ता की सचय करने की शक्ति (propensity to save) म परिवर्तन होने से भी प्रभावित होती है। अधिक सचय होने से पदार्थों के खरीदने के लिए कम द्रव्य रह जाता है। इसलिए माँग घट जाएगी।

(viii) सम्पत्ति अधिमानों में परिवर्तन (Changes in Asset Preferences)—यह पूर्णतया स्पष्ट है कि यदि एक उपभोक्ता का द्रव अधिमान (liquidity preferences) अधिक बढ जाता है तो उसके पदार्थों की माँग म परिवतन हो जाएगा। उसकी माँग घट जाएगी।

(ix) एक-दूसरे से सम्बद्ध माँग वाले पदार्थ (Goods with inter-Connected demand)—चाय तथा कॉफी जैसी प्रतिस्थापन वाली वस्तुओं में एक के उपभोग म वृद्धि से दूसरे की माँग म कमी हो जाएगी। घोडा और गाडी जैसे पूरक वस्तुओ म एक की माँग म वृद्धि दूसरे की माँग को बढा देगी।

गेहूँ और भूसा जैसी सयुक्त पूर्ति (joint supply) मे एक की माँग में वृद्धि से दूसरे की कीमत कम हो जाएगी और इस प्रकार उसकी माँग भी कुछ समय पश्चात् बढ जाएगी।

सामासिक माँग (composite or joint demand) में मकान जैसी अन्तिम वस्तु की माँग की वृद्धि से उसके बनाने की आवश्यक वस्तुओं की माँग भी बढ़ जाएगी।

सामासिक पूर्ति (composite supply)—उदाहरणार्थ बिजली, गैस अथवा मिट्टी के तेल से प्राप्त किए हुए प्रकाश म से किसी एक के सस्ते होने पर दूसरो की माँग घट जाएगी।

सामासिक माँग, उदाहरणार्थ, पीने, धोने, नहाने इत्यादि के लिए जल के प्रयोग मे से किसी एक के विस्तार अथवा सकुचन से जल की माँग म यथायोग्य *परिवर्तन हो जाएगा।*

अस्तु, एक वस्तु की माँग केवल उसकी कीमत पर ही नहीं वरन् दूसरी वस्तुओं की कीमतों पर भी निर्भर है।

(५) व्यापार की व्यवस्थाएँ (Conditions of Trade)—व्यापार की उन्नति के समय प्रत्येक वस्तु की माँग कीमतों मे वृद्धि होते हुए भी अधिक होती है। इसके विपरीत दूसरी ओर मन्दी क समय म माँग म सामान्य शिथिलता होती है।

माँग की लोच (Elasticity of Demand)—हमने माग के नियम का अध्ययन किया है और *यह देखा है कि माग और कीमत म विपरीत सम्बन्ध है।* कीमत मे परिवर्तन (घटाव या बढाव) से माँग म भी परिवर्तन (विस्तार, बढाव या सकोच घटाव) हो जाता है। माँग का यह गुण जिससे कीमत में परिवर्तन होने से यह बढती घटती है माँग की लोच कही जाती है। "लोच शब्द माँग और कीमत के बीच परस्पर सम्बन्ध प्रकट करता है।" यह वह दर (rate) है जिस पर कीमत म परिवर्तन होने से *माँग की मात्रा बदलती है। माँग की लोच यह सकेत करती है कि कीमत का परिवर्तन* माँग की प्रतिकारिता (responsiveness) बताता है। वास्तविकता यह है कि माँग की लोच सापेक्ष (relative) परिवर्तन का वह माप है, जो किसी निर्दिष्ट माँग वक्र मे होने वाले सापेक्ष कीमत परिवर्तन के प्रतिकार म माल खरीदता जाता है।"[1] श्रीमती जोन राबिनसन (Mrs John Robinson) ने यथार्थ रूप म इसकी परिभाषा इस प्रकार की है, "माँग की लोच, किसी कीमत अथवा पैदावार पर खरीदी गई मात्रा का वह अनुपाती परिवर्तन है जो कीमत म थोड़े हेर-फेर को कीमत में अनुपाती परिवर्तन से भाग देने पर होता है।"[2]

परन्तु माँग म परिवर्तन सदैव कीमत के परिवर्तन के अनुपात म नहीं होगा। कीमत म थोड़े परिवर्तन से माँग में अधिक परिवर्तन हो सकता है। इस स्थिति म हम कहेंगे कि माँग लोचदार या सचेत अथवा प्रतिकारी (responsive) है। दूसरी ओर यदि कीमत मे अधिक परिवर्तन होने से माँग म केवल थोड़ा परिवर्तन होता है

---

1 "The elasticity of demand is a measure of the relative change in amount purchased in response to a relative change in price on a given demand curve Meyers, A L —Elements of Modern Economics (1951) p 67

2 The elasticity of demand at any price or at any output is the proportional change of amount purchased in response to a small change in price divided by the proportional change of price '—Robinson, (Mrs) J The Economics of Imperfect Competition (1945) P 18

तो उसको बेलोचदार मांग कहते हैं। उदाहरणार्थ, यदि नमक की कीमत मे अधिक परिवर्तन भी हो जाता है तो भी हम उसकी लगभग वही मात्रा खरीदते रहते हैं। ऐसी मांग बेलोचदार (inelastic demand) कहलाती है। परन्तु यदि रेडियो की कीमत गिर जाती है, तो बहुत से व्यक्ति जो पहले उसको नही खरीद सकते थे, अब उसको खरीदने के लिए प्रोत्साहित हो जायेंगे। इस दशा में माँग बढ जाएगी, अथवा विस्तृत हो जाएगी अर्थात् वह लोचदार मांग होगी। मार्शल (Marshall) के शब्दो मे "माँग की लोच (elasticity) या प्रतिकारकता (responsiveness) बाजार मे उतनी ही कम या ज्यादा कही जाएगी जितनी कि मांगी हुई मात्रा कीमत के एक निर्दिष्ट उतार पर, कम या ज्यादा बढती है और कीमत के एक निर्दिष्ट चढाव पर, ज्यादा या कम घटती है।"[1]

तो भी शायद ही कोई वस्तुएँ हो जिनकी मांग बिलकुल बेलोचदार (inelastic) हो। मांग कीमत के परिवर्तनो से पूर्णतया अप्रभावित (insensitive) नही हो सकती। मांग को बेलोचदार कहने की अपेक्षा हम को कम लोचदार (less elastic) कहना चाहिए। लोच तो केवल डिग्री मात्र ही है।

मांग मे वृद्धि इन कारणों से ही हो सकती है जबकि कीमत गिरने पर वर्तमान खरीदार अधिक खरीदने लगे या नये खरीदार खरीदना आरम्भ कर दें। आमतौर पर शक्तिशाली (Potential) खरीदार ही मांग को लोचदार बनाते हैं। उदाहरणार्थ, जब गेहूँ की कीमत गिर जाती है तो वर्तमान खरीदारो की अधिक खरीद से नही वरन् नये खरीदारो की बढी हुई खरीद के कारण ही गेहूँ की अधिक बिक्री होती है।

आय सम्बन्धी प्रभाव (The Income Effect)—यह प्रभाव उपभोक्ता की सन्तुष्टि में होने वाले परिवर्तनो से सम्बन्धित है जो उसकी आय मे परिवर्तन के फलस्वरूप होते हैं, लेकिन कीमत वैसी ही बनी रहती है। परन्तु यदि कीमतें इस प्रकार बदलें कि आय में होने वाले परिवर्तन से उस पर कोई भी अच्छा-बुरा प्रभाव नही पडता, तो यह प्रतिस्थापन प्रभाव (Substitution effect) कहलाएगा।

७ आय लोच तथा कीमत लोच (Income Elasticity and Price Elasticity)—आय लोच (income elasticity) की परिभाषा इस प्रकार हो सकती है (आ० लो)—

$$\text{आ० लो०} = \frac{\text{माल की खरीद मे अनुपाती परिवर्तन}}{\text{आय में अनुपाती परिवतन}}$$

चूंकि आय प्रभाव (income effect) प्राय क्रियात्मक (Positive) होता है, इसी तरह आय लोच (income elasticity) भी क्रियात्मक होती है। जब आय म परिवर्तन से खरीद (Purchases) मे कोई परिवर्तन नही होना तो यह शून्य (zero) होता है और जब आय में वृद्धि के साथ उपभोक्ता खरीद कम कर देता है तो यह अक्रियात्मक (negative) होता है, अर्थात् रद्दी माल के सम्बन्ध में मांग की कीमत लोच (price elasticity of demand) तथा माँग की आय लोच (income

1 The elasticity (or responsiveness) of demand in a market is great or small according as the amount demanded increases much or little for a given fall in price and diminishes much or little for a given rise in price —Marshall

elasticity of demand) के अन्तर को ध्यान से समझ लेना चाहिए। माँग की कीमत लोच (price elasticity of demand) और माँग की आय सम्बन्धी लोच (income elasticity of demand) के बीच के भेद को समझ लेना आवश्यक होगा। माँग की लोच (price elasticity) माँग की प्रतिकारकता अथवा सचेतता (responsiveness of sensitiveness) में कीमत में होने वाले (कम) परिवर्तनों को मापती है; आय लोच (income elasticity) खरीदार की आय मे होने वाली प्रतिकारकता (responsiveness) की ओर निर्देश करती है। पहले का सकेत खर्च प्रभाव (expenditure effect) की ओर है, दूसरे का सकेत आय प्रभाव (income effect) की ओर है। उपभोक्ता अपेक्षाकृत महँगे माल की जगह अपेक्षाकृत सस्ता माल लेगा वह विषय उपभोक्ता की आय म क्षतिपूर्ति अन्तर (compensating variation) कहलाता है।

जब कि कीमते बदलती है और द्रव्य आय स्थिर रहती है, तो भी उपभोक्ता पर अच्छा या बुरा असर हाता है, ऐसे प्रभाव को कीमत प्रभाव (price effect) कहते हैं। इससे खरीदारी तथा वास्तविक आय को फिर से ठीक करना पडगा और उपभोक्ता पर अच्छे या बुरे प्रभाव को बदलना होगा। इस प्रकार आय प्रभाव (income effect) भी होगा। यह आय प्रभाव तथा प्रतिस्थापन प्रभाव (substitution effect) का मेल (combination) कहलाता है।

यह ध्यान देने योग्य है कि जहाँ तक अकेले दुकानदार तथा दुकान का सवाल है उत्पादन (product) के लिए माँग बहुत लोचदार होती है यद्यपि कुल मिलाकर उत्पादन के लिए माँग बेलोचदार (inelastic) हो सकती है। दूसरो की निस्बत अपनी कीमत कम करके वह अपने उत्पाद की माँग म वृद्धि कर सकता है। इस प्रकार माँग वक्र क्षैतिज (horizontal line) होगा।[1] विभिन्न माल की माँग के माप में य दोनों लोच (elasticities) पर्याप्त रूप से सहायक हैं। इस प्रकार यह कराधान (taxation) के माप म भी सहायक होता है।

हम एक दूसरे पद (term) को भी समझ लेना चाहिए अर्थात् सकरण लोच (cross-elasticity)। यहाँ एक वस्तु की कीमत म परिवर्तन हाने से दूसरे की माँग में परिवर्तन हो जाता है। माँग की सकरण लोच (cross elasticity)

$$= \frac{\text{Y की खरीद म अनुपाती परिवर्तन}}{\text{X की कीमत में अनुपाती परिवतन}}$$

८ **माँग की लोच का ह्रासी उपयोगिता के नियम से सम्बन्ध (Relation of Elasticity of Demand with the Law of Diminishing Utility)**—माँग की लोच का सिद्धान्त घटती हुई या ह्रासी उपयोगिता के नियम से सम्बद्ध है। सीमान्त उपयोगिता पूर्ति (supply) के अनुसार बदलती है। जब पूर्ति बढ़ती है यह गिरती है और जब पूर्ति घटती है तो यह बढती है। परन्तु प्रत्यक वस्तु की सीमान्त उपयोगिता म कमी एक-सी नहीं होती। नमक जैसी कुछ वस्तुओं म हम तुरन्त ही

१ रेखाचित्र के लिए हमारी पुस्तक "Refresher Course in Economic Theory" के अध्याय ६ को देखिए।

सन्तुष्ट हो जाते हैं और सीमान्त उपयोगिता तुरन्त गिर जाती है। इन स्थितियों में माँग बेलोचदार होती है और मूल्य में कोई भी कमी हम को अधिक क्रय करने को प्रोत्साहित नही कर सकती। कुछ दूसरी स्थितियों में सीमान्त उपयोगिता धीरे-धीरे गिरती है, उदाहरणार्थ विलासिताएँ। ऐसी वस्तुओं की कीमतों में कमी से माँग अवश्य बढ़ेगी। अतएव ऐसी वस्तुओं की माँग लोचदार होगी। संक्षेप में, माँग बेलोचदार होती है जब कि सीमान्त उपयोगिता शीघ्रता से गिरती है और लोचदार होती है जब कि वह धीरे-धीरे गिरती है।

९ माँग की लोच तथा उपभोक्ता की बचत (Elasticity of Demand and Consumer's Surplus)—माँग के स्वरूप का प्रभाव उपभोक्ता की बचत की मात्रा पर भी पड़ता है। अनिवार्यताओं तथा प्रतिष्ठा-रक्षक आवश्यकताओं की माँग बेलोचदार होती है। उनकी कीमत बाजार में बहुत कम होती है। परन्तु उपभोक्ता उनके लिए, जो वास्तव में भुगतान करते हैं, उससे अधिक देने को तैयार रहते हैं। जो कुछ वे देने को तैयार हैं और जो कुछ वे वास्तव में देते हैं, उनका अन्तर उपभोक्ता की बचत (consumer's surplus) बताता है। अतएव हम कह सकते हैं कि जब माँग बेलोचदार है तो उपभोक्ता की बचत अधिक होती है और वह जब लोचदार है तो कम।

१०. माँग की लोच कैसे निर्धारित होती है (What determines Elasticity of Demand)—पदार्थों का वर्गीकरण उनकी माँग के स्वभाव के अनुसार करना तथा यह निर्धारित करने के लिए दृढ़ नियम बनाना कि माँग लोचदार या बेलोचदार है, सम्भव नही है। परन्तु हम इस सम्बन्ध में साधारण नियम बना सकते हैं। लोच एक सापेक्षिक (relative) शब्द है। किसी व्यक्ति के लिए अथवा एक स्थान पर माँग लोचदार हो सकती है तथा दूसरे के लिए दूसरे स्थान पर यह बेलोचदार हो सकती है। इस महत्त्वपूर्ण शर्त के आधीन हम निम्नलिखित नियम प्रस्तुत कर सकते हैं।

(i) अनिवार्यताओं तथा प्रतिष्ठा-रक्षक आवश्यकताओं के लिए माँग बेलोचदार अथवा कम लोचदार होती है (For necessaries and conventional necessaries, the demand is inelastic or less-elastic)—हम ऐसी वस्तुओं को चाहे जो कुछ कीमत हो अवश्य एक बंधी मात्रा में खरीदते हैं। भारत जैसे निर्धन देश में तो, नमक जैसी वस्तु की माँग भी कुछ लोचदार होती है। १९२३ में नमक-कर को दूना करने से नमक का उपभोग कम हो गया था। गेहूँ के मूल्य में परिवर्तन उच्च तथा मध्यम वर्ग के लिए सारहीन हो सकता है, परन्तु निर्धनों में उसका उपभोग मूल्य गिरने पर अवश्य ही बढ़ेगा।

यह अवश्य याद रखना चाहिए कि गेहूँ जो जीवन-रक्षक पदार्थ है उसकी माँग चाहे बेलोचदार हो किन्तु प्रतिस्पर्द्धी बाजार में किसी विशेष उद्योग की वस्तुओं की माँग अत्यधिक लोचदार हो सकती है। यदि उस वस्तु की कीमत तनिक भी बढ़ाई जाती तो उसकी माँग प्राय समाप्त भी हो सकती है।

(ii) विलासिताओं की माँग लोचदार होती है (Demand for luxuries is elastic)—यह ठीक प्रतीत होता है कि रेडियो, रेफरीजरेटर तथा सुन्दर लकड़ी

के सामान के मूल्य में कमी से उनकी बिक्री में वृद्धि हो जाएगी। परन्तु वृद्धि कौन करेगा ? वास्तव म धनी नही। उनके लिए ये वस्तुएँ प्रतिष्ठारक्षक आवश्यकताएँ हैं। वे उनको अवश्य ही खरीदेंगे और एक बार खरीदने के बाद वे दुबारा नही खरीदेंगे चाहे जितनी भी कीमत क्यो न हो। अतएव इनकी माँग धनिक वर्ग के लिए लोचदार नही है। गरीबो के लिए विलासिता की वस्तुओं की माँग लोचदार है।

यहाँ भी हम साधारणीकरण नही कर सकते। विलासिता एक सापेक्ष शब्द है। निर्धन की कीमती विलासिता धनी के लिए कम कीमत वाली आवश्यकता होती है। एक वस्तु एक देश म विलासिता हो सकती है और दूसरे म अनिवार्यता। प्राचीन काल की विलासिताएँ आधुनिक काल की अनिवार्यताएँ बन गई हैं। इस भाँति एक ही वस्तु के लिए कुछ मनुष्यो की माँग लोचदार तथा दूसरो की बेलोचदार हो सकती है।

(iii) प्रतिस्थापन वाली वस्तुओं की माँग लोचदार होती है (For substitutes the demand is elastic)—"माल की कीमतो म परिवर्तन होने पर भी उनकी माँग म अन्तर इस कारण रहता है कि कुछ वस्तुओं के लिए दूसरी वस्तुओं की बजाए, स्पर्द्धी वस्तुएँ (competitive substitutes) मिल जाती हैं।" जब चाय की कीमत बढ जाती है, हम उसकी खरीद को घटा सकते हैं और कॉफी को खरीद सकते हैं तथा इसके विपरीत भी ऐसा कर सकते हैं। कीमत म परिवर्तन होने से माँग म विस्तार या सकुचन हो जाएगा।

तो भी बहुत कम ऐसी वस्तुएँ हैं जो ठीक प्रतिस्थापन कर सकती हैं। कॉफी चाय के पूर्णतया समान नही है। इटली, अमरीका तथा अर्जेण्टाइना म जूट के प्रतिस्थापन (substitute) करने के प्रयत्न किए गए है परन्तु वे अधिकतर निष्फल रहे हैं।

(iv) विभिन्न उपयोगो वाले पदार्थों की माँग (Demand for goods having several uses)—ऐसे पदार्थों की माँग लोचदार होती है। कोयला एक ऐसी ही वस्तु है। जब यह सस्ता हो जाता है तो यह खाना पकाने, गरम करने और व्यवसाय सम्बन्धी कार्यों म प्रयोग किया जाता है और इस प्रकार उसकी माँग बढ जाती है। परन्तु जब कीमत बढ जाती है तो वह केवल आवश्यक उपयोगो म ही लाया जाएगा और कम खरीदा जाएगा। अतएव माँग घट जाएगी।

(v) सयुक्त माँग वाली वस्तुएँ (Jointly demanded goods)—सयुक्त माँग म लोच बहुत कम होती है। यदि गाडी के दाम गिर जाएँ और घोडे के दाम ऊँचे रहे तो गाडी की माँग म कोई विशेष वृद्धि न होगी।

(vi) उन पदार्थों की माँग जिनका उपयोग टाला जा सकता है लोचदार होती है (Demand for goods the use of which can be postponed, is elastic)—हम में से अधिक मनुष्यो ने लडाई के समय अपने क्रय को जहाँ तक हो सका टाला। उदाहरणार्थ, मकान बनाना, फर्नीचर खरीदना अथवा कई गर्म सूट रखना। जब यह सस्ते होते हैं हम इनकी अधिक मात्रा खरीदते हैं। अतएव उनकी माँग लोचदार होती है।

(vii) लोच कीमतो के स्तर पर भी निर्भर है (Elasticity also depends on the level of prices)—यदि कोई वस्तु बहुत मँहगी अथवा बहुत सस्ती है तो उसकी माँग बेलोचदार होगी। यदि कीमत बहुत ऊँची है तो इसम कमी होने से माँग अधिक न बढेगी। दूसरी ओर यदि यह बहुत कम हो, तो मनुष्य जितनी चाहते हैं उतनी ही खरीद लेंगे। यदि कीमत इससे अधिक गिरती है तो माँग मे कोई वृद्धि नही होगी। मार्शल के शब्दो में—"माँग की लोच ऊँची कीमतो के लिए अधिक होती है, मध्यम कीमतो के लिए अधिक अथवा विशेष होती है और जैसे कीमत घटती जाती है, वैसे ही लोच भी घटती जाती है और यदि कीमत इतनी गिरे कि सन्तुष्टि की सीमा आ जाए तो लोच धीरे-धीरे लुप्त हो जाएगी।"[1]

(viii) एक ही वस्तु की माँग कुछ उपयोगों के लिए बेलोचदार हो सकती है। उदाहरणार्थ मनुष्यो के खाने के लिए गेहूँ और कुछ दूसरे उपयोगों के लिए लोचदार हो सकता है जैसे मवेशियो को खिलाने के लिए गेहूँ।

(ix) माँग की लोच आय के साथ भी परिवर्तित होती है (Elasticity also varies with incomes)—निर्धन व्यक्तियों की माँग, कीमत परिवर्तन से अधिक बदलती है। अपनी थोडी आय से अधिकतम लाभ उठाने के लिए, उनको कीमतो के साथ साथ अपनी खरीदारी में परिवर्तन करने के लिए सचेत रहना पड़ता है। दूसरी ओर धनी पुरुष कीमतो की ओर विशेष ध्यान नही देते और उसमें परिवर्तन होने पर वस्तुओ की वही मात्रा खरीदते रहते हैं। निर्धन मनुष्य को सस्ती वस्तुओ की ओर झुकना पड़ता है पर धनी मनुष्य को ऐसा करने की कोई आवश्यकता नही होती। उसकी सामर्थ्य वही खरीदने की बनी रहती है जो कुछ वह खरीद रहा है।

उपर्युक्त विवेचन इस मत को दृढ करता है कि कोई ऐसा नियम बनाना सम्भव नही है कि कौनसी वस्तु लोचदार माँग रखती है और कौन बेलोचदार। जब हम यह जानना चाहते है कि माँग लोचदार अथवा बेलोचदार है, तो हमें यह निर्णय कर लेना चाहिए कि किस श्रेणी के मनुष्य के सम्बन्ध मे हम यह जानना चाहते हैं।

११ लोच की माप (Measurement of Elasticity)—व्यवहारिक प्रयोजनो में केवल यह जानना ही पर्याप्त नही है कि माँग लोचदार है या बेलोचदार। यह मालूम करना अधिक उपयोगी है कि यह किस सीमा तक लोचदार है। इस प्रयोजन के लिए इसको मापना आवश्यक है।

चाहे जितनी भी कीमत हो, और लोग बिलकुल एक-सी मात्रा खरीदते रहे, तो लोच शून्य होगी। इसका अभिप्राय यह है कि चाहे जितनी ऊँची कीमत हो, वे इस मात्रा को अवश्य ही खरीदेंगे, अथवा कीमत चाहे जितनी कम हो, वे कुछ और खरीदने के लिए प्रोत्साहित नही किए जा सकते। ऐसी माँग पूर्णतया बेलोचदार है। दूसरी सीमा यह है कि जब कीमत में थोडी-सी भी वृद्धि होती है तो आगे खरीदारी पूर्ण रूप से बन्द हो जाती है। यहाँ लोच अनन्त (infinite) कही जाती है अर्थात् वह पूर्णतया

1 Marshall A —Principles of Economics (1936) p 103

लोचदार है। इन दो सीमाओं के बीच म माँग की लोच की अनेक विभिन्न डिग्रियाँ (varying degrees) होंगी।

लोच की माप की दो रीतियाँ (methods) बतलाई गई हैं —

पहली रीति—कीमत मे अन्तर होने से पहले और बाद में खरीदार की कुल खरीद की तुलना करना (अथवा कुल रेवेन्यु की अर्थात् विक्रेता की दृष्टि से वेच के कुल मूल्य (value) की) माँग की लोच तीन प्रकार से बतलाई जाती है—(१) एकता या एकीय लोच (unity or unitary elasticity), (२) एकता से अधिक और (३) एकता से कम। जब कीमत मे परिवर्तन होने पर कुल व्यय की मात्रा (या कुल रेवेन्यु) एक ही रहती है तब लोच सम (unity) या एक मानी जाती है। कीमत की वृद्धि खरीद म कमी से ठीक सतुलित (balanced) हो जाती है तथा इसका ठीक उल्टा भी इसी प्रकार होता है। एक आयतन हाइपरबोला (rectangular hyperbola) लोच की इकाई बताता है।

दो कीमतो के बीच लोच एकता (unity) से अधिक कही जाती है जब कीमत के गिरने से कुछ व्यय की मात्रा बढती है अथवा कीमत म वृद्धि होने से कुल व्यय की मात्रा घट जाती है।

दो कीमतो के बीच लोच सम या एकता (unity) से कम कही जाती है जब कीमत में वृद्धि से कुल व्यय की मात्रा बढ जाती है और मूल्य म कमी होने से घट जाती है।

यह निम्न अनुसूची से स्पष्ट हो जाएगा—

	(१) पेंसिलो का मूल्य प्रति दर्जन	(२) माँग की गई मात्रा	(३)=(१)×(२) कुल व्यय (रेवेन्यु)
१	रु० १ ५० न० पै०	३ दर्जन	रु० ४ ५० न० पै०
२	,, १ २५ ,,	४ ,,	,, ५ ०० ,,
३	,, १ ०० ,,	५ ,,	,, ५ ०० ,,
४	,, ० ७५ ,,	६ ,,	,, ४ ५० ,,
५	,, ० ६२ ,,	७ ,,	,, ४ ३४ ,,
६	,, ० ५० ,,	८ ,,	,, ४ ०० ,,

(१) और (२) के बीच मे लोच एकता (unity) से अधिक है क्योंकि कीमत बढने से कुल व्यय की मात्रा घटती (कुल रेवेन्यु) और कीमत गिरने से बढती है। (२) और (३) के बीच म एकता है क्योंकि कुल व्यय की मात्रा (कुल रेवेन्यु) एक सी रहती है। (४) और (५) के बीच म लोच एकता से कम है क्योंकि कुल व्यय की मात्रा (कुल रेवेन्यु) मूल्य बढने से बढती है और गिरने से गिरती है। मार्शल के शब्दो में "यदि माँग की लोच माल की तमाम कीमतो की एकता (unity) के समान है तो कीमत में कोई भी कमी से खरीदे गए माल की मात्रा के अनुपात म वृद्धि होगी। और, इसलिए कुल व्यय (total outlay) मे जो खरीदार माल के खरीदने म खर्च करते हैं कोई परिवर्तन नही होगा।"[1] एक वक्र जो सब कीमतो पर

1 Marshall A —Principles p 839

स्थिर कुल व्यय (constant total outlay) बताता है और जहाँ वक्र में लोच एकता (unity) है तो इसे आयतन आकार का हाइपरबोला (rectangular hyperbola) कहते हैं। ऐसे मामलों को छोड़कर कोई भी वक्र सारी लम्बाई में लोच नहीं दिखाता। प्रायः वक्र भिन्न बिन्दुओं पर भिन्न लोच प्रदर्शित करता है।

दूसरी रीति—दूसरी रीति में हम कीमत में प्रतिशत परिवर्तन की माँग की प्रतिशत परिवर्तन से तुलना करते हैं। माना कीमत ५० प्रतिशत बढ़ जाती है। यदि माँग ५० प्रतिशत घट जाती है तो लोच एकता (unity) रहती है; यदि यह ५० प्रतिशत से अधिक घट जाती है तो वह एकता से अधिक होती है, और यदि यह ५० प्रतिशत से कम घटती है तो लोच एकता से कम है।

सूत्र इस प्रकार है—

$$\text{माँग की लोच} = \frac{\text{माँगी गई मात्रा में अनुपाती परिवर्तन}}{\text{कीमत में अनुपाती परिवर्तन}}$$

$$= \frac{\text{माँगी गई मात्रा में परिवर्तन}}{\text{माँगी गई मात्रा}} \div \frac{\text{कीमत में परिवर्तन}}{\text{कीमत}}$$

प्रतीक (symbols) के अनुसार,[1]

$$(\text{ल}) = \frac{\frac{\triangle \text{म}}{\text{म}}}{\frac{\triangle \text{क}}{\text{म}}} = \frac{\triangle \text{म}}{\triangle \text{क}} \cdot \frac{\text{क}}{\text{म}}$$

जिसमें— (ल) = लोच
म = मात्रा
क = कीमत
△ = मात्रा में लघु (infinitesimal) परिवर्तन अथवा कीमत में लघु परिवर्तन

माँग की लोच सदैव नकारात्मक (negative) होती है, यद्यपि पद्धति के अनुसार उसे सकारात्मक (positive) समझा जाता है। इसलिए तो (ल) सदैव शून्य से कम होगी यदि माँग वक्र रीति विरुद्ध, अर्थात् दाएँ से बाएँ को ऊपर की ओर झुकती हुई नहीं है।

१२ माँग की लोच का रेखाचित्र द्वारा वर्णन (Diagrammatic Representation of Elasticity of Demand)[2]—इन दो रेखाचित्रों में DD' माँग वक्र है। एक रेखाचित्र में लोच शून्य है और दूसरे में लोच अपार है। शून्य तथा अनन्त के समान लोच केवल सैद्धान्तिक ही है। पहले में DD OY के और दूसरे में OX के समानान्तर है। लोच जितनी ही कम होगी है, माँग वक्र शून्य वाली वक्र से उतनी ही समीप होती है और लोच जितनी ही अधिक होती है माँग वक्र अनन्त वाली वक्र से उतनी ही समीप होती है। सिर्फ
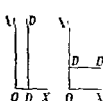
चित्र २०

1 Stigler G J—Theory of Price (1949 p 52
2. For an advanced version see Stigler, pp 51 54

इन्ही दो वक्रो मे लोच सभी बिन्दुग्रो (points) पर समान होगा। दूसरे वक्रो मे, भिन्न बिन्दुग्रो पर लोच भिन्न है जैसा कि रेखाचित्र २१ मे दिखाया गया है। चूंकि लोच सदैव बिन्दु पर होती है न कि वक्र मे।

माँग की लोच के नापने की एक ग्रौर रीति भी है। नीचे के माँग वक्र को लीजिए। नीचे DD' एक सीधी माँग वक्र है लोच भिन्न ग्रक द्वारा प्रस्तुत किया जाता है वक्र पर किसी बिन्दु से D' तक की दूरी — उसी बिन्दु से D तक की दूरी। ग्रतएव बिन्दु P_1 P_2 P_3 पर माँग की लोच—
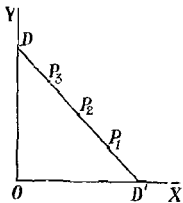
$$\frac{D'P_1}{DP_1},\ \frac{D'P_2}{DP_2} \text{ and } \frac{D'P_3}{DP_3}$$

क्योकि P_2 वक्र के बीच म है,

$$\text{ग्रत: } \frac{D'P_2}{DP_2} = 1$$

चित्र २१

इसलिए, लोच एकता (unity) है। यह भी दीख पडता है कि लोच वक्र के निचले बिन्दु पर ऊँचे बिन्दु की ग्रपेक्षा एकता से कम है।[1]

यदि इस पर भी माँग वक्र सीधी रेखा मे नही है, तो उपर्युक्त सूत्र लागू होगा। लेकिन फिर भी एक टेंजेंट (स्पर्श-रेखा) को वक्र पर कीमत बिन्दु के स्थान मे खीचना पडेगा जहाँ लोच को मापा जाता है। इसको निम्न रेखाचित्र मे दिखाया गया है।

DD' माँग वक्र है तथा दो स्पर्श रेखाएँ (tangents) PM तथा P'M' क्रमश TT' बिन्दुग्रो पर खीची गई हैं। T बिन्दु पर लोच (elasticity) $\frac{TM}{PT}$ के समान होगा। यह स्थिति तब तक लागू होगी जब तक स्पर्श रेखा तथा वक्र परस्पर मिलते हैं ग्रर्थात् कम से कम थोडे ग्रन्तर के लिए (for an infinitesimally short distance)। यदि P बिन्दु से जुदा होना है तो एक नई स्पर्श रेखा खीचनी पडेगी ग्रौर उसी के ग्रनुसार लोच निश्चित करनी होगी।
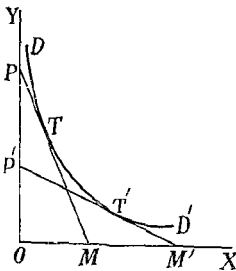
चित्र २२

1. हमारी पुस्तक 'Refresher Course" के ग्रध्याय ६ को देखिए।

T' बिन्दु पर लोच $=\frac{T'M'}{PT'}$

इससे यह स्पष्ट है कि T बिन्दु पर T' बिन्दु की अपेक्षा अधिक लोच है।

वक्र के ढाल और माँग की लोच को स्पष्ट समझने में गड़बड़ी न करनी चाहिए। वक्र का झुकाव लोच की मात्रा का परिचायक नहीं है। ऊपर के रेखाचित्र २२ में माँग वक्र DD' का झुकाव उतना ही है किन्तु उसके भिन्न बिन्दुओं पर भिन्न लोच दिखाया गया है। यदि लोच और ढाल परस्पर जुड़े हुए होते तो लोच सब जगह स्थिर (constant) होती। लेकिन ऐसा नहीं है। माँग कीमत अक्ष (OY) के पास लोचदार है, और D बिन्दु के पास एकीय आधे मार्ग (unity half way) तक, अर्थात्, P_2 बिन्दु पर, और मात्रा अक्ष (quantity axis) के पास बेलोचदार है, अर्थात् D' बिन्दु के पास। क्योंकि लोच पूर्ण परिवर्तन पर नहीं बल्कि प्रति सैंकड़े परिवर्तन पर निर्भर रहती है इसलिए यह वास्तव में कीमत से सम्बन्धित वक्र की कीमत मात्रा अनुपात[1] पर निर्भर रहती है।

नीचे के रेखाचित्र २३ में वक्र BP और AP के भिन्न झुकाव हैं, तो एक दी हुई कीमत पर उनकी एक ही लोच (elasticity) है। मान लीजिए कि OM कीमत है। अक्ष X–axis रेखा के समानान्तर रेखा खींचो जो BP को R बिन्दु पर काटे और AP को S बिन्दु पर काटे। अब हम कहेंगे कि वक्र BP की लोच बिन्दु R पर $\frac{BR}{RP}$ है, उसी प्रकार वक्र AP की लोच S बिन्दु पर $\frac{AS}{SP}$ है।
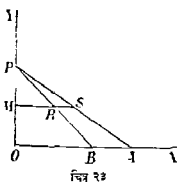
चित्र २३

अब समकोण त्रिभुज (right angled triangle) BOP में

$$\frac{BR}{RP}=\frac{OM}{MP}$$

किन्तु समकोण त्रिभुज AOP में

$$\frac{OM}{MP}=\frac{AS}{SP}$$

अतः

$$\frac{BR}{RP}=\frac{AS}{SP}$$

इसका अर्थ यह हुआ कि बिन्दु R और बिन्दु S दोनों पर लोच समान है चाहे दोनों वक्रों के ढाल भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं। ऐसे वक्रों को सम लोचदार वक्र (iso-elastic) कहते हैं।

तो भी हम एक स्थिति ऐसी देख सकते हैं जहाँ तत्सम्बन्धी झुकाव तत्सम्बन्धी

1 See Samuelson, P A.—Economics (1948), p 451, especially how the formula has been worked out in the footnote

लोचों का प्रदर्शन करता है। मान लीजिए कि दो वक्र हैं AB और CD जो भिन्न मण्डियों में एक ही माल के माँग का प्रदर्शन करते हैं जैसा कि नीचे बने रेखाचित्र न० २४ मे दिखाया गया है। अब हम कह सकते हैं कि CD, AB की अपेक्षा अधिक लोचदार है।

मान लीजिए कि OM कीमत है और बिन्दु M से एक सम रेखा OX के समानान्तर खीचो जो AB को बिन्दु R पर और CD को बिन्दु S पर काटती है।

अब माँग की लोच बिन्दु R पर

$= \frac{BR}{RA}$ है।

माँग की लोच बिन्दु S पर $\frac{DS}{SC}$ है,

अब त्रिभुज AOB मे

$$\frac{BR}{RA} = \frac{OM}{MA}$$

और त्रिभुज COD में

$$\frac{DS}{SC} = \frac{OM}{MC} \text{ है।}$$

अब चूंकि $\frac{OM}{MC}$ बडा है $\frac{OM}{MA}$ की अपेक्षा,

इसलिए $\frac{DS}{SC}$ बडा है $\frac{BR}{RA}$ की अपेक्षा।

चित्र २४

अर्थात् वक्र CD अधिक लोचदार है वक्र AB की अपेक्षा।

१३ माँग की लोच के सिद्धान्त का व्यावहारिक प्रयोग (Practical Application of the Concept of Elasticity of Demand)—यह सिद्धान्त सरकारी वित्त-व्यवस्था तथा व्यापार और वाणिज्य मे अधिक महत्त्व रखता है। वित्त-मन्त्री यदि उन वस्तुओं पर कर लगाता है जिनकी माँग बेलोचदार है तो वह सरकार की वार्षिक आय के लिए अधिक निश्चित हो सकता है। निःसन्देह कर से कीमत बढ जाएगी परन्तु माँग बेलोचदार होने के कारण लोगो को वह वस्तु खरीदना ही पड़ेगी। इस प्रकार माँग घटेगी नही। परन्तु मानवता के नाते ऐसे कर नही लगाए जाते, क्योंकि ऐसी वस्तुएँ जीवन-रक्षक अनिवार्यताएँ हैं और उन पर कर लगाने से जनता के हित पर बुरा प्रभाव पडता है।

इसी भाँति व्यापारी को यदि वह एकाधिकारी (monopolist) है तो अपनी कीमत निर्धारित करते समय माँग के स्वरूप का ध्यान रखना पडेगा। यदि माँग बेलोचदार है तो उसको लाभ इसम होगा कि वह ऊँची कीमत ले और उसकी कुछ कम मात्रा बेचे। दूसरी ओर यदि माँग लोचदार है तो वह कीमत कम करके माँग बढा देगा और इस प्रकार एकाधिकारी लाभ को अधिकतम कर सकेगा। लेकिन स्पर्द्धी उद्योगों की स्थिति म प्रत्येक फर्म के द्वारा उत्पादित माल की माँग लोचदार होती है। इसलिए कोई एक फर्म कीमत निर्धारित नही कर सकती।
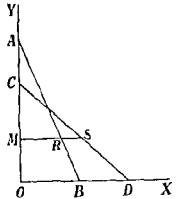
लोच का सिद्धान्त सयुक्त उत्पादन पर भी लागू होता है। उनकी पृथक् लागत (cost) नही मालूम की जा सकती। उत्पादक कीमत निर्धारित करते समय माँग और उसके स्वभाव से ही प्रभावित होगा। परिवहन (transport) अधिकारी इस सिद्धान्त के अनुसार दर निर्धारित करते हैं—उतनी ही दर हो जितना कि यात्री भार सह सकें। जब किसी उद्योग म बढती हुई प्राप्ति (increasing returns) का नियम लागू होता है, तो उत्पादक बाजार का विकास करने के लिए कीमत कम कर देते हैं जिससे कि वे बडे पैमाने के उत्पादन से लाभ उठा सकें। अतएव हम देखते हैं कि लोच का विषय सैद्धान्तिक चर्चा मात्र नही है।

औद्योगिक उत्पादन माँग की लोच से प्रभावित होता है, परन्तु इस सम्बन्ध म हम एक व्यक्ति की लोच म तथा समस्त बाजार की लोच म भेद करना पडेगा। कीमत म कोई भी कमी होन के कारण एक व्यक्ति एक ही समाचारपत्र या पत्रिका दूसरी बार लेने को प्रोत्साहित न होगा। व्यक्तिगत माँग बेलोचदार है, परन्तु बाजार की माँग बेलोचदार नही है और उत्पादक के लिए यह बाजार की माँग ही है जो अधिक महत्त्व रखती है। कीमत म कमी से समस्त बाजार म अवश्य ही बिक्री बढ जाएगी। लोच का सिद्धान्त बहुतायत के बीच म निर्धनता के विरोधाभास की व्याख्या करता है। यदि माँग बेलोचदार है तो खूब अच्छी फसल सफलता का एक कारण होने की अपेक्षा विपत्ति पैदा कर सकती है। यह विशेषत तब होती है जब कि उत्पादन शीघ्र नष्ट होने वाला (perishable) हो। एक बुरी फसल की अपेक्षा अच्छी फसल से कम द्रव्य प्राप्त हो सकता है। कुछ समय तक रखी जाने वाली वस्तुओ की माँग कम बेलोचदार अथवा लोचदार होती है। कीमत के घट जाने से वह अधिक खरीदी जाएगी तथा स्टोर की जाएगी। ऐसा किसी एक वर्ष म हो सकता है, परन्तु ५ वर्ष या अधिक समय में ऐसी वस्तुओ की माँग कम लोचदार होती है। उदाहरणार्थ, गेहूँ की माँग। यदि गेहूँ की माँग की लोच सम या एकता (unity) के बराबर है तो उत्पादको की आय एक सी रहेगी चाहे फसल की कैसी भी स्थिति क्यो न हो। (अतएव कीमत की प्रत्यक स्थिति म यह समान रहेगी।) बुरी फसल होने वाले वर्ष में कीमत की वृद्धि उत्पादन की कमी को पूरा कर देगी। अतएव किसानो की एक निश्चित आय स्थायी बनाने के लिए सरकार को एक विशिष्ट फसल की माँग की लोच की श्रेणी का ध्यान रखना चाहिए और अधिक उत्पादन तथा कमी को रोकने के लिए यथायोग्य कार्य करना चाहिए।

माँग की लोच का प्रभाव मजदूरी (wages) पर भी पडता है। यदि श्रम की माँग अपेक्षाकृत बेलोचदार है तो मजदूरी बढाना सरल है अन्यथा नही।

निर्देश पुस्तकें

Mar hall A Principles of Economics
Benham F Economics
Robinson Joan Economics of Imperfect Competition (1942), Chs 1 and 2
Meyers, A L Elements of Modern Economics Chs 6 and 7
Stigler, G J Theory of Price, Chs 4 and 5
Samuelson, P A Economics (1948), pp 447 54.

अध्याय ७

उत्पादन--(सामान्य रूप में)

(Production—General)

१. **उत्पादन का अर्थ** (Meaning of Production)—कभी-कभी उत्पादन की परिभाषा 'उपयोगिता का निर्माण' (creation of utility) अथवा 'आवश्यकता की सन्तुष्टि करने वाली वस्तुओं तथा सेवाओं का निर्माण' बताई जाती है। यह कहा जाता है कि ठीक जिस प्रकार मनुष्य पदार्थ नष्ट नहीं कर सकता, उसी प्रकार वह पदार्थ का निर्माण भी नहीं कर सकता, वह उसे केवल उपयोगिता प्रदान कर सकता है। फ्रेज़र (Fraser) के शब्दों में "यदि प्रयोग का अर्थ उपयोगिता निकाल लेना है तो उत्पादन का अर्थ उपयोगिता भर देना है।"[1]

परन्तु वैज्ञानिक रूप से यह परिभाषा उचित नहीं है। ऐसी वस्तु का उत्पादन करना जिसमें उपयोगिता (utility) हो किन्तु मूल्य (value) न हो आर्थिक दृष्टि से उत्पादन नहीं है। मैं योग की विचारधारा फैला सकता हूँ तथा अपने मित्रों का शारीरिक और आध्यात्मिक कल्याण कर सकता हूँ जिसकी उपयोगिता भी अधिक है। परन्तु जब तक मैं इसे अपना व्यवसाय न बना लूँ मेरी क्रिया उत्पादन के अन्तर्गत नहीं होगी। अतएव उत्पादन को उपयोगिता का निर्माण कहकर नहीं किन्तु मूल्य का निर्माण अथवा उसकी वृद्धि कहकर परिभाषित करना चाहिए।[2] उपयोगिताएँ तीन रूप में पैदा की जाती हैं : (i) स्वरूप उपयोगिता (form utility), (ii) समय उपयोगिता (*time utility*), और (iii) स्थान उपयोगिता (place utility)।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि अर्थशास्त्र के अन्तर्गत उत्पादन के अध्ययन में हमारा सम्बन्ध उत्पादन की तकनीक (technique) से नहीं है। हम तो सिर्फ उत्पादन के आर्थिक रूप से ही सम्बन्धित हैं। उदाहरण के लिए बढ़िया कपड़ा तैयार करना एक तकनीक है। लेकिन फाइन, मीडियम तथा कोर्स कपड़े के सापेक्ष अनुपात को बताना अर्थशास्त्र का विषय है।[3]

इस भाव में, उत्पादन के अन्तर्गत नीचे दिए हुए उद्योगों के अनेक उत्पादक समावेशित हैं—(१) निकालने वाले उद्योग (Extractive Industries), खनन (Mining), मछली पकड़ना, कृषि करना आदि जिनका अधिकतर सम्बन्ध कच्चे

---

1 "If consuming means extracting utility from", "producing means putting utility into"—Fraser

2 "Production should be defined, not as creation of utility, but the creation or addition of value"

3 for distinction between Economics and Technology read Robbin's Nature and Significance of Economic Science, Ch II, Sec 3

माल के उत्पादन से है, (२) निर्माण उद्योग (Manufacturing Industries) जो कच्चे माल को तैयार माल में बदलते है, (३) वाणिज्य सम्बन्धी सेवाएँ (Commercial Services) जैसे नय विक्रय, परिवहन, बैंकिंग तथा बीमा आदि, तथा (४) उपभोक्ताओं के लिए प्रत्यक्ष सेवाएँ (Direct Services) जैसे घरेलू नौकरो, डाक्टरो वकीलो, अध्यापको आदि की सेवाएँ।

२ उत्पादन की मात्रा को निर्धारित करने वाले कारण (Factors Determining the Volume of Production)—उत्पादन की मात्रा को बढाने के लिए, हमें उन कारणों का जिन पर कि यह निर्भर है, निरीक्षण करना होगा। उन कारणो का अध्ययन तथा उनकी सापेक्ष महत्ता का उचित ज्ञान हमें उत्पादन म वृद्धि करने वाले रास्ते पर डाल देंगे।

(१) किसी देश का उत्पादन सर्वप्रथम उस देश के मनुष्यो, द्रव्य तथा पदार्थ पर निर्भर है। यदि हमारे लोग परिश्रमी तथा साधन सम्पन्न हे, यदि पूँजी (capital) बहुतायत से है और यदि भूमि हमें अनक प्रकार के बहुमूल्य पदार्थ प्रदान करती है तो उत्पादन का विशाल प्रसार निश्चित है।

(२) उत्पादन म वृद्धि कृषि और उद्योग में विज्ञान के प्रयोगो पर और विकास की तकनीक पर भी निर्भर है। बिना वैज्ञानिक तथा टेक्नीकल ज्ञान के अधिक सफलता नहीं हो सकती।

(३) इसके अतिरिक्त उत्पादन-साख, बैंकिंग तथा परिवहन की सुविधाओं पर भी निर्भर होन' है। यदि कारीगरो को वित्तीय सहायता देने वाली सस्थाएँ नही हैं तो उन्हे बडी असुविधा होगी। आर्थिक सहायता उत्पादन का सुचारु रूप से सचालन करती है। वस्तुओ क उत्पादन से भी कोई अधिक लाभ नही होगा यदि वे बाजार में कम व्यय पर तथा शीघ्र ही न पहुँच सकती हो।

(४) राजनीतिक कारण भी बहुत महत्वपूर्ण हैं। यदि राज्य सहानुभूति रखता है और उत्पादन मे ज्ञान, शिक्षा तथा आर्थिक और अन्य सहायताएँ प्रदान करके क्रियाशील रूप से सहायक होता है ता उत्पादन म वृद्धि हो सकती है। रूस का प्रयोग इस बात का एक यथेष्ट प्रमाण है कि इस प्रकार से क्या और कितनी प्रगति हो सकती है।

(५) अन्त में कुछ प्राकृतिक कारण भी हैं। जलवायु, मिट्टी, पर्वत तथा नदियाँ सब ही प्राकृतिक प्रसाद हैं। उत्पादन पर प्राकृतिक स्रोतों का पर्याप्त प्रभाव पड़ता है, इसम कोई सन्देह नहीं। बाढ, भूडोल तथा अन्य प्राकृतिक सकट मनुष्य के काम को बिगाड देते हैं। यदि उत्पादन म वृद्धि करनी है तथा उसकी रक्षा करनी है तो हम मनुष्य की सेवा के लिए प्राकृतिक शक्तियो का प्रयोग करना सीखना होगा।

३ उत्पादन के साधन (Agents of Production)[1]—'उत्पादन के साधन' वाक्याश से हमारा तात्पर्य मालिक (स्वामी) तथा उत्पादक तत्वो के सप्लायर्स से होता है। इसे सही अर्थो म उत्पादन का साधन कह सकते हैं। फ्रेजर (Fraser) की परिभाषा के अनुसार 'उत्पादन का साधन ग्रुप अथवा मूल उत्पादक स्रोतो के

1 See Fraser, L M —Economic Thought and Language (1947) Ch 12

वर्ग के रूप मे है।"[1] 'साधन' (factor) वाक्यांश उत्पादक तत्वों के वर्ग (class of productive elements) के लिए काम आता है, व्यक्तिगत रूप से जिसके सदस्य साधन की 'इकाइयाँ' (units) माने जाते हैं। आधुनिक अर्थशास्त्री उत्पादन के प्रतिष्ठित साधनों[2] (classical factors of production) की बजाए गुमनाम उत्पादक सेवाओं (anonymous productive services) की लय में बात करना पसन्द करते हैं। इनको 'उत्पादक' (inputs) भी कहा गया है, और जो वह पैदा करते हैं उसे 'उत्पादन' (outputs) कहा गया है।

उत्पादन के साधनों का वर्गीकरण इस प्रकार किया गया है : भूमि, श्रम, पूंजी तथा व्यवस्था अथवा उद्यम (enterprize)। अर्थशास्त्र मे भूमि (land) का अर्थ केवल मिट्टी से ही नही होता जैसा कि साधारण बोलचाल में होता है। यह वायु, जल, भूमि के धरातल के ऊपर तथा इसके नीचे से प्राप्त होने वाले सब साधनों के, जिनमे आय प्राप्त होती है समानार्थ है। इसी प्रकार श्रम (labour) का अभिप्राय केवल शारीरिक श्रम अथवा मशक्कत (manual labour) से ही नहीं, किन्तु द्रव्य सम्बन्धी पुरस्कार के लिए मनुष्य द्वारा किए हुए सब प्रकार के कार्य से है। यह व्यक्ति के समानार्थ है। पूंजी (capital) से अभिप्राय उस तमाम धन-राशि से है जिसमें यन्त्र, औज़ार, कच्चा माल आदि शामिल हैं और जो कि धन के उत्पादन के लिए काम में लाए जाते हैं। व्यवस्था अथवा उद्यम मे उपर्युक्त तीन साधनों को सगठित करना और प्रत्येक को कार्य निर्दिष्ट करना शामिल है। उद्यमी जो कि इस साधन की पूर्ति करता है उत्पादन का कार्य-स्वरूप बनाता है, उसको प्रारम्भ करता है और उसका सचालन करता है तथा जोखिम सहन करता है।

कुछ अर्थशास्त्री इस वर्गीकरण को चार से दो, भूमि तथा श्रम अथवा मनुष्य तथा प्रकृति, मे इस कारण घटाते हैं कि केवल वे ही मौलिक अथवा प्रारम्भिक साधन हैं। यह कहा जाता है कि पूंजी का कोई स्वतन्त्र आदि कारण नहीं है और वह केवल भूमि तथा श्रम के प्रयत्नों का परिणाम है, और व्यवस्था केवल श्रम का एक रूप है। परन्तु आदि कारण जो भी हो पूंजी उत्पादन मे एक पृथक् साधन के रूप में एक बहुत आवश्यक कार्य करती है तथा एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। इसी प्रकार उद्यमी का कार्य एक भिन्न प्रकार का है और उसे एक भिन्न आधार पर पुरस्कार मिलता है। अतएव चार विभाग वाला वर्गीकरण आधुनिक आर्थिक ससार मे प्रचलित दशाओं का अच्छी प्रकार से प्रतिनिधित्व करेगा।

भूमि (Land)

४. **अर्थ तथा महत्त्व (Meaning and Importance)**—'भूमि' शब्द को अर्थशास्त्र मे एक विशेष अर्थ दिया जाता है। इसका अर्थ मिट्टी नही है जैसा कि साधारण बोल-चाल मे समझा जाता है वरन् यह बहुत विस्तृत अर्थ मे प्रयोग किया जाता है। मार्शल (Marshall) के शब्दों मे भूमि का अर्थ "वह पदार्थ तथा शक्तियाँ

1 'Factor of production as a group or class of original productive resources"—Fraser

2. See Stigler, G J—Theory of Price (1947), I, pp 114—15.

हैं जिन्हे प्रकृति मनुष्य की सहायता के लिए भूमि तथा जल के रूप में, वायु और रोशनी तथा गर्मी के रूप म स्वतन्त्रता से देती है।"[1] 'भूमि उन सभी प्राकृतिक स्रोतो से सम्बन्धित है जिनसे आय होती है अथवा जिनका विनिमय मूल्य (exchange value) है। "इनसे उन प्राकृतिक स्रोतों का भाव व्यक्त होता है जो वास्तव में अथवा सम्भाव्य रूप से लाभदायक तथा दुर्लभ है।"[2]

आर्थिक विकास के प्रत्यक चरण (stage) में प्रकृति मनुष्य की सबसे लाभ दायक सहचरी रही है। शिकारी जीवन तथा मछली पकडने की अवस्था (hunting and the fishing stage) म प्रकृति भोजन की यथेच्छ स्वतन्त्रता से पूर्ति करती थी तथा मानवीय जीवन को पालती थी। पशु पालन की अवस्था (pastoral stage) में यदि भूमि का धरातल तथा चरागाह और घास वाली भूमि न होती तो पशुओ तथा भेडो के समुदाय पाले तथा रखे नही जा सकते थे। कृषि की अवस्था (agricultural stage) म तो भूमि की उपयोगिता स्पष्ट है। मिट्टी, वायु तथा धूप के बिना मनुष्य किस प्रकार फसलो की उपज कर सकता है? जब कृषि की अवस्था दस्तकारी तथा औद्योगिक अवस्था को स्थान देती है तब तो भूमि और भी अनिवार्य हो जाती है। प्रत्यक वस्तु का जिसका हम प्रयोग करते हैं प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से अन्त म भूमि से सम्बन्ध है। चाहे जिस ओर भी हम दृष्टि डालें प्रकृति के प्रति हम स्पष्ट रूप से बहुत अधिक ऋणी हैं। बिना इसके हमारा जीवन ही असम्भव हो जाएगा। मार्शल (Marshall) के शब्दों म, पृथ्वी का धरातल प्रत्यक कार्य के लिए, जो मनुष्य कर सकता है, प्रारम्भिक अवस्था है यह उसे उसके कार्यों के लिए स्थान देता है।"[3]

५ **भूमि की विशेषताएँ** (Peculiarities of Land)—उत्पादन के दूसरे साधनों से भेद करने म भूमि में कुछ स्पष्ट विशेषताएँ पाई जाती हैं।

(i) **भूमि प्राकृतिक उपहार है** (Land is Nature's Gift)—भूमि मनुष्य को प्रकृति द्वारा मिलती है। लेकिन यह कहा जाता है कि मनुष्य ने स्वय अपने प्रयत्न से बन, भूमि तथा दलदलो को सुधारा है और मनुष्य ने भूमि म खाद डाला है। इस प्रकार भूमि उतनी ही 'मनुष्य द्वारा बनाई हुई' तथा एक 'उत्पन्न किया हुआ' साधन है जितना कि कोई और दूसरा हो सकता है। परन्तु भूमि के बनाने म प्रकृति की अपेक्षा मनुष्य का भाग लगभग शून्य है। जहाँ तक वायु धूप तथा भूमि के एक क्षेत्र की स्थिति का सम्बन्ध है, मनुष्य ने वास्तव म उनके लिए कुछ नही किया है और वे प्रकृति के वैसे ही अश हैं जैसे स्वय पृथ्वी का धरातल।

(ii) **भूमि मात्रा में निश्चित है** (Land is fixed in quantity)—भूमि का क्षेत्र बढाया नही जा सकता। यह कहा जाता है कि भूमि की कोई सप्लाई कीमत

1 Marshall A —Principles of Eeconomics (1936) p 138

2 'Land stands for all natural resources which yield an income or which have exchange value It represents those natural resources which are useful and scarce, actually or potentially —Fraser L M —Ibid P 272

3 'Earth s surface is a primary condition of anything that a man can do, it gives him room for his actions —Marshall

नही है। बाजार म भूमि की प्रचलित कीमत इसकी पूर्ति को प्रभावित नही कर सकती। इसकी पूर्ति न तो अधिक कीमत होने के कारण बढ सकती है और न कम कीमत होने के कारण घट सकती है। भूमि निश्चित होने से जैसे जनसंख्या म वृद्धि होती है, यह दुर्लभ लगान (Scarcity Rent) प्राप्त करने लगती है।

(iii) भूमि स्थायी है (Land is permanent)--युद्ध म बमो के द्वारा विध्वस किए जाने पर भी भूमि थोडे और साधारण सुधार से अपनी उत्पादकता पुन प्राप्त कर लेगी। भूमि म स्वाभाविक गुण होते है जिन्हे रिकार्डो (Ricardo) ने 'मौलिक तथा अविनाशी' (original and indestructible) कहा है।

(iv) भौगोलिक विचार से भूमि में गतिशीलता का अभाव है (Land lacks mobility) यद्यपि अगूर उगाने वाली मिट्टी फ्रास स कैलीफोर्निया ले जाई गई है तो भी भूमि स्वय एक स्थान से दूसरे स्थान पर नही ले जाई जा सकती। इसका कारण भिन्न स्थानो म लगानो की असमानता है।

(v) अन्त म, भूमि उपजाऊपन तथा स्थिति की मात्राओ के अनन्त भेद (infinite variations) प्रदान करती है, जिसके कारण भूमि के कोई दो टुकडे ठीक एक-से नही होते। यह विशेषता कृषि की सीमा के सिद्धान्त को स्पष्ट करती है।

६ भूमि की उत्पादकता (Productivity of Land)—उत्पादन म भूमि की सहायता का महत्त्व उसकी उत्पादकता पर निर्भर है। उत्पादकता कई कारणो पर आधारित है।

(i) प्राकृतिक कारण (Natural Factors)—सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कारण जिस पर भूमि की उत्पादकता निर्भर है प्राकृतिक कारण है। भारत के कुछ भाग गगा के मैदान की भाँति उपजाऊ हैं कुछ ऊसर तथा बजर हैं। वे वैसे ही हैं जैसा प्रकृति ने उन्हे बनाया है।

(ii) मानवीय कारण (Human Factors) उत्पादकता मानवीय कारण पर भी निर्भर है। मनुष्य ने प्रकृति पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न किया है। जगल साफ किए गए है, दलदलें सुखाई गई हैं और सिचाई की सुविधाओ द्वारा बजर भूमि हरे-भरे लहलहाते उपवनो म परिणत की गई है।

(iii) स्थिति का प्रभाव (The Situational Factor)—दूसरा महत्त्वपूर्ण कारण जिस पर भूमि की उत्पादकता निर्भर है, वह है स्थिति का प्रभाव। नगर के पास स्थित भूमि का एक क्षेत्र, चाहे वह दूर बसे हुए भाग की अपेक्षा कम उपजाऊ क्यों न हो, अत्यधिक उत्पादक समझा जाता है।

७ विस्तृत तथा गहन कृषि (Extensive and Intensive Cultivation)—हमने अनुभव किया है कि मनुष्य सदैव यह प्रयत्न करता रहता है कि कम से-कम व्यय करके अधिक से अधिक पुरस्कार प्राप्त करे। उसने कृषि म दो रीतियो का प्रयोग किया है—(१) विस्तृत कृषि, (२) गहन कृषि।

विस्तृत कृषि (Extensive Cultivation) म मनुष्य साधारण रूप से जितनी भूमि जोत सकता है उससे अधिक जोतता है। वह भूमि म प्रयोग होने वाले श्रम और

धन में कोई अनुरूप वृद्धि नहीं करता। नये देशों में जहाँ भूमि काफी और आवश्यकता से अधिक है, वहाँ मनुष्य विस्तृत कृषि की रीति प्रयोग करता है।

दूसरी रीति गहन-कृषि (Intensive Cultivation) की रीति कहलाती है। इस अवस्था में भूमि बहुत सीमित होती है। अस्तु, प्रत्येक किसान के पास बहुत थोड़ी भूमि होती है। निश्चय ही वह उससे अधिक-से-अधिक काम लेना चाहेगा। वह अधिक पूँजी लगाने को तैयार रहता है। उसको सर्वोत्तम औजार तथा सामग्री खरीदनी चाहिए और जमीन को अच्छी तरह से जोतना चाहिए। उसे अपने बीजों का चुनाव सोच-समझकर करना चाहिए और उचित फासला देकर उन्हें बो देना चाहिए। उसके खेत में सिंचाई की उचित व्यवस्था होनी चाहिए। उसे यथाक्रम हेर-फेर (rotation) की विधि अपनानी चाहिए—संक्षेप में उसकी रीति वैज्ञानिक होनी चाहिए।

क्या विस्तृत रीति का अभिप्राय बड़े खेत और गहन रीति का छोटे खेत से है? (Does the extensive method imply a large farm and the intensive method a small one)—यह कोई आवश्यक नहीं है। साधारणतया हम देखते हैं कि जहाँ भूमि का क्षेत्रफल विस्तृत है और खेत बड़े हैं, वहाँ किसान कृषि में विस्तृत रीति का प्रयोग करता है और दूसरी ओर जहाँ भूमि सापेक्ष रूप में दुर्लभ (scarce) होती है, वहाँ उसी भूमि को अधिक गहन रीति से जोतना पड़ता है। परन्तु सदैव ऐसा नहीं होता। अमरीका और कनाडा में बड़े खेत हैं, परन्तु किसान कृषि की नई और वैज्ञानिक रीतियों का प्रयोग, जिसको हम गहन रीति कहते हैं, करते हैं। दूसरी तरफ भारत में जहाँ जोतें (holdings) छोटी हैं कृषि पुरानी रीतियों से होती है जो कि विस्तृत रीति कही जा सकती है। इस प्रकार विस्तृत रीति और बड़े खेत तथा गहन रीति और छोटे खेत हमेशा साथ साथ नहीं दीखते।

निर्देश पुस्तकें

Pigou, A C Economics of Welfare, Part I, Ch 6
Hicks, J R Social Framework
Indian National Income Committee Report, 1951
Census of manufactures
Robbins L Article in Encyclopaedia of Social Sciences
Fraser, L M. Economic Thought and Language, Chs 11 and 12
Stigler, G J Theory of Price (1949) Ch 7
Knight, H F Risk Uncertainty and Profit, Ch 6, pp 123 40
Wicksteed Commonsense of Political Economy, Book I, Ch 9, pp 365-67
Davenport, H J Economics of Enterprise, Ch 22 (for criticism of traditional classification of factors)

अध्याय ८

श्रम

(Labour)

१ श्रम का अर्थ (Meaning of Labour)—साधारण बोलचाल में 'श्रम' का शब्दार्थ अकुशल श्रमिकों (unskilled labour) का दल है। लेकिन अर्थशास्त्र मे इसका उपयोग व्यापक अर्थों म होता है। अर्थशास्त्र मे कोई भी श्रमिक चाहे वह शारीरिक अथवा मानसिक श्रम करता हो और जो रोजी (द्रव्य की एवज में काम पर लगाया गया हो) पर हो 'श्रमिक' कहलाता है। कोई भी काम जो मन बहलाने के लिए अथवा स्वान्त सुखाय किया जाता है, आर्थिक रूप म वह श्रम नहीं कहलाता।

उत्पादक (productive) तथा अनुत्पादक (unproductive) श्रम के सम्बन्ध में मतभेद है। निर्सर्गवादियों (Physiocrats) के अनुसार सिर्फ कृषि (agriculture) को ही उत्पादक श्रम माना गया है। बाद म निर्माण-कार्यों (manufactures) म लगा श्रम भी उत्पादक माना जाने लगा। एडम स्मिथ के अनुसार भी जब तक श्रम का परिणाम भौतिक मूल्य (material value) नही होता, इसे अनुत्पादक (unproductive) ही मानना चाहिए। ललित कलाओं (liberal arts) का अध्ययन अनुत्पादक माना जाता था। उनका कथन है कि समाज म सम्मानित वर्ग का श्रम उन नौकरो के समान है जो किसी मूल्य म भी अनुत्पादक है (unproductive of any value) अर्थात् न्याय तथा व्यवस्था करने वाला सत्तासम्पन्न शासक (sovereign), सेना (army) तथा जल-सेना (navy)। लेकिन आधुनिक धारणा के अनुसार सारा श्रम उत्पादक माना जाता है बशर्ते कि श्रम आय के लिए होता हो।

किन्तु हम उस श्रम के विषय में क्या कहेंगे जो कि नष्ट हो जाता है, अनुचित मार्ग पर लगाया जाता है अथवा अपने उद्देश्य में असफल हो जाता है, उदाहरणार्थ, वह श्रम जो उस पनामा नहर के खोदने म लगाया गया था जो ढह गई। मार्शल (Marshall) ऐसे श्रम को उत्पादक श्रम के वर्ग से अलग रखते हैं। परन्तु यह भी ठीक मत नही है। उस श्रम को भी जो फलदायक होने म असफल रहा, पारिश्रमिक (remuneration) तो अवश्य मिला। श्रम की प्रवृत्ति उत्पादन की थी, परिणाम से कोई तात्पर्य नही। फ्रेजर (Fraser) लिखते हैं 'चूंकि मूल्य सिद्धान्त अवश्य ही गलतियों और अविवेक से होना चाहिए, इसलिए श्रम या तो उत्पादक होना चाहिए, अर्थात् कुछ उपयोगिता म आना चाहिए अथवा अर्थशास्त्र की सीमा से बाहर रहना चाहिए।"[1] फ्रेज़र ऐसे गायक का उदाहरण देते हैं जो इतना फिज़ूल हो जाता है और

---

1 "As value theory must abstract from mistakes and irrationalities therefore labour must be either productive i e, must issue in some utility or else must fall outside the province of the economic theorist" —Fraser, L M — Economic Thought and Language (1947), p 160

जिससे त्राण पाने के लिए उसे कुछ दिया जाता है जिससे वह चला जाए। गायक के लिए वह श्रम उत्पादक है। लेकिन वह अनुपयोगिता पैदा करता है। आज की दुनिया मे इस किस्म की बहुत सी चप्टाएँ हैं, जैसे बलात् अपहरण तथा धोखाधडी आदि। वे सब कु-उत्पादक (disproductive) श्रम के उदाहरण हैं।

जलदस्युओ (pirates), डाकू, चोर, कगाल, जुआरी, अयोग्य सट्टेबाज, गिरहकट आदि का काम तथा ऐसी तमाम समाजविरोधी कार्यवाही को अनुत्पादक मानना चाहिए। एक मिथ्या चिकित्सक (quack) या कष्ट देने वाली शराब अथवा दूसरी मादक वस्तुएँ बनाने वाले अथवा हानिकारक किताबें लिखने वालो का कार्य उत्पादक समझा जाता है क्योकि उनकी सेवाएँ, कुछ मार्ग-भ्रष्ट मनुष्य जो उनके लिए भुगतान करने को तैयार हैं चाहते है। अर्थशास्त्र म हम किसी कार्य को नैतिक दृष्टिकोण से नही देखते। बीमा कार्य तथा वध (legitimate) सट्टा उत्पादक समझे जाते हैं, क्योकि उनकी सेवाएँ उत्पादको के लिए उपयोगी हैं।

२ **श्रम की विशेषताएँ** (Peculiarities of Labour)—श्रम उत्पादन के दूसरे साधनो से स्पष्ट रूप से भिन्न है। यह जीवित रहने वाला है और यही अन्तर पैदा करता है। श्रम केवल उत्पादन का साधन (means) ही नही वरन् उत्पत्ति का लक्ष्य (end) भी है। इसके कुछ लक्षण है जो इसको उत्पादन के शेष साधनो से जुदा करते हैं —

श्रम स्वय श्रमिक से अलग नहीं है (Labour is inseparable from the labourer himself)—"श्रमिक अपना श्रम बेचता है, परन्तु वह स्वय अपनी सम्पत्ति रहता है, जो उसके पालन और शिक्षा पर होने वाला खर्च उठाते हैं, उन्हे उस कीमत का बहुत कम अश मिलता है जो उसे बाद म सेवाओ की एवज मे मिलता है।" अतएव बहुत से माता-पिता अपने बच्चो पर धन लगाने म या तो असमर्थ या अनिच्छुक होते हैं।

दूसरे, श्रमिक को जो वस्तु बेचनी होती है उसे स्वय जाकर देनी पड़ती है (The commodity that labour has to sell must be delivered in person)—जिस वातावरण म श्रमिक को काम करना होता है उसका अत्यधिक प्रभाव पडता है।

तीसरे, श्रम टिकाऊ नहीं है (Labour does not last)—यह नाशवान है। बिना कार्य किया हुआ दिन सदैव के लिए चला जाता है। चूँकि वह वस्तु जिसे उसे बेचना होता है नाशवान होती है अतएव उसको उस बिना कीमत का ध्यान किए बेचना पडता है। जैसा कि एरिक रॉल का कथन है 'उसकी कोई सुरक्षित कीमत नही है।'

चौथे, श्रम में सौदा करने की शक्ति कम होती है। (labour has a very weak bargaining power)—मालिक श्रमिक की असमर्थता का लाभ उठाता है और बहुधा उसको जितना उचित है उससे कम देता है।

पाँचवें, श्रम की कीमत में परिवर्तन उसकी पूर्ति पर विलक्षणता से प्रभाव डालता है (Changes in the price of labour react rather curiously on its

supply)—साधारण वस्तुओं की पूर्ति (supply) कीमत के सीधे अनुपात में होती है। अर्थात् जितनी ही कीमत अधिक होगी उतनी ही अधिक पूर्ति होगी तथा इसके विपरीत भी ऐसा ही होगा। परन्तु श्रम की कीमत अर्थात् मजदूरी (wages) में, एक सीमा के नीचे, कमी पूर्ति को बढा सकती है। ऐसी परिस्थिति में कुछ न काम करने वाले लोग भी काम करने को कह सकते हैं ताकि वे अपने कम-से कम जीवन-स्तर को स्थिर रखने के लिए परिवार की आय को पर्याप्त बना सकें। यदि कीमत अर्थात् मजदूरी किसी सीमा से आगे बढ जाती है तो पूर्ति घट सकती है। यह भली भाँति विदित है कि भारतीय मजदूर की कमाई म वृद्धि होने से बहुधा कारखानो में अनुपस्थिति (absenteeism) बढ जाती है।

अन्त में, माँग और पूर्ति का शीघ्र व्यवस्थापन (adjustment) नहीं हो सकता (There is no rapid adjustment of the supply to demand)—मन्दी (depression) के समय यदि माँग गिर जाती है तो पूर्ति कम नही की जा सकती तथा मजदूरी (wages) गिरेगी। परन्तु लडाई के समय श्रम की माँग बढ जाने से मजदूरी अवश्य ही बढेगी।

३ मालथस का जनसख्या सिद्धान्त (Malthusian Theory of Population)—श्रम की पूर्ति के प्रश्न का जनसख्या से सीधा सम्बन्ध है, श्रम के दो रूप हैं अर्थात् मात्रिक तथा गुणात्मक (quantitative and qualitative)। किसी देश के श्रम की स्थिति का अनुमान करने के लिए इन दोनों रूपो पर विचार करना चाहिए। मात्रिक रूप हमको जनसख्या के सिद्धान्त का अध्ययन कराता है।

सबसे प्रसिद्ध सिद्धान्त मालथस का जनसख्या सिद्धान्त है। टामस राबर्ट मालथस (Thomas Robert Malthus) ने "जनसख्या के सिद्धान्त" पर अपना निबन्ध सन् १७९८ म लिखा था, और अपने कुछ परिणामो को १८०३ के दूसरे प्रकाशन में सुधारा था। इगलैंड को शीघ्रता से बढती हुई तथा मार्ग-भ्रष्ट दरिद्र विधि (Poor Law) से प्रोत्साहित जनसख्या ने इसको अधिक प्रभावित किया। इसको यह डर था कि इगलैण्ड एक विपत्ति की ओर जा रहा था और उसने अपने देशवासियो को सावधान करना अपना परम कर्तव्य समझा। "इसने आदमियो की अपेक्षा जानवरो की वृद्धि म अधिक सावधानी दिखाई जाने पर" शोक प्रगट किया।

उनका सिद्धान्त बहुत ही साधारण है। उसी के शब्दानुसार 'प्रकृति से मानवीय खाद्य मन्द अकगणितीय अनुपात (arithmetical ratio) मे बढता है, मनुष्य स्वय तीव्र गुणोत्तर या रेखागणितीय अनुपात (geometrical ratio) मे बढता है, जब तक कि आवश्यकताएँ तथा दोष उसको न रोकें।"

"जनसख्या मे वृद्धि विशेषतया निर्वाह के साधनो से सीमित होती है।" जब निर्वाह के साधन बढते हैं तो जनसख्या यदि शक्तिशाली और स्पष्ट अवरोध से रोकी न जाए तो स्थायी रूप से बढेगी।

उसने अपना कथन जीव विज्ञान (biological) सम्बन्धी तर्क पर आधारित किया कि हर एक जीव (Organism) न अनुमान किए जाने वाली सीमा तक बढते हैं। सारिका का एक जोडा अपने जीवन भर मे १९,५००,००० तक बढ जाएगा और

२० साल तक १,२००,०००,०००,०००,०००,०००,००० और यदि कन्धे से कन्धा मिलाकर खडे हो तो १५०,००० की संख्या मे से केवल एक ही इस ससार में बैठने की जगह पा सकेगा। हक्सले (Huxley) के मतानुसार, केवल एक हरे टिड्डे (green-fly) का वश यदि उसमे से कोई नष्ट न हो और बढते ही जाएँ तो ग्रीष्म ऋतु के अन्त मे चीन की जनसख्या से भी अधिक हो जाएगा। मानव-जाति का, प्रत्येक २५ साल मे, दुगुना होने का अनुमान किया जाता है और एक जोडा १,७५० वर्ष में वर्तमान जनसख्या के बराबर हो जाएगा।

हर प्राणी के पैदा करने की शक्ति की ऐसी ही प्रकृति है। उत्पत्ति (Procreation) की शक्ति स्वाभाविक अन्तर्वर्ती तथा सतत होती है और उसको बढने का मार्ग मिलना ही चाहिए। कैंटिलन (Cantillon) कहते हैं 'कि मनुष्य खलिहान मे चूहो की भांति बढते हे।" दूसरी ओर खाद्य के उत्पादन पर घटती हुई प्राप्ति के नियम (law of diminishing return) का प्रभाव पडता है। इन दोनो के आधार पर मालथस (Malthus) ने यह निष्कर्ष निकाला कि जनसख्या भोजन की पूर्ति से कही आगे निकल जाती है। यदि निवारक अवरोध (Preventive checks) जैसे कि विवाह त्याग, विवाह-विलम्ब (late marriage) अथवा विवाह से कम बच्चो का होना लागू नही किया जाता तो युद्ध, अकाल तथा बीमारी जैसे प्राकृतिक अवरोध (positive checks) प्रभावी होने लगते हैं।

४. मालथस के सिद्धान्त की आलोचना (Criticism of the Malthusian Theory)—अर्थशास्त्रियो ने मालथस (Malthus) के जनसख्या सिद्धान्त का मिश्रित स्वागत किया :—

(१) आलोचक यह बतलाते हैं कि मालथस का निराशावाद पश्चिमी देशो के इतिहास के आधार पर सही नही है। जनसख्या मे वृद्धि हुई है। परन्तु यह जीवन निर्वाह के साधनो से अधिक नही बढी है। वास्तव मे अब लोगो का जीवन स्तर इतना ऊँचा है कि मालथस कदाचित् सोच ही न सकते थे।

(२) मालथस ने यह अनुमान नही किया था कि मनुष्य पर जीवन-स्तर का ऐसा प्रभाव पडेगा कि परिवारो की वृद्धि को जान-बूझकर सीमित रखा जाएगा।

(३) मालथस ने यह सोचा कि निर्वाह के साधनो मे वृद्धि से जनसख्या बढ जाएगी, किन्तु इसकी अपेक्षा भौतिक उन्नति के कारण मनुष्य की उत्पत्ति शक्ति (fecundity) के घटने से जनसख्या बढने से रुक गई।

(४) मालथस ने खाद्य के उत्पादन पर अधिक जोर दिया, जब कि दूसरे रूपो में धन का उत्पादन जनसख्या की वृद्धि के कारण नीचे जीवन स्तर की प्रवृत्ति का सामना करने के लिए एक उच्च साधन पाया गया है। एक देश दूसरे देश से खाद्य का आयात भी तो कर सकता है।

(५) मालथस का अन्धकारमय अनुमान उच्च तथा मध्य श्रेणी के मनुष्यो के गर्भ-विरोधी (contraceptives) प्रयोगो से भी असत्य हो गया है। पश्चिमी यूरोप के देशो, विशेषकर फ्रास, की जनसख्या प्रत्यक्ष रूप से स्थिर रही है।

तो भी अत्यन्त दुःख की बात है कि जनसख्या अनुचित रूप से गलत दिशा में

बढ़ रही हैं। निर्धन जो अपने बच्चों के पालन-पोषण तथा उन्हें शिक्षा देने मे असमर्थ हैं, बढ रहे हैं। दूसरी ओर धनी जो कि अधिक अच्छे गुण वाले बच्चे उत्पन्न कर सकते हैं, अपनी उत्पत्ति-प्रवृत्ति को रोक रहे हैं। इसका परिणाम राष्ट्र की दरिद्रता और गिरावट है।

(६) मालथस इस बात को पूरी तरह न समझ सका कि घटती हुई प्राप्ति (law of diminishing returns) के नियम का लागू होना लगभग असीमित समय तक रोका जा सकता है। उस प्रवृत्ति को कृषि-कला, सचार (communication) तथा विनिमय के साधन आदि से भली भाँति रोका जा सका है। इस तरह "जनसख्या की समस्या केवल एक सख्या की समस्या नही वरन् कुशल उत्पादन तथा समान वितरण की समस्या है।"[1] (सेलिगमैन)

मालथस के दिए हुए गणितीय अनुपातो पर भी आपत्ति की गयी है। परन्तु यह स्पष्ट रूप से जोर देने के लिए प्रयोग म लाए गए थे और उसके सिद्धान्त के कोई आवश्यक भाग न थे।

मालथस का सिद्धान्त भारत में लागू होता है (Malthusian theory applies to India)—उपर्युक्त विवरण के पश्चात् भी मालथस के सिद्धान्त मे कुछ सचाई पाई जाती है। यदि जनसख्या प्राकृतिक अवरोध अथवा निवारक अवरोध से रोकी नही जाती, तो यह निर्वाह के साधनो से आगे बढ जाएगी। अधिक गर्भ-विरोधी प्रयोग उसके सिद्धान्त की मान्यता का प्रमाण है। यह प्रकट करता है कि मालथस के उपदेश माननीय हैं।

हम भारत मे अपने आपको उसी स्थिति मे पाते हैं जिससे मालथस (Malthus) डरता था। हमारे यहाँ ससार म सबसे अधिक जन्म-दर तथा मृत्यु-दर है। हमारी वृद्धि लगभग १ प्रतिशत प्रतिवर्ष हो रही है और इसका परिणाम निर्धनता, बराबर होने वाले व्यापक रोग, अकाल, साम्प्रदायिक दगे, शिशु वध (जो कि कभी होते थे) तथा ससार म सबसे नीचा जीवन स्तर है। जहाँ तक भारत, चीन तथा अन्य पिछडे देशों का सम्बन्ध है, मालथस (Malthus) के उपदेश की सचाई पर आपत्ति करना कठिन है।

५ आधुनिक जनसंख्या सिद्धान्त अनुकूलतम सिद्धान्त (Modern Theory of Population The Optimum Theory)—आधुनिक अर्थशास्त्रियो ने मालथस (Malthus) के अधिकतम जनसख्या के सिद्धान्त को स्वीकार कर दिया है जो यदि बढ जाए तो देश मे आपत्ति फैला दे। अधिकतम जनसख्या (maximum population) के स्थान पर आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने अनुकूलतम (optimum) जनसख्या के विचार का प्रतिपादन किया है।

अनुकूलतम का क्या अर्थ होता है? (What does the Optimum mean?)—अनुकूलतम जनसख्या का अर्थ किसी देश के साधनों को विचार में रखते हुए आदर्श जनसख्या से होता है। अनुकूलतम सख्या एक देश की सर्वश्रेष्ठ, आदर्श

1 "The problem is not one of mere size (of population) but of efficient droduction and equitable distribution."—Seligman

तथा इष्ट जनसंख्या है। यह ठीक संख्या है। जब किसी देश की जनसंख्या न तो अधिक है और न कम है परन्तु, बस इतनी है जितनी कि उस देश म होनी चाहिए तो वह अनुकूलतम जनसंख्या कहलाती है। साधनों की मात्रा, औद्योगिक ज्ञान तथा पूँजी की कुछ राशियों पर जनसंख्या का एक निश्चित आकार होगा जिस पर वस्तुओं तथा सेवाओं की वास्तविक आय प्रति व्यक्ति सबसे अधिक होगी। यही अनुकूलतम संख्या है। अतएव अनुकूलतम जनसंख्या वह कही जा सकती है जिस पर प्रति व्यक्ति आय सबसे अधिक है।

कम जनसंख्या तथा अधिक जनसंख्या (Under-population and Over-population)—यदि किसी देश की जनसंख्या अनुकूलतम से नीचे अर्थात् जो कुछ होना चाहिए उसमे नीचे है, तो वह देश कम जनसंख्या वाला देश कहलाता है। मनुष्यों की संख्या देश के प्राकृतिक तथा पूँजी के साधनों के श्रेष्ठ प्रयोग के लिए पर्याप्त न होगी। एक नवीन देश म ऐसा होता है। साधन विस्तृत है। अधिक उत्पादन किया जा सकता है परन्तु कुशलतापूर्वक उत्पादन करने के लिए पर्याप्त मनुष्य नहीं है। ऐसी अवस्था म जनसंख्या की वृद्धि से प्रति व्यक्ति की आय म वृद्धि होगी। परन्तु यह वृद्धि अनिश्चित मात्रा म नहीं हो सकती। जब जन-शक्ति (man power) की कमी पूरी हो जाएगी तो प्रति व्यक्ति आय अधिकतम हो जाएगी और हम कहेंगे कि जनसंख्या अनुकूलतम या आदर्श हो गई है।

यदि जनसंख्या फिर भी बढ़ती है, तथा अनुकूलतम से बढ़ जाती है तो अधिक जनसंख्या (over-population) की दशा हो जाएगी। देश म अत्यधिक मनुष्य हो जाएँगे। साधन कम होने से सबको लाभजनक काम देने सम्भव न होंगे। थोड़े काम के साधन करोड़ो व्यक्तियों म बँटे होंगे। प्रति व्यक्ति आय घट जाएगी, जीवन-स्तर गिर जाएगा लड़ाई अकाल और रोग ऐसे मनुष्यों के स्थायी साथी हो जाएँगे। यह अधिक जनसंख्या के लक्षण है।

भारत म हम इन समस्त अपने आपको इस स्थिति म पाते है। अब हम अनुकूलतम जनसंख्या की स्थिति म कैसे वापस जा सकते है? हमें समस्या को दोनों ओर से सुलझाना चाहिए—(i) हम जिस गति से बढ रहे है उसको हम मन्द करना चाहिए तथा (ii) हमें अपने साधनों का विकास करना चाहिए। हमारे देश म प्राकृतिक साधनों का अभी तक पूरा उपयोग नहीं हो सका है। बहुधन्धी योजनाएँ (multi-purpose projects), कृषि, उद्योग बीमा, बैंकिंग तथा परिवहन (transport) के साधनों का विकास इस लक्ष्य की ओर ले जाने वाले कुछ साधन हैं। जब हम अपनी संख्या को सीमित रखने तथा अपनी उत्पादक शक्ति को अधिकतम करने का प्रयत्न करते है तो हम अनुकूलतम जनसंख्या के रास्ते पर होते है।

निम्नलिखित रेखाचित्र तीन स्थितियों को प्रस्तुत करता है—(१) कम जनसंख्या, (२) अनुकूलतम जनसंख्या, तथा (३) अधिक जनसंख्या।

हम a बिन्दु से (कम जनसंख्या) से चलते है और ऊपर को बढ़ते हैं। जनसंख्या बढ़ती है और जब हम h पर पहुँचते है तो यह अनुकूलतम है। a से h तक कम जनसंख्या की स्थिति थी और उसमें वृद्धि से हम अनुकूलतम h तक पहुँचे।

जब तक हम h तक पहुँचे, प्रति व्यक्ति आय बढ रही थी तथा h पर यह अधिकतम थी। जब हम h पार कर जाते हैं तो प्रति-व्यक्ति आय गिरने लगती है। हम अनुकूलतम से भी अधिक बढ गए हैं और हम अब अधिक संख्या में हैं। यदि अब हम संख्या घटा दें तो प्रति व्यक्ति आय बढ जाएगी।

चित्र २५

कम जनसंख्या और अधिक जनसंख्या सापेक्षिक (relative) शब्द हैं। वे साधनों के सापेक्ष हैं। एक देश कम जनसंख्या वाला है क्योंकि उसके साधन अधिक हैं यदि साधन थोडे होते तो, हम उसे अधिक जनसंख्या वाला कहते। इसी भाँति एक देश को हम अधिक जनसंख्या वाला कहते हैं यदि उसके साधनों का विकास कम है। साधनों के पूर्ण विकास से अधिक जनसंख्या लुप्त हो सकती है यद्यपि जनसंख्या में कोई कमी न हुई हो।
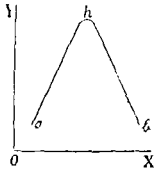
अनुकूलतम जनसंख्या स्थिर नहीं वरन अस्थिर है (Optimum is movable and not fixed)—*अनुकूलतम जनसंख्या दृढ रूप से स्थिर नहीं है। यह देश के उत्पादक स्रोतों (productive resources) में वृद्धि तथा कमी के अनुसार घटती बढती रहती है।* यह अनुकूलतम निरपेक्ष (absolute) नहीं है। यह उपलब्ध साधनों के सापेक्ष है। यदि विकास की योजनाएँ सफलतापूर्वक समाप्त हो रही हो तो प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि होगी और हमारा अनुकूलतम पहले की अपेक्षा एक नए उच्च स्तर पर पहुँच जाएगा। यदि दूसरी ओर कुछ साधन युद्ध अथवा राजनीतिक झगडा के कारण नष्ट हो जाते हैं या उनको हानि पहुँचती है, तो यह अनुकूलतम जनसंख्या अधिक जनसंख्या हो जाती है तथा नया अनुकूलतम नीचे स्तर पर होगा।

प्रत्येक देश की अवस्था गतिशील (Dynamic) होती है स्थिर नहीं। उत्पादन पद्धति में परिवर्तन होता रहता है, अधिक नए उपाय आरम्भ किए जा रहे हैं, नई क्रियाओं तथा नये पदार्थों का आविष्कार किया जा रहा है, पूँजी की वृद्धि हो रही है, प्राकृतिक साधनों का प्रयोग किया जा रहा है। इन स्थितियों में प्रति व्यक्ति आय बढनी चाहिए परन्तु जनसंख्या भी थोडी-बहुत बढती है। अतएव वह जनसंख्या जिसको हम आज ठीक परिमाण में समझते हैं कल कम अथवा अधिक जनसंख्या हो सकती है। इस प्रकार अनुकूलतम (optimum) निरन्तर बदलता रहता है।

अनुकूलतम सिद्धान्त हमें संख्या (जनसंख्या) की वृद्धि के बारे में नहीं बताता। यह जनसंख्या का सिद्धान्त नहीं है। यह तो अनुकूलतम के सिद्धान्त को किसी देश की जनसंख्या पर लागू करना मात्र है।

डा० डाल्टन (Dalton) ने अनुकूलतम जनसंख्या के सिद्धान्त को इस सूत्र में व्यक्त किया है —

$$M = \frac{A-O}{O}$$

जिसमे M = कुव्यवस्था की मात्रा
A = वास्तविक सख्या
O = अनुकूलतम सख्या

यदि "M" सकारात्मक (positive) है तो यह अधिक जनसख्या होगी और यदि यह नकारात्मक (negative) तो वह कम जनसख्या कहलाएगी। तथा जब वह शून्य हो तो जनसख्या अनुकूलतम होगी।

६ मालथस के सिद्धान्त और आधुनिक सिद्धान्त की तुलना (Malthusian Theory and Modern Theory Compared)—इन सिद्धान्तो के अध्ययन से हम उन लोगो से दृष्टिकोणो के महत्त्वपूर्ण अन्तर पर ध्यान दे सकते हैं जिन्होने उनको प्रस्तुत किया।

(१) मालथस (Malthus) ने अपना ध्यान खाद्य उत्पादन की ओर रखा जबकि अनुकूलतम सिद्धान्त आर्थिक उन्नति के सब पहलुओ पर ध्यान रखता है।

(२) ऐसा मालूम होता है कि मालथस (Malthus) के विचार से किसी देश के लिए एक अधिकतम जनसख्या होनी है जिससे अधिक होने पर दु ख मे वृद्धि होती है। अनुकूलतम सिद्धान्त के अनुसार ऐसी कोई अधिकतम सख्या नही होती है।

(३) मालथस (Malthus) के अनुसार अकाल, युद्ध तथा बीमारी अधिक जन सख्या के चिह्न थे। परन्तु अनुकूलतम सिद्धान्त से हमें पता चलता है कि इन दुखद घटनाओ के न होने पर भी जनसख्या अधिक हो सकती है यदि प्रति व्यक्ति आय कम हो जाए अथवा जनसख्या कम हो सकती है यदि प्रति व्यक्ति आय बढ जाए।

(४) आधुनिक सिद्धान्त आशावादी है जब कि मालथस (Malthus का सिद्धान्त निराशावादी है। मालथस को यह डर था कि जनसख्या खाद्य-पदार्थों की अपेक्षा अधिक गति से बढेगी। आधुनिक काल के अर्थशास्त्रियो को ऐसा डर नही है। 'मालथस को आने वाले नरक का डर था, अनुकूलतम सिद्धान्त के प्रस्तुत करने वालो को आने वाले स्वर्ग का गर्व है।"[1]

७ अधिक आबादी की कसौटी (Criteria of Over-population)—यह किस प्रकार जान सकते हैं कि अमुक देश म अधिक आबादी है। इसे जानने की कई कसौटियाँ हैं। मालथस के अनुसार प्राकृतिक विरोधो (positive checks) का लागू होना, जैसे युद्ध, अकाल और व्याधियाँ इस बात का निश्चित सकेत है कि देश म अधिक जनसख्या (over population) है। इनके अलावा अर्थशास्त्रियो ने कई दूसरे परीक्षण (tests) भी बताए हैं। उदाहरण के लिए, लगातार व्यापार सन्तुलन (balance of trade) का पक्ष में न होना, बेरोजगारी, गिरता हुआ जीवन स्तर तथा औसत आय (average income) तथा ऊँची प्रजनन तथा मरण-दर।

लेकिन जरा विचार करने से यह स्पष्ट हो जाएगा कि यह स्थिति सदैव बढती हुई जनसख्या के कारण ही उत्पन्न नही होती बल्कि कई दूसरे आर्थिक तथा

1 Malthus was obsessed by the fear of an impending economic Hell, the propounders of the optimum theory are elated with the hopes of a coming Paradise —Chatterjee

राजनीतिक कारणों से पैदा होती है। व्यापार सन्तुलन का विपरीत होना विदेशों में अधिक विनियोजन (investment) के कारण भी हो सकता है। बेरोजगारी आर्थिक व्यवस्था में अस्थायी रूप से गड़बड़ के कारण हो सकती है। इसी प्रकार औसत आय में कमी और इस तरह निर्वाह स्तर में गिरावट राज्य की दोषपूर्ण आर्थिक नीति के कारण हो सकती है। ऊँची प्रजनन दर का प्रलोभन विस्तृत अर्थ व्यवस्था तथा सेना की बढ़ती हुई जरूरतों को पूरा करने के लिए हो सकता है। अधिक मृत्यु-दर देश में अपर्याप्त अथवा अदक्ष स्वास्थ्य सेवाओं के कारण भी हो सकती है।

इस तरह अधिक जनसंख्या जानने के लिए कोई निश्चित उपाय नहीं है। साथ ही कम रोजगार (under-employment) की स्थिति दुर्बल स्वास्थ्य तथा गरीबी इस बात का पर्याप्त संकेत है कि तीव्र गति से बढ़ रही जनसंख्या देश के दुर्लभ स्रोतों (slender resources) पर भार डाल रही है। भारत में यही स्थिति है।

८ क्या जनसंख्या की वृद्धि एक अभिशाप है (Is Increasing Population a Curse ?) नहीं, सदैव नहीं। और न जनसंख्या की वृद्धि सदैव सुखदायक ही है। अनुकूलतम (optimum) का सिद्धान्त हमको जनसंख्या की गति को ठीक से समझने में सहायता देता है।

डार्लिंग (Darling) ने एक बार भारत के बारे में कहा था कि प्रकृति अथवा अच्छे शासन के सभी गुण जनसंख्या में वृद्धि होने के कारण मिट गए। वास्तव में भारत अधिक जनसंख्या वाला देश है। निर्धनता जिसकी समानता संसार में कहीं नहीं है, यहाँ पाई जाती है। जीवन स्तर बहुत नीचा है मृत्यु-दर संसार भर से ऊँची है। इस देश में अकाल पड़ता ही रहता है और बीमारी फैलती रहती है। अतः भारत के लिए अत्यधिक जनसंख्या अभिशाप है।

परन्तु बढ़ती हुई जनसंख्या सदैव एक अभिशाप ही नहीं है। अधिक जनसंख्या आर्थिक सहयोग में सहायता देती है तथा उत्पादन प्रोत्साहित करती है। श्रम विभाजन (division of labour) तथा विशेषीकरण (specialisation) के लिए अच्छा अवसर मिलता है। बढ़ती हुई जनसंख्या एक निरन्तर बढ़ने वाली मण्डी प्रदान करती है जिसमें पूँजी के सुरक्षित तथा लाभदायक विनियोजन (investment) की गारन्टी होती है। हमारा बढ़ती हुई जनसंख्या नई आर्थिक व्यवस्था को अपनाने में सहायक होती है। सदैव बढ़ती हुई जनसंख्या वाले देश में नई पीढ़ी के लोग नए कार्यों के करने को तैयार हो जाते हैं। प्रचलित अर्थ-व्यवस्था अपने आपको नए परिवर्तनों तथा आवश्यकताओं के पूर्णतः अनुकूल बना लेती है।

परन्तु बढ़ती हुई जनसंख्या तभी वांछनीय होगी जबकि जनसंख्या अनुकूलतम से कम है (*But increasing population is desirable only when population is less than the optimum*)—अर्थात् जब मानव शक्ति ऐसे अनुपातों में पर्याप्त नहीं है कि देश के उचित साधनों का आर्थिक विकास सम्भव है। यदि जनसंख्या अनुकूलतम से अधिक है, तो उसमें कमी वांछनीय होगी।

इसलिए कौनसी जनसंख्या अधिक उचित है—बढ़ती हुई अथवा घटती हुई? हम किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं कर सकते। यह जनसंख्या की वर्तमान स्थिति

पर निर्भर है। यदि यह अनुकूलतम से कम है तो बढ़ती हुई जनसंख्या अधिक अच्छी होगी और यदि यह अनुकूलतम से अधिक है तो इसमें कमी होना उचित है। अनुकूलतम को पाने तथा उसकी ओर जाने का ही आवश्यकता है।

६. शुद्ध प्रजनन दर (Net Reproduction Rate)—यदि कोई राष्ट्र आर्थिक समृद्धि चाहता है तो उसे निरन्तर यह देखते रहना चाहिए कि देश की जनसंख्या अनुकूलतम (optimum) से आगे न बढ़ने पावे। जनसंख्या की वृद्धि जानने के लिए कुजिन्सकी (Kuczynski) ने एक नवीन रीति बतलाई है, यह शुद्ध प्रजनन या पुनरुत्पादन-दर के ज्ञात करने से सम्बद्ध है। यह ज्ञात होगा कि मृत्यु से जन्म की अधिकता जनसंख्या म वास्तविक वृद्धि प्रस्तुत करती है। परन्तु यह गलत है। फ्रांस और इंगलैण्ड में सन् १६४० म जन्म-दर तथा मृत्यु दर का अन्तर २ तथा ५ प्रति १,००० है जो कि जन्म-संख्या म वृद्धि बताता है। वास्तव म यह देश घटती हुई जनसंख्या प्रस्तुत करते हैं। यह इस नई रीति से दिखाया गया है।

कुजिन्सकी (Kuczynski) इस रीति को इस प्रकार वर्णन करते हैं—'तत्सगत प्रश्न यह नहीं है कि क्या मृत्यु दर से जन्म-दर अधिक है, परन्तु यह है कि क्या जन्म-संख्या तथा मृत्यु-संख्या इतनी है कि एक पीढ़ी जिसमे यह स्थायी रूप से पाय जाते है, अपने जीवन काल म अन्त से पहले-पहल पीढ़ी की जगह लेने के लिए पर्याप्त शिशु उत्पन्न करते हैं ? क्योंकि हम यहाँ पर जन्म दर से ही सम्बद्ध हैं अतएव स्त्री जनसंख्या का ध्यान रखना काफी होगा तब तत्सगत प्रश्न यह है कि क्या मृत्यु-दर तथा जन्म-दर इतने है कि १,००० नई पैदा हुई लड़कियाँ अपने जीवन काल म १,००० लड़कियों को जन्म देंगी ? सर्वप्रथम यह निश्चय करना आवश्यक हो जाता है कि प्रचलित मृत्यु संख्या के आधार पर १,००० नई पैदा की हुई लड़कियों म से कितनी बच्चे पैदा करने वाली अवस्था अर्थात् १५ वर्ष तक पहुँचती हैं, कितनी १६ तक पहुँचती हैं आदि और अन्त म कितनी बच्चा पैदा करने की अवस्था अर्थात् ५० वर्ष को पार कर जाती है।[1] संक्षेप म हम यह मालूम करना है कि पहली १,००० लड़कियों की कितनी लड़किया पैदा होती हैं। यदि १,००० पैदा हुई लड़कियों में से १,००० लड़कियाँ बच्चे पैदा करने की अवस्था तक जीवित रहती हैं तो जनसंख्या समान (stationary) है, यदि १,००० से अधिक बचती हैं तो बढ़ती है अन्यथा घटती है। "वह दर जिस पर कि स्त्री जनसंख्या अपने आपको प्रतिस्थापित कर रही है वास्तविक पुनरुत्पादन दर है।'[2]

डाक्टर एरिड चार्ल्स (Dr Erid Charles) के शब्दों मे "मुख्य बात यह है कि एक वर्ष म जन्म-संख्या स्वयं जनसंख्या की प्रजनन शक्ति का चिह्न नहीं है क्योंकि मानव जाति अपने जीवन के एक विशिष्ट काल म ही माता-पिता हो सकते है।" इस प्रकार केवल जन्म दर तथा मृत्यु दर पर आधारित अकगणितात्मक गणना काफी नहीं

1 Kuczynski—Balance of Births and Deaths pp 41 44 quoted in Economic Problems of Modern India edited by Prof Radha Kamal Mukerjee, pp 90—91.

2 'The rate at which the female population is replacing itself is the net reproduction rate —Kuczynski Ibid

है। हमे प्रत्येक बच्चा पैदा करने वाली आयु के समुदाय मे जन्म की आवृत्ति (frequency) का अथवा मृत्यु-दर का ध्यान रखकर हर समुदाय म जीवित रहने के अवसरो का विचार करना पडता है। केवल तभी हम वास्तविक पुनरुत्पादन (reproduction) दर मालूम कर सकते है।

हम अपने वास्तविक प्रजनन दर की गणना के लिए मिस्टर ईट्स (Mr Yeats) के जो कि सन् १६४१ मे भारत के जनगणना के कमिश्नर थे, ऋणी है। निम्न तालिका उनकी रीति स्पष्ट करती है[1]: —

भारतवर्ष मे सकल तथा शुद्ध प्रजनन दर

(Gross and Net Reproduction Rate in India)

आयु वर्ग	प्रत्येक ग्रुप की १,००० स्त्रियों में पैदा हुए बच्चों की कुल सख्या	प्रत्येक ग्रुप की १ ००० स्त्रियों में पैदा की हुई लड़कियों का कुल सख्या	प्रत्येक १,००० पैदा की हुई लड़कियों मे से जीवित रहने वालों की सख्या	वर्तमान स्त्रियों का प्रतिस्थापन करने वाली जीवित स्त्रियों की सख्या
१५-२०	६६१ २	३३२	५४८ ६४	१८२
२१-२५	१६७० २	८०३	४६६ ३७	४०१
२६ ३०	१५२६.५	७४८	४४७ ६५	३३५
३१ ३५	६०२ २	६३४	३६४ ३८	१७१
३६ ४०	४३० ५	२०७	३३६ ७७	७०
४१ ४५	१८८ ८	६१	२८५ ३२	२६
४६ ५०	७६ ६	३८	२१४ ०१	६
	५५१६ ३	२,८५३	२७४६ ७४	१ १६४

सकल (gross) प्रजनन दर पक्ति ३ म दी गई है जो कि १,००० स्त्रियो म लडकियो को पैदा होने की सख्या बताती है।

$$\text{यह } \frac{२८५३}{१०००} = २ ८५३ \text{ है।}$$

शुद्ध (net) प्रजनन दर जो कि पक्ति (column) ५ म है वर्तमान स्त्रियो का प्रतिस्थापन करने वाली जीवित जनसख्या बताती है। यह $\frac{११६४}{१,०००} = १ १६४$ है। इसका अर्थ यह है कि एक स्त्री १ १६४ से प्रतिस्थापित होती है। १,००० स्त्रियो की अपेक्षा १,१६४ स्त्रियाँ हो जाती हैं। यह जनसख्या की वृद्धि बताती है।

सकल तथा शुद्ध प्रजनन दर प्रति इकाई म दिया हुआ है, न कि प्रति १,००० अथवा १०० म।

---

1. Brij Narain—Indian Economic Problems Pre war and Post War, p. 16

कुछ अन्य देशो की सकल तथा शुद्ध प्रजनन दर निम्नलिखित है :—[1]

देश (country)	वर्ष (year)	शुद्ध उत्पादन दर (net reproduction rate)
यू० एस० ए०	१९३९-४१	१ ०१
जापान	१९३७	१ ४४
फ्रास	१९३९	० ९
जर्मनी	१९३९	० ९३
इटली	१९३५-३७	१'१३
इंग्लिस्तान	१९४४	०'९९
सोवियत यूनियन	१९३५	१'४
स्वीडन	१९४२	० =४

इस तालिका में यू० एस० ए०, फ्रास, इंग्लैण्ड, जर्मनी तथा स्वीडन की शुद्ध प्रजनन दर १ ० से कम है। ये देश गिरती हुई जनसख्या प्रस्तुत करते है, उदाहरणार्थ इंग्लैण्ड म १०० स्त्रियो म ९० जीवित रहती हैं। इटली, सोवियत रूस तथा जापान म शुद्ध प्रजनन समैक (unity) से अधिक है, जिसका अर्थ है बढती हुई आबादी। अमरीका (U S A) म शुद्ध पुन उत्पादन पर समैक (unity) के इर्द गिर्द सन्तुलित हो गई, जिसका अर्थ है स्थायी आबादी।

१० श्रम दक्षता के साधन (Factors of Labour Efficiency)—ऊपर हमने श्रम का मात्रिक (quantitative) रूप अर्थात् जनसख्या की समस्या का वर्णन किया है अब हमको गुणात्मक (qualitative) रूप अर्थात् श्रमिक दक्षता की समस्या के विषय म ध्यान देना चाहिए।

यह तो निर्विवाद है कि श्रम की कार्यपटुता या दक्षता राष्ट्रीय हित की बात है। यह आर्थिक पुनर्जीवन का शक्तिसम्पन्न पुर्जा है। जापान की आर्थिक सम्पन्नता अधिकतर जापानियो की देशभक्ति तथा कार्यपटुता के कारण है। कार्यपटु या दक्ष श्रमिक समय अथवा माल का दुरुपयोग नही करता। वह मशीन का होशियारी से उपयोग करता है। उस पर निगाह रखने की बहुत कम जरूरत पडती है। वह बुद्धि से काम लेता है और उसम उपक्रम (initiative) और जिम्मेदारी की प्रबल भावना होती है। कम लागत (cost) पर ज्यादा पैदावार होती है जिससे उद्योग की स्पर्द्धा शक्ति (competitive power) बढ जाती है।

ऐसे बहुत से साधन है जो कि ससार अथवा किसी भी देश के श्रमिको की सापेक्ष कार्यकुशलता का विवरण प्रस्तुत करते हैं। निम्नलिखित कुछ विशेष ऐसे साधन हैं जो श्रम की कुशलता या दक्षता पर प्रभाव डालते हैं—

(१) जातीय गुण (Racial qualities)—श्रम की कुशलता जातीय तथा पैतृक नस्ल पर जिससे कि श्रमिक सम्बद्ध होता है निर्भर है। पजाब के सीमा वाले प्रदेशो का जाट बहुत ही हृष्ट पुष्ट तथा उद्यमी होता है। एक बगाली अथवा एक उत्तर प्रदेश का श्रमिक शारीरिक सहनशीलता म उसके समान नही है। यह जातीय गुण के कारण है।

1 Samuelson, P A.—Economics (1948), p 29.

(२) प्राकृतिक तथा जलवायु के कारण (The Natural and the climate factor)—एक ठंडी, शक्ति देने वाली जलवायु कठिन परिश्रम के लिए प्रोत्साहित करती है जब कि उष्ण (tropical) जलवायु श्रमिक को दुर्बल बना देती है। जहाँ जीविका निरन्तर सघर्ष से प्राप्त करनी पडती है, वहाँ मानवीय नस्ल, उस स्थान से जहाँ प्रकृति उदार है उत्तम है। ठंडे तथा सम शीतोष्ण (temperate) भागों मे रहने वाले मनुष्य, उष्ण तथा कम उष्ण भागो म रहने वालो की अपेक्षा कार्यपटु एव दक्ष होते हैं। यही कारण है कि यूरोप के श्रमिक, एशिया के श्रमिको की अपेक्षा अधिक काम करने वाले एव कार्यपटु होते हैं।

(३) शिक्षा (Education)—श्रम की दक्षता एव कार्यकुशलता शिक्षा पर भी निर्भर है। टेक्नीकल तथा साधारण शिक्षा उचित प्रवृत्तियो को प्रोत्साहित करती है तथा चरित्र को दृढ बनाती है। इसम तनिक सन्देह नही है कि एक शिक्षित श्रमिक अधिक साधनसम्पन्न तथा जिम्मेदार होता है। एक टेक्नीकल ट्रेनिंग प्राप्त व्यक्ति अवश्य ही अधिक कार्यपटु होगा

(४) व्यक्तिगत गुण (Individual and Personal qualities)—श्रमिक की कुशलता उसके व्यक्तिगत गुणो पर भी निर्भर है। यदि श्रमिक मजदूर डील-डौल, मानसिक चौकसी, बुद्धि, साधनसम्पन्नता तथा उपक्रम की भावना रखता है तथा यदि वह गम्भीर और अधिक उत्तरदायित्वपूण है तो वह अधिक उत्पादन करने वाला होगा।

(५) औद्योगिक सगठन तथा उपकरण (Industrial Organisation and Equipments)—औद्योगिक सगठन तथा श्रमिकों को दी हुई सामग्री से भी उनकी कार्यकुशलता एव दक्षता निश्चित होती है। एक दूसरे दर्जे का उद्यमी जो कि पुरानी मशीन तथा घटिया माल इस्तेमाल करता है बढिया सामान तैयार नही कर सकता। ऐसी स्थितियो म श्रमिक की दक्षता अवश्य कम हो जाएगी।

(६) कारखाने की स्थितियाँ (Factory Environments)—यदि वातावरण खराब है तो श्रम कम कुशल होगा। सकुचित तथा कम हवादार कारखानो मे जो कि घने तथा अस्वस्थ्य स्थितियो म बने हैं श्रमिक भली भाँति कार्य नही कर सकता। भारतीय कारखानो की स्थिति ऐसी ही है तभी तो हमारे श्रमिकों की कार्य-दक्षता कम है। इसके विपरीत हवादार तथा प्रफुल्ल वातावरण अच्छा और अधिक काम करने को प्रोत्साहित करता है।

(७) काम के घटे (Working Hours)—जितने घटे श्रमिक को काम करना पडता है उनका भी कार्यकुशलता पर प्रभाव पडता है। काम के लम्बे घटे जिनमे विश्राम का ठीक प्रबन्ध न हो तथा जिनमे आराम अथवा मनोरजन के हेतु कोई समय न मिलता हो, श्रमिको की कार्यक्षमता को गिराने के सिवा और कुछ नही करते। यह भी एक कारण है कि भारतीय श्रमिक की कार्य दक्षता कम है।

(८) सन्तोषजनक तथा शीघ्र भुगतान (Fair and Prompt Payment)—अच्छी मजदूरी पाने वाला श्रमिक साधारणत सन्तुष्ट रहता है और काम में मन लगाता है। यह मुख्यत. तभी हाता है जब कि मजदूरी शीघ्र और समय पर दी जाती

है। सही मजदूरी से खाना कपड़ा और स्वास्थ्यप्रद मकान आदि प्राप्त हो जाता है जिससे पटुता बढ़ जाती है। भारत म मजदूरी तो कम है किन्तु १९३६ के मजदूरी भुगतान अधिनियम (payment of wages act) के पास होन के बाद से भुगतान ठीक समय पर हो रहा है।

(९) श्रम सगठन (Labour Organisation)—सगठित प्रयत्न सदैव प्रभावपूर्ण होता है। यदि श्रमिक श्रम कारखान के अ दर श्रम विभाजन के द्वारा तथा कारखाने के बाहर एक मजदूर सघ के रूप म ठीक प्रकार से सगठित है तो श्रमिको की कुशलता अवश्य बढ जाएगी।

(१०) सामाजिक तथा राजनीतिक कारण (Social and Political Factors)—सामाजिक सुरक्षा (security) की योजनाएँ जो श्रमिको को आवश्यकता तथा भय से और बेकारी की भयकरता से मुक्त करती ह श्रम के गौरव और मर्यादा को बढ़ाएँगी। वे मेहनत से काम करके समाज की सेवा के लिए तैयार रहेगी। हमारे श्रमिका की पीठ पर सामाजिक सुरक्षा का हाथ नही है। हाल ही म श्रमिको के लिए बीमा योजना और भविष्यनिधि योजनाएँ चालू की गई ह।

भारतीय श्रमिको की कार्य पटुता क्यो कम है ? (Why Indian Labour is less efficient)—यह स्मरण रहे कि उत्पादन एक सहकारी प्रयत्न (co operative effort) है तथा श्रम की कार्यकुशलता केवल श्रमिक के व्यक्तिगत गुणो पर निभर नही है। भारतीय मजदूर स्वाभाविक अयोग्यता के कारण नही वरन् प्राकृतिक तथा वातावरण के कारण अपेक्षाकृत कम कार्यपटु है। वह मलिन जलवायु मे रहता है जिससे उसका शरीर दुबल होता है। तेज गर्मी और जाडा कारखान के काम को कठिन परीक्षा सा बना देता है। वह जो कुछ पारिश्रमिक पाता ह केवल उसके दु खद जीवन गुजारने भर को होता है। कारखान की हालत बहुत दम घोटनेवाली है और उसकी रुचि के विपरीत है। उद्यमी की कुशलता तथा कारखान की सामग्री रद्दी किस्म की है। वह ज्यादा समय तक काम करने को बाध्य किया जाता है। वह अशिक्षित तथा रूढिवादी है। वास्तव मे यह आश्चय की बात है कि वह इन हालात म इतना काम भी कर रहा है।

निर्देशक पुस्तक

Marshall A Principles of Economics
Adam Smith Inquiry into the Nature and Causes of the Wealth of Nations
Benham F Economics
Pearl The Biology of Population Growth
Yule The Growth of Population and the Factors that control it —J R S S Jan 1925
Hicks J R Theory of Wages
Robertson D A G Structure of Competitive Industry
Fraser L M Economic Thought and Language (194) Ch 11 and 13
Robbins L Article on Optimum Theory of Population in Essays in Honour of Edwin Cannan

अध्याय ६

मशीन तथा श्रम-विभाजन

(Machinery and Division of Labour)

१ मशीन का उपयोग (Use of Machinery)—आधुनिक युग यन्त्र युग है। यन्त्र ने मनुष्य पर भी प्रभुत्व जमा रखा है। भीमकाय शक्ति, आश्चर्यजनक सुकुमारता तथा विस्मयकारी जटिलता से युक्त मशीनो ने प्राय समस्त उत्पादन-व्यवस्था पर अधिकार कर रखा है।

इसके उपयोग (Its Uses)—यन्त्र-व्यवस्था द्वारा हुए हित का दो शब्दो में वर्णन किया गया है शक्ति (Power) और सूक्ष्मता तथा सुतथ्यता (Precision)।[1] मशीनो के प्रयोग से अनेक बडे लाभ होते हैं, जैसे उत्पादन में उन्नति श्रमिक के लिए सुविधा और समाज-कल्याण आदि।

मशीन के सहारे ही मनुष्य ने प्रकृति पर अपना प्रभुत्व बढाया है और फलस्वरूप प्रकृति की विशाल शक्तियाँ मानवता की सेवा के लिए काम म ली गई हैं।

समय, स्थल तथा गुरुत्वाकर्षण शक्ति की भौतिक सीमाएँ (Physical limitations) तीव्र गति से समाप्त होती जा रही हैं। चन्द्रलोक की यात्रा भी अब बिलकुल असम्भव नही कही जा सकती। मनुष्य के हाथो काय इतने शीघ्र नहीं हो सकते। सिगरेट का कारखाना एक मिनट म २५० हजार सिगरेट बना सकता है। यन्त्र इस आश्चयजनक सूक्ष्मता तथा सुतथ्यता (precision) से कार्य करता है कि प्रत्येक निर्मित सामग्री दूसरे के ठीक अनुरूप होती है। ऐसी एक समान उत्पादन-व्यवस्था बिना, आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था कुछ काम न कर पाती। विभिन्न उद्योगो मे प्रणाली की समता के कारण श्रम की गतिशीलता (mobility) और बढ गई है। सस्ती तथा उपयोगी सामग्री के उत्पादन द्वारा तथा परिवहन (transport) की सुविधा में वृद्धि के कारण समाज को बहुत लाभ हुआ है। श्रमिक को अरुचिकर तथा कष्टसाध्य कार्य से छूट मिल गई है। दिन भर के परिश्रम की अवधि को घटाकर अब वह अधिक अवकाश प्राप्त करता है। उसकी प्रतिभा, कौशल, एव श्रम निपुणता का स्तर ऊँचा हो गया है। क्योकि एक आलसी श्रमिक मशीनो का समुचित सचालन नहीं कर सकता।

इसके दुरुपयोग (Its Abuses)—किन्तु इसका दूसरा पक्ष भी है। घन बसे हुए, दुर्गन्धयुक्त, गन्दे नगर, आवश्यकता से अधिक श्रमिको से युक्त कारखाने, मनुष्य की नैतिकता के लिए अपनी सम्पूर्ण विपत्तियों सहित, औरतो तथा बालको से अनुचित लाभ, कारीगरों के स्वावलम्बन का अभाव आदि यन्त्र-व्यवस्था के कुछ दोष हैं।

---

1 Cairncross—Introduction to Economics (1944), p 46

कारीगर बेचारा 'कल चलाने वाले" की स्थिति को पहुँच गया है। हम जानते हैं कि विदेश से होने वाली यन्त्र-स्पर्द्धा ने किस प्रकार हमारे उद्योगों को नष्ट कर दिया है तथा ढाका की मलमल के बनाने वाले कारीगर अब बड़ी संख्या में कौशल विहीन श्रमिक बन गए हैं। मनुष्य मशीन के भीतर का एक पुर्जा मात्र रह गया है। कलात्मक वस्तु-उत्पादन समाप्त हो गया है। लाभ के लिए निर्मित अविश्वसनीय तथा कम टिकाऊ वस्तुओं से बाजार भरे पड़े हैं। पूंजीवाद तथा फैक्टरी व्यवस्था की समस्त बुराइयाँ यन्त्र प्रणाली के साथ प्रारम्भ हो जाती हैं।

क्या मशीनों से बेकारी पैदा होती है ? (Does Machinery Create Unemployment ?)—श्रम की बेकारी के लिए मशीन कहाँ तक उत्तरदायी है ? निःसन्देह कलों का तात्कालिक प्रभाव श्रमिकों को कार्य से जुदा करना होता है। वह जो बेकार हो जाते हैं विशेषकर वृद्ध श्रमिक सम्भव है उन्हें भविष्य में फिर कोई अच्छा काम न मिले।

लेकिन कुछ समय तो समायोजन (adjustment) में लगेगा ही, और लम्बे अर्से में कभी न कभी व्यवसाय या काम में वृद्धि होगी। इसमें किसको सन्देह होगा कि औद्योगिक व्यवस्था के पूर्व की अपेक्षा आज इंगलैंड कहीं अधिक लोगों के लिए नौकरी का प्रबन्ध करता है। इस प्रकार अधिक कार्य नियोजन (employment) होता है। मशीन की बनी वस्तुएं सस्ती होती हैं। उनकी माग बढ़ जाती है तथा उत्पादन की सम्भावना की ओर अधिक वृद्धि से और अधिक मनुष्यों को कार्य मिलेगा। अथवा कई नई वस्तुओं की आवश्यकता बढ़ेगी तथा उनको बनाने के लिए मनुष्यों की आवश्यकता होगी। यदि मनुष्य अधिक वस्तुएं नहीं खरीदता तो वह धन जोड़ेगा। इस प्रकार संचित पूंजी से नए उद्योग चालू होंगे। मशीनों के निर्माण के लिए मनुष्यों की आवश्यकता होगी। उनकी मरम्मत तथा इस सम्बन्ध के अनेक कार्यों के लिए मनुष्यों की आवश्यकता होगी। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मशीन से तत्काल तो चाहे बेकारी उत्पन्न हो, किन्तु आगे जाकर इससे अधिक कार्य नियोजन होगा।

२ श्रम विभाजन (Division of Labour)—मशीन के विस्तृत उपयोग के अतिरिक्त, वर्तमान उत्पादन की प्रधान विशेषता श्रम विभाजन है। वास्तव में, श्रम-विभाजन तथा मशीनों का उपयोग साथ साथ चलता है। आज हम यह देखते हैं कि एक वस्तु का निर्माण अनेक प्रणालियों (processes) में विभक्त होता है और प्रत्येक प्रणाली श्रमिकों के जुदा ग्रुप द्वारा पूरी होती है। इसे श्रम विभाजन कहते हैं। अधिक उपयुक्त शब्दों में इसे विशेषीकरण (specialisation) कहते हैं।

यह (क) साधारण श्रम-विभाजन (Simple Division of Labour) हो सकता है जबकि कार्य संयुक्त रीति से होता है, और यह कहना सम्भव नहीं होता कि प्रत्येक व्यक्ति ने कितना कार्य किया है—जैसे किसी भारी बोझ के उठाने में। (ख) जटिल श्रम विभाजन (Complex Division of Labour)—जब प्रत्येक प्रणाली जुदा ग्रुप द्वारा की जाती है और (ग) प्रादेशिक श्रम विभाजन (Territorial Division of Labour)—जब किसी स्थान के व्यक्ति किसी विशेष सामग्री के उत्पा-

दन की विशेष योग्यता प्राप्त कर लेते हैं। इसे हम उद्योगो का स्थानीयकरण (Localisation of Industries) कह सकते हैं।

३ श्रम-विभाजन के लाभ (Advantages of Division of Labour)—श्रम-विभाजन-व्यवस्था के अनेक लाभ माने गए हैं। अर्थ-विज्ञान के इस अश के प्रति ऐडम स्मिथ (Adam Smith) की देन आज भी प्रतिष्ठित समझी जाती है। श्रम-विभाजन निम्नलिखित रूपो मे लाभदायी सिद्ध हुआ है —

(१) उत्पादन शक्ति में वृद्धि (Increase in Productivity)—ऐडम स्मिथ (Adam Smith) इसके लिए पिन उत्पादन उद्योग का उदाहरण देते हैं। पिन उत्पादन को वह १८ विभिन्न क्रियाओ मे विभक्त करते हैं। दस व्यक्ति एक दिन मे ४८,००० पिन बना सकते हैं। अस्तु, एक दिन म एक मजदूर ४,८०० पिन बना लेता है। श्रम विभाजन तथा मशीन के अभाव मे एक व्यक्ति एक दिन म कठिनाई से एक 'पिन' बना पाता और बीस पिन तो कदापि न बना सकता।

क्या उत्पादन शक्ति की यह वृद्धि केवल श्रम विभाजन ही के कारण है ? (Is Increase in Productivity due simply to Division of Labour)—किन्तु अन्य कारणो की उपेक्षा करके केवल श्रम विभाजन को इस वृद्धि का कारण मान लेना अनुचित होगा। टेक्नीकल ज्ञान की प्रगति, अनेक वैज्ञानिक अन्वेषण और खोजें तथा पूंजी का सचय भी अन्य महत्त्वपूर्ण कारण हैं जिनसे उत्पादन-शक्ति म वृद्धि हुई है। इन सभी कारणो से भूमि की उत्पादन शक्ति म वृद्धि हुई है। विज्ञान के कारण भूमि की उत्पादन-शक्ति में वृद्धि हुई है और तकनीकी शिक्षा के द्वारा श्रमिको की कार्यदक्षता बढी है। इन सभी कारणो का सामूहिक फल उत्पादन-सामर्थ्य की वृद्धि है।

(२) श्रम कौशल तथा निपुणता में वृद्धि (Increase in Dexterity and Skill)—अभ्यास से ही मनुष्य म पूर्ण निपुणता आती है। बार-बार एक ही कार्य करते रहने से मजदूर कुशल हो जाता है।

(३) आविष्कारो की अधिक सम्भावना (Inventions are Facilitated)—मशीन स्वत चलती रहती है। अत खाली बैठे बैठे श्रमिक की बौद्धिक एव मानसिक वृत्तियाँ उस ओर अधिक निपुणता से सोचा करती हैं। प्राय नए विचार आते रहते हैं, जिससे आविष्कार सम्भव होते हैं।

(४) यन्त्रो को उपयोग में लाने की सुविधा (Introduction of Machinery Facilitated)—जब मनुष्य को बार-बार एक ही कार्य करना पडता है तो अपनी सुविधा एव बचत के लिए वह कोई सरल मशीनी उपयोग सोच निकालता है। इस साधारण काम को मशीन द्वारा करना सम्भव हो जाता है।

(५) समय की बचत (Saving in Time)—श्रम-विभाजन-व्यवस्था के अन्तर्गत श्रमिक को एक ही कार्यविधि म लगे रहना होता है। किसी विशेष व्यापार को समझने के लिए समस्त व्यापार की अपेक्षा कम समय लगता है।

(६) औजारों तथा उपकरणों की बचत (Saving in Tools and Implements)—जब श्रमिक को कुल कार्य का एक भाग ही करना पड़ता है, जैसे कुर्सी

के पाँव बनाना, तो उसे सब तरह के औजार देने की आवश्यकता नही रह जाती। औजारो के एक सेट (set) से कई कारीगर एक समय में काम कर सकते हैं।

(७) कार्य-नियोजन की अनेकरूपता (Diversity of Employment)—श्रम विभाजन से कार्य की सख्या तथा विभिन्नता मे वृद्धि होती है तथा कार्य-नियोजन (employment) म अनेकरूपता आ जाती है।

(८) बड़े पैमाने का उत्पादन (Large-scale Production)—श्रम विभाजन से उत्पादन बड़े पैमाने म होने लगता है। प्रचुर मात्रा म हुए उत्पादन का लाभ सभी प्रकार की बचत के रूप म समाज को होता है।

तैयार माल की मात्रा में ही वृद्धि नही होती वरन् उसकी क्वालिटी में भी, चूंकि माल कुशल कारीगरो द्वारा तैयार किया जाता है।

(९) उपयुक्त कार्य के लिए उपयुक्त व्यक्ति (Right Man in the Right Place)—श्रम-विभाजन के अ तर्गत श्रमिक इस प्रकार बँट जाते हैं कि प्रत्येक श्रमिक अपने कौशल का कार्य करता है। इस प्रकार कार्य की अनुपयुक्तता तथा असगति नही रहती।

४ श्रम विभाजन से हानियाँ (Disadvantages of Division of Labour)—हमने देखा है कि श्रम विभाजन पद्धति से समाज की उत्पादन-सामर्थ्य के अवसरो की वृद्धि होती है। किन्तु चैपमैन (Chapman) का कथन है कि 'किसी उत्पादन प्रणाली का उत्पादन-सामर्थ्य ही उसके महत्त्व की एकमात्र कसौटी नही है। जीवन का उद्देश्य केवल सामग्री प्रचुर मात्रा म प्राप्त कर लेना ही नही होता।" हम यह देखना होगा कि मनुष्य जिसके लिए उत्पादन किया जाता है, श्रम-विभाजन के कारण किस प्रकार प्रभावित हुआ है। इस दृष्टि से देखने पर यह सिद्ध नही होता कि श्रम विभाजन से केवल लाभ ही होते हैं। श्रम-विभाजन के फलस्वरूप निम्नलिखित दोष भी होते हैं—

(१) नीरसता (Monotony)—श्रमिक बार-बार एक ही कार्य करने के कारण एक प्रकार की नीरसता का अनुभव करने लगता है तथा कार्य साधारण कोटि का तथा कौशलहीन हो जाता है। उसे अपने काय की ओर से अरुचि होने लगती है।

(२) मनुष्य के विकास में बाधक (Retards Human Development)—मनुष्य का शारीरिक तथा मानसिक विकास उसके कार्य से बहुत प्रभावित होता है। श्रमिक को एक ही प्रकार का कार्य बार-बार करने से शरीर तथा मन की गति एक ही दिशा मे रहती है। एक प्रकार की बार-बार क्रियाशीलता व्यक्ति के मन को कुंठित तथा दृष्टिकोण को सीमित कर देती है। नीरसता से आत्मा का हनन होता है।

(३) मानवीय प्रेरणा-रहित उद्योग (Industry De-humanised)—श्रम-विभाजन के अन्तर्गत कई लोग मिलकर एक चीज तैयार करते हैं। "सब लोगो के द्वारा किया गया कार्य किसी भी व्यक्ति का कार्य नही होता।" कारीगर में उत्तरदायित्व और स्वाभिमान की भावना नष्ट हो जाती है। इस प्रकार उद्योग के भीतर से मानवोचित स्फूर्ति निकल जाती है।

(४) कौशल की हानि (Loss of Skill) —कुशल शिल्पकार अपना कौशल खो देता है। उसे या तो केवल कातना आता है अथवा बुनना। या तो वह कुर्सी का पाया बना पाता है अथवा फिर कुर्सी पर बैठने का स्थान। सम्पूर्ण कुर्सी बनाने की सामर्थ्य उसमे नही रह जाती।

(५) बेकारी की आशका (Risk of Unemployment)—कार्य के केवल एक अग के निर्माण का ज्ञान रखने वाले श्रमिक को बेकारी का सदा डर रहता है। यदि उसका प्रस्तुत कार्य छूट जाए तो सम्भव है दूसरे स्थान पर उसे कार्य न मिल पाए। इस प्रकार उसके सामने बेरोज़गारी का डर सदैव बना रहता है।

(६) श्रम-विभाजन से पारिवारिक जीवन में गडबड होती है (Disrupts Family Life)—श्रम-विभाजन व्यवस्था मे औरतो तथा बच्चो को भी उनके अनुकूल कार्य मिलने का अवसर रहता है। कारखानो म औरतो का अधिक सख्या म कार्य करना गृहस्थ जीवन में गडबड उत्पन्न कर देता है तथा बच्चो को काम म लगाने से राष्ट्र के मूल्यवान मानवीय स्रोत का व्यर्थ ही क्षय होता है। यह राष्ट्रीय हानि है।

(७) श्रम-विभाजन तथा फैक्टरी व्यवस्था से हानियाँ (Division of Labour and Evils of Factory System)—फैक्टरी व्यवस्था से सम्बद्ध होने से श्रम विभाजन में अनेक दोष उत्पन्न हो गए हैं। कारखाने का वातावरण दुर्गन्ध-युक्त बना रहता है। आबादी की अधिकता से चरित्र का पतन होता है। आस पास की गन्दगी से रोग फैलते हैं। मनुष्य मशीन तथा उद्योगपति का दास हो जाता है।

फिर भी श्रम विभाजन पद्धति स्थायी रूप से चल रही है। दिन भर के कार्यों की अवधि का घट जाना तथा अवकाश की वृद्धि, शिक्षा का प्रसार, मजदूरी मे वृद्धि आदि कुछ ऐसे उपाय हैं जिनके द्वारा श्रम-विभाजन के दोषो को दूर किया जा सकता है और श्रमिक के व्यक्तित्व को ऊँचा उठाया जा सकता है।

श्रम-विभाजन-व्यवस्था के अन्तगत क्या श्रमिक अपनी योग्यता के बिलकुल ही उपयुक्त कार्य में नियोजित किया जाता है ? यह आवश्यक नही है कि सदैव ऐसा ही हो। किन्तु नियोजक की यह चेष्टा अवश्य रहती है कि प्रत्येक व्यक्ति को उसकी योग्यता के अनुकूल ही कार्य प्राप्त हो। परन्तु सर्वदा यह सम्भव नही होता। यह सब 'माँग' पर निर्भर होता है। अनेक विकल्पो (alternatives) में उसे वह कार्य मिलेगा जिसके लिए माँग है और इस प्रकार मिला कार्य उसके सर्वथा उपयुक्त नही हो सकता।

श्रम विभाजन के आवश्यक तत्व (Requisites of Division of Labour)—श्रम-विभाजन का लागू होना कई बातो पर निर्भर है। इसके लिए बडे पैमाने पर उत्पादन होना चाहिए।

उत्पादन निरन्तर होना चाहिए (Production must be Continuous)—अन्यथा विभिन्न श्रमिक वर्गों के बीच समन्वय (co-ordination) नही हो सकता।

इसके अलावा श्रमिको म प्रतिभा तथा सहयोग की भावना होनी चाहिए।

यह भी आवश्यक है कि उद्योगपति मे आवश्यक सगठन की योग्यता होनी

चाहिए अन्यथा श्रम-विभाजन की व्यवस्था तथा सगठन उचित नही होगा। अन्त में बाज़ार का विस्तार भी श्रम विभाजन को सीमित कर सकता है।

५. श्रम-विभाजन बाजार द्वारा सीमित होता है (Division of Labour is Limited by the Market)—यह बात बहुत स्पष्ट है। यदि जूते बनाने वाला एक जूता छ महीने मे बेच पाता है तो उसका आधे दर्जन श्रमिकों को तले बनाने में लगाना तथा आधे दर्जन व्यक्तियो को ऊपरी भाग बनाने मे लगाना, अन्य छ. व्यक्तियो को इस प्रकार तले तथा ऊपरी भाग को जोडने म लगाना मूर्खता होगी। इस प्रकार की विधि अपनाने के पूर्व उस वस्तु की माँग होनी चाहिए। श्रम विभाजन से बडी मात्रा म सामग्री बनेगी और जब तक बाज़ार मे वस्तु की यथेष्ट खपत न हो, अधिक मात्रा म किसी वस्तु का निर्माण निरर्थक होगा। अस्तु, विस्तृत बिक्री का बाजार ही किसी वस्तु के निर्माण तथा विस्तार को निर्धारित करने वाला कारण होता है।

परन्तु कोई भी उद्योगपति व्यक्तिगत रूप से इस प्रकार इस विषय को नही देखता। अपने कारखाने का आकार स्थिर करते समय वह बाज़ार का विचार रखता है और इस प्रकार विचार के बाद श्रम-विभाजन की सीमा लगाई गई मशीनो तथा कारीगरो के अनुरूप होगी। श्रम विभाजन बहुत हद तक उद्योगपति की सगठन सम्बन्धी योग्यता पर भी निर्भर रहता है।

बाज़ार श्रम-विभाजन पर भी निभर होता है—श्रम-विभाजन के कारण अधिक मात्रा म उत्पादन होने से उत्पादन सस्ता होता है। जब वस्तुएँ सस्ती होती हैं तो अधिक मनुष्य उन्हे खरीदते हैं। इस प्रकार बाज़ार मे बिक्री बढ जाती है। अस्तु, श्रम-विभाजन तथा बिक्री एक दूसरे पर निर्भर हैं। फिर भी यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि बाज़ार की सीमा श्रम-विभाजन का निर्धारण करती है।

श्रम का प्रादेशिक विभाजन
(Territorial Division of Labour)

६ स्थानीयकरण (Localisation)—उद्योगो के स्थानीयकरण को प्रादेशिक श्रम-विभाजन भी कहते हैं। उद्योगो के श्रम के स्थानीयकरण से हमारा अर्थ किसी एक स्थान या भाग में किसी एक उद्योग का स्थापन है। कोई नगर या प्रदेश किसी उद्योग के लिए विशेष स्थान बना लेता है। हमारा जूट उद्योग बगाल में, लोहे का बिहार म, शक्कर का उत्तर प्रदेश व बिहार मे, तथा सूती उद्योग बम्बई मे केन्द्रित है। राज्यो के नगरो म स्थानीयकरण के उदाहरणो म हम लुधियाना (पजाब) का होजरी उद्योग, फिरोजाबाद (यू० पी०) मे चूडियाँ, हजारीबाग (बिहार) म रेशम के निर्माण आदि का जिक्र कर सकते हैं।

स्थानीयकरण को निश्चित करने वाले मुख्य कारण निम्नलिखित हो सकते है—

(१) कच्चे माल की निकटता (Nearness to Raw Materials)—कच्चे माल का निकट होना बडा लाभदायक है। इससे परिवहन (transport) की लागत कम हो जाएगी। उत्पादन अधिक किफायती होगा। यह आश्चर्य की बात नही है कि कई उद्योगो की स्थापना उन भागो मे हुई है जहाँ कि कच्चा माल अधिक मात्रा में

प्राप्त है, उदाहरणार्थ, जूट के कारखाने बंगाल मे तथा शक्कर के उत्तर प्रदेश में हैं।

(२) बिजली के स्रोतो की निकटता (Nearness to Sources of Power)—उद्योग के लिए दूसरा आकर्षण बिजली के साधनों का उपलब्ध होना है। यदि कोयले की खानें समीप हैं तो बहुत से उद्योग शीघ्र ही वहाँ केन्द्रित हो जावेंगे, उदाहरणार्थ, लोहे के कारखाने एव अन्य प्रकार के कई उद्योग कोयले की खानों के क्षेत्रो में हैं।

(३) बाज़ार से समीपता (Proximity to Markets)—किसी उद्योग के लिए विस्तृत बाजार का समीप होना लाभदायक है। परिवहन की लागत म बचत होगी। उपभोग के केन्द्रो के समीप वाले कारखाने दूर वाले कारखानो से अधिक प्रभाव रखते हैं। भारतीय सूती कारखानों का उत्तर भारत तथा बगाल मे विस्तार बाजार के समीप होने के कारण हुआ।

(४) श्रम का उपलब्ध होना (Availability of Labour)—यदि शिक्षित श्रम उपलब्ध है तो यह एक बडी सुविधा मानी जाती है। यही कारण है कि उद्योग-पति एक पुराने स्थापित केन्द्र पर ही जमा होते हैं। यदि कोई हौजरी का कारखाना स्थापित करना चाहता है तो वह लुधियाना में स्थापित करने में अपना लाभ समझेगा।

(५) पूँजी का उपलब्ध होना (Availability of Capital)—वित्त-व्यवस्था उद्योग का प्राण है। जहाँ बैंक तथा अन्य वित्तीय संस्थाएँ उद्योगो की सहायता करने को तैयार तथा तत्पर रहती हैं, यह एक बडा आकर्षण है। बम्बई, कलकत्ता जैसे शहर उद्योगो के केन्द्र हैं क्योंकि वहाँ अच्छी साख सुविधाएँ उपलब्ध हैं।

(६) कभी-कभी राजनीतिक कारण (Political Factors) भी उद्योग के स्थापित होने के कारण बने हैं। हैदराबाद जैसे भारतीय राज्यो ने उद्योगपतियो को आकर्षित करने के लिए उनको विशेष सुविधाएँ प्रदान की।

७ स्थानीयकरण के परिणाम (Consequences of Localisation)—स्थानीयकरण के फायदे भी हैं और नुक़सान भी। ऊपर दिए हुए उद्योगो के जमकर चलने की प्रवृत्ति के कारण स्थानीयकरण के विभिन्न लाभ हैं अर्थात् श्रम, पूँजी, पदार्थों आदि का उपलब्ध होना और विशेष परिवहन, सहायक उद्योग, औद्योगिक पत्रिकाएं, संघ आदि के लाभ हैं। इसके अतिरिक्त विचारों के विनिमय के लिए पर्याप्त सुविधाएँ हैं, क्वालिटी मे सुधार हो सकता है, लागत कम की जा सकती है तथा साधारण समस्याएँ सफलतापूर्वक सुलझाई जा सकती हैं। उस स्थान पर उस वर्ग के श्रमिक को काम अवश्य मिलेगा।

कुछ भी हो स्थानीयकरण एक अमिश्रित प्रसाद नही है। उद्योग का एक स्थान पर निर्भर रहना हानिकारक है। यदि उद्योग गिरी हुई दशा मे है तो समस्त श्रमिक जो कि उस पर तथा उसके सहायक उद्योगो पर निर्भर हैं, नुकसान में रहेंगे। यह बहुत से अण्डो को एक टोकरी मे ठूँसने के समान है।

इसके अतिरिक्त अन्य प्रकार के श्रम को काम मिलने की कम सम्भावना होती है।

प्रशिक्षित एव विशेषीकृत श्रम गतिशील (mobile) नही रहता तथा अन्य उद्योगो मे नौकरी पाने का कम अवसर रहता है।

इसका स्पष्ट उपचार एक ही है जो प्राय काम में लाया जाता है अर्थात् पूरक तथा अन्य सहायक उद्योगो का चलाना।

८ उद्योगों का विकेन्द्रीकरण (Decentralisatoin of Industries)—आधुनिक काल मे अनेको विकास हुए हैं जिन्होने पुराने उद्योगो को उनके स्थानों से हटाकर दूसरे स्थानो पर स्थापित कर दिया है—

(१) परिवहन के साधनो का विकास (The Development in the Means of Transportation) एक ऐसा कारण है। यह विकास वास्तव म एक दुधारा शस्त्र है। एक ओर तो यह केन्द्रित उद्योगो को अपने स्थान म बनाए रखने के लिए सहायक हुआ है। यदि कच्चे माल की पूर्ति जिसके आधार पर उनका विकास हुआ है, क्षीण हो गई है, तो वह वहाँ लाया जा सकता है। यदि बाजार जो कि पहले विस्तृत था, अब काफी नही रह गया तो परिवहन के विकास से दूर स्थानो तक फैलाया जा सकता है। परन्तु दूसरी ओर यह भारी यन्त्रो को उन दूर देशो को भेजने में सहायक हुआ है जिनम बाजार अच्छा है, उदाहरणार्थ स्वीडन की दियासलाई के कारखाने भारत में खोले गय हैं। श्रम तथा शिल्पकला मे निपुण मनुष्य भी गतिशील हो सकते हैं।

(२) इसके अतिरिक्त औद्योगिक केन्द्रो मे किराया तथा भीडभाड की वृद्धि, जमीन की अधिक कीमत तथा म्यूनिसिपल करो के अधिक बोझ से उद्योग हटा लिये गए हैं, उदाहरणाथ, सूती मिलें बम्बई से अहमदाबाद शोलापुर तथा अन्य स्थानो को हटाई जा रही हैं।

(३) अन्त म, बिजली के आने ने जिसे दूर तक ले जाया जा सकता है, उद्योगो को अधिक सुविधा वाले स्थानो पर स्थापित होने के योग्य बना दिया है। उद्योगो को कोयले की खानो जैसी शक्ति के साधनो के समीप रहने तथा दूसरी कठिनाइयो का सामना करने की आवश्यकता नही रही।

उपर्युक्त कारणो से स्थानीयकरण की बहुत सी बातें बेकार हो गई हैं और उद्योगो का विकेन्द्रीकरण हो रहा है।

निर्देश पुस्तकें

Marshall A Principles of Economics
Adam Smith An Inquiry into the Nature and Causes of the Wealth of Nations, pp 90 93 and 26
Cannan, E A Review of Economic Theory
Benham F Economics

अध्याय १०

पूँजी

(Capital)

१. पूँजी का स्वरूप तथा महत्त्व (Capital, its Nature and Importance)—अब तक हमने उत्पादन के केवल दो साधनों, भूमि तथा श्रम, का ही अध्ययन किया है। अब हम तीसरे साधन पूँजी पर विचार करेंगे। आधुनिक उत्पादन प्रणाली में पूँजी का बड़ा महत्त्व है। मनुष्य के आदिम जीवनकाल मे भी उत्पादन के लिए कुछ औजारो की आवश्यकता पडती थी। वर्तमान उत्पादन की विभिन्नता व बृहत् परिमाण केवल इस कारण सम्भव हो सके हैं कि उत्पादन-कार्यो के लिए पूँजी उपलब्ध है। यदि किसी राष्ट्र के पास समुचित पूँजी हो तो देश के जीवन-स्तर को स्थिर रखा तथा उठाया जा सकता है। हर प्रकार के आर्थिक विकास के लिए पूँजीगत वस्तुओं (capital goods) की आवश्यकता होती है। सिंचाई की योजनाओं को पूरा करने के लिए मशीनो तथा खेती के काम के लिए ट्रेक्टरो की जरूरत पडती है। औद्योगिक उन्नति के लिए भी मशीनो की आवश्यकता होती है। सडकें बनाने में भी मशीनो की जरूरत होती है। अस्तु, पूंजी के बिना किसी प्रकार की आर्थिक उन्नति असम्भव है।

पूँजी शब्द के अर्थों और धारणा के सम्बन्ध मे अर्थशास्त्रियो मे परस्पर बडा मतभेद है।

पूँजी का स्वरूप तथा उसका तत्त्व बहुत स्पष्ट है। इसका सम्बन्ध आय से होता है। मनुष्य के धन का कुछ भाग इस प्रकार बचता है अथवा उपभोग में आता है जिससे उसे आय की प्राप्ति हो, अथवा उसे उत्पादक कार्य में सहायता मिले। धन के इस भाग को पूँजी कहते हैं। चैपमैन (Chapman)[1] के शब्दो म, "पूँजी वह धन है जिससे आय होती है, अथवा जो आय म सहायक होता है, अथवा ऐसा करने के लिए काम मे लाया जाता है।" इस प्रकार इसम रेलें, जहाज, कारखाने, नहरें, औजार तथा स्टॉक, शेयर, सिक्योरिटियो तथा बैंक डिपॉज़िट्स के रूप मे नियोजन भी शामिल है। पीगू (Pigou) ने पूँजी की तुलना एक ऐसी झील से की है, जिसमे ऐसी विभिन्न वस्तुएँ जो बचत (savings) का परिणाम हैं, सदैव शामिल होती रहती हैं। पर वे सब वस्तुएँ जो झील में प्रवेश करती हैं कुछ समय पश्चात् फिर इसमे से निकल जाती हैं।[2]

---

1 Chapman—Outlines of Political Economy (1920), p. 73.

2 "Capital is like a lake into which a great variety of things, which are the result of savings are continuously being projected All things that enter the lake eventually pass out of it again"—Pigou, Economics of Welfare, p 43.

अब हमें कुछ वस्तुओं की जांच करके यह मालूम करना है कि वे पूंजी हैं अथवा नहीं। जहां तक उत्पादक वस्तुओं जैसे मशीन, परिवहन के उपकरण (transport equipment) और उत्पादन की सहायता के लिए उत्पादकों के हाथ में उपभोक्ताओं के माल का सम्बन्ध है सन्देह का कोई कारण नहीं है। ये तो पूंजी हैं ही, पर प्रश्न यह है कि उपभोक्ता के हाथ में उपयोग की वस्तुएँ पूंजी हैं या नहीं। इस विषय में अर्थशास्त्रियों के दो मत हैं। कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि ये वस्तुएँ पूंजी नहीं होतीं, क्योंकि जहाँ तक इनका सम्बन्ध है उत्पादन पूर्ण हो चुका है और इसके आगे सौदा नहीं हो सकता। बेनहम (Benham) का कहना है कि यद्यपि ये वस्तुएँ उपभोक्ताओं तक पहुँच चुकती हैं पर बात यहीं समाप्त नहीं हो जाती। ये वस्तुएँ वर्षों तक काम में आती रहती हैं। इसके सबसे अच्छे उदाहरण मकान, फर्नीचर, रेडियो सेट, मोटर आदि हैं। यही नहीं कभी-कभी इन वस्तुओं से आगे के सौदे भी हो जाते हैं, उदाहरणार्थ, कभी-कभी मकान वाले अपने मकान को किराए पर उठा देते हैं या मोटर का किराए पर चलाते हैं। बेनहम (Benham) को यह बात अजीब लगती है कि डाक्टर जब कोई मरीज देखने कार पर जाए तो उसे पूंजी माना जाए और जब उसके घर वाले उसी पर घूमने जाएँ तो उसे पूंजी न माना जाए। अतएव वह इस प्रकार की सभी वस्तुओं को पूंजी मानेंगे।

क्या भूमि पूंजी है ? (Is Land Capital ?)—भूमि को पूंजी के वर्ग में पांच कारणों से नहीं रखा जाता—

(क) भूमि प्रकृति की ओर से उपहारस्वरूप मिलती है, पर पूंजी मनुष्य स्वयं पैदा करता है।

(ख) पूंजी नाशवान (perishable) होती है, इसके विपरीत भूमि स्थायी व नष्ट न होने वाली होती है।

(ग) भूमि स्थिर होती है पर पूंजी गतिशील (mobile) होती है।

(घ) पूंजी के परिमाण में वृद्धि हो सकती है पर भूमि निश्चित तथा सीमित होती है।

(ङ) पूंजी की आय समान होती है लेकिन भूमि का लगान (rent) भिन्न भिन्न होता है।

पर इन भिन्नताओं को कुछ बढ़ा-चढ़ाकर दिखाया गया है। वास्तव में भूमि का भी बड़ा तत्त्व (element) मनुष्य कृत होता है। मनुष्य ने अपने प्रयत्नों से बड़े बड़े रेगिस्तानों को उपजाऊ मैदानों में परिवर्तित कर दिया है। पूंजी की भाँति भूमि भी कुछ सीमा तक नश्वर है क्योंकि बहुत अधिक खेती इसकी उर्वरता (productivity) को समाप्त कर देती है और फिर हम भूमि की सीमा को भले ही न बढ़ा सकें पर उसकी उत्पादन-शक्ति को तो अवश्य बढ़ा सकते हैं। यह क्षेत्र वृद्धि के समान ही है। भूमि भी एक तरह से गतिशील (mobile) होती है क्योंकि भूमि में उत्पन्न की गई वस्तुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जा सकता है। इसलिए व्यक्तिगत रूप से भूमि को भी पूंजी मान लेना अधिक उपयुक्त होगा। भूमि तथा पूंजी का अन्तर किस्म (kind) का नहीं बल्कि मात्रा (degree) का है। पर

यह अवश्य है कि इन तमाम विशेषताओं के उपरान्त भी भूमि पूंजी के समान नहीं है।

क्या द्रव्य पूंजी है ? (Is Money Capital ?)—द्रव्य और पूंजी एक ही वस्तु नहीं है। सब पूंजी तो द्रव्य हो सकती है, पर सब द्रव्य पूंजी नहीं है। पूंजी बनने के लिए यह आवश्यक है कि द्रव्य का प्रयोग उत्पादक कार्यों में हो।

राष्ट्रीय ऋण (National Debt) का पूंजीगत मूल्य (Capital value) क्या है ? स्टॉकहोल्डर (stockholder) के लिए तो यह पूंजी ही होता है क्योंकि इससे आय होती है। पर सरकार की दृष्टि से यह एक प्रकार का ऋण (debt) प्रकट करता है। जिस सीमा तक राष्ट्रीय पूंजी का प्रयोग सड़कें, नहरें या दूसरे आमदनी वाले कार्यों में होता है, यह पूंजी होती है। पर यदि राष्ट्र के ऋण का प्रयोग युद्ध आदि पर होगा तो इसे पूंजी नहीं कहा जा सकता।

क्या सर्जन का कौशल अथवा टाइपिस्ट की कुशलता जैसे व्यक्तिगत गुण भी पूंजी होते हैं ? (Are Personal Qualities like a Surgeon's Skill or a Typist's Dexterity Capital ?)—नहीं। हस्तान्तरणीय न होने (not transferable) के कारण ये गुण धन के वर्ग (category of wealth) से पहले ही जुदा कर दिए गए हैं। कुछ अर्थशास्त्री इस प्रकार के गुणों को व्यक्तिगत पूंजी का नाम देने के लिए तैयार हैं।

प्राकृतिक उपहार, जैसे नदियां व पहाड़ आदि क्या हैं ? (What about the Rivers and Mountains ?)—यह असंगत-सा लगता है कि नहरों को तो पूंजी मान लिया जाए पर नदियों को नहीं; पर ऐसी वस्तुएं पूंजी इसलिए नहीं मानी जाती हैं क्योंकि पूंजी का सम्बन्ध उत्पादन के 'तैयार' (produced) साधनों से है, प्रकृति के उपहारों से नहीं।

क्या सभी धन पूंजी हैं ? (Is all Wealth Capital ?)—कुछ लोगों का मत है कि सब प्रकार का धन पूंजी होता है क्योंकि मनुष्य का सारा धन किसी न किसी रूप में धन के उत्पादन में सहायक होता है। कोई भी वस्तु जिसकी उपस्थिति से उत्पादन को सहायता मिले और जिसके अभाव से उत्पादन रुकने लगे पूंजी होती है। इस विचार की पुष्टि करने के लिए एक तर्क और भी है। प्रत्येक वस्तु से सन्तुष्टि मिलती है अर्थात् आय होती है, इसलिए हर वस्तु को पूंजी मानना चाहिए। पर आम तौर से केवल धन का वह भाग पूंजी माना जाता है जिसका उपयोग धन के अधिक उत्पादन में हो सके। सब पूंजी धन है पर हर प्रकार का धन पूंजी नहीं होता।

पूंजी और पूंजीवाद में अन्तर किया जा सकता है। जैसा कि हम पहले भी विचार कर चुके हैं, पूंजी का निर्देश (तात्पर्य) सिर्फ उत्पादन के साधनों से है। इसके विपरीत पूंजीवाद समाज की उस दशा को कहते हैं जिसमें इस साधन का अधिकार व उपयोग कुछ व्यक्ति केवल निजी स्वार्थ के लिए करते हैं। वे इस स्थिति में हैं कि समस्त जनता पर अत्याचार कर सकें। धनवानों की प्रवृत्ति अधिक धनवान होने की होती है, जब कि निर्धन पिसते जाते हैं। इस तरह इने-गिने भाग्यशाली लोगों और

बहुत से अभागे लोगों के बीच की खाई चौड़ी होती जाती है। लेकिन पूंजीवाद की निन्दा का अर्थ पूंजी की निन्दा से नहीं है।

पूंजी के विभिन्न वर्ग किए गए हैं—निजी (private) अथवा व्यक्तिगत (individual) व सामाजिक पूंजी। राष्ट्रीय पूंजी और वैयक्तिक पूंजी (personal capital) का अन्तर वैसा ही अन्तर है जैसा कि धन के विभिन्न वर्गों में था (अध्याय २, विभाग ४)। कार्यवहन पूंजी (working capital) का अर्थ उस द्रव्य से होता है जिसका व्यापारी अपने व्यवसाय को चलाने म उपयोग करता है।

अचल पूंजी (Fixed Capital) के अन्तर्गत उत्पादकों का टिकाऊ सामान (durable goods) जैसे कारखानों की इमारतें, मशीनें जो स्थायी रूप से कई वर्षों तक काम में आ सकती हैं, सम्मिलित हैं।

परिचल पूंजी (Circulating Capital) का स्वरूप स्थायी नहीं होता। यह एक बार के प्रयोग में ही समाप्त हो जाती है। इसमें उत्पादन के प्रयोग में आने वाले कच्चे माल सम्मिलित हैं, जैसे जूतों के बनाने में चमड़ा अथवा बीज आदि। कृषि के औजार अचल पूंजी होते हैं और श्रम के ऊपर व्यय किया गया रुपया परिचल पूंजी होता है। कृषि म प्रयुक्त पशु अचल पूंजी होते हैं पर उनके पालन का व्यय परिचल पूंजी है।

उपयोजित पूंजी (Sunk Capital)—जिस पूंजी का प्रयोग केवल किसी विशेष कार्य में हो सकता है, और जिसे वैकल्पिक कामों (alternative uses) में नहीं लगाया जा सकता, वह उपयोजित पूंजी कहलाती है जैसे बर्फ के कारखाने में लगी पूंजी का प्रयोग हौजरी के लिए नहीं किया जा सकता।

प्लवमान पूंजी (Floating Cap tal)—यह इस रूप म होती है कि विभिन्न प्रयोगों में काम म लाई जा सकती है, जैसे द्रव्य, ईंधन, कच्चा माल आदि।

२ पूंजी के कार्य (Functions of Capital)—पूंजी के उपर्युक्त वर्गीकरण से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वर्तमान उत्पादन म पूंजी क्या कार्य करती है। पूंजी सदैव उद्यमी या व्यवसायी की सहायता करती है। प्रथम तो वह इसको उत्पादन के लिए आवश्यक उपकरण, जैसे मशीन तथा पुर्जे खरीदने में प्रयोग करता है या वह कारखाने की इमारत आदि खड़ी करने में प्रयोग कर सकता है।

दूसरे, उत्पादन के लिए आवश्यक कच्चे माल को खरीदने में पूंजी सहायता देती है।

अन्तिम कार्य पूंजी का यह है कि इसके द्वारा उत्पादन में लगे हुए मनुष्यों के जीवन-निर्वाह की वस्तुओं अर्थात् उपभोक्ताओं की वस्तुओं की प्राप्ति होती है।

उत्पादन की पुञ्जीतन्त्रीय रीतियाँ (Roundabout Production)—कभी-कभी घर का सबसे लम्बा रास्ता सबसे छोटा सिद्ध होता है। वर्तमान पूंजीवादी उत्पादन को कुटिल अथवा पुञ्जीतन्त्रीय कहा जाता है। जिन वस्तुओं से उपभोग की वस्तुओं का उत्पादन होता है उनके उत्पादन के लिए उत्पादन के साधनों का अधिक उपभोग होता है। उपभोग की वस्तुओं के उत्पादन में बहुत कम मनुष्य व्यस्त होते हैं। प्राचीन काल का शिकारी एक पत्थर या एक छड़ी से भी शिकार कर लेता

था । जैसा कि चैपमैन (Chapman) का कथन है 'पर आजकल का शिकारी पहले खान खोदता है और तब लोहे को गलाकर शिकार के हथियार बनाता है' और तब उसका शिकार प्रारम्भ होता है ।

इस प्रकार की लम्बी रीतियो के प्रयोग मे कोई विशेष आकर्षण नही । पर तब भी आधुनिक उत्पादन इतना पुञ्जीतन्त्रीय क्यो है ? इनका उपयोग इसलिए होता है जिससे अधिक उत्पादन हो और समाज की इच्छाओ की सन्तुष्टि म अधिक सहायता मिले ।

चैपमैन (Chapman) के शब्दो मे, "केवल इसलिए कि कोई प्रणाली अधिक परोक्ष या पुञ्जीतन्त्रीय है वह अधिक मितव्ययी नही हो जाती । परन्तु ऐसा होता है कि अधिक मितव्ययी रीतियाँ प्राय परोक्ष हो जाती हैं ।" डाक्टर हेयक (Hayek) ने पूँजीवादी उत्पादन की तुलना एक ऐसे पखे से की है जो 'पूँजीवादी तरीको की अधिकता अथवा न्यूनता से खुलता व बन्द होता है । यह पखा जितना ही अधिक तेज चलता है उतना ही अधिक अन्तर कच्चे माल की प्राप्ति और अन्तिम वस्तु के निर्माण म लगने वाले समय के मध्य होता है ।"

३ पूंजी का निर्माण (Capital Formation)—यदि राबिन्सन क्रूसो (Robinson Crusoe) शिकार के लिए बन्दूक का निर्माण करना चाहता है तो यह अत्यन्त आवश्यक है कि वह खाने की सामग्री बडी मात्रा मे एकत्रित कर ले । सयम अथवा प्रतीक्षा (abstinence or waiting) ही पूंजी की जन्मदात्री कही जाती हैं । परन्तु धनवानो के लिए, जो विलासिता म रहने के उपरान्त भी बचत कर लेते है, इसमे किसी प्रकार का कष्ट या त्याग की भावना नही होती जो सयम शब्द मे शामिल है । इसलिए 'प्रतीक्षा' शब्द का प्रयोग अधिक उपयुक्त होगा ।

शताब्दियो की खोजो के फलस्वरूप प्रारम्भ के भद्दे औजारो से बढकर पूंजी ने वर्तमान काल की दैत्याकार कलो का रूप ले लिया है ।

यह सब बचत का ही परिणाम है (All this is the Result of Saving)—टाजिग (Taussig) के अनुसार "पूँजी को बनाया तथा पैदा तो किया ही जा सकता है पर इसकी बचत और इसका सचय भी होता है ।" दूसरे शब्दो म पूँजी का सचय बचत करने की इच्छा व सामर्थ्य पर निर्भर रहता है ।

किसी व्यक्ति की बचत करने की सामर्थ्य उसकी आय और व्यय के अन्तर पर निर्भर रहती है । जहाँ तक राष्ट्र का सम्बन्ध है, यह सामर्थ्य उसके व्यापार और उद्योग के समुचित सगठन, परिवहन के साधनो के विकास और 'साख' व बैंकिंग प्रणाली की उन्नति पर निर्भर रहती है । शिक्षा व स्वास्थ्य के उचित प्रबन्ध से, मानव साधनो के अधिकतम विकास व प्राकृतिक साधनो के अधिकतम प्रयोग से भी पूंजी का निर्माण होता है ।

बचाने की इच्छा (The Will to Save)—मनुष्य की बचत करने की प्रवृत्ति कई बातो पर निर्भर रहती है । इन बातो मे सबसे महत्त्वपूर्ण ये हैं—घरेलू स्नेह, ऊँचे उठने की इच्छा, सामाजिक अथवा राजनीतिक प्रभाव बढाने की लालसा अथवा केवल सफलता प्राप्ति की भावना ।

स्थायी सरकार द्वारा मानव-जीवन और धन की सुरक्षा का समुचित प्रबन्ध मनुष्य की बचत करने की इच्छा व शक्ति दोनो को बढा सकता है। ऐसी दशा मे पूँजी विनियोग (investment) के अन्य साधन भी जैसे बैंक, बीमा कम्पनी, व्यापारिक सस्थाएँ, सरकारी सिक्योरिटियो का चलन आदि बढ जाएगा।

ब्याज की ऊँची दर (High Rate of Interest) भी बचत को प्रेरणा देती है। यदि ब्याज की दर ऊँची हो तो अधिक लोग बचत करने लगते हैं।

लेकिन अधिक बचत भी हानिकारक है। इससे उपभोक्ता के माल की मांग कम हो जाएगी और बाजार में मन्दी फैलेगी। अधिक व्यय भी हानिकारक है, ऐसा करने से भविष्य के लिए कोई उपबन्ध (provision) नही होगा। इसलिए दोनो में समुचित सन्तुलन होना चाहिए।

पंजी निर्माण (capital formation) के अन्तर्गत तीन मुख्य स्तर (broad stages) हैं (क) बचत (savings) इकट्ठा करना जो बचत करने की इच्छा तथा बचत करने की सामर्थ्य पर निर्भर है, (ख) बचत की गतिशीलता तथा विभागीकरण (mobilisation and canalization) और उसको विनियोजित निधि (investible fund) का रूप देना। यह बैंकिंग प्रणाली की दक्षता पर निर्भर है, तथा (ग) पूँजीगत माल का अर्जन (acquisition) जो उद्यमी के प्रयास पर निर्भर है। पूँजी निर्माण के मार्ग मे कई बाधाएँ हैं। कुछ बचत को जमीन में दबा कर रखा गया हो (hoarded) लेकिन विनियोजन (investment) म न लगाया गया हो। कुछ बचत को स्वामियो द्वारा पुन व्यापार म ही लगा दिया गया हो। निधि (funds) के सचय होने तथा पूँजीगत माल के अर्जन होने मे बीच का समय होता है।

भारत मे पूँजी निर्माण म कई कारणो (factors) ने बाधा डाली है। १६४७-४८ के लियाकत अली बजट ने उद्योगो पर अधिक कर लगाने की नीति अपनाई, राष्ट्रीयकरण का भय, स्टॉक एक्सचेंजो (श्रेष्ठि चत्वरो) में सट्टा (speculation), उद्यम (enterprise) का कदाचार, निर्गम पूँजी (capital issues) पर नियन्त्रण आदि कुछ ऐसे कारण हैं। भारत में शुद्ध (net) घरेलू पूँजी निर्माण (domestic capital formation) का अन्दाज १६५३-५४ मे लगाया गया था जो ७१६ करोड रु० था। यह उस वर्ष की राष्ट्रीय आय (national income) का ७ ८% प्रतिशत था। १६४८-४६ के वित्तीय वर्ष मे घरेलू पूँजी उस वर्ष की राष्ट्रीय आय की ५ १% थी।

पूँजी को बनाए रखना बहुत जरूरी है। पूंजी के उपभोग से किसी समुदाय (community) के जीवन-स्तर म वृद्धि तो हो सकती है, परन्तु यह मार्ग राष्ट्रीय (व्यापक रूप मे) दिवालियापन (national bankruptcy) की ओर ले जाने वाला है। समुदाय की पूँजी—शताब्दियो के प्रयास तथा बलि का सचित परिणाम—तिरोहित हो गई होती। पीगू (Pigou) के शब्दो मे "बहता हुआ चश्मा घटते-घटते छोटा पड जाएगा। और एक समय ऐसा आएगा कि सबसे भारी मद के ठिकाने लगने तक, यह (चश्मा) तथा जलाशय जिससे इसका जन्म हुआ था दोनों ही सूख जाएँगे।"[1]

1. "The outgoing stream will diminish to a smaller and smaller

इसलिए, मरम्मत करके, बदलकर तथा नया लगाकर कम से कम मौजूदा पूंजी को अवश्य ही बनाए रखना चाहिए।

निर्देश पुस्तकें

Erich Roll Elements of Economic Theory
Pigou A C Economics of Welfare Part 1, Ch 4
Wicksell, K Lectures on Political Economy, Vol I
Cannan, E A Review of Economic Theory
Cower The Distribution of Wealth
Benham Economics.
Fraser, L M Economic Thought and Language (1947), Ch 14
Stigler, G J Theory of Price (1947), Ch 17
Kaldor, N Article in Annual Survey of Economic Theory on Recent Controversy on the theory of Capital"
Econometric Vol 1, No 3 (1937)
Knight Articles on
(i) Capital, Production, Time and the Rate of Return in Economic Essays in the honour of Gustav Cassel (1933)
(ii) Capital, Time and Interest Rate in Economics (1934)
(iii) Prof Hayek and the Theory of Investment in Economic Journal (1935)
(iv) The Quantity of Capital and the Rate of Interest Part I and II, Journal of Political Economy August and October, 1936

---

trickle, until with the demise of the longest lived item, it and the lake from which it comes alike go dry "—Pigou

अध्याय ११

उद्यमी तथा उसकी समस्याएँ

(The Entrepreneur and His Problems)

१ उद्यमी का कार्य (Entrepreneur's Role)—आर्थिक विकास के प्रारम्भिक काल में स्वतन्त्र श्रमिक की अपनी भूमि अथवा कारखाना होता था। उसमे वह स्वय अपनी पूँजी लगाता, अपने औजारो से काम करता, सचालन की योजना बनाता और उसकी जोखिम उठाता था। सक्षेप मे वह जमींदार, श्रमिक, पूंजीपति तथा उद्यमी के कार्यो को स्वय निभाता था। लेकिन आज की औद्योगिक जटिलता तथा उत्पादन के स्तर को ध्यान में रखते हुए और उससे पैदा होने वाली समस्याओ के स्वरूप तथा विस्तार को, जो आधुनिक उत्पादन से सम्बद्ध है, देखते हुए यह प्राय असम्भव दिखाई देता है कि एक व्यक्ति सारे दायित्व अपने ऊपर ले। इस तरह उद्यमी का उदय हुआ। आज उत्पादन के साधन एक दूसरे से जुदा हैं। भूमि, श्रम तथा पूँजी, प्रत्यक साधन अलग अलग वर्गो के अधिकार म है। उद्यमी उन्हे एक साथ मिलाता है तथा उत्पादन के कार्य म लगाता है।

वह सगठन के कार्य म विशिष्ट होता है। उसकी अपनी कोई भी भूमि और प्राय कोई भी पूँजी नही होती तथा साधारणतया उससे परिश्रम भी नही कराया जा सकता। उसके पास केवल एक वस्तु अर्थात सगठन की योग्यता होती है। वह लगान पर भूमि, उधार पूँजी अथवा भाड पर मजदूर पा सकेगा। वह प्रत्येक साधन को उचित अनुपात मे उपयोग करेगा जिससे अच्छा परिणाम निकले। इस प्रकार उद्यमी उत्पादन का सगठन करता है।

उद्यमी का कार्य उत्पादन के अन्य साधनो को सहयोजित करना तथा परस्पर सम्बन्ध स्थापित करना है। वह काय को प्रारम्भ करता है, उसका सगठन तथा निरीक्षण करता है और सारी समस्या का सामना करता है। वह उत्पादन के प्रत्यक साधन को पारिश्रमिक देता है भूमि-स्वामी को लगान, पूँजीपति को ब्याज तथा श्रम को मजदूरी और उनको पदार्थो की बिक्री के पहले भुगतान करता है। यदि शेष बचता है तो उसका है। उसके आवश्यक भुगतान करने के बाद कुछ भी शेष न रह सकता है। इस अवस्था म उसका साहस विफल हो सकता है। परन्तु यह भी सम्भव है कि वह पर्याप्त मात्रा में लाभ उठाए। परिणाम जो कुछ भी हो, उसे सब कुछ स्वीकार करने को तैयार रहना चाहिए। इस प्रकार समस्त कारोबार का उत्तर-दायित्व उसी के ऊपर रहता है।

यदि उसने उपभोक्ता की इच्छाओ का उचित अनुमान लगा लिया है और उसके अनुसार काम किया है तो उसको पर्याप्त फल मिलता है। इस प्रकार सगठन करना तथा जोखिम उठाना (organising and risk-taking) अथवा जैसा कि

कहा जाता है, अनिश्चितता का सामना करना (uncertainty bearing) आधुनिक उद्यमी के दो मुख्य कार्य हैं।

एक सफल उद्यमी में युक्त विचार, सन्तोष, चतुराई, अवलोकन तथा विवेक-शक्ति होनी चाहिए। वह मानवीय स्वभाव को भली भाँति जानने वाला तथा नेतृत्व (leadership) के गुण वाला होना चाहिए। वास्तव में उसमे मस्तिष्क तथा हृदय के गुणों का अपूर्व सयोग होना चाहिए जो उसे एक सफल उद्योग नायक बनाता है। यही कारण है कि भारत म बिरला, टाटा डालमिया तथा थापर जैसे अधिक उद्योग-पति नही हैं।

२ उद्यमी के कृत्यो का प्रत्यायोजन (Delegation of Entrepreneurial Functions)—व्यापार-जगत् म कुछ ऐसे विकास हुए है जिनके कारण उद्यमी सम्भवतया अपने कुछ कृत्यो का प्रत्यायोजन कर सकता है।

एक समय था जबकि उद्यमी अपने व्यापार को आरम्भ करता, सगठन करता, उसको चलाता तथा उसका वित्त पोषण करता था। सारी जोखिम वह स्वय उठाता था। सगठन करने तथा जोखिम उठाने के दोना कार्य एक दूसरे मे मिश्रित तथा बँधे हुए थे। परन्तु सयुक्त स्कन्ध समवाय सिद्धान्त (jointstock company) के आ जाने से परिवर्तन हो गया है, और कार्य अलग होते हुए दिखलाई देते हैं। 'नियन्त्रण जोखिम के साथ-साथ रहता है'—यह सुनहला सिद्धान्त टूट गया है।[1] एक योग्य तथा चतुर उद्यमी के लिए दूसरो से सारी पूँजी एकत्रित करने म कोई कठिनाई न होगी। इसके अतिरिक्त वह योजनाओ को आरम्भ कर सकता है। लेकिन योजनाओ को कार्यान्वित करने का काम वह वैतनिक मैनेजरो पर छोड सकता है। इस प्रकार अशधारी (shareholders) जोखिम उठाते हैं परन्तु सगठन उद्यमी करते हैं और प्रबन्ध वेतन पाने वाले कर्मचारी करते हैं।

बीमा व्यवसाय (insurance business) की उन्नति से भी उद्यमी की बहुतसी चिन्ताएँ तथा जोखिम हट गए हैं। यदि खजाची रुपया लेकर भाग जाता है, यदि कारखाने में आग लग जाती है, और यदि बाहर से मँगाया हुआ माल बीच समुद्र म डूब जाता है तो बीमा कम्पनियाँ हानि को पूरा करने के लिए हैं।

उद्यमी "दृढ़रक्षण" (hedging) के द्वारा कच्चे माल के मूल्य म अचानक उतार-चढाव को हटाकर अपनी हानियों को पूरा कर सकता है।

इसके अतिरिक्त व्यापार ठप्प होने पर अब नुकसान उठाने वाला केवल वही नही है, एक बडा व्यवसाय-सस्था में लगी हुई विशाल श्रम शक्ति व्यवसाय म हानि-लाभ में भाग लेती तथा जोखिम उठाती है।

इस प्रकार यह कहा जाता है कि उद्यमी ने आर्थिक जोखिम को अशधारियो पर तथा अनेक दूसरे जोखिमो को बीमा कम्पनियो तथा सट्टेबाजो पर टाल दिया है। व्यवस्था का कार्य वेतन पाने वाले नौकर करते हैं।

नि सन्देह उद्यमी बहुत से कार्यों तथा चिन्ताओं से छुटकारा पा गया है, परन्तु कार्यों का प्रत्यायोजन ऐसा नही है जैसा कि दिखाई देता है। उसको कुछ अपनी पूँजी

1 For fuller discussion, see Robertson—Control of Industry

लगानी पडती है। अतएव हमारे स्वर्णिम सिद्धान्त अर्थात्, 'नियन्त्रण जोखिम के साथ है', में कोई उल्लघन नही होता।

३ उत्पादन का आकार (Scale of Production)—उत्पादन में उद्यमी को तरह तरह की समस्याओ का सामना करना पडता है। एक समस्या उत्पादन के आकार की है। उद्यमी को व्यापार के लिए उचित आकार का विकास करना होता है। आकार जितना बडा हो उतना ही किफायती होगा।

बडे पैमाने के उद्योग से कई लाभ ह जिनमे से निम्नलिखित इस प्रकार हैं—

(१) श्रम तथा यन्त्र के विशषीकरण होने की अधिक सम्भावना रहती है। प्रत्येक मनुष्य को उस काय म लगाया जा सकता है जिसको वह भली भाँति कर सकता है तथा प्रत्यक काय सबसे श्रष्ठ मनुष्य को सौपा जा सकता है। इस प्रकार श्रम-विभाजन के सब लाभ विशाल पैमाने के उत्पादन म मिलते हैं।

(२) यह भली भाँति स्पष्ट है कि एक बडा कुशलतापूवक स्थापित कारखाना विशिष्ट मशीनो का प्रयोग कर सकता है। एक छोटी रूई की मिल म तैयार माल बनाने तथा साफ करन की सारी मशीनें नही हो सकती। विशिष्ट मशीनो के प्रयोग से अधिक लाभ होता है।

(३) एक बडा यवसायी आधुनिकतम मशीन लगा सकता है। वह अपना निजी मरम्मत विभाग भी खोल सकता है ताकि उसको अविश्वसनीय मिस्त्रियो पर आश्रित न होना पड।

(४) क्रय विक्रय के कुछ वाणिज्यिक लाभ भी हैं। अनेक उत्पादक बडी व्यवसाय सस्था के व्यापार को पान के लिए स्पर्द्धा करते ह। दूसरी ओर एक बडा व्यवसाय सस्था का बाजार विस्तृत होता है। कारण ग्राहक का शीघ्र तथा निश्चित वस्तु की पूर्ति होती रहती है। बड आर्डरो की पूर्ति करना अधिक लाभदायक होता है। वे अपने काम म दक्ष खरीदार तथा दक्ष सल्समैन रखते ह। उनका क्रय विक्रय बाजार के अनुकूलतम समय पर होता है।

(५) उसके विस्तृत साधन उसको आपत्ति काल म भली भाँति कार्य चालू रखने के योग्य बनाते ह जबकि एक छोटी सस्था किसी भी भार से बरबाद हो सकती है। केवल बडा उद्योग ही लम्बे समय तक हानि उठाकर भी चल सकता है।

(६) वह खोज तथा प्रयोग पर अधिक व्यय कर सकता है जो कि उसको अन्त मे लागत से कही अधिक लाभ पहुचाता है। छोटा उद्योग ऐसा नही कर सकता।

(७) वह विज्ञापन तथा बिक्री के काय पर अधिक व्यय कर सकता है और बाजार को अधिक विस्तृत कर सकता है। विज्ञापन आदि पर व्यय किया हुआ धन अन्त में अधिक लाभ पहुँचाता है। बिक्री बढ जाती है।

(८) एक बडी सस्था के लिए ऊपर का खर्चा (overhead charges) तथा प्रति इकाई अनुपूरक लागत (supplementary cost) बहुत कम आती है। य प्रशासन तथा प्रब ध के खर्चे ह जिसम व्यवस्थापक तथा क्लर्कों का वेतन किराया विज्ञापन तथा फिरने वाले सेल्समैनो की लागत शामिल है। सकल लागत (total cost) बहुत बड उत्पादन पर डाली जाती है। इस प्रकार उत्पादन सस्ता पडता है।

(६) इसके अतिरिक्त बड़ी व्यवसाय-सस्था उपोत्पाद (bye-products) को भली भाँति प्रयोग मे ला सकती है। एक बड़ी शक्कर मिल शीरे को न फेंककर उसको मदिरा बनाने के काम ला सकती है। उपोत्पाद (bye-products) के प्रयोग से मुख्य उत्पाद का लागत मूल्य कम बैठता है।

अनुकूलतम पैदावार (What is the Optimum Output ?)—इसमे तनिक भी सन्देह नही कि विशाल उत्पादन आर्थिक दृष्टि से सस्ता रहता है। परन्तु इसका यह अर्थ भी नही है कि उत्पादन को किसी भी सीमा तक बढाया जा सक्ता है। अनुकूलतम उत्पादन का स्तर आर्थिक दृष्टि से लाभदायक होता है। बेन्हम (Benham) के शब्दो मे, "प्रत्येक व्यावसायिक सस्था उस सीमा तक उत्पादन करेगी जहाँ तक सीमान्त लागत (marginal cost) कीमत के बराबर हो जाए।" जब कोई उद्यमी अपने उत्पादन का आकार बढाता है तो उसे अधिक व्यय भी करना पडता है। इसके अतिरिक्त व्यय को सीमान्त व्यय (marginal cost) कहते हैं। किन्तु उसको अतिरिक्त लाभ भी मिलता है जिसे सीमान्त लाभ (marginal re enue) कहते हैं। जब तक अतिरिक्त लाभ या सीमान्त लाभ अतिरिक्त व्यय या सीमान्त व्यय से अधिक रहता है, तब तक तो उद्यमी अपने उत्पादन के पैमाने को बढाता चला जाएगा, किन्तु उत्पादन के बढने के साथ-साथ उद्यमी को उत्पादन के साधनों पर अधिकाधिक व्यय करना पड़ेगा। इस प्रकार उसकी लागत (या व्यय) बढती चली जाएगी। किन्तु दूसरी ओर अधिक उत्पादन से उद्यमी की बिक्री बढेगी, जिसका अर्थ होगा कि कीमतें गिरेगी। कीमतो के गिरने मे अतिरिक्त आय मे गिरावट होगी। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि उत्पादन की श्रेणी में वृद्धि करने से सीमान्त लागत बढ जाती है और लाभ या सीमान्त कीमत घटती है। इस प्रकार शनै शनै दोनो के बीच की खाई कम चौडी होने लगती है। किन्तु दोनो के बीच थोडी अन्तर की मात्रा भी यह सकेत करती है कि यदि उत्पादन की मात्रा बढाई जाएगी तो सीमान्त लाभ मे वृद्धि होगी। जब दोनो के बीच का अन्तर पूरी तरह समाप्त हो जाता है अर्थात् सीमान्त लागत और सीमान्त लाभ बराबर हो जाते हैं तो फिर व्यवसायी को अधिक लाभ की आशा नही रह जाती। दूसरे शब्दो में लाभ अधिकतम सीमा पर पहुँच जाता है। उत्पादन का यह स्तर अनुकूलतम उत्पादन (optimum output) कहलाता है। इसी स्तर पर सीमान्त लागत व्यय मूल्य के बराबर हो जाती है। उद्यमी अपना उत्पादन स्तर बढाता जाएगा जब तक कि उसको लागत से कीमत अधिक मिलती रहेगी। किन्तु ज्यो ही सीमान्त लागत मूल्य के बराबर आजाएगी त्योंही वह उत्पादन बन्द कर देगा। व्यवसाय सस्थाओ की कुशलता मे भिन्नता होने से सीमान्त लागत मे नही, वरन् पैदावार की मात्रा में भिन्नता होगी। अधिक कुशल व्यवसाय सस्था की पैदावार अधिक होगी।"

४ अविभाज्यता का सिद्धान्त (Concept of Indivisibility)—एक बडी व्यवसाय-सस्था की बचत का एक महत्त्वपूर्ण मूल कारण उत्पादन के अविभाज्य साधनों का प्रयोग है। इस अविभाज्यता के सिद्धान्त को भली भाँति समझना चाहिए। एक कालिज के छात्रावास के रसोईघर को लीजिए। इसमें कम से कम बर्तनो तथा

सेवको की सामग्री होनी चाहिए; उदाहरणार्थ, एक रसोइया तथा एक नौकर। यह अविभाज्य साधन है। यदि आप एक रसोईघर चलाना चाहते हैं तो कम-से-कम आपको इनको रखना होगा। अब यदि यह सामग्री १५ छात्रों के लिए काम दे सकती है तो रसोई म १० छात्रो का रखना गैरकिफायती (uneconomical) होगा। ऐसा होने पर प्रति छात्र लागत अधिक होगी, और रसोइये तथा नौकर कुछ समय के लिए बेकार रहेगे। छात्रो का एक बडा समूह उनको पूर्ण रूप से काम में लगाए रहेगा और उनसे अधिक से-अधिक काम लेगा।

स्टिगलर (Stigler) ने कई प्रकार की अविभाज्यताएँ (Indivisibilities) प्रकट की हैं[1]—(१) मशीन की अविभाज्यता (Indivisibility of Machinery)। (२) मार्केटिंग की अविभाज्यताएँ (Marketing Indivisibilities)—इनका तात्पर्य सेल्समैन से, खरीद विभाग तथा विज्ञापन से है। जितनी अधिक बिक्री होगी उतना ही प्रति इकाई व्यय कम होगा। (३) वित्त सम्बन्धी अविभाज्यताएँ (Financial Indivisibilities)—इनका तात्पर्य कर्जों से सम्बन्धित व्यवस्थापकीय व्यय से है। अधिक मात्रा मे निकाली गई प्रतिभूतियो (securities) को श्रेष्ठिचत्वर (stock exchange) म दर्ज किया जा सकता है। (४) खोज सम्बन्धी अविभाज्यताएँ (Research Indivisibilities)—यदि खोज म कुछ रुपया व्यय किया गया हो तो जितनी अधिक मात्रा म उत्पादन होगा उतनी ही अधिक उसमें किफायत होगी।

५ आन्तरिक तथा बाह्य लाभ (Internal and External Economies)—बडे पैमाने की किफायत को हम दो भागो में बाँट सकते हैं—आन्तरिक लाभ तथा बाह्य लाभ।

आन्तरिक लाभ[2] (Internal Economies)—ये व्यवसाय की आन्तरिक व्यवस्था से सम्बन्ध रखते है। य एक व्यवसाय संस्था के व्यावहारिक भेद हैं। ये विशिष्ट व्यवस्थापक के मस्तिष्क की देन हैं और वह इनको सुरक्षित रखता है। प्रत्येक व्यवस्थापक अपने अनुभव के अनुसार श्रम, मशीन, वित्त व्यवस्था तथा मार्केटिंग आदि का प्रबन्ध करता है। इन सब को आन्तरिक लाभ कहते हैं।

यह भली भाँति ध्यान रखना चाहिए कि आन्तरिक लाभ केवल उत्पादन की मात्रा में वृद्धि होने से ही होते हैं। वे उन रीतियो के प्रयोग से होते हैं जिनको छोटी व्यवसाय-संस्था प्रयोग म लाना उचित नही समझती।

आन्तरिक लाभ (Internal Economies) निम्न प्रकार के हो सकते हैं—

(क) टैक्नीकल लाभ (Technical Economies)—ये इस कारण होते हैं कि एक बडा यन्त्र बनाना सरल है और बडे यन्त्र के प्रयोग म यान्त्रिक लाभ होते हैं। कई प्रणालियो को मिलाने तथा ऊर्ध्वाधर संसर्ग (vertical combination) तथा विशिष्टीकरण (specialisation) से भी लाभ होते हैं।

1 Stigler, G J —Theory of Price (1947), pp 135—137

2. For a detailed study see Cairncross (1944), pp 64 80.

(ख) व्यवस्थापकीय लाभ (Managerial Economies)—ये लाभ विशेषोपयुक्त विभाग के स्थापित करने में अथवा कार्य सम्बन्धी विशेषोपयोजन, नित्य क्रम और विस्तृत विषयों को अधीन पुरुषों को सौंपने से होते हैं।

(ग) वाणिज्यिक लाभ (Commercial Economies)—ये वस्तुओं के क्रय विक्रय से होते हैं। बडे व्यवसायों में सौदा करने का लाभ होता है और जिस व्यवसाय-संस्था से वह सौदा करते हैं उससे अधिमान्य व्यवहार (preferential treatment) मिलता है।

(घ) वित्तीय लाभ (Financial Economies)—ये लाभ इसलिए होते हैं कि एक बडी व्यवसाय संस्था की साख अच्छी होती है और वह उचित दर पर रुपया उधार ले सकती है। इसके अंशों का अधिक विस्तृत बाज़ार होता है जो रुपया लगाने वाले को प्रोत्साहित करता है।

(ङ) जोखिम उठाने सम्बन्धी लाभ (Risk bearing Economies)—एक बडी व्यवसाय संस्था जोखिम को विस्तृत कर सकती है और अवसर उसको दूर भी कर सकती है। वह अनेक प्रकार की उत्पत्ति करके ऐसा कर सकती है। इससे उसकी शक्ति तथा स्थिरता बढ जाती है और उस पर व्यापारिक उतार-चढाव का कम प्रभाव पडता है। बाज़ार, पूर्ति के साधन तथा निर्माण विधि में भी विभिन्नता लाई जा सकती है।

दूसरी ओर बाह्य लाभ (External Economies) किसी एक विशिष्ट व्यवसाय की निजी सम्पत्ति नहीं है। सब उसको जानते हैं और उसमें सभी का भाग है। ऐसी किफायत प्राय स्थानीय उद्योग को ही हो सकती है जहाँ सब व्यवसाय संस्थाओं के लाभ के लिए सामूहिक विकास हुए हों, उदाहरणार्थ विशेष परिवहन व्यवस्था, प्रशिक्षित श्रम प्राप्त करने की सुविधा और ऋण लेने सम्बन्धी सुविधाएँ आदि।

बाह्य लाभों (External Economies) का निम्न वर्गीकरण हो सकता है—

(क) केन्द्रण के लाभ (Economies of Concentration)—ये लाभ कुशल श्रमिक की प्राप्ति से, परिवहन के अच्छे साधनों के होने तथा सुधार के प्रोत्साहन तथा सहायक उद्योगों (subsidiary industries) आदि के लाभ से सम्बद्ध हैं। बिखरी हुई व्यवसाय संस्थाएँ ऐसे लाभ नहीं उठा सकतीं।

(ख) सूचना के लाभ (Economies of Information)—इन लाभों का सम्बन्ध उन सुविधाओं से है जो एक उद्योग की समस्त व्यवसाय-संस्थाओं को व्यापार तथा औद्योगिक पत्रिकाओं के छपने तथा केन्द्रीय खोज-संस्था से प्राप्त होते हैं।

(ग) अलग करने के लाभ (Economies of Disintegration)—जब एक उद्योग उन्नति करता है तो कुछ कार्यों को अलग-अलग करके विशिष्ट संस्थाओं को सौंपना सम्भव हो जाता है। उदाहरणार्थ, एक विशेष स्थान में स्थापित रूई की मिलें मिलकर एक निष्पीडन यन्त्र (calendering plant) से लाभ उठा सकती हैं।

आन्तरिक तथा बाह्य लाभो के बीच म कोई विशेष अन्तर नही किया जा सकता। जब अधिक व्यावसायिक सस्थाएँ मिल जाती है तो बाह्य लाभ आन्तरिक लाभ हो जाते है। कौनसे विशिष्ट लाभ आन्तरिक अथवा बाह्य हैं यह केवल इस पर निर्भर है कि किन कार्यो को सयुक्त करना लाभदायक होगा।

यह भी ध्यान देने योग्य है कि किसी उद्योग की वृद्धि स कई हानियाँ (diseconomies) भी हो सकती हैं चूँकि ऐसा करन म कई रद्दी अथवा कम दक्ष साधनो को भी काम म लाया जाएगा।

यह जानन योग्य है कि जैसे जैसे व्यापारिक तथा टेक्नीकल शिक्षा फैलती है और ऐसी दूसरी उन्नति होती है तो आन्तरिक लाभो का क्षेत्र सीमित होता जाता है तथा बाह्य लाभो का विस्तृत होता जाता है। यह भिन्न भिन्न क्षेत्रो म उन्नति का फल है।

६ व्यापार के विस्तार की सीमाएँ (Limits to the Expansion of a Business) —यद्यपि व्यापार का विस्तार लाभदायक है तो भी ऐसा करना सदैव सम्भव नही होता। व्यापार के बढान म विशेष कठिनाइयाँ य है—(अ) वित्तीय (Financial), (ब) व्यवस्थापकीय (Managerial) तथा (स) बाजार सम्बन्धी बाधाएँ (Market Obstacles)। पहले आर्थिक या वित्तीय कठिनाइयो को लीजिए। व्यापार को बढान के लिए उद्यमी को पूँजी की नवीन पूर्ति (fresh supply) की आवश्यकता होती है। वैसे तो अधिक पूंजी के लिए प्रबन्ध करना सरल नही होता फिर भी कठिनाइया ऐसी नही ह जिन पर विजय न प्राप्त की जा सके। एक सफल व्यवसायी को, जो कि ईमानदारी तथा कार्य कुशलता के लिए विख्यात है पूँजी सरलता स मिल जाएगी। यह कहा गया है कि वित्त केवल एक सेवक के समान है।

परन्तु कुछ अन्य कठिनाइयाँ भी है, जैसे-जैसे व्यापार विस्तृत होता है उत्पादन के साधनो का मूल्य बढेगा साधनो के अतिरिक्त पूर्ति को पान के लिए अधिक लगान मजदूरी तथा ब्याज के रूप मे देना पडगा। अतएव लागत (cost) बढ जाएगी। दूसरी ओर अतिरिक्त पैदावार (output) बाजार म कीमत को कम कर सकती है। अतएव कुछ समय म लागत आय के बराबर हो जाएगी। वह व्यवसाय को बढाता जाएगा जब तक कि सीमान्त राजस्व (marginal revenue) [अतिरिक्त पैदावार से अतिरिक्त आय] सीमान्त लागत (अतिरिक्त पैदावार के कारण अतिरिक्त लागत) से अधिक होगी। विस्तार की सीमा तब आ पहुँचेगी जब सीमान्त राजस्व सीमान्त लागत क बराबर होगा। ऐस आकार की फर्म को अनुकूलतम फर्म (optimum firm) कहते है।

सबसे बडी कठिनाई व्यवस्था (managerial) सम्बन्धी है। एक उद्यमी चाहे जितना योग्य हो उन सभी समस्याओ को सफलतापूर्वक नहीं सुलझा सकता जो अधिक पेचीदा है। यही कारण है कि व्यापार का असीमित रूप से विस्तार नही किया जा सकता। एक ऐसी स्थिति आ जाएगी जबकि उद्यमी को यह ज्ञात होगा कि उसका कारबार उसकी प्रबन्ध करन की शक्ति से बाहर हो गया है। तब निरीक्षण प्रभावशाली न रहेगा और कपट छल म बचाव करन म लागत बढ जाएगी। आन्तरिक लाभ धीरे धीरे लुप्त होते जाएँग।

७ छोटे पैमाने के उत्पादन से लाभ (Advantages of Small-scale Production)—छोटे पैमाने के उद्योगों से होने वाली कई किफायतें हैं—

(१) यह कहा जा सकता है कि छोटे पैमाने पर उत्पादन करने वाले में अधिक चतुराई से प्रबन्ध करने की शक्ति होती है। वह शीघ्र निर्णय तथा तत्काल ही नीति को कार्यान्वित कर सकता है, और बाजार के रुख के अनुसार अपने दाँव-पेंच (strategy) अपना सकता है। यहाँ दायित्व बंटा हुआ नहीं होता। उसे ही सारे निर्णय करने पड़ते हैं।

(२) उसकी उपक्रम शक्ति (initiative) दैनिक कार्यों (routine) तथा उत्तरदायित्व से नष्ट नहीं हुई है। उसको बही खाते की लम्बी-चौड़ी पद्धति की और छल-कपट को रोकने के लिए अवरोध की, अथवा श्रम या माल के नाश को कम करने की कोई आवश्यकता नहीं।

(३) श्रमिकों से निजी सम्पर्क (personal contact) तथा कभी-कभी दयालुता के शब्द से हड़ताल या दुर्घटनाओं की सम्भावना कम हो जाती है। छोटे उद्योगों में प्रायः शान्ति बनी रहती है।

(४) ग्राहकों से निजी सम्बन्ध होने के कारण वह सदैव सन्तुष्ट रहते हैं और इसका फल अच्छा ही होता है। ग्राहक स्थायी बने रहते हैं और माल की माँग बराबर बनी रहती है।

(५) यदि माँग सीमित तथा परिवर्तनशील (limited and fluctuating) है तो उसको अधिक लाभ होगा। ऐसी माँग बड़े व्यवसाय के लिए ठीक नहीं रहती।

(६) प्रायः वह स्वयं अकेला मालिक है। प्रबुद्ध निजी स्वार्थ उसकी क्रियाशीलता को प्रोत्साहित करता है। वह देर तक काम करता है। कठिन परिश्रम से उसे अपने व्यापार में अवश्य सफलता मिलती है।

टैक्नीकल ज्ञान के प्रसार से बाह्य किफायतों (external economies) की संख्या में वृद्धि होती है और आन्तरिक किफायतें (internal economies) कम होती हैं। इससे छोटे निर्माता को फायदा होता है। इसके अलावा, जहाँ व्यापार को दैनिक-कार्यों (routine) तक ही सीमित नहीं रखा जा सकता, छोटे उत्पादक को बड़े उत्पादक की अपेक्षा फायदा रहता है।

छोटे पैमाने का व्यापार अपने को कैसे बनाए रखता है—छोटे पैमाने के व्यापार में होने वाले फायदों के कारण यह बड़े पैमाने के व्यापार से सफलतापूर्वक टक्कर ले सकता है। इसके अलावा कई हालात ऐसे हैं जिनमें छोटे व्यापार को कुछ फायदे होते हैं और सहायता मिलती है, लेकिन बड़े पैमाने के उत्पादन को किफायत नहीं होती। जब किसी वस्तु की माँग कम और अस्त व्यस्त होती है तो व्यापार का विस्तार ठीक नहीं है। इन कारणों से यह स्पष्ट है कि कई वस्तुओं की निकासी सीमित है। सबसे पहले भौगोलिक सीमाओं (geographical limitations) को ही लीजिए। सम्भव है अमुक वस्तु की माँग खास तौर पर स्थानीय (local) ही हो। छोटी फर्मों से स्थानीय माँग किफायत से पूरी हो सकती है। यदि कच्चा माल दूर-दूर मिलता है तो भी उद्योग का विकेन्द्रीकरण लाभदायक होगा। ऐसी स्थिति में

स्थानीय कच्चे माल से अधिक लाभ होगा। इसी भाँति कम जनसख्या वाले नगरो मे छोटी तथा विस्तृत इकाइयो मे उत्पादन करना अधिक लाभप्रद होगा। यदि बाजार तथा पूर्ति के स्रोत (market and sources of supply) एक ही जगह पर हो ताकि उपभोक्ता तथा उत्पादक एक दूसरे के निकट सम्पर्क मे हो, उदाहरणार्थ जैसा कि दूध की पूर्ति में होता है तो ऐसे स्थान पर छोटी व्यवसाय-सस्था अधिक किफायती होती है। इस प्रकार एक छोटी व्यवसाय सस्था को दूरी से आश्रय मिलता है। व्यवसाय-सस्था का विस्तार बाजार के प्रतिरोध (resistance of market) से रुकता है, विशेषत यदि परिवहन की लागत ऊँची है।

भौगोलिक सीमाओ के अतिरिक्त बाजार मनोवैज्ञानिक कारणो (psychological factors) मे भी सीमित रहता है। उपभोक्ता की अपनी पसन्द (preference) होती है जोकि प्रयोग म लाये जाने वाले पदार्थों की वास्तविक अथवा काल्पनिक श्रेष्ठता पर आधारित है।

इसके अतिरिक्त आधुनिक समय म छोटे उत्पादक को बड़े उत्पादक के विरुद्ध खडा रहने म बिजली, सहकारिता आन्दोलन (co-operative movement), औद्योगिक पत्रिकाओ के द्वारा वैज्ञानिक तथा औद्योगिक ज्ञान के विस्तार से सहायता मिलती है। ऐसा ज्ञान केवल बडे व्यवसायो का ही एकाधिकार (monopoly) नहीं है।

उद्यमी की अपनी मनोभावना के कारण भी छोटी व्यवसाय-सस्थाएँ बनी हुई हैं। 'प्रयोजनो के सम्मिश्रण के कारण—स्वतन्त्र रहने की चेष्टा अथवा अनिश्चितता, अभिमान अथवा लालसा, अथवा निर्माण करने की प्रेरणा स—वेतन की ऊँची दर पर अधीनस्थ (subordinate) के रूप म काम करने की अपेक्षा कुछ लोग अपना छोटा-सा व्यापार ही चालू करना पसन्द करते है।"

निर्देश पुस्तकें

Robinson, E A G The Structure of Competitive Industry. Chapters 3 to 6 and 10

Robertson Control of Industry

Benham, F Economics

Indian Journal of Economics Conference Number, 1946 (for location of Industry)

Cairncross A Introduction to Economics Chaps 6 and 7

Clark J M The Economics of Overhead Costs, Chs 4 and 6

Cassel J M On the Law of the Variable Proportions, Explorations in Economics 1936 pp 223 236

Fraser L M Economic Thought and Language (1947), Chap 15

Knight Concept of Entrepreneur

Schumpeter, J Theory of Economic Development

D H Robertson, P Sraffa, E A G Robinson, and F. G Shove, Symposium on "Increasing Return" and "the Representative Firm" in Economic Journal, 1932

अध्याय १८

विभिन्न साधनो का परस्पर सहयोग

(Factors in Co operation)

१ साधनो का सयोग (Combination of Factors)—उद्यमी के सामने यह समस्या रहती है कि वह अपने व्यवसाय म उत्पादन के विभिन्न साधनो का परस्पर सयोग कैसे करे। उत्पादन के क्षेत्र म प्रतिस्थापन के सिद्धान्त (principle of substitution) अथवा सम सीमान्त प्राप्ति (equi marginal returns) के लागू करने से उत्पादन के साधनो का सही सयोग प्राप्त होता है। ठीक जिस प्रकार प्रतिस्थापन नियम के अनुसार चलकर उपभोक्ता अपनी सतुष्टि को अधिकतम (maximise) कर सकता है उसी प्रकार प्रतिस्थापन के नियम पर चलकर उद्यमी अथवा उत्पादक अपना लाभ (profit) अधिकतम कर सकता है।

समाज मे उत्पादन के सब साधनो का उपयोग उद्योगपति के द्वारा होता है। वह सब साधनो का सयोग किफायत से करने का प्रयत्न करता है। उसका एकमात्र ध्येय लाभ होता है।

सब से अधिक सस्ता व अच्छा सयोग प्राप्त करने के लिए उत्पादक भाति भाति के सयोगो (various permutations and combinations) की परीक्षा करता है। ऐसा करने म एकमात्र विचारणीय बात विभिन्न साधनो की पारस्परिक कीमतें व कार्यक्षमता होगी। इसके लिए बेन्हम (Benham)[1] ने निम्नलिखित सूत्र बताया है

$$\text{यदि } \frac{\text{अ साधन का सीमान्त उत्पादन}}{\text{अ का मूल्य}}$$

$$\frac{\text{ब साधन का सीमान्त उत्पादन}}{\text{ब का मूल्य}} \text{ से अधिक है तो उद्यमी को उत्पादन की}$$

इस प्रकार की प्रणाली का प्रयोग करने म अधिक लाभ होगा जिसमे अ का अधिक और ब का कम प्रयोग हो।

इस विषय म यह बात ध्यान रखने योग्य है कि अधिकतर साधन एक दूसरे से इतने भिन्न होते है कि किसी एक साधन को दूसरे से पूर्णतया प्रतिस्थापित (replace) करना एकदम सम्भव नही होता। साधारणतया होता यह है कि किसी साधन का उपयोग अधिक किया जाता है किसी का कम। दूसरे शब्दो म प्रतिस्थापन नियम केवल सीमा (margin) पर ही लागू होता है।

पर प्रतिस्थापन नियम से हम इस निर्णय पर नही पहुँचते कि उद्यमी केवल

---

1 Benham Economics (1940) p 193

उसी माल का उत्पादन करेगा जिसकी कुल लागत न्यूनतम हो। यदि किसी जूते के कारखाने म १० जोडे जूते प्रतिवर्ष तैयार होते है तो बहुत सम्भव है कि उनकी कुल लागत न्यूनतम हो पर केवल १० जोडे जूते बनाने से उत्पादक को लाभ नही होगा ? उद्यमी को अधिक चिन्ता इस बात की नहीं होती कि लागत कितनी हुई, उसे तो एकमात्र चिन्ता अपने लाभ को अधिकतम कर लेने की होती है। इसी प्रकार हम इस सिद्धान्त से यह निष्कर्ष भी नही निकाल सकते कि उसकी उत्पादन मात्रा इतनी होगी कि जिससे प्रति इकाई औसत लागत न्यूनतम हो। उद्यमी को औसत लागत (average cost) की अधिक चिन्ता नही होती। वह इसम किसी प्रकार की वृद्धि से नही घबराता यदि उसकी सीमान्त आय (marginal revenue) सीमान्त लागत (marginal cost) से अधिक रहे। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उपक्रमी (entrepreneur) उस समय तक अपने उत्पादन मे वृद्धि करता रहेगा जब तक कि सीमान्त आय व सीमान्त लागत समान (equalise) न हो जाएँ।

२ साधनों का विभाजन (Allocation of the Factors)—उपर्युक्त विभाग में हमने उस सिद्धान्त का अध्ययन किया जिसम विभिन्न साधन किफायती उत्पादन विधि (economical production process) से मिलते हैं। इस विभाग में हम यह देखेंगे कि प्रत्येक साधन को किस प्रकार विभिन्न उपयोगो में लगाया जा सकता है। उत्पादन के साधन बहुत सीमित होते है। इसलिए, यह आवश्यक है कि उनकी व्यवस्थापना (allocation) विभिन्न उद्योगो म इस प्रकार की जाए कि समुदाय को उनसे अधिकाधिक लाभ हो। इसका अन्तिम निर्णय उपभोक्ता की अपनी पसन्द से होगा।

यदि साधन प्रकृति के उपहार के रूप में है तो उसे दूसरे साधनो के साथ इस प्रकार मिला लिया जाएगा कि इसकी सीमान्त उत्पादकता शून्य (zero) हो जाए। क्योंकि इस पर व्यय कुछ नही होता इसलिए इसका उपयोग तब तक होगा जब तक कि इससे थोडी सी भी सहायता मिलती रहेगी अथवा अतिरिक्त उत्पादन शून्य हो जाए।

पर वास्तविकता यह है कि साधन उपहार स्वरूप (free) होते ही नही हैं। चूँकि प्रत्येक साधन की कुछ-न-कुछ कीमत देनी ही पडती है, इसलिए किसी का भी उपयोग उस सीमा तक नहीं होगा जहाँ पर उसकी सीमान्त उत्पादकता शून्य के बराबर हो जाए। प्रत्येक दुर्लभ साधन (scarce factor) की विभिन्न उद्योगो म इस प्रकार व्यवस्थापना होती है कि हर उद्योग मे जिसमें कि उसका प्रयोग हुआ हो उसकी सीमान्त उत्पादकता बराबर रहे। यदि इस्पात उद्योग में श्रम की सीमान्त उत्पादन शक्ति शक्कर के उद्योग की अपेक्षा अधिक है, तो शक्कर के उद्योग से हट-कर श्रम इस्पात के उद्योग म चला जाएगा। परिणाम यह होगा कि दोनो उद्योगो म श्रम का सीमान्त उत्पादन समान हो जाएगा। इसी प्रकार यदि कपास की अपेक्षा गन्ने की खेती से अधिक लाभ होता है तो कपास की कुछ भूमि गन्ने की खेती के उपयोग म आने लगेगी। और यह विकर्षण (diversion) उस समय तक चलेगा जब तक कि दोनो म भूमि की सीमान्त उत्पादकता समान न हो जाएगा।

इस प्रकार जब तक एक प्रकार के उद्योग से हटाकर दूसरे उद्योग में किसी साधन का वैकल्पिक (alternative) उपयोग वाछनीय नही होता तब तक उनका विभाजन (allocation) निर्जीव रहेगा। ऐसा तभी होगा जब कि प्रत्येक दशा में सीमान्त प्राप्ति (marginal return) समान हो। जब तक यह समान नही होगा हेर-फेर होता ही रहेगा। जब किसी साधन के सीमान्त उत्पादन का मूल्य हर उद्योग में समान होता है तभी उसकी व्यवस्थापना पूर्णतया ठीक होती है। दूसरे शब्दों में किसी साधन की समता की स्थिति (equilibrium situation) तब आती है जब सम्प्रदाय के लिए प्रत्येक उद्योग में उसके सीमान्त उत्पादन का मूल्य समान होता है।[1]

३ प्राप्ति के नियम (Laws of Returns)—उत्पादन के साधनो के संयोग (combination) का उन नियमो (laws) पर बडा प्रभाव होता है जिनके अधीन कोई उद्योग हो। अर्थशास्त्री प्राप्ति के तीन नियमो को जानते हैं अर्थात् घटती हुई (diminishing), बढती हुई (increasing) तथा समान (constant) प्राप्ति के नियम। घटती हुई, बढती हुई तथा समान प्राप्ति उस समय कही जाती है, जब सीमान्त प्राप्तियाँ (marginal returns) चढती (rise), गिरती (fall) तथा अपरिवर्तित (unchanged) रहती हैं" जैसे जैसे उत्पादन के साधन की मात्रा (quantity) बढती है। लागत (cost) के रूप में, अमुक उद्योग बढती, घटती तथा समान प्राप्ति के अधीन उत्पादन की सीमान्त लागत के गिरने, चढने तथा समान रहने के अनुकूल होता है। ऐसा उद्योग के विस्तार के क्रमानुसार होता है। अब हम प्रत्येक के सम्बन्ध में कुछ विचार करते है।

४ घटती हुई प्राप्ति का नियम (Law of Diminishing Returns)—कृषि में घटती हुई प्राप्ति का नियम लागू होता है। केयरनेस (Cairnes) के कथनानुसार यदि यह नियम लागू न हो तो "अर्थशास्त्र इस प्रकार पूर्णत परिवर्तित हो जाएगा जैसे कि मानव स्वभाव स्वय परिवर्तित हो गया हो।' इतना अधिक महत्त्व आह्रासी या घटती हुई प्राप्ति के नियम का अर्थशास्त्र के सिद्धान्तो में है।

प्रत्येक कृषक का यह व्यावहारिक अनुभव है कि 'एक निर्धारित भूमि में पूंजी तथा श्रम के क्रमश प्रयोग से, यदि अन्य वस्तुएँ उसी अवस्था में रहे, तो अन्त में उत्पादन वृद्धि अनुपात से कम होगी।' यदि पूंजी और श्रम को दुगुना करने पर, वह उत्पादन को भी दुगुना कर सके तो यह स्पष्ट है कि केवल एक एकड भूमि से उतना गेहूँ पैदा किया जा सकता है जितना कि सम्पूर्ण विश्व की जनसख्या के लिए आवश्यक हो। परन्तु ऐसा नही हो सकता क्योकि घटती हुई प्राप्ति का नियम लागू हो जाता है। यदि लागत बढा दी जाए तो इसमें सन्देह नही कि उत्पादन बढेगा परन्तु घटती हुई दर से।

आह्रासी या घटती हुई प्राप्ति के नियम की सीमाएँ—क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम सदैव लागू नही होता। इस सिद्धान्त के कुछ अपवाद हैं—

(१) कृषि के उन्नत उपाय (Improved Methods of Cultivation)—उत्पादन कला में प्रगति से मानव की कल्पना शक्ति इस नियम की प्रतिक्रिया के

1 Benham Economics

लिए सदैव प्रयत्नशील रहती है। वैज्ञानिक रीति से फसलों का हेर-फेर (rotation), अच्छे बीज, कृषि के आधुनिक यन्त्र, कृत्रिम खाद (artificial manures) और सिंचाई (irrigation) के अच्छे तथा सुगम साधन आदि से आवश्यक उपज अधिक होगी। परन्तु विज्ञान खाद्य-पदार्थ की बढ़ती हुई माँग की पूर्ति नहीं कर सकता। अन्त में प्रकृति का कोप होगा ही और कभी न कभी नियम अवश्य ही लागू होगा।

(ii) नई मिट्टी (New Soil)—जब बिना जुती हुई नई भूमि कृषि के अन्तर्गत आती है तब क्रमश बढ़ाई हुई श्रम और पूँजी की मात्रा के कारण कुछ समय के लिए सीमान्त उपज बढ़ सकती है। परन्तु कुछ सीमा के बाद घटती हुई प्रवृत्ति स्पष्ट होगी। इसलिए नई भूमि के सम्बन्ध में क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम प्रारम्भ में लागू नहीं होता।

(iii) अपर्याप्त पूँजी (Insufficient Capital)—यदि अभी तक अपर्याप्त पूँजी लगाई गई है तो अधिक पूँजी के लगाने पर उत्पादन अवश्य बढ़ेगा। किन्तु बाद में सीमान्त उत्पत्ति अवश्य गिरेगी। इस प्रकार किसी उद्यम का प्रारम्भिक स्तर क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम की शर्तों के अधीन कार्य नहीं करता।

निम्नलिखित तालिका पर विचार कीजिए—

५० एकड़ खेत द्वारा गेहूँ की उपज (मनों में)

१	२	३	४
श्रमिकों की संख्या	कुल उपज	सीमान्त उपज	औसत उपज
१	८०	८०	८०
२	१७०	९०	८५
३	२७०	१००	९०
४	३६८	९८	९२
५	४३०	६२	८६
६	४८०	५०	८०
७	५०४	२४	७२
८	५०४	०	६३
९	४९५	—९	५५
१०	४७०	—२५	४७

इस तालिका से ऐसा प्रतीत होता है कि आह्रासी प्राप्ति (उपज) नियम के तीन भिन्न सामान्य विचार अथवा पहलू हैं—

(१) घटती हुई कुल प्राप्ति का नियम (Law of Total Diminishing Returns)—(स्तम्भ नं० २) इस तरह नवें श्रमिक से उपज घटनी प्रारम्भ हो जाती है। प्रत्येक क्रमश लगाया हुआ श्रमिक उपज में कुछ वृद्धि करता है। किन्तु आठवाँ कुछ वृद्धि नहीं करता तथा नवें और दसवें स्पष्ट रूप से व्यर्थ हैं। क्योंकि मनुष्य बिना मूल्य के नहीं मिल सकते इसलिए कोई बुद्धिमान किसान इस तालिका के द्वारा प्रस्तुत दशाओं में सात श्रमिकों से अधिक नहीं लगाएगा।

(२) घटती हुई सीमान्त प्राप्ति का नियम (Law of Diminishing Mar-

ginal Returns)—(स्तम्भ न० ३) सीमान्त उपज तीसरे श्रमिक तक बढ़ती जाती है। ऐसा इसलिए है कि श्रमिकों का भूमि से अनुपात पहले अपर्याप्त था और भूमि पूर्णत नहीं जोती गई थी। कृषि की यह स्थिति असामान्य है और यह व्यवहार में नहीं पाई जाएगी। यदि किसान जानता है कि श्रमिकों की संख्या बढ़ाने से उपज अनुपात से अधिक बढ़ेगी तो वह अवश्य ही ऐसा करेगा। सीमान्त अर्थात् अतिरिक्त उपज तीसरे श्रमिक के बाद घटती चली जाती है और आठवें पर शून्य हो जाती है। नवें तथा दसवें श्रमिक दूसरों के लिए केवल बाधा के कारण हैं तथा सीमान्त उपज को ऋणात्मक (negative) बनाने के लिए उत्तरदायी हैं।

यह स्मरण रखना चाहिए कि सीमान्त उपज उस अन्तिम मनुष्य द्वारा उपज से सम्बन्धित नहीं है जिसकी नियुक्ति केवल उचित ही समझी जाती है क्योंकि सब मनुष्य एक से माने जाते हैं। सीमान्त उपज केवल वह वृद्धि (addition) है जो सीमान्त श्रमिक कुल उपज के लिए करता है।

(३) घटती हुई औसत प्राप्ति का नियम (Law of Diminishing Average Returns)—(स्तम्भ न० ४) औसत उपज (average return) चौथे श्रमिक पर अधिकतम सीमा पर पहुँचती है अर्थात् सीमान्त उपज के अधिकतम होने के एक मस्या बाद, इसके बाद सीमान्त उपज और शाघ्रता स घटती है। दानो चौथे तथा पाँचवें के मध्य में किसी स्थान पर समान होगी अर्थात् जब पाँचवाँ आंशिक समय तक काम करता है। किन्तु हम वास्तविक जीवन में मनुष्यों को खण्डों में नियुक्त नहीं करते हैं।

अतएव सीमान्त तथा औसत उपजों को हमेशा समान करना सम्भव नहीं होता है। यह भी स्पष्ट है कि जब सीमान्त उपज घटती है, तो औसत उपज में वृद्धि सम्भव है।
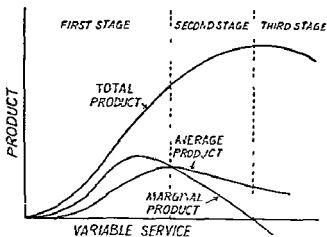
रेखाचित्र की सहायता से इस नियम को इस प्रकार निरूपित किया जा सकता है।[1]

चित्र ~६

कुल उत्पाद (अर्थात् उपज) बढ़कर अधिकतम (maximum) हो जाती है जबकि यह तीसरी स्टेज पर पहुँच जाती है। सीमान्त उपज सबसे पहले अधिकतम पर पहुँचती है और फिर घटनी शुरू हो जाती है (अर्थात् पहली स्टेज पर)। औसत उपज उसके बाद घटनी शुरू होती है, अर्थात् जहाँ दूसरी स्टेज शुरू होती है। यह स्थिति

1 This diagram is taken from Stigler Theory of Price, (1947) p 123

उपर्युक्त तालिका का ही रेखाचित्र के रूप मे निरूपण है। स्पष्ट है कि कोई भी समझदार उद्यमी तीसरी स्टेज म, जहां सीमान्त उत्पाद शून्य है, काम नही करेगा, जब तक कि परिवर्तनशील साधन (variable factor) स्वतन्त्र है। प्रायिक दृष्टि से दूसरी स्टेज महत्वपूर्ण क्षेत्र है जहां औसत उत्पाद सीमान्त उत्पाद से अधिक है जो अब भी क्रियात्मक (positive) है।

नियम गहन तथा विस्तृत दशाओ में (The Law in the Intensive and Extensive Forms)—जब तक अतिरिक्त उपज का मूल्य खेती के व्यय से अधिक होता है, किसान और निम्न श्रेणी की भूमि लेता चला जाता है। वह खेती के विस्तार को आगे बढाना बन्द कर देगा जबकि अतिरिक्त आय (सीमान्त आय) अतिरिक्त व्यय (सीमान्त लागत) के बराबर हो जाएगी। यह भूमि खेती के ठीक उपयुक्त है तथा सीमान्त भूमि कहलाती है। विस्तृत दशा में घटती हुई प्राप्ति का नियम उस समय लागू होता है जबकि जुताई निम्न श्रेणी की भूमि तक बढाई जाती है और उपज हर बार घटती चली जाती है।

किन्तु जब किसान भूमि के एक ही टुकडे में अधिक-से-अधिक श्रम तथा पूंजी की मात्राएँ लगाता जाता है तो प्रत्येक मात्रा म अधिक श्रम और पूंजी लगाने से उत्पादन क्रमश समानुपात से कम प्राप्त होगा। यह घटती हुई प्राप्ति के नियम का गहन रूप (intensive form) है। वह और अधिक मात्राओ का प्रयोग बन्द कर देगा। जब अतिरिक्त व्यय प्राप्त होने वाली अतिरिक्त आय के बराबर होता है तो आखिरी मात्रा जिसका प्रयोग बस उचित ही समझा जाता है सीमान्त मात्रा कहलाती है। विस्तृत दशा म श्रम तथा पूंजी पर भूमि का अनुपात बढाया जाता है और गहन दशा म भूमि पर श्रम तथा पूंजी का अनुपात बढाया जाता है।

यह समझ लेना उचित है कि इस विषय म यह माना जाता है कि उत्पादन मूल्य में नहीं वरन् मात्रा में मापा जाता है। यह हो सकता है कि अतिरिक्त उपज तो घट गई हो किन्तु कीमत बढने से इसका मूल्य अधिक हो।

इस नियम की काट कैसे की जाए? (How to Counteract the Law?)—कोई भी वस्तु जो भूमि की कोटि या शक्ति को बढाती है और इसकी उपज म वृद्धि करती है अथवा कोई वस्तु जो उपज के मूल्य म वृद्धि लाती है नियम के सचालन को रोकेगी। आधुनिक यन्त्रो का प्रयोग मिट्टियो तथा खादो का बुद्धिमत्ता से मिश्रण, बीज को होशियारी से चुनना और उचित बोआई, गहरी से गहरी जुताई तथा यथेष्ट सिचाई की सुविधाओं का प्रबन्ध आदि से हम इस नियम की काट कर सकते हैं। सक्षेप म वैज्ञानिक कृषि घटती हुई प्राप्ति क नियम के सचालन को रोक सकती है।

खेती के अलावा, यह नियम निष्कर्षक उद्योगो (extractive industries) जैसे खनन (mining) मीन क्षेत्र (fisheries) तथा भवन निर्माण उद्योगो में भी लागू होता है। खानो के क्षत्र म यह नियम तब लागू होता है जब खनन के काम को रद्दी, दूर अथवा गहरी खानो तक फैलाया जाता है। इसी प्रकार जब मछली पकडने का काम एक स्थान पर केन्द्रित कर दिया जाता है और जब एक ही भवन पर कई मजिलें बनाई जाती हैं तब भी घटती हुई प्राप्ति का नियम लागू होता है।

यह नियम विशेष रूप से कृषि पर क्यो लागू है ? (Why the Law Specially Applies to Agriculture ?)—घटती हुई प्राप्ति का नियम कृषि तथा अन्य निष्कर्षक उद्योगो मे विशेष रूप से लागू होता है। इन सब उद्योगो म प्रकृति का प्रभुत्व ममान है। अतएव यह प्राय कहा जाता है कि उत्पादन में **प्रकृति का जितना भाग है उसमें घटती हुई प्राप्ति का नियम लागू होता है और मनुष्य का जितना भाग है उसमें बढती हुई प्राप्ति का नियम लागू होता है।** इससे परिणाम यह निकलता है कि कृषि म, जिसमे प्रकृति प्रधान है घटती हुई प्राप्ति का नियम लागू होता है, जबकि उद्योग म, जिसम मनुष्य प्रधान है बढती हुई प्राप्ति का नियम लागू होता है।

कृषि म घटती हुई प्राप्ति के नियम लागू होने के कई कारण हैं। कृषि सम्बन्धी कार्य एक विस्तृत क्षेत्र में फैले होते हैं और उनकी उचित देख-भाल नही हो सकती। मशीन के प्रयोग म विशिष्टीकरण का क्षेत्र बहुत ही सीमित है। अतएव बडे पैमाने के उत्पादन की किफायतें कृषि म नही प्राप्त हो सकती। कृषि उद्योग के मौसमी होने के कारण और भी सीमाएँ उत्पन्न होती हैं। कृषि सम्बन्धी कार्यो मे वर्षा तथा अन्य जलवायु सम्बन्धी परिवर्तनो द्वारा बाधा पडने की सम्भावना है। मनुष्य प्रकृति का पूर्ण स्वामी नही है और कोई आश्चर्य नहीं कि कृषि में घटती हुई प्राप्ति का नियम लागू होता है।

इसी प्रकार यह समझ मे आने योग्य है कि शिल्प-उद्योगो म बढती हुई प्राप्ति का नियम लागू हो। इसम मनुष्य की सूझ बूझ के प्रयोग के लिए अधिकतम क्षेत्र है। श्रम-विभाजन तथा पूर्णत आधुनिक यन्त्रो के प्रयोग के प्रचार से उत्पादन कल्पना से परे सीमा तक बढाया जा सकता है। एक स्थान पर श्रमिको के केन्द्रित होन मे देख-भाल आसान तथा प्रभावशाली हो जाती है। प्रकृति के दूषित प्रभाव निरन्तर अलग कर दिए जाते हैं। मनुष्य योजना बनाने, उसे प्रारम्भ करने तथा चलान म स्वतन्त्र है। वह सब आन्तरिक और बाह्य मितव्ययताएँ (economies) प्राप्त कर सकता है।

परन्तु यह कहना भी अनुचित है कि कृषि म सदैव घटती हुई प्राप्ति का नियम लागू होता है और शिल्प उद्योगों म बढती हुई प्राप्ति का नियम। घटती हुई प्राप्ति का नियम हर जगह लागू होता है। विकस्टीड (Wicksteed) के शब्दो म, "यह नियम स्वय जीवन के नियम की भाँति सब जगह लागू है।" इसका प्रयोग कृषि मे ही सीमित नहीं है, यह शिल्प उद्योगो म भी लागू होता है। यदि उद्योग बहुत विस्तृत कर दिया जाय और स्थूल हो जाय, तो उसकी देखभाल ढीली हो जाएगी और व्यय बढ जाएगा। ऐसी स्थिति म घटती हुई प्राप्ति का नियम लागू हो जाएगा। अन्तर केवल इतना ही है कि कृषि म यह जल्दी लागू होता है जबकि उद्योग मे बहुत बाद म। यह हो सकता है कि एक बुद्धिमान उद्योगपति यह दशा आने ही न दे। प्रारम्भ में कृषि म भी उत्पादन म वृद्धि होती है। अतएव दोनो नियम निष्कर्षक सम्बन्धी तथा शिल्प-उद्योग सम्बन्धी सब प्रकार के उद्योगो मे लागू होते हैं। वास्तव मे वे एक ही नियम के दो रूप है जिसे अनुपाती नियम (Law of Proportionality) भी कहा जाता है।

५ सामान्य रूप में घटती हुई प्राप्ति का नियम (Law of Diminishing

Returns in a General Form)—इङ्गलैण्ड के प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के समय से भूमि की घटती हुई प्राप्ति के नियम सम्बन्धी विवेचन ने इसके वास्तविक महत्त्व को ढक दिया है। कृषि के विषय में कोई विशेषता नहीं है जिसके कारण नियम को केवल इसी से सम्बद्ध किया जाए। वास्तव में उन्नत देशों में वैज्ञानिक विधि की कृषि ने इस नियम को नहीं के बराबर कर दिया है। यह इससे स्पष्ट है कि जहाँ जीवन स्तर के बढ़ने से खाद्य के उपभोग में वृद्धि हुई है, खाद्य के उत्पादन में लगे हुए व्यक्तियों की संख्या वास्तव में कम हो गई है।

यथार्थता यह है कि नियम केवल कृषि में ही नहीं लागू होता। इसका सामान्य प्रयोग होता है और इसलिए इसको सामान्य रूप दिया जा सकता है। घटती हुई या उत्तरोत्तर आह्रासी प्राप्ति का नियम केवल साधनों के मिश्रण के सिद्धान्त की ओर संकेत करता है। सामान्य रूप में यह कहा जा सकता है कि यदि एक परिवर्तनशील साधन (variable factor) कुछ स्थायी साधनों (constant factors) में मिलाया जाए, तो परिवर्तनशील साधन की औसत तथा सीमान्त उपज गिर जाएगी। बेन्हम (Benham) ने इस नियम को इस प्रकार बतलाया है "एक सीमा (point) के बाद यदि साधनों के एक अंश को दूसरे साधनों के संयोग से बढ़ाया जाय तो इससे उस साधन का औसत तथा सीमान्त उत्पाद घट जाएगा।"[1] यह इस कारण से है कि संयोग साधनों के एक उचित अनुपात को नहीं दिखाता। दूसरों की तुलना में एक साधन अत्यधिक हो जाता है। जब साधनों के बीच उचित सन्तुलन स्थापित हो जाएगा तब घटती हुई प्राप्ति का नियम लागू नहीं होगा।

यह नियम इसलिए लागू होता है कि उत्पादन के साधन सीमित हैं। चैपमैन के शब्दों में, "यदि अन्य बातें समान रहें, तो एक उद्योग का विस्तार शीघ्र ही अथवा अन्त में घटती हुई प्राप्ति के नियम के अवश्य ही साथ चलेगा यदि उत्पादन में किसी एक साधन की जो अनिवार्य है अधिक पूर्ति न प्राप्त हो सकती हो।"[2]

यदि हम जरा ध्यानपूर्वक विचार करें तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि घटती हुई प्राप्ति का नियम इस कारण लागू होता है कि उत्पादन के साधन एक दूसरे का पूर्ण रूप से प्रतिस्थापन (substitution) नहीं कर सकते। श्रीमती जोन रॉबिन्सन (Mrs. Joan Robinson) ने इस बात पर उचित प्रकाश डाला है। श्रीमती रॉबिन्सन के शब्दों में, "घटती हुई प्राप्ति का नियम यह बताता है कि उत्पादन के एक साधन को दूसरे के लिए प्रतिस्थापन (substitute) करने की मात्रा की एक सीमा है। अथवा, दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि साधनों के बीच प्रस्थापना की लचक (elasticity) असीम (infinite) नहीं है। यदि यह सच नहीं होता तो, जब उत्पादन का एक साधन राशि (amount) में निश्चित होता है और बाकी की

---

1 As the proportion of one factor in a combination of factors is increased, *after a point* the average and marginal product of that factor will diminish. —Benham

2 "The expansion of an industry provided that additional supplies of some agent in production which is essential cannot be obtained, is invariably accompanied at once or eventually by decreasing returns other things being equal." —Chapman

सप्लाई पूरे तौर पर लचकदार होती है—पैदावार (output) के भाग को निश्चित साधन की मदद से पैदा करना सम्भव होता। और इसके बाद, जब इस साधन तथा दूसरे साधनों के बीच अनुकूलतम अनुपात (optimum proportion) स्थापित हो जाता तो इसके (इस साधन के) स्थान पर कोई अन्य साधन प्रतिस्थापित करके और पैदावार को स्थिर लागत (constant cost) पर बढाया जा सकता था। इस प्रकार घटती हुई प्राप्ति का नियम यह बताता है कि किसी वस्तु के उत्पादन के लिए आवश्यक विभिन्न तत्त्वों (elements) को ग्रुपों म बांट लेना चाहिए जिससे प्रत्येक ग्रुप इस रूप में उत्पादन का साधन बने कि परस्पर साधनों के बीच की प्रतिस्थापना की लचक असीम से कम रह जाए।"[1]

घटती हुई प्राप्ति के नियम का अर्थ है बढती हुई लागत का नियम। ऐसा मानने पर, यह मालूम होता है कि कुछ साधनों को बढी हुई मात्रा म लागू करने से, जबकि दूसरे स्थिर (constant) हैं, पैदावार प्रति इकाई अधिक लागत पर तैयार होगी। आप कुछ भी मान सकते हैं कि या तो प्राप्ति घटती जाती है अथवा लागत बढती जाती है। ये दोनों बातें समान हैं।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि जहाँ से घटती हुई प्राप्ति का नियम प्रारम्भ होता है, वही उत्पादन के साधनों का अधिकतम लाभदायक सयोग (maximum efficient combination) है। यह ऐसा सयोग है जिससे उच्चतर प्राप्ति (higher return) मिलेगी। हम किसी व्यक्ति को अधिक बीघे जमीन दकर अर्थात् भूमि को बेकार करके बढती हुई प्राप्ति कर सकते है। इसी भाँति श्रम तथा जन-शक्ति बेकार करके प्रति एकड बढती हुई प्राप्ति कर सकते हैं। परन्तु यह अर्थशास्त्र की बात नही है। इस प्रकार बढती हुई प्राप्ति की ओर किसी भी प्रयास का अर्थ है कि स्रोतों का कुछ क्षय होगा ही और साधनों के अधिकतम आर्थिक सयोग से हटना पडेगा। सही सयोग म प्रत्येक साधन को दूसरे साधनों से ऐसे अनुपात म मिलाया जाएगा कि यदि इसको (इस साधन को) अकेले बढाया जाता तो इसका औसत उत्पाद घट जाएगा। इसी तरह वह बिन्दु जहाँ से घटती हुई प्राप्ति शुरू होती है, यह बताता है कि यही अत्यधिक कार्यपटु सयोग है।

६ आर्थिक सिद्धान्त में घटती हुई प्राप्ति के नियम का महत्त्व (The Importance of the Law of Diminishing Returns in Economic Theory)—घटती हुई प्राप्ति का नियम प्रतिष्ठित अंग्रेज अर्थशास्त्रियों विशेषत माल्थस (Malthus) तथा रिकार्डो (Ricardo) द्वारा बनाए हुए अनेक आर्थिक सिद्धान्तों का आधार बन गया है। इसको प्रकृति का निष्ठुर नियम कहा गया था। इसके कारण अर्थशास्त्र म बहुत से निराशावादी विचार हुए जिससे इसको निकृष्ट विज्ञान (dismal science) तक कहा गया। माल्थस (Malthus) का जन-संख्या का सिद्धान्त जिसके अनुसार जन-संख्या खाद्य-पदार्थों से अधिक शीघ्रता से बढती है, स्पष्ट रूप से इस यथार्थता पर निर्धारित है कि खाद्यों के उत्पादन में घटती हुई प्राप्ति का नियम लागू होता है।

1. Robinson, Joan—Economics of Imperfect Competition (1940) p 330.

रिकार्डो (Ricardo) का लगान-सिद्धान्त (theory of rent) यह स्पष्ट करता है कि लगान इस कल्पना पर निश्चित होता है कि नीची श्रेणी की भूमि पर कृषि घटती हुई प्राप्ति के नियम के लागू होने के कारण की जाती है। कृषि की सीमा गिरती जाती है और लगान बढ़ता जाता है। व्यवसाय के अनुकूलतम आकार (optimum size) का आदर्शरूप भी इस सिद्धान्त के सचालन से स्पष्ट किया जाता है। मूल्य का सीमान्त उपयोगिता सिद्धान्त तथा सीमान्त उत्पादन का सिद्धान्त, जो राष्ट्रीय लाभाश (national dividend) म उत्पादन के एक साधन का हिस्सा निश्चित करता है, इस आवश्यक नियम के सचालन पर आधारित है। अस्तु घटती हुई प्राप्ति का नियम आर्थिक विचार-धारा में एक बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

७ **बढ़ती हुई प्राप्ति का नियम** (Law of Increasing Returns)—यदि उद्योगो मे किसी प्रकार के अतिरेक विनियोग (investment) के फलस्वरूप अनुपात से अधिक उत्पादन होने लगे अथवा यदि सीमान्त उत्पाद में वृद्धि हो जाए तो ऐसा बढती हुई प्राप्ति के नियम के अन्तर्गत होता है। लागत की दृष्टि से बढती हुई प्राप्ति के नियम क लागू होने पर उद्योग के विस्तार से सीमान्त उत्पादन लागत म कमी हो जाती है। क्योंकि सीमान्त लागत किसी वस्तु की कीमत प्रकट करती है, अतएव जिस उद्योग में बढता हुई प्राप्ति का नियम लागू होता है उसम उद्योग के विस्तार के साथ-साथ वस्तु को कीमत गिरती जाती है।

हम देख चुके हैं कि यदि उत्पादन का रूप बढा दिया जाए तो बडे लाभ उठाए जा सकते हैं। श्रम व मशीन के विशिष्टीकरण व दूसरी वाणिज्यिक तथा विविध सुविधाओ के कारण उत्पादन की लागत मे कमी हो जाती है और ऐसी दशा म बढती हुई प्राप्ति का नियम लागू होता है। बड पैमाने के उत्पादन की किफायतो में जो कम कीमत पर अधिक उत्पाद म सहायक होती है वे य हैं[1]—(i) अमानवीय तथा अपाशविक शक्ति स्रोत [जैसे जल तथा पवन-शक्ति, स्टीम (भाप), बिजली, आन्तरिक अणु-शक्ति], (ii) ऑटोमैटिक स्वय व्यवस्थापक मशीनी यन्त्र, (iii) स्टैंडर्ड बदल सकने योग्य पुर्जों का उपयोग (iv) जटिल विधि के स्थान पर सादे पुनरावृत्ति वाले कार्य अपनाना, (v) श्रम विभाजन तथा कार्यो का विशिष्टीकरण, तथा (vi) दूसरे अन्य प्रौद्योगिकीय (technological) साधन।

जब किसी आवश्यक साधन की कमी हो जाती है तो उद्योग घटती हुई प्राप्ति के नियम के प्रभाव में आ जाता है। पर यदि उद्योग के विस्तार के समय उत्पादन सम्बन्धी सब साधन आवश्यक मात्रा म प्राप्त हो तो बढती हुई प्राप्ति का नियम अवश्य लागू होगा। 'यदि उत्पादन सम्बन्धी साधनो की कमी न हो तो, सब बातें समान रहने पर किसी उद्योग के विकास के साथ साथ बढती हुई प्राप्ति का नियम प्रारम्भ हो जाता है।'[2]

जब साधनो का सयोग अनुचित अनुपात म होता है तो घटती हुई प्राप्ति का

1 Samuelson P A —Economics (1948) p 21

2 The expansion of an industry Provided that there is no dearth of suitable agents of Production tends to be accompanied, other things being equal by increasing returns —Chapman op cit p 102

नियम (law of diminishing returns) लागू होता है। जब हम सयोग को सही करने का प्रयास करते हैं तो बढती हुई प्राप्ति उस समय तक होगी जब तक सन्तुलन (balance) पूरी तौर पर वापस नही आ जाता।

अविभाज्यता के सिद्धान्त (concept of indivisibility) का भी बढते हुए प्राप्ति के नियम से बडा घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसी प्रकार मान लीजिए एक निर्माता व्यवसायी ने अधिकाधिक माँग को पूरा करने की दृष्टि से एक मशीन लगाई। परन्तु वास्तव म वह मशीन अपनी शक्ति से कम मात्रा म उत्पादन करती है। ऐसी दशा में यदि किसी दूसरे साधन (factor) म अथवा साधनो में वृद्धि कर दी जाए, तो इस अविभाज्य मशीन का अधिक समुचित उपयोग होगा और फलस्वरूप बढती हुई प्राप्ति का नियम लागू हो जाएगा।

इन दोनो नियमों अर्थात् बढती तथा घटती प्राप्ति (returns) की व्याख्या अनुकूलतम व्यापारिक इकाई (optimum business unit) के रूप में भी हो सकती है। जब हम अनुकूलतम की ओर चल रहे हैं तो हम बढती हुई प्राप्ति (increasing returns) की ओर जब हम अनुकूलतम से दूर को हट रहे हैं तो हमारी घटती हुई प्राप्ति की अवस्था होगी।

८ स्थिर प्राप्ति का नियम (Law of Constant Returns)—जब किसी उद्योग म चाहे कैसा भी उत्पादन किसी भी माप मे हो पर प्रति इकाई लागत में कोई परिवर्तन नही होता, तब उस समय स्थिर प्राप्ति का नियम लागू होता है। श्रम व पूँजी के विनियोग म वृद्धि के बाद भी यदि उत्पादन की वृद्धि अनुपात के अनुसार हो तब उस उद्योग म स्थिर प्राप्ति नियम (law of constant returns) लाग होता है।

मार्शल का विश्वास है कि उद्योग को प्रकृति सदैव घटती हुई प्राप्ति की ओर ले जाती है व मनुष्य की क्रियाएँ उसको बढती प्राप्ति की ओर। यही कारण है कि कृषि म जहाँ प्रकृति का भाग प्रमुख होता है घटती प्राप्ति होती है पर उद्योग धन्धो में जहाँ बाह्य शक्तियो से विचलित हुए बिना मनुष्य अपनी बुद्धि की शक्ति द्वारा कार्य करता है, बढती हुई प्राप्ति का नियम लागू होता है। यह भी सम्भव है कि कोई उद्योग ऐसा हो जहाँ न तो बढती हुई प्राप्ति का नियम और न घटती हुई प्राप्ति का नियम ही लागू हो बल्कि स्थिर प्राप्ति का नियम हो।

किसी ऐसे उद्योग का उदाहरण लीजिए जिसम कच्चे मालो की (जो प्रकृति के भाग को प्रकट करते हैं) लागत का अनुपात उतना ही है जितना कि माल तैयार करने की लागत का अनुपात है। प्रत्येक उद्योग म दो विभिन्न प्रवृत्तियां काम करती हैं। जब उद्योग का विस्तार होता है तो कुछ व्यय बढ जाते हैं, कुछ कम हो जाते हैं। यह हो सकता है कि कोई ऐसा उद्योग हो जिसमें यह दोनो प्रवृत्तियाँ समान हो जाएँ व स्थिर प्राप्ति हो। इस सम्बन्ध में कभी कभी प्राकृतिक शुद्ध ऊन से कम्बल बनाने के उद्योग का उदाहरण दिया जाता है। यह कहा जाता है कि इस उद्योग में कच्चा माल (ऊन) घटती हुई प्राप्ति के नियम से प्रभावित होता है। पर इसकी कमी माल तैयार करने की सुविधाओं से पूरी हो जाती है और परिणामस्वरूप स्थिर प्राप्ति नियम लागू होता है।

अनुकूलतम नियम (optimum theory) स्थिर प्राप्ति नियम की कार्य-प्रणाली को समझाने म हमारी सहायता कर सकता है। हम देख चुके हैं कि अनुकूलतम उत्पादन की प्रवृत्ति में बढती हुई प्राप्ति का नियम होता है व उसके उपरान्त की प्रवृत्ति में घटती हुई प्राप्ति का नियम, पर यदि हम अनुकूलतम (optimum) को पालें, तो ऐसा चाहे कितना ही थोडे समय को क्यो न हो, स्थिर प्राप्ति नियम लागू होगा।

६ अभिनवीकरण (Rationalisation)—अभी तक हमने व्यक्तिगत कारखानो की दृष्टि से साधनो के सगठन का अध्ययन किया, अब हम उद्योग को सम्पूर्ण मानकर उसका अध्ययन करेंगे। अभिनवीकरण उद्योग के सर्वोत्तम सगठन को कहते हैं।

सन् १६१४-१८ के महायुद्ध के बाद बहुत सी भूमि छिन जाने व युद्ध क्षतिपूर्ति (reparations) की कठिन माँग से आहत होने के कारण जर्मनी के सम्मुख अपने उद्योगो में पुन निर्माण की समस्या थी। उसकी पुन निर्माण की प्रणाली को अभिनवीकरण कहते हैं। जर्मनी के बाद अभिनवीकरण की लहर दूसरे देशो म भी पहुँची। और इसको नई औद्योगिक क्रान्ति की सज्ञा दी गई।

बालफर (Balfour) के शब्दो म "वास्तव म यह (अभिनवीकरण) टैकनीक (technique) तथा सगठन की रीति है जिसका उपयोग प्रयास तथा माल की न्यूनतम क्षय द्वारा काम चालू रखना है। इसके साथ ही, श्रम का वैज्ञानिक ढग पर सगठन, मेटीरियल (माल) तथा उत्पाद का प्रमाणीकरण (standardisation) तथा व्यवस्थापन को सरल करना और परिवहन तथा मार्केटिंग की प्रणाली म बाह्य सुधार आदि करना है।"[1]

अभिनवीकरण (Rationalisation) के मुख्य तत्व यह है—आधुनिकीकरण (modernisation), वैज्ञानिक प्रबन्ध (scientific management) व एकीकरण (amalgamation)। उद्योग की हर उत्पादक इकाई मे सबसे आधुनिक मशीनें, प्लाट (plant) तथा दूसरे उपकरण होन चाहिएं जिससे सभी उपकरण बढिया किस्म के हो। अभिनवीकरण के अन्तर्गत पुरानी व टूटी फूटी मशीनो का तुरन्त हटा देना चाहिए। केवल आधुनिकतम कारखानो में ही उत्पादन होना चाहिए।

पर केवल आधुनिकता (modernisation) ही पर्याप्त नही होती। आधुनिकता के साथ प्रब ध भी वैज्ञानिक होना आवश्यक है। अमेरिका मे टेलर (Taylor) द्वारा वैज्ञानिक प्रबन्ध के विचार का प्रादुर्भाव हुआ। इसके अन्तर्गत समय अध्ययन (time study), गति अध्ययन (motion study) तथा श्रान्ति अध्ययन (fatigue study) हैं। यह आवश्यक होता है कि कारखानो के कर्मचारियो को न्यूनतम समय म काम करन की सर्वोत्तम ढग की शिक्षा दी जाए।

किसी उत्पादन की प्रत्यक इकाई की अधिकतम कार्यक्षमता सम्पूर्ण उद्योग की

---

1 Rationalisation is the method of technique and organisation designed to secure the m nimum waste in effort and material added to that the scientific organisation of labour the standardisation of materials and products and the simplification of processes and physical improvements in the system of transport and marketing —Balfour

समस्याओं का निवारण नही कर देती है। यही नही, इससे हर इकाई के सर्वाधिक उत्पादन के द्वारा अत्यधिक उत्पादन की समस्या भी पैदा हो सकती है। अस्तु, अभिनवीकरण (rationalisation) का मूल सिद्धान्त केवल इकाइयो की ही कार्यक्षमता बढाना नही है, बल्कि सम्पूर्ण उद्योग को स्वस्थ व दक्ष बनाना होता है। इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि उद्योग में व्यस्त सबकी कार्य-प्रणाली सामूहिक (collective) हो। उद्योगो की बहुत सी त्रुटियाँ केवल इसलिए पैदा होती हैं कि उनकी इकाइयाँ जुदा (isolated), स्वतन्त्र (independent) तथा असमन्वयित (un-co-ordinated) होती हैं। इसलिए उत्पादक इकाइयों का घनिष्ठ एकीकरण अति आवश्यक है। उद्योग की कठिन समस्याओ जैसे मार्केटिंग की कठिनाइयो का निराकरण बिना केन्द्रीय नियन्त्रण के सफलता से नही हो सकता। अस्तु, इकाइयो के परस्पर एकीकरण (amalgamation) का सहारा लिया जाता है। उद्योग को सम्पूर्ण रूप देने के लिए अदक्ष इकाइयों को समाप्त कर, दक्ष एव उत्पादक इकाइयो का सगठन कर लिया जाता है। अभिनवीकरण के अन्तर्गत उत्पादन केवल उन इकाइयो तक ही सीमित रहता है जिनमें उत्पादन-व्यय निम्नतम होता है। तैयार माल का कोटा निश्चित करते समय वैज्ञानिक मार्केटिंग का ध्यान रखना चाहिए, जिससे माल की ढुलाई मे पुनरावृत्ति न हो, और समीपस्थ इकाइयो से समीपस्थ मण्डियों का सम्बन्ध स्थापित हो।

अभिनवीकरण (Rationalisation) से कई लाभ हैं—

(१) मापमान की किफायतें (Economies of Scale)—अभिनवीकरण से उद्योग मे उत्पादन बडे पैमाने पर होता है। इसलिए बड़ी मात्रा के उत्पादन की सभी सुविधाएँ प्राप्त होती हैं। हर प्रकार की सुविधा होती है। क्रय-विक्रय की सुविधा, स्थान व औजारो की सुविधा, विशिष्ट श्रम व विशिष्ट कल की सुविधा। यही नही, खोज व प्रयोग आदि पर अधिक रुपया व्यय किया जा सकता है।

(२) जीवन स्तर में उन्नति (Improvement in the Standard of Living)—अधिक मात्रा मे तथा स्टैंडर्ड उत्पादन से लागत (cost) गिर जाती है व वस्तुएँ निर्धनो तक पहुँचने लगती हैं। फलस्वरूप जीवन-स्तर ऊपर उठ जाता है।

(३) प्रतियोगी शक्ति में वृद्धि (Increase in Competitive Strength)—इस प्रकार के उद्योग को विदेशी प्रतियोगिता का भय नही रहता। यह लागत गिराकर विश्व-व्यापार से होड लगा सकता है।

(४) स्थिरता (Stability)—अधिक वित्तीय स्रोतो व बडे व्यापार के कारण वह उद्योग जिसम अभिनवीकरण हुआ है, बुरे समय का सामना अधिक तत्परता से कर सकते हैं। मदी (depression) का पूर्व ज्ञान हो जाता है और उससे बचने के उपाय करके बहुत से कष्टों को रोका जा सकता है।

लेकिन अभिनवीकरण अमिश्रित प्रसाद नही है। अभिनवीकरण से बहुत सी कठिनाइयाँ व समस्याएँ भी पैदा होती हैं। वे यह हैं—

(१) वित्तीय कठिनाइयाँ (Financial Difficulties)—अभिनवीकरण के लिए अत्यधिक व्यय की आवश्यकता है। उद्योग का ढाँचा बहुत खर्चीला हो जाता है।

फलस्वरूप वह कभी-कभी अधिक पूँजी वाली कम्पनियों की प्रतियोगिता में नहीं ठहर सकता। फिर अधिक पूँजीकृत (Capitalised) होने का भी भय रहता है।

(२) श्रम का विस्थापन (Displacement of Labour)—अभिनवीकरण में मशीनों का प्रयोग अत्यधिक बढ़ जाता है। इससे श्रम बेकार सा हो जाता है। इसलिए यदि इसके कारण मनुष्यों को कष्ट हो तो अभिनवीकरण का समर्थन नहीं किया जा सकता। पर दीर्घकाल में श्रम के लिए कार्य-क्षेत्र बढ़ जाता है।

(३) एकाधिकार के दोष (Abuses of Monopoly)—शक्तिशाली एकाधिकार संघ (powerful combines) उपभोक्ताओं का शोषण करते हैं। यद्यपि वह दर कम कर सकते हैं फिर भी वे अत्यधिक कीमत लेते हैं। एकाधिकार के साथ-साथ अन्य दोष भी प्रवेश कर जाते हैं।

(४) नये व्यापारियों के लिए अवसरों का अभाव—बड़े बड़े एकाधिकार संघ (combines) नए उद्यमियों को उठने का अवसर नहीं देते। नये प्रतियोगियों का दमन कर दिया जाता है। इससे राष्ट्र का अहित होता है।

अभिनवीकरण पर इन बुराइयों के होते हुए भी पक्ष में बहुत कुछ कहा जा सकता है। प्रतियोगी पूँजीवाद (competitive capitalism) प्राय समाप्त सा है। बड़े शोक की बात है कि हमारे उद्योगपति अब भी उन्नीसवीं शताब्दी में रह रहे हैं। हमारे पटसन के उद्योग, शक्कर के उद्योग व सूती कपड़े के उद्योग सहयोगिता की कमी के कारण बड़ी हानि उठा रहे हैं। और अभी तक भी उन्होंने जुदा रहने के मार्ग को नहीं छोड़ा है। वे साथ तैरने से अकेले डूबना अधिक पसन्द करते हैं। संघ शक्ति है' सिद्धान्त को अभी तक नहीं अपनाया गया है। भारत में केवल सीमेंट उद्योग ही एक ऐसा उद्योग है जिसने मूल्य संघ बनाकर बुद्धिमत्ता का प्रदर्शन किया है। हमें ऐसा विश्वास है कि युद्धोत्तर संघर्ष का सामना करने के लिए हमारे उद्योग भी अभिनवीकरण को अपनावेंगे।

निर्देश पुस्तकें

Benham, F　Economics
Meakin　New Industrial Revolution
Urwick　The Meaning of Rationalisation
Brady　Rationalisation Movement in Germany

अध्याय १३

उत्पादन के साधनों की गतिशीलता

(Mobility of the Factors of Production)

१ गतिशीलता के भेद (Types of Mobility)—उपभोक्ताओं के अधिमान माप (scale of preference) म किसी भी परिवर्तन मे उत्पादन क्रिया के प्रवाह म अनुरूप परिवर्तन अवश्य होगा। इस दिशा म उत्पादन के साधनो की गतिशीलता अत्यन्त सहायक होती है। गतिशीलता से हमारा अभिप्राय केवल भौतिक अथवा भौगोलिक गतिशीलता अर्थात् उत्पादन के साधन का एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना ही नही होता है। परन्तु गतिशीलता का अभिप्राय एक ही स्थान पर अथवा अन्य स्थान पर एक साधन का वैकल्पिक प्रयोग (alternative use) से भी होता है। इस अर्थ में गतिशीलता के अर्थ कार्यगत गतिशीलता, स्थानीय गतिशीलता तथा औद्योगिक गतिशीलता (i e between occupation, place and industries) हैं।

हम उत्पादन के प्रत्येक साधन के सम्बन्ध म गतिशीलता की सीमा का अध्ययन करेंगे।

२ भूमि की गतिशीलता (Mobility of Land)—अर्थशास्त्र मे 'भूमि' (Land) का अभिप्राय पर्वतो, समुद्रो, नदियो, जलवायु, मिट्टी, वायु, धूप आदि प्राकृतिक साधनो से है। बाँध बनाकर नदियो के प्रवाह को बदलना तथा पानी को नहरो की ओर ले जाना सम्भव है। किन्तु हम पर्वतो अथवा इमारतो को एक स्थान से दूसरे स्थान पर नही ले जा सकते। गतिशीलता के सम्बन्ध म 'भूमि' हमारे प्रयत्नो को रोकती है क्योकि भूमि की भौगोलिक गतिशीलता असम्भव है।

परन्तु गतिशीलता की केवल यही किस्म नही है जिसको हम जानते हैं। जिस रूप मे हमने गतिशीलता की परिभाषा की है उसम उसका अभिप्राय एक साधन का वैकल्पिक प्रयोगो म लाए जा सकने की सम्भावना से है। क्या भूमि पूर्णतया विशिष्ट (absolutely specific) नही है? यद्यपि भूमि कुछ मात्रा म विशिष्टता रखती है, तो भी किसी सीमा तक इस पर अनेक प्रकार की फसलें उत्पन्न की जा सकती हैं। एक व्यक्ति अपनी भूमि को एक नगर से हटाकर दूसरे मे नही पहुँचा सकता, तो भी एक स्थान पर उसे वेचकर तथा दूसरे स्थान पर उसे खरीदकर वह उसे गतिशीलता प्रदान करता है। एक अन्य विधि भी है। एक मनुष्य जिसके पास भिन्न भिन्न स्थानो पर भूमि है, वह श्रम तथा पूँजी को एक स्थान पर हटा सकता है और वहाँ की भूमि को अच्छा कर सकता है तथा दूसरे स्थान की भूमि की उपेक्षा कर सकता है। इस प्रकार, एक भूमि अधिक उत्पादक हो जाती है तथा दूसरी उत्पादकता से वंचित रहती

1 विस्तृत अध्ययन के लिए देखिए बेन्हम का अर्थशास्त्र।

है। उत्पादकता ही वास्तव में हम चाहते हैं। इस प्रकार भूमि भी गतिशील हो जाती है।

परन्तु भूमि उस समय अधिक गतिशील हो जाती है, जबकि उसकी उपज को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जाता है। व्यावहारिक रूप से यह भूमि की सेवा (service of land) का एक स्थान से दूसरे स्थान पर परिवर्तन करती है तथा एक साधन का मूल्य निरूपण (value) स्वय उसके कारण नही परन्तु उस सेवा के कारण है जो वह करता है। इस प्रकार भूमि इतनी अगतिशील नही है जितनी समझी जाती है। इसके अनेको वैकल्पिक प्रयोग हो सकते हैं। गेहूँ उत्पन्न करने वाली भूमि को चरागाह म परिवर्तित किया जा सकता है और इसका उल्टा भी सच है। यदि कुछ और नही किया जा सके तो इसकी उपज को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जा सकता है। गतिशीलता की यह मात्रा सम्प्रदाय के लिए उन वस्तुओ के क्रम को, जिन्हे वह सबसे अधिक पसन्द करता है, उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त है।

३ श्रम की गतिशीलता (Mobility of Labour)—मनुष्य सबसे कम गतिशील कहा जाता है। हम विचार करेंगे कि श्रमिकों में हर प्रकार की गतिशीलता किस सीमा तक पाई जाती है। यहाँ पर यह दोहराया जा सकता है कि गतिशीलता तीन प्रकार की होती है, अर्थात् औद्योगिक, स्थानीय तथा कार्यगत गतिशीलता।

औद्योगिक गतिशीलता (Mobility between Industries)—विभिन्न उद्योगो के बीच गतिशीलता म कोई कठिनाई नही होती। एक उद्योग में लगा हुआ मुनीम, टाइप बाबू अथवा एक चौकीदार सरलता से ऐसा ही कार्य किसी अन्य उद्योग म प्राप्त कर सकता है।

स्थानीय गतिशीलता (Mobility between Places)—जहाँ तक श्रम की एक स्थान से दूसरे स्थान पर गतिशीलता का सम्बन्ध है जिसे भौगोलिक गतिशीलता कहते हैं उसम अनेको बाधाएँ पाई जाती हैं। परिवतन का बहुत भय होता है। कोई मनुष्य परिचित वातावरण से निकलकर दूसरे स्थान पर बसना नही पसन्द करता। कुछ ही लोग एक नए स्थान पर नवीन रूप से जीवन प्रारम्भ करने का साहस रखते हैं।

भारत म अत्यधिक जनसख्या वाले नगर, घने औद्योगिक स्थान, रहने की सुविधाओ का अभाव, गन्दा वातावरण अधिक जीवन निर्वाह-व्यय, सदा रहने वाला व्यापक रोगो का चक्र श्रमिको को भयभीत करने के लिए पर्याप्त है। इसी कारण भारतीय श्रम पर रायल कमीशन (Royal Commission) ने लिखा था कि औद्योगिक व्यवसाय में श्रम आकर्षित नही होता वरन् ढकेला जाता है। ऐसे हालात श्रम की गतिशीलता के मार्ग म बाधक होते हैं। सचार तथा परिवहन के साधनो की उन्नति ने भौगोलिक गतिशीलता को बहुत सुविधाजनक बना दिया है।

कार्यगत गतिशीलता (Mobility between Occupations)—कार्यगत गतिशीलता सबसे अधिक कठिन है। यह दो प्रकार की होती है।

(क) क्षैतिज गतिशीलता (Horizontal Mobility) एक ही प्रकार के दो व्यवसायो म गतिशीलता है। उदाहरणार्थ, इतिहास का प्रोफेसर अर्थशास्त्र का प्रोफेसर

हो जाता है या एक लोहार एक बढई हो जाता है। इस प्रकार की गतिशीलता इतनी कठिन नही होती।

(ख) उदग्रश्रम गतिशीलता (Vertical Mobility) से अभिप्राय ऊँचे प्रकार के व्यवसाय में गतिशीलता से है। उदाहरणार्थ, एक क्लर्क एक अध्यापक हो जाता है अथवा एक मिस्त्री एक इन्जीनियर हो जाता है। यह गतिशीलता अत्यन्त कठिन है। स्वाभाविक योग्यता के अतिरिक्त भिन्न भिन्न व्यवसायो मे भिन्न भिन्न निपुणता तथा ज्ञान की आवश्यकता होती है तथा एक मनुष्य के लिए स्वय को दूसरे व्यवसाय के उपयुक्त बनाना, जहाँ अधिक ज्ञान की जरूरत है, सरल नहीं है।

किसी निर्धन व्यक्ति को यह बताना कि उसके लिए सब व्यवसाय खुले हुए हैं, उसका निष्ठुरतापूर्वक उपहास करना है। उद्योगो द्वारा लगाई गई बाधाओ के अतिरिक्त परीक्षाएँ, अधिकार देने की प्रथा तथा सेवा काल के लिए अधिक पारितोषिक लेना (उदाहरणार्थ अधिकृत तथा सस्थापित के लेखामाल के सम्बन्ध म) प्रभावशाली बाधाएँ हैं जिन्हे थोडे ही लोग दूर कर सकते है। कुछ कार्यों जैसे उच्च दीवानी के अफसर की पदवी में अथवा राजनीति की सेवाओ की पदवियो के लिए उच्च सामाजिक प्रतिष्ठा तथा माता-पिता के प्रभाव की आवश्यकता होती है।

आर्थिक समायोजन (adjustment) के लिए कुछन्न कुछ गतिशीलता तो बहुत जरूरी है। यदि आर्थिक प्रणाली को टूटने से रोकना है तथा मानवीय पीडा को कम करना है तो यह जरूरी है कि श्रम गतिशील हो। श्रम की गतिशीलता आर्थिक प्रणाली को लचीलापन (flexibility) देने में सहायक है। इस तरह गतिशीलता बहुत लाभदायक है।

यद्यपि श्रम की गतिशीलता म अनेकों महत्त्वपूर्ण बाधाएँ हैं, तो भी उद्योग की नई आवश्यकताओ के अनुरूप आर्थिक साधनो के व्यवस्थित करने के लिए यह यथेष्ट है, जब तक कि परिवर्तन बहुत शीघ्र तथा मौलिक न हो, जो बहुधा नही होना है।

४ पूंजी की गतिशीलता (Mobility of Capital)—पूँजी के अनेको रूप होते हैं। चालू पूँजी काफी गतिशील होती है। औजार तथा यन्त्र और साधारण मशीनें प्रत्यक उद्योग द्वारा प्रयोग में लाई जा सकती हैं और आसानी स तथा बिना अधिक व्यय के किसी स्थान पर हटाई जा सकती हैं। राष्ट्र की पूँजी का यह भाग भी गतिशील है।

परन्तु सम्प्रदाय की पूँजी के सबसे कीमती भाग म स्थिर पूँजीकृत वस्तुएँ शामिल हैं अर्थात् कारखानो की इमारतें, मशीनें रेलो के स्थायी सामान जैसे रेल की पटरियाँ, स्टेशन की इमारतें, नहरें, नलकूप (tube wells) आदि। इनम गतिशीलता नही होती। ऐसी सब पूँजी स्थायी रूप से स्थिर होती है और आसानी से अन्य स्थानो पर नही ले जाई जा सकती। दूसरे महायुद्ध में भी पूँजी की गतिशीलता का उदाहरण मिलता है। जब नाजी जत्थे मास्को (Moscow) से मुश्किल से बारह मील रह गए थे, रूसियो को अपने यन्त्र तथा कलें उखाडना तथा उन्हे यूराल पर्वत के पीछे ले जाना पडा था। किन्तु यहाँ व्यय का कोई महत्त्व नही था। सामान्य दशाओ म ऐसा कभी नही किया जाएगा।

और फिर काफी पूंजी आमतौर से निमग्न (sunk) अथवा विशिष्ट भी होती है। आप एक सूती कपड़े के कारखाने को एक शक्कर के कारखाने में नहीं बदल सकते। न जूट का कारखाना शक्कर के कारखाने में बदला जा सकता है। इसलिए न केवल स्थायी पूंजी को अवश्य ही वहीं रहना चाहिए जहाँ वह है, वरन् उसका प्रयोग भी वहीं कायम रहना चाहिए, जिस अभिप्राय से वह लगाई गई थी। जब हम ऐसी पूंजी पर विचार करते हैं तो उसकी अगतिशीलता भौगोलिक कारणों से होती है।

परन्तु गतिशीलता से हमारा अभिप्राय केवल भौगोलिक गतिशीलता नहीं है। इसका अर्थ वैकल्पिक प्रयोगों में आने की सम्भावना भी है। इस विचार से पूंजी भी काफी मात्रा में गतिशील होती है। परिवहन (transport) के साधनों के द्वारा कुछ भी ले जाया जा सकता है। मशीन में थोड़ा-बहुत परिवर्तन करके पूर्णतया भिन्न प्रकार की वस्तुएँ उत्पादित की जा सकती हैं।

५ क्या आधुनिक आर्थिक प्रणाली परिवर्तनशील है ? (Is Modern Economic System Adaptable ?)—यह विवेचन करने के पश्चात् कि उत्पादन के अनेक साधन कहाँ तक गतिशील हैं, अब हम यह देख सकते हैं कि आधुनिक आर्थिक प्रणाली सम्पूर्ण रूप से स्थायी है अथवा गतिशील। क्या उसमें परिवर्तन हो सकते हैं अथवा क्या हम सदा एक विशिष्ट आर्थिक अवस्था के अनुसार काम करना पड़ेगा ?

हम देख चुके हैं कि व्यवहार में उत्पादन के साधनों की गतिशीलता में बाधा होती है। भूमि की भौतिक गतिशीलता असम्भव है। भूमि की सफाई, सुखाई (draining) तथा कृषियोग्य बनाने में कभी-कभी बहुत अधिक पूंजी लगाने की आवश्यकता होती है। हमें ऋतु, जलवायु तथा वर्षा पर निर्भर रहना पड़ता है। यह भूमि की गतिशीलता में कुछ बाधाएँ हैं।

श्रम भी स्वतन्त्रतापूर्वक गतिशील नहीं है। कुछ ही लोग अपने थोड़े से लाभ के लिए अपने घर तथा देश को छोड़ना पसन्द करते हैं। लोग भाषा की कठिनाइयों तथा रीति रिवाजों की भिन्नताओं के कारण अपने देश के वातावरण में रहना पसन्द करते हैं। भिन्न-भिन्न व्यवसायों के लिए आवश्यक दक्षता में भिन्नता, कुछ व्यवसायों के लिए आवश्यक शिक्षा पर अत्यधिक व्यय, दूसरा में सेवा-काल का अधिक समय, सामाजिक असामर्थ्य तथा राज्य के नियमों के कारण किसी व्यवसाय में स्वतन्त्र प्रवेश सम्भव नहीं होता।

पूंजी भी स्थायी होती है। उसको उखाड़ने तथा हटाने में अधिक व्यय तथा समय नष्ट होता है। यह इतनी विशिष्ट हो जाती है कि किसी अन्य प्रयोग में लाए जाने योग्य नहीं रहती।

ये वास्तविक कठिनाइयाँ हैं। परन्तु इन सबके होते हुए भी उत्पादन-अर्थ-व्यवस्था का आकार काफी लचीला है। भूमि पर अनेक प्रकार की फसलें उगाई जा सकती हैं और इसके अनेक वैकल्पिक प्रयोग हो सकते हैं। श्रम की औद्योगिक गतिशीलता (mobility between industries) आसान है और स्थानीय गतिशीलता (mobility between places) की सुविधा सचार व परिवहन के सस्ते व कुशल

साधनो के द्वारा हो रही है। कार्यगत गतिशीलता मे शिक्षा-सम्बन्धी सुविधाओ के विस्तृत रूप से बढने तथा यन्त्र-सम्बन्धी शिक्षा से सहायता मिल रही है। नई पीढी का आगमन पुरानी पीढी की अगतिशीलता को पूरा करता है। पूंजी की भौतिक गतिशीलता सम्भव नही भी हो सकती है, तो भी एक निश्चित यन्त्र से अनेक प्रकार की वैकल्पिक वस्तुएँ तैयार की जा सकती हैं जिससे अन्तिम वस्तुओ अथवा उपभोक्ताओ की वस्तुओ की बनावट मे परिवर्तन बिना कठिनाई से किया जा सकता है। अतएव जब एक उद्योगपति उत्पादन मे परिवर्तन करने का निश्चय कर लेता है तो उत्पादन के साधन कोई विशेष कठिनाई प्रस्तुत नही करते।

सचार तथा परिवहन के साधनो के विकास ने स्थान तथा समय (time and space) का लोप कर दिया है। वैज्ञानिक उन्नति तथा मशीनी ज्ञान मे वृद्धि ने उद्योगपति को अज्ञात सम्भावनाएँ उपलब्ध करा दी है। अनेक नये उद्योगो की उन्नति हो गई है तथा अनेक पुराने उद्योग नष्ट हो गए हैं। परिवर्तन शान्तिपूर्वक तथा अगोचर रूप से और आर्थिक प्रणाली को बिना कोई धक्का पहुँचाए हुए हैं। अतएव हम यह कह सकते है कि आधुनिक आर्थिक प्रणाली पूर्णतया परिवर्तनशील अथवा अनुकूल बनने योग्य । द्वितीय महायुद्ध ने यह दिखा दिया है कि किस सीमा तक तथा कितनी शीघ्रता से राष्ट्राय स्रोत (resources) परिवर्तित हो सकते हैं, तथा उन प्रयोगो मे लाए जा सकते है, जिनको समाज सबसे अधिक आवश्यक समझता है।

निर्देश पुस्तक

Benham, F. Economics, Chapter XIV

अध्याय १४

व्यवसाय-संगठन के रूप

(Forms of Business Organisation)

१ व्यक्तिगत उद्यमी (The Individual Entrepreneur)—उद्यमी के कार्य का संगठन अनेकों प्रकार से किया जा सकता है। सबसे प्राचीन तथा सबसे अधिक संख्या में 'एक व्यक्ति' का व्यक्तिगत व्यवसाय है।

एक व्यक्ति' वाले व्यापार का संचालक अपनी पूँजी स्वयं लगाता है तथा कुछ उधार भी ले सकता है। वह एक किराये की दूकान लेगा और यदि आवश्यकता हुई तो एक सहायक की सेवा प्राप्त करेगा। वह स्वयं क्रय तथा विक्रय करता है। वह अपना स्वयं प्रबन्धक है। वह कार्य प्रारम्भ करता है, उसकी व्यवस्था करता है, कार्य का संचालन करता है तथा पूरी जोखिम उठाता है। इस प्रकार मालिक (Sole Proprietor) स्वयं ही पूँजी, उद्योग तथा बहुत सी दशाओं में श्रम के भी कार्य का संयोग करता है।

इस प्रकार का व्यवसाय साधारणतः छोटे पैमाने पर किया जाता है। खेती तथा सभी प्रकार के फुटकर व्यापार में व्यक्तिगत उद्योग व्यवस्था अधिकतर देशों में पाई जाती है।

इस प्रकार के व्यवसाय संगठन के कई लाभ हैं —

(१) आर्थिक हित तथा व्यवसाय के संचालन का पूर्ण दायित्व का संयोग दक्षता के लिए सहायक होता है। अकेला उद्योगपति बहुत परिश्रम से अधिक समय तक काम करता है।

(२) सारे व्यवहार तथा कार्य ठीक व्यवस्था द्वारा किफायत से किए जाते हैं और हर प्रकार का व्यय कम हो जाता है। किसी तरह के बढ़िया और खर्चीले खाते रखने की कोई आवश्यकता नहीं रहती।

(३) सभी ग्राहकों की ओर व्यक्तिगत ध्यान देना तथा कम-से-कम लागत पर पूरी सन्तुष्टि देना सम्भव होता है। रुचि तथा फैशन में प्रत्येक परिवर्तन का ध्यान रखा जाता है और यथायोग्य पूर्ति के लिए प्रयत्न किया जाता है।

(४) व्यक्तिगत उद्यमी सीमित तथा परिवर्तनशील माँग की सन्तुष्टि करने की स्थिति में होता है। व्यवसाय की स्थिति में तीव्र परिवर्तनों के लिए शीघ्र निर्णय सम्भव हो जाता है।

(५) इस प्रकार का व्यवसाय सरलता से प्रारम्भ किया जा सकता है और उतनी ही सरलता से बन्द भी किया जा सकता है। अकेला स्वामी ही केवल एकमात्र उससे सम्बद्ध है।

अपने सीमित क्षेत्र में व्यवसाय-संगठन का यह रूप बहुत उच्च कोटि का कार्यपटु और किफायती है।

परन्तु ऐसे उद्यमी को कुछ कठिनाइयों का सामना भी करना पड़ता है—

(१) एक व्यक्ति के पास साधारणतः बहुत कम पूँजी होती है, जिससे कि व्यवसाय का विस्तार, चाहे वह कितनी ही लाभदायक क्यों न हो, नहीं हो पाता।

(२) एक व्यक्ति अपने व्यवसाय के विभिन्न अंगों की अच्छी तरह देख-भाल नहीं कर सकता। यह उसको बहुत ही किफायतों से तथा लाभदायक विनिमय (Investment) की सुविधाओं से वंचित कर देती है।

(३) व्यवसाय के ऐसे आदिम ढंग से संगठित होने पर न तो पहले नम्बर का व्यवसाय स्थापित किया जा सकता है और न कोई देश औद्योगिक नेतृत्व ही पा सकता है।

(४) प्रायः एक व्यक्ति का व्यवसाय छोटे पैमाने पर चलता है। ऐसे व्यवसाय को बड़े पैमाने पर चलाना सम्भव नहीं होता, क्योंकि बड़े व्यवसाय में प्रशिक्षित और विशेषीकृत श्रम; विशेषीकृत मशीनरी आदि की आवश्यकता रहती है। यही नहीं, बड़े व्यवसाय में कम स्थान, क्रय-विक्रय में किफायत और अन्वेषण और खोज पर कम व्यय होता है। ये सुविधाएँ एक व्यक्ति-व्यवसाय में कहाँ सम्भव हैं। सत्य यह है कि व्यक्तिगत उद्यमी को कई प्रकार की आन्तरिक और बाह्य सुविधाओं और किफायतों से वंचित रह जाना पड़ता है।

२. भागिता (Partnership)—'एक व्यक्ति'—व्यवसाय की सीमाओं से दूसरे प्रकार का व्यवसाय संगठन अर्थात् भागिता उत्पन्न होती है। दो, तीन या अधिक मनुष्य संगठन करते हैं, पूँजी एकत्रित करते हैं और निश्चित अनुपात में लाभ हानि में भाग लेने के लिए राजी होते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक मनुष्य इस व्यवसाय में बराबर पूँजी लगाए। एक पार्टनर (साझेदार) केवल अपनी योग्यता का ही उपयोग कर सकता है। इसी प्रकार यह आवश्यक नहीं कि लाभ और हानि एक ही अनुपात में बाँटे जावें। भागिता की शर्तें अधिक लोचदार होती हैं। साझेदारों का दायित्व तथा अधिकार (responsibilities and Privileges) भागिता के विलेख (partnership deed) में स्पष्ट होते हैं, जिनको आपसी सम्मति से बदला जा सकता है। जब तक व्यवसाय संस्था के कार्य वैध (legal) हैं, तब तक राज्य की ओर से कोई नियन्त्रण नहीं हो सकता।

भागिता समस्त औसत दर्जे वाले व्यवसायों के लिए एक बहुत उचित व्यवसाय-व्यवस्था है जहाँ कि स्वामी के व्यक्तिगत प्रयत्नों की आवश्यकता होती है। उदाहरणार्थ, आटे की मिलें, हौजरी के कारखाने, इमारती सामान के कारखाने, बरफ के कारखाने, खेल-कूद के सामान बनाने वाले कारखाने, बैंकिंग संस्थायें आदि। यद्यपि भागिता व्यवसाय इतने अधिक नहीं हैं जितने कि एक व्यक्ति वाले व्यवसाय हैं, तो भी ये बहुत ही प्रचलित तथा महत्त्वपूर्ण हैं।

भागिता के लाभ (Advantages of Partnership)—संगठन के इस रूप के बहुत से लाभ हैं—

(१) अकेले उद्यमी की अपेक्षा उनके पास अधिक साधन होते हैं। वे अधिक पूँजी, अधिक व्यवसाय सम्बन्धी योग्यता तथा अधिक जन-शक्ति (man power) का उपयोग करते हैं। इस प्रकार भागिता के व्यवसाय बडे पैमाने पर चलाये जा सकते हैं और उनम अधिक लाभ भी होता है।

(२) सब के परस्पर लाभ के लिए व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित करना सम्भव हो जाता है। प्रत्येक साझेदार व्यवसाय की जजीर की एक कडी है। इस प्रकार भागिता व्यवसाय म अधिक व्यावसायिक प्रतिष्ठा अर्जित की जा सकती है।

(३) व्यवसाय अधिक बडे पैमाने पर चलाया जा सकता है, जिससे अनेक प्रकार की बचत हो सकती है। उदाहरणार्थ स्थान की, औजारो की, श्रम विशेष तथा मशीनो की क्रय-विक्रय म लाभ की, खोज, अनुभव तथा विज्ञापन पर अधिक व्यय की किफायत।

(४) स्वामित्व तथा प्रबन्ध का मिलान कुशलता तथा किफायती कार्यों को प्रोत्साहित करता है। साझेदारो को हानि उठानी पडती है और यदि लाभ हो तो मुनाफे मे रहते हैं। इसलिए प्रत्यक साझेदार का व्यवसाय में पूरा ध्यान रहता है।

(५) भागिता-व्यवसाय-यवस्था म आसानी से परिवर्तन लाए जा सकते हैं और बहुत ही उचित और शीघ्र निणय किए जा सकते हैं। उनके कार्य म देरी नही होती। सभी साझेदारो म परस्पर सम्पर्क रहता है और वे सब एक मत होकर व्यापार करते हैं।

(६) असीमित दायित्व का होना साझेदारो के सट्ट की प्रवृत्तियो तथा जोखिम और अदूरदर्शी उद्योग करने की प्रवृत्तियो को रोकता है। व्यवसाय के किसी भी साझेदार को व्यवसाय के ऋण को अदा करने के लिए वाध्य किया जा सकता है। इसलिए प्रत्येक साझेदार सोच समझकर काम करता है और यथासम्भव कम से कम जोखिम उठाता है।

भागिता पौरुषेय गतिशील, लोचदार तथा कुशल मानी जाती है यदि सभी साझेदार एकमत से होकर कार्य करें।

साझेदारी से हानियाँ (Disadvantages of Partnership)—यदि साझेदार पूर्णतया हार्दिक सहयोग से काय करते हैं तो व्यवसाय अवश्य ही ऊँचा उठेगा। परन्तु इसम 'यदि' बहुत महत्त्वपूर्ण है।

(१) वास्तविक व्यवहार मे साझेदार बहुत ही स्वार्थी होते हैं और वे कम से कम काय करके अधिकतम फल पाने का यत्न करते हैं। कोई आपत्ति पडने पर वे एक दूसरे को दोष देते हैं। आपसी अनुकूलता के बजाय उनम कलह और द्वेष रहता है। इसम कोई आश्चय की बात नही है कि भागिता अल्पकालीन होती है। भागिता व्यवसाय में प्राय हानि ही होती है।

(२) कानून के अनुसार किसी साझेदार की मृत्यु होने पर या उसके दिवालिया घोषित होन पर या उसके पागल हो जाने पर भागिता का अन्त हो जाना चाहिए। इसलिए कोई नही कह सकता कि साझेदारी का कब अन्त हो जाए।

(३) परन्तु सबसे बडी कठिनाई असीमित दायित्व (unlimited liability)

सम्बन्धी है। प्रत्येक साझेदार किसी समय प्रत्येक अन्य साझेदार को फँसा सकता है। व्यवसाय के फेल हो जाने की स्थिति मे सारा ऋण किसी भी साझेदार से वसूल किया जा सकता है। असीमित दायित्व व्यवसाय सस्था की नीति को दब्बू और असाहसी बना देता है। कभी-कभी उचित जोखिम भी नही उठाए जाते। इस प्रकार कभी-कभी लाभ के स्वर्णिम अवसर खो दिए जाते है।

(४) इसके अतिरिक्त साझेदारी के स्रोत इतने सीमित होते है कि साझेदार कोई बडा व्यापार नही कर सकते। स्पष्टत, रेलवे अथवा जहाज, यातायात, बीमा या लोहा इस्पात का बडा व्यवसाय भागिता के आधार पर नही किया जा सकता।

सगठन के इस रूप से आधुनिक व्यापार तथा उद्योग की आवश्यकताओ की पूर्ति नही हो सकती।

सीमित भागिता (Limited Partnership)—साधारणत साझेदारो का दायित्व असीमित होता है परन्तु कानून एक साझेदार को अपना दायित्व स्वीकृति से कुछ मात्रा तक सीमित रखने के लिए स्वीकृति दे सकता है। लेकिन ऐसा साझेदार प्रबन्ध मे कोई भाग नही ले सकता। सीमित भागिता मे भी कुछ ऐसे साझेदार अवश्य होते हैं जिनका दायित्व असीमित हो। व्यवसाय-सस्था के सारे साझेदार अपने दायित्व को सीमित नही कर सकते।

३ सयुक्त स्कन्ध समवाय (Joint Stock Company)—नि सन्देह ज्वाइन्ट स्टॉक या सयुक्त स्कन्ध समवाय व्यवसाय सगठन का अधिक महत्त्वपूर्ण और प्रचलित रूप है और यह साझेदारी की कठिनाइयो तथा अयोग्यताओ को दूर करने का प्रयत्न करता है।

सयुक्त स्कन्ध समवाय दो प्रकार के होते है—

(१) निजी सीमित समवाय (Private Limited Companies),

(२) सार्वजनिक सीमित समवाय (Public Limited Companies)।

(१) **निजी सीमित समवाय**—एक निजी सीमित समवाय म, सेवको के अलावा कम-से-कम दो तथा अधिक-से-अधिक ५० सदस्य होते हैं। जब एक भागिता व्यवसाय इतना बढ जाता है कि साझेदारो की हानि उठाने की दायित्व शक्ति अधिक बढ जाती है तो वे अपने दायित्व को एक निजी सीमित कम्पनी की रजिस्ट्री कराकर परिमित कर सकते हैं। इस ढग से वे व्यवसाय का नियन्त्रण अपने हाथो म रख सकते है।

सगठन के इस रूप म भागिता के प्रत्येक लाभ जैसे गोपनीयता, शीघ्रता, निजी-स्वार्थ जिससे किफायत तथा कार्यपटुता बढती है, अपरिमित दायित्व (unlimited liability) से पैदा होने वाली हानियो से मुक्त पाए जाते है। एक निजी सीमित समवाय को व्यवसाय आरम्भ करने से पहले कम से-कम पूँजी का इकट्ठा करना आवश्यक नही होता और न उसको इस बात की आवश्यकता होती है कि वह सयुक्त स्कन्ध समवाय के रजिस्ट्रार के यहाँ वार्षिक आय-व्यय का विवरण अथवा सतुलन पत्र (balance sheet) जमा करे। यह जनता से अपनी शेयर पूँजी (share capital)

म जमा करने के लिए नही कह सकती। शेयरो या अशो का हस्तान्तरण भी नही हो सकता।

अधिकतर माध्यमिक श्रेणी के उद्योग इस तरह चलाए जाते हैं। यदि व्यवसाय अच्छा चलता है तो वे अन्त म सार्वजनिक सीमित समवायो (public limited companies) म निश्चित ही परिवर्तित हो जाते हैं। इस प्रकार के व्यवसाय सगठन में परिवार के लोगो का प्रभुत्व बना रहता है। वे बिना आवश्यक जोखिम उठाए हुए व्यवसाय पर अपने परिवार का नियन्त्रण आसानी से बनाए रख सकते हैं।

(२) सार्वजनिक सीमित समवाय—सार्वजनिक सीमित समवाय के निर्माण से निजी सीमित समवाय के दोषो का निवारण हो जाता है। कम से-कम ७ सदस्यो से सार्वजनिक सीमित कम्पनी बनाई जा सकती है। इसके लिए कोई अधिकतम सीमा नही है। प्रवत्तकों (promoters) को सयुक्त स्कन्ध समवायो के रजिस्ट्रार के पास निवेदन करना पडता है। (क) मेमोरेंडम ऑफ ऐसोसिएशन (Memorandum of Association) जिसम कम्पनी का नाम हेड ऑफिस, उसके उद्देश्य, हिस्से का वर्णन तथा हिस्से की पूंजी की मात्रा तथा यह प्रकाशन कि हिस्सेदारो का दायित्व परिमित है। (ख) सस्था के अन्तर्नियम (Articles of Association) जिसम कम्पनी के उपनियम होत हैं।

यदि रजिस्ट्रार सन्तुष्ट है कि समस्त वैध आवश्यकताएं पूरी कर दी गई हैं तो वह समावेशन प्रमाण-पत्र (certificate of incorporation) दे देगा। लेकिन वह व्यवसाय आरम्भ नही कर सकती जब तक कि निर्गमित पूंजी (issued capital) की कम से कम प्रतिशत जमा न हो चुकी हो। यह पूंजी लगाने वालो के हितो को सुरक्षित रखने के लिए होती है ताकि पूंजी लगाने वालो को फांसकर उनके धन को झूठी कम्पनियो के प्रवर्तको (promoters) द्वारा ठग न लिया जाए।

अश पूंजी (share capital) को एक साथ इकट्ठा नही किया जाता। प्रार्थना-पत्र के साथ थोडा-सा भुगतान किया जाता है, फिर थोडा हिस्सो के बटन (allotment) के समय पर देना पडता है और फिर शेष उस समय मांगा जाता है जबकि कम्पनी की पूंजी की आवश्यकता होती है।

हिस्सा के बटन के ६ महीने म प्रवत्तको को सब हिस्सेदारो की एक साधारण मीटिंग बुलानी पडती है जिसको सविहित मीटिंग (statutory meeting) कहते हैं और जो सचालको (directors) का चुनाव करती है। वे प्रवर्तक जिन्होने कम्पनी को चलाया है और जो यह जानत है कि क्या करना है और कैसे करना है, वही साधारणत सचालक चुन लिय जाते हैं। एक बार चुन लिय जाने पर वे कभी छोडने की इच्छा प्रकट नही करते। उनके पास प्रतिपत्री (proxy) पर्याप्त सख्या मे होने के कारण वे प्रत्यक वष स्वय चन लिये जान का प्रबन्ध कर लेते हैं।

शयर तथा शेयर पूंजी (Shares and Share Capital)—अधिकृत (authorised), रजिस्टर्ड (registered) अथवा अभिहित (nominal) पूंजी, पूंजी की वह मात्रा है जिससे कम्पनी की रजिस्ट्री होती है। यह अधिकतम मात्रा है जिसको कम्पनी को हिस्से बेचकर एकत्रित करने का अधिकार होता है। निर्गमित

पूंजी (issued capital), पूंजी की वह मात्रा है जिसको जनता को अभिदान (subscribe) करने के लिए कहा जाता है। **अभिदत्त पूंजी** (subscribed capital) पूंजी की वह मात्रा है जो लोगो को बेची जाती है। **प्रदत्त पूंजी** (paid-up capital), वह मात्रा है जितका कि अंशधारी या शेयर होल्डर वास्तव में भुगतान करते हैं।

शेयर तीन प्रकार के होते हैं अर्थात् अधिमान (preference), साधारण (ordinary), तथा आस्थगित (deferred)।

अधिमान हिस्से (Preference shares) साधारण अंशधारियो को कुछ देने से पहले अधिमान अंशधारियों को उनकी पूंजी पर कुछ प्रतिशत भुगतान करने का जिम्मा लिया जाता है। अधिमान शेयर सचयी (cumulative) हो सकते हैं जबकि उन पर लाभांश (dividend) सचित होता जाता है। अधिमान्य शेयर अनचयी (non-cumulative) भी हो सकते हैं। इस अवस्था में अंशधारी को तभी लाभांश मिलता है जबकि लाभ पर्याप्त मात्रा म होता है। फिर भागी अधिमान शेयर (participating preference shares) होते हैं। यदि लाभ एक निश्चित सीमा से बढ जाता है तो एक निश्चित प्रतिशत के अतिरिक्त वे लाभ मे और हिस्सा लेते हैं।

साधारण अंशधारी (Ordinary Share holders)—लाभांश के लिए इन अंशधारियो की गणना अधिमान अंशधारियो के बाद होती है।

आस्थगित अंश (Deferred Shares)—य चलाने वालो (founders) के अंश भी कहे जाते हैं। इन्हे दूसरे प्रकार के अंशधारियो के दावो के भुगतान होने के बाद हिस्सा मिलता है। साधारणत, यह हिस्सा प्रवर्तक अपने लिए रख लेते हैं और यह लाभ का सबसे बडा हिस्सा पाने की विधि है।

ज्वाइंट स्टॉक कम्पनियाँ या सयुक्त स्कन्ध समवाय ऋण पत्र (debentures) बेचकर भी कोष बढाती हैं। ऋण पत्रो का अर्थ है कम्पनी द्वारा लिया गया दीर्घावधि का ऋण। ऋण पत्रधारी कम्पनी के ऋणदाता होते है। उनको ब्याज देना पडता है, चाहे लाभ हो या न हो।

४ सयुक्त स्कन्ध समवाय या ज्वाइंट स्टॉक कम्पनी के लाभ व हानियाँ (Merits and Demerits of Joint Stock Companies)—व्यवसाय व्यवस्था के इस रूप मे बहुत से लाभ होते हैं—

(१) कम्पनी का व्यवसाय साधारणत एक बडे पैमाने का व्यवसाय होता है। *अतएव उसमें बडे पैमाने के उत्पादन के सभी बाह्य तथा आन्तरिक आर्थिक लाभ,* जैसे विशेषीकृत मशीनो और श्रम की सुविधा, स्थान की किफायत, क्रय विक्रय विभाग की किफायत, विज्ञापन अनुसन्धान और नय प्रयोगो आदि के लाभ होते हैं।

(२) इनके अतिरिक्त बहुत से लाभ ऐसे हैं जो इस सगठन से विशेषत सम्बद्ध हैं। अंश छोटे होते हैं और वे सभी अर्थात् मनकं रहने वालो से लेकर सटोरियो तक खरीद सकते है। इस तरह अधिक पूजी एकत्रित की जा सकती है।

(३) दायित्व के परिमित तथा शेयरों या अंशो के हस्तान्तरण-योग्य होने के कारण बहुत से लोग शेयर पूंजी खरीदने के लिए (अर्थात् अपना हिस्सा लेने के लिए) प्रोत्साहित होते हैं। इस प्रकार पूंजी की छोटी तथा बिखरी हुई मात्रा गति-

शील हो जाती है और उत्पादक कार्यों मे लगा दी जाती है। अत समाज मे बचत की आदत पडती है। अच्छे गुणो वाले किसी भी उद्यमी को पूँजी की कमी से कठिनाई नही उठानी पडती।

(४) दायित्व के परिमित होने से जोखिम उठाना आसान हो जाता है और व्यवसाय के बहुत से नये क्षेत्र खुल जाते हैं। यदि वास्तव मे कोई हानि होती है तो वह विस्तृत रूप से बँट जाती है। सीमित दायित्व के सिद्धान्त से नये लोग भी पूँजी लगाने को तैयार हो जाते हैं। उन्हे सारी पूँजी के नाश का भय नही रहता। इससे बडी पूँजी भी एकत्रित हो जाती है।

(५) रुपया लगाने वाले के दृष्टिकोण से भी इसके अधिक लाभ हैं। उसका दायित्व केवल परिमित ही नहीं होता वरन् वह अपने रुपये को अधिक व्यवसायो मे विस्तृत कर सकता है। उसको सारी रकम एक व्यवसाय मे ही नही फँसानी पडती। इसके अतिरिक्त वह कम्पनी से सदैव के लिए बँधा नही है। जब कभी भी वह उसे छोडना चाहता है तो वह अपने शेयर बेच सकता है।

(६) भागिता के विपरीत कम्पनी एक वैध सस्था है। यह शेयर होल्डरो अथवा सचालकों से पृथक् एक वैध व्यक्ति (legal person) है। यह मुकदमा चला सकती है और इस पर मुकदमा चलाया जा सकता है। इस प्रकार यह सदैव जीवित रहती है। इसके अतिरिक्त सदैव जीवित रहने के कारण ही से पूँजी लगाने वाले इसमें पूँजी लगाने को प्रेरित किए जा सकते हैं, यद्यपि कई सालो तक इसमें किसी भी प्रकार की लाभ की आशा नही की जा सकती।

(७) पूँजीपति तथा उद्यमी के कार्य पृथक् पृथक् हो जाते हैं। इस विशेषोपयोजन मे उत्पादन की कार्यक्षमता बढ गई है क्योंकि पहले पूँजीपतियो के पास बहुधा व्यवसाय चलाने की योग्यता न थी और उद्यमी के पास बहुधा पूँजी न थी। सयुक्त स्कन्ध समवाय सिद्धान्त ही वस्तुत बडे बडे राष्ट्रो की आर्थिक उन्नति के लिए उत्तरदायी है।

(८) इसकी व्यवस्था लोकतन्त्रीय दक्ष तथा किफायती होती है। सचालकों का चुनाव अशधारी करते हैं। वे विस्तृत दृष्टि के शासन सम्बन्धी योग्यता वाले तथा व्यवसाय तीक्ष्णता वाले व्यक्ति होते हैं। उनकी दक्ष सलाह तथा उनका अनुभवी पथ-प्रदर्शन कम्पनी को साधारण कीमत पर मिल जाता है।

हानियाँ (Demerits)—इसका दूसरा पक्ष भी है—

(१) व्यवसाय केवल सिद्धान्त में लोकतन्त्रीय है, वास्तव मे यह स्वल्पतन्त्र (oligarchy) है। सचालक वास्तव म अपने आप नियुक्त होते हैं और जब तक चाहते हैं बने रहते हैं। सत्य यह है कि अशधारियों की आवाज मे कोई बल नहीं है।

(२) कुछ सचालक सिद्धान्तहीन होते हैं और सीधे-सादे रुपया लगाने वालो को ठगते हैं। वे आन्तरिक जानकारी का अपनी भलाई के लिए प्रयोग करते हैं। उदाहरण के लिए वे घोषणा कर सकते हैं कि कम्पनी फेल होने वाली है। तब अशो की कीमत गिर जाएगी। तब वे स्वय गिरी हुई कीमत पर अश खरीद सकते हैं।

(३) झूठा प्रचार जनता को धोखा देता है। विवरण पत्रिका में जो अच्छी

दशा बताई जाती है वह कभी-कभी बिलकुल झूठ होती है। सर्वसाधारण को सच्ची सूचना प्राय नही मिलती।

(४) सचालक बहुधा वकील तथा डाक्टर होते हैं जिनका व्यवसाय के कार्य में न तो कोई अनुभव और न कोई ज्ञान होता है। उनकी योग्यता केवल शेयर की योग्यता होती है। ऐसे सचालक सफल सचालक नही हो सकते।

(५) ऐसे व्यवसाय म व्यक्तिगत भलाई बुराई के भाव का अभाव रहता है। व्यवसाय के मालिक अर्थात् शेयर होल्डर या अशधारी केवल लाभ ही से सम्बन्ध रखते हैं। नौकरो के कल्याण का ध्यान वेतन पाने वाले मैनेजर नही करते। वे इस बहाने से अपनी असमर्थता दिखाते हैं। यह मानवीय भावना की हानि एक बडी हानि है। व्यवसाय पूर्णत स्वार्थी हो जाता है।

(६) देनदारी परिमित होने और शेयर हस्तान्तरित होने के कारण शेयर होल्डर या अशधारी कम्पनी म रुचि नही रखते। उनमें से बहुत कम अशधारियो की मीटिंग में जाते हैं। उनकी उदासीनता से सारी शक्ति कुछ सचालकों के हाथ म आ जाती है। इस प्रकार कम्पनी का लोकतन्त्रात्मक स्वरूप नष्ट हो जाता है।

(७) कभी कभी सचालक अदूरदर्शी उद्योगो को चालू कर देते हैं क्योकि दूसरो के रुपयो से खेलना आसान है। इस प्रकार कभी-कभी कम्पनी को भारी हानि भी हो सकती है।

(८) व्यवस्था प्रबन्ध की शक्ति से बाहर और बहुत ही भारी हो जाती है। यह जल्दी निर्णय नही कर सकती। यह उन व्यवसायो के लिए ठीक है जो कि बने हुए नियमो पर चल सकते हैं। इस प्रकार की व्यवसाय सस्था ऐसे कामो के लिए उचित नही है जो कि नए हो अथवा जिनमे स्थिति के बदलने से पद्धति तथा उत्पादन में निरन्तर परिवर्तन की आवश्यकता होती है या जहाँ ग्राहक कठिनाई से बन पाते हैं और या किसी मामूली बहाने से बिगड जाते हैं।

इन सब हानियो के उपरान्त भी यह कहा जा सकता है कि सयुक्त स्कन्ध समवाय सिद्धान्त की अनुपस्थिति म देश का औद्योगिक विकास तथा प्राकृतिक साधनो का कुशल उपयोग सम्भव नही हो सकता। यह उत्पादन का एक कुशल तथा शक्तिशाली तन्त्र है। आजकल प्राय समस्त बड उद्योग और व्यवसाय सयुक्त स्कन्ध सिद्धान्त पर चल रहे ह।

५ सूत्रधारी कम्पनी (Holding Company)—सूत्रधारी कम्पनी एक विधि है जिसके द्वारा एक कम्पनी दूसरी कम्पनी पर नियन्त्रण रखती है। मान्य विधि यह है कि कम्पनी दूसरी कम्पनी के अधिकतम शेयरों को खरीद लेती है। जो कम्पनी शेयरो को खरीदती है और दूसरी पर नियन्त्रण रखती है, उसको सूत्रधारी कम्पनी कहते है और वह कम्पनी जिसके अश इस प्रकार खरीदे जाते हैं उसको सहायक कम्पनी (subsidiary company) कहते हैं। कभी-कभी एक कम्पनी दो या तीन उन्नतिशील और लाभ मे चलने वाली कम्पनियों के अधिकतम शेयरो को खरीदने के लिए स्थापित की जाती है। कुछ हालतो म सूत्रधारी कम्पनी स्वय एक उन्नतिशील

और लाभ म चलने वाली कम्पनी होती है तथा वह उन एक दो कम्पनियों को खरीद लेना चाहती है जो उससे प्रतियोगिता (competition) रखती हैं।

सूत्रधारी कम्पनी की विधि सयुक्तीकरण की किफायतें (economies of integration) लाने में बहुत ही लाभदायक सिद्ध हुई है। दूसरी कम्पनी के औद्योगिक दक्षता रखने वाले तथा योग्य व्यक्तियो का लाभ उठाया जाता है, माल तथा स्टोर के एक साथ खरीदने से विभिन्न लाभ उठाए जा सकते हैं। सामूहिक व्यवस्था के कारण प्रबन्ध सम्बन्धी लाभ होते हैं, पेटेन्ट एकत्रित किए जा सकते हैं। जब कुछ कम्पनियों की अपने को मिटाने की अनिच्छा के कारण प्रन्यास (Trust) बनाना असम्भव प्रतीत होता है, तो सूत्रधारी कम्पनी की विधि बहुत ही सुविधाजनक मालूम पड़ती है। ट्रस्ट (न्यास) के रूप मे यह लाभदायक सिद्ध होती है और व्यापारी सघ (Cartel) से ज्यादा अच्छी रहती है, चूंकि दूसरी व्यवस्था के अन्तर्गत उसके सदस्यो की निष्ठा (loyalties) मिलनी जरूरी नही होती।

सूत्रधारी कम्पनी के कुछ दोष भी हैं। नियन्त्रण करने वाला ग्रुप अशो की अधिक सख्या रखता है और अशधारियों के अल्प पक्ष का ध्यान रखे बिना मनमानी कर सकता है। यह विधि सक्रामक (contagious) है, इसके अग दूर-दूर फैल जाते हैं और यह अपने अनुयायियो तथा सहायकों की लम्बी जजीर बना लेते हैं। अशधारियों का रुपया काम में लाया जाता है। परन्तु कम्पनी के कार्यों में उनका कोई बस नही। यह उचित तथा लोकतन्त्रीय विधि नहीं है।

जनता के दृष्टिकोण से सूत्रधारी कम्पनी म एक और हानि पाई जाती है। यदि सहायक (subsidiary) प्राइवेट कम्पनी है तो वह प्राइवेट स्टॉक कम्पनियो या सयुक्त स्कन्ध समवाया के रजिस्ट्रार को स्थिति विवरण देने को बाध्य नही है। सूत्रधारी कम्पनी यदि चाहे तो सहायक कम्पनी को अपने व्यवसाय की हालत बताने के लिए बाध्य नही है। इस तरह सर्वसाधारण को वास्तविक स्थिति से अपरिचित रखा जाता है।

६ सहकारी सगठन, उत्पादक-सहकारिता (Co-operative Organisation Producers' Co operation)—पूँजीपति व्यवस्था (capitalistic enterprise) से पृथक् सहकारी व्यवस्था भी है। श्रमिक यह जानते है कि उद्योगपति लाभ का अधिकतम भाग ले जाते हैं। वे यह जानकर कि बिना उद्योगपति के वे स्वय उद्योग चला सकते हैं, श्रमिक व्यवसाय का कार्य स्वय करना निश्चित करते हैं। वे कुछ पूंजी आपस मे इकट्ठी करते हैं तथा शेष उधार लेते हैं, वे अपना अध्यक्ष तथा व्यवस्थापक स्वय चुन लेते हैं तथा कुछ कर्मचारियो की नियुक्ति करते हैं। सारे खर्च पूंजी पर ब्याज, वेतन तथा मजदूरी का भुगतान करने के पश्चात् वे लाभ का आपस म वितरण कर लेते हैं। इस प्रकार का सगठन उत्पादी (productive) सहकारिता अथवा उत्पादक सहकारिता (producer's co-operation) कहा जाता है।

उत्पादक सहकारिता के प्रयोग आम तौर पर असफल रहे हैं। इसका कारण ढूंढना कठिन नही है। उद्यमी के ओझल हो जाने से लाभ भी लुप्त हो जाते हैं। यह उनका उपक्रम, नेतृत्वगुण (initiative), सचालन की शक्ति तथा सगठन की योग्यता

है जिससे लाभ होते है। परन्तु श्रमिक मैनेजरो को उनकी मेहनत की अदायगी करने को तैयार नही होते। चुने हुए फोरमैन (foremen) अपने अधीन व्यक्तियो पर उचित रूप से शासन नही कर पाते। हर एक का व्यवसाय किसी का व्यवसाय नही होता, इसलिए इसमें कोई आश्चर्य नही कि उसमे लाभ होते ही नही।

उपभोक्ता-सहकारिता (Consumers' Co-operation)—एक दूसरे प्रकार की सहकारिता है जो अधिक सफल हुई है। यह उपभोक्ता सहकारिता कहलाती है। इस व्यवस्था मे एक स्थान के उपभोक्ता छोटे अश मे पूंजी एकत्रित करके एक निजी भण्डार खोल लेते है। दूसरे व्यापारी की भाँति वे थोक विक्रेताओ से वस्तुएँ खरीदते हैं। तथा इन वस्तुओ को साधारण प्रचलित दर पर अपने सदस्यो को बेचते हैं। लाभ सदस्यो में उनकी क्रय के अनुपात म अथवा हिस्सो के अनुपात मे जो कि अधिक प्रचलित है, बाँटा जाता है। साधारणत अश बराबर-बराबर खरीदे जाते हैं, अतएव लाभ भी सदस्यों में बराबर-बराबर बाँटा जाता है।

निर्वाचित प्रबन्ध समिति बिना वेतन लिए कार्य करती है। अतएव व्यवस्था लोकतन्त्रात्मक तथा नि शुल्क होती है। व्यवसाय अत्यन्त साधारण होता है तथा उसके सचालन के लिए अधिक व्यापार-निरीक्षण तथा योग्यता की आवश्यकता नही होती। भण्डार मे कुछ प्रामाणिक वस्तुएँ होती हैं और यहाँ बहुत किस्म का माल बेचने की कोशिश नही की जाती। यह उपभोक्ताओ की निजी दूकान होती है। अतएव वे अनुचित माँग नही रखते और सहज ही सन्तुष्ट हो जाते है। प्रचार के लिए कुछ भी व्यय नही करना पडता। बिक्री निश्चित होती है।

यह सहकारी भण्डार बहुत सफल हुए हैं और इनमे से कुछ के हजारो सदस्य है। अनेक दशाओ में वे केवल उपभोग की वस्तुएँ बेचने मे ही सन्तुष्टि नही पाते, वरन् उन्होने-अपने उत्पादन करने वाले सगठनो मे भी वृद्धि की है। वे साधारण पूँजीवादी व्यवस्था के अनुसार चलाये जाते हैं और उनमें योग्य समितियो के नियन्त्रण मे कार्य करने वाले सर्वश्रेष्ठ व्यवस्थापक (managers) नियुक्त किए जाते हैं।

सहकारी आन्दोलन कृषि तथा उससे सम्बद्ध व्यवसायो के लिए अत्यन्त हितकारक सिद्ध हुआ है। यह सफलतापूर्वक सर्वप्रथम जर्मनी और डैनमार्क में लागू हुआ और अब यह हर देश मे फैल गया है। भारत म सहकारी विभाग प्रत्येक राज्य (State) में काम कर रहे हैं। अधिकतर यह कृषि साख समितियाँ (agricultural credit societies) हैं परन्तु गैर-साख तथा गैर कृषि सम्बन्धी समितियाँ भी स्थापित हो रही हैं।

७ सरकारी उद्यम (State Enterprise)—हर देश मे कुछ सार्वजनिक व्यवसाय केन्द्रीय, राज्य अथवा स्थानीय निकायो द्वारा चलाए जाते हैं। डाक तथा तार की व्यवस्था साधारणत केन्द्रीय सरकार करती है और जल, गैस, बिजली, ट्राम अथवा बस जैसी लोक प्रयोगी सेवाएँ नगरपालिका निगमो (municipal corporations) द्वारा व्यवस्थापित होती है।

सरकारी उद्यम का सगठन उसी भाँति होता है जैसा कि प्राइवेट व्यवसाय में जिसमें साधारणतया मुख्य व्यवस्थापक, फोरमैन, कार्य व्यवस्थापक (works mana-

ger), लेखापाल, कोषाध्यक्ष हर विभाग के अध्यक्ष आदि होते हैं। सरकारी उद्यमों का कार्य साधारणतः उसी भाँति होता है जैसा कि संयुक्त स्कन्ध समवाय या ज्वाइंट स्टॉक कम्पनी में होता है।

परन्तु इसमें एक मुख्य अन्तर है। सारे श्रमिक सरकारी नौकर हैं जिनकी नौकरी स्थायी होती है और जिनको नौकरी से हटने पर पेन्शन मिलती है। पूँजी राज्य के खजाने से दी जाती है जो कि अन्त में करदाता द्वारा आती है। यदि कोई लाभ होता है, तो वह भी राज्य को जाता है।

सरकारी उद्यम के लाभ तथा हानियाँ (Merits and Demerits of State Enterprise)—सरकारी उद्यम के कुछ लाभ होते हैं। सरकार की साख (credit) किसी निजी व्यक्ति अथवा कम्पनी से कहीं ऊँची होती है। अतएव राज्य को पूँजी एकत्रित करने में विशेष सहूलियत होती है और वह भी अनुकूल दर पर।

इसके अतिरिक्त सरकार सब किस्म के बुद्धिमान लोगों को काम में लगा सकती है। सरकारी नौकरी सर्वश्रेष्ठ बुद्धि वाले लोगों को आकर्षित करती है। सरकारी नौकरी के लिए कुछ आकर्षण होता है। इस प्रकार मानवीय दृष्टिकोण से, राज्य उद्यम अधिक अनुकूल होता है।

सरकारी व्यवसाय साधारणतः एकाधिकार (monopoly) होता है। इसमें एकाधिकार के सभी लाभ होते हैं। बिक्री निश्चित होती है। विज्ञापन पर व्यय अनावश्यक होता है। सरकारी उद्यम कम दाम पर उत्तम सेवा प्रदान करते हैं।

परन्तु साधारणतया अर्थशास्त्रियों का विचार है कि सरकारी तन्त्र व्यवसाय चलाने में प्राइवेट व्यवस्था से अच्छे नहीं हैं। सरकारी प्रबन्ध की पदावधि निश्चित होती है। उसको वेतन में निश्चित वृद्धि प्रति वर्ष मिलती है तथा उसको उसकी वरिष्ठता (seniority) के अनुसार पद-वृद्धि मिलती है। अतएव वह प्राइवेट कम्पनी के व्यवस्थापक की भाँति संचालन अथवा परिश्रम नहीं कर सकता। प्राइवेट कम्पनी का प्रबन्धक किसी दिन भी निकाला जा सकता है, यदि संचालक यह विश्वास कर लें कि वह अच्छा काम नहीं कर रहा है।

सरकारी नौकर लागत कम करने में अथवा रीतियों में उन्नति कम करने में कम प्रयत्नशील होता है क्योंकि उसको इससे स्वयं कुछ लाभ नहीं होता।

सरकारी नौकर ऊँचे अफसरों का सामना कर सकता है, यदि उसको तरक्की की कोई अभिलाषा नहीं है। यदि वे अनिष्ट करने पर तुले हैं तो अधिक से अधिक उसका तबादला कर दिया जाएगा या उसके वेतन की वार्षिक वृद्धि (increment) रोक दी जाएगी। वह अपने आपको किसी एक मनुष्य का नौकर नहीं समझता वरन् राज्य का नौकर समझता है, और यही सारा अन्तर है।

सरकार द्वारा व्यवस्थापित व्यवसाय में उत्तरदायित्व का स्थान दीर्घसूत्रता या लालफीताशाही ले लेती है। वहाँ अफसर का डर रहता है। वहाँ काम में अधिक देरी होती है। एक कागज बहुत से अफसरों के पास से गुजरता है और उसमें कोई भी विशेष परिवर्तन नहीं करता।

सरकारी उद्यम में कुछ अन्य दोष भी हैं जैसे जल्दी जल्दी बदली (transfers),

भाई-भतीजावाद (nepotism), सिफारिश से नौकरी पाना, तथा उन्नति योग्यता पर निर्भर न होना आदि-आदि।

यदि सरकारी उद्यम मे हानि होती है तो कोई भी फिक्र नही करता। उसमे अशधारियो का कोई सहायक अग नही होता जिसका सचालक सामना करें। कर देने वाला गूंगा होता है। यदि उसम हानि होती है तो कोई यह नही सोचता कि वह उसकी हानि है। उसके प्रतिनिधि विधानसभाओ (legislatures) मे नि सन्देह अधिक शोर मचाएँगे, परन्तु सरकार के दल के सदस्यो की सख्या प्राय अधिक होती है इसलिए कारवा चलता रहता है और कुत्ते भौंकते रहते हैं।

अतएव यह सुझाया गया है कि केवल सुरक्षित व्यवसाय जो कि नित्य कर्म (routine) की भाँति है, जहाँ बाजार को प्राप्त करने तथा उनको सँभालने का प्रश्न नही है, और जिनका वास्तव मे एकाधिकार होता है, राज्य को दिए जा सकते है। विचार लाभ उठाने का नही है परन्तु स्वच्छता तथा सेवा की नियमित व्यवस्था प्राप्त करने का है जिससे पब्लिक को लाभ कमाने वाले लालची उद्यमियो की दया पर आश्रित न रहना पडे।

निर्देश पुस्तकें

Taussig, F W. Principles of Economics Vol I, (1946)
Benham F Economics
Hartley Withers Stocks and Shares

अध्याय १५

एकाधिकार

(Monopoly)

१ एकाधिकार का क्या अर्थ है ? (Meaning of Monopoly)—कभी-कभी ऐसा होता है कि किसी वस्तु की पूर्ति (supply) की शक्ति, कम या अधिक मात्रा म, किसी एक उत्पादक या उत्पादकों के एक समूह के पास आ जाती है । इस प्रकार वे उत्पादक उस वस्तु की कीमत पर प्रत्यक्ष प्रभाव रखते हैं। तब यह कहा जाएगा कि उन उत्पादकों ने उस वस्तु पर एकाधिकार कर लिया है या उनका उस वस्तु पर एकाधिकार हो गया है। कीमत पर प्रभाव डालने की योग्यता ही एकाधिकार का सार हैं। इसका अर्थ है कि उक्त वस्तु की पूर्ति के सम्बन्ध में प्रतियोगिता थोड़े अथवा पूर्णरूप से हट जाती है। एकाधिकारी किसी वस्तु का अकेला उत्पादन-कर्त्ता होता है। उस उद्योग विशेष की वही फर्म होती है। इसलिए वह फर्म उद्योग कहलाता है।

किन्तु ऐसा बहुत ही कम होता है कि प्रतियोगिता बिलकुल ही हटा दी गई हो। जिस प्रकार सम्पूर्ण प्रतियोगिता बहुत कम देखने में आती है, उसी प्रकार पूर्ण अथवा शुद्ध एकाधिकार भी बहुत कम होता है। वास्तविक जगत् में अकेला उत्पादन-कर्त्ता कोई नहीं होता, एकाधिकारी अपूर्ण प्रतियोगी नहीं है। एकाधिकार में भी प्रतियोगिता (monopolistic competition) होती है। अर्थशास्त्र की परिभाषा में 'एकाधिकार" शब्द से व्यवसाय के विभिन्न प्रकार के संगठन या गुटों (combinations) से तात्पर्य होता है, जैसे ट्रस्ट या कार्टेल (trust and cartels) आदि।

एकाधिकार कभी कभी प्राकृतिक (natural), कानूनी (legal), सामाजिक (social), और स्वैच्छिक (Voluntary) एकाधिकारों में विभाजित किए जाते हैं। प्राकृतिक एकाधिकार प्राकृतिक दुर्लभता (scarcity) के कारण होते हैं। कानूनी एकाधिकार एकस्व अधिकार (patent) के कारण होते हैं। सामाजिक एकाधिकार से अभिप्राय गैस, बिजली, पानी के वितरण जैसे जनोपयोगी सेवा-कार्यों (public utility services) से है। स्वैच्छिक एकाधिकार उत्पादकों में स्वय किए गए समझौतों के कारण होते हैं और वे संगठन के भिन्न भिन्न तरीकों का संकेत करते हैं। ये करार (agreements) इस प्रकार हो सकते हैं (क) पैदावार म कमी अथवा नियमन (reduction or regulation in output), (ख) कीमत तथा बिक्री की दूसरी शर्तें नियत करना (fixation of price and other terms of sale), तथा (ग) प्रदेश विभाजन (division of territory)।

२ संयोगों के भेद (Types of Combinations)—व्यापार सम्बन्धी संयोगों के अनेक प्रकार के प्रख्यात भेद हैं। क्षैतिज संयोग (horizontal combinations) उस

समय होता है जबकि मिलने वाले कारोबार एक ही तरह के उत्पादन-कार्य मे लगे हुए हैं। उदग्र सगठन (vertical combination) उस दशा में होता है जबकि उत्पादन की भिन्न अवस्थाओ को मिश्रित किया जाए जैसे कि कताई और बुनाई। ट्रस्ट या न्यास (trust) और कार्टेल या मूल्य सघ (cartels) भी सयोगो के दो प्रख्यात भेद हैं।

ट्रस्ट या न्यास (Trust)—जब कई कम्पनियाँ आपस म मिलकर पूर्णतया एक नई कम्पनी की रचना करती है, तो इसको ट्रस्ट या न्यास कहते हैं। उन मिलने वाली कम्पनियो का कोई अलग अस्तित्व नही रहता, बल्कि पूर्णतया एक नई कम्पनी बन जाती है। इसे एक सविलयन (merger) भी कहा जा सकता है। सन् १६३६ म भारत की तात्कालिक सब सीमेंट कम्पनियो ने मिलकर एक नई कम्पनी बनाई जिस का नाम ए० सी० सी० (एसोशिएटेड सीमेंट कम्पनीज़ ऑफ इण्डिया) रक्खा गया।

कार्टेल या मूल्य सघ (Cartels)—परन्तु यदि मिलने वाले कारोबार अपना पृथक् अस्तित्व नही छोडना चाहते, तब वे एक कार्टेल या मूल्य सघ बनाते हैं। य कारोबार अलग-अलग चलते हैं और उनका प्रबन्ध भी अलग-अलग हाता है। परन्तु वे सब अपनी उत्पादित वस्तुओ को एक साझी विक्रय सस्था को द देते हैं। सन् १६३६ में भारत मे चीनी के कारखानो ने मिलकर एक अखिल भारतीय खाँड सिंडीकेट (All-India Sugar Syndicate) स्थापित किया और सबने अपनी तैयार की हुई चीनी के बेचने का कार्य उसको सौप दिया। 'कार्टेल' या मूल्य सघ शब्द का अभिप्राय ऐसे ही सयोग से है।

ट्रस्ट या न्यास और कार्टेल या मूल्य सघ म अन्तर जानना आवश्यक है। ट्रस्ट म अगभूत कारोबारो (constituent concerns) की जगह एक नया कारोबार ले लेता है। किन्तु मूल्य सघ या कार्टेल में सब कारोबार अपना अलग-अलग अस्तित्व स्थापित रखते हैं। ट्रस्ट मे उत्पादन और वितरण दोनो एक ही केन्द्रित अधिकार म रहते हैं, जबकि मूल्य सघ में केवल वितरण ही एक केन्द्रित अधिकार में रहता है और उत्पादन-कार्य भिन्न-भिन्न फर्मों द्वारा होता है। न्यास एक स्थायी सस्था है, जिसम सम्मिलित कारोबार अपने अस्तित्व को पूर्णतया मिटा दते हैं परन्तु दूसरी ओर मूल्य सघ प्राय थोडे काल के लिए होता है। मूल्य सघ म सम्मिलित कारोबार अपन अपने हित की ओर निरन्तर ध्यान देते रहते हैं और जब कभी वे चाहते हैं तो सम्मिलित समूह से अलग हो जाते हैं। कुछ बातो म ट्रस्ट से मूल्य सघ अच्छा समझा जाता है। यह अधिक लोचदार (flexible) होता है। वह उत्पादको का अपन अपने कारोबार को कुशलतापूर्वक चलाने की स्वतन्त्रता देता है। ट्रस्ट म अत्यधिक पूँजी लगान का भय रहता है। जबकि मूल्य सघ म ऐसा भय नही रहता।

सूत्रधारी समवाय (Holding Company)—हम यह पहले बतला चुके हैं कि एक कम्पनी किस प्रकार दूसरी कम्पनी पर नियन्त्रण कर सकती है। (अध्याय १४, विभाग ५)। कहा जाता है कि सन् १६११ में न्यू जर्सी की स्टैण्डर्ड आयल कम्पनी लगभग ४० दूसरी कम्पनियो पर नियन्त्रण करती थी। पजाब नशनल बैंक लाहौर के नशनल बैंक पर नियन्त्रण रखता है। डालमिया कम्पनी ने भारत बीमा कम्पनी पर नियन्त्रण किया।

गुट बनाने की प्रवृत्ति होती है। कोई भी बडी फर्म किसी कमजोर फर्म के साथ, जिसे वह कुचल सकती है, गुट में शामिल होने के लिए तैयार नही होती।

(ड) प्रामाणिक वस्तुएँ (Standardised Products)—यदि उत्पन्न की हुई वस्तुएँ एक ही प्रकार की हैं तो उसके एक उत्पादक और दूसरे उत्पादको में अन्तर नही होगा। इसमे सघ सरलता से स्थापित हो जाता है।

(च) किसी देश की परम्परा भी सयुक्त कार्य के लिए अनुकूल होने पर सघ निर्माण में सहायक बनती है।

एकाधिकार की शर्तों अथवा एकाधिकार शक्ति प्रकट होने में प्रो० पीगू (prof pigou) दो बातें बताते हैं—

(क) जब उद्योग के किसी विशेष वैयक्तिक सस्थापन (typical individual establishment) को बडे स्तर पर चलाना किफायती होता है, तथा

(ख) जब व्यवसाय (business) के किसी विशेष वैयक्तिक इकाई (typical individual unit) को बडे स्तर पर चलाना किफायती होता है, अर्थात् जब कई सस्थापनों का नियन्त्रण एक प्राधिकारी (authority) के हाथ में होता है, जैसे भारत में प्रचलित मैनेजिग एजेन्सी प्रणाली।

बेन्हम (Benham) कहता है, 'एकाधिकार की सफलता की कुंजी पैदावार का नियन्त्रण है।" जब तक एकाधिकारी का पूर्ति (supply) पर नियन्त्रण नही है उसकी एकाधिकार शक्ति नष्ट हो जाएगी। इस बात को ध्यान में रखते हुए उसे नए लोगो को उस क्षेत्र में प्रवेश करने से रोकना चाहिए। बेन्हम (Benham) कहता है—'वे परिस्थितियाँ जो नवागत (newcomer) को आने से रोकती हैं अथवा रोधक हैं, और इस तरह पैदावार की वद्धि में बाधा डालती है, ऐसा प्रतिष्ठान हैं जिस पर एकाधिकार की शक्ति आधारित है।"[1] उत्पादन के क्षेत्र मे किसी आवश्यक वस्तु का नियन्त्रण, विशेष तथा ऊँची लागत की मशीनो की जरूरत तथा एकस्व अधिकार (patent rights) नए उद्यमियो को उसके क्षेत्र से बाहर रखेंग और उसकी (एकाधिकारी की) शक्ति बनाए रखेंग।

४ सयोग के लिए प्रतिकूल परिस्थितियाँ (Circumstances Unfavourable for Combination)—कुछ ऐसी भी अवस्थाएँ हैं, जो सयोग के निर्माण में रुकावट पैदा करती ह। यदि नवागन्तुको के लिए विशेष कठिनाइयाँ न हो तो, उस दशा म सयोग अथवा एकाधिकार की सम्भावना बहुत कम रह जाती है। यदि उत्पादक इधर-उधर फैले हुए हैं और प्रयक उत्पादक थोडा थोडा माल बाजार म भेजता है, तो उस दशा म भी सयोग का बनना कठिन होगा। यदि किसी वस्तु के उत्पादन म उसके गुण का विशेष ध्यान रखना होता है और उस पर व्यक्तिगत ध्यान देना आवश्यक होता है, तो उस समय भी किसी बडे सयोग के बनने की सम्भावना कम हो जाती है। इसके अतिरिक्त जिस समय कुछ उत्पादक पहले से ही किसी एकाधिकार की अवस्था में होते हैं, तब भी उनके लिए सयोग स्थापित करने का आकर्षण कम होता है।

---

1 The circumstances which prevent or deter newcomers and thus enable output to be restricted are the foundations upon which the power of Monopoly is based "—Benham

संयोग को आतंकित करने वाली शक्तियाँ (Forces that threaten a combination)—एक बार के बने संघ को हमेशा ही बनाए रहना आसान नहीं होता। दो शक्तियाँ ऐसी हैं जो उसको निरन्तर जुदा (disintegrate) करने का प्रयत्न करती रहती हैं। ये शक्तियाँ भीतर और बाहर से अपना कार्य करती रहती हैं।

संघ में भाग लेने वाली कुछ ऐसी फर्में होती हैं जो यह अनुभव करती हैं कि समझौता उनकी निष्ठा (loyalty) पर अधिक दबाव डाल रहा है। उन्हें पता चलता है कि संघ या संयोग उनके हित में कार्य नहीं कर रहा है। हो सकता है कि संघ में सम्मिलित होने वाली फर्मों में से कुछ ने टैक्नीकल या प्राविधिक उन्नति कर ली है, और वे यह समझते हों कि वे अपना व्यवसाय स्वयं देखने में समर्थ हैं। यदि समझौते की रुकावट न होती तो वह बाजार को अधीन कर लेने की आशा करते। सम्भवतः उन्हें अपनी सामर्थ्य से कम काम करना होता है और उन्हें पता होता है कि जिस शक्ति का उपयोग नहीं हो पा रहा है, वह उनके लिए अत्यधिक हानि है। सम्भवतः कोटा (quota) नियत करना अन्यायपूर्ण समझा जाता है। कभी-कभी बुरे समय का सामना करने के लिए भी संघ या संयोग का उपयोग किया जाता है और जब समय में परिवर्तन हो जाता है तो संघ की भी आवश्यकता नहीं रहती। योग्य फर्में अनुभव करने लगती हैं कि वह अयोग्य फर्मों को जीवित रखने के लिए स्वार्थ त्याग कर रही हैं। इस प्रकार व्यापार और उद्योग में परिवर्तन होते रहने से संघ में सम्मिलित सब फर्मों में निष्ठा (loyalty) स्थापित रखना अति कठिन है और कभी कभी असम्भव भी हो जाता है। इन्हीं कारणों से निरन्तर संयोग लड़खड़ा रहे हैं।

५ एकाधिकारों के गुण तथा दोष[1] (Merits and Demerits of Monopolies)—एकाधिकार स्थापन प्रायः बड़ी व्यापार संस्थाएँ होती हैं और इस प्रकार उन्हें बड़े स्तर के उत्पादन की सभी किफायतें प्राप्त होती हैं। नियमित तथा सन्तोषजनक पूर्ति निश्चित होती है और वृहत् स्रोतों के कारण वे बुरे समय का भली प्रकार सामना कर सकते हैं। संयोग या गुट (combination) दूसरे सदस्यों के आविष्कारों तथा व्यापार चिह्नों (trade marks) का उपयोग कर सकता है। उन्हें ज्वाइन्ट-स्टॉक (संयुक्त स्कन्ध) सिद्धान्तों के लाभ भी प्राप्त हैं। इसके अलावा उन्हें अपनी एकाधिकारी पूर्ण स्थिति से भी कुछ फायदे होते हैं। इस तरह वे क्रय-विक्रय में किफायत बरत सकते हैं। उन्हें उत्तम कौशल (superior skill) प्राप्त है और इसलिए दक्षता (efficiency) का उच्च स्तर प्राप्त है। वितरण (distribution) की ओर वे अपने बिक्री विभागों (sales departments) का ज्यादा किफायत से प्रबन्ध कर सकते हैं, चूंकि उन्हें प्रचार (Publicity) पर अधिक खर्च करने की जरूरत नहीं पड़ती।

एकाधिकार उपभोक्ताओं पर और वस्तुओं के गुण तथा मात्रा पर प्रभाव डालता है, और उसके साथ ही उत्पादन के साधनों के उपयोग और पारिश्रमिक को भी प्रभावित करता है।

---

1 For a brilliant defence of monopolies see Schumpeter's Capitalism, Socialism and Democracy

(i) उत्पादन के साधनों का पारिश्रमिक घट जाता है क्योंकि एकाधिकार की अवस्था में उन साधनों की माँग प्रतिद्वन्द्वी फर्मों के मुकाबले में कम हो जाती है।

(ii) संघ या संयोग से हर फर्म के लिए साधनों का कोटा (quota) नियत कर दिया जाता है, ताकि वह अपने सामर्थ्य से कम काम करे। इस प्रकार उत्पादन की कुछ शक्ति बेकार रह जाती है।

(iii) चूंकि कोटे का अनुकालिक पुनरीक्षण (periodic revision) होता रहता है, इसलिए हर फर्म यह प्रयत्न करती है कि उसे आगामी पुनरीक्षण के अवसर पर अधिक कोटा मिले। इस उद्देश्य के लिए समझौता चालू रहने के काल म वह चुपचाप अतिरिक्त साधनों को जुटा लेते हैं। इन सब का फल यह होता है कि उद्योग की उत्पादन-शक्ति फालतू तौर पर बढ जाती है।

(iv) इस कोटा प्रणाली का एक फल यह भी होता है कि उत्पादन-कार्य कम कार्य-कुशल इकाइयों (units) में भी होने लगता है। कमजोर फर्मों को जीवित रखने के लिए योग्य फर्मों को अपनी सामर्थ्य से कम उत्पादन करना पडता है। य बातें स्पष्टत उपभोक्ताओं के हितों के लिए हानिकारक हैं, क्योंकि लागत जरूरत से ज्यादा होती है।

(v) एकाधिकार अवस्था में उत्पादन के साधन उपभोक्ताओं की इच्छानुसार वितरित नही किए जाते, बल्कि एकाधिकारी के निजी निर्णय के आधार पर वे वितरित होते हैं। इसलिए एकाधिकार उपभोक्ता की सम्पूर्ण सत्ता (sovereignty) को सीमित करता है और उत्पादन के साधनों को भी अधिक से अधिक पारिश्रमिक या लाभ लेने से रोकता है।

(vi) एकाधिकारी नयी पूँजी और नये उद्यम के मार्ग म बाधक होता है और उद्योग मे उनके प्रवेश को रोकता है। नय रक्त का समावेश सम्भवत समाज के लिए बहुत लाभदायक होता, किन्तु एकाधिकारी, प्रतियोगी उद्योगो को कुचलकर, समाज को इस लाभ से वञ्चित करता है।

(vii) एकाधिकारी टैक्नीकल उन्नति को भी समय के पीछे डाल देता है। वह अपने अधिकतम लाभ की चिन्ता करता है। कभी कभी उसको यह उचित नही मालूम होता है कि वह पुरानी मशीनें बदलकर नई मशीनें लगाए। उसे प्रतिद्वंद्विता का डर नही रहता, जिसके फलस्वरूप वह नवीन आविष्कारो और रीतियो की सहायता लेकर उत्पादन के खर्चों म भी कमी नही करता। प्रतियोगिता के अन्तगत जो फर्म आधुनिक मशीनो का (उपकरणों का) उपयोग करती हैं, वही बाजी मार ले जाती हैं। इससे उद्योग मे आविष्कार को प्रोत्साहन मिलता है। एकाधिकार के कारण उपभोक्ता उत्पादन के दूसरे कार्यपटु तरीकों से होने वाले फायदा से वंचित रहता है।

(viii) एकाधिकार म उत्पादन प्रतिद्वन्द्वी दशाओं के उत्पादन से कम होता है। ब जार की हालत खराब न हो, इसलिए उत्पादन कम कर दिया जाता है, या नष्ट कर दिया जाता है। ब्राजील की कॉफी इस्टीट्यूट (Coffee Institute of Brazil) ने सन् १९३१ और १९३४ के बीच में २० लाख टन से अधिक कॉफी नष्ट कर दी थी। उत्पादन के कुछ अग जान-बूझकर बेकार रखे जाते हैं या मशीनो से कम काम

लिया जाता है, बशर्ते कि उनसे पूरी तौर से काम लेने पर एकाधिकार लाभ में कमी होने की सम्भावना मालूम होती हो।

(ix) एकाधिकार में कीमतें सामान्यतः ऊँची होती हैं, हालाँकि ऐसे कारण बहुत से हैं जिनसे कि एकाधिकार की दशा में भी वस्तु का दाम कम होना चाहिए। एकाधिकारी को भीतरी और बाहरी बचत की भी भारी गुंजाइश होती है। वह 'अविभाज्य' (indivisible) साधनों का पूर्ण उपयोग कर सकता है। उसे अपनी वस्तुओं को लोकप्रिय बनाने के लिए प्रचार के लिए भी अधिक धन व्यय करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। क्रय विक्रय में भी उसे सदैव सुविधा रहती है। उसके कारखाने का आकार अनुकूलतम (optimum) निर्माण और उत्पादन के निकटतर हो सकता है। इसलिए एकाधिकारी को वे सब सुविधाएँ हैं जिनसे वह उत्पादन के खर्च को कम कर सकते हैं। इस पर भी हम देखते हैं कि एकाधिकारी जो कीमतें लेता है, वे प्रतिद्वंद्वी दशा की कीमतों से आम तौर पर अधिक होती हैं। मनुष्य स्वभाव ही ऐसा है जिसके कारण कि एकाधिकारी अपनी स्थिति का पूरा पूरा लाभ उठाता है। यद्यपि एकाधिकारी को उपभोक्ताओं के हितों के विरुद्ध आचरण नहीं करना चाहिए, परन्तु वह करता यही है। कभी-कभी एकाधिकारी अपने ग्राहकों पर अनुचित शर्तें लगाते हैं अथवा उनके साथ विभेदकारी व्यवहार करते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि एकाधिकार से उपभोक्ताओं को हानि होती है, जबकि वास्तव में उन्हें होनी नहीं चाहिए।

(x) अन्त में हम यह भी देखते हैं कि एकाधिकार से धन के वितरण (distribution of wealth) पर भी बुरा प्रभाव होता है। एकाधिकारी धनवान होते हैं और उनकी प्रवृत्ति अधिक-से-अधिक धनवान बनने की रहती है। इस प्रकार एकाधिकार के अस्तित्व से धन वितरण में असमानता बढ़ती जाती है।

(xi) एकाधिकारी विधान सभा के सदस्यों को घूंस आदि देते हैं और इस प्रकार व्यापार सदाचार (morality) तथा लोक सदाचार के स्तर को गिराते हैं।

६ एकाधिकार के प्रति मौजूदा प्रवृत्तियाँ (Recent Tendencies Towards Monopolies)—एक जमाना था जब उद्योग तथा व्यापार में गुटों और संयोगों (combinations) को संशय की दृष्टि से देखा जाता था। वे समुदाय के व्यापक हितों में बाधक समझे जाते थे। अमरीका में ट्रस्ट या न्यास के खिलाफ कानून पास किए गए, और राज्य सर्वत्र संघ चलन (combination movement) के ऊपर कड़ी दृष्टि रखने लगे। संयोगों या संघों को खतरनाक समझा जाता था।

परन्तु अब यह दृष्टिकोण बदल गया है। एकाधिकारी व्यवस्था अब समाज के लिए सदा हानिकर नहीं समझी जाती। बल्कि किसी उद्योग को वैज्ञानिक रूप देने के लिए अब यह ढंग आवश्यक समझा जाता है। प्रथम विश्व-युद्ध के बाद जर्मनी के उद्योग को स्वतः अपने अस्तित्व के लिए अपना अभिनवीकरण (rationalisation) करना पड़ा। भीतरी प्रतिद्वन्द्व को दूर कर दिया गया और प्रतिद्वन्द्वी इकाइयों को एक संगठन के अधीन कर दिया गया था, जो उत्पादन और वितरण का नियन्त्रण करता था। उस समय जर्मनी में संघ सम्बन्धी चलन (combination movement) का बहुत आश्चर्यजनक फल हुआ। यह आन्दोलन वहाँ से अमरीका, जापान और अन्य

देशों मे फैल गया। हर जगह पर राज्यों ने सघ या व्यापारिक सयोग स्थापित करने के प्रयत्न किए है। महान् मन्दी (great depression) ने सघ-व्यवस्था को विशेष योग प्रदान किया, क्योंकि उद्योगों को फिर से सगठित करने के लिए उनको अभिनवीकरण (rationalisation) रूप देना और उन्हे स्थिर बनाए रखना आवश्यक समझा गया था। इसलिए एकाधिकार और औद्योगिक कार्य-पटुता के बीच बहुत गहरा सम्बन्ध है।

७ एकाधिकारी पर रोक (Checks on the Monopolist)—ऊपर दिए हुए विवरण से शायद ऐसा लगेगा कि एकाधिकारी अपने लाभ का ही ध्यान रखकर मनमाना दाम ले लेता है। परन्तु एकाधिकारी स्वेच्छाचारी के रूप म व्यवहार नही कर सकता। एकाधिकारी शक्ति के दुरुपयोग पर अनेक प्रतिबन्ध है—

पहली बात तो यह है कि एक एकाधिकारी सम्भाव्य प्रतिद्वन्द्वियो (potential rivals) से सदैव डरता रहता है। यदि वह अत्यधिक कीमतें कर देता है तो कुछ अन्य उद्योग परिचालक अवश्य ही उस क्षेत्र मे आ जाएँगे और ऊँचे दामो से लाभ उठाएँगे।

दूसरे, यह भी हो सकता है कि उपभोक्ता भी चुपचाप उन्हे सहन न करे। उनके शोषण की भी आखिर एक सीमा है। दामो मे एक पैसे की वृद्धि भी उनके विनाश का कारण हो सकती है। उपभोक्ता सक्रिय रूप म उनकी वस्तु का बहिष्कार कर सकते हैं। इसलिए कोई भी एकाधिकारी उपभोक्ताओं की सहानुभूति को ठुकराने का साहस नही कर सकता।

तीसरे, शायद ही कोई ऐसी वस्तु हो जिसका प्रतिस्थापन (substitution) कम या पूर्ण रूप से न हो सके। इस प्रकार प्रतिस्थापित वस्तुओं से एकाधिकारी की शोषण प्रवृत्ति को बहुत कुछ सीमित किया जा सकता है। उपभोक्ता एकाधिकारी वस्तु और प्रतिस्थापित वस्तु के दामो मे केवल एक विशेष सीमा तक ही अन्तर को सहन करते है। जैसे ही वह अन्तर उस सीमा को पार कर जाता है, वैसे ही प्रतिस्थापित वस्तु अपनी जगह बना लेती है।

चौथे, एकाधिकारी माँग की स्थितियो पर लापरवाही करके स्वतन्त्र रूप से कार्य नही कर सकता। उसको कदम कदम पर माँग की स्थिति पर विचार करने के लिए बाध्य होना पडता है। यदि माँग लोचदार है तो एकाधिकारी की दशा भी उसी के अनुसार कमजोर होती है।

पाँचवें, हम यह देख चुके है कि सघ या व्यापारिक सयोग मे भीतर की शक्तियाँ उसे निरन्तर आतंकित रखती हैं। इस कारण व्यापारिक सयोग के अस्तित्व को बनाए रखना सरल नही है। सघ एक प्रकार का ऐसा मकान है, जो भीतर से अपने ही विरुद्ध विभाजित है और इसीलिए एकाधिकारी मनमानी नही कर पाते।

अन्त मे, हम यह देखते है कि राज्य द्वारा हस्तक्षेप (state intervention) का भय तो रहता ही है। कोई भी राज्य जनता के हितो का रक्षक होते हुए किसी एकाधिकारी को समाज का शोषण करते नही देख सकता। आवश्यकता पडने पर

राज्य हस्तक्षेप करने के लिए सदा तैयार रहता है। एकाधिकारी की स्वेच्छाचारी प्रवृत्ति पर यह कार्यवाही हितकर नियन्त्रण के रूप में कार्य करती है।

८ एकाधिकार पर सार्वजनिक नियन्त्रण तथा स्वामित्व[1] (Public Control and Ownership of Monopolies)—एकाधिकारी आम तौर पर उत्पादन कम कर देता है जिससे कि वह ऊँचा दाम लेकर अपना लाभ बढ़ा सके। यह रीति वास्तव में समाज-विरोधी है। राज्य को एकाधिकारी के लाभ के लिए जनता के शोषण करने की कुप्रवृत्ति का नाश और उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा के लिए अवश्य ही जनता के रक्षक की हैसियत से हस्तक्षेप करना चाहिए।

एकाधिकारों को नियन्त्रित करने के लिए सम्भावित उपाय—

(i) न्यास विरोधी विधान बनाना (Trust-preventing and Trust-breaking Legislation)—अमरीका में शरमन एन्टी-ट्रस्ट लॉ, १८९० (Sherman Anti-Trust Law of 1890) और सन् १९१४ में क्लेटन एन्टी-ट्रस्ट लॉ (Clayton Anti-Trust Law of 1914) स्वीकार किए गए। जर्मनी और आस्ट्रिया में भी मूल्य संघों (Cartels) के विरुद्ध कानून बने। परन्तु इस प्रकार के कानून सदैव कारगर न हुए। जब एक प्रकार का संघ या न्यास कानून विरुद्ध घोषित किया गया तो वकीलों के चातुर्य ने एक दूसरी ही तजवीज निकाल दी। कभी-कभी अनियमित समझौते नियमित समझौतों की जगह ले लेते। सन् १९२७ में इंग्लैण्ड में व्यापारिक बोर्ड ने व्यापार और उद्योग की कमेटी को जो सूचना दी थी उससे मालूम हुआ कि राजकीय नियन्त्रण को केवल आंशिक सफलता ही मिली थी।

(ii) अनुचित रीतियों की रोक (Suppression of Unfair Practices)—प्रोफेसर पीगू ने कहा है कि राज्य को सम्भाव्य प्रतिद्वन्द्व की रक्षा करनी चाहिए और कुरीतियों (clubbing devices), को जिनसे सम्भाव्य प्रतिद्वन्द्वी डरकर भागते हैं, नियन्त्रण करना चाहिए। इस प्रकार की कुरीतियाँ ये हैं—जैसे विनाशकारी कीमतें घटाना (dumping), विकट प्रतिद्वन्द्विता और बहिष्कार (boycott)। परन्तु वह भी इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि यदि इन कुरीतियों के नियन्त्रण करने में और सम्भाव्य प्रतिद्वन्द्व को बनाए रखने में सफलता मिली भी तो वह अपूर्ण ही होगी। वह आगे कहता है "इन व्यापारिक कुरीतियों को विधान द्वारा भी सर्वथा निर्मूल करना कठिन है।"

(iii) लाभ और कीमतों पर नियन्त्रण (Control of Prices and Profit)—लाभ और कीमतों पर नियन्त्रण रखकर राज्य एकाधिकार को नियमित कर सकता है। परन्तु इसके मार्ग में व्यावहारिक बाधाएँ हैं। कोई ऐसी कीमत नियत करना जो कि उपभोक्ता के लिए उचित है और उत्पादक के लिए भी ठीक है इतना सरल नहीं है। फिर भी एकाधिकार को नियन्त्रित करने का प्रयत्न लाभदायक होगा। उपभोक्ताओं की भी संस्थाएँ बनाई जा सकती हैं।

(iv) प्रचार (Publicity)—इंग्लैण्ड में सन् १९१८ में ट्रस्ट या न्यास की

1 For limitations of public control in a world of monopolies see J K Galbraith's American Capitalism

कमेटी ने एकाधिकारी शक्ति के दुरुपयोग को रोकने के लिए उसके प्रचार और सार्वजनिक देखरेख की तजवीज की थी । इस बात की भी तजवीज की गई थी कि एकाधिकारियों का समय-समय पर निरीक्षण किया जाए और उनके कारनामे जनता के सम्मुख लाए जाएँ । आशा की जाती है कि इन उपायों से एकाधिकारी वर्ग को उचित अवस्था में रक्खा जा सकेगा ।

एकाधिकारों पर राज्य के नियन्त्रण के लाभ (efficacy) के सम्बन्ध में, प्रो० पीगू (Prof Pigou) यह परिणाम निकालते हैं "प्राइवेट एकाधिकार पर राज्य नियन्त्रण के किसी भी स्वरूप के अन्तर्गत आदर्श (ideal) तथा वास्तविक (actual) के बीच पर्याप्त खाई रहनी जरूरी है । नियन्त्रण की रीति, चाहे क्रियात्मक (positive) हो अथवा निषेधात्मक (negative), संक्षेप में, सरल स्पर्द्धा की तुलना में, उद्योग की कीमत स्तर (price level) तथा उचित पैदावार के बीच सन्तुलन का बहुत अपूर्ण उपाय होगा । इसके अलावा यह रीति बहुत खर्चीली होगी ।"[1] जैसा कि प्रो० डूरेंड (Durand) ने कहा है "सरकार द्वारा कीमतों तथा प्राइवेट संस्थाओं के लाभ के नियमन में क्षय, शक्ति तथा लागत को दोहराने (duplication) आदि के तत्त्व सन्निहित रहते हैं ।"[2]

(v) **राष्ट्रीयकरण और जन-संचालन** (Nationalisation and Public Operation)—अन्त में, एकाधिकृत व्यापार का राष्ट्रीयकरण किया जा सकता है । यदि व्यापार बे-रोकटोक एक स्तर पर चल रहा है और उसका बाज़ार निश्चित है तो राज्य बेखटके उस व्यापार को अपने हाथ में ले सकता है । ऐसे उद्योगों में व्यक्तिगत उद्यम और दिलचस्पी के लिए कोई विशेष गुंजाइश नहीं रह जाती । ऐसे व्यापार का संचालन कोई भी अधिकारी कर सकता है, और व्यापार का प्रशासन तथा जन-उपयोगी व्यवसायों का राष्ट्रीयकरण किया जा सकता है और किया जाना चाहिए । निजी उद्यम में राज्य की ओर से नियन्त्रण करने में टैक्नीकल कठिनाइयों के सम्बन्ध में प्रोफेसर पीगू का कहना है "राज्य का नियन्त्रण इस आधार पर उचित है कि इससे स्रोतों (resources) का विभिन्न व्यवसायों में उचित वितरण होगा और इस प्रकार समुदाय में कल्याण को प्रोत्साहन मिलेगा ।"[3]

६ क्रयाधिकार (Monopsony) एक ऐसा शब्द है जो कि खरीदारों के एकाधिकार के लिए प्रयोग में लाया जाता है । यदि बेचने वाला कहता है, "हमसे खरीदो या तुम न खरीदो" तो खरीदने वाला भी उसको मुँहतोड़ जवाब दे सकता है

1 'Under any form of state control over private monopoly, a considerable gap between the ideal and the actual is likely to remain The method of control, whether positive or negative, is, in short an exceedingly imperfect means of approximating industry toward the price level and output proper to simple competition Moreover, it is apt to prove a costly method. —Pigou

2 'Government regulation of prices and profits of private concerns always involves a large element of waste, of duplication of energy and cost" Prof Durand

3 'In view of many technical difficulties in the way of public control over private enterprise, I advocate public operation on the ground that it will bring about a right distribution of resources among different occupations and thus promote the economic welfare of the community."—Prof Pigou

अध्याय १६

विनिमय—बाज़ार
(Exchange—Markets)

१ बाजार का अर्थ (Meaning of Markets)—जेवन्स (Jevons) का कहना है, 'मूलत, बाजार, नगर म एक ऐसा सर्वजनिक स्थान होता था, जहाँ आवश्यक व दूसरे प्रकार की वस्तुएँ विक्रय के लिए रखी जाती थी। पर अब इस शब्द के अर्थ का विस्तार करके इसको यह अर्थ दे दिए गए है कि बाजार ऐसे व्यक्तियों का समुदाय है जिनमे आपस में व्यापारिक सम्बन्ध हों और जो किसी वस्तु के बडे-बडे सौदे करते हो। किसी बडे शहर म उतने ही बाजार हो सकते हैं जितनी कि वहाँ महत्त्वपूर्ण व्यापारिक शाखाएँ हाती हैं तथा इस प्रकार के बाज़ार स्थानीय भी हो सकते हैं और नहीं भी। किन्तु बाज़ार के साथ स्थान विशेष (locality) का भाव आवश्यक नहीं है। यदि व्यापारी आपस म मेले, सभाओ, विज्ञापनों, डाकखाना और दूसरे उपायो से आवागमन रखते हो और भले ही वह किसी नगर म, अथवा प्रदेश म या देश म फैल गए हो, किन्तु तब भी वे बाज़ार का निर्माण कर सकते हैं।"[1] फ्रांसीसी अर्थशास्त्री कुर्नो (Cournot) के शब्दो में "बाजार शब्द से अर्थशास्त्र के विद्वानो का आशय किसी विशेष हाट से, जहाँ वस्तुओं का क्रय-विक्रय होता हो, नही होता, बल्कि उस सम्पूर्ण प्रदेश से होता है, जिससे ग्राहक और विक्रेताओं के बीच इस प्रकार का स्वतन्त्र आदान-प्रदान हो कि उन्ही वस्तुओ की कीमत अधिक शीघ्रता और सरलता से समान हो सके।"[2]

इस प्रकार बाज़ार के लिए निम्न बातें आवश्यक ह (१) वह वस्तु जिसका क्रय या विक्रय व्यवहार होना है, (२) ग्राहका व विक्रताओं का मौजूद होना, (३) एक स्थान, चाहे वह एक प्रदेश विशेष हो, एक देश अथवा पूर्ण ससार हो, (४) विक्रेता व ग्राहको म इस प्रकार का आदान-प्रदान हो कि एक वस्तु की कीमत एक समय में एक ही रहे।

(क) क्षेत्रफल (area) के आधार पर बाजार को स्थानीय, राष्ट्रीय और विश्वव्यापी बाज़ारो म बाँटा जा सकता है, तथा (ख) समय (time) के आधार पर बाज़ार का विभाजन इस प्रकार किया जा सकता है—किसी दिन अथवा समय विशेष के भाव (market price), अल्पकालीन कीमत, दीर्घकालीन कीमत अथवा बहुदीर्घकालीन अथवा लौकिक (secular) बाजार, जिसका विस्तार एक पीढी तक हो।

२ बाज़ारो का विकास (Evolution of Markets)—जैसे बाजार आज दिखाई देते है, सदैव वे वैसे नही थे। बाजारों का वर्तमान स्वरूप दीर्घकालीन विकास

1 'The traders may be spread over a whole town, or region, or a country and yet form a market if they are by means of fairs, meetings, published price lists, the post office or otherwise, in close communication with each other"—Quoted by Marshall—Economics of Industry, pp 134 35

2 'Economists understand by the town market, not any particular market place in which things are bought and sold, but the whole of any region in which buyers and sellers are in such free intercourse with one another that the price of the same goods tend to equality easily and quickly'—Cournot

का फल है। बाजारो के विकास का अध्ययन दो दृष्टिकोणो से किया जा सकता है। (क) भौगोलिक (Geographical) और (ख) कार्यात्मक (functional)।

भौगोलिक दृष्टि से बाजार के विकास की चार अवस्थाएँ हैं—(१) प्रारम्भ मे पारिवारिक (family) बाजार हुआ करता था, जिसमें एक कुटुम्ब के बीच विनिमय होता था, (२) उसके बाद स्थानीय बाजारों (local markets) का विकास हुआ, जिसमें क्रय विक्रय एक नगर अथवा गाँव तक ही सीमित था, (३) इसके बाद राष्ट्रीय बाजारो (national markets) का जन्म हुआ, जब एक वस्तु के लिए सम्पूर्ण राष्ट्र एक बाजार माना जा सके, तथा (४) आज का विश्व बाजार (world market) है, जिसमे कुछ चीज़ो का व्यापार विश्वव्यापी होता है।

स्थानीय, राष्ट्रीय और विश्व-बाजार साथ-साथ ही चलते हैं। कुछ चीज़ो का बाजार सर्वथा स्थानीय होता है, जैसे ताजा दूध, कुछ वस्तुओ का बाजार राष्ट्रीय होता है, जैसे किसी भारतीय अनुसूचित अधिकोष के अंश और बहुत सी वस्तुओ का बाज़ार विश्वव्यापी होता है जैसे जूट, कपास, चाय, मूल्यवान् धातुएँ आदि। भौगोलिक विकास सदैव परिवहन साधनो की प्रगति और प्रशीतन (refriegeration) जैसी वैज्ञानिक रीतियो के विकास पर निर्भर रहता है।

जहाँ तक कार्यात्मक विकास (functional development) का प्रश्न है, बाजार का विकास इन अवस्थाओ में हुआ—(१) साधारण अथवा मिश्रित बाज़ार (the general or mixed market)—इस प्रकार के बाजार मे एक ही स्थान पर नाना प्रकार की चीज़ो का क्रय विक्रय होता था। (२) विशिष्ट बाज़ार (the specialised market)—हर वस्तु के लिए जुदा मण्डी (मार्केट) जैसे, आजकल सूत, कपडा, श्रम मार्केट, द्रव्य मार्केट, विदेशी विनिमय मार्केट, स्टॉक एक्सचेंज (श्रेष्ठि चत्वर) तथा प्रोड्यूस एक्सचेंज आदि। (३) नमूनो द्वारा विक्रय (marketing by sample)—वस्तुओं का मान-नयन कर लिया जाता है (standardised) और क्रय-विक्रय नमूनो के आधार पर होता है। (४) ग्रेडिंग द्वारा विक्रय (marketing by grades)—इस रीति में वस्तुओ की सही-सही क्वालिटी दी जाती है, जिससे नमूना देखने की भी आवश्यकता नही रहती। गेहूँ की ५६१-सी तथा ८-ए नम्बर की किस्में बडी प्रसिद्ध हैं। और ४ एफ, तथा एम जी. एफ. जो भारत मे कपास की प्रसिद्ध किस्में हैं।

३. बाजार का विस्तार (The Extent of the Market)—बाजार का आकार बहुत सी बातो पर निर्भर है—

(१) वस्तुओ के लक्षण (The Character of Commodities)—उन्हीं वस्तुओ का बाजार विस्तृत हो सकता है जिनमे निम्न गुण हो (i) ले जाई जाने योग्य (portable), (ii) टिकाऊ (durable), (iii) नमूना बनाने, श्रेणीबद्ध करने और सही विवरण देने योग्य, और (iv) ऐसी कि जिनकी पूर्ति (supply) मे वृद्धि की जा सकती हो। इस प्रकार की वस्तुओ म गेहूँ, सोना, सरकारी सिक्यूरिटियाँ आदि शामिल हैं। भारी सामान जैसे ईंटें तथा शीघ्र ही खराब होने वाली चीज़ें जैसे ताज़े फल, तरकारी आदि का मार्केट सीमित होता है।

(२) वस्तुओं की मांग का रूप (The Nature of the Demand for Commodity)—जिस वस्तु की मांग विश्वव्यापी होगी उसका व्यापार ऐसी वस्तुओं की अपेक्षा, जिनकी मांग सीमित है, अधिक विस्तृत होगा, जैसे सोना, चांदी।

(३) सचार तथा परिवहन (Communications and Transport) के विकसित साधनो के कारण भी माल को दूर दूर ले जाना सम्भव हुआ है और इस प्रकार मार्केट की सीमाएँ काफी बढ गई हैं।

(४) शान्ति और सुरक्षा (Peace and Security)—यदि शान्ति और सुरक्षा न हो तो माल एक स्थान से दूर के स्थान तक नही भजा जा सकता। युद्ध-काल म शान्ति और सुरक्षा की व्यवस्था नही होती, इसलिए बाजारो का क्षत्र सीमित हो जाता है।

(५) मुद्रा और साख को रीति (Currency and Credit System)—यदि मुद्रा और साख की रीति अधिक विकसित है, तो क्रय विक्रय दूर दूर के स्थानो में बडी सरलता और लाभ के साथ हो सकता है।

(६) राज्य को नीति (The Policy of the State)—राज्य की नीति से बाजार सीमित हो सकते हैं। निषेधात्मक करो तथा कोटे (quota) आदि से मार्केट सीमित होते हैं।

(७) श्रम विभाजन की मात्रा (The Degree of Division of Labour)—पिछले अध्याय म हम देख चुके हैं (अध्याय ११, विभाग ५) कि किस प्रकार बाजार का क्षेत्र श्रम विभाजन को सीमित करता है। इसका उल्टा नियम भी उतना ही सत्य है, क्योंकि बाजार का क्षेत्र भी उत्पादन कार्य म प्रयुक्त श्रम विभाजन पर निर्भर करता है। जितना ही अधिक श्रम-विभाजन होगा माल उतना ही सस्ता होगा और मार्केट की सीमाएँ विस्तृत होगी।

४ बाजारों के प्रकार पूर्ण प्रतियोगिता (Market Categories Perfect Competition)—जिस स्थिति म किसी उद्योग विशेष मे लगी व्यवसाय सस्थाएँ कार्य करती हैं उसका अध्ययन पूर्ण प्रतियोगिता (Perfect competition) और अपूर्ण प्रतियोगिता (Imperfect competition) शीर्षकों के अ तर्गत किया जा सकता है।

हम बाजार को उस समय पूर्ण प्रतियोगितापूर्ण (perfectly competitive) कहेंगे, जब किसी उद्योग की अलग अलग व्यवसाय सस्थाओ का सम्बन्धित वस्तु की कीमत पर कोई नियन्त्रण नही होता, अर्थात् किसी व्यवसाय सस्था को प्रचलित कीमत स्वीकार करनी पडती है और सस्था स्वय कीमत को किसी प्रकार प्रभावित नही कर सकती। अत पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में व्यवसाय सस्था को अपना उत्पादन प्रचलित कीमतो के अनुसार समायोजित करना पडता है। यदि ऐसी स्थिति प्राप्त करनी है जिसमे इक्का दुक्का व्यवसाय सस्थाओ का वस्तु की कीमत पर एकाधिकार न हो जाए, तो निम्नलिखित स्थितियाँ पैदा करना आवश्यक है—

(१) व्यवसाय सस्था का वस्तु की पूर्ति पर नियन्त्रण न होना चाहिए। यह शर्त तभी पूरी हो सकती है जबकि प्रत्यक व्यवसाय सस्था समस्त उद्योग के समस्त उत्पादन का कुछ अश ही उत्पादन करे। इसका यह अर्थ है कि बाजार म क्रेताओं

(buyers) और विक्रेताओं की बहुत बड़ी संख्या होनी चाहिए। इस प्रकार प्रत्येक विक्रेता इस आधार पर उत्पादन करता है कि वह प्रचलित कीमत पर जितना माल चाहे बेच सकता है।

(२) जिन वस्तुओं का क्रय विक्रय होता है, वे प्रमापीकृत (standardized) होनी चाहिएँ, अर्थात् सभी व्यवसाय संस्थाएँ एक ही प्रमाप की चीज़ों का उत्पादन करें और विभिन्न व्यवसाय संस्थाओं की उत्पादित वस्तुओं में कोई अन्तर नहीं होना चाहिए। यदि उत्पादित वस्तुएँ एक प्रमाप की न होंगी तो यह नहीं कहा जा सकता कि व्यवसाय संस्था का कीमत पर नियन्त्रण नहीं होगा क्योंकि कोई व्यवसाय संस्था विशिष्ट उत्पादन की कीमत पर अवश्य ही नियन्त्रण रख सकती है।

(३) क्रेताओं (Buyers) को भी स्वभावतः प्रमापीकृत होना पड़ेगा अर्थात् उन्हें किसी विशेष विक्रेता की वस्तु विशेष के प्रति विशेष आकर्षण नहीं रखना चाहिए। यदि वे ऐसा करेंगे, तो उस विशेष विक्रेता की वस्तु वही नहीं रह जाएगी जो अन्य विक्रेता बाज़ार में बेच रहे हैं।

(४) व्यवसाय संस्थाओं को किसी उद्योग विशेष में पदार्पण करने या उसे छोड़ने की पूरी छूट रहनी चाहिए। इसका आशय यह है कि किसी व्यवसाय संस्था का दुर्लभ कच्चे माल पर नियन्त्रण न रहना चाहिए। इस प्रकार यह निश्चित रहेगा कि किसी व्यवसाय संस्था का माल की पूर्ति पर एकाधिकार न होगा। कहने का तात्पर्य यह है कि उत्पादन के साधनों का पूर्ण गतिशील होना अत्यन्त आवश्यक है।

(५) समान कीमत प्रचलित होने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि क्रेता और विक्रेता दोनों एक दूसरे की इच्छाओं को परस्पर जानें। यदि कोई विक्रेता विशेष, अपनी उत्पाद को अन्य विक्रेताओं की अपेक्षा कम कीमत पर देने को तैयार है तो सभी खरीदार या क्रेता यह बात जान जाएँगे। वे सब उसी विक्रेता के माल को खरीदने पहुँचेंगे। इसका फल यह होगा कि या तो अन्य विक्रेता भी अपनी वस्तु की कीमत गिराने पर मजबूर होंगे या फिर उस विक्रेता की सारी उत्पाद शीघ्र ही समाप्त हो जाएगी। इसके बाद उसको मजबूरन अपनी वस्तु की कीमत अन्य विक्रेताओं के बराबर करनी पड़ेगी।

अतः हम निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि पूर्ण प्रतियोगिता के बाज़ार में व्यवसाय संस्था का वस्तु की कीमत पर नियन्त्रण नहीं होता। वह प्रचलित कीमत को स्वीकार करती है और इस आधार पर चलती है कि प्रचलित कीमत पर वह जितना माल बेचना चाहे, बेच सकती है। हम रेखाचित्र के द्वारा भी इस निष्कर्ष को रेखांकित कर सकते हैं। रेखाचित्र २७ के द्वितीय भाग में माँग वक्र DD' पूर्ण लोचदार है। व्यवसाय संस्था के सामने प्रचलित कीमत क्षितिज रेखा पर है यद्यपि उद्योग का माँग वक्र गिरता हुआ वक्र (रेखाचित्र १) है।
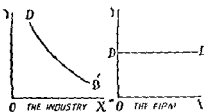
चित्र २७

५ बाजारो के प्रकार . अपूर्ण प्रतियोगिता (Market Categories : Imperfect Competition)—वास्तविक जीवन मे प्रतियोगिता कभी पूर्ण नही होती । निम्नलिखित कारणो और परिस्थितियो से प्रतियोगिता अपूर्ण हो सकती है—

(१) विभिन्न श्रेणी की वस्तुओ का उत्पादन (Product differentiation)—कोई चीज चाहे मुख्य रूप से एक ही उपयोग की हो, किन्तु कभी-कभी उसके अलग-अलग नाम रख दिए जाते हैं । उदाहरणार्थ मैकलीन ट्यपेस्ट बनाम बिनाका टयपेस्ट। यदि किसी उपभोक्ता के विचार से एक वस्तु दूसरी का पूर्ण प्रतिस्थापन नही है तो ऐसा माना जाएगा कि उत्पादक का अपनी विशेष वस्तु की कीमत पर कुछ नियन्त्रण है ।

(२) क्रेता और विक्रेता सम्भवत एक दूसरे की इच्छाओ और पसन्दो का ज्ञान न रखते हो या क्रेताओ की कीमत की मात्रा का या विक्रेताओ की उस कीमत पर पूर्ति की मात्रा का ज्ञान एक एक दूसरे को न हो ।

(३) हो सकता है कि क्रेता और विक्रेता एक दूसरे की कीमत सम्बन्धी नीतियो का ज्ञान रखते हो, किन्तु वे उस ज्ञान का लाभ उठाने की क्षमता ही न रखते हो। कभी-कभी स्वभाव, रूढिवादिता या पूर्वाग्रह भी इस ओर बाधा डालते हैं अर्थात् वे या तो सबसे सस्ती दुकान से चीजें न खरीदें या विक्रेता सबसे अधिक कीमत देने वाले को न बेचेंग ।

(४) कभी-कभी परिवहन व्यय (transport cost) भी वस्तुओं में भिन्नता उत्पन्न कर देते हैं। परिवहन व्ययो के कारण समान कीमत नही रह पाती । फलस्वरूप कुछ खरीदारो को सस्ती व्यवसाय सस्थाओ से माल खरीदने में रुकावट पैदा होती है ।

अपूर्ण प्रतियोगिता में व्यवसाय सस्था का मांग वक्र प्रचलित कीमत (OD) पर पूर्ण लोचदार नही रहता । यह झुकता हुआ वक्र है जिसकी लोच असीम (DD) है । ऐसा अनेको कारणो से होता है जिनका ऊपर वर्णन किया जा चुका है । अर्थात् व्यवसाय सस्था का कीमत के ऊपर कुछ नियन्त्रण है, उत्पादन प्रमापीकृत न हो या खरीदार किसी विशेष नाम वाली वस्तु को ही खरीदना पसन्द करे मानो लक्स साबुन के मुकाबले हमाम को पसन्द करें, या एक दूकान को दूसरी की अपेक्षा अधिक पसन्द करें। शायद अधिक सफाई के कारण या उसकी भौगोलिक स्थिति या निकटता के कारण या बिक्री करने वालो (salesmen) के मृदु स्वभाव के कारण आदि आदि । इसका फल यह होता है कि खरीदार किसी विशेष नाम की उसी वस्तु के लिए अधिक कीमत चुकाने को तैयार है, या यह कहिए कि अन्य उसी गुण की वस्तु की कीमत कम होने पर भी कभी कभी खरीदार दूसरे नाम की उसी वस्तु के लिए अधिक कीमत देता है ।

चित्र ८८
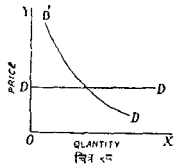
यदि दूसरे नाम की वस्तु का विक्रेता अपनी चीज की कीमत को बढा लेता है तो वह अपने ग्राहको को खोयेगा नही । और यदि वह अपनी चीज की कीमत को गिरा

भी देता है तो भी वह अधिक ग्राहक न बना सकेगा। इसीलिए झुकता हुआ माग वक्र रहता है।

यदि पूर्ण प्रतियोगिता में कीमत OD से ऊपर जाती है तो व्यवसाय सस्था के अपने सारे ग्राहक छिन जाएग किन्तु अपूर्ण प्रतियोगिता म कुछ ग्राहक OD से अधिक कीमत स्वय उसी प्रकार की वस्तु के लिए देने को तयार रहते ह। पूर्ण प्रतियोगिता में यदि कोई व्यवसाय सस्था अपनी कीमत OD से नीचे कर देती है तो वह जितना माल चाहे बेच सकती है किन्तु अपूर्ण प्रतियोगिता में कीमत के गिराने से केवल थोड़े से ही अतिरिक्त ग्राहक आकर्षित किए जा सकते ह क्योंकि हो सकता ह ग्राहक किसी दूसरे काम की वस्तु को पसन्द करते हो और उसके लिए वे पहले की ही ऊची कीमत देने को तैयार हों।

इस प्रकार हमने देखा कि पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति म कोई विक्रेता अपनी वस्तु का नामकरण बदलकर भी प्रचलित कीमत को प्रभावित नहीं कर सकता। किन्तु अपूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में जिसको एकाधिकारी प्रतियोगिता भी कह सकते ह विक्रेता कीमत पर प्रभाव डाल सकता है। अपूर्ण प्रतियोगिता म एकाधिकारी के समान विक्रेता चाहे तो पूर्ति की मात्रा निश्चित कर सकता है या अपनी वस्तु की कीमत मनमानी रख सकता है।

६ पूर्ण तथा अपूर्ण बाजार (Perfect and Imperfect Markets)—पूर्ण बाजार और अपूर्ण बाजार के बीच भेद समझ लेना आवश्यक होगा। यह पूर्ण और अपूर्ण प्रतियोगिता से मिलता जुलता है जब सम्भाव्य (potential) विक्रेता और ग्राहकों को इस बात का ज्ञान होता है कि किन किन कीमतों पर सौदे हो रहे ह दूसरे ग्राहक व विक्रेता किस कीमत पर सौदा करने को तयार ह और जब कोई भी ग्राहक किसी भी विक्रेता से वस्तु खरीद सकता है तो बाजार पूर्ण कहलाता है। इसके विपरीत परिस्थितियों म बाजार अपूर्ण होता है। ऐसी परिस्थितियों म किसी वस्तु की कीमत सारे बाजार म एक ही रहती (परिवहन व आयात कर आदि के व्यय निकालकर)। पूर्ण मार्केट का यह अर्थ कि क्रेताओं तथा विक्रेताओं को न सिर्फ पूरा ज्ञान ही होगा बल्कि वे इस ज्ञान का अपने लाभ के लिए पूरा उपयोग भी कर सकेंगे। मार्शल के शब्दों म बाजार जितना ही अधिक पूर्ण होगा उतनी ही किसी वस्तु की कीमत का एक समय म बाजारों के सब भागों म, एक-सा होने की अधिक सम्भावना रहेगी। पूर्ण बाजार की एक मुख्य विशेषता यह है कि एक ही गुण की विभिन्न वस्तुओं को विभिन्न वस्तुएं माना जाता है। पूर्ण बाजार म एक चीज के लिए एक समय म एक ही कीमत होगा।

इसके विपरीत निम्नलिखित किसी एक कारण होने पर बाजार अपूर्ण हो जाएगा। क्रेताओं तथा विक्रेताओं को माग कीमत (demand price) तथा उस कीमत पर वस्तु के बचे जाने की मात्रा का एक दूसरे पर प्रभाव का ज्ञान नहीं होता। क्रेताओं तथा विक्रेताओं म एक दूसरे की मूल्य नीति के ज्ञान का अभाव नहीं होता परन्तु उनम उस ज्ञान के प्रयोग की शक्ति नहीं होती। स्वभाव रूढ़िवादिता पक्षपात अथवा राज्य नियन्त्रण उन्हें सस्ते स सस्ते विक्रेता से क्रय करने अथवा महगे-से महग

खरीदार को बेचने से रोक सकता है। किसी वस्तु की सभी इकाइयाँ एक वास्तविक श्रेणी की नही हो सकती। वे एक-दूसरे से या तो स्थान द्वारा अलग की जा सकती हैं अथवा भिन्न तथा अपूर्ण प्रतियोगी मात्राओ म मिल सकती हैं। इसलिए स्वभावत बाज़ार में एक ही समय में एक ही वस्तु की कई कीमतें प्रचलित हो सकती है। यह अपूर्ण बाज़ार का लक्षण है। इसके विपरीत पूर्ण बाज़ार में एक वस्तु की एक ही कीमत रहती है।

दूसरे शब्दो मे यदि बाजार मे एक वस्तु की एक समय म एक ही कीमत है, तो बाज़ार पूर्ण समझा जाता है। पर यदि एक ही समय म एक वस्तु की कई कीमतें प्रचलित हैं, तो बाजार अपूर्ण समझा जाता है।

निम्नलिखित कारणो से मार्केट पूर्ण होता है—

(i) स्वतन्त्र और पूर्ण प्रतियोगिता (Free and Perfect Competition)—स्वतन्त्र और पूर्ण प्रतियोगी बाजार में क्रेताओ और विक्रेताओ के ऊपर किसी प्रकार का भी नियन्त्रण न रहना चाहिए। वे जिसको चाहे बेचें तथा जिससे चाहे खरीदें। स्वतन्त्र और पूर्ण प्रतियोगिता म एकाधिकार के लिए गुजायश नही है।

(ii) परिवहन के सस्ते और सुलभ साधन (Cheap and Efficient Means of Transport)—बाज़ार में एक वस्तु की कीमत तभी समान रह सकती है जबकि कीमत म परिवर्तन की सूचना आसानी से और जल्दी से बाजार के विभिन्न क्षेत्रो म भेजी जा सके। उसके लिए यह भी आवश्यक है कि वस्तु उस जगह पर, जहाँ वह अधिक कीमत पर बिकती है, जल्दी आसानी से और सस्ते दामो म भेजी जा सके।

(iii) विस्तृत क्षेत्र (Wide Extent)—कभी-कभी पूर्ण बाज़ार और विस्तृत बाज़ार के समान अर्थ समझे जाते हैं। हम इसी अध्याय के अनुच्छेद ३ म कह चुके हैं कि किन किन परिस्थितियो में बाजार का विस्तार निर्भर रहता है। हमने बताया था कि किसी वस्तु का बाज़ार तभी विस्तृत होगा जब कि वह वस्तु एक जगह से दूसरी जगह परिवहन योग्य हो, टिकाऊ हो, श्रेणीबद्ध करने के योग्य हो और उसकी माँग काफी हो।

अब हम कुछ वस्तुओ के उदाहरण लेकर यह निर्णय करने का प्रयत्न करेंगे कि उनका बाज़ार पूर्ण होगा या अपूर्ण।

नियोजित पूजी (Invested Capital) अर्थात् (स्टॉक तथा शेयर) का बाज़ार पूर्ण बाजार का बहुत अच्छा उदाहरण है चूँकि स्टॉक एक्सचेंज मार्केट (stock exchange market) अधिक सगठित होता है। शेयरो का भाव बताने, सौदे तय करने और उन्हे पूरा करने की रीतियाँ बिलकुल निश्चित व सर्वविदित होती हैं। कीमतो का परिचलन शीघ्र व सुगम होता है और सबसे बडी बात तो यह है कि कठोर-से कठोर कानूनी नियन्त्रण भी इतनी कुशलता से धोखे व जोखिम नही बचा सकते, जितनी सफलता से इस प्रकार के बाज़ारो म नैतिक स्तर को ऊँचा रखकर काम किया जा सकता है।"—(टॉमस)।

मूल्यवान् धातुओं, प्रथम श्रेणी की हुडियो, विदेशी मुद्राओ व महत्त्वपूर्ण कच्चे मालो के बाज़ार भी बहुत सगठित होते हैं। इसलिए इन चीजो के बाज़ार को भी पूर्ण बाजार कहा जा सकता है।

उपभोक्ता माल का मार्केट, जो वास्तव में खुदरा होता है इस तरह कम पूर्ण है। विभिन्न स्थानों म कीमतों में भी काफी अन्तर रहता है। इस प्रकार थोक मार्केट की अपेक्षा खुदरा (retail) मार्केट कम पूर्ण होते हैं।

नियमत, उत्पादकों की वस्तुएँ थोक बिकती हैं इसलिए इनके बाजार अधिक पूर्ण होते हैं। श्रम मार्केट प्राय अपूर्ण होता है, चूंकि श्रम अपेक्षाकृत कम गतिशील होता है, उसम सौदा करने की शक्ति क्षीण होती है और श्रमिक अधिकतर अज्ञानी होते हैं इसलिए श्रम का बाजार सामान्यत अपूर्ण होता है। अस्तु, वास्तविक सम्पदा (real estate) का बाजार सामान्यत पूर्ण होता है, क्योंकि ग्राहक खरीदने के पहले अत्यधिक कष्ट उठाकर जानकारी प्राप्त कर लेते है। बाजार म द्रव्य उधार लिया-दिया जाता है और उसकी दर में अप्राप्ति के खतरे और ऋण काल के अनुसार सूद की दरों म अन्तर होता है। विशेष रूप से भारत में द्रव्य बाजार (money market) को अपूर्ण समझना चाहिए।

७ अपूर्ण अथवा एकाधिकारी प्रतियोगिता वाले बाजारों का वर्गीकरण (Market Categories under Imperfect or Monopolistic Competition Classified)—अपूर्ण प्रतियोगिता वाले बाजारों की एक विशेषता यह है कि किसी व्यवसाय सस्था का मांग वक्र (demand curve) पूर्ण लोचदार नहीं होता। इसका यह तात्पर्य है कि उक्त व्यवसाय सस्था का कीमत निर्धारण पर कुछ नियन्त्रण है। इसके पश्चात् हम अपूर्ण प्रतियोगिता के अधीन बाजारों के प्रकारों का अध्ययन करेंगे। ऐसी अपूर्ण प्रतियोगिता इस कीमत के नियन्त्रण पर आधारित होती है जो कोई व्यवसाय सस्था स्थापित कर सके।

(i) एकाधिकार अथवा सरल एकाधिकार (Monopoly or Simple Monopoly) का अर्थ प्रतिस्थापित वस्तुओं का अथवा प्रतियोगी उत्पाद का न होना है जिससे एकाधिकारी दूसरे माल की कीमत की अपेक्षा अपने माल की कीमत स्वतन्त्र रूप से निश्चित कर सके।

(ii) द्वयधिकार (Doupoly) ऐसी स्थिति है जबकि मार्केट मे सिर्फ दो व्यवसाय सस्थाएँ होती हैं और प्रमापीकृत या प्रतिस्थापना योग्य माल की निकासी के लिए उनम परस्पर प्रतिस्पर्द्धा रहती है।

(iii) ओलीगोपली या अल्पजनाधिकार (Oligopoly) ऐसी स्थिति है जिसम छोटे-छोटे कई दूकानदार होते हैं और उनमें परस्पर होड चलती है और इस प्रकार प्रत्यक दूकानदार यह जानता है कि उसकी पैदावार (output) से मार्केट की कीमत पर असर पडेगा। इसलिए कीमत निर्धारित करते समय प्रत्यक व्यवसाय सस्था को प्रतियोगी व्यवसाय सस्था की प्रतिक्रिया का ध्यान रखना होगा।

(iv) एकाधिकारवादी प्रतियोगिता (Polypoly or Monopolistic Competition) ऐसी स्थिति है जहाँ अनेक व्यवसाय सस्थाएँ है जो एक ही वस्तु के मुकाबिले की प्रतिस्थापित वस्तुएँ बेचती हैं। प्रतियोगी एकाधिकार (polypoly) म किसी व्यवसाय सस्था का कीमत के निर्धारण पर प्राय नगण्य प्रभाव रहता है। कारण यह है कि एक ही वस्तु के अनेको प्रकार बाजार म प्रतियोगिता करते हैं। एकाधि

कारवादी प्रतियोगिता (polypoly) और अल्पजनाधिकार (oligopoly) में मुख्य अन्तर यह है कि एकाधिकारवादी प्रतियोगिता (polypoly) म कीमत नीति निर्धारित करते समय व्यवसाय सस्था अपनी कीमत नीति का दूसरी व्यवसाय सस्थाओ की कीमत नीति पर क्या प्रभाव पडेगा इसकी कोई चिन्ता नही करती, क्योंकि यदि वह कीमत घटाती है तो अनेको व्यवसाय सस्थाओ के ग्राहक उसको मिलेंगे अतएव उसे बदले की कार्यवाही का कोई भय नही रहता ।

८. स्टॉक विनिमय सगठन (Stock Exchange Organisation)—हमारे यहाँ के स्टॉक विनिमय अधिकतर लन्दन के स्टॉक विनिमय बाजार के आधार पर बनाए गए हैं । इसके सदस्यो के दो वर्ग होते हैं—(१) आढती (jobbers) और (२) दलाल (brokers) ।

आढती स्वतन्त्र रूप से व्यवसाय करते हैं, किन्तु वह जनता से सीधा सम्पर्क नही रख सकते । उन्हे दलालो के द्वारा काम करना होता है । इसके विपरीत दलालो को केवल दलाल ही रहना होता है । वे स्वतन्त्र रूप से कोई क्रय-विक्रय नही कर सकते । इस विशिष्टता का प्रयोजन धोखे को कम करना है ।

अंशों (Shares) के क्रय-विक्रय की प्रणाली इस प्रकार है । सभावित ग्राहक अथवा विक्रेता को दलालो की एक फर्म म आर्डर देना पडता है, जो एक आढती (jobber) के साथ सम्पर्क करते हैं । मान लीजिए 'अ' कुछ हिस्से क्रय करना चाहता है । वह स्टॉक के एक दलाल को उन्हे खरीदने का आदेश देता है । तब दलाल स्टॉक-विनिमय मे जाता है, और आढती से मिलकर उन हिस्सो के भाव माँगेगा । स्टॉक विनिमय के नियमो के अनुसार आढती को सदैव क्रय विक्रय के लिए तैयार रहना चाहिए । उसे उन हिस्सो को, जिनकी उसे आवश्यकता नही है, क्रय के लिए और उन हिस्सो को भी, जो उसके पास नही हैं, बेचने के लिए सदा तत्पर रहना चाहिए । अतएव आढती को हमेशा दो कीमतें बतानी पडती हैं । एक तो वह जिस पर वह खरीदेगा और दूसरी वह कीमत, जिस पर वह बेचेगा । क्रय मूल्य और विक्रय मूल्य मे जो अन्तर होता है, वही आढती का लाभ होता है । उसे आढती की आढत (jobber's turn) कहते हैं ।

यदि दूसरा पक्ष भाव को स्वीकार कर लेता है तो सौदा तै हो जाता है । अन्य सब स्टॉक और शेयरो के सौदो का भुगतान इस उद्देश्य के लिए निश्चित दिनो मे होता है । यह भुगतान के दिन कहलाते हैं । इनम पहले दिन तो यह निश्चित किया जाता है कि दोना पक्ष अपने सौदे को पूरा करने में समर्थ है अथवा नही । मान लीजिए कि ग्राहक अपने खरीदे हुए शेयरो का रुपया चुकाने म असमर्थ है, तो ऐसी दशा मे उसका दलाल आढती को अगली भुगतान के दिन तक जो साधारणतया १५ दिन बाद पडता है, स्थगित करने को कहेगा । आढती इस सुझाव को मान लेता है, पर खरीदार को उस रकम पर, जो उसे देनी थी, और अब जिसे वह अगले भुगतान के दिन देने की प्रतिज्ञा करता है, ब्याज देना पडेगा । इस प्रकार का भुगतान अग्रेनयन-प्रभार (contango) कहलाता है ।

किन्तु यदि खरीदार के पास क्रय करने का रुपया है, पर आढती बेचे हुए शेयरो

का प्रबन्ध नहीं कर सकता, तो आढ़ती भुगतान की टाल के लिए कहेगा। इसके लिए उसे रुपया देना पड़ेगा, क्योंकि अंशों के मिलने में देर होने के कारण खरीदार को लाभांश (dividend) की हानि होगी। आढ़ती समय पर शेयर न देने का जुर्माना खरीदार को देता है, वह विलम्बधृति या क्षतिपूर्ति (Backwardation) कहलाता है।

पर यदि दोनों वर्ग सौदे को पूर्ण करने के लिए तैयार व समर्थ हैं, तो अगले दो दिनों में जिन्हें 'अन्त दिन या टिकिट दिन" (Intermediate or Ticket Days) कहते हैं, सारी कार्यवाही कर ली जाती है। खरीदार का विवरण विक्रेता के पास भेज दिया जाता है, जिससे कि शेयर नियमानुसार, खरीदार के नाम किए जा सकें। चौथे तथा अन्तिम दिन रुपए का भुगतान व शेयरों का प्रदान होता है।

९ स्टॉक विनिमय या स्कन्ध विपणि के लाभ (Advantages of Stock Exchange)—स्टॉक विनिमय या स्कन्ध विपणि के सगठन से अनेक लाभ होते हैं—

(१) यह नियोजित पूँजी (invested capital) के लिए बाजार प्रदान करता है। स्कन्धों और अंशों का सन्तोषजनक वर्गीकरण हो सकता है और उनके बेचने व प्राप्त करने में सुगमता होती है। आवश्यकता पड़ने पर शेयरों या अंशों का मालिक अपने शेयरों या अंशों पर स्टॉक विनिमय या स्कन्ध विपणि द्वारा नकदी प्राप्त कर सकता है।

(२) इस सगठन की व्यापारिक नैतिकता नियोजकों (investors) में विश्वास पैदा करती है तथा फलस्वरूप स्टॉक विनिमय व्यापार और उद्योग में नवीन पूँजी आकर्षित करने में बड़ी मदद करता है। यदि नियोजित पूँजी आसानी से प्राप्त न की जा सके तो नवीन पूँजी को व्यापारिक और औद्योगिक व्यवसायों में आने का प्रोत्साहन नहीं मिलेगा।

(३) स्टॉक विनिमय (Stock Exchange), स्कन्धों और अंशों के सौदे को सुगम व सस्ता बना देता है और इससे पूंजी की गतिशीलता और परिवर्द्धन में सुगमता होती है।

(४) प्रतिभूतियों या सिक्यूरिटियों का 'सही मूल्य' स्टॉक-विनिमयों या स्कन्ध विपणि में निश्चित होता है। इसमें काम करने वाले काम में निपुण होते हैं और वह स्टॉक की सही कीमत, जो उसकी प्राप्ति पर निर्भर करता है अनुमान कर सकते हैं। निस्सन्देह कभी-कभी स्टॉक विनिमय में सट्टा करने वाले सिक्यूरिटियों की कीमत ऊपरी तौर से बढ़ा देते हैं और कभी अनुचित रूप से गिरा भी देते हैं। परन्तु इस प्रकार के परिवर्तन अस्थायी होते हैं। कभी न-कभी कीमत अवश्य ही अपने सही स्थान पर आ जाती है।

१० उत्पाद विनिमय (Produce Exchange)—जिस प्रकार स्टॉक या स्कन्धों तथा अंशों या शेयरों के क्रय विक्रय के लिए विनिमय होते हैं, उसी प्रकार उत्पाद-विनिमय भी होते हैं, जिनमें गेहूँ, चना, कपास व सन आदि में सट्टा (speculation) होता है। इन उत्पाद विनिमय बाजारों के विभिन्न नाम होते हैं, जैसे "गल्ला व्यापारी संघ", "कम्पनी" या 'चैंबर" आदि। केवल सघ की ओर से मान्य सदस्य ही सौदे कर सकते हैं। सघ के पास विभिन्न फर्मों की, जिनके साथ

सदस्य सौदे कर सकते हैं, एक सूची होती है। केवल वे ही व्यक्ति इन कम्पनियो के सदस्य हो सकते हैं जिनके पास काफी जायदाद आदि हो। प्रवेश शुल्क बहुत अधिक होता है।

एक कोठा (५०० मन) से कम परिमाण की वस्तु में सौदा नही हो सकता। हर व्यक्ति को सौ रुपए प्रति कोठे की गुजाइश (margin) रखनी पडती है। यह गुजाइश कभी १०० रुपये से कम नही होनी चाहिए। यदि ऐसा होता है तो या तो समिति सौदे को रद्द कर देती है अथवा इसके पहले की गुजाइश हानि को पूरा करने मे पर्याप्त न रहे, सौदा तय कर लेती है।

सौदे दो प्रकार के होते हैं—(१) हाजिर माल (Spot); इसका आशय यह है कि सौदा तुरन्त पूर्ण हो जाना चाहिए। (२) वायदा (Forward Transactions) अर्थात् जब सौदा वर्तमान मूल्य के अनुसार हो तो वस्तु का प्रदान एक निश्चित तिथि पर भविष्य मे होता है।

इस प्रकार के सब सौदे हिन्दुस्तानी महीनो के अनुसार होते हैं, जैसे, वैशाख, ज्येष्ठ, आषाढ, भादो, असौज, मगहर, माघ आदि। पहले १५ दिन मे विक्रेता को यह अधिकार होता है कि ग्राहक को वस्तु लेने के लिए कहे और बाद के १५ दिनो में माँगने का अधिकार खरीदार को होता है। महीने के अन्तिम दिन पर खरीदार व विक्रेता दोनो में से कोई भी माल लेने या देने की सूचना दे सकता है। उदाहरण के लिए यदि कोई ज्येष्ठ, आषाढ का सौदा है, तो १६ ज्येष्ठ से ज्येष्ठ के महीने के अन्त तक किसी भी दिन विक्रेता माल ले लेने की सूचना दे सकता है। खरीदार १ आषाढ से १४ आषाढ तक कभी भी माल माँग सकता है। आषाढ की १५ तारीख को, जो उस मास का आखिरी दिन है, और जिस दिन के लिए सौदा किया गया था, खरीदार या विक्रेता दोनो में से कोई भी माल उठाने अथवा देने की सूचना दे सकता है।

यदि खरीदार माल उठाने मे, उस समय जब उससे कहा जाए, असमर्थ होता है, या विक्रेता समय पर माल नही दे सकता, तो कम्पनी सौदे को पूर्ण कर देती है। यदि इससे कोई हानि होती है तो वह उसको परी करनी पड़ती है जिसके कारण कि वह हानि हुई। जब खरीदार माल माँगता है, तो उसे कुल माल का २५ प्रतिशत मूल्य (value) कम्पनी के पास जमा कर देना पडता है, और विक्रेता माल सौंप देने के बाद कम्पनी से मूल्य ले सकता है।

पर यदि दोनो म से कोई भी पक्ष सौदा पूर्ण करने मे असमर्थ होता है, तो उसे नई कीमत पर, जो दूसरे पक्ष के लिए सुविधाजनक हो, सौदा रखने की आज्ञा मिल जाती है। किन्तु इसके पूर्व पुरानी रकम का भुगतान हो जाना चाहिए और उस भुगतान का अन्तर उस पक्ष को मिलना चाहिए, जिसे कीमत के परिवर्तन से लाभ हुआ हो, अर्थात् यदि कीमत गिर गई हो तो खरीदार को अन्तर का भुगतान करना ही होगा।

११. सट्टा (Speculation)—विभिन्न बाजारो मे सौदे केवल क्रय-विक्रय के लिए ही नही होते, बल्कि सट्टे के लिए भी होते हैं। सट्टे मे व्यापारी वस्तुओ को किसी विशेष समय मे होने वाली कीमतो के परिवर्तन के लाभ की आशा से खरीदते

अथवा बेचते हैं। जब कीमतों के हेर-फेर से लाभ उठाने के लिए सौदा वर्तमान कीमत पर करने के पश्चात् उसकी व्यवस्था किसी भविष्य की निश्चित तिथि के लिए कर दी जाती है तो उस सौदा करने को सट्टा कहते हैं।

इसलिए सट्टे की शर्तें ये हैं (क) सौदा चालू कीमत (current price) पर किया जाता है। (ख) इसका भुगतान किसी भावी तिथि (future date) में होना है। (ग) यह सौदा किसी लाभ के लिए किया जाता है। इसमें माल लेना या देना नहीं होता, केवल अन्तर की रकम ही दी जाती है। सट्टे को भविष्य का व्यवसाय (dealings in future) भी कहते हैं। जिस वस्तु की माँग काफी विस्तृत है और जिसको उचित रूप से ग्रेड (grade) किया गया है और जिसकी कीमत चढती-उतरती (fluctuating) है वह सट्टे के लिए उपयोगी होती है—

सट्टा दो प्रकार का होता है—

(i) वैध सट्टा (Legitimate Speculation)—इस प्रकार के सट्टे मे उन लोगों की गतिविधि (activity) शामिल है जो अपने कार्य मे प्रवीण होते हैं। वे हर काम वैज्ञानिक और सही रीति से करते हैं। वे माँग की भविष्यवाणी करते व भविष्य की पूर्ति (supply) का अनुमान लगाने का प्रयत्न करते है। इस काम के लिए वे सभी प्रकार के आँकडो की सूचनाओं का प्रयोग करते है। वे काम मे आने वाली हर प्रकार की सूचना को इकट्ठा करके भविष्य के उतार-चढाव का अनुमान लगाते हैं। इन्ही वैज्ञानिक तथा सचेत गणनाओं के आधार पर वे सौदे करते हैं और यही वास्तविक सट्टा होता है।

(ii) अवैध सट्टा (Illegitimate Speculation)—यह सर्वथा जुआ होता है। बहुत से लोग ऐसे हैं जिनको माँग और पूर्तियो की शक्तियो का ज्ञान नही होता। वे बिना सोचे समझे अधे होकर सौदा कर लेते हैं। इस प्रकार के सटोरिये बाजार भाव को अपने अनुसार बनाने का प्रयत्न करते हैं। प्राय इनका अनुमान सही की अपेक्षा गलत अधिक होता है। यह स्पष्ट जुआ खेलने के समान है। अक्सर इस प्रकार के नासमझ सटोरिय अपने को बरबाद कर लेत है।

उचित व अनुचित सट्टे म केवल इतना अन्तर है कि पहले मे निपुण सटोरिये काम करते हैं और दूसरे प्रकार के सट्टे का सम्बन्ध नासमझ सटोरियो से है जो निपुण सटोरियो के अधे शिष्य होते हैं, पर सौदा एक ही प्रकार का करते हैं। यदि इसी सौदे को निपुण सटोरिय करते हैं तो वह वैध होता है अन्यथा अवैध।

सट्टे का वर्गीकरण प्रतियोगी सट्टा (competitive speculation) तथा एकाधिकारी सट्टा (monopolistic sp culation) के रूप म हुआ है। पहले वर्ग के सटोरिये कीमतो पर प्रभाव डालने अथवा नियन्त्रण करने मे अपने को समर्थ नही पाते। इसके विपरीत एकाधिकारी सटोरिय बडे बडे सौदो मे अपने भारी वित्तीय स्रोत लगाकर, जान-बूझकर कीमतो मे परिवर्तन करने का प्रयास करते हैं। ऐसे सटोरिये कीमतो म उतार-चढाव कम करने की अपेक्षा बढाते हैं। इस प्रकार के हस्तक्षेप से वे प्रतियोगी अर्थ-व्यवस्था की स्वतन्त्र कार्यवाही म बाधा डालकर उसे बिगाडते हैं और किसी समुदाय के स्रोतो के अनुकूलतम (optimum) वितरण को रोकते हैं।

सट्टे के बाजार में प्रयोग में आने वाले कुछ शब्द[1] ये हैं—बुल्स (Bulls) वे लोग होते हैं जो इस आशा से स्टॉक और अंश खरीदते हैं कि मूल्य मे वृद्धि होगी।

बियर्स (Bears)—बियर्स वर्तमान म इसलिए विक्रय करते हैं कि उन्हे यह भय होता है कि भविष्य मे कीमत गिरेगी। जब कीमत बढ रही है तो बाजार "तेजी" (bullish) का मूल्यारोहण कहलाता है। एक-से मूल्यो के बाजार को 'मूल्यपात' अथवा "मन्दी" का बाजार (bearish or mandi) कहते हैं।

द्वंध रक्षण (Hedging)—जब व्यवसायी या उत्पादक कीमतों के उतार-चढाव के जोखिम से बचने के लिए कोई तरकीब करता है, तो उसे द्वंध-रक्षण अथवा अंग्रेजी म (hedging) कहते हैं। उसे कई महीनो के लिए कच्चा माल खरीदकर रखना पडता है। यदि कीमत गिर जाए तो उसे हानि होगी। ऐसी परिस्थितियो मे वह यह सोचेगा कि उसे अपनी खरीदारी को टाल देना चाहिए था। यदि कीमत बढ जाती है तो उसे लाभ होता है। वह अपने उत्पादन-कार्य में जोखिम लेने के लिए तैयार होता है, पर कच्चे माल के मूल्यो के उतार चढाव मे नही। वह उससे बचना चाहता है। इसे वह कैसे कर सकता है?

उदाहरण के लिए एक आटा पीसनेवाले को ले लीजिए। उसने १०) रु० प्रति मन के हिसाब से २०,००० मन गेहूँ लिया। पर बाद म मूल्य गिरकर ८) रु० प्रति मन हो गया। इससे उसे २) रु० प्रति मन अर्थात् ४०,०००) रु० की हानि हुई। पर यदि मूल्य बढकर १२) रु० प्रति मन हो जाए तो उसे ४० ०००) रु० का लाभ होगा। वह यह प्रयत्न करेगा कि इस हानि की सम्भावना न रहे, चाहे लाभ हो अथवा न हो। ऐसी परिस्थिति म वह द्वंध रक्षण (hedging) का सहारा लेगा। जब वह १०) रु० प्रति मन के भाव से २०,००० मन गहूँ स्थायी बाजार म खरीदता है तो उसी को इसी कीमत पर भविष्य बाजार म बेच देता है। अब मान लीजिए, कीमत गिरकर ८) रु० प्रति मन हो गयी और उसे स्थायी बाजार म ४०,०००) रु० का घाटा हुआ। पर भविष्य के बाजार म उसे ४० ०००) रु० का लाभ होगा, क्योकि तब उसे, ८) रु० प्रति मन के हिसाब से गेहूँ मिलेगा और वह उसे १०) रु० प्रति मन के भाव से बेचेगा। इस प्रकार एक सौदे की हानि दूसरे सौदे के लाभ से पूरी हो जाती है। और इस प्रकार न उसकी हानि होती है और न लाभ, और वह यही चाहता था। वह अपने आटा पीसने के व्यवसाय के लाभ के अतिरिक्त किसी प्रकार की हानि अथवा लाभ का भार उठाना नही चाहता।

विकल्प (Options)—सटोरिया विकल्प खरीद लेता है, जिसके द्वारा वह हानि वाले सौदे म से निकल सकता है। विकल्प तीन प्रकार के होते हैं —

(1) याचना विकल्प (Call Option)—मान लीजिए, मैंने १०) रु० मन के हिसाब से गेहूँ लिया किन्तु भुगतान के समय उसकी कीमत गिरकर ८) रु० प्रति मन रह गयी। इस प्रकार मुझे २) रु० प्रति मन की हानि हुई। पर मैंने यदि याचना-

---

1 इन शब्दों का प्रारम्भ इस प्रकार हुआ, साड अपने शत्रु को ऊपर और रीछ नीचे फेंक देता है।

विकल्प अर्थात् एक आना मन देकर, खरीदने या न खरीदने का अधिकार खरीद लिया है तो मैं १ आना फी मन देकर गेहूँ न खरीदने के विकल्प का प्रयोग करूँगा। इस प्रकार २) रु० मन के स्थान पर मुझे केवल एक आना फी मन का घाटा होगा।

(ii) बेचने अथवा न बेचने का विकल्प (Put Option)—मैंने ५,००० मन गेहूँ १०) रु० फी मन के हिसाब से बेचने का सौदा किया, किन्तु नियत तिथि पर बाजार भाव १२) रु० हो गया। इससे मुझे २) रु० प्रति मन का घाटा होगा अर्थात् कुल १०,०००) रु० का। पर यदि मैंने (Put Option) खरीद ली है, तो मुझे बेचने से इनकार कर देने का भी अधिकार होगा। किन्तु विकल्प ले लेने से मेरी हानि कुल सौदे की हानि की तुलना में नाममात्र की होगी।

(iii) दोहरा विकल्प (Double Option)—इस प्रकार के विकल्प से मुझे इस बात का अधिकार हो जाएगा कि मैं अपना हानि-लाभ ध्यान में रखकर वस्तु खरीदूँ अथवा बेच दूँ। पर इस दोहरी विकल्प को खरीदकर मैं यह नहीं कह सकता कि मुझे लाभ ही होगा। क्योंकि लाभ या हानि इस बात पर निर्भर करता है कि मैंने विकल्प की क्या कीमत दी है तथा कीमत में परिवर्तन की क्या सीमा है। यदि मैंने दोहरे विकल्प के लिए ४ आने प्रति मन दिया है और कीमत में परिवर्तन भी ४ आने के बराबर ही हुआ है, तो न हानि होगी, न लाभ। पर यदि उतार-चढाव इससे अधिक होगा तो मैं खरीदने अथवा बेचने के अपने अधिकार को प्रयोग में लाकर लाभ उठा लूँगा। पर यदि कीमत परिवर्तन दोहरे विकल्प से कम हुआ, तो मुझे अवश्य ही हानि होगी।

१२ सट्टे के लाभ और खतरे (Benefits and Dangers of Speculation)—आधुनिक व्यापार व्यवसाय में सट्टे का एक महत्त्वपूर्ण और लाभप्रद स्थान है। इसके अपने अनेक निजी लाभ हैं। समय के नियत भाग में माँग व पूर्ति की शक्तियों को समान करके यह कीमत को स्थिर रखता है। मान लीजिए, कपास की वर्तमान कीमत १०) रु० प्रति मन है और एक प्रभावशाली सटोरिया इस निर्णय पर पहुँचता है कि कीमत १८) रु० तक बढ़ेगी। इस निर्णय के आधार पर वह अधिक-से-अधिक कपास खरीदने का प्रयत्न करेगा। दूसरे सटोरिये भी यही करेंगे। इससे कपास की माँग अनायास ही बढ़ जाएगी, और फलस्वरूप उसके भाव में वृद्धि हो जाएगी। थोड़े ही समय में कीमत बढ़कर १०) रु० से १३) रु० हो सकती है। यदि सट्टा न होता तो कीमत बढ़कर १८) प्रति मन हो गयी होती, पर सटोरियों ने भविष्य में बेचने के लिए कपास बड़ी मात्रा में खरीद ली। इससे भविष्य में पूर्ति बढ़ जाएगी और फलस्वरूप कीमत उतनी नहीं बढ़ेगी, जितनी बढ़ने की आशा थी। बहुत सम्भव है कि १८) रु० प्रति मन के बजाय यह १५) रु० पर ही रुक जाए। इसके अर्थ यह हुए कि सट्टे के कारण कीमत का अन्तर घटकर (१८–१० रु०) ८ रु० से २ रु० (१५–१३ रु०) रह गया।

कीमतों में भीषण परिवर्तन समाज के लिए हानिकारक होता है। स्थिर कीमतें (steady prices) (१) उपभोक्ता, (२) उत्पादन, तथा (३) समस्त समाज के लिए बहुत लाभदायक होती हैं।

(i) जब कीमतें स्थिर होती है, तो उपभोक्ता अपने व्यय का अधिक सही अनुमान लगा सकता है। कीमतों के भीषण परिवर्तन से उसके पारिवारिक बजट म बडी गडबडी मच जाती है जिससे पारिवारिक आर्थिक जीवन म अनिश्चितता आ जाती है।

(ii) उत्पादन को भी सटोरियो के कार्यों से लाभ होता है। वर्तमान औद्योगिक प्रणाली मे मॉंग के बहुत पूर्व ही उत्पादन कार्य प्रारम्भ हो जाना है। यदि कच्चे माल की कीमतो म भीषण उतार चढाव होंगे, तो उत्पादक के सारे हिसाब उलट-पलट जाएँगे। सटोरिया इस भय को कम कर देता है।

(iii) यही नही, सट्टे से सारे समाज को लाभ होता है, क्योंकि अपने कार्यों से सटोरिये समाज का ध्यान भविष्य मे सम्भावित वस्तु की कमी अथवा अधिकता की ओर आकर्षित करते हैं। यदि वस्तु कम होने वाली है तो हम नियन्त्रण से काम लेना चाहिए। और यदि उसकी पूर्ति बढने वाली है तो उसको अधिक परिमाण में रखना अनावश्यक व जोखिम से भरा होगा।

(iv) सटोरियो से वस्तु के आर्थिक वितरण मे भी काफी सहायता मिलती है। वे अपने कार्य मे कुशल होते है। वे केवल यही नही जानते कि कीमतें कब घटेंगी अथवा बढेंगी बल्कि यह भी जानते हैं कि कीमत कहाँ अधिक है और कहाँ कम। वस्तु की गति उस ओर होती है जहाँ कीमतें अधिक होती हैं। "सटोरिया वर्तमान पूर्ति में कोई वृद्धि नहीं कर देता, यह उनको घटाता भी नहीं है, पर उसके कार्य वर्तमान व भविष्य की माँग व पूर्ति को समता की ओर लाते है।" और हम कह सकते हैं कि वह एक स्थान से दूसरे स्थान को मिलाता है।

(v) स्कन्ध विनिमय मे सट्टा, स्टॉक या स्कन्ध विनिमय के सौदे सुगम करके पूँजी बढाता है, तथा पूँजी लगाने वाले का मार्गदर्शक का काम करता है। यह नई पूँजी को बढाने मे सहायक होता है।

निर्देश पुस्तकें

Robinson, Joan The Economics of Imperfect Competition.
Chamberlain, E H The Theory of Monopolistic Competition, Ch I
Pigou, A C Economics of Welfare.
Marshall, A Principles of Economics (1936), pp 112, 322 32
Benham, F Economics (1940), pp 20 42.

अध्याय १७

लागत वक्र तथा पूर्ति वक्र

(Cost Curves and Supply Curves)

१ भूमिका (Introduction)—मूल्य निश्चय करना (valuation) अर्थशास्त्र की मुख्य समस्या है। दो प्रकार की शक्तियो (अर्थात् पूर्ति तथा मांग) के आधार पर मूल्य (value) निश्चित होता है। अब तक हमने मांग का अध्ययन किया है। अब हम पूर्ति के विषय में अध्ययन करग।

२ पूर्ति तथा स्टॉक (Supply and Stock)—पूर्ति से हमारा तात्पर्य उस राशि से है जो हम किसी मूल्य विशेष पर बिक्री के लिए देते हैं। हम पूर्ति की परिभाषा इस प्रकार कर सकते ह कि 'पूर्ति किसी वस्तु की मात्राओ की वह अनुसूची है जो विक्रय के लिए विभिन्न कीमतो पर किसी समय में, उदाहरणार्थ एक दिन, एक सप्ताह आदि जिसमे पूर्ति की सभी दशाएँ स्थिर हो प्रस्तावित की जाए।'[1] मेयर्स

परन्तु पूर्ति और स्टाक में अन्तर है। स्टॉक तो वस्तु के उस सम्पूर्ण परिमाण को कहते ह जो थोड समय क भीतर बाजार में बिकने के लिए रखा जा सकता है और पूर्ति का अर्थ उस मात्रा से है जो मार्केट में बिक्री के लिए वास्तविक मात्रा म लाई जाती है। इस वर्ग में शीघ्र नष्ट होने वाली मछली व फूल जैसी वस्तुओ की पूर्ति तथा स्टॉक की समान गणना होती है। क्योकि जितना माल भी स्टॉक म है वह जल्दी से जल्दी बिक ही जाना चाहिए अन्यथा वह नष्ट हो जाएगा। लेकिन जो वस्तुएँ शीघ्र नष्ट नही होती उनको कीमत अनुकूल न होने पर विक्रय से रोका जा सकता है। यदि कीमत अधिक है तो विक्रेता कुछ मात्रा का अधिक भाग बेचने को तैयार होते हैं पर यदि वस्तु की प्रचलित कीमत कम होती है तो स्टॉक राशि का बहुत थोड़ा सा भाग विक्रय के लिए निकाला जाता है। सक्षेप म स्टॉक ही का दूसरा नाम सम्भावित पूर्ति (potential supply) है।

३ उत्पादन की लागत (Cost of production)—वे समस्त व्यवसाय सस्थाएँ जो एक ही वस्तु का उत्पादन करें किसी उद्योग का निर्माण करती हैं। बाजार का पूर्ति वक्र माल की उस समस्त मात्रा का निर्देश करता है, जो उस उद्योग की सभी व्यवसाय सस्थाओ ने बिक्री के लिए प्रस्तुत किया है। बाजार की पूर्ति का वक्र प्राप्त करन के लिए हमको पहले अलग अलग व्यवसाय सस्थाओ की पूर्ति के वक्र प्राप्त करन होंगे। इस प्रकार हम किसी व्यवसाय सस्था की लागत की प्रकृति का अध्ययन करेंगे। उत्पादन लागत नाम मात्र (nominal) भी हो सकती है और वास्तविक

1 We may define s pply as a schedule of the amount of a good that would be offered for sale at all pos ble prices at any one instant of time or during any one period of t me, for example a day a week and so on in wh ch the conditions of supply rems n the same (Meyers)

(real) भी। उत्पादन की नाम मात्र लागत द्राव्यिक लागत खर्च (money cost of production) कहलाता है। इसे उत्पादन पर आने वाला खर्चा भी कहते हैं। "द्राव्यिक पर्दे को छेदने" के कई प्रयास किए गए। इसके बाद वास्तविक उत्पादन पर लागत का अन्दाज लगाने के कई प्रयत्न हुए। उत्पादन की वास्तविक लागत के कई अर्थ लगाए जाते हैं। एडम स्मिथ (Adam Smith) ने श्रमिक के कष्टो और त्यागो को वास्तविक लागत माना है। मार्शल (Marshall) ने इसके अन्तर्गत "विभिन्न योग्यताओ के प्रयत्नो की वास्तविक लागत" और "प्रतीक्षा की वास्तविक लागत" शामिल किया है।[1] मार्शल ने इसे सामाजिक लागत कहा है। आस्ट्रेलिया के अर्थशास्त्रियो ने और उनके अनुयायियो ने वास्तविक लागत को एक नया रूप दिया है। उनके अनुसार एक विशेष जिस की वास्तविक लागत "उस जिस की प्राप्ति के लिए किया जाने वाला आगामी सर्वश्रेष्ठ त्याग है।" इसे अवसर लागत (opportunity cost) अथवा विस्थापन लागत (displacement cost) भी कहते हैं।

यहाँ हम उत्पादन की लागत का प्रयोग द्राव्यिक लागत आदि शब्दों (terms) के प्रयोग के सन्दर्भ मे करेंगे। इसे उद्यमी की लागत कहते हैं। अतएव हम उद्योगपति की उत्पादन लागत की विवेचना करनी है और देखना है कि ऐसी लागत कीमत को किस भाँति प्रभावित करती है। बाद म इन द्राव्यिक लागतो के आधार पर हम उन आधारभूत तत्त्वो का निष्कर्ष निकालेगे जो कीमत निर्धारित करते हैं।

उद्यमी की उत्पादन लागत में निम्न तत्त्व सम्मिलित रहते हैं[2]—(i) श्रमिक की मजदूरी (wages of labour), (ii) पूँजी पर ब्याज (interest on capital), (iii) भूमि अथवा दूसरी सम्पत्ति का किराया (लगान) अथवा 'रायल्टी' (iv) कच्चे माल की लागत, (v) मशीनो को ठीक करवाने अथवा बदलवाने पर व्यय, तथा (vi) उद्यमी का लाभ, जिसके आधार पर वह उत्पादन को चालू रख सके। लागत का वर्गीकरण इस प्रकार हो सकता है—(१) उत्पादन लागत जिसम माल की लागत, मजदूरी लागत, ब्याज लागत आदि अर्थात् परोक्ष तथा अपरोक्ष दोनो प्रकार की लागतें शामिल हैं; (२) बिक्री लागत, जिसम विज्ञापन की लागत शामिल है, तथा (३) दूसरी लागतें, जिसम बीमा के दाम, दर तथा कर आदि शामिल हैं।

४ प्रमुख और पूरक लागत (Prime [Variable] and Supplementary [Fixed] Cost)—उद्यमी की द्राव्यिक लागत को एक अन्य दृष्टिकोण से भी देखा जा सकता है। कुछ लागतें निकासी के अनुपात से थोडी या बहुत भिन्न-भिन्न होती हैं, जबकि अन्य स्थिर रहती हैं और पहले की भाँति भिन्न नही होतीं। पहली को प्रमुख लागत और दूसरी को पूरक लागत अथवा ऊपरी लागत (overhead) कहते हैं। उन का भुगतान अवश्य होना चाहिए, भले ही वस्तु का उत्पादन अस्थायी रूप से स्थगित क्यो न हो। यह पूरक लागत है और इनमे कारखाने का किराया, मशीनो मे लगी पूँजी का ब्याज और स्थायी कर्मचारियो का वेतन सम्मिलित रहता है। दूसरी ओर

1 Marshall A Principles of Economics (8th edition), p 3?0

2 अधिक जानकारी के लिए—
Meade Economic Analysis and Policy, pp 2—5

प्रमुख लागत (prime costs) परिवर्तनशील खर्चे होते हैं। यह लागत पैदावार में भेद होने से बदलती रहती है। इसम उत्पादन म प्रयोग म आने वाले कच्चे माल की लागत और अनियमित श्रमिकों की मजदूरी सम्मिलित होती है। यह व्यय तभी होते है जब फैक्टरी चालू रहती है।

प्रमुख (परिवर्तनीय) और पूरक (स्थिर) लागत खर्च का अन्तर केवल अल्प कालीन समय म लागू होता है। कोई भी वस्तु लम्बे समय तक स्थिर नहीं रह सकती। कालान्तर म कर्मचारियों म हेर फेर हो सकता है लगी हुई पूँजी की रकम में भिन्नता आ सकती है और फैक्टरी के आकार म भी अन्तर पड सकता है। अतएव दीर्घकाल म सभी व्यय परिवर्तनीय अथवा प्रमुख होते हैं।[1]

५ सकल औसत या माध्य और सीमान्त लागत (Total Average and Marginal Costs)—निम्नलिखित तालिका को देखिए—

एक व्यवसाय संस्था की उत्पादन लागत

उत्पादन की इकाइयाँ	सकल पूरक लागत	सकल प्रमुख लागत	२+३ का योग	माध्य पूरक लागत —	माध्य प्रमुख लागत ३—१	माध्य लागत ५+६	सीमान्त लागत
१	२		४	५	६	७	८
०	३०	०	३०	—	०	—	—
१	३०	१०	४०	३०	१०	४०	१०
२	३०	१८	४८	१५	९	२४	८
३	३०	२४	५४	१०	८	१८	६
४	३०	३२	६२	७.५	[illegible]	१५.५	८
५	३०	५०	८०	६	१०	१६	१८
६	३०	७२	१०२	[illegible]	१२	१७	२२

किसी वस्तु की सकल लागत म सकल प्रमुख (variable) लागत तथा सकल पूरक (fixed) लागत का योग रहता है। जहाँ तक सकल पूरक लागत (fixed cost) का सम्बन्ध है वह उत्पादन की सभी इकाइयों के लिए समान रहती है, किन्तु ज्यों ज्यों उत्पादन बढता है, त्यों त्यों प्रमुख लागत म वृद्धि होती जाती है। जब उत्पादन शून्य हो जाता है तो प्रमुख लागत (variable cost) भी शून्य हो जाती है, उत्पादन के बढने से प्रमुख लागत भी बढती है। किन्तु उत्पादन की वृद्धि का अनुपात समान नहीं रहता। प्रारम्भ मे प्रमुख लागत (variable cost) शीघ्रता से बढती है किन्तु ज्यों ज्यों उत्पादन का पैमाना विशाल होता जाता है प्रमुख लागत की वृद्धि म कुछ कमी होती जाती है, यद्यपि कभी कभी बाद मे प्रमुख लागत भी तेजी से बढती है। ऐसा उस समय होता है जबकि उत्पादन ४ इकाइयों से ५ इकाई तक जा पहुँचता है। ऐसा इस कारण होता है कि आर्थिक किफायतों का सन्तुलन एकायक गड़बड़ हो जाता है।

1 Benham Economics 1940 p 131

कुल लागत वक्र जिसम स्थिर (पूरक), परिवर्तनीय (कीमत लागत) तथा औसत लागत शामिल हैं इनका निम्नलिखित लागत वक्रों[1] द्वारा निरूपण किया जा सकता है।

रेखाचित्र (1) मे SS पूरी लागत का वक्र है जिसम स्थिर लागत भी है (जिसे वक्र ST तथा X-axis के बीच म दिखाया गया है) और परिवर्तनीय (variable) लागत भी (जिसे SS और ST वक्र के बीच मे दिखाया गया है)।

प्रति इकाई माध्य लागत वह सकल लागत है जो उत्पादन की इकाइयो से भाग आने पर आएगा। यह माध्य पूरक लागत (average fixed cost) तथा माध्य प्रमुख लागत (average variable cost) का योग है। रेखाचित्र (ii) म हमने माध्य पूरक लागत वक्र (average fixed cost curve) तथा माध्य प्रमुख लागत वक्र (average variable cost curve) खीचे हैं। सकल पूरक लागत (total fixed cost) उत्पादन की प्रत्यक इकाई के लिए समान है, अत माध्य पूरक लागत वक्र झुकता हुआ वक्र है जो आयत अधीन्द्र (rectangular hyperbola) की शक्ल म है। माध्य प्रमुख लागत वक्र (AVC) पहले झुकता है फिर ऊँचा उठ जाता है ज्यो ही विशाल उत्पादन की किफायतें प्रमुख हो जाती हैं। इन दोनो लागतो को
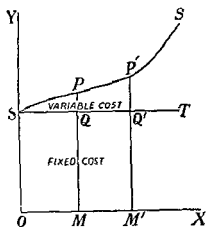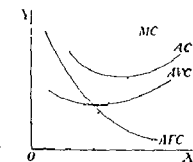
(i) चित्र २६ (ii)

जोड देने से हमको माध्य लागत वक्र (average cost curve) मिलता है (AC) जो उत्पादन की प्रति इकाई के अनुसार है। पहले-पहल औसत लागत बडी स्थिर लागत तथा थोडी पैदावार के कारण बहुत ऊँची है। जैसे पैदावार बढती है, स्थिर लागत इकाई उत्पादन की बडी सख्या के ऊपर फैली हुई है, और औसत लागत गिरती है। इसका कारण कई आन्तरिक किफायता (internal economies) तथा अविभाज्य साधनो का प्रयोग है। लेकिन जब घटती हुई प्राप्ति का नियम प्रबन्ध की असुविधा तथा मशीनो की कमी के कारण शरू होता है, तो प्रमुख (variable) लागत और इसलिए औसत लागत बढना शुरू हो जाती है। वक्र के नीचे का भाग मुडकर U की शकल का हो जाता है। इसी कारण से औसत या माध्य लागत का वक्र U की शक्ल की तरह होता है।

1 Easily understandable cost curves of all types will be found in Tarshis Elements of Economics Chp 6—9

सीमान्त लागत, सकल व्यय में, उत्पादन में साधारण वृद्धि के कारण, वृद्धि है। सीमान्त लागत वक्र (MC) रेखाचित्र (ii) में प्रथम तो प्रमुख लागत के क्रियाशील प्रयोग के कारण ज्यों-ज्यों उत्पादन बढ़ता है त्यों-त्यों वह गिरता है किन्तु बाद में वह उठता है ज्यों-ज्यों अधिक उत्पादन प्रमुख लागत के क्रियाशील प्रयोग के साथ बढ़ता जाता है।

यह देखा जा सकता है कि औसत बदलती या माध्य प्रमुख लागत गिरती जाती है जब तक कि सीमान्त लागत इसके नीचे है लेकिन यह जहाँ पर MC रेखा AVC को काटती है बढ़ना शुरू हो जाती है। सीमान्त लागत सदा औसत बदलती या माध्य प्रमुख लागत से जल्दी बढ़ेगी। ऐसा ही सम्बन्ध सीमान्त लागत तथा औसत लागत में है।

ऐसी चीजें जो लागत को प्रभावित करती हैं वे ये हैं :—(i) पैदावार का तल (level of output), (ii) उत्पादन के साधनों के लिए दी गई कीमत में परिवर्तन, (iii) उत्पादन के तरीकों म उन्नति, और (iv) कल और कारखानों की शक्ति में या आकार में परिवर्तन। आखिरी दशा में नई औसत पूरी लागत वक्र (average total cost curve) (ATC) पहले-पहल जबकि पैदावार कम है पुरानी औसत पूरी लागत वक्र (ATC) के ऊपर होगी, लेकिन जब पैदावार काफी बढ़ गयी हो तो नया वक्र पुराने वक्र के नीचे होगा।

यह याद रखना चाहिए कि प्रमुख या परिवर्तनीय लागत की वृद्धि से सीमान्त लागत (marginal cost) तथा औसत कुल लागत (average total cost) बढ़ जाएगी। लेकिन स्थिर लागत के बढ़ने से औसत पूरी लागत बढ़ सकती है और सीमान्त लागत नहीं बढ़ेगी क्योंकि सीमान्त लागत के माने होते हैं एक बढ़ती इकाई की उत्पादन के द्वारा पूरी लागत म वृद्धि करना। और यह उचित नहीं होगा कि इस इकाई पर वेतन, ब्याज एवं किराए म वृद्धि के भार को लादा जाए। इनमें जो वृद्धि होती है वह इसकी इकाई के उत्पादन के द्वारा नहीं होती।

६ सकल लागत वक्र से सीमान्त लागत वक्र और माध्य लागत वक्र का पता लगाना (Deriving Marginal and Average Cost Curves from Tolal Cost Curve)—रेखाचित्र २० में SS सकल लागत वक्र (total cost curve) है। यदि इस सकल लागत वक्र SS पर माध्य या सीमान्त लागत वक्र निकालना चाहें तो हमको निम्नलिखित क्रिया के अनुसार चलना होगा।
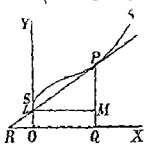
चित्र २०

P से O तक सीधी रेखा खींचो। तब बिन्दु P पर माध्य लागत (average cost) स्पर्शी रेखा (POX) द्वारा कोण जो X रेखा से बनेगा उसके द्वारा दिखाई जाएगी। इस रेखाचित्र में यह बराबर है PQ/OQ। इसी प्रकार हम सकल लागत वक्र के अन्य बिन्दुओं पर भी औसत लागतों या माध्य लागतों का पता

चला सकते हैं। इन सभी बिन्दुओं को मिलाकर हमें U आकार का औसत वक्र जैसा कि रेखाचित्र ३१ में है, मिलेगा।

बिन्दु P की सीमान्त लागत (Marginal Cost) मालूम करने के लिए, हम वक्र SS के बिन्दु P पर स्पर्शी रेखा खींचते हैं। अब सीमान्त लागत जो बिन्दु P पर सकल लागत दिखाता है, RP पर रेखा X के साथ कोण की स्पर्शी रेखा को प्रदर्शित करती है। ऐसी स्थिति में यह स्पर्शी रेखा के कोण PRQ के मूल्य के बराबर है, और यह PQ/RQ के बराबर है या इसे PM/LM भी कह सकते हैं।
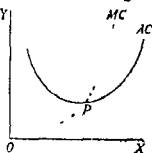
इसी प्रकार हम जान सकते हैं कि सकल लागत वक्र के विभिन्न बिन्दुओं पर सीमान्त व्यय कितना है और उनको मिलाकर हमको सीमान्त लागत वक्र (marginal cost curve) मिलता है। (देखो रेखाचित्र ३१ में MC)।

चित्र ३१

औसत लागत या माध्य लागत तथा सीमान्त लागत के बीच सम्बन्ध (Relation between Average Cost and Marginal Cost)—इस अध्याय के आरम्भ में जो अकगणितीय सूची दी गई थी, उसके देखने से पता चलेगा कि जब औसत लागत या माध्य लागत गिरती है, तो सीमान्त लागत उसके नीचे ही रहेगी, और जब औसत या माध्य लागत ऊँची उठती है तो सीमान्त लागत उसके ऊपर रहेगी। जिस बिन्दु पर औसत लागत वक्र न तो उठ रहा हो, न गिर रहा हो, अर्थात् जहाँ वह न्यूनतम बिन्दु पर हो, वहाँ सीमान्त लागत वक्र उसको काटेगा। रेखाचित्र ३१ में बिन्दु P को देखो। इस बिन्दु पर औसत लागत और सीमान्त लागत बराबर होगी।

७ उद्योग का पूर्ति वक्र, और पूर्ति का नियम (The Industry Supply Curve and the Law of Supply)—अब हम व्यक्तिगत व्यवसाय सस्थाओं के लागत वक्रों की सहायता से बाजार का पूर्ति वक्र तैयार कर सकते हैं।
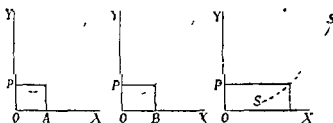
चित्र ३२

पूर्ण प्रतियोगता म मूल्य=किसी व्यवसाय सस्था का सीमान्त लागत व्यय। चूंकि व्यवसाय सस्थाओं को कीमत का पता रहता है, वे उस कीमत पर उस सीमा तक उत्पादन करेंगे, जहाँ तक क्षैतिज कीमत रेखा सीमान्त लागत वक्रों को काटेगी नहीं। मान लीजिए कि उस उद्योग म केवल दो व्यवसाय सस्थाएँ (firms) हैं। ऐसी

स्थिति मे कीमत रेखा OP पर उद्योग का उत्पादन=OA+OB। कीमत मे परिवर्तन करके तथा उन भिन्न कीमतो पर उन व्यवसाय संस्थाओ के उत्पादन का पता लगा कर हम उद्योग का पूर्ति वक्र (Industry Supply Curve) जान सकते है।

पूर्ति का कीमत के साथ कृत्यकारी (functional) सम्बन्ध है। 'यदि और परिस्थितियाँ पूर्ववत् हो, तो वस्तु की कीमत बढने से पूर्ति म वृद्धि होती है व कीमत घटने से पूर्ति कम हो जाती है।' कीमत के अनुसार ही बिक्री के लिए दी जाने वाली मात्रा पर सीधा प्रभाव पडता है अर्थात् जितनी अधिक कीमत होगी उसकी पूर्ति भी उतनी अधिक होगी और इसके ठीक विपरीत भी ऐसा ही होगा।

मांग अनुसूची की तरह जो कि समझाई जा चुकी है (अध्याय ६, विभाग २) हम किसी व्यक्ति की पूर्ति अनुसूची बना सकते है। बाजार मे विभिन्न कीमतो पर विक्रेता वस्तुओं की जिस परिमाण में पूर्ति करते है उनको जोडकर हम किसी वस्तु की पूर्ति अनुसूची बना सकते हैं। पूर्ति अनुसूची कीमतो तथा मात्रा मे सम्बन्ध बताती है जो कि कुछ व्यक्ति उत्पादन करने तथा बेचने के लिए तैयार हैं।

मान लीजिए सेवो की पूर्ति अनुसूची इस प्रकार है—

मूल्य प्रति दर्जन (रुपए मे)	पूर्ति की मात्रा (दर्जनो में)
७	४३
६	४०
५	३६
४	३१
३	२५
२	१८
१	१०

इसमे हमे यह ज्ञात होता है कि जब कीमत ७ रुपए प्रति दर्जन तक बढ जाती है ता ४३ दर्जन सेवो को बिक्री के लिए बाजार में रक्खा जाता है। पर ज्यो-ज्यो कीमत गिरती जाती है पूर्ति की मात्रा भी कम होती जाती है, यहाँ तक कि जब कीमत गिरकर १ रुपया प्रति दर्जन हो जाती है तो केवल दस दर्जन सेब बिकने के लिए आते है। इसके अर्थ यह हुए कि ज्यो ज्यो कीमत गिरती जाती है, पूर्ति कम होती जाती है और ज्यों-ज्यो कीमत बढ़ती जाती है, पूर्ति मे भी वृद्धि हो जाती है। इसी को पूर्ति का नियम कहते हैं।

उपर्युक्त पूर्ति अनुसूची को एक पूर्ति वक्र के रूप मे प्रस्तुत किया जा सकता है।

पूर्ति की गई वस्तुएँ रेखा OX पर दिखाई गई हैं और कीमतें OY पर दिखाई गई हैं। SS' पूर्ति वक्र (supply curve) है। यदि किसी विन्दु P मे जो पूर्ति वक्र पर है, OX पर PM लम्ब खींचा जाए तथा OY पर PO' लम्ब खींचा जाए तो, PM पर जो कीमत OO' के बराबर है, PO' (=OM) मात्रा की पूर्ति होगी।

इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि पूर्ति वक्र दाहिनी ओर से बाईं ओर को झुकता है, जबकि मांग वक्र बाईं ओर से दाहिनी ओर को झुकता है। इसका कारण

यह है कि जब कीमत गिरती है तो माँग बढ़ जाती है पर पूर्ति कम होती है और जब कीमत बढ़ती है तो माँग कम हो जाती है व पूर्ति म वृद्धि होती है।
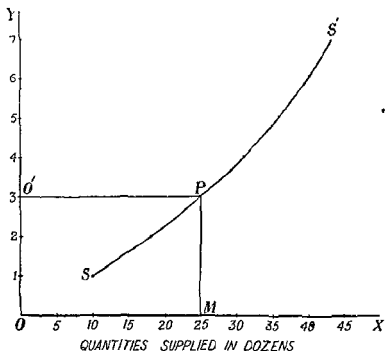
चित्र ३३

यदि कीमत बहुत अधिक गिर जाए तो पूर्ति बिलकुल ही समाप्त हो जाएगी। वह कीमत जिससे कम म बेचने वाला वेचने से इनकार कर देता है रक्षित कीमत (reserve price) कहलाती है। इस कीमत पर खरीदार अपना स्टॉक खरीदता है।

खरीदार की रक्षित कीमत (reserve price) को निर्धारित करने मे कई तत्त्व सहायक होत हैं—

(१) रक्षित कीमत प्राय माल की खराब होने की स्थिति (perishability) पर आधारित है। माल जितना शीघ्र खराब होने वाला होगा, उतनी ही उस माल की रक्षित कीमत नीची होगी।

(२) जहाँ तक ऐसे माल का सवाल है जो नष्ट होने वाला नही है, रक्षित कीमत इस बात पर आधारित रहेगी कि बेचने वाले का आगामी कीमत (future price) का क्या अ दाज (प्राक्कलन) है।

(३) यह भविष्य की लागत पर भी आधारित होगा। यदि लागत गिरने की आशा है तो रक्षित कीमत कम हो जाएगी (गिर जाएगी) और ठीक इसके विपरीत भी ऐसा ही होगा।

(४) रक्षित कीमत (reserve price) माल ढोने पर होने वाले खर्च पर भी आधारित है। इसलिए जितने समय तक स्टॉक रोका जा सकता है, एक बहुत

महत्त्वपूर्ण कारण बन जाता है। जितनी लम्बी यह अवधि होगी उतनी ही रक्षित कीमत कम हो जाएगी।

(५) इसके अन्तगत बेचने वाले का अवसादन अधिमान (liquidity preference) इसका एक महत्वपूर्ण तत्त्व है। नक्द (cash) की माँग जितनी तीव्र होगी, उतनी ही रक्षित कीमत गिर जाएगी।

(६) कई व्यापारी जिद के कारण पहले हुई लागत पर अधिक जोर देते हैं और रक्षित कीमत अधिक रख लेते हैं चाहे इससे उन्हे ज्यादा ही नुकसान उठाना पड़।

८ पूर्ति की लोच (Elasticity of Supply)—जब कीमत म थोडी सी कमी से भी पूर्ति बहुत गिर जाती है तो पूर्ति अपेक्षाकृत लोचदार होती है। लेकिन जब कीमत म बहुत बडी कमी हो जाने पर भी पूर्ति म बहुत कम कमी होती है तो पूर्ति अपेक्षाकृत लोचहीन कहलाती है। इसके विपरीत यदि तनिक कीमत बढने से पूर्ति में अतीव वृद्धि हो जाए तो पूर्ति लोचदार होती है। पर यदि कीमत बहुत अधिक बढ जाने पर पूर्ति म अपक्षाकृत कम वृद्धि हो ता पूर्ति लोचहीन होती है।

वास्तव म पूर्ति की लोच उस सरलता की माप है जिससे एक व्यवसाय बढाया जा सकता है तथा उसका सीमान्त लागत (marginal cost) पर प्रभाव जाना जा सकता है। यदि कीमत म थोडी वृद्धि से बहुत सी व्यवसायी सस्थाएँ (firms) आ जाएँ जिनकी अत्यल्प औसत लागत कीमत के बराबर रहती हैं तथा सीमान्त लागत नही बढती तो पूर्ति पर्णतया लोचदार कही जाती है। तो भी यदि बढा हुआ उत्पादन केवल कीमत मे अपरिमित वृद्धि से पाया जा सकता है तथा कोई नई व्यवसाय सस्था (firm) उद्योग की ओर आकर्षित नही होती तो पूर्ति लोचदार नही होगी। इन दो सीमाओ के बीच लोच की कई श्रेणियाँ होगी। लोच की श्रेणी एक विशिष्ट स्थिति म व्यवसाय सस्थाओ की सीमान्त लागत वक्रो के ढाल (slope) तथा औसत लागत वक्र के आकार पर निर्भर होगी।

'पूर्ति की मात्रा व कीमत म कुछ ऐसा ही सम्ब ध है जैसे कुत्ते व सीटी मे होता है। सीटी जितनी ही अधिक तीव्रता स बजगी उतनी ही अधिक तेजी से कुत्ता दौडेगा। इसी प्रकार कीमत बढते ही मात्रा अनायास ही बढ जाती है। यदि कुत्ता सचेत होगा—अर्थशास्त्र की भाषा म लोचदार होगा—तो सीटी की क्षीण सी ध्वनि से वह दौड पडेगा। पर यदि कुत्ता चेष्टाहीन अथवा लोचहीन होगा, तो जब तक सीटी बहुत जोर से नही बजेगी वह नही दौडेगा।'[1]

एक खडी सीधी रेखा से पूर्ण रूप म बेलोचदार पूर्ति का पता चलता है (अर्थात् शून्य लोच (zero elasticity) का तथा क्षैतिज (horizontal) सीधी रेखा से अनिश्चित रूप से लोचदार पूर्ति का। इन दोनो चरम सीमाओ के बीच लोच विभिन्न मात्राओ म पाई जाएगी। निम्नलिखित सूत्र लोच का सामान्य माप है—

$$\text{पूर्ति की लोच} = \frac{\text{सप्लाई की जाने वाली राशि म वृद्धि}}{\text{सप्लाई की गई राशि}} - \frac{\text{कीमत में वृद्धि}}{\text{कीमत}}$$

1 Boulding—Economic Analysis (1949) p 128

पूर्ति (सप्लाई) की लोच मापने के लिए निम्नलिखित रेखाचित्र की सहायता ली जा सकती है —

SS' पूर्ति वक्र है। इस पर कोई P बिन्दु लीजिए। P बिन्दु से PT एक स्पर्श रेखा खींचो जो X-axis पर T बिन्दु तक हो। इसके बाद P बिन्दु से PM लम्ब बनाइए जो X-axis पर M बिन्दु तक बने। इस तरह सप्लाई की लोच

$$= \frac{PT}{Pt} = \frac{MT}{OM}$$

चित्र ३४
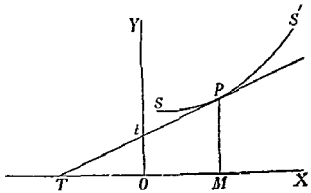
६. पूर्ति में वृद्धि व कमी (Increase and Decrease in Supply) — अर्थशास्त्री प्राय कहते हैं कि यदि और बातें समान रहे तो किसी क्षण में एक अद्वितीय मांग तथा पूर्ति अनुसूची होगी किन्तु अन्य बातें शायद ही कभी समान रहती हैं। इस प्रकार पूर्ति और मांग मे एक परिवर्तन होगा।

पूर्ति को उस समय वृद्धिशील कहा जाता है जब कि उसी कीमत पर बिक्री के लिए अधिक माल दिया जाता है अथवा उसी मात्रा को कम कीमत पर दिया जाता है। पूर्ति को गिरा हुआ (decreasing) कहा जाता है जब उसी कीमत पर बिक्री के लिए कम दिया जाता है अथवा वही मात्रा ऊँची कीमत पर दी जाती है। इस बात का निम्नलिखित रेखाचित्र द्वारा निरूपण किया गया है।

यदि परिवर्तन के पूर्व पूर्ति वक्र SS है तो S'S' पूर्ति में कमी दिखाता है क्योंकि उसी मूल्य PM=(P'M') पर पूर्ति की मात्रा कम हो जाती है OM के बजाय OM'। S''S'' पूर्ति में वृद्धि दिखलाता है क्योंकि उसी मूल्य PM (=P''M'') पर अधिक मात्रा विक्रय के लिए रक्खी जाती है, OM के बजाय OM''।
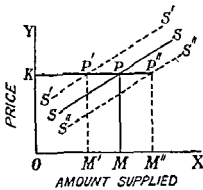
PRICE

AMOUNT SUPPLIED

चित्र ३५

विद्यार्थियों को सावधानी के साथ 'पूर्ति की मात्रा में वृद्धि' तथा 'पूर्ति में वृद्धि' का अन्तर जान लेना चाहिए। 'पूर्ति में वृद्धि' का अर्थ यह है कि पूरा पूर्ति वक्र दाहिनी ओर एक नए स्थान को ग्रहण कर लेता है। यह पूर्णतया एक नया वक्र है। परन्तु 'पूर्ति की मात्रा में वृद्धि' का अर्थ केवल यह है कि ऊँची कीमत पर अधिक बिक्री

के लिए प्रस्तावित किया जा रहा है। पूर्ति वक्र वही रहता है। उसी वक्र के साथ-साथ चलना केवल कीमत के परिवर्तन के साथ पूर्ति की मात्रा में परिवर्तन बतलाता है। यह पूर्ति की अनुसूची अथवा पूर्ति की स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं प्रस्तुत करती।

पूर्ति को कीमत के परिवर्तन से समायोजित होने के लिए समय लगने के दृष्टिकोण से हम तीन प्रकार की पूर्तियों में भेद कर सकते हैं--

(i) बाजार पूर्ति (Market Supply)—यह क्षणिक पूर्ति होती है और इसमें पूर्ति को माग में परिवर्तन से समायोजित होने का समय नहीं मिलता। ऐसी कोई अत्यल्प कीमत नहीं है जिससे कम पर विक्रेता विक्रय नहीं करेंगे। माँग को स्थिर मानकर कीमत विक्रेताओं की अपनी पूरी राशि अथवा उसके कुछ भाग को बेचने की लालसा पर पूर्णतया निर्भर होगी।

(ii) अल्पकालीन पूर्ति (Short period Supply)—यह उस पूर्ति को सूचित करता है जो वर्तमान उत्पादन के साधनों के द्वारा ही की जा सकती है। इसमें आवश्यकता के अनुसार उद्योग को बढ़ाने या घटाने का समय नहीं होता।

(iii) दीर्घकालीन पूर्ति (Long term Supply)—इसमें उद्योग को बढ़ाने अथवा घटाने में काफी समय लगता है। इसमें पुरानी कलों की जगह नई कलों को बनाने तथा उनके प्रयोग का समय होता है अथवा यदि आवश्यकता हो तो मौजूदा कलों की शक्ति बढ़ाने का समय होता है।

१० पूर्ति में परिवर्तन के कारण (Causes of Changes in Supply)—पूर्ति में वृद्धि अथवा कमी कई कारणों से होती है।

सर्वप्रथम तो उत्पादन के विभिन्न साधन जैसे कच्चा माल आदि की कीमतों में वृद्धि से किसी वस्तु की उत्पादन लागत बढ़ जाती है। उससे पूर्ति की मात्रा कम हो जाएगी। इसके विरुद्ध उन साधनों की कीमत में कमी होने पर उत्पादन बढ़ जाएगा और फलस्वरूप पूर्ति भी बढ़ जाएगी।

दूसरे, जहाँ तक कृषि जन्य उत्पादों का सम्बन्ध है, अच्छी वर्षा, सिंचाई में उन्नति, खाद की अधिक पूर्ति और उत्पादन की उन्नतिशील रीतियों के प्रयोग से स्वभावत पूर्ति में वृद्धि होगी। इसके विपरीत यदि वर्षा नहीं होगी, अथवा बाढ़, आग, नाशक कीट, तूफान या भूचालों का प्रकोप होगा तो पूर्ति कम हो जाएगी। भारत में अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन के फलस्वरूप खाद्य में वृद्धि हुई।

तीसरी बात यह है कि टेक्नीक (technique) में उन्नति होने से उत्पादन की लागत में कमी आती है और इससे पूर्ति बढ़ जाती है। दूसरी ओर वस्तु के उत्पादन पर अथवा उत्पादन के साधनों पर अधिक कर लगने से पूर्ति में कमी हो जाती है।

चौथी बात यह है कि यदि आयतों की मात्रा को बढ़ाया जाए तथा परिवहन और संचार को प्रोत्साहन दिया जाए, तो इन साधनों में उन्नति से किसी वस्तु की पूर्ति में वृद्धि हो जाती है। पर यदि परिवहन की सुविधाओं के कारण निर्यात को प्रोत्साहन मिलता है तो पूर्ति में कमी हो जाती है।

पाँचवीं यह है कि राजनैतिक उथल पुथल अथवा युद्ध से व्यापार की दशा बदल जाती है और इससे बहुत सी वस्तुओं की कमी हो जाती है।

छठी यह कि उत्पादकों के किसी आपसी समझौते से जान-बूझकर भी वस्तु की पूर्ति कम की जा सकती है। पूर्ति का कुछ भाग कीमत बढाने के अभिप्राय से नष्ट कर दिया जा सकता है। महान् मन्दी के दिनो म उत्पादको के अन्तर्राष्ट्रीय समझौते के द्वारा रबर, चाय और दूसरी वस्तुओ का उत्पादन नियन्त्रित कर दिया गया था। ब्राज़ील मे तो इसलिए बडी मात्रा म कहवा समुद्र म फेक दिया गया था।

अन्त में, उत्पादन, विक्रय व आयात पर लगने वाले करों का भी पूर्ति पर बडा प्रभाव पडता है। अपने देश में किसी वस्तु के उत्पादन को प्रोत्साहन देने के लिए किसी देश की सरकार उस वस्तु के विदेशों से आयात पर भारी आयात कर लगाकर उसकी पूर्ति को कम कर देती है। स्वास्थ्य की दृष्टि से कभी-कभी सरकार कुछ वस्तुओं के उत्पादन पर नियन्त्रण लगा देती है जैसे भारत म अफीम पर।

माँग व पूर्ति पर प्रभाव डालने वाली बातें (Factors effecting both Demand and Supply)—अभी तक हमने केवल उन बातो का अध्ययन किया है जिनका प्रभाव केवल माँग पर या केवल पूर्ति पर पडता है। पर कुछ बातें ऐसी भी हैं, जिनका प्रभाव एक ही समय में माँग व पूर्ति दोनो पर पडता है—

(i) **द्रव्य आय में परिवर्तन** (Change in Money Incomes)—मुद्रा-विस्तार (inflation) के दिनो म लोगों की द्रव्य आय बढ जाती है। ऐसी परिस्थितियो में वस्तुओं की माँग बढ जाती है। इसका प्रभाव पूर्ति पर भी पडता है। कीमत मे वृद्धि से लाभ उठाने के अभिप्राय से पूर्ति भी बढती है। मुद्रा सकुचन (deflation) के दिनो में जब द्रव्य की मात्रा कम हो जाती है, तो कीमतें गिर जाती हैं। इसम माँग तो बढती है पर पूर्ति कम होने लगती है।

(ii) **तकनीक में सुधार** (Improvement in Technique)—जहाँ तकनीक और प्रावैधिक पद्धति म उन्नति हो जाती है, वहाँ उत्पादन का परिणाम और पूर्ति बढ जाती है। फलस्वरूप वस्तुएँ सस्ती हो जाती हैं और लोगो की वास्तविक आय बढ जाती है। पर हम यह देख चुके हैं कि वास्तविक आय मे किसी प्रकार के परिवर्तन से माँग म भी परिवर्तन हो जाता है।

(iii) **मजदूरी में वृद्धि या कमी** (Wage induced Inflation or Deflation)—यदि मजदूरी बढती है तो श्रमिक की क्रय शक्ति मे वृद्धि हो जाती है। इससे माँग बढ जाती है। पर मजदूरी की वृद्धि का प्रभाव उत्पादन लागत के बढ जाने के कारण वस्तु की पूर्ति पर भी पडता है।

(iv) **क्रेताओं की रुचि और प्रतिष्ठा तथा क्रेताओ और विक्रेताओ की आय** मे परिवर्तन से माँग व पूर्ति प्रभावित होगे।

(v) **सामाजिक अथवा राष्ट्रीय धन का आकार तथा वितरण** (Size and Distribution of Social or National Wealth)—यदि धन का वितरण समान होता है तो कुछ व्यक्ति कम धनी तथा कुछ कम निर्धन हो जाते हैं। इस प्रकार लोगो की क्रय-शक्ति पर बडा प्रभाव पडता है जिससे माँग भी प्रभावित होती है। और माँग में इन परिवर्तनों के फलस्वरूप वस्तु की पूर्ति मे भी परिवर्तन हो जाता है।

११ एक विचित्र पूर्ति वक्र (A Peculiar Supply Curve)—पूर्ति का साधारण नियम यह बताता है कि ऊँची कीमत पर पूर्ति की मात्रा अधिक होगी। पर कभी कभी ऐसा भी होता है कि एक सीमा तक तो यह सम्बन्ध देखने म आता है लेकिन उसके बाद सम्बन्ध उलट जाता है अर्थात् ऊँची कीमत पर पूर्ति कम होगी। श्रम के सम्बन्ध म ऐसा देखने म आ सकता है। मजदूरी बढ़ने पर लोग अधिक काम करने को प्रोत्साहित होते हैं। लेकिन एक सीमा के बाद लोग काम की अपेक्षा आराम को ज्यादा पसन्द करते हैं। ऊँची मजदूरी मजदूरों को छुट्टी लेने के योग्य बना देती है और काम के घण्टों को कम कर देती है।

ब्याज की दर का भी ऐसा प्रभाव हो सकता है। साधारणत ब्याज की ऊँची दर से बचत मे वृद्धि होती है। लेकिन कुछ लोग ऐसे हैं जो एक बँधी रकम बचाना चाहते हैं। इसलिए ब्याज की दर जब ऊँची होगी तो वे कम बचत करेंगे। इसे पूर्ति वक्र के पीछे की ओर के घुमाव मे समझाया जा सकता है। और इसे इस तरह दिखाया जा सकता है।

चित्र ३६
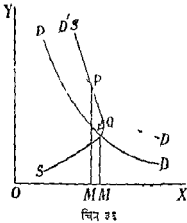
D D प्रारम्भ का माँग वक्र है और D D नया माँग वक्र है, जिससे माँग में वृद्धि दिखाई गई है। SS पूर्ति वक्र है। Q बिन्दु तक ऊँची कीमत के कारण पूर्ति भी बढ़ती जाती है। किन्तु इसके बाद विपरीत स्थिति आ जाती है। P एक बिन्दु ऊँची माँग वक्र पर है और कीमत PM से P M तक ऊँची जा चुकी है। किन्तु पूर्ति OM से OM' तक घट चुकी है।

अध्याय १८

पूर्ण प्रतियोगिता में अल्पकालीन मूल्य निर्धारण

(Pricing Under Perfect Competition in the Short Run)

१ साम्यावस्था (Equilibrium)—कभी-कभी आधुनिक अर्थशास्त्र को साम्यावस्था सम्पन्न विश्लेषण कहा गया है। सन्तुलन की स्थिति को साम्यावस्था कहते हैं। जब परस्पर विरोधी दिशाओं म कार्य करने वाली शक्तियां परस्पर समान हो जाती है वह वस्तु जिसे वे प्रभावित करती हैं, साम्यावस्था की स्थिति म कही जाती है। एक पत्थर के टुकड़े को रस्सी म बांधकर हवा मे हिला दीजिए, तो वह इधर-उधर झूलने के उपरान्त एक जगह स्थिर हो जाएगा, बशर्ते कि उसे फिर से न हिलाया जाए। अब पत्थर साम्य की स्थिति में है। इस विशेष प्रकार की साम्यावस्था को स्थायी साम्यावस्था (stable equilibrium) कहते हैं, क्योंकि पदार्थ हिलाए जाने के उपरान्त अपनी पूर्व-स्थिति म आने का प्रयत्न करता है। जब साधारण गड़बड़ स अधिक गड़बड़ होती है जिससे मूल स्थिति नहीं आ पाती तो ऐसी अवस्था को अस्थिर साम्यावस्था (unstable equilibrium) कहते हैं। तटस्थ साम्यावस्था (neutral equilibrium) की अवस्था उस समय होती है जब गड़बड़ पैदा करने वाले हालात न तो उसे मूल स्थिति म लाते हैं और न उसे उससे आगे बढ़ाते हैं। वह जैसी होती है वैसी ही रहती है। पीगू (Pigou) ने इन तीन स्थितियों की विवेचना इस प्रकार की है स्थिर साम्यावस्था उस जलपोत के समान है जिसकी तली मे भारी शहतीर (keel) हो, पड़े हुए अण्डे की स्थिति तटस्थ साम्यावस्था की हुई, और यदि अण्डा एक ओर खड़ी स्थिति म रखा हो तो यह स्थिति अस्थिर साम्यावस्था की हुई। साम्यावस्था को उस समय एकांगी (partial) कहते हैं जब यह सीमित आँकड़ों (limited data) पर आधारित होती है परन्तु पूरे आँकड़ों पर आधारित होने से साम्यावस्था सामान्य (general) कहलाती है।

स्थिर (static) अर्थ-व्यवस्था का सिद्धान्त साम्यावस्था की व्याख्या इस प्रकार करता है कि मौजूदा आँकड़े निर्धारित समय म तबदील नहीं होंगे। ये आँकड़े आबादी, आय तथा लोगों की रुचि, टैक्नीकल ज्ञान की स्थिति तथा स्रोतों आदि के आकार तथा गठन हैं। आर्थिक स्थिति या तो बदलती नहीं अथवा क्रमश बार-बार बदलती है। गतिशील (dynamic) अर्थशास्त्र का सिद्धान्त साम्यावस्था का अध्ययन नहीं करता बल्कि वह तो उन आर्थिक शक्तियों का जो अन्तिम ध्येय तक पहुँचने से पूर्व हैं और इस मार्ग मे गुजरती हैं, अध्ययन करता है। रॉबिन्सन के अनुसार "हम स्थिर नियमों का अध्ययन करते हैं (अर्थात् स्थिर अर्थशास्त्र का) जिससे गतिशील अर्थशास्त्र के परिवर्तन वाले नियमों को समझ सकें।"[1]

---

1 'We study the laws of rest (i e static Economics in order to understand the laws of change in Dynamic Economics —Robbins

२. माँग और पूर्ति की साम्यावस्था (Equilibrium of Supply and Demand)—साम्य का विचार माँग और पूर्ति पर लागू किया गया है। य दो शक्तियाँ विरोधी दिशाओं मे कार्य करने वाली हैं। अधिक पूर्ति कीमत मे कमी लाती है और माँग की अधिकता मे वृद्धि उत्पन्न करती है। जब विरोधी दिशाओं में इन दोनों शक्तियों का सन्तुलन स्थापित हो जाता है तो वे किसी उस एक मूल्य को ही बनाए रखने का प्रयत्न करती हैं, जिसे साम्य कीमत (equilibrium price) कहते हैं।

निम्न तालिका सेवों की माँग और पूर्ति को मिलाती है और यह दिखलाती है कि किस प्रकार इन दो विरोधी शक्तियों के बीच साम्य होता है।

कीमत प्रति दर्जन	माँग की मात्रा (दर्जनों म)	पूर्ति की मात्रा (दर्जनों में)
७	४	४०
६	७	३३
५	१२	११
४	१५	२६
३	२३	२३
२	२६	१६
१	३८	१०

इस सूची से यह पता चलता है कि जब कीमत ३ रुपया प्रति दर्जन है, तब पूर्ति की मात्रा २३ दर्जन है, और २३ दर्जन ही माँगी जाती है। पूर्ति माँग के बराबर है। अत साम्य-मूल्य (equilibrium price) ३ रुपये है। किसी प्रकार भी इस कीमत मे कोई बाधा उन शक्तियों को क्रियाशील बना देगी और वे उसी कीमत को फिर से स्थिर करने का प्रयत्न करेगी। उदाहरणार्थ यदि कीमत बढकर ४ रुपया प्रति दर्जन हो जाती है तो पूर्ति २६ दर्जन हो जाएगी जबकि माँग केवल १५ दर्जन ही रह जाएगी। सीमित माग को अपने हाथ मे करने के लिए बेचने वालों मे होने वाली प्रतियोगिता कीमत को साम्य पर ला देगी। अत ३ रुपए साम्य-कीमत है। २३ दर्जन साम्य की मात्रा (equilibrium amount) कहलाती है जिसे साम्य कीमत पर खरीदा और बेचा जाता है।

चित्र ३७
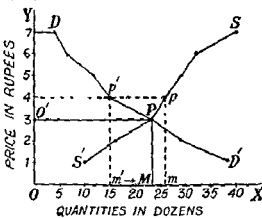
रेखाचित्र ३७ इसी बात पर प्रकाश डालता है। माँग और पूर्ति की वक्र रेखाएँ, जो उपर्युक्त उदाहरण द्वारा प्रस्तुत की गई है, एक साथ दिखाई गई हैं।

दोनों वक्र रेखाएँ एक दूसरे को P स्थान पर काटती हैं जो कि दोनों वक्र रेखाओं पर पड़ता है। PM एक लम्ब है जिसे OX पर खींचा गया है तथा OP लम्ब OY पर खींचा गया है। PM (=BB'=३) रुपए साम्य मूल्य है।

यदि कीमत P'M' (४ रुपये) प्रति दर्जन बढ़ जाता है तो मांग OM' (=१५) पूर्ति OM (=२६) से नयी कीमत में कम हो जाएगी। कीमत का साम्य PM (=३ रुपये) से नीचे गिर जाएगा। यदि कीमत २ रुपये रह जाती है, तो जब कि इस कीमत पर मांग पूर्ति से अधिक होगी तो इसके विपरीत होगा। क्रेताओं में होने वाली प्रतियोगिता इसे साम्य-कीमत अर्थात् ३ रुपये तक ऊँचा उठा देगी।

देश की अर्थ-व्यवस्था पर बाजार की कीमत के प्रभाव (Functions of Price Mechanism)—इससे यह स्पष्ट है कि आर्थिक व्यवस्था के अन्तर्गत मार्केट प्राइस (बाजार कीमत) दो मुख्य कार्य करना है—

(i) यह मौजूदा सप्लाई को खरीदारों में बाँटता है, जिससे वे सब जो यह कीमत अदा करने के लिए तैयार होते हैं माल खरीद सकते हैं, तथा

(ii) सीमित सप्लाई को कालावधि में बाँटना है। मार्केट प्राइस (कीमत) इन प्रभावों को किस प्रकार किफायत, कार्यपटुता तथा व्यापक रूप में कार्यान्वित करती है, यह राशन प्रणाली की असुविधाओं, खर्चीली तथा अपटु व्यवस्था से स्पष्ट है।

३ अल्पकालीन और दीर्घकालीन साम्यावस्था बनाम व्यवसाय संस्था एवं उद्योग (Equilibrium Short term and the Long term, the Firm and Industry)—मूल्य सिद्धान्त के अन्तर्गत हम किसी व्यवसाय संस्था को साम्यावस्था में कहेंगे यदि उसका सकल लाभ अधिकतम है। किसी व्यवसाय संस्था के लाभ को हम उस समय अधिकतम कहेंगे जब वह संस्था अपने उत्पादन को न तो बढ़ाना चाहती हो और न घटाना चाहती हो, और यदि वह संस्था उत्पादन की मात्रा में तनिक भी परिवर्तन करे तो ऐसी शक्तियां अपना प्रभाव डालना प्रारम्भ कर देंगी कि उत्पादन प्रारम्भिक अवस्था पर पहुँच जाएगा। यदि उत्पादन साम्यावस्था से कम है तो उत्पादन को साम्यावस्था तक बढ़ाकर लाभ की मात्रा को बढ़ाया जा सकता है, और यदि उत्पादन साम्यावस्था से अधिक है, तो व्यवसाय संस्था उत्पादन को घटाकर भी अपना लाभ बढ़ा सकती है।

किसी उद्योग के लिए साम्यावस्था की स्थिति उस समय आती है जबकि उस उद्योग की कीमतों के चढ़ाव में कोई रुचि नहीं रहती। न उसकी रुचि उत्पादन के स्तर में परिवर्तन करने की रहती है। ऐसी स्थिति उस समय उत्पन्न हो जाती है जबकि मौजूदा व्यवसाय संस्थाओं की अपने उत्पादन का स्तर बदलने में कोई रुचि नहीं रहती और न नई व्यवसाय संस्थाएँ उस उद्योग में व्यवसाय करने के लिए रुचि प्रदर्शित करती हैं।

साम्यावस्था अल्पकालीन भी हो सकती है और दीर्घकालीन भी। अल्पकालीन साम्यावस्था में हम मान लेते हैं कि उद्योग की उत्पादन-क्षमता (plant size) स्थिर है। समय इतना अल्प होता है कि नई व्यवसाय संस्थाओं के लिए उद्योग में प्रवेश करना सम्भव नहीं होता, और न उद्योग की वर्तमान व्यवसाय संस्थाओं को नये तौर

से कारखाने खड़े करने का अवसर होता है। किन्तु इसका यह अर्थ भी नहीं है कि अल्पकाल में उत्पादन में वृद्धि नहीं की जा सकती। वे (फर्में) अपनी मशीनों आदि से अतिरिक्त प्रयोग के द्वारा अपना उत्पादन बढ़ा सकती हैं। उदाहरणार्थ, जहाँ पहले एक पारी (shift) म काम होता था वहाँ दो पारियों मे काम करके उत्पादन को बढ़ाया जा सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि इस प्रकार से उत्पादन में वृद्धि नई निर्माणी (plant) का फल नहीं होता। इस प्रकार अल्पकालीन साम्यावस्था उस अनुकूल स्थिति का परिणाम है जो किसी निर्माणी (plant) की निश्चित उत्पादन क्षमता पर निर्भर करती है।

दीर्घकालीन साम्यावस्था का अर्थ उस स्थिति से है जिसमें आर्थिक शक्तियों को पूर्ण और स्वतन्त्र समायोजन करने का अवसर रहता है। अल्पकाल मे यदि माँग बढ़ जाती है तो बढ़ी हुई माँग की पूर्ति तभी हो सकती है जबकि स्थापित निर्माणी (plant) से अधिक काम लिया जाए। किन्तु यदि माँग निरन्तर बढ़ी हुई बनी रहे तो निर्माणी म अतिरिक्त मशीनें आदि लगाकर उसम वृद्धि की जा सकती है। दीर्घकालीन साम्यावस्था म उत्पादन-क्षमता और स्टॉक निरन्तर बदलते रहते हैं।

इस आधार पर हम कीमत निर्धारण की प्रक्रिया का (i) प्रचलित बाज़ारू कीमत, (ii) अल्पकालीन सामान्य कीमत, तथा (iii) दीर्घकालीन सामान्य कीमत नामक शीर्षकों के अधीन अध्ययन कर सकते हैं।

(१) प्रचलित या बाज़ारू कीमत (market price) वह कीमत है जो किसी समय पर प्रचलित होती है। यह कई घटनाओं का परिणाम होती है। समय इतना कम होता है कि अतिरिक्त पूर्ति के लिए मौजूदा स्टॉक मे से ही व्यवस्था करनी होगी। समय की कमी के कारण निर्माणी (plant) से अधिक काम लेकर भी तो उत्पादन की मात्रा म विशेष वृद्धि सम्भव नहीं होती।

(२) अल्पकालीन सामान्य कीमत (short term normal price) उस समय प्रचलित होगी जबकि उत्पादकों को इतना समय दे दिया गया है कि वे नई माँग को अपनी स्थिर निर्माणी (plant) की उत्पादकता क्षमता के अनुरूप समायोजित कर सकें। इसलिए अल्पकालीन व्यवस्था में कीमतों के ऊपर पूर्ति की मात्रा का अत्यधिक प्रभाव पड़ता है, किन्तु प्रचलित या बाज़ारू कीमत (market price) की अवस्था में पूर्ति का कीमत के ऊपर इतना प्रभाव नहीं रहता, यद्यपि इतना निश्चित है कि कीमतों के ऊपर माँग का प्रभाव पूर्ति के प्रभाव से अवश्य ही अधिक होता है।

(३) दीर्घकालीन सामान्य कीमत (long term normal price) का सम्बन्ध माँग और पूर्ति के स्वतन्त्र और पूर्ण समायोजन से है। इसका अर्थ यह है कि दीर्घकालीन सामान्य कीमत के निर्धारण में पूर्ति का प्रभाव अधिक पड़ता है क्योंकि यदि अतिरिक्त पूर्ति की आवश्यकता पड़ी, तो वह अतिरिक्त निर्माणी की व्यवस्था से ही पूरी होगी। किन्तु इस अध्याय मे हम केवल प्रचलित या बाज़ारू कीमत (market price) के अध्ययन तक ही अपने आपको सीमित रखेंगे।

४ प्रचलित कीमत (Market Price)—एक निश्चित समय पर माँग तथा पूर्ति की प्रतियोगी शक्तियों में साम्य के परिणामस्वरूप अल्पकालीन कीमत निर्धारित

होती है। अल्पकालीन कीमत या प्रचलित कीमत वह कीमत होती है जो एक बाजार में किसी विशिष्ट दिन में प्रचलित होने का प्रयत्न करती है। यह उस समय की माँग तथा पूर्ति मे होने वाले परिवर्तनो के द्वारा प्रभावित होती है। यह प्रभाव अस्थायी तथा क्षणिक होता है। दूसरे दिन अथवा दूसरे घण्टे मे ही माँग और पूर्ति अथवा माँग या पूर्ति भिन्न हो सकती है। इस प्रकार अल्पकालीन कीमत अस्थिर घटनाओ तथा थोडे काल की शक्तियो का परिणाम है। अतएव अल्पकालीन कीमत प्रति दिन तथा प्रति घण्टे बदलती रहती है।

मार्केट प्राइस (बाजार कीमत) को निर्धारित करने में प्रतिस्पर्द्धा का बडा हाथ है। बेचने वालो मे स्पर्द्धा होने से कीमतें कम हो जाती हैं और इसके विपरीत खरीदारो में स्पर्द्धा होने से कीमतें बढ जाती हैं। परन्तु सचाई यह है कि न तो सभी बेचने वाले और न सभी खरीदार ऐसा प्रभाव डालते हैं। यह तो सीमान्त खरीदार और सीमान्त बेचने वालो के लिए है जिन्हे प्रचलित या बाजारू कीमत से सन्तुष्टि मिले। इस कीमत पर सीमान्त खरीदार खरीदने के लिए लालायित होते हैं। यदि कीमत जरा भी अधिक होती, तो वे कभी भी नही खरीद सकते थे। इसी प्रकार सीमान्त बेचने वाले वे हैं जो बेचने के लिए लालायित होते हैं। ज़रा कीमत कम होने पर वे कभी भी नही बेचते।

प्रचलित कीमत के निर्धारण में हम पूर्ण मार्केट (perfect market) की कल्पना करते हैं (देखिए अध्याय १६, विभाग ६)। दूसरे शब्दो मे यह माना जाता है कि सारे खरीदार और बेचने वालो के पास माँग और पूर्ति की सारी सूचना है। और वे सब इन कीमतो के विषय मे जानते हैं जो दी जा रही हैं और मान्य हैं। वास्तविक जगत् म ऐसी सम्भावना बहुत कम जगह है। ऐसी स्थिति में सही प्रचलित कीमत (market price) सीधे तौर पर नही बनती। पहले कुछ सौदे होते हैं, जो कि वास्तविक कीमत से थोडा कम-ज्यादा कीमत पर तय होते हैं और इसके पश्चात् होते-होते, व्यापारी सही कीमत (true price) पर पहुँच जाते हैं जिस पर बाजार मे अधिकतर सौदे होते हैं।

शुद्ध प्रतियोगी मार्केट में, बेचने वालो और खरीदारो को कीमत ही मार्ग-दर्शन कराने वाला साधन है, क्योकि किसी भी खरीदार को किसी खास बेचने वाले से लगाव नही होता और न बेचने वाले को खरीदार से। चूंकि प्रत्येक बेचने वाले के लिए मार्केट प्राइस निश्चित होती है और यह धारणा की जाती है कि वह इस कीमत पर सारी पैदावार बेच देगा, तो फिर उसे क्या पडी है कि वह कीमत गिरा दे यद्यपि उसकी रक्षित कीमत (reserve price) मार्केट प्राइस से कम हो। यदि रक्षित कीमत मार्केट प्राइस से अधिक हो, तो वह कुछ भी नही बेच पाएगा, क्योकि जहाँ तक एक व्यक्तिगत दुकानदार का सवाल है उसके माल की माँग पूरे तौर पर लोचदार है।

सप्लाई मे सम्पूर्ण परिवर्तन तथा/अथवा माँग मे पूर्ण परिवर्तन क्रमश. तभी होगा जबकि बहुत से बेचने वाले अपनी रक्षित कीमत बदल दें तथा/अथवा बहुत से खरीदार अपने खरीदने की मात्रा के निर्णय को जो वे विभिन्न कीमतो पर खरीदने को

तैयार है बदल दें। यदि माग बेलोचदार (inelastic) हुई तो मार्केट प्राइस तेजी से गिरेगी और पूर्ति (supply) बढेगी।

जहा तक बेचने वाले के पास पहले से खरीदे गए माल का सवाल है कोई भी समझदार बेचन वाला अवसर लागत (opportunity cost) को लागत नही मान बैठगा। पिछले खर्च मौजूदा विकल्पो (alternatives) या लागतो—पर प्रभाव नही डाल सकत। वह यह नहीं सोचेगा कि उसने कल क्या खच किया (भूतकाल मे) बल्कि यह सोचेगा कि उसे कल क्या प्राप्ति होगी (भविष्य की कीमत के बारे में)। यदि भविष्य की कीमतें ऊची होने की आशा है तो वह स्टाक जमा करेगा यही नही बल्कि वह भविष्य क लिए और खरीदेगा। परन्तु यदि भविष्य म कीमतें गिरने का रुख है तो वह सारा स्टॉक बेच देगा और भविष्य के लिए भी कुछ बचाकर नही रखेगा।

अब हम यह देखेंग कि विशिष्ट प्रकार की वस्तुओ की कीमतें किस प्रकार निर्धारित होती ह।

५ जब वस्तु सडन वाली होती है (When the Commodity is Perishable)—एक उदाहरण इसे स्पष्ट कर देगा। मान लीजिए कि मछली जैसी सडन वाली वस्तु की १०० सेर की मात्रा बाजार म लाई जाती है। यह मात्रा किस कीमत पर बिकी ज एगी। चूकि वस्तु सडन वाली है इसलिए सब मात्रा उसी दिन बेच देनी होगी। हम कल्पना कर लेत ह कि मछली के बेचने वालो म निजी माँग उसके लिए कुछ नही है। कुछ मछली के उपभोक्ता ऐसे होग जो शायद ५ रुपए प्रति सेर की कीमत देन को तत्पर हो जाएँग बजाय इसके कि मछली का उपभोग न करें क्योंकि मछली की सीमान्त उपयोगिता उनके लिए बहुत अधिक है। परन्तु इस कीमत पर शायद केवल पाच सेर मछली बेची जा सकेगी। इसी प्रकार अनेको ऐसे उपभोक्ता होग जो अपनी सीमान्त उपयोगिता के अनुसार कम कीमत देन को तत्पर होग। हम इस बाजार की माँग तालिका बनाते ह। यह कुछ कुछ इस प्रकार होगी—

कीमत प्रति सेर रुपए म	माँग की मात्रा सेरो म
५—०—०	५
४—०—०	७
३—०—०	१२
२—०—०	२०
१—०—०	४०
५० नए पैसे	६०
२५	८०
१६	१००
६	१५०

अन्त में कीमत १६ न० पै० प्रति सेर पर निश्चित हो जाएगी। क्योंकि इसी कीमत पर सारी मछली बिक जाएगी। ये उपभोक्ता जिनकी मछली की सीमान्त

उपयोगिता १९ न० पै० के बराबर है, सीमान्त उपभोक्ता होंगे और यदि सब मछली को बेचना है तो उन्हें आकर्षित करना आवश्यक है। परन्तु क्योंकि पूर्ण बाजार (perfect market) में एक वस्तु की एक ही कीमत हो सकती है, इसलिए मछली की कीमत १९ न० पै० प्रति सेर होगी। धनी मनुष्य भी जो ५ रुपये सेर देने को तत्पर थे, उसी दर पर खरीदेंगे। उन्हें ४ रु० ८१ न० पै० उपभोक्ता की बचत प्राप्त होगी।
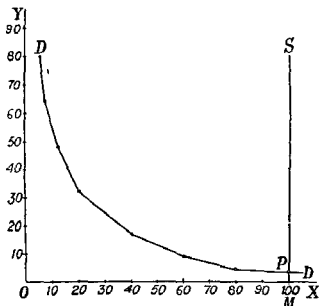
चित्र ३८

ऊपर दिया हुआ चित्र यह स्पष्ट करता है कि मछली की अल्पकालीन कीमत कैसे निर्धारित होती है।

मात्रा को OX पर तथा कीमत को OY पर दिखाया गया है। क्योंकि पूर्ति स्थायी है। इसलिए पूर्ति वक्र SM OY के समानान्तर होगा।

पूर्ति तथा माग वक्रो के मिलने के बिन्दु को P कहा गया है। इसलिए PM अल्पकालीन कीमत होगी जिस पर १०० सेर मछली बेची जाएगी। PM = १९ नये पैसे।

६ लचकदार पूर्ति (Flexible Supply)—जब वस्तु सड़ने वाली न हो तो यह सचय की जा सकती है। ऐसा तब होता है जब विक्रेताओं को भविष्य म अच्छी कीमत की आशा हो। उस दशा म विक्रय के लिए मात्रा निश्चित नही होगी। यह कीमत के साथ बदलेगी। खिलौनो का उदाहरण लीजिए। माँग के वे ही अक लेकर हम खिलौनो के लिए भी एक पूर्ति-तालिका तैयार कर सकते हैं। यदि कीमत बहुत अधिक है (माना ५ रुपय) तो सम्पूर्ण मात्रा बाजार म विक्रय की जाएगी। परन्तु यदि कीमत गिरती है तो कुछ विक्रेता दूसरे दिन की प्रतीक्षा करेंगे अथवा खिलौनो को अपने बच्चो के लिए रख देंगे। उस दशा म खिलौनो के लिए विक्रेताओ की सीमान्त उपयोगिता न्यूनतम होगी जिसके नीचे वे कोई कीमत स्वीकार नही

करेंगे। जिस कीमत पर बेचने वाले अथवा स्टॉक खरीदने को तैयार रहते हैं उसे रक्षित कीमत (reserve price) कहते हैं। लचकदार पूर्ति की स्थिति में उत्पादकों की अपने माल की माँग मात्रा के रूप में (quantitatively) महत्त्वरहित होती है, इसलिए इसे छोड़ा जा सकता है। यहाँ अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उत्पादन कितना किया जाए और जब माल का उत्पादन ही नहीं किया जा सके अथवा सप्लाई निश्चित हो तो यह प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिए लागत (cost) ही मूल कारण है जिससे सप्लाई निश्चित होती है। इस तरह पैदावार बढ़ने से सामान्य रूप में लागत प्रति इकाई बढ़ेगी। अतः पूर्ति वक्र साधारण रूप से ऊपर की तरफ चलता है, बाएँ से दाएँ की ओर। अतः

कीमत प्रति खिलौना (आनों में)	खिलौनों की माँग की मात्रा	खिलौनों की पूर्ति की मात्रा
८०	५	१००
६४	७	९०
४८	१२	८०
३२	२०	७०
१६	४०	६५
८	६०	६०
४	८०	४०
३	१००	२०
१	१५०	१०

मोल भाव के बाद कीमत की प्रवृत्ति ८ आना या ५० नये पैसे प्रति खिलौना निर्धारित होने की होगी। यह कीमत उस कीमत से अधिक है जिस पर मछली बेची गई थी क्योंकि खिलौने के विक्रेता प्रतीक्षा कर सकते थे। ४० खिलौनों के रखनेवालों ने इस कीमत पर बेचना अस्वीकार कर दिया है। वे अच्छे समय की प्रतीक्षा करेंगे अथवा उनमें से कुछ खिलौने अपने बच्चों को देना पसन्द करेंगे, बजाय इसके कि कम कीमत स्वीकार करें।
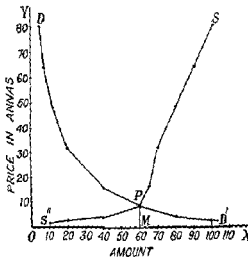
चित्र ३६

८ आने या ५० नये पैसे ऐसी कीमत है जो खिलौनों के उस विशिष्ट बाजार

मे उस विशिष्ट दिन की पूर्ति तथा माँग में साम्य का परिणाम है। आगे दिया हुआ वक्र यह दिखाता है कि खिलौनो के सम्बन्ध म साम्य कीमत कैसे स्थापित होगी।

पहले की तरह OY पर कीमत तथा OX पर मात्रा (इकाइयो में) दिखाई गई है। S'S'' पूर्ति वक्र तथा DD माँग वक्र है। P परस्पर मिलने का बिन्दु है। MP इस प्रकार साम्य कीमत है। PM=८ आने या ५० न० पै०।

यदि यह मान लिया जाय कि माँग और पूर्ति की मात्रा म वृद्धि की कोई सीमा नही है, तो रेखाएँ ऊपर की ओर टूटी-टूटी नही होगी और वक्र सम होगे।

अभी तक हम यह समझने का प्रयत्न कर रहे थे कि कीमत किस प्रकार माँग और पूर्ति द्वारा निर्धारित होती है। पर वास्तविकता यह है कि माँग और पूर्ति स्वय अनेक बातो से निर्धारित होती हैं। माँग और पूर्ति एक प्रकार का कृत्रिम सूत्र है। "माँग और पूर्ति कीमत का अन्तिम हल नही हैं। वे तो सामान्य रूप से अन्य विभिन्न शक्तियो का विश्लेषण, कारणो तथा साधनो को बताने में सहायक सिद्ध होते हैं जिनका कीमत से सम्बन्ध रहता है।"[1]

७ निश्चित सप्लाई (Fixed Supply)—अभी तक हमने यह कल्पना की थी कि सम्बन्धित वस्तु का, चाहे वह सडने वाली हो अथवा न हो, पुन उत्पादन हो सकता है और उसकी पूर्ति लोचदार है। अब यह देखना है कि उन वस्तुओ की मार्केट कीमत, जिनका स्टॉक निश्चित है, कैसे निर्धारित होती है। यहाँ पर हम उन वस्तुओ का विचार करते हैं जिनकी पूर्ति सदैव के लिए निश्चित है। यहाँ पर वस्तुओ का स्टॉक केवल दो-एक दिन के लिए निश्चित नही है जैसे कि सडने वाली वस्तुओ का स्टॉक था। ऐसी वस्तुएँ पुरानी हस्तलिखित लिपियाँ, पुराने कलाकारो के चित्र, अद्वितीय हीरे आदि हो सकते हैं। सैद्धान्तिक दृष्टि मे ऐसी स्थितियो मे तथा उन दशाओ मे जिनका ऊपर विवेचन हो चुका है, बहुत कम अन्तर है। ऐसी वस्तुओ की कुल मात्रा निश्चित होती है। फिर भी विक्रेता प्रतीक्षा कर सकता है। अन्त म कीमत उपभोक्ताओ की सीमान्त उपयोगिता द्वारा निर्धारित की जाएगी। कीमत की न्यूनतम सीमा स्वय विक्रेता की सीमान्त उपयोगिता द्वारा निर्धारित होगी। यदि ऐसी वस्तु की केवल एक इकाई बेची जाती है तो क्रेता द्वारा लगाई गई अधिकतम कीमत उसकी अधिकतम सीमा को निर्धारित करेगी। यदि एक ही वस्तु की अनेक इकाइयाँ हैं तथा उन सब का विक्रय एक ही समय होता है, तो उपभोक्ताओ की सामूहिक रूप से सीमान्त उपयोगिता कीमत को निश्चित करेगी। ऐसी कीमत का वस्तु के उत्पादन-व्यय से कोई सम्बन्ध नही होगा। पुन उत्पादन के व्यय का प्रश्न ही नही उठता क्योकि वस्तु का पुन उत्पादन नही हो सकता। इस अवस्था म सीमान्त उपयोगिता सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है, चाहे समय अल्प हो अथवा दीर्घ।

एक न्यूनतम कीमत है जिससे कम पर बेचने वाला बेचना पसन्द नही करेगा। इसे रक्षित कीमत (reserve price) कहते हैं। इस कीमत पर वे अपने माल को

---

1 Supply and Demand are not ultimate explanations of price They are simply useful to catch all categories for analysing and describing the multitude of forces, causes and factors impinging on price'—Samuelson P A—Economics, 1948 p 462

स्वय मॉंग करते हैं। बेचने वालो की अपने माल के लिए मांग और खरीदारो की मांग मिलकर कुल मांग बनती है और निश्चित स्टाक के परस्पर प्रभाव (inter-action) से कीमत निर्धारित होती है। इस बात को निम्नलिखित रेखाचित्र द्वारा इस प्रकार समझाया गया है।

FS निश्चित सप्लाई वक्र है। DD के द्वारा बेचने वालो की मांग का पता चलता है तथा TD चिह्नांकित वक्र (dotted curve) से कुल मांग वक्र का पता
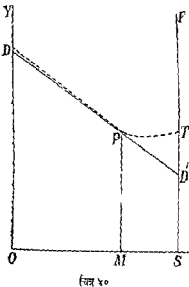
चित्र ४०

चलता है। T परस्पर प्रभाव (inter-action) का बिन्दु है जो कुल मांग तथा निश्चित सप्लाई के बीच स्थित है। लेकिन ST=PM इस प्रकार PM कीमत है तथा OM बेची गई मात्रा बताती है और MS वह मात्रा है जो न बेची गई हो।

ऐसी स्थितियाँ पुन उत्पादन योग्य वस्तुओ की स्थिति से इस बात मे भिन्न होती है कि बाद वाली स्थिति मे सीमान्त उत्पादन-व्यय अन्त म पूर्ति की वृद्धि को सीमित करता है। जब तक यह व्यय कीमत से नहीं निकलेगा, पुन उत्पादन योग्य वस्तुओ का उत्पादन रुक जायगा। प्रचलित कीमत (market price) के विपरीत सामान्य कीमत (normal price) की यह एक समस्या है। हम इस पर आगे के एक अध्याय म विचार करेंगे।

८ अल्पकालीन सामान्य मूल्य (Short Period Normal Price)—व्यवसाय सस्था की साम्यावस्था (the equilibrium of the firm) का सिद्धान्त इस धारणा पर आधारित है कि व्यवसाय सस्थाओ की रुचि अधिकतम लाभ प्राप्त करने की होती है। अत हमको व्यवसाय सस्था की साम्यावस्था उस बिन्दु पर मिलेगी जहाँ उसे अधिकतम लाभ मिलेगा। वही अधिकतम उत्पादन सीमा होगी जो कोई व्यवसाय सस्था किसी निश्चित निर्माणी (plant) के द्वारा उत्पादित कर सकती है।

पूर्ण प्रतियोगिता मे बाजार मूल्य व्यक्तिगत उत्पादन के लिए निश्चित होता है, उसकी उत्पत्ति से इस पर प्रभाव नहीं पडता। सीमान्त लागत बाजार मूल्य के समान होती है। सीमान्त लागत मूल्य से कम रहने पर उत्पादक उत्पत्ति बढाता रहेगा; किन्तु उत्पत्ति अधिक न बढ सकने पर सीमान्त लागत मूल्य से कम रहने से उत्पादक को साधारण लाभ होगा। मूल्य गिरने पर उत्पत्ति कम करने से सीमान्त लागत कुछ कम होगी किन्तु मूल्य से कुछ अधिक रहने पर उन्हे घाटा रहेगा, किन्तु अनियत लागत मूल्य के बराबर होने पर भी उत्पादक भविष्य की आशा से उत्पादन करते रहेंगे।

पूर्ण प्रतियोगिता में चूंकि एक उद्योग में अनेको व्यवसायी लगे रहते हैं, इसलिए किसी एक व्यवसाय सस्था का उत्पादन समस्त उद्योग के उत्पादन की मात्रा की अपेक्षा नगण्य होता है। अत. किसी एक व्यवसायी का कीमत के ऊपर नियन्त्रण नहीं रहता। यह इस नियम पर कार्य करती है कि प्रचलित कीमत पर वह जितना चाहे बेच सकती है। पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति मे किसी व्यवसाय का मांग वक्र प्रचलित कीमत पर पूर्ण लोचदार रहता है। इसलिए यदि किसी उत्पादन की इकाई से कुछ अतिरिक्त उत्पादन मिल जाता है तो वह वस्तु की कीमत के बराबर रहता है। लाभ उस समय अत्यधिक होगे जब उस अतिरिक्त उत्पादन की इकाई का उत्पादन उस अतिरिक्त लागत के बराबर है जो उस पर व्यय हुआ है। अत यह अतिरिक्त लागत सकल लागत में जुडेगी। यह लागत और सीमान्त लागत एक ही चीजें हैं। इसलिए पूर्ण प्रतियोगिता म अल्पकालीन सामान्य मूल्य उस सीमा पर स्थिर होता है जहाँ वह सीमान्त लागत के बराबर होता है। इसलिए पूर्ण प्रतियोगिता की *स्थिति मे अल्पकालीन साम्यावस्था का नियम यह है —*

कीमत = अल्पकालीन सीमान्त लागत
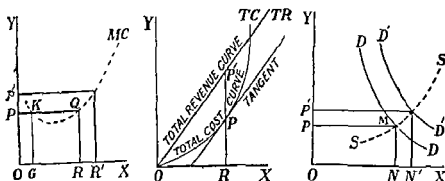
चित्र ४१

ऊपर दिए हुए रेखाचित्र (1) में MC सीमान्त लागत वक्र है। कीमत OP व्यवसाय सस्था को मिलती है, अत उत्पादन-स्तर उस बिन्दु तक पहुँचता है जहाँ कीमत और सीमान्त लागत बराबर बैठती हैं अर्थात् उत्पादन OR पर जाकर रुकता है। इस प्रकार ऊपर के रेखाचित्र (1) में कीमत रेखा, सीमान्त लागत वक्र को दो बिन्दुओ K और Q पर काटती है। अब प्रश्न यह है कि बिन्दु K और Q को साम्यावस्था के बिन्दु क्यो न माना जाए। इसका उत्तर यह है कि यद्यपि कीमत रेखा PQ, सीमान्त लागत वक्र को बिन्दु K पर भी काटता है तो भी बिन्दु K साम्यावस्था का बिन्दु नही है क्योंकि बिन्दु K पर लाभ अधिकतम नही हैं बल्कि न्यूनतम हैं। यदि उत्पादन OG से आगे बढता, तो सकल लाभ बढते क्योंकि एक उत्पादन की इकाई की अतिरिक्त लागत, कीमत के अनुसार अतिरिक्त प्राप्ति से कम होगी। इसलिए Q ही (K नही) साम्यावस्था का बिन्दु है, क्योंकि Q पर ही हमको अधिकतम लाभ की प्राप्ति होती है। इसलिए हम अल्पकालीन साम्यावस्था के लिए पूर्ण प्रति-*योगिता में निम्नलिखित नियम निर्धारित कर सकते हैं —*

कीमत=अल्पकालीन सीमान्त लागत और सीमान्त लागत बढ़ती रहनी चाहिए।

यदि कीमत बढ़कर OP तक जा पहुँचे तो (OR′) नई उत्पादन साम्यावस्था होगी।

वैकल्पिक रूप से हम व्यवसाय संस्था की साम्यावस्था को सकल राजस्व और सकल लागत वक्रों की सहायता से भी दिखा सकते हैं। ऐसी स्थिति में लाभ, सकल राजस्व और प्राप्तियाँ के बीच तथा सकल लागत के बीच का अन्तर है। जिस बिन्दु पर अन्तर अधिकतम है वह अधिकतम लाभ की स्थिति दिखाएगा। अत वही साम्यावस्था की स्थिति है।

रेखाचित्र (ii) मे TC सकल लागत वक्र है और TR सकल राजस्व वक्र है। जिस बिन्दु पर सकल लाभ अधिकतम है वह इन वक्रो पर दो स्पर्शी रेखाओं के खीचने से दिखाया जाएगा। TR सम रेखा है, अत इस पर खीची हुई स्पर्शी रेखा वही सम रेखा होगी। किन्तु TC वक्र पर खीची गई स्पर्शी रेखा TR रेखा के समानान्तर होगी और P पर स्पर्श करेगी। इस प्रकार PP दोनो वक्रो के बीच अधिकतम अन्तर है और इसलिए वही अधिकतम लाभ की स्थिति दिखाता है। इस दिशा मे उत्पादन OR है। इस स्थिति मे कीमत या राजस्व बराबर है P R/OR जो रेखाचित्र (i) के OP के समान ही होगा।

उद्योग की अल्पकालीन साम्यावस्था (Short-Term Equilibrium of the Industry)—जहाँ अल्पकालीन उद्योग का पूर्ति वक्र उद्योग के माँग वक्र को काटेगा, वही उद्योग अल्पकालीन साम्यावस्था म होगा। उद्योग के पूर्ति वक्र को तैयार करने की विधि अध्याय १७, अनुच्छेद ७ म समझाई गई थी। रेखाचित्र (iii) मे उद्योग का माँग वक्र और उद्योग का पूर्ति वक्र दोनो M बिन्दु पर काटते हैं। और OP अल्पकालीन सामान्य कीमत है और ON उद्योग का उत्पादन दिखाती है। यदि माँग वक्र D D तक पहुँच जाता है तो नई साम्यावस्था की कीमत OP होगी और उद्योग का नई साम्यावस्था का उत्पादन ON होगा।

६ कीमत नियन्त्रण तथा राशनिंग (Price Control and Rationing)[1]—हम कीमत के नियन्त्रण तथा राशनिंग को पूर्णतया जानते हैं। लड़ाई के समय मुद्रा स्फीति (inflation) तथा दूसरे कारणों से कीमतें बहुत बढ़ जाती हैं। साधारण आवश्यक पदार्थ जनसमूह के खरीदने की शक्ति के बाहर हो जाते हैं। यदि सरकार दामो पर रोक न लगाए तो भय रहता है कि कहीं असन्तोष क्रान्ति का रूप धारण न करले। राज्य की स्थिरता भग होने के डर के कारण कन्ट्रोल आवश्यक प्रतीत होने लगता है।

दामों का नियन्त्रण अधिकतर उस सीमा से बहुत नीचे होता है जो यदि माँग और पूर्ति के नियम को स्वतन्त्रता से काम करने देने म हो जाने की आशका रहती है। इस कम कीमत पर दुर्लभ प्राप्त वस्तुओं की माँग बढ़ जाती है—"यह एक सगीत

1 Samuelson, P A Economics, 1948, p 463—66

की कुर्सियो जैसी स्थिति है जिसमें किसी व्यक्ति को, आर्केस्ट्रा समाप्त होने पर खाली थैला देकर छोड दिया जाता है।" इस निम्न कीमत पर अप्राप्य वस्तुओ पर बहुत ऊपट रहती है। असुविधा तथा गडबड को रोकने के हेतु दाम का नियन्त्रण राशनिंग का रूप धारण कर लेता है। चोर-बाजारी शुरू हो जाएगी। इसकी सीमा लोगो की कर्तव्यपरायणता, देश-भक्ति तथा ईमानदारी पर अवलम्बित है। यह बहुत सीमा तक प्रशासन की शासन-क्षमता पर भी निर्भर है। राशन कूपन या राशन की पर्चियाँ उतनी ही दी जाएँ कि माँग पूर्ति से अधिक न बढने पावे ताकि माँग और पूर्ति के बीच प्रचलित कीमत पर साम्यावस्था स्थापित हो सके।

साधारण समय मे साम्यावस्था कीमत प्रणाली के द्वारा बनी रहती है। यानी कीमत माँग घटाने के हेतु बढती है। लेकिन लडाई के समय कीमत प्रणाली भग हो जाती है। या यो कहिए कि लोक-हित को आगे रखते हुए इसे काम नही करने दिया जाता। लडाई के समय मे कीमत प्रणाली का काम कीमत नियन्त्रण तथा राशनिंग द्वारा किया जाता है।

चित्र ४२

यह स्थिति चित्र द्वारा स्पष्ट हो जाती है। DD माँग वक्र है और SS पूर्ति वक्र है। उन्हे स्वतन्त्र कर देने से वे Q पर समतुल्य (equilibrate) हो जाएँगे। यह बहुत ही ऊँची कीमत है। सरकार RT रोक लगाती है (ceiling)। लेकिन इस कीमत पर माँग पूर्ति से बहुत ज्यादा बढ जाती है। यह PP' (gap) या बीच से दिखाया गया है। कीमत बढना चाहती है जो कि PP' पर तीर के द्वारा सकेत किया गया है। राशनिंग कर देने से माँग कम कर दी जाती है। घटी हुई माँग D'D' से अकित की गई है, जो पहले वक्र के बाएँ तरफ है। अब यह घटी हुई नई माँग रेखा तथा पूर्ति रेखा SS एक दूसरे को P पर काटती है। यह अधिकतम कीमत है। यहाँ दाम पर नियन्त्रण तथा राशनिंग के द्वारा साम्यावस्था (equilibrium) स्थापित की गई है।
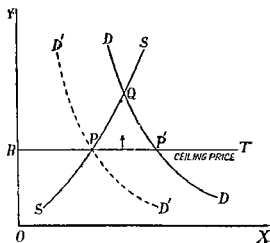
१०. माँग और पूर्ति के नियम (Laws of Demand and Supply)—अब हम इस स्थिति मे हैं कि पूर्ति और माँग के कुछ महत्त्वपूर्ण नियमो की परिभाषा कर सकें। बेन्हम (Benham) ने अपनी पुस्तक मे चार नियमो का वर्णन किया है[1]—

(१) कीमत वस्तु की उस मात्रा को, जो विक्रेता क्रय के लिए देने को तैयार हैं, व उस मात्रा को, जो ग्राहक क्रय करना चाहते है, समता की ओर ले जाती है।

1. Benham, Economics 1940, p 88

(२) साधारणतः अधिक कीमत की अपेक्षा कम कीमत पर वस्तु की अधिक मात्रा की माँग होगी। इसके विपरीत ऊँची कीमत पर नीची कीमत की अपेक्षा वस्तु की अधिक मात्रा विक्रय के लिए निकाली जाएगी।

(३) माँग में वृद्धि से कीमत बढ़ जाती है और फलस्वरूप पूर्ति की वृद्धि होती है, पर माँग गिरने से कीमत में कमी हो जाती है। इससे पूर्ति भी घट जाती है।

(४) पूर्ति की वृद्धि कीमत गिरा देती है—जिससे माँग बढ़ जाती है। पूर्ति कम हो जाने से कीमत म वृद्धि हो जाती है, जिसके फलस्वरूप माँग गिर जाती है।

यह ध्यान में रखना चाहिए कि माँग में परिवर्तन दिए होने पर (अर्थात् पूर्ति लोचदार है या बेलोचदार) पूर्ति वक्र की प्रकृति का कीमत पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। प्रो० मेयर्स (Prof Meyers) इस सम्बन्ध म इस प्रकार लिखते हैं :

"अन्य बातों के पूर्ववत् रहने पर, माँग की वृद्धि कीमत और विनिमय-मात्रा को बढ़ा देती है, और माँग की घटी से कीमत और विनिमय-मात्रा घट जाती है। माँग मे दिए हुए परिवर्तन पर, पूर्ति में जितनी अधिक लोच-शक्ति होगी, उतनी ही कम कीमत बदलेगी और विनिमय मात्रा में उतनी ही अधिक तब्दीली होगी। इसके विपरीत पूर्ति जितनी ही कम लोचदार होगी, उतनी ही अधिक कीमत में परिवर्तन होगा और उतना ही कम विनिमय मात्रा म परिवर्तन होगा।"[1] यदि पूर्ति पूर्णतः लोचदार है, तो कीमत म कोई परिवर्तन नहीं होगा। माँग म वृद्धि होने से केवल विनिमय-मात्रा में ही परिवर्तन होगा। दूसरी ओर यदि पूर्ति पूर्णतः बेलोचदार है, तो
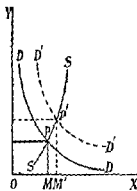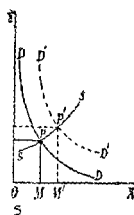
चित्र ४३ (i) चित्र ४३ (ii)

माँग के बढ़ने से कीमत बढ़ेगी लेकिन विनिमय मात्रा में कोई वृद्धि नहीं होगी। इसका रेखाचित्र ऊपर दिया गया है—

SS' पूर्ति की रेखा है और DD माँग की पुरानी रेखा और D'D' माँग की नई रेखा है जो माँग में वृद्धि दिखलाती है। माँग में परिवर्तन उतना ही है लेकिन पूर्ति की लोच में विभिन्नता है। कीमत PM से बढ़कर P'M' हो जाती है और विनिमय मात्रा

1 Elements of Modern Economics, 1951, p 130

OM से OM'। रेखाचित्र ४३ (ii) में पूर्ति कम लोचदार है किन्तु साथ ही कीमत में अधिक परिवर्तन है (अर्थात् PM से P'M' तक)। किन्तु इसके साथ ही विनिमय की मात्रा में उतना ही कम परिवर्तन है; (अर्थात् OM से OM')।

अब हम यह अध्ययन करेंगे कि माँग की भिन्न-भिन्न लोच पर, पूर्ति में परिवर्तन होने से कीमत और विनिमय-मात्रा किस तरह प्रभावित होती है। प्रो० मेयर्स ने इस सम्बन्ध में अपने निष्कर्ष को इस प्रकार लिखा है—

"अन्य बातो के पूर्ववत् रहने पर, पूर्ति में वृद्धि होने से कीमत घटती है और विनिमय-मात्रा में वृद्धि होती है। पूर्ति में घटी होने से, कीमत बढती है और विनिमय-मात्रा में कमी आती है। पूर्ति में दिए हुए परिवर्तन पर माँग में जितनी अधिक लोच होगी, कीमत में उतनी कम और विनिमय-मात्रा में उतना ही अधिक परिवर्तन होगा। इसके विपरीत, माँग जितनी कम लोचदार होगी, कीमत में उतना ही अधिक और विनिमय-मात्रा में उतना ही कम परिवर्तन होगा।"[1] यदि माँग पूर्णत. लोचदार है और पूर्ति में वृद्धि होती है तो इससे कीमत में घटी नही होगी। केवल विनिमय-मात्रा में ही वृद्धि होगी। दूसरी ओर, यदि माँग पूर्णत बेलोचदार है तो पूर्ति में वृद्धि होने से कीमत गिरेगी लेकिन विनिमय-मात्रा में कोई परिवर्तन नही होगा। इसके रेखाचित्र इस प्रकार खीचे जाएँगे।

दोनो ही चित्रों में DD माँग की रेखा है, SS पूर्ति की पुरानी रेखा और S'S' पूर्ति की नई रेखा है जो पूर्ति में वृद्धि दिखाती है। चित्र ४४ (i) में माँग की रेखा लोचदार है और चित्र ४४ (ii) में बेलोचदार। कीमत और विनिमय मात्रा में जो अन्तर पडता है वह PM से P'M' और OM से O'M' द्वारा दिखाया गया है। रेखाचित्र (ii) जो बेलोचदार माँग दिखाता है, में कीमत के सम्बन्ध में अधिक परिवर्तन है (PM से P'M') और मात्रा के सम्बन्ध में उतना ही कम परिवर्तन है (OM से OM')।
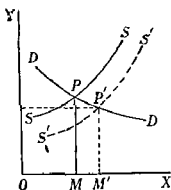
चित्र ४४ (i)
लोचदार पूर्ति के सहित माग में वृद्धि
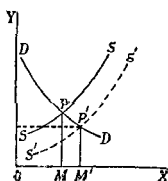
चित्र ४४ (ii)
बेलोचदार पूर्ति के सहित माग में उतनी ही वृद्धि

जब माँग और पूर्ति दोनों में परिवर्तन होता है—उपर्युक्त सिद्धान्तो को उस

1 Op cit, p 133

समय लागू करते हुए जबकि मांग और पूर्ति दोनों म ही परिवर्तन होता है, प्रो० मेयर्स ने निम्नलिखित सिद्धान्त स्थापित किए हैं[1]—

(१) जब मांग और पूर्ति दोनों ही एक दिशा की ओर चलती हैं तो कीमत पर एक-दूसरे का प्रभाव कट जाता है, और विनिमय मात्रा पर पड़ने वाला प्रभाव और तेज हो जाता है।

(२) जब माग और पूर्ति का झुकाव एक ही ओर होता है लेकिन एक में दूसरी की अपेक्षा अधिक परिवर्तन होता है, तो जिसमें अधिक परिवर्तन होता है उसका अधिक प्रभाव पड़ता है। किन्तु उसका प्रभाव कीमत पर उतना ही कम होगा और उसका प्रभाव विनिमय की मात्रा पर उतना ही अधिक होगा, लेकिन यदि दूसरी रेखा अपरिवर्तित रहे, तो उसका प्रभाव कीमत पर अधिक और विनिमय-मात्रा पर अपेक्षाकृत कम पड़ेगा।

(३) जब मांग और पूर्ति विपरीत दिशा में बदलते हैं, तो वे कीमत पर एक दूसरे के प्रभाव को प्रबल कर देते हैं और विनिमय मात्रा पर पड़ने वाले प्रभाव को काट देते हैं।

(४) जब माग और पूर्ति विपरीत दिशा म बदलते हैं लेकिन एक में दूसरे से अधिक परिवर्तन होता है तो जिस रेखा म अधिक परिवर्तन होता है उसका प्रभाव अधिक होगा। हां, यह बात अवश्य है कि दूसरी रेखा के न बदलने पर, उसका प्रभाव कीमत पर अपेक्षाकृत अधिक और विनिमय-मात्रा पर कम पड़ेगा।

अध्याय १६

पूर्ण प्रतियोगिता में दीर्घकालीन सामान्य कीमत का सिद्धान्त

(Long Term Theory of Normal Price under Perfect Competition)

१. सामान्य कीमत तथा बाजार-कीमत (Normal Price and Market Price)—पिछले अध्याय में हमने उत्पादन-व्यय के बारे में विचार किया था जिससे सामान्य या स्वाभाविक कीमत प्रभावित होती है। अब हम सामान्य कीमत का अध्ययन करेंगे। लेकिन इसके पहले हमें यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि सामान्य कीमत क्या है, और यह किस तरह बाजार-कीमत (Market price) से भिन्न है।

बाजार-कीमत मांग और पूर्ति के किसी भी पक्ष में परिवर्तन होने से बदल सकती है। एक बाजार विशेष में अत्यधिक मछलियों के आ जाने से कीमत गिर जाएगी। इसी तरह अचानक गर्मी बढ़ जाने से बर्फ की कीमत बढ़ सकती है। ये अस्थायी (temporary) प्रभाव हैं और बाजार-कीमत में क्षणिक बाधाएँ डालते हैं। इन बाधक कारणों के न होने पर कीमत एक निश्चित सतह (level) पर वापस जाने के लिए प्रयत्नशील होगी। यह सम्भव है कि यह सतह सदा के लिए निश्चित न हो। परन्तु यदि उत्पादन का परिमाण और विधि स्थिर रहते हैं तो यह एक निश्चित कीमत मानी जा सकती है जिसके चारों ओर बाजार-कीमत चक्कर काटती है। एडम स्मिथ (Adam Smith) ने इस सतह को "प्राकृतिक" (natural) कीमत और मार्शल ने इसे "सामान्य" (normal) कीमत का नाम दिया है।

अब हम सामान्य और बाजार-कीमत के बीच जो अन्तर है उसे संक्षेप में बताएँगे।

(१) बाजार कीमत वह कीमत है जो किसी एक समय में उस समय की मांग तथा पूर्ति के अस्थायी साम्य (equilibrium) के फलस्वरूप होती है।

दूसरी ओर, सामान्य कीमत, वास्तविक कीमत नहीं होती। यह वह कीमत है जिसके होने की दीर्घकाल में सम्भावना है। जब वह समय आ जाएगा तब उस समय की वास्तविक कीमत को बाजार-कीमत कहेंगे, और जिसकी आगे चलकर सम्भावना होगी, उसे सामान्य कीमत कहेंगे।

(२) बाजार-कीमत अस्थायी कारणों तथा चलायमान घटनाओं का परिणाम है जबकि सामान्य कीमत स्थायी कारणों से निर्धारित होती है। दीर्घकाल में अस्थायी कारण दूर हो जाते हैं और एक-दूसरे को तटस्थ कर देते हैं।

(३) बाजार-कीमत हर रोज या हर घंटे बदलती रहती है, लेकिन दी हुई परिस्थितियों में, सामान्य कीमत स्थिर रहती है। यह वह केन्द्र है जिसके चारों ओर बाजार-कीमत घूमती है। बाजार-कीमत यदि कभी सामान्य कीमत से दूर भी थोड़े

समय के लिए हट जाती है तो वह पुन. सामान्य कीमत की सतह पर वापिस आ जाती है।

(४) सब वस्तुओ की बाजार-कीमत होती है लेकिन सामान्य कीमत उन्हीं वस्तुओ की हो सकती है जो पुन उत्पादन योग्य हो। यदि वस्तुएँ फिर से उत्पन्न नही की जा सकतीं तो उनकी सामान्य कीमत का विचार करना व्यर्थ है क्योंकि उनकी उत्पादन लागत कुछ नहीं होगी।

२. मार्शल का मूल्य सिद्धान्त (Marshall's Theory of Value)—हम लोग माँग (सीमान्त उपयोगिता) और पूर्ति (सीमान्त लागत) को निर्धारित करने वाली विभिन्न शक्तियो को अच्छी तरह जान चुके हैं। अब हम इस दशा में हैं कि मूल्य का सिद्धान्त भली प्रकार समझ सके। हम मार्शल (Marshall) से आरम्भ करते हैं। मार्शल मूल्य को निर्धारित करने मे उत्पादन लागत और सीमान्त उपयोगिता को समान महत्त्व देते हैं। उनका प्रसिद्ध सादृश्य कैंची की दो फलो से दिया जाता है जो कि निम्नांकित है। "जिस प्रकार हम इस बात पर झगड़ सकते है कि कैंची के दो फलो मे ऊपर का फल कागज को काटता है अथवा नीचे का, उसी प्रकार इस बात पर वाद-विवाद हो सकता है कि मूल्य को उपयोगिता निर्धारित करती है अथवा उत्पादन-व्यय। यह सच है कि जब एक फल शान्त रहता है और काटने का कार्य दूसरे को चलाने से हो जाता है, तब हम कह सकते हैं कि काटने का काम दूसरे के द्वारा होता है। लेकिन यह विवरण पूर्णत ठीक नही है। यह तभी तक स्वीकार किया जा सकता है जब तक यह इस बात का वैज्ञानिक रूप से स्पष्टीकरण करने का दावा नहीं करता।"[1]

पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में माँग व पूर्ति की शक्तियों का इस ओर झुकाव रहता है कि वह अपनी साम्यावस्था (equilibrium) स्थापित करने का प्रयत्न करती है। 'कीमत एक महराब के बीच के पत्थर की तरह होती है जो कि दोनो ओर के दबाव से (अर्थात् एक ओर माँग और दूसरी ओर पूर्ति) साम्य बनाए रहता है।"

हर एक व्यक्ति के लिए बाजार भाव दिया रहता है और वह अपने व्यक्तिगत कार्य या नीति से उसे सुधार नही सकता। उसके लिए बाजार भाव एक संकेत होता है जिसके द्वारा वह अपना क्रय अथवा विक्रय करता है। ये व्यक्तिगत क्रय-विक्रय कीमत द्वारा निर्धारित होते हैं, लेकिन य मिलकर कुल माँग और कुल पूर्ति का रूप ग्रहण कर लेते हैं। उस दशा म यह कीमत को निर्धारित करते है। अस्तु, माँग, पूर्ति और कीमत एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं। ये एक प्याले में तीन गेंदो के समान हैं जिसके सम्बन्ध मे यह कहना कठिन है कि कौन किसके सहारे है।

इस प्रकार "माँग की ओर से कीमत सीमान्त उपयोगिता के बराबर होती है और पूर्ति की ओर से यह सीमान्त उत्पादन-लागत अथवा सीमान्त फर्म की लागत के बराबर होती है। जिस स्थान पर सीमान्त उपयोगिता और सीमान्त लागत का साम्य होता है यदि उसे मुद्रा में अंकित किया जाए तो वह कीमत कहलाती है।"—सिल्वरमैन।

---

1 Marshall, Op cit, p 438

अर्थशास्त्रियो ने यह समझाने का प्रयत्न किया है कि उपयोगिता (utility) से दीर्घकालिक व अल्पकालिक कीमतो का निर्धारण होता है। अस्तु, इन तीनो विचारो के आधार पर मूल्य के तीन सिद्धान्त मान लिये गए हैं —(१) मूल्य का श्रम सिद्धान्त (Labour Theory of Value), (२) मूल्य का उत्पादन लागत सिद्धान्त (Cost of Production Theory of Value), और (३) मूल्य का सीमान्त उपयोगिता सिद्धान्त (Marginal Utility of Value)।

२ विकल्प, अवसर अथवा हस्तान्तरण लागत (Alternative, Opportunity or Transfer Cost)—आजकल के कुछ अर्थशास्त्री "वास्तविक लागत" शब्द का प्रयोग अवसर लागत अथवा हस्तातरण लागत के अर्थ में करते हैं। अमरीकी अर्थशास्त्री डेवेनपोर्ट (Davenport) ने इस सिद्धान्त की व्याख्या इस प्रकार की है "मान लीजिए एक बच्चे को नाशपाती और एक आडू दोनो दिए गए, पर कोई शैतान लडका उन्हे छीनने का प्रयत्न करता है। ऐसे समय में उस बच्चे के लिए सिवाय इसके और कोई रास्ता नही होगा कि वह नाशपाती को रास्ते की झाडियो मे गिराकर आडू लेकर भाग निकले। और जब तक आततायी नाशपाती उठाए तो कही जाकर छिप जाए। ऐसी दशा मे आडू की लागत क्या हुई ? यह अवश्य है कि आडू बच्चे को उपहार के रूप में दिया गया था। इस दृष्टि से उसकी लागत कुछ भी नही है। पर तब भी इसको अपने पास रखने के लिए बच्चे को नाशपाती छोडनी पडी। इस उदाहरण मे "लागत" शब्द का प्रयोग ठीक नही जान पडता, शायद "बदलना" अथवा "त्यागना" (displacement or forgoing) शब्द ठीक होगे। या मान लीजिए कोई आपसे कहे कि घुडसवारी कर लीजिए या शाम को नाटक देख लीजिए। तो यह कहना अटपटा लगेगा कि दोनो म से किसी एक की स्वीकृति दूसरे को एवज म है, फिर भी यह अवश्य है कि एक काम करने के लिए दूसरे से वचित रहना होता है। या इसी को इस प्रकार समझ लीजिए कि आपके पास एक डालर है। उससे आप चाहे तो एक पुस्तक खरीद लें या एक चाकू। और अन्त मे आप एक पुस्तक खरीद लेते हैं तो पुस्तक खरीदने की तीव्रतर इच्छा का प्रदर्शन इस बात से इतना नही होता कि डालर कमाने म कितना परिश्रम करना पडा था, या डालर स्वय कितना मूल्यवान है, जितना कि उसके वैकल्पिक प्रयोग से। . . आपके लिए पुस्तक की अधिक-से-अधिक क्या लागत है, इसकी सब से अच्छी परीक्षा इसम है कि पुस्तक खरीदने की इच्छा ने चाकू खरीदने की इच्छा पर कितनी विजय पाई।"[1] चूँकि उत्पादक स्रोत (productive resources) सीमित है, इसलिए किसी एक वस्तु का उत्पादन दूसरी वस्तु के उत्पादन के बदले ही में हो सकता है। जिस वस्तु का इस प्रकार बलिदान होता है वह उत्पादित वस्तु की वास्तविक लागत होती है।

इस दृष्टि से लागतो का महत्व (Significance of Costs in this Sense)—एक ही स्रोत (resource) के लिए बहुत सी प्रतियोगी माँगें होती हैं, (जो उपभोक्ताओ की सीमान्त उपयोगिता पर निर्भर करती हैं)। क्योकि साधन दुर्लभ (scarce) होते हैं, इसलिए एक समय में एक ही माँग की पूर्ति हो सकती है,

1. Davenport—The Economics of Enterprise, page 61

और वह भी दूसरी मांगों के त्याग करने पर। फलस्वरूप साधनों की प्रवृत्ति उन प्रयोगों से, जिनमे उनकी माँग की कीमत उपभोक्ताओं की सीमान्त उपयोगिता के योग से कम होती है, उन प्रयोगो की ओर, जिनमे वह अधिक होती है, जाने की होती है। और ऐसा तब तक होता है, जब तक वह विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन से सम्बन्धित तमाम प्रयोगो म इस प्रकार बँट जाते हैं कि विभिन्न प्रयोगो मे उनकी सीमान्त उपयोगिता समान हो जाती है।

इस प्रकार माँग-कीमत (demand price) अथवा सीमान्त उपयोगिता (marginal utility) ही इस बात का निर्णय करती है कि उत्पादन के किसी साधन का कितना भाग किसी वस्तु के उत्पादन म प्रयोग मे लाया जाएगा। इसलिए किसी वस्तु की पूर्ति (supply) उस आकर्षण पर निर्भर करती है, जो उस वस्तु की माँग कीमत (या सीमान्त उपयोगिता) उत्पादन के विभिन्न साधनों के प्रति करती है। यदि माँग कीमत अधिक नहीं है तो साधनो का प्रयोग उस वस्तु के उत्पादन म किया जाता है जिसकी माँग कीमत अपेक्षाकृत अधिक है। मूल रूप में एक वस्तु की उत्पादन लागत एक व्यवसाय म उत्पादक सेवाओ के बनाए रखने के लिए दी गई प्रतिधारण कीमत (retention price) का जोड है तथा यह उतना होता है जितना कि वे दूसरी जगह पा सकते हैं।

आर्थिक सिद्धान्त के क्षेत्र म अवसर लागत के मत का बडा महत्व है। यह आन्तरिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय दोनो तरह के मूल्य निर्धारणों म लागू होता है। यह आय के वितरण म भी लागू होता है।

फिर भी इसके लागू होने की कुछ सीमाएँ हैं। यह उन उत्पादन सेवाओं पर जो असाधारण अथवा विशेष प्रकार की हैं लागू नही होता। एक विशेष साधन के वैकल्पिक उपयोग नही होते। अत इसकी अवसर लागत अथवा हस्तान्तरित लागत शून्य होती है। इसलिए ऐसे साधन के भुगतान का स्वभाव लगान की तरह होता है (जिसे लगान रहित लागत भी कह सकते हैं)। इसके अतिरिक्त अवसर लागत का सिद्धान्त अप्रवृत्ति के तत्त्व का विचार म नहीं रखता। साधन किसी व्यवसाय में रहने से अनिच्छुक हो सकते हैं। ऐसी दशा म जहाँ पर कि एक साधन की चाह को बदलना होता है तो वैकल्पिक व्यवसाय म प्रयोग मे लाने के लिए उस साधन को उसकी हस्तान्तरित लागत से अधिक भुगतान देना पडेगा। इन बिना अर्थ सम्बन्धी विचारो के दृष्टिकोण से द्रव्य लागत के मत का बहिष्कार कर देना चाहिए। अवसर लागत के सिद्धान्त की फिर से व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है : "A के बनाने मे उत्पादक सेवा X की लागत राशि B है जो X उत्पादन कर सकता है तथा बिना अर्थ-सम्बन्धी उत्पादन (अथवा लागत) जो B के उत्पत्ति करने मे होता है (अथवा इतना कम) के बराबर होता है।"[1] यह बताया जा चुका है कि सिद्धान्त में द्रव्य का अभिप्राय फिर से डालने के लिए बिना अर्थ सम्बन्धी (non-pecuniary) उत्पादन,

1 The cost of productive service X in making A is equal to the amount of B that X could produce plus (or minus) the non pecuniary returns (or cost) attached to producing B —Stigler, G J —Theory of Price 1947 p. 108

अर्थ सम्बन्धी उत्पादन म बदला जाए। परन्तु इस काम के लिए सदैव मुद्रा मापदण्ड (monetary denominator) का पाना सम्भव नही है।

इसके अतिरिक्त यह ध्यान रखना चाहिए कि उत्पादक सेवाओं की इकाइयाँ बहुत कम एक सी (homogeneous) होती हैं।

इसके अतिरिक्त यह सिद्धान्त पूर्ण प्रतियोगिता पर निर्भर है जो बहुत कम होता है।

व्यक्तिगत लागत तथा सामाजिक लागत म भिन्नता के कारण भी इस सिद्धान्त का विरोध किया जा सकता है। एक वस्तु की लागत मिल मालिक को १०) हो सकती है परन्तु समाज को उसकी लागत उसक कारखाने से निकले हुए धुए के कारण खराब स्वास्थ्य के रूप म होगी।

इन सब सीमाओं तथा विषमताओं के होते हुए भी लागत का यह सिद्धान्त अर्थात् अवसर लागत व वैकल्पिक लागत का सिद्धान्त सबसे अधिक मान्य सिद्धान्त है। सिद्धान्त की कुछ विशेषताएँ ध्यान देने योग्य हैं—

(1) एक वस्तु की उत्पादन लागत दूसरी वस्तुओं की, जिनके उत्पादन म वही उत्पादक सेवाएँ सहायता दे सकती हैं, माँग-कीमता पर निर्भर है।

(ii) लागत का यह विश्लेषण इस बात से नष्ट नही हो जाता कि वस्तु का उत्पादन कई साधनों के सयोग से होता है क्योंकि हर साधन का सीमान्त उत्पादन जाना जा सकता है।

अब हम मूल्य के अनेक सिद्धान्तो का अध्ययन करेंगे। सवप्रथम श्रम-सिद्धान्त को ही ले लिया जाए।

३ श्रम-सिद्धान्त[1] (Labour Theory)—श्रम सिद्धान्त क अनुसार किसी वस्तु के मूल्य का निर्णय उस परिश्रम से होता है जो उसे बनाने म व्यय किया जाता है। इस सिद्धान्त का सम्बन्ध एडम स्मिथ (Adam Smith), रिकार्डो (Ricardo) व कार्ल मार्क्स (Karl Marx) आदि के नामो से है। एडम स्मिथ (Adam Smith) के पूर्व पेटी (Petty) व लाक (Locke) भी श्रम को मूल्य का स्रोत मानते थे।

एडम (Adam Smith) का विश्वास था कि मूल्य का अन्तिम मान श्रम ही होता है। 'किसी वस्तु की वास्तविक कीमत उसके आकांक्षी मनुष्य के लिए वह परिश्रम व मेहनत होती है जो उस मनुष्य को उस वस्तु को प्राप्त करने के लिए करना पडता है। जो वस्तु द्रव्य द्वारा खरीदी जाती है, उसका "क्रय" वास्तव म श्रम ही करता है।'[2]

पर एडम स्मिथ (Adam Smith) का विचार था कि केवल समाज की प्रारम्भिक स्थितियों म ही श्रम, विनिमय-मूल्य का आधार था। बाद म क्योंकि भूमि

---

1 See Fraser L M—Economic Thought and Language 1947, pp 117—123

2 The real price of everything what everything really costs to the man who wants to acquire it is the toil and trouble of acquiring it what is bought with money or with goods is purchased by labour as much as what we acquire with the toil of our body'—Adam Smith—Wealth of Nations, Book I, Ch V

दुर्लभ हो गई व पूंजी का सचय शुरू हुआ, इसलिए इनके स्वामियों को भी कीमतें देनी पड़ी, और इस प्रकार श्रम अब उत्पादन की एकमात्र लागत नही रह गया। फलस्वरूप एडम स्मिथ (Adam Smith) उत्पादन लागत के सिद्धान्त की ओर बढे। इसके विपरित रिकार्डो (Ricardo) का यह विश्वास था कि तत्कालीन जगत् में भी किसी वस्तु का मूल्य अथवा दूसरी वस्तुओ के प्रति उसकी विनिमय शक्ति श्रम की उस मात्रा पर निर्भर करती है, जो उसके उत्पादन के लिए आवश्यक होती है।[1]

पर इसका यह अर्थ नही कि रिकार्डो ने भूमि और पूंजी को उत्पादन का साधन नही माना। उसका विचार था कि भूमि की लागत का कोई महत्त्व नही होता, क्योकि अनाज की कीमत खेती म प्रयुक्त ऐसी अनुपजाऊ भूमि की उत्पादन लागत पर निर्भर करती है, जिस पर कोई लगान नही देना पडता। और जहाँ तक पूंजी का सम्बन्ध है वह तो अतीत में किए गए श्रम का फलस्वरूप है।

एडम स्मिथ (Adam Smith) यह मानते थे कि श्रम में गुणो के अनुसार भिन्नता होती है, इसलिए उनका यह विचार था कि सिवाय बहुत ही पिछडे समाजो के और कही श्रम की तुलना नही हो सकती, और श्रम के सिद्धान्त का सम्बन्ध ऐसे ही समाजो से है। पर चूंकि रिकार्डो (Ricardo) उन्नत जातियो में भी श्रम को ही मूल्य का मूल मानते थे, इसलिए उन्हे विभिन्न गुणो वाले श्रमो की तुलना करने मे पैदा होने वाली कठिनाइयो को भी समझना पडा। इन कठिनाइयो को रिकार्डो (Ricardo) ने इस प्रकार समझाया था कि यह भेद बाजार म इस प्रकार स्थिर हो जाते हैं कि हर प्रकार का श्रम मूल्य के क्रमिक स्तर में अपनी उचित जगह पर पहुँच जाता है। रिकार्डो (Ricardo) के अनुसार, इस क्रमिक स्तर में बहुत कम परिवर्तन होते हैं। उनका कहना है कि यदि 'एक सुनार का एक दिन का श्रम एक साधारण श्रमिक के एक दिन के श्रम से अधिक मूल्यवान है, तो यह श्रम बहुत पहले व्यवस्थित होकर मूल्य के क्रमिक स्तर म अपने उचित स्थान पर पहुँच चुका होगा।" पर यह व्याख्या कोई विशेष सन्तोषजनक नही है।

श्रम सिद्धान्त के विरुद्ध एक बहुत बडा आक्षेप यह है कि यह ऐसी वस्तुओ के मूल्य की, जिनका उत्पादन नही हो सकता, कोई व्याख्या नही करता। पर इसका उत्तर रिकार्डो (Ricardo) ने इस प्रकार दिया है "कुछ वस्तुएँ ऐसी होती हैं जिनका मूल्य उनकी न्यूनता से निश्चित होता है। .. ..उनके मूल्य से उस आवश्यक श्रम के परिमाण से कोई सम्बन्ध नही होता, जो उत्पादन मे लगाया जाता है और इसलिए धन व उन वस्तुओ के उपभोक्ताओ की प्रवृत्तिया के अनुसार उसम परिवर्तन हुआ करते हैं।" आजकल की भाषा म इससे रिकार्डो (Ricardo) का तात्पर्य यह था कि उपभोक्ताओ की सीमान्त उपयोगिता इस प्रकार की वस्तुओ का मूल्य निश्चित करती है। यहाँ तक तो उनके विचार वर्तमान अर्थशास्त्रियों के विचारो के अनुकूल ही हैं पर उनकी यह व्याख्या श्रम सिद्धान्त के आलोचकों को सन्तुष्ट नही कर सकती क्योंकि इससे सिद्धान्त की अपूर्णता ही अधिक प्रकट होती है।

---

1 Principles of Political Economy and Taxation in Works of David Ricardo by McCulloch, p 9

४ समाजवादी व श्रम सिद्धान्त (The Socialists and the Labour Theory)—रिकार्डो (Ricardo) के श्रम सिद्धान्त ने समाजवादियों को विशेष रूप से आकर्षित किया। चूंकि मूल्य का उद्गम श्रम ही है, पर कुल मूल्य का बहुत कम भाग मजदूरी के रूप म मिलता है, इसलिए यह प्रमाणित करना सरल था कि पूंजीपति उत्पादन का बडा भाग हडप कर श्रमिको का शोषण करते हैं। रूसो (Rousseau) के पश्चात् टामसन (Thomson), ग्रे (Gray) व ब्रे (Bray) जैसे समाजवादियो ने पूंजीवादी शोषण का एक अपना निजी सिद्धान्त बना लिया और रॉडबर्टस (Rodbertus) व कार्ल मार्क्स (Karl Marx) ने तो इस सिद्धान्त को अपनी पुस्तक का प्रमुख आधार बनाया।

वैज्ञानिक समाजवाद (scientific socialism) के मल प्रवर्तक कार्ल मार्क्स (Karl Marx) ने अपने विचार अपनी पुस्तक 'दास कैपिटल' (Das Capital) मे प्रकट किए हैं। इस पुस्तक म उन्होने पूंजीवाद पर अकाट्य आक्षेप किए हैं। कार्ल मार्क्स (Karl Marx) का विश्वास था कि मूल्य प्रयोग म लाए गये मानवीय श्रम को कहते हैं (value as crystallised human labour)। उनकी दृष्टि म किसी वस्तु का मूल्य उसके उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम पर ही निर्भर होता है। अर्थात् इसे श्रम समय (labour time) कह सकते हैं जो सामाजिक रूप से (socially) बहुत जरूरी है। अपने इस विचार की व्याख्या उन्होने इस प्रकार की है—"मूल्य श्रम के उस समय पर अवलम्बित है जो किसी वस्तु को साधारण परिस्थितियो में योग्यता और तीव्रता की औसत मात्रा से बनाने म लगता है, जो उत्पादन काल म प्रचलित है।"[1]

कार्ल मार्क्स (Karl Marx) ने भी पूंजी की वही व्याख्या की जो कि रिकार्डो (Ricardo) ने पूर्व श्रम (past labour) के आधार पर की थी। जहाँ तक श्रम की क्वालिटी के अन्तर का प्रश्न है, उसका विचार था कि 'कुशल श्रम का महत्त्व केवल यह है कि वह साधारण श्रम का तीव्र रूप है।" उनके विचार में कुशल श्रम की एक निश्चित मात्रा साधारण श्रम की वडी मात्रा के बराबर ही है। उनका कहना था कि 'अनुभव यह बतलाता है कि यह कमी निरन्तर पूरी हो रही है। एक वस्तु के बनाने मे चाहे जितना भी कुशल श्रम लगा हो पर यदि उसको साधारण श्रम द्वारा निर्मित किसी वस्तु के समान कर दिया जाए तो उसका मूल्य साधारण श्रम की ही एक निश्चित मात्रा का प्रदर्शन करेगा।" मार्क्स (Marx) के अनुसार कुशल व अकुशल श्रम का यह अनुपात रूढि द्वारा निश्चित होता है। उनका कहना था कि कुशल श्रम का मूल्य इसलिए अधिक होता है कि इस प्रकार के श्रम को अर्जित करने मे अकुशल (unskilled) श्रम की अपेक्षा अधिक समय व श्रम की आवश्यकता होती है।[2]

५. मार्क्स का शोषण व अतिरेक मूल्य का सिद्धान्त (Marx's Theory of

1 'Marx defined value of a commodity as the labour time required to produce an article under the normal conditions of production, and with the average degree of skill and intensity prevalent at the time' — Capital Vol 1, Part 1, Chap 1, Sec 1

2 Ibid Part III, Ch VII Sec 2

Surplus Value and Exploitation)—अपने श्रम सिद्धान्त के आधार पर मार्क्स ने अपने अतिरेक मूल्य के सिद्धान्त का विकास किया। उन्होंने बताया कि श्रमिक को उत्पादन कार्य चालू रखने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि उसके पास औजार व दूसरी सुविधाएँ हों, किन्तु यह सुविधाएँ उसके पास नहीं होतीं। इसलिए वह अपने श्रम को पूँजीपति के हाथों बेच देता है। पूँजीपति के लिए यह आवश्यक नहीं होता कि वह श्रमिक को उसके द्वारा निर्मित वस्तु का पूरा मूल्य दे। यहाँ मार्क्स (Marx) ने एक दूसरे प्रतिष्ठित सिद्धान्त (classical theory) अर्थात मजदूरी जीवन निर्वाह सिद्धान्त (subsistence theory of value) का आधार लिया है जिसके अनुसार मजदूरी का स्तर ऐसा है कि श्रमिक केवल जीवन निर्वाह कर सके। पर होता यह है कि अपने जीवन निर्वाह के लिए पर्याप्त धन प्राप्त करने लायक काम कर लेने के बाद भी श्रमिक काम करता ही रहता है। मार्क्स के शब्दों में "इतने समय तक जितने में कि श्रम अपने मूल्य के बराबर कीमत का काम कर लेता है काम कर चुकने के बाद भी श्रम का कार्य जारी ही रहता है। कभी कभी श्रम का कार्य छः घंटे की अपेक्षा बारह घंटे तक चल सकता है इसलिए श्रम शक्ति का कार्य केवल अपने मूल्य का ही उत्पादन करना नहीं बल्कि इससे भी अधिक उत्पादन करना है। यह अतिरेक मूल्य उत्पादित वस्तु के मूल्य का उन साधनों के मूल्य का जिनका प्रयोग उसके उत्पादन में हुआ, अन्तर होता है। दूसरे शब्दों में उत्पादन के साधनों के व श्रम शक्ति के मूल्य का अन्तर यह अतिरेक मूल्य होता है।"[1] इस अतिरेक मूल्य के द्वारा पूँजीपति अधिक श्रम खरीद कर और अधिक अतिरेक मूल्य प्राप्त करने के योग्य हो जाता है। अस्तु, पूँजीपति वर्ग श्रम वर्ग का शोषण कर अधिक धनवान हो जाता है। इस प्रकार मूल्य के सिद्धान्त के आधार पर मार्क्स ने अपना शोषण का सिद्धान्त प्रतिपादित किया।

६ मूल्य के श्रम सिद्धान्त की आलोचना (Criticism of Labour Theory of Value)—मूल्य के श्रम सिद्धान्त की कई प्रकार से आलोचना की गई है। कुछ आलोचनाओं का सम्बन्ध तो रिकार्डो (Ricardo) द्वारा प्रतिपादित साधारण सिद्धान्त से है पर दूसरी आलोचनाओं का मुख्य विषय इस सिद्धान्त का समाजवादियों और विशेषकर कार्ल मार्क्स (Karl Marx) द्वारा स्पष्टीकरण है। आलोचना के विभिन्न दृष्टिकोण ये हैं —

(i) श्रम कई प्रकार और कई श्रेणियों का है। इसलिए उसका कोई समान माप नहीं हो सकता।

(ii) वस्तु का मूल्य उत्पादन में श्रम के सम्मिलित हो जाने के उपरान्त भी अक्सर घटा-बढ़ा करता है।

(iii) इसके अतिरिक्त इस सिद्धान्त में उन वस्तुओं का कोई वर्णन नहीं है, जिनका मूल्य तो होता है पर जिनके उत्पादन में किसी प्रकार के श्रम की आवश्यकता नहीं होती। इसमें उन वस्तुओं का भी कोई वर्णन नहीं है जिनके श्रम से सम्बन्धित मूल्य का कोई ठीक अनुपात नहीं होता।

(iv) फिर आधुनिक काल की प्रतियोगी साम्यावस्था (competitive

1 Ibid Part III Ch VII Sec 2

equilibrium) के दृष्टिकोण से भी मार्क्स के 'अतिरेक मूल्य' के सिद्धान्त की जो कि श्रम सिद्धान्त पर आधारित है, आलोचना की गई है। प्रतियोगितापूर्ण स्थिति म अतिरेक मूल्य समाप्त हो जाना चाहिए। विट्टाकर (Whittaker) के शब्दों मे 'यदि एक फर्म का उत्पादन उस उद्योग के कुल उत्पादन के अनुपात मे बहुत कम है (जैसा कि अंग्रेजी वस्त्र उद्योग मे उन्नीसवी शताब्दी के मध्य तक था जिससे मार्क्स ने बहुत से उदाहरण लिय हैं) तो एक फर्म के उत्पादन मे किसी प्रकार की वृद्धि से वस्तु के बाजार भाव पर कोई विशेष प्रभाव नही पडेगा और इसलिए उत्पादित वस्तु की प्रति इकाई के अतिरेक मूल्य म कोई वास्तविक परिवर्तन नहीं होगा। यदि अधिक इकाइयो का उत्पादन होगा तो फर्म की कुल अतिरेक मूल्य मे वृद्धि होगी। फलस्वरूप व्यवसाय सस्था या फर्म अपने उत्पादन की मात्रा बढाने का प्रयत्न करेगी। यही नही, उस उद्योग के सभी कारखाने इस बात का प्रयत्न करेंगे और यदि उत्पादन बढ जायगा तो वस्तु का बाजार भाव गिरने लगेगा। इसका परिणाम यह होगा कि अतिरेक मूल्य कम होते-होते समाप्त हो जायगा।"[1]

इस प्रकार ऊपरी तौर से मूल्य का श्रम सिद्धान्त न्याय व समन्याय (justice and equity) पर आधारित अवश्य प्रकट होता है पर इससे मूल्य की कोई सन्तोषजनक व्याख्या नही होती।

७ मूल्य का उत्पादन लागत सिद्धान्त (The Cost of Production Theory of Value)—कैन्टिलन (Cantillon) ने किसी वस्तु के मूल्य की (जिसे वह वास्तविक मूल्य कहते थे) परिभाषा इस प्रकार की है "किसी वस्तु का मूल्य उत्पादन मे प्रयोग होने वाले श्रम व भूमि की मात्रा के माप को कहते हैं। पर ऐसे माप म भूमि की उर्वरता व श्रम के गुण का ध्यान रखना चाहिए।"[2] पर इस मूल्य का वस्तु के बाजार भाव से कोई सामजस्य नही होता, क्योंकि उसका बाजार मूल्य तो उपभोक्ताओ की माँग पर निभर होता है। इस प्रकार उन्होंने मूल्य के पुरातन सिद्धान्त की नीव डाली, जिसको बाद मे एडम स्मिथ (Adam Smith), सीनियर (Senior) व जान स्टुअर्ट मिल (J S Mill) ने भी विस्तृत किया।

जिस मूल्य को कैन्टिलन (Cantillon) "वास्तविक मूल्य" कहते थे, उसे आगे चल कर एडम स्मिथ (Adam Smith) "स्वाभाविक मूल्य" ('natural value') व मार्शल (Marshall) "सामान्य मूल्य" ('normal value') कहने लगे। इस सिद्धान्त के अनुसार किसी वस्तु का स्वाभाविक तथा सामान्य मूल्य उसके उत्पादन की लागत पर निर्भर करता है।

रिकार्डो (Ricardo) पूँजी को बीता हुआ श्रम कहते हैं। लेकिन सीनियर (Senior) का कहना है कि ब्याज प्रतीक्षा अथवा धन से वचित रहने का भुगतान है। उनका विश्वास था कि सयम (abstinence) से रहना भी उत्पादन के लिए उतना ही आवश्यक है जितना कि श्रम। सयम एक प्रकार का त्याग है और इसलिए

1. Whittaker A History of Economic Ideas, pp 429 30

2 "Value is the measure of the quantity of land and labour entering into its production, having regard to the fertility or produce of the land to the quality of the labour"—Cantillon

उत्पादन की वास्तविक लागत, जिससे मूल्य निश्चित होता है, केवल श्रम में ही नही बल्कि श्रम व सयम दोनो मे होती है। यही नही, उसने लागत मे से भूमि के लगान को भी निकाल दिया। सीनियर (Senior) का सिद्धान्त बहुत कुछ एडम स्मिथ (Adam Smith) के सिद्धान्त पर आधारित था। उसे इस बात का ज्ञान था कि चूंकि प्रतियोगिता कभी पूर्ण नहीं होती, इसलिए मूल्य केवल दीर्घकाल मे ही उत्पादन लागत के बराबर होता है।

मिल (J S Mill) यह मानते थे कि सयम का लागत पर प्रभाव पडता है पर उन्होंने "प्राप्ति के नियमो" ("laws of return") के प्रभाव का विश्लेषण करके इस सिद्धान्त को और भी विस्तृत कर दिया है। सीनियर (Senior) की भांति वह भी मूल्य व लागत के सामजस्य को दीर्घकालिक विशेषता समझते थे। पर मिल (J S Mill) ने श्रम व सयम के वास्तविक लागत की अपेक्षा मुद्रा व्यय ही पर अधिक जोर दिया और यही पर मार्शल ने मिल (Mill) के मूल्य के लागत सिद्धान्त (cost theory of value) को आगे बढाया।

मार्शल (Marshall) के लिए उत्पादन लागत कैंची का केवल एक फाल है। उसका कहना था कि मूल्य रूपी कैंची का एक फाल तो उत्पादन लागत है, और दूसरा सीमान्त उपयोगिता (marginal utility)। मार्शल ने वास्तविक लागत (real costs) तथा मुद्रा-लागत (money costs) को यह कहकर समान करने का प्रयत्न किया कि यद्यपि मुद्रा व्यय उद्यमी की दृष्टि से बडा महत्त्वपूर्ण है, पर समुदाय के लिए सबसे अधिक महत्त्व वास्तविक लागत (कठिन प्रय त व प्रतीक्षा) का ही है। इसके अतिरिक्त उसका विश्वास था कि यदि प्रयत्नो के रूप म मुद्रा की क्रय शक्ति स्थिर रहे, और प्रतीक्षा के भुगतान की दर भी स्थिर रहे तो लागत का मुद्रा में माप वास्तविक लागत (real costs) के समान ही होगा। पर साथ ही साथ मार्शल (Marshall) का यह भी कहना है कि "इस प्रकार का सामजस्य सदैव आसानी से प्राप्त नही किया जा सकता।"

हम देख चुके हैं कि उद्यमी के रूप म उत्पादन लागत का विचार, वैसे गणना की दृष्टि से चाहे कितना ही लाभदायक क्यो न हो, पर मूल्य की समस्या की कोई व्याख्या नही करता, क्योंकि यह वस्तु की कीमत की केवल उत्पादन के विभिन्न साधनों की कीमत के आधार पर ही व्याख्या करता है। जब तक प्रयत्नो के रूप में किए गए उत्पादन की वास्तविक लागत को मुद्रा लागत (money cost) में परिवर्तित न कर दिया जाए, तब तक इस प्रकार की लागत को हम उत्पादन लागत में शामिल कर ही नही सकते। लागत की धारणा में इस कठिनाई के अतिरिक्त उत्पादन लागत मूल्य सिद्धान्त मे और भी बहुत सी त्रुटियां हैं।

आलोचना (Criticism)—निम्नलिखित कारणों से मूल्य का उत्पादन लागत सिद्धान्त मूल्य की उचित रूप से व्याख्या नही कर पाता —

इस सिद्धान्त में ऐसे श्रम व पूंजी का, जिसका अनुचित उपयोग हुआ हो, कोई वर्णन नही है।

उत्पादन के पश्चात् बहुत सम्भव है कि मूल्य बढ जाय। सिद्धान्त दुर्लभ

वस्तुओ और विशेषकर ऐसी वस्तुओ, जैसे पुराने कलाकारो द्वारा निर्मित चित्रो व मूर्तियो आदि के मूल्य की कोई व्याख्या नही करता। कुछ वस्तुएँ ऐसी हैं जिनकी उत्पादन लागत का अनुमान लगाना असम्भव होता है। ऐसा विशेष रूप से उन वस्तुओं म होता है जो उप-उत्पाद के रूप म अथवा मिलाकर तैयार की जाती हैं। इसके अतिरिक्त भिन्न-भिन्न व्यवसाय सस्था या फर्म व हर फर्म की विभिन्न इकाइयो के अनुसार उत्पादन लागत में भिन्नता आ जाती है; और ऐसी परिस्थिति म यह निश्चित करना कठिन होता है कि इनमें से किस व्यवसाय सस्था या फर्म की लागत या कौनसी लागत मूल्य निर्धारित करती है।

८. पुनरुत्पादन लागत का सिद्धान्त (Cost of Reproduction Theory)—ऐसा बहुत कम होता है कि किसी वस्तु का सामान्य मूल्य उत्पादन लागत के बराबर ही हो। परिवर्तनशील ससार मे जहाँ तकनीक सम्बन्धी परिवर्तन प्रतिदिन हो रहे हैं, यह आवश्यक नही कि दीर्घकाल में उत्पादन लागत किसी एक दिन की उस लागत के बराबर ही हो। अधिकतर ऐसा है कि दीर्घकाल मे उत्पादन लागत उस लागत के बराबर होती है, जो वस्तु के पुनरुत्पादन म लगती है। इसलिए केरी (Carey) का कहना है कि सामान्य मूल्य को समझने के लिए उत्पादन लागत की अपेक्षा पुनरुत्पादन लागत (cost of reproduction) का सिद्धान्त अधिक उपयोगी होगा।

पर इससे कोई विशेष लाभ नही होता। मार्शल (Marshall) के अनुसार उत्पादन की सामान्य लागत व पुनरुत्पादन की सामान्य लागत ऐसे शब्द हैं, जिनको एक दूसरे के अनुसार परिवर्तित किया जा सकता है। वास्तव में किसी वस्तु की दीर्घकाल में उत्पादन लागत क्या होगी, इसके अर्थ ही यह हैं कि पुनरुत्पादन (reproduction) की लागत क्या होगी।

यद्यपि यह अवश्य है कि पुनरुत्पादन के मूल्य व लागत में उत्पादन के मूल्य व लागत की अपेक्षा अधिक समानता है। पर इसका अर्थ यह नही है कि पुनरुत्पादन की लागत ही मूल्य निर्धारित करती है। इस सम्बन्ध म उन सब आरोपों का जो उत्पादन लागत सिद्धान्त के विषय म बताए गए हैं, यहाँ उल्लेख किया जा सकता है।

यदि कोई सुगमता से उस समय तक प्रतीक्षा कर सके जब वस्तु का पुनरुत्पादन सम्भव होगा तो पुनरुत्पादन के व्यय का कुछ प्रभाव वस्तु के मूल्य पर हो सकता है। जब तक नई पूर्ति नही आती, उस समय तक तो माँग की तीव्रता (intensity of demand) पर ही मूल्य निर्भर होगा।

कुछ उदाहरण ऐसे भी हैं जब कि पुनरुत्पादन की लागत का कीमत पर कोई प्रभाव नहीं पडता। मार्शल (Marshall) के शब्दो में, "किसी घिरे हुए शहर में अनाज, किसी रोगग्रस्त द्वीप में कुनीन जिसकी पूर्ति कम हो गई है, राफेल (Raphael) के चित्र, ऐसी पुस्तक जिसे पढना कोई पसन्द नही करता, पुराने ढग का जगी जहाज, आधिक्य या कमी के बाजार में मछली, फूटी हुई घण्टी, पुराने रिवाज की पोशाक अथवा नष्ट गाँव में किसी मकान इत्यादि की कीमत तथा पुनरुत्पादन की लागत में कोई सम्बन्ध नही होता।"[1]

1 Marshall Principles of Economics, 1936, p 402

६ मूल्य का सीमान्त उपयोगिता सिद्धान्त (Marginal Utility Theory of Value)—मूल्य के सीमान्त उपयोगिता सिद्धान्त के अनुसार सीमान्त उपयोगिता द्वारा वस्तु का मूल्य निर्धारित होता है। दूसरे शब्दो मे वस्तु की दुर्लभता (scarcity) से सम्बन्धित माँग ही मूल्य निर्धारित करती है। उत्पादन लागत का एकमात्र कार्य वस्तु की दुर्लभता निर्धारित करता है। महत्त्वपूर्ण बात तो वस्तु की दुर्लभता है, चाहे उस दुर्लभता का कारण कुछ भी हो। वह कारण वस्तु की स्थिर मात्रा, अथवा उत्पादन के साधनो की दुर्लभता के कारण, चाहे उसके उत्पादन में कठिनाइयाँ उसकी दुर्लभता का कारण हो सकती हैं। फिर भी मूल्य का निर्धारण वही सिद्धान्त करेगा। उस दुर्लभता का कारण यह भी हो सकता है कि उसके उत्पादन मे कठिनाइयाँ होने के कारण उत्पादन के साधन दूसरे उद्योगो से प्रतिस्थापित होकर ऊँची कीमत पर मिलने लगे हो। पर चूँकि बढे हुए भाव, बढी हुई माँग कीमत का ही दूसरा रूप है, इसलिए माँग कीमत या उपभोक्ताओ की सीमान्त उपयोगिता (जिस पर कि यह मूल्य निर्भर है) ही मूल्य निर्धारित करती है। यह मूल्य की एकात्मक व्याख्या है।

उपर्युक्त बातो से ऐसा प्रतीत होता है कि मूल्य के इस सिद्धान्त में व उत्पादन लागत के सिद्धान्त म बहुत थोडा अन्तर है, क्योंकि उत्पादन लागत सिद्धान्त को मानने वाले भी यह कहते हैं कि उत्पादन-लागत पूर्ति निर्धारित करती है, जिससे कीमत निश्चित होती है। पर वास्तव मे दोनों सिद्धान्त दूर से समान दीखते हुए भी एक दूसरे से मूल रूप में भिन्न हैं। सीमान्त उपयोगिता के सिद्धान्त के अनुसार उत्पादन-लागत पर मूल्य निर्भर नहीं होता। यह अवश्य है कि उत्पादन-लागत न्यूनता पर प्रभाव डालती है, किन्तु वह भी परोक्ष रूप से। जैसा कि हम देख भी चुके हैं, दुर्लभता सदैव उत्पादन लागत के कारण ही नही होती। (जैसा कि अलभ्य वस्तुओ के सम्बन्ध में होता है)। इसलिए मूल्य के निर्धारण मे न तो उद्यमी की लागत का उतना महत्त्व है, न समाज के त्यागपूर्ण प्रयत्नों का ही उतना महत्त्व है जितना कि परस्पर प्रतिस्पर्द्धी माँगो का है। वस्तुत, प्रतिस्पर्द्धी माँगो के अनुसार वस्तुओ की पूर्ति व लागत अपने आपको व्यवस्थित कर लेती हैं। विकल्पो (alternatives) के त्याग के रूप म ही लागत, जिन्हे अवसर, वैकल्पिक तथा हस्तान्तरण लागत भी कहते हैं, कीमत व मूल्य पर कुछ प्रभाव डालती है। दीर्घकाल मे माँग में उपक्रमी के वह सब व्यय सम्मिलित हो जाते हैं, जो उत्पादन के विभिन्न साधनो को अन्य प्रयोगो से प्रतिस्थापित करने म उसे करने पडते हैं। इसलिए लागत का यह सिद्धान्त उपयोगिता पर आश्रित है।

यही कारण है कि वर्तमान रूप में सीमान्त उपयोगिता सिद्धान्त 'एकात्मक' ('monistic') कहलाता है और यह मार्शल की दुहरी (dual) व्याख्या से भिन्न है। मार्शल (Marshall) का विश्वास था कि उपयोगिता व लागत दो स्वतन्त्र वर्ग होते हैं जो मूल्य के निर्धारण में समान रूप से सहयोग देते है। उनके महत्त्व की मात्रा समय के अनुसार घटती बढती रहती है। पर एकात्मक व्याख्या की उत्पादन लागत भी उपयोगिता का एक अग है, इसलिए वह स्वतन्त्र वर्ग नही मानी जा सकती। और

चूँकि लागत वैकल्पिक उपयोगिता प्रकट करती है इसलिए पूर्ति व मांग दोनों ही उपयोगिता पर ही निर्भर होती है।[1]

पर आस्ट्रिया (Austria) के अर्थशास्त्रियों व उनके समर्थकों ने, जिनमे मुख्य ब्रिटिश अर्थशास्त्री विकस्टीड (Wicksteed) है, पूर्ति व मांग की शक्तियों के समीकरण को और भी बढा दिया है। विकस्टीड[2] (Wicksteed) ने यह प्रमाणित किया है कि बाजार में ग्राहक व विक्रेताओं के मस्तिष्क मे काम करने वाली शक्तियों मे कोई विशेष अन्तर नही होता। जब निश्चित कीमत, जिसे विक्रेता की सुरक्षित कीमत (seller's reserve price) कहा जाता है, गिर जाती है तो विक्रेता वस्तु को बाजार से हटा लेता है। ऐसी परिस्थिति मे वह ग्राहक की हैसियत मे दिखाई देता है। दूसरे शब्दों में, कीमत के एक विशेष स्तर पर पहुँच जाने पर वह स्वय एक तरह से अपनी वस्तु को क्रय करना प्रारम्भ कर देता है। ब्रिग्ज (Briggs) व जारडन (Jordan) के शब्दों मे, 'नीलाम के समय इस प्रकार के सब विक्रेता, जिन्हे लोग नही पहचानते, कीमतें बढाने के निमित्त प्रतियोगिता में सम्मिलित हो जाते हैं।"[3]

आजकल सीमान्त उपयोगिता सिद्धान्त मूल्य का सर्वमान्य सिद्धान्त है क्योकि .

(क) यह हर समय के मूल्य की व्याख्या करता है, चाहे वह समय थोडा हो या अधिक,

(ख) मांग अथवा पूर्ति या दोनो म होने वाले परिवर्तनो के कारण मूल्य में जो परिवर्तन होते रहते है उनका स्पष्टीकरण यह सिद्धान्त करता है, तथा

(ग) "दुर्लभ, खराब, अपूर्ण अथवा नष्ट वस्तुओं के मूल्य की एकमात्र सन्तोषजनक व्याख्या इसी सिद्धान्त में मिलती है। ऐसी वस्तुओं के मूल्य का कोई सम्बन्ध उत्पादन लागत से नही होता। यह सिद्धान्त पानी, धूप आदि ऐसी वस्तुओं के मूल्य का भी स्पष्टीकरण करता है, जो अत्यधिक उपयोगी होते हुए भी विशेष मूल्यवान् नही होती।"

१० प्राप्ति के नियमो का मूल्य पर प्रभाव (The Influence of the Laws of Returns on Value)— यह देखा जा चुका है कि किसी निश्चित समय मे मूल्य मांग व पूर्ति के सम्बन्ध से निर्धारित होता है, पर दीर्घकाल मे इसकी प्रवृत्ति उत्पादन की सीमान्त लागत के बराबर होने की होती है। उत्पादन के नियम उत्पादन लागत पर और फलस्वरूप दीर्घकाल में मूल्य पर प्रभाव डालते है। अब देखना यह है कि उत्पादन के इन तीनो नियमों का मूल्य पर क्या प्रभाव पड़ता है—

१ आह्रासी या घटती हुई प्राप्ति का नियम (Law of Diminishing Returns)—यदि किसी उद्योग म इस नियम का प्रभाव हो तो जितना भी अधिक उत्पादन होगा, प्रति इकाई व्यय उतना ही अधिक होगा। इसके प्रतिकूल उत्पादन जितना ही कम होगा, व्यय भी उतना ही कम हो जाएगा। यदि वस्तु की मांग बढ़ जाती है, तो औसत मूल्य भी बढेगा और इससे पूर्ति मे वृद्धि होगी। पर अतिरिक्त पूर्ति

---

1 Whittaker—A History of Economic Ideas, p 458

2 Wicksteed—Commonsense of Political Economy, Vol II, Ch 4

3 Briggs and Jordan—Text Book of Economics, p 78

(additional supply) प्राप्त करने में औसत लागत बढ जाएगी और इसलिए मूल्य बढे रहेंगे। किन्तु इसके विपरीत यदि माँग घट जाएगी तो फल विपरीत होंगे।

२. बढ़ती हुई प्राप्ति का नियम (Law of Increasing Returns)—पर यदि उद्योग वृद्धि उत्पादन नियम के प्रभाव में है, तो अतिरिक्त पैदावार (additional output) अनुपात से कम लागत पर प्राप्त होगी। ऐसी दशा में यदि माँग बढ जाएगी तो पूर्ति कम लागत पर प्राप्त हो सकेगी। फलस्वरूप कीमत गिर जाएगी। माँग के बढने से कीमत में वृद्धि अवश्य होगी पर दीर्घ काल में जब पूर्ति भी बढ जाएगी तब अन्त मे कीमत मे कमी हो जाएगी। लेकिन यदि माँग मे कमी हो तो इसके बिल्कुल विपरीत होगा। यदि माँग कम हो जाती है, तो उत्पादन मे भी कमी होगी, और बढती हुई प्राप्ति नियम में इसका परिणाम यह होगा कि औसत लागत बढ जाएगी। अस्तु, इस दशा मे कीमत में पूर्ति के विपरीत परिवर्तन होता रहता है, अर्थात् अधिक पूर्ति पर कम कीमत और कम पूर्ति पर अधिक कीमत होगी।

३ प्राप्ति का स्थिर नियम (Law of Constant Returns)—प्राप्ति के स्थिर नियम की दशा मे उत्पादन के हर परिमाण मे लागत स्थिर रहती है। इसलिए यदि माँग घटने-बढने के कारण पूर्ति म वृद्धि अथवा कमी करनी पड़ती है, तो उसका कोई प्रभाव कीमत पर नही पड़ता।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि प्राप्ति (returns) के नियमों का प्रभाव केवल दीर्घकाल में ही होता है या इसी को इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि उत्पादन के नियम सामान्य मूल्य (normal value) को प्रभावित करते हैं, प्रचलित मूल्य (market value) को नहीं।

निर्देश पुस्तकें

Adam Smith Wealth of Nations (Cannan's Edition).

Ricardo Principles of Political Economy and Taxation (Saraffa's Edition)

Jevons The Theory of Political Economy (Third Edition) p 95 onwards

Davenport The Economics of Enterprise, p 61 (Theory of Enterprise)

Wicksteed Commonsense of Political Economy

Cassell Theory of Social Economy

Henderson, H D Supply and Demand, 1932, p 166.

Meyers, A L Elements of Modern Economics, 1951, pp 149—52 (for opportunity cost)

Fraser, L M Economic Thought and Language, 1947, Ch. VII.

अध्याय २१

परस्पर निर्भर मूल्य

(Inter-Related Values)

१. सयुक्त पूर्ति (Joint Supply)—पृथक् माँग (isolated demand) की समस्या बहुत कम पैदा होती है। यही स्थिति पृथक् पूर्ति (isolated supply) की भी है। माँग पक्ष मे, न सिर्फ सयुक्त रूप से माल की माँग होती है जो परस्पर प्रतिस्थापन (substitutes) करते हैं बल्कि व्यक्ति की भिन्न माँगें परस्पर सम्बद्ध हो जाती हैं। ऐसा इस कारण से होता है चूँकि उसकी आय सीमित होती है और उसे प्रतियोगी माँगो में बाँटना पडता है। इसी प्रकार पूर्ति पक्ष में भी न सिर्फ सयुक्त पूर्ति की समस्या बनी रहती है बल्कि उत्पादन के साधन दुर्लभ (scarce) होने के कारण पूर्तियाँ परस्पर सम्बद्ध (inter connected) हो जाती हैं। अब हमें यह देखना है कि परस्पर-सम्बद्ध वस्तुओं की दशा मे मूल्य (value) किस तरह निश्चित होता है। पहले सयुक्त-पूर्ति को ही लीजिए, यदि दो या दो से अधिक वस्तुओं का उत्पादन साथ-साथ होता है, तो उनकी पूर्ति सयुक्त मानी जाती है अथवा उसे सयुक्त उत्पादन कहते हैं। उदाहरण के लिए, गोश्त और ऊन, गेहूँ और भूसा, कपास व बिनौला, कोयला व गैस आदि।

प्रत्येक वस्तु की पूर्ति व माँग का साम्य उसका बाजार भाव निर्धारित करता है। जहाँ तक सामान्य कीमत (normal price) का सम्बन्ध है, वहाँ सयुक्त उत्पादन की वस्तुओं की कीमतों के योग से उन सब के उत्पादन की सीमान्त लागत (marginal cost of production) पूरी हो जानी चाहिए।

ऐसी स्थिति में या तो वे दोनो वस्तुएँ (यदि वे दो हो तो) एक ही अनुपात मे बनती हैं, अथवा उनके अनुपात में भिन्नता भी हो सकती है। पहली स्थिति मे तो एक वस्तु की कीमत के तनिक भी बढने से दूसरे की कीमत तुरन्त गिरने लगेगी। पर शर्त यह है कि दूसरी वस्तु की माँग में कोई परिवर्तन न हुआ हो। दूसरी स्थिति मे क्योकि अनुपात मे भिन्नता हो सकती है, इसलिए एक वस्तु की कीमत मे किसी प्रकार की वृद्धि से दूसरी वस्तु की कीमत मे उसी मात्रा मे कमी नही होगी, जिस मात्रा मे कि प्रथम उदाहरण में हुई थी।

सयुक्त उत्पादन आज की प्रणाली है (Joint Products are the Rule)—आजकल औद्योगिक तकनीक इतनी विकसित हो गई है कि बहुत कम वस्तुएँ ऐसी हैं, जिनका उत्पादन पृथक् रूप से होता है। इसलिए अर्थशास्त्र के अध्ययन में सयुक्त उत्पादन का बडा महत्त्व है। वह उपोत्पाद (by-products) जो पूर्वकाल मे फेंक दिए जाते थे, अब व्यापारिक कार्यों मे प्रयुक्त हो रहे हैं। आजकल निर्माणशालाओं मे अनेक प्रकार की चीजें निर्मित हो रही हैं। रेलो द्वारा सयुक्त लागत पर बहुत-सी

सेवाएँ मिल रही है। ऐसी सेवाओ (अथवा माल) की कीमतो का निर्णय इस आधार पर होता है कि यातायात (traffic) क्या सहार करता है। यद्यपि उत्पादन लागत सयुक्त है पर उत्पादित वस्तुएँ अनेक होती हैं, और हर प्रकार की वस्तु की पृथक् उत्पादन लागत का अनुमान लगाना सम्भव नही है। इसलिए इन वस्तुओं की कीमत सयुक्त पूर्ति के आधार पर निश्चित होती है।

२ सयुक्त माँग (Joint Demand)—परस्पर सम्बन्धित माँग दो प्रकार के सम्बन्ध प्रस्तुत करती है (१) सम्पूरक (complimentary) तथा (२) प्रतिस्थापित (substitutive)। अब हम पहले सम्पूरक सम्बन्ध का अध्ययन करेंगे।

जिन वस्तुओ की माँग साथ-साथ होती है, उनकी माँग को सयुक्त माँग कहते है। मोटरकार व पैट्रोल, कलम व स्याही, टेनिस बाल व रैकट आदि सयुक्त माँगें हैं। इस सम्बन्ध में व्युत्पन्न माँग (derived demand) के उदाहरण बहुत महत्वपूर्ण हैं। व्युत्पन्न माँग उन पदार्थों व सेवाओ की होती है जिनके द्वारा वस्तु का उत्पादन होता है।

जब दो वस्तुएँ सम्पूरक होती हैं, जैसे फाउन्टेनपेन तथा स्याही, तो एक वस्तु (फाउन्टेनपेन) की माँग म वृद्धि दूसरी (स्याही) की माँग भी बढा देगी। यदि एक की भी कीमत घट जाएगी तो दोनो की माँग मे वृद्धि हो जाएगी। इसके अर्थ यह हैं कि यदि फाउन्टेनपेन की कीमत घट जाती है तो स्याही की कीमत बढ जाएगी क्योंकि उसकी माँग भी बढ जाएगी। इन कीमतो के बदलने की सीमा फाउन्टेनपेन की माँग तथा स्याही की पूर्ति की लोच पर निर्भर होगी।

यह बात इस उदाहरण से स्पष्ट हो जाएगी। मान लीजिए कि मकानो की माँग अचानक बढ जाने से उनकी कीमत बढ जाती है। मकानो की कीमतो मे यह वृद्धि उनम प्रयोग होने वाले पदार्थों की कीमत पर क्या प्रभाव डालेगी ? इसका तात्कालिक प्रभाव यह होगा कि मकान बनाने म प्रयोग होने वाले विभिन्न पदार्थों की माँग बढ जाएगी। इससे उनकी कीमत मे वृद्धि होगी। पर उनम से प्रत्येक की कीमत की वृद्धि की मात्रा समान नही होगी क्योंकि प्रत्यक की पूर्ति की परिस्थितियाँ विभिन्न हैं। और यह भी सम्भव है कि उनके प्रयोग के अनुपात मे परिवर्तन करके उनकी माँग को घटाया या बढाया जा सकता है। इसलिए प्रत्येक की कीमत मे वृद्धि को निर्धारित करने मे बहुत-सी परिस्थितियाँ काम करेगी। इनम से मुख्य माँग की लोच व दुर्लभता की मात्रा (elasticity of demand and degree of scarcity) हैं। अस्तु—

(क) यदि अन्य बातें समान हो तो जो वस्तु अधिक दुर्लभ होगी, उसकी कीमत मे वृद्धि भी अधिक होगी। (ख) यदि कुछ वस्तुओ की कीमत अधिक बढ जाए तो उनके प्रयोग के अनुपात को कम किया जा सकता है। ऐसी दशा मे कीमत की यह वृद्धि कुछ हद तक रोकी जा सकती है। कुछ वस्तुओ के बजाय दूसरी सस्ती चीजें मिल जाती हैं, जिनसे उनकी कीमत अधिक नही बढ पाती। (ग) यह भी हो सकता है कि मकान के कुछ पदार्थ वैकल्पिक प्रयोगो (alternative uses) मे अधिक लाभदायक हो, और इसलिए यदि मकान मालिक उनकी अत्यधिक कीमत न दें तो ऐसी दशा में उनको दूसरे प्रयाग में लाया जाएगा और कीमतें अप्रत्याशित रूप से बढ

जायेंगी। (घ) यदि किसी पदार्थ की लागत उत्पादित वस्तु की कुल लागत (total cost) से बहुत कम अनुपात में हो तो उसकी कीमत अधिक बढ सकती है क्योंकि इससे वस्तु की कीमत व फलस्वरूप उसकी मांग पर कोई विशेष प्रभाव नही पडेगा। यदि किसी अगभूत वस्तु (constituent) की कीमत (जैसे श्रम) मकान की लागत के अत्यधिक भाग के बराबर होगी तो उसकी कीमत अधिक नहीं बढ सकती क्योंकि इससे मकान की कीमत बढ जाएगी व फलस्वरूप उसकी मांग कम हो जाएगी। मांग की कमी कीमत को फिर गिरा देगी और इसका प्रभाव उस पदार्थ पर जिसकी कीमत अचानक बढ गई थी, उल्टा पडेगा।

इसलिए, इस प्रकार की सभी वस्तुओं की कीमत उस वस्तु की, जिसके उत्पादन में इनका प्रयोग होता है, सीमान्त उपयोगिता द्वारा निश्चित होती है, दीर्घकाल में हर वस्तु का उपयोग इतनी मात्रा में होना चाहिए कि उसकी सीमान्त उत्पादन लागत समान हो जाए। अधिकतर उनमें से प्रत्येक की व्यक्तिगत रूप से सीमान्त उपयोगिता पृथक् करना सम्भव नहीं होता।

स्थानापन्न वस्तुएँ (Substitutes) जैसे चाय तथा कॉफी मे एक की कीमत मे वृद्धि से दूसरे की मांग बढ जाएगी। फलस्वरूप दूसरे की कीमत भी बढ जाएगी। कीमत के गिरने से उल्टा प्रभाव पडेगा। मिश्रित लोच (cross elasticity) का सामान्य विचार इस सम्बन्ध को बताने का मार्ग दर्शक है। स्थानापन्न वस्तुओ के सम्बन्ध मे मिश्रित-लोच निम्नलिखित नियम से जानी जा सकती है—

$$\text{मि० लो०} = \frac{\text{च की मात्रा में सम्बन्धित परिवर्तन}}{\text{क की कीमत मे सम्बन्धित परिवर्तन}}$$

मि० लो० = मिश्रित लोच, च = चाय तथा क = कॉफी

क्या कोई अंग संयुक्त मांग में अपनी पूर्ति रोक कर पारिश्रमिक बढा सकता है?

यदि उत्पादन का यह अश अत्यन्त आवश्यक है तो इसका पारिश्रमिक अवश्य बढ जाएगा क्योकि इसके बिना उत्पादन कार्य ही बन्द हो जाएगा। उसकी पूर्ति का अवरोध उत्पादन बन्द कर देगा। फलस्वरूप उत्पादित वस्तु जैसे (मकान) की कीमत में वृद्धि होना अवश्यम्भावी है। ऐसी दशा मे यह कीमत दूसरे साधनो की लागत से अधिक हो जाएगी और इस अतिरेक लाभ म से ही निरोधित साधन (श्रमिको का एक विशिष्ट समुदाय) को चुकाया जाएगा। "मार्शल" ने इस व्युत्पन्न मांग के नियम (Law of Derived Demand) की व्याख्या इस प्रकार की है—

"वह कीमत जो उत्पादित वस्तु के किसी साधन को दी जाएगी, सदैव उस अन्तर तक सीमित रहेगी, जो कि उस कीमत मे, जिस पर कि वस्तु का विकय हो सकता है व उन कीमतो का योग, जिन पर दूसरे साधनों की पूर्ति होती है प्रयोग के लिए मिल सकती है।"[1]

---

1. "The price that will be offered for anything used in producing a commodity is for each separate amount of the commodity, limited by the excess of the price at which that amount of the commodity can find purchasers, over the sum of the prices at which the corresponding supplies of the things needed for making it will be forthcoming"—Marshall Principles of Economics, 1936, p 383

कुछ परिस्थितियाँ ऐसी होती हैं, जिनमे श्रमिकों का एक समूह अपनी पूर्ति रोक कर अपनी मजदूरी बढाने मे सदैव सफल रहता है। यह भी संयुक्त माँग की स्थिति है। वह परिस्थितियाँ ये हैं—(१) उत्पादित वस्तु (मकान) की माँग, जिसमे ऐसे मनुष्यों की सेवाएँ प्रयोग म लाई जाती है लोचहीन (inelastic) होनी चाहिए। (२) ऐसे समूह की सेवाएँ अति आवश्यक हो तथा उनका स्थानापन्न न मिल सके। (३) यह भी आवश्यक है कि उनकी मजदूरी कुल मजदूरी का थोडा भाग हो। ऐसी दशा म उद्यमी उनकी बढी हुई मजदूरी की माँग को स्वीकार कर सकेगा। (४) साथ ही साथ दूसरे साधनो की माँग लोचपूर्ण व पूर्ति लोचहीन हों, जिससे कि माँग में तनिक रुकावट भी उसकी पूर्ति की कीमत को गिरा दे। इससे असहयोगी अंश (non-co-operating factor) अपना पारिश्रमिक बढा सकेगा।

३ सामासिक पूर्ति (Composite Supply)—जिन वस्तुओ की पूर्ति कई वैकल्पिक साधनों द्वारा हो सकती है उनकी पूर्ति को 'सामासिक पूर्ति' कहते हैं, क्योंकि उनकी पूर्ति का निर्माण विभिन्न साधनो से प्राप्त पूर्ति द्वारा होता है। उदाहरण के लिए नमक खानो से भी प्राप्त हो सकता है और समुद्र के पानी से भी सुखाकर बनाया जा सकता है। पर इसके सबसे अच्छे उदाहरण स्थानापन्न या प्रतिस्थापित वस्तुएँ हैं। उनकी कीमत एक दूसरे से लगभग एक स्थिर 'दूरी' पर घटा या बढा करती है, ऐसी वस्तुओ में से प्रत्येक की कीमत दीर्घकाल में उस बिन्दु पर व्यवस्थित हो जाती है, जहाँ उसके उत्पादन की सीमान्त लागत उपभोक्ताओ के लिए सीमान्त उपयोगिता के समान होती है।

४ सामासिक माँग (Composite Demand)—जिस वस्तु के एक से अधिक उपयोग होते हैं उसकी माँग सामासिक होती है। उसकी सम्मिलित माँग का निर्माण उसके विभिन्न उपयोगों की माँग से होता है। उदाहरण के लिए कोयले का प्रयोग रेलवे इजन म, कारखानो में कमरे को गरम करने मे तथा खाना पकाने मे होता है। इन विभिन्न उपयोगों म कोयले की कीमत लगभग समान रहती है। उदाहरण के लिए, यदि रेलवे मे कोयले की माँग बढ जाती है तो तमाम कोयला रेलवे म जाने लगेगा। परिणामस्वरूप दूसरे उपभोगो में उसकी पूर्ति कम हो जाएगी जिससे उन प्रयोगो मे भी उसकी कीमत बढ जाएगी। इसलिए सामासिक माँग वाली वस्तुओं की कीमत विभिन्न प्रयोगो में, उनकी सीमान्त उपयोगिता द्वारा निर्धारित होती है क्योंकि वस्तु एक प्रयोग मे हटाकर दूसरे प्रयोग में लाई जा सकती है। दीर्घकाल में इनकी कीमत इतनी होनी चाहिए जिससे कि उनकी सीमान्त उत्पादन की लागत पूरी हो सके।

निर्देश पुस्तकें

Henderson H D Supply and Demand

Clark J M Economics of Overhead Costs, 1923 Ch XI, pp. 216 232

Stigler, G J Theory of Price

अध्याय २२

एकाधिकार में मूल्य

(Value Under Monopoly)

१ एकाधिकार कीमत निश्चित करना (Fixing Monopoly Price)—पिछले तीन अध्यायों म मूल्य अथवा कीमत का अध्ययन करते समय हमने यह मान लिया था कि ग्राहकों व विक्रेताओं, दोनों के बीच पूर्ण प्रतियोगिता (perfect competition) पाई जाती है। पर इस अध्याय म हम इसकी प्रतिकूल स्थितियों का अध्ययन करेंगे अर्थात् एकाधिकार का। विस्तृत अर्थ म एकाधिकार शब्द का प्रयोग 'पूर्ति अथवा माँग किसी भी दृष्टिकोण से किए गए वस्तु तथा सेवा की कीमत के नियन्त्रण के लिए होता है। पर सकुचित रूप मे इसका आशय व्यापारियों अथवा उत्पादकों के उस सघ से होता है, जो वस्तुओं या सेवाओं की पूर्ति की कीमत का नियन्त्रण करता है।"[1]

प्रत्येक विक्रेता व उत्पादक अधिक से अधिक लाभ कमाने की चेष्टा करता है। चूँकि पूर्ण प्रतियोगिता म, कीमत सीमान्त लागत के बराबर होती है, इसलिए उत्पादकों को केवल सामान्य लाभ प्राप्त होता है, जो लागत का एक अग होता है। पर एकाधिकार की स्थिति में एकाधिकारी को सामान्य से अधिक लाभ कमाने की शक्ति होती है। अपनी वस्तु को सीमान्त उत्पादन व्यय से अधिक दामों पर बचकर वह यह लाभ प्राप्त करता है। सीमान्त लागत तथा कीमत के बीच का यह अन्तर ही एकाधिकार शक्ति की मात्रा का माप है।

यह तो स्पष्ट है कि कोई भी एकाधिकारी पैदावार की मात्रा व कीमत दोनों ही निश्चित नहीं कर सकता। वह या तो एक निश्चित मात्रा म पैदावार करके यह प्रतीक्षा करता है कि माँग की शक्ति उसकी वस्तु की कीमत निर्धारित करे, अथवा कीमत निश्चित कर वह माँग के लोच पर छोड देता है कि उत्पादन किस परिमाण म हो। अधिकतर एकाधिकारी दूसरा रास्ता अपनाता है।

अब प्रश्न यह है कि एकाधिकारी के लिए कौनसी कीमत सबसे अधिक लाभप्रद होगी। सैद्धान्तिक दृष्टि से तो वह ऐसी ही कीमत निश्चित करेगा जिससे लाभ सर्वाधिक हो। शुद्ध एकाधिकार सीमित करने वाला है।[2] उसकी आय स्थिर होती है जोकि उपभोक्ताओं की समस्त आय के बराबर होती है। यदि उसकी कुल लागत सबसे कम है तो उसका एकाधिकार लाभ अधिकतम होगा। वह इतना शक्तिशाली होता है कि अपने उत्पाद के छोटे से भाग को भी बहुत अधिक ऊँची कीमत पर बेच सकता है। किन्तु ऐसी स्थिति वास्तव म व्यवहारिक रूप से सम्भव

1 Thomas S E Op cit p 215

2 See Ch XI, Section 1

नहीं है। वास्तव में यह आवश्यक नहीं है कि एकाधिकार कीमत अत्यधिक ऊँची या नीची हो। यदि एकाधिकारी कीमत को बहुत अधिक बढा देगा तो वस्तु की बहुत थोड़ी इकाइयाँ बिकेंगी। साथ ही यदि कीमत बहुत कम होगी तो उसे प्रति इकाई बहुत कम लाभ होगा। इसलिए उसे कीमत इस प्रकार निश्चित करनी चाहिए, जिससे कि प्रति इकाई पर एकाधिकारी का लाभ बेची हुई इकाइयों से गुणा करके योग अधिकतम हो।

२ सीमान्त राजस्व व सीमान्त लागत की साम्यता (Equalisation of Marginal Revenue and Marginal Costs)—सीमान्त लागत क्या होती है इसकी व्याख्या की जा चुकी है। सीमान्त लागत वह लागत है जो अतिरिक्त इकाई के उत्पादन से उत्पादन की कुल लागत में जोड़ने से प्राप्त होती है। इसी प्रकार सीमान्त राजस्व वह आगम है जो अतिरिक्त इकाई के विक्रय से प्राप्त आय को एकाधिकार के कुल आगम में जोड़ देने से प्राप्त होती है। इससे यह स्पष्ट है कि जब तक उत्पादित व विक्रय की गई अतिरिक्त इकाई से लागत की अपेक्षा आय अधिक बढती है, तब तक एकाधिकारी को अपना उत्पादन व विक्रय बढाने में लाभ होगा। इसके विपरीत होने पर उत्पादन कम करना ही लाभप्रद होगा। जिस बिन्दु पर सीमान्त लागत व सीमान्त राजस्व समान होते हैं वह अनुकूलतम उत्पादन है, अर्थात् वह, जो सर्वाधिक एकाधिकारी लाभ प्रकट करता है। यह बिन्दु कहाँ होगा, यह माँग व व्यय की सूची पर निर्भर होगा। नीचे इसी का सुगम अंकित उदाहरण दिया जा रहा है—

(१) कीमत (रु०)	(२) माँगी गई इकाइयाँ (दर्जन)	(३) कुल राजस्व (रु०)	(४) सीमान्त राजस्व (रु०)	(५) पूर्ति की इकाइयाँ (दर्जन)	(६) कुल लागत (रु०)	(७) औसत लागत (रु०)	(८) सीमान्त लागत (रु०)
९	१	९	९	९	८१	९	१७
८	२	१६	७	८	६४	८	१५
७	३	२१	५	७	४६	७	१३
६	४	२४	३	६	३६	६	११
५	५	२५	१	५	२५	५	९
४	६	२४	—१	४	१६	४	७
३	७	२१	—३	३	९	३	५
२	८	१६	—५	२	४	२	३
१	९	९	—७	१	१	१	१

ऊपर की तालिका में कीमतें, माँगी गई इकाइयाँ, पूर्ति की हुई इकाइयाँ तथा कुल लागत का अनुमान दिया गया है। अन्य अंक इस प्रकार प्राप्त हुए हैं—

(क) कुल राजस्व = कीमत × माँगी गई इकाइयाँ।

(ख) सीमान्त राजस्व १ इकाई का कुल राजस्व ६ है, २ इकाइयों का १६ है २ इकाइयों का सीमान्त राजस्व १६—६=७ है, और आगे भी यह क्रम इसी प्रकार चलेगा।

(ग) औसत लागत कुल लागत—पूर्ति की इकाइयाँ।

(घ) सीमान्त लागत ८ इकाइयों की लागत ६४ है।

६ ,, ,, ८१ है।

६ इकाइयों की सीमान्त लागत ८१—६४=१७ होगी।

यदि हम यह मान लें कि एक दर्जन की इकाई को भग नहीं किया जा सकता, तो यदि तीन इकाइयाँ उत्पादित करके बेची जाएँ तो एकाधिकारी का लाभ अधिकतम होगा, क्योंकि यही वह बिन्दु है जहाँ सीमान्त लागत व सीमान्त राजस्व समान होता है। अस्तु—

इकाइयां (Units)	कुल आगम (Total Revenue) (रु०)	कुल लागत (Total Cost) (रु०)	शुद्ध एकाधिकारी राजस्व (Net Monopoly revenue) (कुल राजस्व—कुल व्यय)
१	६	१	८
२	१६	४	१२
३	२१	९	१२
४	२४	१६	८
५	२५	२५	०
६	२४	३६	—१२
७	२१	४९	—२८
८	१६	६४	—४८
९	९	८१	—७२

उपर्युक्त दृष्टान्त म तीन इकाइयों का एकाधिकारी राजस्व सर्वाधिक है। दो इकाइयों का भी सर्वाधिक है। यदि इकाई भग की जा सकती तो यह गणित की अशुद्धि न होती। वास्तव में ऊपर की परिस्थितियों म सर्वाधिक लाभप्रद उत्पादन २½ इकाइयाँ अर्थात् २ व ३ इकाइयों के मध्य म होना चाहिए।

३ सीमान्त राजस्व तथा औसत राजस्व (Marginal Revenue and Average Revenue)—सीमान्त आगम को औसत आगम से भिन्न किया जा सकता है। यह ध्यान म रखना चाहिए कि DD (मांग) वक्र को AR (औसत राजस्व) वक्र भी कहा जा सकता है क्योंकि यह एक इकाई की औसत कीमत जिस पर कि वस्तु की भिन्न भिन्न मात्राएँ बेची जा सकती हैं प्रस्तुत करती है, तथा ग्राहक की दी हुई कीमत विक्रेता के दृष्टिकोण से राजस्व है। अतएव औसत राजस्व सामान्य बाजार-कीमत के अनुरूप होता है। इसके विपरीत सीमान्त राजस्व कुल राजस्व का वह शुद्ध जोड है जो हर क्रमिक इकाई की बिक्री से होता है। शुद्ध (Net) शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण है। जब बिक्री के लिए अधिक लाया जाता है तो कीमत गिरती है जिससे पहले वाली अधिक कीमत पर बेची जाने वाली इकाइयों में कमी होती है। इस हानि

को बिक्री के लिए अधिक लाई जाने वाली मात्रा के बिके दामों में से घटा देना चाहिए। तब हम राजस्व के शुद्ध जोड़ को पा सकेंगे और यही सीमान्त राजस्व है।

औसत राजस्व तथा सीमान्त राजस्व का सम्बन्ध निम्न रेखाचित्र द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है—

चित्र ४६
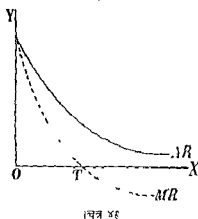
AR औसत राजस्व अथवा (मांग) वक्र है और MR बिन्दुओं में चिह्नित वक्र सीमान्त राजस्व वक्र है। यदि मांग वक्र एक क्षैतिज (horizontal) रेखा से प्रस्तुत होता है अर्थात् उत्पादन के बढ़ जाने पर भी कीमत वही रहे तो दोनों वक्र AR तथा MR समान हो जावेंगे। दूसरे शब्दों में सीमान्त राजस्व औसत राजस्व के बराबर है। इसका कारण यह है कि बढ़ी हुई पूर्ति पहली कीमत पर ही बिकती है और वह हानि होने से बच जाती है जो कि बढ़ी हुई पूर्ति के कारण कीमत के गिर जाने से होती।

यदि AR नीचे गिरता है (अथवा मांग वक्र नीचे को झुकता है) तो औसत राजस्व तथा सीमान्त राजस्व में भिन्नता होगी जैसा कि ऊपर के रेखाचित्र में दिखाया गया है। यह बिलकुल स्पष्ट है कि जब कीमत गिरती है जैसा कि गिरते हुए AR वक्र से मालूम होता है तो सीमान्त राजस्व सदैव औसत राजस्व से कम होगा क्योंकि गिरती हुई कीमत से बढ़ी हुई पूर्ति की बिक्री पर कुछ हानि अवश्य होगी। यही कारण है कि MR वक्र AR वक्र के नीचे है। बिन्दु T पर सीमान्त राजस्व शून्य होगा और नकारात्मक (negative) हो जाता है क्योंकि बड़ी इकाइयों से प्राप्त किया हुआ अधिक राजस्व समस्त पिछली इकाइयों पर औसत राजस्व में हानि होने से उलट जाएगा।

सीमान्त राजस्व तथा औसत राजस्व का सम्बन्ध औसत राजस्व अर्थात् (मांग) वक्र की लोच (elasticity) पर भी आधारित है। उस बिन्दु पर जहाँ मांग की लोच (औसत राजस्व) एकता (unity) है, सीमान्त राजस्व शून्य (zero) है। यह स्थिति क्रियात्मक (positive) है जहाँ लोच एकता (unity) से अधिक है, और नकारात्मक (negative) है जहाँ लोच एकता से कम है। दूसरे शब्दों में सीमान्त राजस्व वहाँ सदैव क्रियात्मक होता है जहाँ औसत राजस्व वक्र लोचदार होता है तथा सदैव नकारात्मक होता है जहाँ औसत राजस्व बेलोचदार होता है।[1]

४ एकाधिकार में अनुकूलतम उत्पादन (Optimum Output under Monopoly)—यह बात ध्यान देने योग्य है कि अनुकूलतम उत्पादन प्रतियोगिता को

1. See Stonier and Hague Text Book of Economic Theory (1953), pp 97—98

अपेक्षा एकाधिकार में कम होता है। पिछले एक अध्याय मे हम यह देख चुके हैं कि पूर्ण प्रतियोगिता में उत्पादक अपने उत्पादन में परिवर्तन करके कीमत पर कोई विशेष प्रभाव नही डाल सकता। इसका कारण यह है कि उसका उत्पादन कुल पूर्ति का बहुत छोटा भाग होता है। वर्तमान कीमत पर वह जितना चाहे बेच सकता है। यदि वह कीमत थोडी कम कर देता है तो सब लोग उसी से खरीदेंगे और वह यदि कीमत थोडी बढा देता है तो वह कुछ भी नही बेच सकेगा।

एकाधिकारी की स्थिति भिन्न होती है। पर एकाधिकारी जब उत्पादन बढाता है, तो अतिरिक्त उत्पादन के विक्रय के हेतु उसे कीमत में कमी करनी पडती है। इस प्रकार केवल उसकी अतिरिक्त पैदावार की ही कीमत नही गिरती, बल्कि कुल उत्पादन की भी कीमत कम हो जाती है। और चूँकि उत्पादन उसकी वस्तु के विक्रय की कीमत को प्रभावित करता है, इसलिए कीमत प्रतियोगिता की दशा में उत्पादन करने वाले की उसी भाँति महत्त्वपूर्ण नहीं होगा। एकाधिकारी अपने उत्पादन को उस सीमा तक बढा नहीं सकता जितना कि प्रतियोगिता की दशा में उत्पादक कर सकता है। वह इसे केवल उसी बिन्दु तक विस्तृत कर सकता है, जहाँ उसकी सीमान्त लागत सीमान्त राजस्व के बराबर होती है।

पृष्ठ २६२ पर दी गई तालिका इस बात को अधिक स्पष्ट करती है। इसमे पूर्ण व अपूर्ण प्रतियोगिता की दशाओ की तुलना की गई है। जो बात अपूर्ण प्रतियोगिता के सिलसिले में सच है वही एकाधिकार में तो और भी अधिक लागू होती है।

तालिका से यह प्रकट होता है कि पूर्ण प्रतियोगिता मे माँग की कीमत (कालम च) स्थिर रहती है, क्योकि किसी फर्म म उत्पादन बढ जाने से कीमत पर कोई विशेष प्रभाव नही पडता। प्रतियोगिता में उत्पादक के लिए माँग कीमत स्थिर रहने के कारण सीमान्त राजस्व भी स्थिर रहता है। अस्तु, उत्पादन का विस्तार उस बिन्दु (११ इकाइयाँ) तक होगा, जहाँ सीमान्त लागत माँग कीमत के बराबर होगी।

अपूर्ण प्रतियोगिता म जैसे जैसे उत्पादन बढता जाता है (कालम झ) माँग की कीमत गिरती जाती है। ऐसी दशा मे सीमान्त राजस्व भी कम होने लगता है, यहाँ तक कि वह ऋणात्मक (negative) हो जाता है। इस परिस्थिति म ७ इकाइयों पर उत्पादक को उत्पादन का विस्तार बन्द कर देना होगा। यदि वह अधिक उत्पादन करेगा तो उसकी सीमान्त लागत सीमान्त राजस्व से अधिक हो जाएगी। ७ इकाइयो पर यह दोनो लगभग बराबर हैं।

यह बात विचारणीय है कि प्रतियोगिता मे उत्पादक के लिए सीमान्त प्राप्ति (marginal receipts) व सीमान्त राजस्व तथा माँग की कीमत या बाज़ार-कीमत एक ही बात है। पर अपूर्ण प्रतियोगिता वाले उत्पादक या एकाधिकारी के लिए यह दोनो एक अर्थ नही रखते। ७ इकाइयो तक अर्थात् अनुकूलतम उत्पादन तक माँग कीमत सीमान्त लागत से अधिक है।

यदि माँग की लोच (औसत राजस्व) वक्र एकता (unity) से कम है तो कोई भी एकाधिकारी अपनी पैदावार निश्चित नही करेगा जब तक सीमान्त लागतें नकारात्मक (negative) न हो जाएँ। चूंकि जहाँ लागतें क्रियात्मक (positive)

लागत अवस्थाएँ (Cost Conditions)							माँग की अवस्थाएँ (Demand Conditions)											
	पूर्ण व अपूर्ण प्रतियोगिता में समान मान ली गई						पूर्ण प्रतियोगिता						अपूर्ण प्रतियोगिता					
(क) उत्पादन की इकाइयाँ	(ख) औसत व्यय		(ग) कुल व्यय		(घ) सीमान्त व्यय		(च) माँग की कीमत		(छ) कुल प्राप्ति		(ज) सीमान्त प्राप्ति		(झ) माँग की कीमत		कुल प्राप्ति		सीमान्त प्राप्ति	
	रु०	न० पै०	रु०	न० पै०	रु०	न० पै०	रु०	न० पै०	रु०	न० पै०	रु०	न० पै०	रु०	न० पै०	रु०	न० पै०	रु०	न० पै०
१	१५	६२	१५	६२	१५	६२	१०	००	१०	००	१०	००	१४	५०	१४	५०	१४	५०
२	१४	५०	२९	००	१३	३७	१०	००	२०	००	१०	००	१४	००	२८	००	१३	५०
३	१३	५०	४०	५०	११	५०	१०	००	३०	००	१०	००	१३	५०	४०	५०	१२	५०
४	१२	६२	५०	५०	१०	००	१०	००	४०	००	१०	००	१३	००	५२	००	११	५०
५	११	८७	५९	३७	८	८७	१०	००	५०	००	१०	००	१२	५०	६२	५०	१०	५०
६	११	२५	६७	५०	८	१२	१०	००	६०	००	१०	००	१२	००	७२	००	९	५०
७	१०	७५	७५	२५	७	७५	१०	००	७०	००	१०	००	११	५०	८०	५०	८	५०
८	१०	३७	८३	००	७	७५	१०	००	८०	००	१०	००	११	००	८८	००	७	५०
९	१०	१२	९१	१२	८	१२	१०	००	९०	००	१०	००	१०	५०	९४	५०	६	५०
१०	१०	००	१००	००	८	८७	१०	००	१००	००	१०	००	१०	००	१००	००	५	५०
११	१०	००	११०	००	१०	००	१०	००	११०	००	१०	००	९	५०	१०४	५०	४	५०
१२	१०	१२	१२१	५०	११	५०	१०	००	१२०	००	१०	००	९	००	१०८	००	३	५०
१३	१०	३७	१३४	८७	१३	३७	१०	००	१३०	००	१०	००	८	५०	११०	५०	२	५०
१४	१०	७५	१५०	५०	१५	६२	१०	००	१४०	००	१०	००	८	००	११२	००	१	५०
१५	११	२५	१६८	७५	१८	२५	१०	००	१५०	००	१०	००	७	५०	११२	५०	०	५०
१६	११	८७	१९०	००	२१	२५	१०	००	१६०	००	१०	००	७	००	११२	००	०	००

हैं वहाँ पैदावार में वृद्धि का अर्थ होगा कि उसके कुल राजस्व (प्राप्ति–receipts) में उसकी लागत से कम वृद्धि होगी। मान लीजिए कि लोच एक है (अर्थात् माँग कीमत मे परिवर्तन के अनुपात के अनुसार बढती है), एकाधिकारी अपनी पैदावार का निश्चय तब तक नहीं करेगा जब तक सीमान्त लागत शून्य नही हो जाती। चूँकि एकाधिकारी की कीमतें क्रियात्मक होती हैं, इसलिए दोनों स्थितियाँ असम्भव हैं।

स्टोनियर तथा हेग (Stonier and Hague) द्वारा निम्नलिखित रेखाचित्र का निरूपण किया गया है, जिससे सब बात स्पष्ट हो जाती है[1] —

चित्र ५०

R से आगे, लोच एकता (unity) से कम है, R तथा R' के बीच यह एकता है, और R के बाईं ओर यह एकता से अधिक है। एकाधिकारी R के बाईं ओर अपनी पैदावार की मात्रा निश्चित करेगा। पैदावार OM तब होगी जहाँ सीमान्त राजस्व सीमान्त लागत के बराबर होगा।

५ प्राप्ति नियम, माँग की लोच तथा एकाधिकार कीमत (Laws of Returns, Elasticity of Demand and Monopoly Price)—हम पहले के एक अध्याय मे देख चुके है कि किसी वस्तु की अतिरिक्त इकाइयाँ प्रति इकाई स्थिर लागत, वृद्धि लागत अथवा ह्रास लागत (constant, increasing and decreasing costs) पर उत्पादित की जा सकती हैं। अब प्रश्न यह है कि एकाधिकार मूल्य के सिद्धान्त मे यह नियम क्या परिवर्तन कर देता है। एकाधिकार की कीमत निश्चित करने के सिद्धान्त मे कोई परिवर्तन नही होता। एकाधिकारी हर दशा में यही प्रयत्न करेगा कि ऐसी कीमत निश्चित हो या इतना उत्पादन किया जाए कि एकाधिकार राजस्व सर्वाधिक हो। और ऐसा करने के लिए वह उत्पादन का विस्तार तब तक करता रहेगा जब तक कि उसकी सीमान्त लागत सीमान्त राजस्व के बराबर न हो जाएगी। यह स्थिति कम उत्पादन पर पैदा होगी, अथवा अधिक उत्पादन पर इसका निर्णय प्राप्ति नियम व माँग की लोच मिलकर करेंगे।

प्रत्येक दशा म एकाधिकारी को दो बातो का ध्यान रखना पडेगा—

(क) एकाधिकारी को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि सीमान्त लागत का बढते हुए उत्पादन से क्या सम्बन्ध है, अर्थात् उत्पादन प्राप्ति के किस नियम (law of return) के अन्तर्गत हो रहा है।

(ख) उपभोक्ताओं की माँग की लोच की क्या दशा है। अस्तु······

(१) यदि पदार्थ का उत्पादन स्थिर प्राप्ति नियम के अनुसार हो रहा है, तो
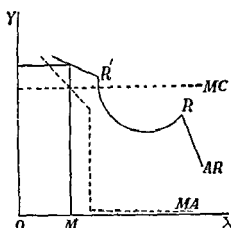
1. Stonier and Hague Op cit, pp 97 98,

इस बात का निर्णय कि उत्पादन बढाया जाए अथवा कम किया जाए, माँग की लोच करेगी, क्योंकि ऐसी दशा मे प्रति इकाई लागत स्थिर होती है। यदि माँग अत्यधिक लोचदार होगी (अर्थात् कीमत मे तनिक गिरावट से माँग बढ जाती है और कीमत मे तनिक-सी वृद्धि से माँग घट जाती है) तो एकाधिकारी को अपना उत्पादन बढा कर एव कीमत कम कर देने से अत्यधिक लाभ होगा। पर यदि माँग लोचहीन होगी तो उसे पूर्ति कम करके एव कीमत म वृद्धि लाने से लाभ होगा।

(ii) यदि उत्पादन घटती हुई प्राप्ति के नियम के अन्तर्गत हो रहा हो, तो एकाधिकारी को पूर्ति मे कमी करके तथा ऊँची कीमत पर विक्रय करने से लाभ होगा। उसका उत्पादन सबसे कम उस समय होगा जब बढती लागत की दशा में (घटती हुई प्राप्ति की अवस्था मे) इसका मेल बेलोचदार माँग से होगा।

(iii) यदि वस्तु बढती हुई प्राप्ति की दशा में पैदा की जा सकती है तो एकाधिकारी के लिए यह लाभदायक होगा कि वह पैदावार को बढाए और कीमत गिरा दे। उसकी पैदावार (output) सबसे अधिक उस समय होगी जब घटती लागत पर तैयार किए गए माल (अर्थात् बढती हुई प्राप्ति म) का मेल बहुत लोचदार माँग से होगा।

६ एकाधिकार मूल्य के सिद्धान्त का साराश (Theory of Monopoly Value Summed up)—इस प्रकार एकाधिकार की परिस्थिति मे मूल्य के निर्णय के सम्बन्ध मे हम निम्नलिखित निष्कर्षो पर पहुँचते हैं। चूँकि अपूर्ण प्रतियोगिता मे भी एकाधिकार की कुछ मात्रा होती है, इसलिए अपूर्ण प्रतियोगिता म भी यह निष्कर्ष लागू होते हैं—

(क) पूर्ण प्रतियोगिता की भाँति एकाधिकार में भी कीमत का निर्धारण माँग व पूर्ति की शक्तियाँ ही करती हैं। पर अन्तर केवल इतना है कि एकाधिकारी पूर्ति मे इच्छानुसार वृद्धि अथवा कमी ला सकता है। ऐसा करने के लिए उसके पास दो विकल्प हैं (i) वह कीमत को निश्चित करके वस्तु को उपभोक्ताओ की माँग के अनुसार विक्रय के लिए छोड दे। (ii) वस्तु के उत्पादन तथा विक्रय का परिमाण निश्चित करके कीमत का निर्धारण पूर्ति से सम्बन्धित माँग पर छोड दे। पर कोई भी एकाधिकारी दोनों बाते एक साथ नही कर सकता।

(ख) यदि एकाधिकारी कम कीमत रखे तो वह अधिक इकाइयो का विक्रय कर सकता है।

(ग) एकाधिकारी सदैव अपने राजस्व को अधिक से अधिक करना चाहता है। इसलिए वह कीमत इस प्रकार निश्चय करेगा कि उसके लिए प्रति इकाई राजस्व व विक्रय की गई इकाइयो का गुणनफल सर्वाधिक हो।

(घ) यदि एकाधिकारी को वस्तु की प्राप्ति में कुछ भी व्यय न करना पडा हो तो वह विक्रय को इतना बढाएगा कि उसकी सीमान्त प्राप्ति (receipts) शून्य हो जाए। ऐसा इसलिए होगा कि वस्तु पर कुछ व्यय न होने के कारण क्रियात्मक सीमान्त प्राप्ति (positive marginal receipts) की मात्रा उसके एकाधिकार राजस्व को बढा देगी।

(ङ) यदि वस्तु के उत्पादन मे उत्पादन की लागत सम्मिलित हो, तो एकाधिकारी केवल वस्तु की उस मात्रा का उत्पादन करेगा, जिससे प्राप्त सीमान्त प्राप्ति (receipt) सीमान्त उत्पादन लागत के बराबर हो।

(च) पूर्ण प्रतियोगिता मे "सीमान्त प्राप्ति" व विक्रय कीमत समान होती है। इसका कारण यह है कि ऐसी दशा में विक्रेता की कम या अधिक बिक्री का कीमत पर कोई प्रभाव नही पडता। पर एकाधिकार (व अपूर्ण प्रतियोगिता) में अनुकूलतम (Optimum) उत्पादन के समय सीमान्त प्राप्ति विक्रय कीमत से कम होनी है क्योकि इन परिस्थितियो मे विक्रय कीमत गिर जाती है।

(छ) पर यदि सब बातें समान रहे तो एकाधिकार व अपूर्ण प्रतियोगिता के उत्पादन का अनुकूलतम उत्पादन पूर्ण प्रतियोगिता की परिस्थिति मे उत्पादन करने वालो की अपेक्षा कम मात्रा में होगा। इसका कारण यह है कि इससे पहले कि सीमान्त लागत विक्रय कीमत के बराबर हो जाए, अपूर्ण प्रतियोगिता की दशा मे उत्पादन बन्द हो जाता है। पर प्रतियोगिता मे उत्पादक उस समय तक विक्रय मे विस्तार कर सकता है, जब तक उसकी सीमान्त-लागत तत्कालीन बाज़ार भाव के बराबर न हो जाए।

(ज) यह याद रखना आवश्यक है कि जिस परिवर्तनशील ससार मे हम रहते हैं उसमे माँग तथा लागत की दशाओ मे परिवर्तन का ठीक अनुमान लगाना असम्भव है। एक एकाधिकारी अधिकतम उत्पादन के बिन्दु का ठीक पता नही लगा सकता। कीमत निर्धारण मे महत्त्वपूर्ण साधन सही माँग नही वरन् एकाधिकारी का सही माँग का अनुमान है। उत्पादन तथा कीमत में छोटे-छोटे समायोजनो से तथा परीक्षा और गलती करके वह अनुकूलतम पैदावार प्राप्त कर सकता है। पर अवस्थाओ में परिवर्तन होता रहता है और आज का अनुकूलतम भविष्य के लिए केवल मार्गदर्शक ही सिद्ध होता है।

७ एकाधिकार कीमत निर्धारण का रेखाचित्र द्वारा निरूपण (Diagrammatic Representation of the Determination of Monopoly Price)—रेखाचित्र ५१ में एकाधिकार उत्पादन तथा कीमत का एकीकरण बढती हुई प्राप्ति नियम अथवा घटती लागत नियम के अन्तर्गत प्रस्तुत करता है।[1]

चित्र ५१—घटती हुई लागत

AR माँग वक्र या औसत राजस्व वक्र है; MR सीमान्त राजस्व वक्र है, ATUC कुल इकाइयो का औसत लागत वक्र है; तथा MC सीमान्त लागत वक्र है। P वह बिन्दु है जहाँ पर सीमान्त राजस्व तथा सीमान्त लागत वक्र एक दूसरे को काटते हैं। इस प्रकार OM उत्पादन पर सीमान्त लागत सीमान्त राजस्व के बराबर है।

---
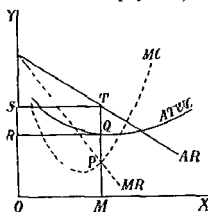
1. See Meyers, A L —Elements of Modern Economics, 1951, p. 180

यह अनुकूलतम उत्पादन है। अर्थात् इस पर एकाधिकार लाभ अधिकतम है। इस उत्पादन पर औसत राजस्व (अथवा कीमत) TM तथा औसत (कुल इकाइयों की) लागत QM है अर्थात् कीमत लागत से TQ अधिक है।

∴ एकाधिकार लाभ = कुल राजस्व अर्थात् क्षेत्रफल OMTS — कुल लागत अर्थात् OMQR = RQTS
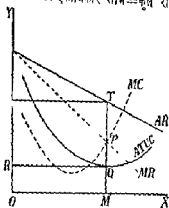
चित्र ५२—बढ़ती हुई लागत

यह आयताकार क्षेत्रफल RQTS जो एकाधिकार लाभ बताता है सबसे अधिक है जो इन लागत की अवस्थाओं में पाया जा सकता है।

रेखाचित्र ५२ यह बताता है कि जब घटती हुई प्राप्ति का नियम अथवा बढ़ती लागत का नियम लागू होता है तो एकाधिकारी कैसे उत्पादन तथा कीमत में एकीकरण स्थापित करता है।

रेखाचित्र ५२ में लागत वक्र वही है जो कि रेखाचित्र ५१ में है। परन्तु AR (औसत राजस्व) अथवा माँग धीरे-धीरे झुकती है और इसलिए अधिक लोचदार है। माँग एकाधिकारी को कम-से-कम औसत लागत के बिन्दु के आगे उत्पादन करने को प्रोत्साहन देने के लिए काफी है। अनुकूलतम उत्पादन OM है जहाँ सीमान्त लागत और सीमान्त राजस्व बराबर हैं। ये दोनों वक्र बिन्दु P पर काटते हैं। औसत कीमत अथवा कीमत TM है और औसत लागत QM। TQ औसत कीमत तथा औसत लागत का अन्तर है।

एकाधिकार लाभ = कुल राजस्व अर्थात् क्षेत्रफल OMTS — कुल लागत अर्थात् क्षेत्रफल OMQR = RQTS। यह सबसे बड़ा क्षेत्रफल है जो इन वक्रों के अन्तर्गत खींचा जा सकता है।

रेखाचित्र ५३ का सम्बन्ध स्थिर लागत (constant cost) से है जिसका निरूपण क्षैतिज रेखा द्वारा किया गया है।

OM पैदावार होने पर, सीमान्त लागत (MC) = सीमान्त राजस्व (MR)। OP एकाधिकार कीमत है और PQRL एकाधिकार लाभ है।
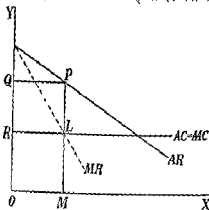
चित्र ५३—स्थिर लागत

अब पूर्ण प्रतियोगिता तथा एकाधिकार अथवा अपूर्ण प्रतियोगिता में अन्तर जान लेना चाहिए।

(क) प्रतियोगिता में, फर्म का सीमान्त लागत वक्र साम्य पैदावार (equilibrium output) के बिन्दु के करीब या उस पर उठ जाता है। पूर्ण प्रतियोगिता में गिरते हुए लागत वक्र साम्यावस्था के साथ असगत (incompatible) हैं। लेकिन अपूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था मे कोई भी फर्म बढती हुई (rising), गिरती हुई (falling) अथवा स्थिर सीमान्त लागतो (constant marginal costs) की दशा में भी साम्यावस्था मे हो सकती है यदि सीमान्त राजस्व सीमान्त लागत के समान (equal) हो।

(ख) दूसरे अन्तर का सम्बन्ध लाभ के आकार से है। पूर्ण प्रतियोगिता मे, अतिसामान्य (super normal) लाभ समाप्त हो जाएंगे, लेकिन एकाधिकार की अवस्था मे अतिसामान्य लाभ होते रहेंगे।

८ कीमत विभेद (Price Discrimination)—अभी तक हमने यह मान लिया था कि एकाधिकारी अपनी वस्तु की सब ग्राहको से एक ही कीमत लेता है, पर बहुधा ऐसा नही होता। एकाधिकारी कभी-कभी विभिन्न व्यक्तियो से जुदा कीमत लेते हैं। पर ऐसा तभी हो सकता है, जब कि व्यक्तियो का सम्बन्ध 'विभिन्न बाजारो" अथवा प्रतियोगी समूहो से हो। इसे कीमत विभेद कहते हैं।

कीमत विभेद कई प्रकार का हो सकता है—

(१) व्यक्तिगत (personal), (२) स्थानीय (local) अथवा (३) व्यवसाय या प्रयोग के अनुसार। जब विभिन्न व्यक्तियों से विभिन्न कीमतें ली जाती हैं, तब विभेद व्यक्तिगत होता है। पर जब स्थान के अनुसार कीमत मे अन्तर आ जाता है, तो विभेद स्थानीय अर्थात् राशि-पातन (dumping) कहलाता है, और यदि वस्तु के प्रयोग के आधार पर कीमत घटती बढती रहती है तो इसका यह परिवर्तन व्यवसाय के अनुसार होता है। जैसे बिजली घरेलू जीवन की अपेक्षा औद्योगिक प्रयोग के लिए अधिक सस्ती मिलती है। कई बार एकाधिकारी भिन्न भिन्न लेबल लगाकर माल को विशेष रूप से नया बताने की कोशिश करता है और इस प्रकार विभेद कीमत लेता है। कीमत विभेद इन कारणो से पैदा होता है—

(क) उपभोक्ता की पसन्द अथवा स्वभाव, (ख) वस्तु का गुण, तथा (ग) दूरी तथा सीमा-रोक।

वस्तु की मांग की तीव्रता म अन्तर होने के कारण ही विभेद सम्भव होता है। यदि एकाधिकारी का पूर्ति पर पूर्ण रूप से नियन्त्रण होता है, तो वह तीव्रता के अनुसार मांग को विभाजित कर सकता है। इस प्रकार वह उन लोगो से जो अधिक कीमत दे सकते हैं अधिक कीमत लेता है और जो कम कीमत दे सकते हैं उनसे कम कीमत लेता है। साथ ही विभेद तब भी हो सकता है जब कि बाजार की अपूर्णता के कारण ग्राहक एक विक्रेता से दूसरे के पास आसानी से नही जा सकता।

कीमत विभेद को सम्भव तथा लाभदायक बनाने के लिए निम्नलिखित मुख्य शर्तें आवश्यक हैं—

(i) विभिन्न मण्डियो में मांग की लोच भिन्न होनी चाहिए। तब एकाधिकारी अपनी मण्डी को बांटता चला जाएगा। वह ऐसा उस समय तक करता रहेगा जब तक

विभिन्न लोच वाले दो खरीदार एक ही ग्रुप में नहीं आ जाते, अथवा जब तक प्रत्येक मण्डी म मांग की लोच समान न हो जाए। एकाधिकारी ऐसी मण्डी (market) म अधिक दाम लेना लाभदायक पाएगा जहाँ लोच कम है और जहाँ (लोच) अधिक है कम कीमत लेना चाहेगा।

(ii) बाज़ारों को छोटे-छोटे हिस्सों में बाँटने तथा उनको अलग रखने की लागत इतनी अधिक न होनी चाहिए कि माँग की लोचों के अन्तर को बराबर कर दे।

(iii) विक्रेताओं म आपस म पूर्ण समझौता होना चाहिए नहीं तो स्वतन्त्र प्रतियोगियों को तेज बाजार म बेचने से लाभ होगा।

(iv) जब वस्तु खास आर्डर पर बेची जाती है तो विभेद (discrimination) सम्भव होता है क्योंकि तब खरीदने वाले यह नहीं जान सकते कि दूसरे से क्या लिया जा रहा है।

पीगू (Pigou) के अनुसार, लाभदायक तथा सफल विभेद (discrimination) के लिए दो बातें जरूरी हैं (क) किसी वस्तु की किसी इकाई को, जिसे एक मण्डी मे बेचा जा सकता है दूसरी मण्डी म भेजना सम्भव नहीं होना चाहिए। ऐसी स्थिति उस समय होती है जब उपभोक्ताओं की सीधी सेवा की जाती है, जैसे अध्यापकों, डाक्टरों तथा वकीलों आदि के द्वारा की जाने वाली सेवाएँ अथवा वे सेवाएँ जो सीधे वस्तु से सम्बन्धित हो, जैसे रेल द्वारा माल का परिवहन। हस्तान्तरण (transference) अथवा माल भेजने पर परिवहन की लागत बढ़ाकर इसे रोका जा सकता है अथवा अधिक प्रशुल्क (tariff) द्वारा अथवा ऐसी संविदाएँ (contracts) जिनके द्वारा बेचन पर रोक हो, इस प्रवृत्ति पर अंकुश लगाया जा सकता है। (ख) यह भी सम्भव नहीं होना चाहिए कि माँग की एक इकाई एक मण्डी विशेष से दूसरे म पूरी हो सके। ऐसी स्थिति उस समय पैदा होगी जब मण्डी धन (wealth) के आधार पर विभक्त होती है। कोई भी धनी व्यक्ति किसी मुफ्त रियायत (free concession) का फायदा उठाने के लिए गरीब होना नहीं चाहेगा। सिल्क का व्यापारी कोयले का व्यापारी सिर्फ इसलिए नहीं बन सकता जिससे उसे वस्तु भाड़ा (freight) कम देना पड़े।

कीमत विभेद तथा पैदावार (Price Discrimination and Output)—जब दो बाजारों म माँग की लोच भिन्न होती है तो यह पाया जाएगा कि उत्पादन की एक इकाई की बिक्री से सीमान्त आगम (revenue) वहाँ अधिक होगा जहाँ लोच अधिक है, तथा जहाँ लोच कम है वहाँ सीमान्त आगम या राजस्व भी कम होगा। अतएव जहाँ लोच कम है वहाँ उत्पादन घटाना और कीमत बढ़ाना तथा जहाँ लोच अधिक है वहाँ उत्पादन बढ़ाना और कीमत घटाना लाभदायक होगा। इस प्रकार दोनों बाजारों म सीमान्त आगम बराबर हो जाएगा। पर क्या उत्पादन की मात्रा बढ़ेगी या घट जाएगी अथवा वही रहेगी? श्रीमती रोबिन्सन (Mrs Robinson) ने इसका इस प्रकार उत्तर दिया है "यह बात साबित करना सम्भव है कि विभेद के अन्तर्गत कुल उत्पादन साधारण एकाधिकार की अपेक्षा अधिक या कम होगा, जैसे जैसे अलग बाजारों में माँग वक्रों में से अधिक लोचदार वक्र कम लोचदार

मांग वक्र की अपेक्षा अधिक या कम टेढा होगा, और यह कि कुल उत्पादन वही होगा यदि मांग वक्र सीधी रेखाएँ हैं या अन्य दूसरी दशा म जबकि टेढापन बराबर है।" यह तब भी लागू होता है जब कि सीमान्त लागत साधारण एकाधिकार तथा विभेद एकाधिकार म एक ही है। परन्तु यदि सीमान्त लागत गिर रही है तो विभेद एकाधिकार में उत्पादन म अधिक वृद्धि हो जाएगी और यदि सीमान्त लागत बढ रही है तो उत्पादन मे अधिक कमी हो जाएगी। पूर्ण रूप से यह अधिक सम्भव है कि विभेद से कुल उत्पादन म कमी की अपेक्षा वृद्धि हो।

कुछ उदाहरणो से उपर्युक्त बात समझ म आजाएगी। कुछ पुस्तको के सम्बन्ध में प्रथम सस्करण की कीमत ऊँची निर्धारित की जाती है। जिन पाठको की रुचि उस पुस्तक के पढने म अति तीव्र होती है, या जिनकी उस पुस्तक की सीमान्त उपयोगिता अत्यन्त ऊँची रहती है वे उस पुस्तक का अवश्य खरीदेंगे। जब उक्त पुस्तक का प्रथम सस्करण समाप्त हो जाता है तो उसका द्वितीय सस्करण कम कीमत का निकाला जाता है। अब वे लोग भी उक्त पुस्तक को खरीद सकेंगे जिनकी उक्त पुस्तक सम्बन्धी सीमान्त उपयोगिता कम है। यह क्रम कई बार भी चल सकता है और इस प्रकार उक्त पुस्तक की बिक्री कई गुनी अधिक बढाई जा सकती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जिन लोगो की उस पुस्तक के सम्बन्ध म तीव्र माग है वे सस्ते सस्करण के लिए अपनी खरीद को स्थगित नही रख सकते। इस प्रकार एकाधिकारी *उपभोक्ताओ की बचत (consumers surplus) का बहुत बडा अश हडप कर जाता* है, और स्वय अपना एकाधिकारी लाभ उस सीमा तक बढा लेता है जहाँ तक सामान्य स्थिति में प्राय सम्भव नही होता।

क्या कीमत विभेद समाज के लिए लाभदायक है? (Is Price Discrimination Beneficial to Society?)[1]—कुछ दशाओ म कीमत विभेद समाज के लिए लाभप्रद होता है, विशषकर ऐमी सेवाओ म जो समाज के लिए लाभप्रद हो। यदि गरीबो के लिए कीमतें कम कर दी जाएँ तो प्रति इकाई सामान्य लाभ न होने के कारण उत्पादन-लागत पूरी नही हो सकेगी। यदि कीमत अधिक कर दी जाए तब भी विक्रय कम होन के कारण प्राप्ति कम होगी। फलस्वरूप सम्भव है कि वस्तु का उत्पादन ही बन्द हो जाए। इस प्रकार कुछ उत्पादन की मात्रा तो अवश्य कम होगी क्योंकि विभेद एकाधिकार म औसत आगम (revenue) साधारण एकाधिकार की अपेक्षा अधिक होता है। 'यह हो सकता है कि यदि विभेद की मनाही हो ता रेल ही न बनाई जाए या डाक्टर अपनी प्रक्टिस ही न शुरू करे। यह उचित है कि ऐसी दशाओ में विभेद की अनुमति दी जावे।' ऐमी दशा म यदि विभेदपूर्ण कीमतें ली जाएँ तो प्राप्ति से लाभ के साथ लागत पूरी हो सकेगी और इस प्रकार हर व्यक्ति को लाभ हागा।

चूँकि विभेद के अन्तर्गत कुछ व्यक्तियो के लिए कीमत बढा दी जाती है और कुछ के लिए कम कर दी जाती है यह स्पष्ट है कि कीमत विभेद कुछ के लिए लाभ-

1 See Robinson J op cit Chapter X

दायक और कुछ के लिए हानिकारक है। परन्तु सामाजिक कल्याण पर शुद्ध प्रभाव इस बात पर निर्भर होगा कि समाज किस वर्ग का पक्षपात करता है। यदि आम जनता के लिए कीमत घटा दी जाती है और कुछ "वर्गों" के लिए कीमत बढ़ा दी जाती है तो समाज को दुखी होने की कोई बात नहीं है क्योंकि ऐसी व्यवस्था का तात्पर्य है समाज के आर्थिक कल्याण को बढ़ाना। परन्तु भौगोलिक विभेद की दशा में यह भी सम्भव है कि कम लोचदार बाजार (जिसके लिए कीमत बढ़ाई जाती है) स्वदेशी बाजार हो सकता है जबकि विदेशी बाजार अधिक लोचदार हो और इसलिए जिसमें कीमत घटानी पड़े। ऐसी दशा में अपने देशवालों की अपेक्षा विदेशवालों को अधिक लाभ होगा। ऐसा विभेद समुदाय के लिए हानिकारक होता है। तो भी इसमें एक शर्त लागू होती है। यदि उद्योग में बढ़ती हुई प्राप्ति का नियम या घटती हुई सीमान्त लागत का नियम लागू होता है तो विभेदपूर्ण एकाधिकार में साधारण एकाधिकार की अपेक्षा अधिक उत्पादन से कम लोचदार बाजार को भी लाभ होगा। इस प्रकार विदेशों में राशिपातन (dumping) से स्वदेशी बाजार में भी कीमत गिर जाती है। और इस तरह उस देश को भी लाभ होता है।

जब विभेद राशिपातन (dumping) का रूप ले लेता हो तो यह घातक हो जाता है।

६ राशिपातन द्वारा कीमत विभेद (Price Discrimination by Dumping)—जब उत्पादक दूसरे देशों में अपने देश से कम कीमत पर उसी वस्तु को बेचते हैं तो उनका यह कार्य 'राशिपातन' (dumping) कहलाता है। कभी-कभी ऐसा करने से (लागत से भी कम कीमत पर बेचने से) एकाधिकारी को लाभ भी होता है।

राशिपातन से एकाधिकारी के कई प्रयोजन सिद्ध होते हैं—(क) या तो वह माँग का सही अनुमान न लगने के कारण अधिक उत्पादित वस्तु के स्टॉक के विक्रय के हेतु करता है। (ख) कभी कभी वह विदेशों के बाजार से प्रतियोगिता को भगाने के लिए भी राशिपातन का सहारा लेता है। (ग) अथवा विदेशों से नए व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए राशिपातन करता है (घ) बड़े परिमाण में उत्पादन के लाभ उठाने के हेतु भी एकाधिकारी ऐसा करता है।

राशिपातन का उदाहरण इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है—

घरेलू बाजार (Home Market)

विक्रय कीमत (Sale price) रु० न० पै०	उत्पादन कीमत (Production price) रु० न० पै०	इकाइयों की मात्रा (No of units)	शुद्ध आय (Net revenue) रु० न० पै०
१० ००	५ ००	१००	५०० ००
९ ७५	४ ७५	१५०	७५० ००
९ २५	४ ५०	२००	९५० ००
८ ५०	४ २५	२५०	१,०६२ ५०
७ ७५	४ ००	३००	१,१२५ ००
७ ००	३ ७५	३५०	१,१३७ ५०
५ ७५	३ २५	४००	१,००० ५०
४ ८५	२ ७५	४५०	८७७ ५०

इस उदाहरण से यह प्रकट है कि यदि एकाधिकारी केवल घरेलू बाजार के लिए ही उत्पादन करता तो ३५० इकाइयो का उत्पादन करता, और उसे ७ रु० प्रति इकाई बेच देता। इससे उसे सबसे अधिक शुद्ध आगम की प्राप्ति होगी।

(रु० १,१३७–५० नए पैसे)।

अब मान लीजिए कि उसने बजाए ३५० इकाइयो के ४५० इकाइयों का उत्पादन किया। उसकी कुल लागत रु० ४५०×२$\frac{3}{4}$=रु० १,२३७–५० नए पैसे होती। ३५० इकाइयो पर उसकी कुल लागत ३५० रु० ×३$\frac{3}{4}$=१,३१२ रु०–५० नए पैसे होती।

इस प्रकार एकाधिकारी १०० इकाइयों का और उत्पादन करके अपनी कुल लागत मे ७५ रु० (१,३१२ रु० ५० नय पैसे—१२३७ रु० ५० नये पैसे) की कमी कर सकता है।

इसलिए यदि उसे अपनी इन १०० इकाइयो को बाद मे नष्ट भी करना पडे तब भी इन १०० इकाइयो का उत्पादन उसके लिए लाभदायक होगा। और यदि वह परिवहन (transport) के व्यय से कुछ अधिक कीमत पर उन्हे विदेशो मे बेच सके तो उसे और भी लाभ रहेगा। इस कीमत पर कोई विदेशी उत्पादक उससे प्रतियोगिता नही कर सकेगा।

पर ऐसे बडे लाभ बहुत कम होते देखे गए हैं। हमने तो सिद्धान्त को समझाने के लिए एक असाधारण उदाहरण ले लिया था। और फिर यदि वस्तु की घरेलू कीमत व विदेशी कीमत में इतना अन्तर हो कि उस वस्तु के दोबारा उत्पादन के लिए देश म आने पर यह अपनी लागत को भी पूरा कर ले तो उसका पुन निर्यात प्रारम्भ हो जाएगा, बशर्ते कि बहुत अधिक कर न लगा दिए जाएँ। विदेश राशिपातन से बचने के लिए बडे ऊँचे आयात-कर लगा देते हैं, विशेपकर उस समय जब कि उनके निजी उद्योग प्रभावित होते हो। यह एक अस्थायी स्थिति है और उस देश में जिसमें माल डम्प (dump) किया जाता है उसे कोई स्थायी लाभ नही होता।

निम्न रेखाचित्र एकाधिकारी द्वारा कीमत विभेद की रीति प्रस्तुत करता है—

एकाधिकारी ने अपने बाजार को दो भागो में बांट दिया है जिनको D_1 और D_2 वक्रो द्वारा दिखाया गया है। A D कुल मांग प्रस्तुत करता है। और MR_1 बाजार में सीमान्त आगम (marginal revenue) है और MR दूसरे म। AMR कुल सीमान्त आगम वक्र है। MC सीमान्त लागत वक्र है। OM_1 एक बाजार का उत्पादन है और OM_2 दूसरे का। कुल उत्पादन OM है। OM_1P_1M पर बेचा जाता है और OM_2, P_2M_2 पर। एकाधिकार आगम रंगे हुए क्षेत्र से दिखाया गया

चित्र ५४

है। यह AMR कुल सीमान्त आगम वक्र (कुल आगम) तथा MC सीमान्त लागत

वक्र (कुल लागत) के बीच में है। यह देखा जा सकता है कि अनुकूलतम उत्पादन (optimum production) OM उस बिन्दु पर है जहाँ सीमान्त लागत वक्र (MC) कुल सीमान्त आगम वक्र (AMR) को काटता है। हर एक बाजार में बिक्री की मात्रा वह है जिसके लिए सीमान्त आगम (MR_1 या MR_2) सीमान्त लागत ($CM = C_1M_1 = C_2M_2$) के बराबर है।

१०. क्या एकाधिकार कीमत ऊँची कीमत होती है? (Is Monopoly Price a High Price?)—हम देख चुके हैं कि एकाधिकारी अपने उत्पादन को नियन्त्रित करके सीमान्त उत्पादन लागत से अधिक कीमत पर वस्तु का विक्रय कर सकता है। परस्पर प्रतियोगी कीमतें वस्तु के सीमान्त उत्पादन लागत को समान करने की प्रवृत्ति रखती हैं। पर इसका यह अर्थ नहीं है कि एकाधिकारी की कीमतें सदैव प्रतियोगी कीमतों से अधिक ही होती हैं। बहुत सी परिस्थितियाँ ऐसी हो सकती हैं कि एकाधिकार की कीमतें कम ही रहें और कभी-कभी तो कुछ कारणों से यह कीमतें प्रतियोगिता की कीमतों से भी कम हो सकती हैं।

अपनी विशेष सुविधाओं जैसे उत्पादन का परिमाण, प्रचार तथा बाजार व्यय की कमी के कारण कभी कभी एकाधिकारी प्रति इकाई कम लागत पर उत्पादन कर लेता है। ऐसी दशा में यदि वह अपनी सीमान्त लागत से अधिक कीमत ले, तो भी वह प्रतियोगिता में उत्पादित वस्तु की सीमान्त लागत से कम ही रहेगा। यह विशेषकर उन उद्योगों में होता है जो महँगी और बड़ी मशीनों का प्रयोग करते हैं तथा जिनकी वस्तुओं की माँग लोचपूर्ण होती है। ऐसे उद्योग में उत्पादन की वृद्धि से प्रति इकाई लागत कम हो जाती है और बढ़ा हुआ उत्पादन अधिक लाभ से बेचा जा सकता है, चाहे कीमत कम ही क्यों न हो।

साधारणतया एकाधिकार कीमत प्रतियोगिता की कीमत से कम नहीं होती। पर इसका यह अर्थ नहीं है कि एकाधिकार कीमत अत्यधिक ऊँची होती है। एकाधिकार के अधिकार पर भी अनेक बन्धन होते हैं—उसके अधिकार असीम नहीं होते। वह सदैव अत्यधिक ऊँची कीमत नहीं ले सकता। इसके अतिरिक्त एकाधिकारी सर्वाधिक लाभ प्राप्त करने वाली कीमत के स्तर से भी अनभिज्ञ हो सकता है, तथा कुछ और भी विचारणीय बातें हैं, जिनकी बहुत कम एकाधिकारी उपेक्षा कर सकते हैं।[1]

परन्तु इन तमाम नियन्त्रणों के होते हुए भी साधारणतया एकाधिकार की कीमतें प्रतियोगी कीमतों से अधिक ही होती हैं। इस तरह हमारा निष्कर्ष यह है कि एकाधिकारी ऐसी दशा में यदि वह चाहे कीमतों को नीचे स्तर पर रख सकता है, किन्तु ऐसा वह करता नहीं। इसलिए, यद्यपि यह आवश्यक नहीं है कि एकाधिकार कीमतें अधिक ही हों, तथापि वास्तव में वह होती अधिक ही हैं।

११. क्रयाधिकार में कीमत (Price under Monopsony)[2]—प्रतियोगी क्रय (competitive buying) तथा क्रयाधिकार (monopsony) में यह अन्तर है

---

1 Chapter XI—Section 6

2 See Joan Robinson—The Economics of Imperfect Competition, 1945 ch 18

कि पहले में बहुत से खरीदार हैं और उसमें से किसी का भी क्रय बाजार कीमत पर प्रभाव नहीं पडता है। हर एक के लिए पूर्ति पूर्ण रूप से लोचदार होती है। यदि उसकी लगाई हुई कीमत म तनिक परिवर्तन हो जाता है तो उसकी खरीदारी पर बड़ा प्रभाव पडता है। उदाहरणार्थ, यदि उसने बाजार भाव से कम कीमत लगाई, तो वह कुछ भी न खरीद सकेगा। जहाँ तक हर एक खरीदारी का सम्बन्ध है, बाजार भाव दिया हुआ होता है। वह उतनी मात्रा खरीदेगा जो उसकी सीमान्त उपयोगिता को कीमत के बराबर कर देगी। क्रयाधिकार (monopsony) म एक ही खरीदने वाली एजेंसी होती है या खरीदार मिल जुलकर कार्य करते हुए मान लिये जाते हैं।

एक क्रयाधिकारी अपने क्रय की ऐसी व्यवस्था करेगा कि सीमान्त लागत सीमान्त उपयोगिता के बराबर हो जाए क्योंकि उसको वस्तु की पूर्ति की कीमत का भुगतान करना ही पडगा। प्रतियोगिता म कीमत अथवा औसत लागत सीमान्त उपयोगिता के बराबर होती है। सीमान्त लागत तथा कीमत म अन्तर तभी होगा जबकि उद्योग म लागत वृद्धि या लागत घटती नियम लागू होता है। जब स्थिर लागत नियम लागू होता है, तो औसत लागत (अर्थात् कीमत) तथा सीमान्त लागत बराबर होती हैं। और प्रतियोगिता तथा क्रयाधिकार मे खरीदी हुई मात्रा एक होगी। जब उद्योग म वृद्धि पूर्ति लागत नियम लागू होता है तो क्रयाधिकारी जितनी अधिक मात्रा खरीदता है उतनी ही अधिक कीमत उसको देनी पडगी। वस्तु की पूर्ति कीमत की अपेक्षा उसकी सीमान्त लागत अधिक होगी। पूर्ति की गिरती हुई कीमत मे जितनी अधिक मात्रा खरीदी जाएगी उतनी कम पूर्ति की कीमत होगी और सीमान्त लागत पूर्ति की कीमत से कम होगी। इस हालत में वह प्रतियोगिता की अपेक्षा अधिक खरीदेगा।

१२ उभयपक्षीय एकाधिकार (Bilateral Monopoly)—यह शब्द उस स्थिति पर लागू होता है जब कि एक क्रय के एकाधिकार के साथ साथ बिक्री का एकाधिकार भी होता है। वास्तविक ससार म ऐसी स्थिति का होना सामान्य नहीं है। एकाधिकारी ऐसे पैमाने पर कार्य करना चाहता है जहा कि सीमान्त आगम के बराबर है क्योंकि ऐसा करने से उसको अधिकतम एकाधिकार लाभ प्राप्त होता है। दूसरी ओर एक क्रयाधिकारी (monopsonist) वह मात्रा खरीदना चाहता है जिससे कि सीमान्त लागत सीमान्त उपयोगिता के बराबर हो जाए। यह बनाता है कि खरीदार के लिए अनुकूलतम कीमत एक होती है और बेचने वाले के लिए दूसरी। यह निर्धारित करने के लिए कि इन कीमतो के बीच कौनसी कीमत स्थापित होगी, इसके लिए कोई आर्थिक सिद्धान्त नहीं है। माँग तथा लागत वक्रा का पूरा ज्ञान नहीं है और यह ठीक-ठीक नहीं बताया जा सकता कि कितनी मात्रा किस कीमत पर बिकेगी। कीमत प्रत्यक्ष वस्तु की भिन्न परिस्थितियो पर निर्भर होगी। बहुत सी स्थितियो म यह समझौते की कीमत होगी जो दोनो पक्षो की मोल तोल की शक्ति से प्रभावित होती है। आर्थिक प्रेरणा के अतिरिक्त प्रशासनीय (administrative) कारण भी निर्णय म हस्तक्षेप कर सकते हैं।

निर्देश पुस्तकें

Meyers, A L —Elements of Modern Economics, 1951, Ch. 13.
Marshall, A —Principles of Economics and Industry and Trade
Pigou, A C —Economics of Welfare
Benham, F —Economics
Robinson, Joan—The Economics of Imperfect Competition, 1944 Chs 15 and 20
Chamberlin, E H —Theory of Monopolistic Competition
Robinson, E A G —Monopoly
Stigler G J —Theory of Price 1947, Chs 11—14
Watkins, M W —Industrial Combinations and Public Policy, 1927
Macgregor, D H —Industrial Combination 1935
Tarshis, L —Elements of Economics 1946 Chs 15 and 16

अध्याय २३

अपूर्ण प्रतियोगिता में मूल्य

(Value Under Imperfect Competition)

१ अपूर्ण अथवा एकाधिकृत प्रतियोगिता (Imperfect or Monopolistic Competition)—अभी तक हमने मूल्य को पूर्ण प्रतियोगिता और पूर्ण एकाधिकार की स्थिति मे निर्धारित होने पर विचार किया है। ये दोनो परिस्थितियाँ वास्तविक जीवन में घटित होने वाली नही हैं। अधिकतर वास्तविक परिस्थितियाँ इन दोनो के बीच मे रहती हैं, जिनको "एकाधिकृत प्रतियोगिता" (Monopolistic Competition) अथवा "अपूर्ण प्रतियोगिता" (Imperfect Competition) अथवा समूह साम्यावस्था (Group Equilibrium) का नाम दिया जाता है। इस अध्याय मे हम इस विषय पर विचार करेंगे कि ऐसी परिस्थितियो में मूल्य निर्धारण कैसे होता है।

जब एक अथवा सम्मिलित रूप से कई विक्रेता (combined boby of sellers) होते हैं तो इसे एकाधिकार का नाम दिया जाता है। किन्तु जब विक्रेता कई होते हैं और प्रत्येक का अपना मार्केट होता है, उस समय इसे अपूर्ण प्रतियोगिता अथवा एकाधिकृत प्रतियोगिता की स्थिति कहते हैं। यह स्थिति प्रतियोगी एकाधिकारियों की है। वे न तो पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति मे तैयार किया जाने वाला माल तैयार करते हैं, और न ऐसा ही जो इससे सर्वथा भिन्न हो अथवा ऐसा जो एकाधिकार मे तैयार किए जाने वाले के समान हो। उत्पाद-विभेद बना रहता है, तैयार किया गया माल भिन्न किस्म का होता है परन्तु बिलकुल भिन्न भी नहीं होता। फिर भी काफी प्रतियोगिता होती है। इसलिए ऐसी स्थिति एकाधिकार की अपेक्षा प्रतियोगिता की अधिक होती है।

जब प्रतियोगिता अपूर्ण होती है, (i) वहाँ पर उत्पादन के साधनो को एक व्यवसाय से दूसरे व्यवसाय में आने-जाने पर प्राकृतिक अथवा कृत्रिम बन्धन होते हैं। यह बन्धन उनकी सीमान्त उत्पादन-शक्ति को विभिन्न व्यवसायो मे समान होने से रोकते हैं। (ii) नियन्त्रण की इकाई बडी होनी चाहिए, जो वस्तुओ का उत्पादन घटा-बढाकर उसकी कीमत पर प्रभाव डाल सके, तथा (iii) विज्ञापन द्वारा या किन्ही दूसरे कारणों की सहायता से व्यापारी परदे के पीछे इस प्रकार कार्य करते हैं कि कीमत तथा गुण छिपे रहते हैं। जब प्रतियोगिता अपूर्ण होती है तब प्रतियोगी उत्पादक कठिनाइयो के कारण अपने मूल्य को कम करके एक दूसरे के ग्राहको को आकर्षित नही कर सकते। इस प्रकार वह अपने ग्राहको को खोए बिना भी पर्याप्त ऊँची कीमतें वसूल कर सकते हैं। ऐसी स्थिति को बे-कीमत (non-price) प्रतियोगिता कहते हैं। लाभ सुरक्षित रहता है। लेकिन दीर्घावधि में असाधारण लाभ प्रतियोगियो के द्वारा उसी प्रकार का माल तैयार करने के कारण समाप्त हो जाता है।

एकाधिकृत प्रतियोगिता मे प्रत्येक फर्म का औसत आगम (average revenue) वक्र स्वतन्त्र तथा दिया हुआ होता है। यह (वक्र) नीचे की ओर मुडता है और इसका रूप (shape) उपभोक्ताओं के स्वाद तथा समस्त प्रतिस्पर्धी उत्पादकों के मिश्रित कार्य पर आधारित होता है।

२ अपूर्ण प्रतियोगिता किस प्रकार प्रकट हो सकती है (How Imperfect Competition May Emerge)—एकाधिकार की कुछ स्पष्ट घटनाओं पर पिछले अध्याय में विचार किया जा चुका है। कुछ ऐसे भी कारण हैं जो प्रतियोगिता को अपूर्ण बना देते हैं। यहाँ कुछ अर्द्ध एकाधिकार (Semi-monopoly) की अवस्थाएँ उत्पन्न हो सकती हैं, जो ऊपरी तौर से प्रतियोगिता करने वाले विक्रेताओं का एकाधिकार के लाभ की प्राप्ति के लिए उकसाती हैं। ऐसी हालत तब उपस्थित होती है जब किसी वस्तु का बाजार अपूर्ण होता है चाहे उस वस्तु के उत्पादकों की संख्या बहुत बडी क्यों न हो। उत्पादक अपनी वस्तुओं के साथ सेवाओं को मिलाकर तथा अन्य तरीकों से अपनी अपनी वस्तुओं को ग्राहकों की दृष्टि म पृथक कर लेते हैं। इससे उन्हे सीमित एकाधिकार की शक्ति प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार की एकाधिकार प्रतियोगिता की परिस्थितियाँ निम्नलिखित कारणों से पैदा हो सकती हैं—

(क) परिवहन सम्बन्धी लागत खर्च (The Existence of Transport Costs)—परिवहन सम्बन्धी खर्च बाजार के क्षेत्र को सीमित कर सकते हैं और इस प्रकार प्रतियोगी वस्तुओं को क्षेत्र से अलग रख सकते हैं। यह एक विक्रेता को एकाधिकार कीमतें लेने योग्य बना देगी।

(ख) उपभोक्ताओं में योग्यता, समाचार व सूचना का अभाव (Lack of Knowledge on the Part of Consumers)—उपभोक्ता इस बात से अनभिज्ञ रहते हैं कि वह उसी वस्तु को दूसरे उत्पादक से सस्ती कीमत पर खरीद सकते हैं और इस प्रकार वह प्रतियोगिता मूल्य से अधिक देने को तैयार हो जाते हैं।

(ग) क्वालटी में वास्तविक और अनुमानित अन्तर (Real or Imaginary Differences in Quality)—यह भी वस्तु का विभेद (differentiation) कहलाता है। उपभोक्ता विशिष्ट चिह्न वाली वस्तुओं, जैसे चाय, कॉफी, साबुन, सिगरेट, कपडे इत्यादि का प्रयोग करने लग जाते हैं। यह क्रम उन वस्तुओं के उत्पादकों को इस योग्य बनाता है कि वे प्रतियोगिता की कीमतों से अधिक ले सकें।

(घ) चमक-दमक बाजार में फैशनेबिल दुकानें (Shops Situated in Fashionable Quarters)—कुछ उपभोक्ता वस्तुओं को फैशनेबिल (चटक-मटक) वाली दुकानों से खरीदना पसन्द करते हैं, जैसे चांदनी चौक और सदर बाजार की अपेक्षा कनाट प्लेस व नई दिल्ली से। इसी कारण कनाट प्लेस वाले दुकानदार उन्ही वस्तुओं के लिए अधिक दाम लेते हैं।

अन्तिम दो हालतों म अगर कीमत बहुत अधिक होती है तो उपभोक्ता या तो उस चिह्न वाली वस्तु को अथवा उस खरीदने के स्थान को बदल देता है।

अपूर्ण प्रतियोगिता के लक्षण (Symptoms of Imperfect Competition)—ऐसी स्थिति की जाँच करने के लिए कि हालात शुद्ध प्रतियोगिता (pure

competition) अथवा एकाधिकृत अथवा अपूर्ण प्रतियोगिता के हैं, यह बातें जरूरी हैं—(i) विज्ञापन, (ii) विभिन्न ट्रेड चिह्न तथा लेबल आदि का उपयोग, (iii) मूल्य-कथन (price quotation), तथा (iv) कीमतों में भेद (price variations)।

३ अपूर्ण प्रतियोगिता में मूल्य (Value Under Imperfect Competition)—अपूर्ण प्रतियोगिता की परिस्थिति में मूल्य निर्धारण मौलिक रूप से पूर्ण प्रतियोगिता से भिन्न होता है। जब प्रतियोगिता अपूर्ण होती है तो जिस वस्तु का क्रय विक्रय होता है वह प्रामाणिक नही होती और इसलिए कीमत के आधार पर प्रतियोगिता सम्भव नही है। अब खरीदार केवल एक वस्तु ही नहीं खरीदते बल्कि उन सेवाओं को भी साथ साथ खरीदते हैं जो उस वस्तु के साथ जुडी हुई होती हैं (अर्थात् माल भण्डारों की स्थिति, पैकिंग, ट्रेड चिह्न बेचने वालों के व्यक्तित्व आदि बातों को परखकर)।[1] वे अपनी पसन्द की वस्तु के लिए अपेक्षाकृत अधिक देने को तैयार रहते हैं। वे कितना अधिक देंगे, यह इस बात पर निर्भर नहीं करता कि उसकी वास्तविक उपयोगिता कितनी है अथवा बेचने वाला उसके विषय में क्या कहता है बल्कि इस बात पर निर्भर करता है कि खरीदार की दृष्टि में वह वस्तु अपेक्षाकृत कितनी अच्छी लगती है।

वे कौनसी बातें हैं जो अपूर्ण प्रतियोगिता में मूल्य निर्धारण पर प्रभाव डालती हैं ? अपूर्ण प्रतियोगिता में भी विक्रेता अपनी वस्तुओं की मण्डियों को बढाना चाहते हैं। यह वे दूसरों के छाप या ब्रान्ड्स के अपहरण के द्वारा कर सकते हैं। लेकिन यदि वे ऐसा नहीं करेंगे तो इसके लिए उन्हें पूर्ण प्रतियोगिता की अपेक्षाकृत कहीं अधिक कीमत गिरानी पडेगी। दो प्रतियोगी वस्तुओं की कीमतों के बीच का अन्तर अपेक्षाकृत उपभोक्ताओं के मन में उन वस्तुओं के सापेक्ष गुण-भेद की अपेक्षा अधिक होना चाहिए तब कहीं जाकर दूसरों के ग्राहक तोडे जा सकेंगे। लेकिन ऐसा करते समय उसे इस बात का ध्यान रखना पडेगा कि अन्य विक्रेता भी दाम गिरा सकते हैं और आगे चलकर कीमत को बढाना न तो ठीक होगा और न सम्भव ही होगा। प्रतियोगी बाजार की अपेक्षा विभेदपूर्ण बाजार में जो भी मूल्य नीति बेचनेवाला अपनाएगा, उसे उसके दीर्घकालीन परिणामों का ध्यान में रखना होगा। कभी-कभी माल की बडी जमा राशि निकालने के लिए कीमतों में व्यापक कमी कर दी जाती है। कभी कभी नामवर चीजों की भी कीमत कम कर दी जाती है। किन्तु इस प्रकार कीमतों में कमी व प्रतियोगिता के कारण कीमतों में कमी में अन्तर है।

यदि कीमत की गिरावट दूसरों पर अधिक प्रभाव नहीं डालती या दूसरों के ग्राहकों में से केवल थोडे से ही लोगों को खींचती है, तो बदले का डर बहुत कम होगा। साधारणत प्रत्येक विक्रेता को 'भूल-सुधार' (trial and error) के सिद्धान्त पर चलना होगा। प्रतियोगी वस्तुओं की कीमतें बदलती रहती हैं और यह मालूम करना कि अमुक कीमत का प्रतियोगी विक्रेताओं पर क्या-कैसा प्रभाव पड़ेगा असम्भव-सा है। सही माँग अनुसूची बना लेना प्राय असम्भव है। इसलिए यदि कोई

1 Meyers A L—Elements of Modern Economics 1941, p 138

कीमत सन्तोषजनक पाई गई है तो अपूर्ण प्रतियोगिता की परिस्थिति में विक्रेता उसी को स्थिर रखेगा।

वह कौनसा सिद्धान्त है जिसके अनुसार विक्रेता अपने उत्पादन की अनुकूलतम मात्रा और कीमत निश्चित करेगा। अपूर्ण प्रतियोगिता एकाधिकार से बहुत-कुछ मिलती-जुलती है। केवल अन्तर यह है कि एकाधिकार में एक व्यक्ति या फर्म का सारे बाज़ार पर अधिकार होता है, जबकि अपूर्ण प्रतियोगिता में बाज़ार कई भागो में विभाजित हो जाता है और प्रत्येक भाग मे एक छोटा-सा एकाधिकारी होता है। अस्तु, प्रत्येक भाग मे कीमत का निर्धारण एकाधिकार के मूल्य सिद्धान्तो के अनुसार होता है। एकाधिकार की तरह, अपूर्ण प्रतियोगिता मे भी कीमत उस स्थान पर निश्चित होगी जहाँ पर सीमान्त लागत और सीमान्त आगम (marginal cost and marginal revenue) की उत्पादक इकाइयाँ समान (equal) होंगी। अपने लाभ को अधिकतम करने के लिए उत्पादक पैदावार को उस समय तक बढ़ाते रहेंगे और उसकी पैदावार उस समय अनुकूलतम (optimum) होगी जब तक कि सीमान्त आगम सीमान्त लागत के बराबर न हो जाएगा। दोनो के बराबर होने पर उत्पादन आदर्श बिन्दु पर पहुँच जाएगा। यह बात ध्यान देने योग्य है कि सीमान्त आगम वह आगम है जो अतिरिक्त पैदावार की बिक्री से प्राप्ति के कुल आगम में जोड़ा जाता है।

यहाँ यह याद रखना होगा कि सीमान्त लागत और सीमान्त आय को समतुल्य करने का सिद्धान्त एकाधिकारी प्रतियोगिता में तभी तक लागू होगा जब तक कि एक विक्रेता की वस्तु की माँग-रेखा अपरिवर्तित रहती है। उद्योग में नई प्रतियोगी फर्मों के आने से माँग और फलस्वरूप लाभ में परिवर्तन होगा। शुरू में जब प्रतियोगिता अपूर्ण होती है, तो माँग कम लोचदार होती है। अब मान लो कुछ नई फर्में खुल जाती हैं और ग्राहकों की आवश्यकताओं की पूर्ति की दृष्टि से उनकी स्थिति अपेक्षाकृत अच्छी है। इसका फल यह होगा कि कुछ ग्राहक उनकी ओर खिच आएँगे और माँग रेखा बाईं ओर खिसक जाएगी। इसी प्रकार यदि और नई फर्में आती जाएँगी, तो माँग घटती चली जाएगी। यदि नई फर्मों का आना आसान है, और यदि एकाधिकार लाभ प्राप्त हो रहे हैं, तो जब तक एकाधिकार लाभ समाप्त न हो जाएगा नई फर्में आती रहेंगी।[1] ज्यों ज्यों प्रतियोगिता बढ़ेगी त्यों-त्यों लागत वक्र भी प्रभावित होंगे। अर्थात् यदि उत्पादन घटेगा तो लागत बढ़ेगी; इस प्रकार भी शनैः शनैः लाभ तिरोहित होता चला जाएगा।

पिछले अध्याय के तीसरे विभाग में यह दिखाया गया है कि अपूर्ण प्रतियोगिता में कीमत कैसे निश्चित होती है। उसको देखने से पता चलता है कि एकाधिकार की तरह अपूर्ण प्रतियोगिता में भी, सीमान्त आय कीमत से कम होती है। पूर्ण प्रतियोगिता में वह कीमत के बराबर होती है। अपूर्ण प्रतियोगिता में अनुकूलतम पैदावार की मात्रा पूर्ण प्रतियोगिता के हिसाब से कम होती है। अनुकूलतम

---

1 See ibid pp 186—96 for diagrams illustrating the effects of entry of rival and the final situation when monopoly profit disappears

पैदावार वह राशि है जिस पर लाभ (एकाधिकारी के लिए एकाधिकार आगम—अपूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में) अधिकतम होता है।

निम्नांकित रेखाचित्रो मे अपूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में मूल्य निश्चय करने की विधि का निरूपण किया गया है। रेखाचित्र ५५ (१) मे अल्पावधि में होने वाली स्थिति समझाई गई है और रेखाचित्र ५५ (२) मे दीर्घावधि में।
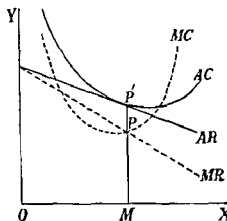
रेखा चित्र ५५ (१) अल्पावधि
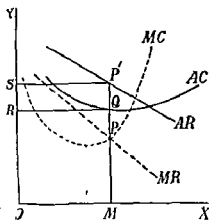
रेखा चित्र ५५ (२) दीर्घावधि

अल्पावधि मे, अनुकूलतम पैदावार OM है, जबकि MR तथा MC P बिन्दु पर काटते हैं, अर्थात् सीमान्त आगम सीमान्त लागत के बराबर है। इस तरह P'QRS असाधारण लाभ होता है। लेकिन, दीर्घावधि [चित्र ५५ (२)] में यह प्रतियोगी अवस्था के कारण खत्म हो जाता है। अनुकूलतम पैदावार अधिक होती है।

४ विक्रय-मूल्य या लागत (Selling Cost)[1]—विज्ञापन, प्रचार-कार्य तथा बेचने मे जो खर्च होता है उसे विक्रय लागत कहते हैं। विक्रय की परिभाषा इस प्रकार है—'यह वह लागत खर्च है जो खरीदार को एक वस्तु की अपेक्षा दूसरी खरीदने के लिए बाध्य करता है या जो खरीदार को एक दूकान की अपेक्षा दूसरी दूकान से खरीदने के लिए विवश करता है।"

यदि बाजार पूर्ण हो यानी अगर खरीदारो को कीमतों के बारे में पूरी जानकारी हो तथा चीजों की क्वालिटी की पूरी पूरी जानकारी है तो विज्ञापन बेकार होगा। इससे कोई भी खरीदार आकर्षित नही होगा। विज्ञापन प्रतियोगितापूर्ण बाजार मे भी अनावश्यक होगा जहाँ कि प्रामाणिक वस्तुएँ बिकती हैं। एकाधिकारी को भी विज्ञापन पर खर्च करने की जरूरत नही क्योंकि उसके साथ स्पर्द्धा करने के लिए कोई नही होता। असलियत मे पूर्ण प्रतियोगिता तथा पूर्ण एकाधिकार तो होता ही नही। बहुत थोड़े खरीदार होगे जो पारखी हो अथवा बाजार की हालतो

1 See Meyers, A L —Elements of Modern Economics, 1951, p 195 See also Stigler, G J —Theory of Price, 1947, p 157, and Joan Robinson—The Economics of Imperfect Competition, 1945, p. 335

से पूरे परिचित हो। बहुत से ब्रैंडो (brands) में चुने जाने की प्रतियोगिता रहती है। यह विज्ञापन के लिए बहुत बड़ा क्षेत्र है जो या तो नई वस्तुओं का ज्ञान दिलाता है या खरीदारों को आगाह करता है कि पुरानी वस्तु अब भी ठीक से चल रही है। विक्रय लागत इस तरह अपूर्ण बाजार (imperfect market) या एकाधिकारी प्रतियोगिता (monopolistic competition) से सम्बन्धित है। उत्पादन की भिन्नता से विज्ञापन और विक्रय व्यय आवश्यक हो जाते हैं।

विक्रय लागत तथा मांग वक्र (Selling Costs and Demand Curve)—विक्रय लागत अर्थात् विज्ञापन व्यय और बिक्री व्यय पुराने ग्राहकों को ज्यादा चीजें खरीदने के लिए लालायित कर सकता है और नए ग्राहक भी बना सकता है। इसका अर्थ है माँग म बढोतरी। नई मांग का वक्र जो मांग की बढती बताता है, पुराने वक्र के ऊपर या उसके दाहिने तरफ होगा लेकिन यह जरूरी नहीं है कि वक्र की लोच पुराने की ही तरह हो। यह नए ग्राहकों की खरीद की आदत पर निर्भर है। अगर वे कीमत से ज्यादा प्रभावित होते हैं तो वह अधिक लोचदार होगी, नहीं तो पुराने वक्र से कम लोचदार होगी। अगर नए ग्राहक वस्तुओं की अच्छाई से प्रेरित हैं तो नया वक्र ऊपरी भाग म कम लोचदार होगा क्योंकि कीमत आसानी से बढाई जा सकती है। यदि ग्राहक यह सोचते है कि वह वस्तुओं को केवल कम दाम पर ही खरीद सकते हैं तो नया वक्र नीचे के भाग म पुराने से अधिक लोचदार होगा।

५ **विक्रय लागत तथा अनुकूलतम पैदावार (Selling Costs and Optimum Output)**—अधिक उत्पादन की खपत के लिए तीन ढंग हैं जिनमें पहला विज्ञापन है। दूसरे दो तरीके कीमत कम करना तथा क्वालिटी म सुधार करना है। विक्रय लागत का बीच म आ जाना अधिक फायदेमन्द पैदावार निर्धारित करने मे बाधक है। यह स्पष्ट है कि अधिक सकल विक्रय लागत (total selling costs) अधिक पैदावार को उसी कीमत पर बेचने म या उसी पैदावार को ऊँचे दाम पर बेचने म आवश्यक है। निम्नांकित सूत्र अनुकूलतम पैदावार (optimum output) को निश्चय करने मे उपयोगी होगा—

कुल प्राप्ति = (कीमत) × (पैदावार) – (उत्पादन लागत + विक्रय लागत)

अब समस्या यह है कि वह कौनसी पैदावार है जिस पर शुद्ध आय ज्यादा से ज्यादा होगी। हम देख चुके हैं कि विक्रय लागत एक नया मांग वक्र बनाता है। अधिक-से-अधिक फायदा निकालने का एक तरीका यह है कि विक्रय लागत को उस खास माँग क सिलसिले म स्थिर लागत माना जाए। एक रेखाचित्र इस विक्रय लागत के लिए और माँग वक्र जो यह उत्पन्न करता है बनाया जा सकता है।[1]

AR औसत आय (माँग) वक्र है, MR सीमान्त आय है; PL औसत उत्पादन-लागत है, लाइनदार क्षेत्रफल इसके ऊपर का विक्रय लागत बताता है। इसको PL मे जोड़ने से औसत कुल इकाई लागत यानी ATUC हमको मिलता है। DEFP इस दशा मे अधिक से-अधिक आय बताता है।

---

1. Meyer, A. L — Elements of Modern Economics, 1951, p 201

ऊपर की दशा मे विक्रय लागत को स्थिर लागत माना गया है। दूसरा तरीका यह है कि विक्रय लागत को बदलती लागत समझा जाए, जो कि बढे हुए उत्पादन को उसी दाम पर वेचने मे सहायक है। अधिक-से-अधिक कुल लाभ का बिंदु विभिन्न उत्पादन लेने से तथा ऊपर का सूत्र लगाने से ज्ञात किया जा सकता है। हर उत्पादन के लिए हम कुल लाभ कुल प्राप्ति (returns) से कुल लागत जिसम विक्रय लागत भी सम्मिलित है, घटाने से मालूम कर सकते हैं। इस तरह हम ज्ञात कर सकते हैं कि कौनसा उत्पादन अधिक-से-अधिक लाभदायक सिद्ध होगा।
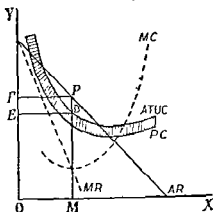
चित्र ५६

बढी हुई विक्रय-लागत बनाम दाम का घटाना (Increased Selling Cost Vs Price Cutting)[1]—हमने पहले बतला दिया है कि क्वालिटी के सुधारने के अलावा दो और ढग हैं जिससे बिक्री बढ सकती है। यानी कीमत का घटाना या विक्रय लागत का बढाना (यानी, विज्ञापन तथा सेलसमैनी पर अधिक रुपया खर्च करना)। इन दोनो म कौनसा तरीका अच्छा है ? यह स्पष्ट है कि खरीदार लोगो के दृष्टिकोण से कीमत घटना ज्यादा अच्छा है।

व्यापारी के दृष्टिकोण से विज्ञापन पर व्यय करना कीमत घटाने से अच्छा है क्योंकि विज्ञापन जब अच्छा परिणाम न दे तो रोका जा सकता है। लेकिन कीमत को एक बार घटाकर फिर बढाना बुद्धिमानी न होगी। इसके अलावा कीमत को घटाना अनैतिक समझा जाता है। परन्तु विज्ञापन का विरोध कोई नहीं करेगा।

लेकिन कीमत घटाना प्रतियोगियो और विरोधियो पर सीधा आक्रमण है अत बदला शीघ्र और तेज होता है। जो व्यापार कीमत घटाकर बढाया जाता है वह अन्य प्रतियोगियो द्वारा और अधिक कीमत घटा कर छीन लिया जा सकता है। लेकिन विज्ञापन द्वारा खरीदारो के मन म विज्ञापित वस्तु जम जाती है। जिस हद तक विज्ञापन-कार्य सफल होता है लाभ स्थायी होता है।

६ अपूर्ण प्रतियोगिता में व्यावसायिक सस्थाओ की सख्या तथा आकार (Size and Number of the Firms under Imperfect Competition)—जैसा कि हम पहले देख चुके हैं कि पूर्ण प्रतियोगिता में व्यावसायिक सस्थाओ की सख्या इस प्रकार सगठित की जाती है कि साम्य (equilibrium) की स्थिति म हर एक फर्म अनुकूलतम अथवा सर्वोत्तम आकार वाली होगी। इन हालतों में अनुकूलतम आकार से नीचे वाली व्यवसायी सस्थाएँ अपना कारोबार विस्तृत करेंगी। जैसे वे बढेंगी उनकी लागत गिरेगी लेकिन उनके अतिरिक्त उत्पादन से प्राप्त कीमत वही रहेगी। अगर

1 Meyers, A L Elements of Modern Economics, 1951, pp 211—14

प्रतियोगिता अपूर्ण है, तो सम्भव है वह फर्म न बढे। उसके बढाने से नि सन्देह सीमान्त व्यय कम हो जाएगा, लेकिन साथ-साथ इसकी कीमत भी कम हो जाएगी क्योंकि उसकी उत्पादन की मात्रा उसकी कीमत पर प्रभाव डालेगी। यह सम्भव है कि कीमत कम हो जाने पर विक्रय के लाभ से भी अधिक हानि हो, इसलिए वह फर्म आगे बढने का प्रयत्न नही करेगी। अस्तु अयोग्य फर्म (inefficiency firms) जब तक अपूर्ण प्रतियोगिता है, तब तक रह सकती है। इस तरह सभी फर्में अनुकूलतम आकार की नहीं होंगी। उपर्युक्त कथन से यह भी स्पष्ट है कि अपूर्ण प्रतियोगिता में किसी व्यवसाय के अन्दर व्यवसायी संस्थाओ की संख्या पूर्ण प्रतियोगिता में व्यवसायी संस्थाओं की संख्या से अधिक हो सकती है। यह इसलिए सम्भव है कि अयोग्य फर्म पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति से बाहर निकल जाती है।

७ अपूर्ण प्रतियोगिता से हानियाँ (Wastes of Imperfect Competition)—अपूर्ण प्रतियोगिता से निम्नलिखित हानियाँ होती हैं—

(क) प्रतियोगिक विज्ञापन-व्यय (Expenditure on Competitive advertisement) साधारणतया प्रतियोगिता की हानियो की सूची म शामिल किया जाता है। पर वास्तव म यह पूर्ण प्रतियोगिता के कारण नही, बल्कि अपूर्ण प्रतियोगिता के कारण होता है। यदि प्रतियोगिता पूर्ण हो तो इतनी लागत की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि तब तो हरेक फर्म अपनी कीमत को थोडा कम करके अपनी बिक्री बढा लेगी। किन्तु अपूर्ण प्रतियोगिता मे उपभोक्ताओ की परम्परागत पसन्दगी को तोडने के लिए कीमत में बहुत भारी कमी करने की आवश्यकता होगी। इससे यह बात ज्ञात होती है कि प्रचार पर रुपया व्यय करके उपभोक्ताओ को फुसलाना "कि अमुक प्रचारक संस्था की उत्पादित वस्तु अन्य प्रतिद्वन्द्वियो से अच्छी है," देश और जाति की आर्थिक हानि पहुँचाना है।

(ख) एक ही वस्तु के दुहरा परिवहन का व्यय (Expenditure on Cross Transport) भी ऐसा ही एक अपव्यय है। उत्तर भारत की एक व्यवसाय संस्था दक्षिण भारत के उपभोक्ताओं को कोई वस्तु बेचती है तथा उसी समय वही वस्तु दक्षिण भारत की संस्था उत्तर भारत में बेचती है। इस प्रकार की दशा भी पूर्ण प्रतियोगिता के न होने के कारण पैदा होती है। इसम व्यय ही दुहरा परिवहन व्यय होता है।

(ग) अपूर्ण प्रतियोगिता का तीसरा अपव्यय यह है कि हर एक फर्म जिसके लिए वह अधिक उपयुक्त है, उसमें विशेषता प्राप्त करने के लिए असफल हो जाती है। क्योंकि अपूर्णप्रतियोगिता की दशाओ में हर एक संस्था को प्रचार पर रुपया व्यय करना पडता है और अपने प्रतिरोधियो से ग्राहको को आकर्षित करने के लिए भी कीमतें कम करनी पडती हैं। इसलिए प्रत्यक फर्म अपने ग्राहको के लिए विभिन्न प्रकार तथा गुण वाली वस्तुओ को उत्पन्न करना अधिक ठीक समझती है।

(घ) अपूर्ण प्रतियोगिता से होने वाले अपव्यय के सम्बन्ध में पहले ही बताया जा चुका है। अपूर्ण प्रतियोगिता की एक और हानि यह है कि ऐसी हालतो में वह योग्य व्यवसायी संस्थाएँ, जोकि कम व्यय में उत्पादन कर सकती हैं अयोग्य फर्मों

(inefficient firms) को बाजार से हटाने मे असमर्थ होती हैं । यदि प्रतियोगिता पूर्ण है तो फर्में अपना कुल उत्पादन इतना बढाएँगी कि कीमत सीमान्त लागत तक आ जाए, जिसके फलस्वरूप अयोग्य व्यावसायिक सस्थाएँ पूर्ति (Supply) करने म असमर्थ रहे । लेकिन यदि प्रतियोगिता अपूर्ण है तो योग्य व्यावसायिक सस्था को अपनी प्रतिरोधी अयोग्य व्यावसायिक सस्था के उपभोक्ताओं को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए काफी रुपया व्यय करना पडेगा या इस उद्देश्य प्राप्ति के लिए अपनी कीमत को घटाना पडेगा।

(ड) अपूर्ण प्रतियोगिता उन वस्तुओं के मान को स्थापित करने मे बाधा डाल सकती है, जो उत्पादन के सर्वोच्च तरीको को प्रयोग मे लाने के लिए आवश्यक हो । मान लीजिए कि ऊँची उत्पादन-लागत पर विभिन्न प्रकार की मोटरें कई फर्मों द्वारा बनाई जाती हैं । यदि केवल कुछ डिजाइनो की ही मोटरें बनाई जाएँ तो बडी मात्रा की पैदावार के लाभ के कारण प्रति इकाई लागत काफी घटाई जा सकती है । पूर्ण प्रतियोगिता में इस प्रकार की बृहद् उत्पादन करनेवाली इकाइयाँ निकलेंगी । अपूर्ण प्रतियोगिता म कोई उत्पादक एक विशेष डिजाइन की कारें अधिक सख्या म उत्पादन करने का खतरा नही उठाएगा क्योंकि अपने प्रतिस्पर्द्धी उत्पादको के पास से क्रेताओं को आकर्षित करने के लिए जो व्यय होगा, वह अधिक मात्रा म उत्पादन की किफायतों से अधिक होगा ।

८. द्वयधिकार तथा अल्पाधिकार (Duopoly and Oligopoly)—अभी तक हमने ऐसी स्थिति पर विचार किया है जहां एक अकेला एकाधिकारी (एक व्यक्ति अथवा व्यक्तियो का एक समूह) सारे बाजार का मालिक होता है। पर दूसरी स्थितियाँ भी इस ससार में आ सकती हैं । एक वह है जब कि एक के बजाय दो एकाधिकारी एकाधिकार की शक्ति रखते हो । इसको द्वयधिकार (duopoly) कहते हैं । दूसरी वह है जब दो से अधिक या कुछ विक्रेता एकाधिकार शक्ति रखते हो । इसको अल्पाधिकार कहते हैं ।

द्वयधिकार (Duopoly) में एकाधिकारी एक समान वस्तु को वेचते मान लिए जाते हैं । उनकी उत्पादित वस्तुएँ प्राय समान होती हैं, बहुधा दोना म दलबन्दी होगी । वे एक कीमत मान लें अथवा भाग स्थिर कर लें, या प्रादेशिक बँटवारा कर लें जिसम वह अपनी वस्तुएँ वेचें । विशेषकर ऐसा तब होगा जबकि उनकी लागत बराबर या लगभग बराबर है और माँग स्थायी तथा कम लोचदार है । स्पष्ट रूप से यह दलबन्दी ऐसी स्थितियाँ पैदा कर देती है जो कि एकाधिकार से बिलकुल मिलती जुलती हैं और कीमत निर्धारण एकाधिकार की भाँति ही होगा ।

यदि दोनो मे कोई समझौता नही होता, तो स्थिति बदल जाएगी । सबसे अधिक सम्भावना इस बात की है कि उनम सदैव कीमत की लडाई होगी । सबसे महत्त्वपूर्ण सोचने की बातें हैं लागत तथा प्रतिस्पर्द्धी को निकालने में लाभ, दोनो फर्मों का सापेक्ष आकार (relative size), माँग की लोच तथा ग्राहको की गतिशीलता, जिस फुर्ती से कि प्रतिस्पर्द्धी दूसरे की नीति म परिवर्तन होने से प्रत्याघात करता है तथा

किस सीमा तक कीमत में रियायत को गुप्त रखा जा सकता है और इस प्रकार आगे भी।

अल्पाधिकार (Oligopoly) में कीमत का सिद्धान्त (Pricing theory) मूल रूप में वही है। अन्तर केवल इतना ही है कि जितनी अधिक फर्में होगी उतना ही अधिक अन्तर सीमान्त लागत में होगा और समझौते की सम्भावना भी अधिक दूर होगी। विज्ञापन, अनुसन्धान, विनियोग तथा मुनाफे का अनुमान अनिश्चित होता है। उद्यमी का स्वभाव चाहे आशावादी हो या निराशावादी, स्थिति को और जटिल बना देता है। चूंकि वे सब प्रामाणिक उत्पादन से सम्बन्ध रखते हैं और वे हर एक कुल उत्पादन का एक बड़ा भाग उत्पन्न करते हैं इसलिए हर एक की कीमत व उत्पादन नीति दूसरे पर अधिक प्रभाव डालती है, परन्तु कोई भी नहीं बता सकता कि कैसे। "अल्पाधिकार द्वारा निश्चित की गई कीमत जिसमें उत्पाद विभेद नहीं है अनिश्चित बन जाती है। किन्तु व्यापक रूप में उत्पादकों की संख्या अधिक होने पर कम होगी जब तक कि अन्त में पूर्ण प्रतियोगी साम्यावस्था पर पहुँचने तक काफी हो जाती है।"

जिस दशा में उत्पाद विभेद है एकाधिकारी फैसले होने की और भी कम सम्भावना है। चूंकि उत्पाद समान नहीं होते अल्पाधिकारी उत्पादक अपने ग्राहकों को कम किए बिना ही कीमतों को बढ़ा सकता है और गिरा सकता है तीव्र प्रतिस्पर्द्धा की सम्भावना नहीं रहती। तो भी उनमें परस्पर प्रतिस्पर्द्धा की तीव्र भावना एकाधिकार प्रतियोगिता को जन्म दे सकती है। दीर्घावधि में कीमत ऐसे स्तर पर तय हो सकती है जो एकाधिकार कीमत तथा तीव्र प्रतिस्पर्द्धा के बीच का हो।

अल्पाधिकार में एक फर्म की वस्तु के लिए माँग का स्वरूप एक विशेषता रखता है। वर्तमान कीमत से ऊँची कीमत पर यह लोचदार और वर्तमान कीमत से नीची कीमत पर यह कम लोचदार है। यदि वह कीमत बढ़ा देता है तो वह अपने बाजार का बहुत बड़ा भाग (अपने प्रतिस्पर्द्धी को) खो देता है और यदि कीमत गिरा देता है तो बिक्री की मात्रा बढ़ जाएगी परन्तु अधिक नहीं क्योंकि उसके प्रतिस्पर्द्धी भी कीमत घटा देंगे। अल्पाधिकार उद्योग में कोई भी फर्म कीमत घटाकर बाजार को छीन नहीं सकती क्योंकि प्रतियोगिता (Competition) अपूर्ण है।

दूसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि अल्पाधिकार में कीमत अधिक स्थिर होती है। यह न तो माँग में परिवर्तन होने से अधिक घटती-बढ़ती है और न पूर्ति में। उदाहरणार्थ, यदि माँग बढ़ती है तो कोई भी फर्म कीमत बढ़ाने का साहस इस भय से न करेगी कि दूसरी फर्में कीमत न बढ़ाएँ और वह बाजार खो बैठे। वह कीमत इस भय से कम न करेगी कि दूसरी फर्में भी अपनी कीमत घटाकर उसको उसके प्राथमिक लाभ से कहीं वंचित न कर दें।

इसी प्रकार अल्पाधिकार में लागत का भी कीमत तथा उत्पादन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उदाहरणार्थ यदि मजदूरी गिर जाती है तो हर एक फर्म कीमत को कम करना चाहेगी परन्तु उसको निश्चय न होगा कि दूसरी व्यवसाय संस्थाएँ भी अपनी कीमतें कम कर देंगी। प्रतियोगी उद्योग में किसी एक फर्म के कार्य से

उद्योग की स्थिति पर कोई प्रभाव नही पडता क्योंकि फर्में बहुत सी होती हैं। पर अल्पाधिकार में फर्मों की सख्या बहुत कम होती है, और इसलिए किसी भी फर्म का कोई भी कार्य दूसरो पर प्रभाव अवश्य डालता है।

९ नवीन उत्पादन का मूल्यांकन (Pricing of New Products)[1]—नवीन उत्पादन का मूल्यांकन एक प्रकार से अँधेरे में कूदना है। अनुभवी कारीगर या निर्मातागण अधो की तरह नही भागते बल्कि वैज्ञानिक तरीको पर प्रयोग करते हैं। नई वस्तु को बाजार मे कई श्रेणियाँ (stages) पार करनी पडती हैं। प्रारम्भिक नवीनता घटती जाती है तथा वस्तु अपनी विशेषता खो देती है। "नए उत्पादों में रक्षित विशेषता पाई जाती है जो प्रतियोगिता के कारण कम होती जाती है।" इसकी विभिन्न श्रेणियाँ ये हैं मार्केट म नए माल का पेटेंट होता है। यह अनिश्चित अवस्था है। माल की निकासी के साथ बिक्री बढती है। इससे प्रतियोगिता उत्पन्न होती है। बाजार मे नए प्रतियोगी आते हैं जिनसे माल में फर्क करना कठिन हो जाता है। कीमतें कम होन लगती हैं तथा माल आम हो जाता है। इसलिए प्रत्येक श्रेणी के अनुसार कीमत नीति बनानी पडती है।

उद्यमी के सम्मुख निम्नांकित विशेष कार्य रहते हैं—

(i) **माँग का अनुमान लगाना** (To Estimate Demand)—उपभोक्ता की पसन्द वास्तविक तथा सम्भावित (actual and potential) जानना होता है। कुछ प्रश्न का हल आवश्यक होता है जैसे क्या वस्तु की माँग होगी अथवा नही। किस कीमत पर यह अधिक आकर्षित होगी? किन कीमतो पर क्या बिक्री होगी और इन कीमतो का दूसरी वस्तुओ के बनाने वालो पर क्या असर पडेगा?

(ii) **बाजार लक्ष्य निर्धारित करना** (To Decide on Market Targets)—यह लक्ष्य बाजार के हिस्से पर जो यह अपनाना चाहता है निर्धारित है, साथ ही यह पैदा करने का ढग तथा वितरित करने के जरिए पर भी निर्धारित हैं। उत्पादन तथा वितरण की लागत द्वारा भी बाजार के लक्ष्य का निर्धारण होगा।

(iii) **उन्नतिशील कौशल की रचना** (To Design Promotional Strategy)—इसके पहले कि बनानेवालो की कीमत लगाने सम्बन्धी इच्छा समाप्त हो, वह खर्च जो बाजार बनाने म तथा अधिकार देने आदि मे खर्च हुए हैं, वसूल कर लेने चाहिएँ।

(iv) **वितरण के रास्ते निकालना** (To Choose Distribution Channels)—नई वस्तुओ की कीमत लगाने मे वितरण लागत का भी ध्यान रखना चाहिए।

अब हमको कीमत लगाने के ढग को, जो दो विशेष श्रेणियो में होती है, जिससे वस्तुओ को गुजरना पडता है, देखना है। (क) अग्रगामी मूल्य स्तर (pioneering stage) तथा (ख) परिपक्व मूल्य-स्तर (stage of maturity)।

(क) **अग्रगामी मूल्य** (Pioneering Pricing)—इस हालत म कारीगर (manufacturer) के लिए दो रास्ते खुले हैं—

1 Joel Dean, Harvard Business Review, November 1950 pp 45 52, reprinted in Hess and others—Outside Readings in Economics, 1951, Ch 15

(i) ऊँची कीमत जिसको Skimming Price कहते हैं, और

(ii) नीची कीमत जिसको Penetration Price कहते हैं।

ऊँची कीमत (Skimming Price) बाजार में किसी प्रतिवादी के आने के पहले बाजार को मथने या दुहने (skim) के लिए होती है। यह उन वस्तुओं के लिए उचित है जो मौजूदा वस्तुओं से अत्यधिक भेद बतलाती हैं और जिन पर आरम्भ में ही अधिक खर्च होता है। ऊँची कीमत के पक्ष म यह कहा जा सकता है कि पहले-पहले माँग अपेक्षाकृत बेलोचदार होती है, यह बाजार के तत्त्व को मथ लेती है जिससे कीमत पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यह रक्षित है, और साथ ही ऊँचे दाम द्वारा पैदावार, वितरण तथा तरक्की के लिए अधिक रुपया लगाने की व्यवस्था होती है।

नीची कीमत (Penetration Price) वह कीमत है जो नीची है और पूरे बाज़ार पर सीधे आक्रमण करती है और अधिक मुनाफे की आशा भी रखती है। जहाँ पर ऊँची कीमत से माँग की लोच बढ़ती है वहाँ के लिए थोड़ी कीमत उपयोगी सिद्ध होगी। यह वहाँ के लिए भी उपयोगी होगी जहाँ प्रतिस्पर्द्धा का भारी डर है तथा जहाँ पैदावार उपभोक्ता के खर्च के लिए आसानी से उपयोगी हो। अधिक उत्पादन जो कम दामों पर अधिक माँग की पूर्ति के लिए किया गया हो उत्पादन की लागत म बचत करेगा।

उत्पादक या कारीगर को चाहिए कि वह इस बात पर अच्छी तरह विचार कर ले कि अपने उत्पाद की कीमत ऊँची (skimming price) रखेगा या नीची (penetration price) रखेगा। सोच-समझकर निर्णय कर लेने के बाद ही उसे अपना मार्ग निश्चित करना चाहिए।

(ख) परिपक्व मूल्यांकन (Pricing in Maturity)—Brand preference में कमजोरी लाना, वस्तुओं के बीच भौतिक विभिन्नता को कम करना जब कि उत्पादन स्टैंडर्ड (standardized) हो, व्यक्तिगत होड़ करने वाले चिन्ह की अधिकता का होना, बाज़ार का शिखर पर होना और उत्पादन के साधन का स्थिर हो जाना आदि नई वस्तुओं म प्रतिस्पर्द्धा (competitive status) को नीचा करने के कुछ लक्षण हैं। जब कि ऐसे चिन्ह प्रतीत होते हैं और निर्माता को यह मालूम होता है कि बाजार उसके हाथ से निकलता जा रहा है तो उसे कीमत कम कर देनी चाहिए और इस तरह एक मजबूत दीवार उसके विरोधी के रास्ते में खड़ी हो जाती है। उसको अपनी वस्तु को उन्नतिशील बनाने का प्रयत्न करना चाहिए और साथ ही मार्केट का विभाजन (segmentation) भी करना चाहिए, जिससे पैदावार 'सम्पन्न श्रेणी में आ जाए और ऊँची आय वालों को आकर्षित करे।" इस तरह कम तथा इतनी कम भी नहीं कीमत (Low and not so low a price) ही के बीच छाँट का विकल्प रहता है।

१० सीमान्त का महत्त्व (Importance of the Margin)[1]—इस सीमान्त

1 Richard, A Lester— Shortcomings of Marginal Analysis The American Economic Review March, 1946, pp 72 82 reprinted in Hess and others—Outside Readings in Economics, 1951, Ch 18

विश्लेषण की ओर निर्देश करने का अवसर मिला किन्तु सीमान्त विश्लेषण का अर्थ-विज्ञान के कई प्रकरणो में भारी महत्त्व है। सत्य यह है कि सीमान्त विश्लेषण का सिद्धान्त अर्थ-विज्ञान को समझने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इसका महत्त्व इसमें होता है कि "सीमान्त पर ही माँग और पूर्ति के परिवर्तित सम्बन्ध परस्पर स्पष्ट होकर परिवर्तन सम्भव करते हैं, अर्थात् यह ज्ञान होता है कि अब अवस्था मे परिवर्तन होना चाहिए। सीमान्त पर ही व्यवसाय की असफलता अथवा दिवालिएपन का ज्ञान होता है। सीमान्त पर ही नई फर्म अथवा उद्योगपति उन्नति की ओर बढते हैं। सीमान्त पर ही एक वस्तु अथवा काम की जगह दूसरी वस्तु अथवा काम को लगाया या प्रतिस्थापित किया जाता है। सीमान्त पर ही नये सामान की माँगो की पूर्ति को प्राप्त साधनो के अन्तर्गत विभाजित किया जाता है। और द्रव्य के वर्तमान और भविष्य के उपयोग के लिए किस भाँति वितरण हो, इस नतीजे पर पहुँचा जाता है। विकस्टीड (Wicksteed) के शब्दो मे "जहाँ कही भी वह (सीमान्त) अपना प्रभाव जमा चुकी है वही वह अपनी प्रभुता स्थापित करती है। यही पर मनुष्य के प्रयत्नो की दिशा की आर्थिक परीक्षा होती है और उसे वहीं से निर्देश मिलते हैं। विभाजन के प्रत्येक बिन्दु पर वह साधनो के विवरण की जाँच करती है।"

पैदावार के सम्बन्ध मे भी सीमान्त का अपना एक विशेष महत्त्व है। यह पैदावार का रूप स्थिर करने का माप-दण्ड होता है। यह निश्चय करने के लिए कि उत्पादन कितनी मात्रा मे होना चाहिए, उत्पादक सामान्य उत्पादन लागत को दृष्टि मे नही रखता वरन् वह सीमान्त उत्पादन-व्यय पर ध्यान देता है। उसके लिए यह जानना अधिक आवश्यक होगा कि पैदावार मे वृद्धि करने के लिए उसे कितना अधिक और व्यय करना होगा। इस अतिरिक्त निकासी पर होने वाले अतिरिक्त व्यय की वह अनुमानित आय से तुलना करेगा। जो नियम उसे अपनाना होगा वह सीमान्त लागत की सीमान्त कीमत से समानता होती है।

प्रतियोगितापूर्ण स्थिति मे प्रत्येक फर्म की सीमान्त लागत एकसी होगी क्योंकि सब के लिए कीमतें बराबर हैं। जो सस्थाएँ कार्यकुशल न होगी, वे उत्पादन शीघ्र ही बन्द कर देंगी क्योकि उनकी सीमान्त लागत कीमत से शीघ्र ही अधिक होने और उनके विपरीत कुशल सस्थाओ की निकासी अधिक होने से उनकी सीमान्त लागत कीमत के समान आ जाएगी।

उस बिन्दु पर जहाँ सीमान्त लागत सीमान्त राजस्व (revenue) से मिलती है लाभ अधिकतम हो जाता है (अथवा यूँ कहिए कि हानि न्यूनतम हो जाती है)। जब तक सीमान्त राजस्व सीमान्त लागत से अधिक होता है, पैदावार बढ जाएगी चूंकि जब इससे लागत की अपेक्षा कुल प्राप्ति (total receipts) में बढोतरी होगी। लेकिन जिस अवस्था में सीमान्त लागत सीमान्त राजस्व से बढ जाती है, तो पैदावार सिकुड जाती है, चूंकि इससे कुल लागत की अपेक्षा कुल प्राप्ति घटकर कम हो जाएगी। पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में प्रत्येक व्यक्तिगत बेचने वाले को कीमत निश्चित होनी है। इसलिए वह कीमतें कम किये बिना ही जितना माल चाहे बेच सकता है। इस प्रकार सीमान्त राजस्व तथा कीमतें समान होती हैं।

यह संकेत कर देना उचित होगा कि सीमान्त विक्रेता अथवा खरीदार का कोई विशेष महत्व नहीं होता। वह बहुतों में से एक होता है। प्रत्येक विक्रेता अथवा खरीदार का महत्व होता है। कीमत का निर्धारण कुल माँग और पूर्ति से होता है। सीमान्त केवल मूल्य की ओर इंगित करता है—वह उस पर शासन नहीं करता।

निर्देश पुस्तकें

Chamberlin, E H Theory of Monopolistic Competition

Meade J H Economic Analysis and Policy

Stigler, G J Theory of Price, 1947, Ch 13

Meyers, A L Elements of Modern Economics, 1951, Chs 10 13 and 14

Boulding K E Economic Analysis 1949, Ch 27

Tarshis, L Elements of Economics 1946 Chs 15 and 16.

अध्याय २४

वितरण : सामान्य सिद्धान्त

(Distribution : General Principles)

१ भूमिका (Introduction)—अब तक हम अर्थशास्त्र की तीन शाखाओं का अध्ययन कर चुके हैं—अर्थात् उत्पादन, उपभोग और विनिमय। अब हम वितरण का अध्ययन करेंगे। वर्तमान प्रसग में 'वितरण' का अर्थ व्यापारियों तथा बिचौलियों के वितरण कार्यों (चेष्टाओं) से नहीं है। चैपमैन (Chapman) के शब्दों में, "वितरण किसी वर्ग द्वारा उत्पादित किये गए धन को एजेंटों अथवा उनके मालिकों के तथा जो भी उत्पादन मे सक्रिय रहे हैं, उनके बीच बाँटने से सम्बन्ध रखता है।"[1] दूसरे दृष्टिकोण से वितरण के सिद्धान्त का सम्बन्ध उत्पादन के साधन की सेवाओं के मूल्याकन (evaluation) से है अर्थात् इन साधनों की इकाइयों की मांग तथा पूर्ति की दशाओं का अध्ययन करना और उन प्रभावों का जिनके कारण उनकी मार्केट कीमत मे परिवर्तन होता है। इस रूप में वितरण का सिद्धान्त अधिकतर विनिमय (अथवा मूल्य) सिद्धान्त का विस्तार (extension) मात्र है।

२. एक अलग सिद्धान्त की आवश्यकता (Need for a Separate Theory)—विनिमय मे हमने पढ़ा कि कीमतो का सिद्धान्त क्या है। यह वह सिद्धान्त है, जिसके द्वारा किसी वस्तु की कीमत निर्धारित की जाती है। क्या वही सिद्धान्त उत्पादन के एजेंटों द्वारा, जो सेवा की जाती है, उसकी कीमत निर्धारित नही कर सकता। नही, एक अलग सिद्धान्त की आवश्यकता है। मार्शल (Marshall) वितरण के अलग सिद्धान्त की आवश्यकता इसलिए उचित समझते हैं कि 'स्वतन्त्र व्यक्ति अपने काम पर उसी प्रकार उन्ही सिद्धान्तो पर नही लाये जा सकते, जिस प्रकार कि मशीन, एक घोड़ा या एक दास लाया जा सकता है।" वे आगे कहते हैं कि "अगर वे ऐसे होते तो मूल्य के वितरण और विनिमय अगो मे बहुत कम अन्तर होता और, क्योंकि आकस्मिक असफलताओं की मांग और पूर्ति म समायोजन (adjustment) की गुंजाइश को छोड कर प्रत्येक उत्पादन का एजेंट उतना बदला चाहता है जो कि उत्पादन की लागत को सभी तरह से पूर्ण कर सके।"[2]

इस प्रकार मूल्य का सिद्धान्त, जो कि वस्तुओं (commodities) के मूल्य निर्धारण में मदद देता है, वह पूर्ण रूप से सेवाओं (services) के मूल्य अथवा विभिन्न

---

1 "The Economics of distribution accounts for the sharing of the wealth produced by a community among the agents, or the owners of the agents, which have been active in its production" —Chapman—Outlines of Political Economy, p. 278.

2 Marshall, A —Principles of Economics, 8th Ed , p 504

उत्पादन के एजेण्टों के राष्ट्रीय लाभांश (national dividend) के भाग के मूल्य निर्धारित करने में लागू नहीं होता। दो बातों में दोनों सिद्धान्त—मूल्य का सिद्धान्त और वितरण का सिद्धान्त—एक दूसरे से मिलते जुलते हैं—(१) मांग पक्ष में, दोनों वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य सीमान्त उपयोगिता अथवा सीमान्त उत्पादन शक्ति के द्वारा निर्धारित किये जाते हैं, और (२) पूर्ति के परिवर्तन से, जो तात्कालिक प्रभाव मूल्य के ऊपर पड़ता है, वह भी एक समान ही होता है जैसे पूर्ति में प्रसार उसके मूल्य को कम कर देगा, तथा इसके विपरीत भी उल्टा ही होगा।

किन्तु पूर्ति पक्ष में कुछ मुख्य अन्तर हैं, प्रधानतया जहाँ तक कीमत का प्रभाव पूर्ति पर पड़ता है। जब एक वस्तु की कीमत बढ़ जाती है तो पूर्ति महँगाई का लाभ उठाने के लिए बढ़ जाती है। परन्तु उत्पादन के एजेण्टों के मामले में ऐसा नहीं होता। उदाहरणार्थ यदि किराया अथवा मजदूरी बढ़ जाती है तो भूमि व श्रम की पूर्ति क्रमश: नहीं बढ़ेगी। इस प्रकार उत्पादन के साधनों की पूर्ति उनके पुरस्कार-परिवर्तन के साथ शीघ्रता से नहीं बदलती। एक एजेण्ट की पूर्ति मांग के अनुसार उतनी तेजी से नहीं बदल सकती जितनी कि वस्तु की पूर्ति बदल सकती है।

यही नहीं, एक उत्पादन के एजेण्ट की उत्पादन लागत निर्धारित नहीं की जा सकती। उत्पादन के एजेण्ट की उत्पादन-लागत के बारे में कहना, जैसा कि श्रम के बारे में कहना भद्दा-सा मालूम पड़ता है। क्या आप एक मजदूर की अथवा एक एकड़ भूमि की उत्पादन-लागत बता सकते हैं? इस प्रकार यद्यपि एक वस्तु के विषय में हम कह सकते हैं कि उसका मूल्य दीर्घकाल में लगभग उत्पादन लागत के बराबर हो जाता है परन्तु यह प्रश्न उत्पादन के एजेण्ट के सम्बन्ध में नहीं उठ सकता क्योंकि उसकी लागत निर्धारित नहीं की जा सकती।

इन विशेषताओं के होते हुए भी मांग और पूर्ति का सामान्य सिद्धान्त उत्पादन के एजेण्टों के लिए भी लागू होता है। परन्तु उसमें कुछ आवश्यक सुधार करने होते हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि मूल्य के सिद्धान्त से वितरण का सिद्धान्त अलग रखा जाए।

३ राष्ट्रीय लाभांश (The National Dividend)—हमें पहले यह जानना जरूरी है कि किस वस्तु का वितरण करना है। यह वस्तु है राष्ट्रीय लाभांश अथवा राष्ट्रीय आय (national income) जिसे सहकारी एजेण्टों (co operative agents) में बाँटना है। राष्ट्रीय लाभांश की परिभाषा विभिन्न रूपों में की गई है। 'राष्ट्रीय लाभांश (national dividend), उत्पादन के समस्त साधनों का वह समस्त शुद्ध योग है, जिसमें से उत्पादन के समस्त साधनों को उनके अंश के रूप में भुगतान किया जाता है।" राष्ट्रीय लाभांश वस्तुओं के रूप में भी हो सकता है और सेवाओं के रूप में भी। यह वह सकल शुद्ध उत्पादन है जो प्रतिस्थापनों, मरम्मत आदि के व्यय को छांट कर बच रहता है। मार्शल (Marshall) के शब्दों में, वर्ष भर की कुल अशेष उत्पत्ति राष्ट्रीय आय है। 'किसी देश के श्रम और पूंजी द्वारा प्राकृतिक साधनों का उपयोग करके प्रतिवर्ष पार्थिव व अपार्थिव वस्तुएं तथा विभिन्न प्रकार की जो सेवाएँ उत्पन्न होती हैं, उनकी कुल अशेष उत्पत्ति, देश की राष्ट्रीय आय है। यही किसी देश की

वास्तविक राष्ट्रीय आय या वार्षिक राजस्व या राष्ट्रीय लाभांश है।" पीगू (Pigou) के अनुसार, "राष्ट्रीय आय समाज की पदार्थ-निष्ठ आय (विदेश से प्राप्त आय इसमें सम्मिलित है) का वह भाग है, जो द्रव्य द्वारा नापी जा सकती है।"

इस प्रकार पीगू (Pigou) के अनुसार राष्ट्रीय लाभांश को निश्चित करने में केवल वही वस्तुएँ व सेवाएँ शामिल की जानी चाहिएँ, जिनका बाजार में विनिमय हुआ हो। यह परिभाषा उन सेवाओं को, जो एक व्यक्ति स्वयं अपने लिए या अपने कुटुम्ब के व्यक्तियों की अथवा दोस्तों की नि शुल्क करता है, अलग रखती है। उसी प्रकार सार्वजनिक सम्पत्ति, जैसे बागों अथवा पुलों (टोल-रहित) आदि द्वारा उठाये जाने वाले नि शुल्क लाभों को भी शामिल नहीं करती। यह परिभाषा बहुत संकीर्ण है और इसके विरुद्ध कई आक्षेप किये गए हैं। पीगू ने स्वयं एक आक्षेप का उल्लेख किया है। यदि एक आदमी घर की नौकरानी से शादी कर लेता है तो राष्ट्रीय आय कम हो जाएगी। यह इसलिए कि अब सेवाओं के लिए कुछ चुकाना नहीं पडता, हालांकि सेवाएँ वही हो रही हैं।

राष्ट्रीय आय की परिभाषा (National Income Defined)—राष्ट्रीय आय वह समस्त साधन आय (factor income) (अर्थात् श्रम तथा सम्पत्ति का अर्जन) है जो माल तथा सेवाओं के चालू उत्पादन की सहायता से राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था द्वारा उत्पन्न होता है। राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का निर्देश उत्पादन के साधनों से है (अर्थात् श्रम तथा सम्पत्ति से) जिसकी पूर्ति राष्ट्रीय राज्य-क्षेत्र (national territory) के सामान्य निवासियों द्वारा होती है।

राष्ट्रीय राज्य-क्षेत्र वह क्षेत्र (territory) है जो देश के सीमा-शुल्क (customs) सीमान्त के भीतर होता है। शेष राज्य-क्षेत्र ऐसे देश के लिए दूसरे देश होते हैं। फिर भी राष्ट्रीय राज्य क्षेत्र (national territory) की उपर्युक्त परिभाषा मे कुछ कमियाँ हैं। उदाहरणार्थ किसी देश के उड़ते हुए वायुयान तथा विदेश जाते हुए जलपोत जिन पर राष्ट्रीय झडा लगा है, उन्हे, चाहे वे किसी भी देश के जल-प्रांगण (territorial waters) मे हों अथवा ऊपर वायु म उड रहे हों राष्ट्रीय राज्य क्षेत्र के भाग ही माने जाने चाहिएं। इसी प्रकार विदेशी झडे से सज्जित जलपोत तथा जहाज चाहे वे उस देश के जल-प्रांगण म हों अथवा ऊपर वायु म उड रहे हों दूसरे देश के माने जाने चाहिएँ। दूतालय, सरकारी मिशन या सशस्त्र सेनाएँ चाहे वे किसी देश की, किसी अन्य देश मे हों, उन्हे पितृ-देश के राष्ट्रीय राज्य-क्षेत्र के अन्दर मानना चाहिए। इसी प्रकार विदेशी दूतालय, सरकारी मिशन तथा सशस्त्र सेना को जो राष्ट्रीय राज्य-क्षेत्र म स्थापित है उस देश के सम्बन्ध मे जुदा विश्व के भीतर मानना चाहिए।

सामान्य निवासी उन्हे कहा जाता है जिनका निवास-स्थान उस देश के राष्ट्रीय सीमांत में स्थापित होता है। किसी देश के यात्री या टूरिस्ट जो बाहर विदेशों में भ्रमण करते हैं उस देश के सामान्य निवासी माने जाते हैं, लेकिन किसी देश के नागरिक जो प्राय. बाहर रहते हैं उन्हे ऐसा नहीं माना जाता। किसी देश के सरकारी प्रतिनिधि जो विदेश भूमि पर रह कर सेवा कर रहे हैं उन्हें उसी (अपने देश का) देश का सामान्य निवासी माना जाता है।

आय की उत्पत्ति उसी राज्यक्षेत्र से मानी जाती है जिस पर कि आय उत्पादक (income generating) आर्थिक चेष्टा होती है। किसी देश के राज्य क्षेत्र से कमाई गई आय को शुद्ध भौगोलिक (net geographical) अथवा गृह उत्पाद (domestic product) कहा जाता है। चूँकि किसी देश के राज्य-क्षेत्र म उत्पन्न होने वाली साधन आय (factor income), आय प्राप्ति के साधनों की मालकियत (ownership of income-earning factors) के कारण विदेशियो को प्रोदभूत (accrue) हो सकती है तथा साधन आय का एक भाग जिसकी उत्पत्ति विदेशी राज्य क्षेत्र म है उसी कारण से उस देश के सामान्य नागरिकों के लिए प्रोद्भूत हो सकती है। इस प्रकार राष्ट्रीय आय तथा शुद्ध गृह उत्पाद (net domestic product) म भेद है। इसम (राष्ट्रीय आय में) शुद्ध गृह उत्पाद तथा विदेशों से शुद्ध आय शामिल है। दूसरे प्रकार की आय साधन आय का वह आधिक्य (excess) है जिसकी उत्पत्ति विदेश मे होती है लेकिन देश के सामान्य वासियों को प्रोदभूत होती है और यह वह आय है जो किसी देश म प्रारम्भ होन वाली साधन आय के अलावा है लेकिन जो बाकी ससार के सामान्य निवासियों को प्रादभूत होती है।

चूँकि साधन आय का उदय माल तथा सेवाओं के उत्पादन से होता है, और चूँकि यह आय माल और सेवाओं से बढती है (expanded), इसलिए माल और सेवाओं की तीन पर्यायी परिभाषाएँ देना सम्भव है। पहली, राष्ट्रीय आय की परिभाषा के अन्तर्गत बताया गया था कि यह बँटने वाले अशों का कुल योग है (sum of distributive shares) अर्थात यह आय भुगतान (income payments) का कुल जोड है जोकि उत्पादन के साधनों की सहायता से निर्दिष्ट काल में किसी राष्ट्रीय राज्य क्षेत्र के सामान्य निवासियो द्वारा पूर्ति से प्राप्त होता है। दूसरे, इसे हम शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन (net national product) कह सकते हैं अर्थात्, माल और सेवाओं द्वारा प्राप्त कुल शुद्ध पैदावार (aggregate net output) जो किसी काल म राष्ट्रीय राज्य-क्षेत्र के सामान्य निवासियो के उपभोग (consumption) अथवा पूँजी निर्माण (capital formation) के लिए मिलती है। इस रूप म इसका माप 'किसी निर्दिष्ट काल मे समस्त आर्थिक चेष्टाओं के अन्तर्गत जोड गए कुल शुद्ध मूल्य (aggregate net values) तथा बाहर से प्राप्त शुद्ध आय" है। तीसरे, इसको शुद्ध राष्ट्रीय व्यय (net national expenditure) कह सकते हैं, अर्थात् किसी निर्दिष्ट काल म राष्ट्रीय राज्य-क्षेत्र के सामान्य निवासियो द्वारा अन्तिम उपभोग तथा गृह और विदेशी विनियोजन (foreign investment) पर किया गया कुल खर्च। निर्दिष्ट काल प्राय एक वर्ष होता है। इस प्रकार परिभाषा करने से राष्ट्रीय आय के अग प्रत्यग हमारे सामने आते हैं, अर्थात् वैयक्तिक रूप से उपभोग पर व्यय (personal consumption expenditures), सकल निजी तथा घरेलू विनियोजन (gross private domestic investment), शुद्ध विदेशी विनियोजन (net foreign investment), तथा सरकार द्वारा माल तथा सेवाओं का क्रय। इन चारो मदों के जोड से सकल राष्ट्रीय उत्पाद (gross national product) का मूल्यांकन (मार्केट कीमत पर) का पता चलता है। यदि हम इस कुल योग में से पूँजी उपभोग (घिसाई तथा टूट

फूट) तथा राजकीय सहायता बिना परोक्ष कर घटा दें तो इस प्रकार शुद्ध राष्ट्रीय आय निकल आती है।

४ राष्ट्रीय आय का माप (Measurement of National Income)—राष्ट्रीय आय की उपर्युक्त तीन परिभाषाओं के कारण इस (राष्ट्रीय आय) को मापने के तीन वैकल्पिक उपाय (alternative methods) सामने आते हैं। पहला उपाय "समस्त उत्पादकों के सकल उत्पाद (बिक्री+स्वतः उपभोग+स्टॉक में वृद्धि) के कुल मूल्य को जोड लेना और फिर उसमें से इन उत्पादकों का दूसरे उत्पादकों के कुल क्रय तथा उत्पादन के दौरान में उपभोग में आने वाले उपकरण की घिसाई आदि को घटा देना" है। उत्पादक की सकल पैदावार के मूल्य में से, मध्यवर्ती उत्पाद उपभोग तथा उत्पादन के दौरान में काम आने वाले उपकरणों की घिसाई आदि के खर्च कम करने से उसके द्वारा जोडा गया शुद्ध मूल्य (net value) अथवा अ-दोहरे उत्पाद (unduplicated produce) के कुल मूल्य में उसके अंशदान (contribution) का पता चलता है। इस प्रकार के शुद्ध आँकडे (net figures) का प्राक्कलन (estimate) प्रत्येक उद्योग के बारे में लगाया जा सकता है। इन प्राक्कलनों के जोड से साधन लागत (factor cost) पर होने वाले शुद्ध-गृह उत्पादन (net domestic product) का पता चलता है। इस कुल योग (aggregate) में बाहर से प्राप्त आय जोडने पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन अथवा साधन लागत पर राष्ट्रीय आय का पता चलता है। उपर्युक्त उपाय को राष्ट्रीय आय प्राक्कलन करने का उत्पाद उपाय (product method) कहते हैं।

दूसरा उपाय राष्ट्रीय राज्य-क्षेत्र में रहने वाले सामान्य निवासियों द्वारा उत्पादन के साधनों को प्रोद्भूत (accrue) होने वाली आयों का जोड है, अर्थात् मज़दूरी (wages) तथा दूसरे प्रकार की श्रमिकों को होने वाली आय, ब्याज, किराया तथा अनिगमित उद्यमों (unincorporated enterprises) की आय (माल के स्टाक में परिवर्तन मात्र होने से प्राप्त आय) जोडना। इस प्रक्रिया को राष्ट्रीय आय मापने का आय उपाय (income method) कहते हैं।

तीसरा उपाय उपभोग तथा विनियोग के लिए उपलब्ध तैयार माल के मार्केट मूल्य को जोडना है तथा इसमें ऐसे समायोजन (adjustment) शामिल हैं जो मार्केट कीमत पर सकल राष्ट्रीय उत्पाद को साधन लागत से प्राप्त शुद्ध राष्ट्रीय आय में से घटाने के लिए जरूरी हो। अर्थात् अप्रत्यक्ष कर राजकीय सहायता बिना घटा दिए जाएँ।

५ राष्ट्रीय आय को मापने में कठिनाइयाँ (Difficulties of Measuring National Income)—भारत जैसे अर्द्ध-विकसित देश में राष्ट्रीय आय मापने के कार्य में कई कठिनाइयाँ हैं, जैसे धारणा सम्बन्धी (conceptional) तथा सांख्यिकी (statistical)। इनमें से मुख्य ये हैं :

(क) पैदावार की जितनी मात्रा का द्रव्य से विनिमय नहीं होता, इसका कारण चाहे यह हो कि उसका उपभोग उत्पादक स्वयं कर लेते हैं अथवा दूसरी वस्तुओं

तथा सेवाओ से वस्तु विनिमय (barter) हो जाता है, तो यह समस्या खडी हो जाती है कि राष्ट्रीय पैदावार मे क्या शामिल किया जाए तथा इसका क्या मूल्य आँका जाए।

(ख) अनियमित उद्यमो (unincorporated enterprises) के व्यापार की मात्रा, जिससे खाते इस प्रकार तैयार नही होते कि पैदावार की मात्रा तथा मूल्य आदि के प्राक्कलन (estimation) मे आसानी हो। इस प्रकार की सूचना तो सिर्फ राज्य की ओर से चालू तथा नियमित उद्योगो में ही आसानी से प्राप्त हो सकती है।

(ग) एक उद्योग की पैदावार दूसरे उद्योग की पैदावार का काम करती है जिससे इसका मूल्य दूसरे मे भी जुड जाता है, तो इस दोहरे हिसाब (double counting) को घटाने की समस्या बनी रहती है। इस तरह मूल्याकन प्रक्रिया बहुत जटिल हो जाती है।

(घ) उपलब्ध सामग्री (data) व्यापक (comprehensive), शुद्ध (accurate) तथा अद्यावधिक (up to-date) नही होती जो राष्ट्रीय आय के मूल्याकन मे सही रूप से सहायता कर सके।

(ङ) जहा (जैसा कि भारत म है) अर्थव्यवस्था के भीतर कृत्यो (functions) के विशिष्टीकरण की कमी है, वहाँ राष्ट्रीय आय का औद्योगिक उत्पत्ति (industrial origin) से वर्गीकरण करना असम्भव हो जाता है।

६. सीमान्त उत्पादकता का सिद्धान्त (The Theory of Marginal Productivity)—उद्यमी विभिन्न साधनो की सेवा खरीदता है। उसी के जरिए विभिन्न साधनो को किराया (rent), मजदूरी (wages), तथा ब्याज (interest) आदि के रूप म अपना पारितोषिक मिलता है। उद्यमी उत्पादन के विभिन्न साधनो को लगाने में प्रतिस्थापन के सिद्धान्त के अनुसार कार्य करता है। जब तक सब साधनो का सीमान्त उत्पादन समान नही होता वह एक साधन को दूसरे साधन से बदलता रहता है। यह सयोग सबसे अधिक किफायत तथा अधिक-से अधिक लाभ देने वाला होता है। तो फिर सीमान्त उत्पादकता क्या है ?

किसी साधन के सीमान्त उत्पादन का अर्थ उस मात्रा से होता है जो उसकी इकाई द्वारा कुल उत्पादन म बढोतरी होती है अर्थात् वह इकाई जिसे मालिक अपने काम म लगाना लगभग या सीमान्त उचित समझता है। व्यापार की सीमा पर किसी साधन को जो कुछ भुगतान किया जाता है, वह उस साधन की इकाई द्वारा बढे हुए उत्पादन के मूल्य के बराबर होता है।

इसलिए उत्पादन के साधन उन स्थानो से हट कर जहाँ पर सीमान्त उत्पादन शक्ति कम होती है, वहाँ चले जाते हैं, जहाँ सीमान्त उत्पादन शक्ति अधिक होती है। इस प्रकार उत्पादन के किसी साधन की दी हुई पूर्ति ऐसे ढग से बाँटी जाती है कि सब प्रयोगों में उसका सीमान्त उत्पादन बराबर रहे।

इस प्रकार साम्य (equilibrium) की दशा म (i) उत्पादन के किसी साधन की सीमान्त उत्पादन शक्ति सब व्यवसायो में बराबर रहती है। (ii) प्रत्येक उत्पादन के साधन की सीमान्त उत्पादन शक्ति उसी व्यवसाय के अन्य उत्पादन साधनो

की कीमत द्वारा आँकी जाती है । (iii) उत्पादन के विभिन्न साधनों की सीमान्त उत्पादकताएँ अपनी-अपनी कीमतों के अनुपात में रहती हैं ।

इसलिए व्यवसाय के पूर्ण क्षेत्र में उत्पादन के प्रत्येक साधन का, उसकी सीमान्त उत्पादन शक्ति के हिसाब से ही भुगतान किया जाता है । इस तरह राष्ट्रीय लाभांश का वितरण कोई गड़बड़ घुटाला नहीं है जैसा कि हड़तालों और तालाबन्दी वाले बताते । यह निश्चित रूप से आर्थिक सिद्धान्त पर आधारित है ।

यह ध्यान में रखना चाहिए कि प्रतियोगिता के क्षेत्र में काम करने वाला एक व्यवसायी उत्पादन के साधनों के लिए जो कीमतें देता है वह पहले ही से निर्धारित होती है । चूँकि उसके उत्पादन के साधनों की माँग कुल माँग का महत्वहीन भाग होता है, इसलिए उसके कम व अधिक साधन लगाने से उनकी कीमतों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता । उसका काम साधनों को काम में लाकर उस बिन्दु पर पहुँचाना होता है, जिससे कि उनकी सीमान्त उत्पादन शक्ति उनकी कीमत के बराबर हो जाए, जो कि बाजारू शक्तियों से पहले से ही निर्धारित होती है । उसी प्रकार उत्पादन के एक साधन का मूल्य, किसी व्यक्तिगत व्यवसायी की सीमान्त उत्पादन शक्ति से नहीं, बल्कि व्यवसायों की एकत्रित सीमान्त उत्पादन शक्ति के द्वारा निर्धारित किया जाता है ।

उपर्युक्त सिद्धान्त कुछ धारणाओं में ठीक है । प्रथम यह मान लिया जाता है कि साधन की सब इकाइयाँ समान (homogeneous) होती हैं, जिससे कि जैसी एक इकाई अच्छी होती है उसी प्रकार दूसरी भी । दूसरे, विभिन्न साधनों को एक-दूसरे की जगह पर लगाया जा सकता है । इसलिए सीमान्त पर यह सम्भव है कि कुछ अधिक भूमि या श्रम या पूँजी लगाई जा सके । यदि प्रतिस्थापन (Substitution) सम्भव नहीं है तो विभिन्न साधनों की सीमान्त उत्पादन शक्ति असमान (unequal) रहेगी । तीसरे, यह भी मान लिया जाता है कि किसी साधन की मात्रा में इच्छानुसार परिवर्तन लाया जा सकता है । इस प्रकार यह सम्भव हो जाता है कि उसी साधन का कुछ अधिक या कुछ कम भाग काम में लाया जाए । अगर ऐसा नहीं हो सकता तो उस साधन का प्रयोग उस बिन्दु तक नहीं ले जाया जा सकता, जिससे उसकी सीमान्त उत्पादन शक्ति उसके व्यय के बराबर हो सके । चौथे, यह भी मान लिया जाता है कि विभिन्न कार्यों में उत्पादन के साधन इधर उधर भी प्रयुक्त किए जा सकते हैं । अगर एक साधन, एक व्यवसाय अथवा कार्य से दूसरे में प्रयोग न किया जा सके तो उसकी सीमान्त-उत्पादन शक्ति विभिन्न व्यवसायों में असमान रहेगी । अन्त में, यह सिद्धान्त घटती हुई प्राप्ति के नियम (law of diminishing returns) पर आधारित है । इसका अर्थ यह है कि अन्य वस्तुएँ बराबर रहने पर किसी साधन की पूर्ति की अननुपातिक वृद्धि से योग उत्पादन आह्रासी-क्रम के अनुपात से बढ़ता है ।

इन्हीं धारणाओं के अन्तर्गत यह है कि उत्पादन के चार साधनों में से प्रत्येक अर्थात् जमीन का लगान (rent of land), पूँजी पर ब्याज (interest on capital), श्रम की मजदूरी (wages of labour) तथा उद्यमी का लाभ (profits of enterprise) सीमान्त शुद्ध उत्पाद के मूल्य के समान होने का प्रयास करते हैं ।

७ उत्पादी सेवाओं की कीमत लगाना (Pricing of Productive Services)[1]—वितरण का अध्ययन करते समय हमको उत्पादी सेवाओं की कीमत का भी ध्यान रखना होगा। उपभोज्य वस्तुओं और उत्पादी सेवाओं के बीच चक्रीय सम्बन्ध रहता है। उपभोक्ता, उपभोज्य वस्तुएँ खरीदते हैं, और बदले में उत्पादी सेवाएँ बेचते हैं। इसके विपरीत उद्यमी या व्यवसायी उत्पादी सेवाएँ खरीदते हैं और उपभोज्य वस्तुएँ बेचते हैं। इस प्रकार यहाँ भी माँग और पूर्ति के मौलिक नियम लागू होते हैं।

माँग के सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य बात यह है कि किसी प्रतियोगी व्यवसाय संस्था का माँग वक्र उस सेवा के सीमान्त उत्पादन के मूल्य वक्र के बराबर है। चूँकि क्रमागत ह्रास उत्पत्ति नियम लागू होता है इसलिए माँग वक्र झुकता हुआ होगा। यदि प्रत्येक उत्पादी सेवा के लिए उसकी सीमान्त उत्पत्ति को देखते हुए समान मूल्य चुकाया जाए, तो सकल उत्पादन इतना पर्याप्त होगा कि उत्पादी सेवाओं में लगे प्रत्येक व्यक्ति को यथेष्ट पारिश्रमिक मिल जाएगा।

उत्पादी सेवाओं की माँग के सम्बन्ध में निम्नलिखित चार मोटे नियम स्मरण रखने चाहिएँ।[2]

(१) सहकारी उत्पादी सेवाओं की संख्या जितनी ही अधिक होगी उतनी ही ऊँची उत्पादी सेवाओं की मात्रा की कीमत होगी।

(२) जितनी अधिक मात्रा में उत्पादी सेवाएँ लगाई जाएँगी, उतनी ही नीची माँग कीमत प्रति इकाई होगी।

(३) उत्पादी सेवा की माँग कीमत उतनी ही अधिक होगी जितनी कि तैयार माल की अधिक कीमत उस उद्योग में होगी जिसमें कि उक्त उत्पादी सेवा का प्रयोग हुआ था।

(४) सेवा जितनी ही अधिक उत्पादी होगी उतनी ही ऊँची उस सेवा की मात्रा की माँग कीमत होगी।

किसी उद्योग का माँग वक्र उस उद्योग में लगी व्यवसाय संस्थाओं के माँग वक्रों का सकल योग होता है। इसी प्रकार हम उन सब उद्योगों का माँग वक्र निकाल सकते हैं जिनमें एक विशेष उत्पादी सेवा का प्रयोग हो रहा हो।

किसी साधन का पूर्ति वक्र उसकी पूर्ति की विविध अवस्थाओं पर निर्भर है। उदाहरण के लिए हम श्रम को ले लें। श्रम अत्यन्त उत्पादी सेवा है। किन्तु श्रम कई अवस्थाओं पर निर्भर होगा जैसे देश की जनसंख्या, जनसंख्या का भौगोलिक और औद्योगिक फैलाव, श्रम की कार्यकुशलता, सर्वसाधारण की शिक्षा और प्रशिक्षा पर व्यय परिवहन और यातायात सम्बन्धी व्यय, प्रत्याशित आय, विशेष प्रकार के काम में रुचि और आमोद प्रमोद व छुट्टी की अवस्थाएं आदि। इस प्रकार सम्बन्धित आँकड़ों और सूचनाओं के आधार पर उत्पादी सेवाओं का पूर्ति वक्र बनाया जा सकता है।

जब हम दोनों वक्र बना लेंगे—अर्थात् माँग वक्र और पूर्ति वक्र, तो फिर

---

1 Stigler G J—Theory of Price 1947 Ch X

2 Ibid p 182

कीमत निर्धारण सामान्य मांग और पूर्ति के नियमो के अनुसार होगा। मांग और पूर्ति की शक्तियो म साम्य आने पर ही उत्पादी सेवाओ की बाजारी कीमत निर्धारित होगी।

८ सीमान्त उत्पादन सिद्धान्त की आलोचना (Criticism of the Marginal Productivity Theory)—इन स्वयसिद्धियो के होते हुए भी यह सिद्धान्त अर्थशास्त्र-वेत्ताओ द्वारा सर्वमान्य नही है। इसकी बहुत सी आलोचनाएँ की गई हैं

(i) पहली साधारण आलोचना यह है कि एक उत्पादित वस्तु उत्पादन के सभी साधनों का सामूहिक प्रयत्न है। उनमें से हर एक का भाग अलग करना असम्भव है। यह आलोचना टासिग (Taussig) और डेवनपोर्ट (Davenport) द्वारा की गई है, जो कि स्पष्ट रूप से सीमान्त उत्पादन शक्ति का गलत अर्थ लगाने से हुई है। जैसा कि हम पहले बता चुके हैं, सीमान्त उत्पादन केवल सीमान्त साधन के प्रयत्न का फल नही है। हम तो केवल प्रयोग की सीमा के आधार पर वस्तु का उत्पादन उस साधन के निमित्त करते हैं। यह तो केवल वह वृद्धि है, जो कुल उत्पादन में इसकी एक और इकाई लगाने से होती है, अथवा वह घटी है जो इसकी एक इकाई कम करने से होती है।

(ii) दूसरी आलोचना हाब्सन ने की है। वे कहते हैं कि यदि किसी विशेष साधन की इकाई हटा ली जाती है तो सारा व्यवसाय इतना असगठित हो जाता है कि हटाई हुई इकाई की उत्पादन शक्ति से बहुत अधिक हानि उत्पादन म होती है। यह आलोचना भी सिद्धान्त के गलत प्रयोग स उत्पन्न होती है। हमारा ध्यान छोटे व्यवसाय के सगठन और साधन की बडी इकाइयो की ओर रहता है। अगर हम बडे व्यवसाय और साधन की छोटी इकाइयो पर ध्यान दें तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि सीमा पर से साधन की एक इकाई हटा लेने से दूसरे साधनो की उत्पादन शक्ति पर कोई प्रभाव न पडेगा।

(iii) इसके अतिरिक्त एक प्रतिकूल विचार है जिसके अनुसार सभी साधनो के सीमान्त उत्पादन का जोड कुल उत्पादन से कम होगा। और इस प्रकार जो अन्तर होगा वह किसी एक साधन द्वारा नही बल्कि सबके सहयोग द्वारा होगा। विकस्टीड (Wicksteed) ने इस आलोचना का उत्तर दिया है। वह यह मान लेते हैं कि सभी साधनो की वृद्धि से उत्पादन का परिमाण भी उसी अनुपात से बढेगा। लेकिन यह स्वयसिद्धि, जिससे ज्ञात होता है कि व्यवसाय, स्थायी प्राप्ति (returns) नियम को मानता है, सदैव उचित नही होता और इसम कुछ कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं।

(iv) एक अन्य आपत्ति, जो शुद्ध सीमान्त उत्पादन (marginal net product) को मापने में होती है, जॉन राबिन्सन (Joan Robinson)[1], पीगू (Pigou)[2] और जे० आर० हिक्स (J. R Hicks)[3] द्वारा उल्लिखित की गई है। यह आपत्ति

1 The Economics of Imperfect Competition, p 327
2 Economics of Welfare
3 The Theory of Wages

बताई गई है कि बहुत बडे पैमाने पर उत्पादन मे जो किफायतें होती हैं, वह किसी फर्म के साधन की इकाई की सीमान्त उत्पादन-शक्ति के मुकाबिले में सम्पूर्ण व्यवसाय की उत्पादन-शक्ति से कम होती हैं। ऐसा इसलिए है कि जब कोई इकाई किसी व्यवसाय मे अधिक लगाई जाती है, तब उसके कारण एक बहुत बडा श्रम-विभाजन हो जाता है। लेकिन यदि कोई व्यवसाय नई पूर्ति के लिए स्वय अपने को ठीक प्रबन्धित कर लेता है तो यह बिल्कुल सम्भव है कि किसी विशेष फर्म के साधन की सीमान्त उत्पादन शक्ति सम्पूर्ण व्यवसाय से कम हो क्योंकि इसका हटाया जाना व्यवसाय को एक विशेष फर्म से अधिक हानि पहुँचा सकता है। इसलिए ऐसे उद्योगो मे एक साधन की सीमान्त उत्पादन शक्ति अनिर्धारित रहती है।

(v) हाब्सन (Hobson) का कहना है कि अधिकाश दशाओं म साधन (factors) के प्रयोगों को अलग अलग करना सम्भव नहीं है। व' अनुपात जिससे साधनों को काम म लाया जा सकता है व्यवसाय की विशेष कला की दशाओं, स्थायी पूँजी जैसे मशीन आदि के द्वारा निर्धारित किया जाता है। उदाहरणार्थ, कुछ मशीनें ऐसी हैं जिनके लिए केवल एक मजदूर की आवश्यकता होगी। दो को लगाना गैर-किफायती होगा। जब हम किसी साधन के प्रयोग को बदल नही सकते, तो उसकी सीमान्त उत्पादन शक्ति कैसे प्राप्त कर सकते हैं। साधारणतया इसके लिए उत्तर दिया जाता है कि जिस अनुपात म विभिन्न साधनों को मिलाया जाता है, उनकी विभिन्नता म बहुत सम्भावनाएँ रहती हैं।

(vi) अन्त म, इसका भी विरोध किया जाता है कि इस सिद्धान्त में पूर्ति को स्थायी मान लिया जाता है। कार्य-रूप म अधिकतर एक साधन का पुरस्कार उसकी पूर्ति पर भी प्रभाव डालता है। यह सिद्धान्त माँग की समस्याओं पर ही विचार करता है, पूर्ति की नही।

(vii) यह याद रखना चाहिए कि यह सिद्धान्त तभी ठीक उतरेगा जबकि यह मान लिया जाए कि बाजार म पूर्ण प्रतियोगिता (perfect competition) की दशाएँ हैं। क्योंकि वास्तविक जीवन म पूर्ण प्रतियोगिता नही होती, इसलिए साधनों का पारिश्रमिक उसके सीमान्त उत्पादन के बराबर नही होता। इसके अतिरिक्त उत्पादन के विभिन्न साधनों के अशो का निर्धारण पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में इस रीति से नही होगा। साथ ही यह नहीं समझ लेना चाहिए कि जो पारिश्रमिक सीमान्त उत्पादन के बराबर होता है, वह नैतिक दृष्टि से न्याययुक्त भी है।

जैसा कि सेमुअलसन (Samuelson) कहते हैं "यह सीमान्त उत्पादन सिद्धान्त वह सिद्धान्त नहीं है जो मजदूरी, लगान अथवा ब्याज की व्याख्या करता है। इसकी अपेक्षा यह केवल यह बताता है कि किस भाँति फर्म उत्पादन के साधनों को किराए पर लेती है जबकि एक बार उनकी कीमत मालूम हो जाती है।"[1]

यह सिद्धान्त वास्तव में क्रियात्मक है, न कि आदर्शात्मक (positive and not normative) है। यह सिद्धान्त यह नही बताता कि सीमान्त उत्पाद के आधार पर साधन को दिया गया पुरस्कार (reward) उचित ही है।

---

1 Samuelson—Economics 1948, pp 526 528

वितरण के सिद्धान्त की आलोचना करते हुए फ्रेजर (Fraser) कहते हैं : "कोई भी अर्थशास्त्री यह दृढतापूर्वक नही कह सकता कि सिद्धान्त अब भी पूरा है अर्थात् सैद्धान्तिक रूप मे यह ठीक ही है । इसम अपने गुणो की खराबी है । चूंकि यह सरल और दृढ है, इसलिए यह अमूर्त तथा अवैयक्तिक (abstract and impersonal) है । इसमे कई बाते छोड दी गई हैं । इसके स्वयसिद्ध प्रमाण बहुत दृढ तथा संकुचित हैं ।"[1]

निर्देश पुस्तकें

Marshall, A Principles of Economics

Hubert Phillips Values and Distribution

Clark The Distribution of Wealth

Readings in the Theory of Income Distribution Chapters 3, 8 and 11, (American Economic Association)

Fraser, L M. Economic Thought and Language, 1947 Ch XVII

---

1 Fraser Economic Thought and Language 1947, p 354

अध्याय २५

किराया या लगान

(Rent)

१ किराये या लगान का अभिप्राय (Meaning of Rent)—पिछले अध्याय में हमने वितरण के सामान्य सिद्धान्त का अध्ययन किया था। अब हम उत्पादन के प्रत्येक साधन के अंश को अलग-अलग लेंगे। हमे सबसे पहले किराये (लगान) का विश्लेषण कर लेना चाहिए, जो उत्पादन के प्रथम साधन अर्थात् भूमि (Land) का पारितोषिक (reward) है।

लगान क्या है ?—साधारण भाषा में 'लगान' का आशय किसी वस्तु के किराये से होता है, जैसे मकान, तांगे अथवा मशीन आदि का किराया। पर अर्थशास्त्र में "आर्थिक लगान" (economic rent) शब्द का प्रयोग एक विशेष अर्थ मे किया जाता है। अर्थशास्त्र मे इसका अर्थ केवल उस भुगतान से होता है जो किराएदार भूमि (अर्थात् प्रकृति का मुफ्त उपहार) के उपयोग के बदले मे करता है। पर यह आवश्यक नही है कि काश्तकार जो किराया जमींदार को देता है वह किराया "आर्थिक लगान" के बराबर ही हो। बहुत सम्भव है कि इस किराये मे उस पूँजी का ब्याज भी सम्मिलित हो जो जमींदार भूमि में इमारत बनवाने अथवा बाड़े या नाली का प्रबन्ध करने म लगाता है। लगान का वह भाग या किराय के भुगतान का वह भाग जो केवल भूमि के प्रयोग के लिए दिया जाता है उसे आर्थिक लगान (economic rent) कहते हैं। और किसान जो कुछ सारा भुगतान जमींदार को करता है उसे संविदा लगान या संविदा भाटक (contract rent) कहते हैं।

अर्थशास्त्र मे लगान का प्रयोग अधिकतर आधिक्य (surplus) के अर्थ मे होता है अर्थात् उत्पादन का एक साधन वर्तमान व्यवसाय मे अपनी पूर्ति बनाए रखने के लिए आवश्यकता से कितना अधिक प्राप्त करता है। यह सरलता से समझा जा सकता है कि इस अर्थ में लगान तभी हो सकता है जबकि उत्पादन के साधन की पूर्ति पूर्ण लोच (elasticity) से कम है और अधिकतर साधनों का यही हाल है। यदि किसी साधन की पूर्ति पूर्णत लोचदार है, तो यह अपनी पूर्ति के ऊपर कोई बचत नही प्राप्त कर सकता क्योंकि जब यह साधन अपनी पूर्ति कीमत से अधिक पाता हुआ पाया जाता है, तो इस साधन की अधिक इकाइयां लगा दी जावेंगी और बचत समाप्त हो जावेगी। ऐसा इसलिए क्योंकि पूर्ण प्रतियोगिता मे एक साधन की बाजार-कीमत उसकी पूर्ति-कीमत के बराबर होगी।

पर जब पूर्ति एक साधन के पारितोषिक (reward) के साथ-साथ घटती-बढती नही है तो यह अपनी पूर्ति पर आवश्यकता से अधिक प्राप्त किए जाएगी और इसको इस बात का डर न होगा कि साधन की नई इकाइयां आकर उसको उसके अधिक

पारितोषिक से वंचित कर देंगी। सामान्य दृष्टिकोण से भूमि की पति पूर्णत लोच-रहित है और इस प्रकार इसकी पूर्ति इसके उपार्जित धन से प्रभावित नही है। ऊँचा लगान उसकी अधिक मात्रा को आकर्षित नही कर सकता और न कम लगान उसको कम ही कर सकता है। इसकी पूर्ति कीमत शून्य है। इसलिए इसकी पूरी आय आर्थिक दृष्टिकोण से लगान कहलाती है। इस प्रकार आर्थिक लगान वह लाभ या आधिक्य (surplus) है जो किसान के पास उत्पादन के समस्त व्यय चुकाने के बाद तथा अपनी मेहनत का पारिश्रमिक लेने के बाद बच रहता है। इसलिए यह लागत या व्ययो के बाद बचत या लाभ या आधिक्य है। अगले अनुच्छेद म हम यह बताने का प्रयत्न करेंगे कि यह लाभ या आधिक्य, आता कहाँ से है। यही कारण है कि "लगान" शब्द का प्रयोग साधारणतया भूमि से जुडा हुआ है, हालांकि जैसा कि यहाँ बताया गया है, लगान की धारणा सब साधनो में लागू होती है।

हमने ऊपर कहा है कि सामान्य दृष्टिकोण से भूमि (तथा अन्य प्राकृतिक उपहारो) से प्राप्त सारा धन लगान कहा जा सकता है क्योकि उनकी कोई पूर्ति कीमत नही होती अथवा उनकी उत्पादन-लागत शून्य होती है। तो उत्पादन के ऐसे साधनो के लिए कोई भुगतान ही क्यो किया जाता है? इसका कारण केवल यह है कि वे अपनी माँग के सम्बन्ध मे सीमित हैं। लगान कैसे उत्पन्न होता है? सौ साल से भी पहले डेविड रिकार्डो (David Ricardo) ने इसका उत्तर दिया था।

२ रिकार्डो का लगान सिद्धान्त (Ricardian Theory of Rent)—रिकार्डो ने लगान की परिभाषा इस प्रकार की है —'लगान जमीन से उत्पादित वस्तु के उस भाग को कहते हैं, जो जमीदार को भूमि की मूल व अक्षय शक्ति (original and indestructible powers) के उपयोग के लिए दिया जाता है। इसको बहुत से लोग भूल से पूँजी पर ब्याज के रूप मे समझते हैं और साधारण भाषा म किसी भी प्रकार के उस भुगतान को लगान कहते हैं जो किसान जमीदार का देता है।"[1]

रिकार्डो के अनुसार आर्थिक लगान उस वास्तविक बचत को कहते हैं जो कृषि की लागत निकाल लेने के बाद बचता है। कृषि की यह लागत श्रम, पूँजी व साहस की सेवाओ के भुगतान से पूर्ण की गई है।

यह आधिक्य (surplus) क्यो होता है, इसे एक उदाहरण द्वारा समझाया जा सकता है। मान लीजिए, किसी देश में अ, ब, स, द चार प्रकार की भूमि है। भूमि के कुछ टुकडे दूसरे भागो की अपेक्षा अधिक उपजाऊ हैं, कुछ टुकडे उत्तमस्थ अथवा परिवहन के साधनो की दृष्टि से अधिक अच्छी स्थिति म हैं। इन सब बातो को ध्यान म रख कर हम यह मान लें कि इन चारो प्रकार की भूमि के टुकडों म 'अ" सब से श्रेष्ठ है तथा ब स, और द क्रमश द्वितीय, तृतीय व चतुर्थ श्रेणी के टुकडे हैं। इन चारो प्रकार की भूमि म श्रम व पूँजी (labour and capital) की समान इकाइयाँ लगाने से टुकडो में गेहूँ की पैदावार इस क्रम से होती है —

---

1 'Rent is that portion of the produce of the earth which is paid to the landlord for the use of the original and indestructible powers of the soil
Ricardo

श्रम व पूँजी की इकाइयाँ	गेहू का उत्पादन प्रति एकड (मनों में)			
	अ	ब	स	द
१ ली	१५	१४	१३	१२
२ री	१४	१३	१२	११
३ री	१३	१२	११	१०
४ थी	१२	११	१०	९
५ वी	११	१०	९	८
६ वीं	१०	९	८	७

यदि अ वर्ग की भूमि पर्याप्त मात्रा म हो और प्रति एकड श्रम व पूंजी की एक इकाई (dose) लगा देने से गेहूँ की सम्पूर्ण माँग प्रचलित दर पर ही पूरी की जा सके तो इस भूमि का कोई लगान नही होगा। ऐसी दशा मे यह प्रकृति के उपहार स्वरूप ही होगी।

अब मान लीजिए कि जनसख्या इतनी बढ जाती है कि अ वर्ग की समस्त भूमि जुत जाती है और इस पर भी बढती हुई माँग को पूरा नही किया जा सकता। ऐसी दशा म अ वर्ग की भूमि म और अधिक श्रम व पूँजी लगाई जाएगी व ब वर्ग के टुकडो पर भी खेती होने लगेगी। यह तभी हो सकेगा जबकि गेहूँ के दाम इतने बढ जाएँ कि अ वर्ग की भूमि में श्रम व पूंजी की और अधिक इकाइयाँ (doses) व ब वर्ग की भूमि में श्रम और पूंजी की पहली इकाई लगाने से लाभ हो। दूसरे शब्दो में हमारी ऊपर की सूची के अनुसार १४ मन गेहूँ इतने मे बिकना चाहिए कि श्रम व पूँजी की लगी एक इकाई की लागत (cost) निकल आए। अस्तु, अ वर्ग की भूमि मे श्रम व पूंजी की दो इकाइयो (doses) के लगाने से १५+१४=२९ मन गेहूँ पैदा होगा। पर दोनो इकाइयो के व्यय को पूरा करने के लिए १४×२=२८ मन गेहूँ पर्याप्त है। इस प्रकार अ वर्ग की भूमि म १ मन गेहूँ की बचत है। इसलिए किसान चाहे तो बिना लगान दिए ब वर्ग की भूमि को जोत सकते हैं और प्रति एकड श्रम व पूँजी की एक इकाई लगा कर १४ मन गेहूँ पैदा कर सकते हैं अथवा भूमि के मालिको को १ मन गेहूँ या द्रव्य में उसके बराबर मूल्य लगान के रूप में देकर प्रति एकड श्रम व पूँजी की एक इकाई लगा कर १४ मन गेहूँ प्राप्त कर सकते है। यदि पूर्ण प्रतियोगिता (perfect competition) होगी तो अ वर्ग की भूमि का लगान अवश्य स्थिर हो जाएगा।

अब चूंकि गेहूँ की माँग बढती ही जाती है और साथ साथ कीमत भी बढती जाती है, इसलिए यह क्रम चलता रहेगा। एक ओर तो श्रेष्ठ भूमि के टुकडो पर श्रम व पूंजी की अधिकाधिक इकाइयाँ (doses) लगती रहेगी, दूसरी ओर निम्नतर भूमि के टुकडे खेती के लिए जुतने लगेंगे। प्रस्तुत श्रम व पूँजी की इकाइयाँ इस प्रकार लगाई जाएँगी कि खेती की सीमा पर उत्पादन बराबर रहे। उदाहरणार्थ, यदि श्रम व पूंजी

की १४ इकाइयाँ प्राप्य है तो उनमें से ५ तो अ भूमि मे लगेंगी, ४ ब में, ३ स मे व २ द मे। इस प्रकार प्रत्येक वर्ग की भूमि में लगी अंतिम अथवा सीमान्त इकाई से समान प्राप्ति (same return) होगी (११ मन गेहूँ)। ऐसी दशा म गेहूँ का कुल उत्पादन ६५+५०+३६+२३=१७४ मन होगा। इस योग से अधिक उत्पादन किसी दूसरी व्यवस्था द्वारा नही हो सकेगा पर इन इकाइयो का प्रयोग तभी हो सकेगा, जबकि गेहूँ का मूल्य इतना ही हो कि केवल ११ मन गेहूँ से ही श्रम व पूँजी की इन इकाइयो की लागत पूरी हो जाए।

ऐसी परिस्थिति म विभिन्न प्रकार की भूमियो का लगान इस प्रकार होगा —

अ वर्ग की भूमि का लगान = (१५+१४+१३+१२+११) − (११ × ५)
= (कुल उत्पादन) − (कुल लागत)
= ६५ − ५५ = १० मन

ब वर्ग की भूमि का लगान = ५० − ४४ = ६ मन

स वर्ग की भूमि का लगान = ३६ − ३३ = ३ मन

द वर्ग की भूमि का लगान = २३ − २२ = १ मन

यहाँ हमने उत्पादन के रूप म लगान का हिसाब लगाया है। उत्पादन के प्रचलित माप के अनुसार इसे द्रव्य के रूप म परिवर्तित किया जा सकता है।

सीमान्त अथवा लगान हीन भूमि (Marginal or No rent Land)—जब सीमान्त उत्पादन ११ मन है तो हमारे उदाहरण म सभी प्रकार की भूमि के टुकडे लगान देते हैं। यदि सीमान्त उत्पादन १२ मन हो जाए तो द वर्ग की भूमि का लगान नही रहेगा। ऐसी दशा म यह भूमि सीमान्त अथवा अन्तिम भूमि हो जाएगी। ऐसी भूमि को "लगान-हीन भूमि" कहते हैं। इस भमि म उत्पादन व्यय के ऊपर किसी बचत का उत्पादन नही होता। इसकी पैदावार केवल इतनी है कि उत्पादन की लागत पूरी हो सके। अस्तु, बाकी सब श्रेष्ठ टुकडो के लगान को इस टुकडे के बाद से तथा इसके आधार पर नापा जाएगा।

यह सीमान्त भूमि सब से कमजोर अथवा खराब न भी हो। हमको भूमि के गुण को नही वरन् उसका श्रेष्ठ वैकल्पिक प्रयोग भी देखना है। सीमान्त भूमि अर्थात् वह भूमि जो हस्तान्तरण की सीमा (margin of transfer) पर है, श्रेष्ठ भूमि हो सकती है। वह भूमि जो कपास की जोत के लिए श्रेष्ठ हो सकती है गेहूँ के लिए भी श्रेष्ठ हो सकती है। यदि कपास की कीमत गिर जाती है तो यह भूमि सबसे पहले गेहूँ मे लगाई जाएगी और इसलिए कपास के दृष्टिकोण से सीमान्त हो जाएगी। यह सीमान्त भूमि का आधुनिक वृत्तान्त (modern version) कहा जा सकता है।

आगे के चार रेखा चित्र यह दिखाते हैं कि लगान कैसे पैदा होता है। रेखा-चित्र (१) श्रेष्ठ भूमि अर्थात् A वर्ग भूमि को प्रस्तुत करता है, रेखा चित्र (२) B वर्ग भूमि, रेखाचित्र (३) C वर्ग भूमि और रेखाचित्र (४) की भूमि D सबसे कम उपजाऊ या सबसे खराब भूमि है। हर एक चित्र म A C औसत लागत वक्र है और MC सीमान्त लागत वक्र। P_1 P_2 P_3 P_4 तथा P_5 बढती हुई कीमतें प्रस्तुत करते हैं। जैसा कि आगे बताया जाएगा, हर एक भूमि उस बिन्दु तक जोती जाएगी जहाँ

सीमान्त लागत कीमत के बराबर होती है (marginal cost equals price)। मान लीजिए कि बाजार कीमत क₁ है तो केवल A वर्ग की भूमि की जुताई होगी। P_1 पर MC (सीमान्त लागत वक्र), AC (औसत लागत वक्र) को काटता है, अर्थात्

चित्र ५७
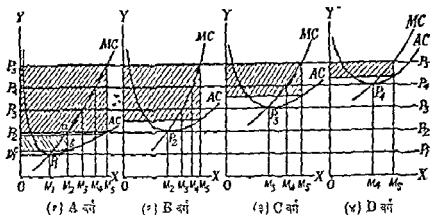
सीमान्त लागत औसत लागत के बराबर है। वह कीमत के भी बराबर है। इसलिए कुल आगम (revenue) (जो कि कीमत पर आधारित है) कुल लागत के बराबर है और कोई भी आधिक्य या लाभ (surplus) अथवा लगान नही है। अब मान लिया जाए कि कीमत P_2 तक बढ जाती है। अब B वर्ग भूमि जोती जाने लगेगी पर यह कोई लगान न देगी। A वर्ग भूमि लगान देना प्रारम्भ कर देगी। इस स्थिति पर रेखा-चित्र ५७ (२) में MC और AC P_2 पर एक दूसरे को काटते हैं। जैसाकि पहले बताया गया है, यहाँ कोई बचत नही है। परन्तु रेखा चित्र ५७ (१) जो A वर्ग भूमि को प्रस्तुत करता है देखो। रगा हुआ क्षेत्र $ABCP_2$ लगान प्रस्तुत करता है। यह क्षेत्र ab अर्थात् सीमान्त लागत तथा औसत लागत के अन्तर को OM_2 अर्थात् उत्पादन से गुणा करने से मिलता है। जब कीमत P_3 तक बढ जाती है तो C वर्ग भूमि से कोई लगान नही मिलता और B वर्ग भूमि से लगान मिलने लगेगा। जब कीमत क₄ तक बढ जाती है, तो D वर्ग भूमि सीमान्त भूमि या न लगान देने वाली भूमि हो जाती है, C वर्ग भूमि से लगान मिलने लगता है और A तथा B वर्ग भूमि का लगान बढ जाएगा। जब कीमत P_5 तक बढ जाती है तो D वर्ग भूमि से भी दुर्लभता (scarcity) के कारण लगान मिलने लगता है। जब यह स्थिति हो जाती है तो हर प्रकार की भूमि का लगान हर चित्र में रगे हुए क्षेत्र से दिखाया गया है।

क्या सीमान्त अथवा लगानहीन भूमि का वास्तव में कोई अस्तित्व है? (*Does marginal or no-rent land really exist?*)—बहुत से लोगों का विचार है कि इस प्रकार की भूमि होती ही नही है। पर इस विचार मे अधिक सार नहीं है। लगानहीन भूमि होती है। इसका लगान पूंजी के ब्याज के कारण होता है। भूमि स्वय इस योग्य नही होती कि इससे कोई आधिक्य प्राप्ति हो। उदाहरणार्थ किसी ऊसर जमीन (waste land) को, जो बेकार पडी हो, लगान पर लेने के लिए कोई तैयार नही होगा। पर यदि मालिक उसमें कुआँ बनवा दे तो बहुत सम्भव है कि

भावी आसामी उसके लिए कुछ देने को तैयार हो जाएँ। इससे यह प्रकट है कि भुगतान कुआँ बनाने मे लगी पूँजी के कारण किया जाएगा, भूमि के कारण नही। बडे खेतो में लगानहीन भूमि का अस्तित्व पता नही चलता क्योंकि इसमें लगान कुछ रुपये प्रति एकड के रूप मे होता है। पर बडे खेत मे अच्छे और बुरे सभी प्रकार के एकड होते हैं। बुरी भूमि यदि अकेली दी जाए तो उसका कुछ भी लगान नही मिलेगा, यदि मिलेगा भी तो वह आर्थिक लगान नही बल्कि दुर्लभता के कारण उत्पन्न लगान होगा।

दुर्लभता का लगान (Scarcity Rent)— आर्थिक लगान के अलावा दुर्लभता का लगान भी होता है। चूँकि कीमत बढ़ती है इसलिए भूमि मे गहन कृषि (intensive cultivation) प्रारम्भ हो जाती है और लागत पर बचत होने लगती है। पर यह बचत किसी लगान-रहित भूमि के अस्तित्व के कारण नही होती, क्योंकि लगानहीन भूमि होती ही नही। बल्कि बचत भूमि की दुर्लभता के कारण होती है। इसलिए इस प्रकार के लगान को दुर्लभता का लगान कहते हैं।

अस्तु, श्रेष्ठ भूमियो के लगान मे दो प्रधान लक्षण होते हैं—उनके लगान मे सीमान्त भूमि पर अतिरिक्त लाभ और दूसरे दुर्लभता का लगान सम्मिलित होता है। उदाहरण के लिए यदि कृषि इतनी गहन हो कि D वर्ग की भूमि लगान के रूप मे २ मन गेहूँ देने लगे तो श्रेष्ठ भूमि आर्थिक लगान के अतिरिक्त २ मन गेहूँ दुर्लभता के लगान का भी देगी। श्रेष्ठ भूमि का दुर्लभता का लगान वही होता है जो खराब भूमि का, परन्तु वह आर्थिक लगान भी प्रदान करती है।

३ रिकार्डो के सिद्धान्त की आलोचना (Criticism of Ricardian Theory)—रिकार्डो के सिद्धान्त की बडी आलोचना हुई है। प्रथम तो "भूमि की मूलत तथा अविनाशी शक्ति" नाम की कोई वस्तु नही होती। अच्छी भूमि भी लगातार जुतने के उपरान्त अपना उपजाऊपन खो देती है। इसके उत्तर मे यह कहा जा सकता है कि उपजाऊपन की समाप्ति के बाद भी यदि अच्छी भूमि मे बुरी भूमि के साथ-साथ खाद डाला जाए तो अच्छी भूमि बुरी भूमि की अपेक्षा अपनी उत्पादन शक्ति शीघ्र प्राप्त कर लेगी। इसके अतिरिक्त यह भी कहा जाता है कि पुराने देशो मे जहाँ सदैव खाद डाली जाती है भूमि की ऊपरी पर्त सदैव मनुष्य के द्वारा निर्मित हुआ करती है। भूमि की ऊपरी पर्तें प्राकृतिक नही बनी रहती। पर यह बात नहीं है क्योंकि जलवायु, हवा, धूप और स्थिति प्रकृति की ओर से नियत होते हैं। इसलिए वे "मूल और अविनाशी' होते हैं।

दूसरी बात जो इस सिद्धान्त के सम्बन्ध मे कही जाती है वह यह है कि रिकार्डो (Ricardo) ने 'उपजाऊपन' शब्द का प्रयोग अनिश्चित अर्थ मे किया है। स्थिति के अतिरिक्त उपजाऊपन किसान की योग्यता व उत्पादन के साधनों पर भी निर्भर करता है, और फिर उपजाऊपन का सम्बन्ध उत्पादित फसलों से भी है।

तीसरी बात यह है कि रिकार्डो के सिद्धान्त के अनुसार लगान रहित भूमि के अस्तित्व को स्वीकार कर लिया गया जिससे केवल काश्त की लागत वसूल हो जाती है। और अधिकतर ऐसा होना भी है—कुछ भूमि के टुकडे ऐसे अवश्य होते हैं जिनसे

नाममात्र का लगान वसूल होता है। पर इस प्रकार की भूमि मे किसी प्रकार का आधिक्य लगान प्राप्त नहीं होता। यह समस्या लगान की दुर्लभता के सिद्धान्त से हल हो जाती है। सिद्धान्त के वास्तविक प्रयोग के लिए यह आवश्यक नहीं है कि लगान-रहित भूमि हो ही।

चौथे, इसके अतिरिक्त रिकार्डो के सिद्धान्त के अनुसार लगान का जन्म उन प्राकृतिक भिन्नक लाभों (natural differential advantages) के कारण होता है, जो अच्छी भूमि में सीमान्त भूमि की अपेक्षा अधिक मात्रा में पाए जाते हैं। पर यदि यह मान भी लिया जाए कि सारी भूमि प्रथम श्रेणी की है, तब भी जब गहरी खेती की जाती है, घटती हुई प्राप्ति के नियम के कारण लगान अवश्य होगा। वास्तव में उत्पादित वस्तु में श्रम व पूंजी की लगी हुई सीमान्त इकाई की क्षति-पूर्ति उत्पाद द्वारा अवश्य होनी चाहिए। इसलिए प्रारम्भ में लगी हुई इकाइयों से लागत पर बचत की प्राप्ति होगी जो लगान का रूप ले लेगी।

पाँचवें, यहाँ नहीं केरी (Carey) व रोशर (Roscher) के मतानुसार ऐतिहासिक अध्ययन यह सिद्ध करता है कि यह मान लेना कि नए देशों में केवल सर्वश्रेष्ठ भूमि की जुताई ही सर्वप्रथम होती है गलत है। सच तो यह है कि ऐसे देशों में सर्वप्रथम उसी भूमि के टुकड़ों पर खेती होती है, जो सरलतापूर्वक प्राप्त हो सके, और यह आवश्यक नहीं है कि भूमि के ऐसे टुकड़े सर्वश्रेष्ठ ही हों। पर वाकर (Walker) का कहना है कि सर्वश्रेष्ठ भूमि से रिकार्डो (Ricardo) का आशय केवल उपजाऊ भूमि से ही नहीं, बल्कि ऐसी जमीन से था, जो उपजाऊपन तथा स्थिति की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ हो।

और फिर रिकार्डो का यह कहना भी गलत बताया जाता है कि चूंकि सीमान्त भूमि पर कोई लगान नहीं होता और कीमत का निर्धारण सीमान्त भूमि की लागत से होता है इसलिए लगान का उत्पादकी कीमत पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

आधुनिक अर्थशास्त्रियों का विचार है कि यह सिर्फ सामूहिक रूप में अर्थ-व्यवस्था के दृष्टिकोण ही से सही है कि भूमि की सप्लाई पूरे तौर पर लोचहीन (inelastic) होती है और इस पर आधिक्य अथवा लगान प्राप्त होता है। यह आधिक्य (surplus) लागत में शामिल नहीं किया जाता और इस प्रकार कीमत (price) में नहीं जुड़ता। लेकिन व्यक्तिगत रूप से किसान अथवा उद्योग के लिए, भूमि को दूसरे काम में बदले जाने से बचाने के लिए अदायगी (payment) करनी पड़ती है। इस भुगतान को हस्तान्तरण प्राप्ति (transfer earnings) कहते हैं और यह लागत का तत्व (element) होने से कीमत में जुड़ता है। व्यक्तिगत रूप से किसान के लिए सारा लगान ही लागत है।

अन्त में रिकार्डो के सिद्धान्त की सब से महत्त्वपूर्ण आलोचना उन लोगों ने की है जो यह मानने को कभी तैयार नहीं हैं कि किसी ऐसे सिद्धान्त के द्वारा जो उत्पादन के अन्य साधनों पर लागू नहीं होता, लगान का निर्धारण किया जाए। इस मत के लोग लगान को भी मजदूरी, ब्याज और लाभ की भाँति ही समझते हैं। उनका कहना है कि रिकार्डो ने लगान की जो विशेषता बतलाई है, वह वास्तविक नहीं है।

४ लगान का आधुनिक सिद्धान्त (Modern Theory of Rent)—रिकार्डो के सिद्धान्त म दो बातें प्रमुख है। (क) उनका यह विश्वास था कि लगान केवल इसलिए दिया जाता है कि कुछ भूमि दूसरे प्रकार की भूमि की अपेक्षा श्रेष्ठ होती है। (ख) उनका यह भी विश्वास था कि लगान रहित भूमि से लगान का माप होता है।

आधुनिक लेखको ने इन दोनो बातो पर अविश्वास प्रकट किया है। उनका यह कहना है कि यह बात कोई विशेष महत्त्व नही रखती कि कोई भूमि बिल्कुल अच्छी, बिल्कुल बुरी, अथवा वर्गिक (gradable) है। वास्तव म लगान का सब से महत्वपूर्ण कारण भूमि से उत्पादित वस्तु की दुर्लभता है। यदि वस्तु दुर्लभ होगी, तो भूमि भी दुर्लभ हो जाएगी।

सच तो यह है कि लगान दिया ही इसलिए जाता है कि भूमि से माँग की अपेक्षा उत्पादन कम होता है। जब तक इस प्रकार की दुलभता रहगी, लगान अवश्य रहेगा चाहे दश भर के सारे भमि के टुकडे समान रूप से उपजाऊ क्यो न हो। यही बात मजदूरी ब्याज और लाभ के सम्बन्ध म भी है।

अस्त लगान को किसी विशेष वर्ग म रखने का कोई उचित कारण नही है, क्योकि श्रम व पूंजी की भाति भूमि का भी लगान उसकी सीमान्त उत्पत्ति के अनुसार होता है।

इसके अतिरिक्त लोगो ने लगान रहित भूमि के विचार की भी आलोचना की है। लगान रहित भूमि, रिकार्डो (Ricardo) क सिद्धान्त म लगान के माप का आधार है। पर आजकल के लेखको का कहना है कि कुछ परिस्थितियो म भले ही लगान रहित भूमि का अस्तित्व हो पर यह आवश्यक नही है कि लगान रहित भूमि ही सदा लगान का कारण हो। उदाहरण के लिए कुछ भूमि के टुकडे किसी विशेष प्रयोग के ही योग्य होते ह, जैसे अनाज पैदा करन के लिए। यदि अनाज के मूल्यो में कमी हा जान के कारण उस भूमि पर खेती करना लाभप्रद न रहे तो ऐसे टुकडो पर खेती बन्द हो जाएगी। अथवा उनसे केवल अनाज के उत्पादन का व्यय भर ही निकल सकेगा। इस प्रकार की भूमि का महत्त्व लगान के सम्बन्ध म उस अर्थ मे नही होता जिसकी कल्पना रिकार्डो (Ricardo) न की थी। यदि ऐसी भूमि पर कृषि जारी रहती है तो उसमे अनाज की पूर्ति बढ जाती है, जिसमे लगान कम हो जाता है और यदि उस पर खेती बन्द हो जाती है तो पूर्ति कम हो जाने के कारण लगान बढ जाता है। अस्तु, इस प्रकार की सीमान्त भमि के अस्तित्व से लगान की समस्या का सन्तोषप्रद उत्तर नही मिलता।

पर जब हमारा आशय किसी विशेष फसल मे नही होता तो उस दशा म सब प्रकार की भूमि का कोई न कोई प्रयोग हो ही सकता है। ऐसी दशा म हर भमि में प्रयोग के अनुसार सीमान्त कृषि विभिन्न होती है।

५ लगान और कीमत (Rent and Price)—लगान के वर्तमान सिद्धान्त और रिकार्डो के सिद्धान्त म एक और भी अन्तर है। रिकार्डो का विश्वास था कि लगान का उत्पादन लागत से कोई सम्बध नही है। इसलिए इसका कोई प्रभाव

कीमत पर नहीं पड़ता। कीमत में वृद्धि के कारण लगान का जन्म होता है न कि इसकी विपरीत स्थिति में। हम यह देख चुके हैं कि रिकार्डो के सिद्धान्त के अनुसार लगान, लागत पर प्राप्त होने वाली बचत को कहते हैं। कीमत सीमान्त भूमि की, जिस पर कोई लगान नहीं होता, उत्पादन लागत द्वारा निश्चित होती है और इसलिए लगान का कीमत पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। श्रम तथा पूंजी की सीमान्त इकाई का भुगतान अपने आप हो जाता है। सच तो यह है कि रिकार्डो के सिद्धान्त के अनुसार कीमत सीमान्त स्थिति निश्चित करती है, न कि सीमान्त स्थिति कीमत को। अतएव लगान कीमत का कोई भाग नहीं होता। लगान वास्तव में निश्चित की गई कीमत है (price determined) न कि कीमत निश्चित करने वाला (price-determining) साधन।

यह सच है कि भूमि की विभिन्नता से कीमत नियत नहीं होती। यदि "A" भूमि "B" भूमि की अपेक्षा अधिक मूल्यवान् है तो 'A" भूमि को जो अतिरिक्त लाभ होगा, उससे वस्तु की कीमत पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। वास्तव में यह दो विभिन्न बातें हैं। क्योंकि हर भूमि को उसके उपजाऊपन व सीमान्त उत्पादन के आधार पर कीमत मिलेगी। इसलिए भूमि के दोनों टुकड़ों के लगान में अन्तर होगा। इसी प्रकार मजदूरी का भी जुदा रूप होता है। और यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार के जुदा भुगतानों का श्रम के उत्पादन के मूल्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, पर मजदूरी का कीमत पर प्रभाव पड़ता है।

दूसरे रूप में भी यह कहा जा सकता है कि लगान कीमत का कोई भाग नहीं होता। भूमि प्रकृति की उपहार स्वरूप है, इसकी पूर्ति को स्थिर रखने के लिए किसी प्रकार के भुगतान की आवश्यकता नहीं होती। अस्तु लगान का भूमि कीमत से कोई सम्बन्ध नहीं होता और वह उसकी उत्पादित वस्तुओं की कीमतों पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकता।

पर जब हम सारी भूमि का नहीं बल्कि भूमि के केवल उस भाग का, जिसका कोई विशेष प्रयोग हो रहा हो अध्ययन कर रहे हैं तब लगान कीमत को अवश्य प्रभावित करता है। अवसर लागत (opportunity cost) के सिद्धान्त से यह बात स्पष्ट है। भूमि के अधिकतर भागों के कई प्रयोग हो सकते हैं। यदि भूमि का एक वस्तु के उत्पादन में प्रयोग हो रहा है तो वह दूसरे प्रयोग में नहीं लाई जा सकती। न्यूनतम कीमत जिसका इसको भुगतान करना होगा, इतनी होगी जो कि यह भूमि अपने सबसे लाभदायक वैकल्पिक प्रयोग (alternative use) में प्राप्त करती है। यह अवसर लागत अथवा हस्तान्तरण (transfer) कीमत कहलाती है। भूमि के प्रयोग के लिए इस भुगतान का प्रभाव कीमत पर पड़ता है। हम जानते हैं कि बाजार कीमत उस बिन्दु पर निर्धारित होती है जहाँ कीमत अधिकतम मूल्यवाली भूमि (जिसको उद्योग में रखना पड़ता है) की सीमान्त लागत के बराबर है और इस सीमान्त लागत में हस्तान्तरण कीमत मिली होती है।

प्रत्येक फर्म के दृष्टिकोण से सब साधनों का सारा लगान उत्पादन-लागत में शामिल होना चाहिए और इसलिए कीमत को प्रभावित करना चाहिए। यदि किसान

किसी दूसरे की भूमि प्रयोग मे ला रहा है, तो जो लगान वह देता है, वह उसकी लागत है। मालिक किसान की दशा म भी लगान लागत है परन्तु इसकी उपस्थिति छिपी हुई है। यदि वह इस भूमि को खुद न जोतता तो उसके लिए उसको जो भुगतान मिलता वह इस भूमि की अवसर लागत है।

इस समस्या का एक दूसरा पहलू भी है। कीमत वस्तु की माँग से सम्बन्धित दुर्लभता (scarcity) द्वारा भी निश्चित होती है। वह उद्यमी जो लगान देता है, वह उसकी लगात का एक अग होता है। यदि लगान अधिक होगा तो वह कम भूमि से काम चलाने का प्रयत्न करेगा। और यदि लगान कम होगा तो वह अधिक भूमि को काम म लेगा। यदि उद्यमी अधिक भूमि पर प्रयोग करेगा तो दूसरे प्रयोगो के लिए भूमि की कमी हो जाएगी। और यदि वह कम भूमि का प्रयोग करेगा तो दूसरे कामो के लिए भूमि की मात्रा बढ जाएगी। इस प्रकार विभिन्न प्रयोगो में भूमि की पूर्ति को प्रभावित करके लगान भिन्न-भिन्न वस्तुओ के मूल्य पर निश्चयात्मक प्रभाव डालता है।

यदि हम इस समस्या का सूक्ष्म विश्लेषण करें तो डेवनपोर्ट (Davenport) के शब्दों मे न तो लगान कीमत निश्चित करता है और न कीमत लगान निश्चित करती है। सच तो यह है कि कीमत और लगान दोनो पर ही भूमि से उत्पादित वस्तुओ की पारस्परिक दुर्लभता का प्रभाव पडता है। यही सिद्धान्त मजदूरी, ब्याज और लाभ के सम्बन्ध म भी लागू होता है।

६ भूमि लगान तथा बिल्डिंग लगान (Ground Rent and Building Rent)—अभी तक हमने केवल कृषि की भूमि का ही अध्ययन किया है। पर लगान नगरो की भूमि पर भी होता है। नगरो म भी न्यूनता के दृष्टिकोण से लगान प्राप्त होता है। भिन्न स्थानो पर स्थित भूमि के टुकडो का लगान भिन्न होगा। व्यापार के केन्द्रों के निकट अथवा खास सडको या रेलवे स्टेशनो के समीप होने के कारण भूमि म श्रेष्ठता आ जाती है। शहरो म भी भूमि के कुछ टुकडे ऐसे होते हैं, जिनसे किसी प्रकार की बचत की प्राप्ति नहीं होती फिर भी उनको अच्छी स्थिति म अवस्थित होने के कारण हम अधिक लगान पर खरीद सकते हैं। ऐसी भूमि को हम सीमान्त भूमि (marginal sit) कह सकते हैं।

पर सीमान्त भूमि पर भी माँग के अनुरूप न्यूनता के कारण लगान हो सकता है। इस प्रकार की भूमि फल आदि उत्पन्न करने अथवा बाग लगाने के काम आ सकती है। ऐसी दशा में अच्छी भूमि के टुकडो से दो प्रकार का लगान प्राप्त होता है। एक तो भिन्नता (differential type) के फलस्वरूप, दूसरा दुर्लभता (scarcity) का लगान। पर यह याद रखना चाहिए कि भिन्नता का लगान भी समस्या की कोई समुचित व्याख्या नही है। उदाहरण के लिए बडे शहरो में बडे बाजारो की दुकानो के किराये अधिक होने के दो कारण होते हैं। पहला तो भूमि की दुर्लभता, दूसरा विभिन्न प्रयोगो के लिए उसी भूमि की माँग की प्रतियोगिता के कारण सापेक्ष दुर्लभता।

जो किराया या लगान इमारतो के लिए दिया जाता है उसम दो अग होते हैं। जैसा कि ऊपर बताया गया है, इसम एक ओर तो भूमि का किराया होता है तथा

दूसरी ओर भूमि पर बनी हुई इमारत के प्रयोग का लगान होता है। इमारत में दूसरे खर्च भी शामिल होते हैं। यदि इस प्रकार के व्यय लगान से पूरे नहीं होंगे तो मकानों की पूर्ति कम हो जाएगी। यदि इस प्रकार के मकानों के मालिक इन्हें बेच देंगे तो उनका यह यत्न होगा कि मकान की जो कीमत उन्हें मिले उसमें भूमि का पूंजीकृत मूल्य (capitalised value) व इमारत का लगान सम्मिलित हो।

७ खानों खदानों तथा मीन क्षेत्रों का लगान (Rent of Mines, Quarries and Fisheries) — खानें तथा खदानें कृषि की भूमि की अपेक्षा कभी न कभी समाप्त हो जाती हैं। इसलिए खानों के पट्टे लेने वाले जो लगान देते हैं, उनमें दो अंग होते हैं। पहला लगान और दूसरा खान के खत्म हो जाने के कारण अधिकार शुल्क (royalty)। श्रेष्ठ खानों का लगान खान की लगान सीमान्त पर प्राप्त बचत के रूप में होने वाला भिन्नक आधिक्य (differential surplus) है। लगान की वास्तविक व्याख्या यही है कि खानों तथा खदानों की पूर्ति उनकी माँग से कम होती है और न्यूनता के सिद्धान्त के आधार पर लगान का निर्णय होता है।

जहाँ तक मीन क्षेत्रों (fisheries) का सम्बन्ध है, यदि मछलियों की पूर्ति निरन्तर हो तो उनमें प्राप्त आय से उसके लगान की प्रकृति का निर्णय होगा। यह लगान उन मछलीगाहों (fisheries) के लगान से ऊपर नापा जाएगा, जिनमें कम मछलियाँ प्राप्त होती हैं। पर यदि मछलियों के समाप्त होने की आशंका हो तो इनमें भी खानों वाला सिद्धान्त लागू होगा। अन्त में यह सत्य है कि सदैव लगान दुर्लभता के सिद्धान्त से निश्चित होता है।

८ अर्द्ध लगान या आभास लगान (Quasi Rent)—सर्वप्रथम मार्शल (Marshall) ने अर्थशास्त्र में अर्द्ध लगान का प्रयोग किया था। मार्शल के अनुसार अर्द्ध-लगान उस बचत को कहते हैं जो भूमि के अलावा उत्पादन के दूसरे साधनों द्वारा होती है। अर्थशास्त्र में भूमि से प्राप्त आय को 'लगान' कहते हैं और अर्द्ध-लगान उस आय को कहते हैं जो मनुष्य के प्रयत्न से बनी मशीनों और दूसरे यन्त्रों से होती है। अर्द्ध-लगान या आभास लगान उस लगान को कहते हैं जिसका सम्बन्ध उस तमाम आय से होता है, जो माँग बढ़ जाने के कारण उत्पादन के कुछ साधनों से प्राप्त होती है। अर्द्ध लगान उस समय में प्राप्त होता है, जब उत्पादन साधनों की पूर्ति माँग के अनुसार बढ़ाई नहीं जा सकती। इस प्रकार आभास लगान अल्पकालीन लाभ है। लगान और अर्द्ध-लगान में सब से बड़ा अन्तर यह है कि प्रकृति के उपहार स्वरूप, भूमि की पूर्ति स्थिर होती है, पर उत्पादन के दूसरे साधन जैसे इमारतें, कल आदि की पूर्ति बढ़ाई जा सकती है।

अर्द्ध-लगान अस्थायी आधिक्य (बचत) है। जैसे-जैसे इमारती सामान मिलने लगता है और नए मकान बनने प्रारम्भ हो जाते हैं, वैसे ही वैसे यह बचत समाप्त होने लगती है। इस प्रकार की बचत दूसरी टिकाऊ वस्तुओं (durable goods) में भी हो सकती है। इसी भाँति किसी प्रकार के कौशल (skill) की स्थायी कमी के कारण अर्द्ध लगान पैदा हो जाता है, जो एक समय पश्चात् ही बढ़ाया जा सकता है।

दीर्घकाल में मशीनों आदि टिकाऊ और इस प्रकार की अन्य वस्तुओं से

प्राप्त आय तत्कालीन ब्याज की दर के बराबर होनी चाहिए। अस्थायी रूप से ऐसी वस्तुओं से अतिरिक्त लाभ या अर्द्ध लगान अवश्य प्राप्त होगा।

अर्द्ध-लगान को ब्याज से भिन्न समझना चाहिए। ब्याज वह प्राप्ति है जो मुफ्त तथा प्लवमान पूंजी (free and floating capital) से होती है। अर्द्ध-लगान वह प्राप्ति है जो विशिष्टीकृत तथा उपयोजित पूंजी (specialised and sunk capital) अर्थात् पूंजी के पुराने विनियोजन (investment) से प्राप्त होती है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि आर्थिक लगान तथा अर्द्ध-लगान का अन्तर और वास्तव म किसी भी उत्पादक साधन के उत्पादन म केवल मात्रा का अन्तर होता है।

यह आवश्यक है कि इस विषय म एक भ्रम निवारण हो जाए। बहुत से लोगों ने अर्द्ध लगान को अनावश्यक लाभ कहा है। उनका तात्पर्य यह है कि आभास लगान (quasi rent) लागत का अश नही है। इस प्रकार के भ्रम का कारण यह है कि दीर्घकालीन और अल्पकालीन परिस्थितिया म समुचित अन्तर नही किया जाता। अल्प काल म अर्द्ध लगान अनावश्यक लाभ समझा जा सकता है क्योंकि यह कीमत का अग नही होता और इसको प्राप्त करने के लिए कोई विशेष व्यय नही करना पडता। परन्तु दीर्घकाल म अनक अतिरिक्त व्यय करने पडते हैं और यह आवश्यक है कि व्यापारी को अपने इन खर्चों का पूरा प्रतिफल मिले। ऐसी परिस्थितियो म आभास लगान व्यय का एक अग होता है और इसलिए इसे 'आवश्यक लाभ' समझना चाहिए।

९. लगान और आर्थिक उन्नति (Rent and Economic Progress)—आर्थिक उन्नति का लगान पर क्या प्रभाव पडता है, यह प्रश्न बडा महत्त्वपूर्ण है। आर्थिक उन्नति तीन बातो से प्रकट होती है। (क) उत्पादन के साधनो म औद्योगिक उन्नति, (ख) परिवहन क साधनो म उन्नति, (ग) जनसख्या मे वृद्धि।

(क) कृषि म उन्नति म सब प्रकार की भूमि पर बराबर प्रभाव पडता है। यह भी हो सकता है कि केवल श्रेष्ठ भूमि अथवा निम्नतर भूमि पर ही प्रभाव पड। यदि सब प्रकार की भूमि पर बराबर प्रभाव पड तो अनाज की पूर्त्ति बढ जाएगी। और चूंकि मांग वही रहेगी इसलिए इसकी कीमत गिर जाएगी और रिकार्डो के सिद्धान्त के अनुसार श्रेष्ठ भूमि के लगान गिरने लगेंगे। दूसरे शब्दों म कृषि म उन्नति से अनाज की पूर्ति बढने के कारण श्रेष्ठ भूमि का लगान घट जाएगा।

यदि इस उन्नति का प्रभाव केवल सीमान्त भूमि पर ही पडे तो रिकार्डो (Ricardo) के सिद्धान्त के अनुसार लगान फिर गिरने लगेंगे क्योंकि ऐसी दशा में श्रेष्ठ भूमि के उत्पादन और सीमान्त के उत्पादन में बहुत कम अन्तर रह जाएगा। इसके विपरीत यदि इस उन्नति का प्रभाव केवल श्रेष्ठ भूमि के टुकडो पर पडेगा, तो लगान श्रेष्ठ भूमि की उत्पादन शक्ति अधिक होने के कारण बढ जाएगा। पर यदि इस उत्पादन शक्ति के कारण कीमतो म किसी प्रकार का अवसाद आ जाए तो लगान गिर भी सकता है। अस्तु, लगान सदैव उत्पादित वस्तु की मांग व पूर्ति पर निर्भर करता है। कृषि में किसी प्रकार की उन्नति का प्रभाव जो लगान पर पड़ता है, वह

कृषि के सीमान्त के प्रभाव के कारण इतना नहीं पडता जितना कि भूमि अथवा उसकी उत्पादन की दुर्लभता को प्रभावित करने से पडता है।

(ख) जहां तक परिवहन के साधनो मे उन्नति का सम्बन्ध है, परिवहन के साधनो की उन्नति का लगान पर अवश्य प्रभाव पडेगा। क्योंकि दूर-स्थित स्थान भी बाजार के सम्पर्क म आ जायेंगे, इसलिए उनके लगान बढ जायेंगे। किन्तु अधिक अच्छी जगह स्थित भूमि के लगान गिर जाएंगे। इसी बात को भूमि की दुर्लभता के आधार पर भी समझाया जा सकता है। यदि यातायात के साधनो मे उन्नति से दुर्लभता मे वृद्धि होगी तो लगान बढ जाएगा। पर इसके विपरीत परिस्थिति मे लगान गिरने लगेंगे।

(ग) जनसख्या की वृद्धि सदैव लगान को बढाती है। रिकार्डो (Ricardo) के सिद्धान्त के अनुसार अधिक गहन खेती व निम्नतर भूमि के प्रयोग के कारण ऐसा होगा। पर इसी बात को अधिक आधुनिक ढग से इस प्रकार कहा जा सकता है कि जनसख्या की वृद्धि से मांग के अनुसार भूमि की दुर्लभता बढ जाती है जिससे लगान म वृद्धि हो जाती है।

१० दूसरे साधनो में लगान का तत्त्व (Rent Element in other Factors)—लगान का तत्त्व केवल भूमि म ही नहीं वरन् उत्पादन के दूसरे साधनो म भी पाया जाता है।

(१) लाभ में भी लगान तत्त्व (Rent Element in Profits)—सारे उद्यमी एक सी योग्यता नही रखते। इनम ऐसे उद्यमी भी होते हैं जो कम लाभ पर भी किसी प्रकार अपना काम चलाया करते हैं। इस प्रकार के उद्यमियों को लाभ बहुत कम होते हैं किन्तु ऐसे उद्यमी भी होते हैं जो अपनी योग्यता के कारण कम व्यय म उत्पादन कार्य चला लते हैं। इनको अधिक लाभ प्राप्त होता है जिसकी तुलना श्रेष्ठ भूमि से प्राप्त बचत से की जा सकती है। इन उद्यमियो का यह लाभ कुछ-कुछ श्रेष्ठ भूमि की स्थिति से प्राप्त लाभ की भाँति होता है। इस प्रकार लाभ म भी लगान का तत्त्व पाया जाता है। कुछ अर्थशास्त्री लाभ को योग्यता का लगान (rent of ability) कहते हैं।

(२) मजदूरी में लगान का तत्त्व (Rent Element in Wages)—श्रमिकों म भी विभिन्न प्रकार की कुशलता पाई जाती है। मजदूरी श्रमिक की कुशलता के अनुसार मिलती है। जो मजदूर अधिक कुशल होता है, उसे दूसरे मजदूरों की तुलना मे उसी प्रकार की बचत प्राप्त होती है। यह सिद्धान्त आसानी स प्राप्त जमीनों के लगान के समान है।

(३) ब्याज में लगान का तत्त्व (Rent Element in Interest)—प्रचलित ब्याज सीमान्त विनियोजक (marginal investor) का प्रतिफल होता है अर्थात् वह व्यक्ति जिसे बचाने का प्रोत्साहन मिला हुआ है। पर कुछ लोग कम दर पर भी बचत करना चाहते हैं। इस प्रकार के विनियोजको को एक प्रकार की बचत की प्राप्ति होती है। यह बचत विस्तृत रूप में लगान के समान होती है। पर ब्याज मे गहरे लगान का भी तत्त्व होता है। अन्तिम विनियोजक सीमान्त विनियोजक है जो

प्रचलित ब्याज दर पर भी धन बचाने को तैयार रहते हैं। किन्तु इससे पहले जो रुपया उन्होंने विनियोजित कर रखा है, वह लगान के ही समान ब्याज देता है।

नौकरी म या प्रयोग म किसी साधन को बनाए रखने के लिए यह जरूरी है कि उसको न्यूनतम अदायगी का लालच और आश्वासन अवश्य दिया जाए। इससे अधिक होने वाली आमदनी (बचत) का स्वरूप लगान का है। और यह तत्त्व प्रत्यक साधन मे पाया जाता है।

११ हस्तान्तरण आय (Transfer Earnings)—समाज के पास बहुत कम साधन ऐसे होते हैं, जिनके कई प्रयोग न हा। उत्पादन के कुछ ही साधन बहुत विशिष्ट होते हैं। वास्तव म अधिक आय का आकर्षण ही साधना को सदैव हस्तान्तरण के लिए प्रेरित करता है। इस हस्तान्तरण से आय म जो वृद्धि होती है, वह अर्थशास्त्र म हस्तान्तरण आय कहलाती है।

हस्तान्तरण आय के सिद्धान्त का सम्बन्ध आर्थिक लगान के सिद्धान्त से बहुत घनिष्ठ है। मान लीजिए कि भूमि के किसी टुकडे म गन्न क बजाय कपास पैदा करने से अधिक लाभ होता है। पर यदि कपास का लाभ गिर जाए और गन्ने के लाभ मे वृद्धि हो जाए तो भूमि म गन्न का उत्पादन होने लगेगा। ऐसी दशा म भूमि अधिक आय की प्राप्ति के लिए एक प्रयोग से दूसरे प्रयोग मे लाई जाएगी। यदि किसी साधन की आय हस्तान्तरण होने के बाद प्राप्त हाने वाली आय से अधिक हो तो वह लगान कहलाती है। बैनहम (Benham) के अनुसार, 'साधारणतया उस बचत को जो कोई इकाई अपनी हस्तान्तरण आय पर प्राप्त करती है लगान का रूप दे दिया जाता है।" यदि कोई भूमि का टुकडा केवल कपास के उत्पादन म ही लगा हो अर्थात् वह और कुछ न उत्पादन कर सकता हो तब उसकी हस्तान्तरण आय शून्य होगी, और उस भूमि की कपास का उत्पादन लगान समझा जाएगा। दूसरे शब्दा मे हम कह सकते हैं कि यदि साधन की एक इकाई किसी उद्योग मे अपने को उस उद्योग म बने रहने की पर्याप्त मात्रा से अधिक पैदा करती है तो वास्तविक आय और हस्तान्तरण आय का अन्तर उस उद्योग के दृष्टिकोण से लगान कहा जा सकता है।

इस प्रकार, हस्तान्तरण आय के सिद्धान्त क आधार पर कहा जा सकता है कि जो भूमि सारी आर्थिक व्यवस्था के आधार पर इस कारण अधिक लगान उपार्जित करती है कि उसकी पूर्ति बलोचदार है वही भूमि सम्भव है कि किसी दूसरे उपयोग म बिलकुल भी लगान उपार्जित न कर सके क्योंकि उस उद्योग के दृष्टिकोण से उस भूमि की पूर्ति पूर्ण लोचदार हो सकती है। सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के दृष्टिकोण से भूमि किसी वैकल्पिक प्रयोग म नही लगाई जा सकती। इसलिए इस दृष्टिकोण से उक्त भूमि की हस्तान्तरण आय शून्य मानी जाएगी। इसी कारण भूमि से पैदा किया हुआ हर प्रकार का लाभ, लगान (rent) है। किन्तु किसी उद्योग विशेष म भूमि अपनी हस्तान्तरण आय से भी अधिक लाभ उपार्जित कर सकता है, अत यह अतिरिक्त आय, उस उद्योग की दृष्टि से जिसम उस भूमि का प्रयोग हो रहा है, लगान (rent) है। किसी विशेष उद्योग को किसी भूमि के टुकडे को अपने प्रयोग में बनाए रखने के लिए लालच देना आवश्यक हो जाता है, ताकि वह दूसरे वैकल्पिक उपयोग या प्रयोग

अध्याय २६

मजदूरी

(Wages)[1]

१ परिभाषा (Definition)—श्रम उत्पादन का दूसरा साधन है और जो कुछ उसे मिलता है उसे "मजदूरी" कहते हैं। 'मजदूरी' शब्द व्यापक अथवा सीमित अर्थ में प्रयुक्त हो सकता है। व्यापक अर्थ में इसका अर्थ श्रम की सेवाओं का भुगतान है। कुछ लेखक मजदूरी शब्द को सीमित अर्थों में प्रयोग करते हैं। बैनहम (Benham) कहते हैं 'मजदूरी की परिभाषा इस प्रकार हो सकती है कि संविदा (contract) द्वारा व्यवसायी, जो रुपया मजदूर की सेवाओं के लिए देता है वह मजदूरी कहलाती है।"[2] हम मजदूरी को व्यापक अर्थ में प्रयोग करते हैं, तथा उसे राष्ट्रीय लाभांश (national dividend) का वह भाग मानते हैं, जो किसी व्यवसायी के लिए अथवा स्वतन्त्र रूप से अपने हाथों अथवा मस्तिष्क द्वारा कार्य करने वालों के लिए होता है।

मजदूरी काम के हिसाब से अथवा जितने समय तक मजदूर काम पर लगा होता है, उसके हिसाब से दी जाती है। पहली 'खण्ड-मजदूरी' (piece wage) और दूसरी 'समय-मजदूरी' (time wage) कहलाती है।

जब कार्य एक निश्चित परिमाण का होना है और एक निश्चित समय में करना पड़ता है तो यह अभिहस्तांकन कार्य (task work) के नाम से प्रसिद्ध होता है।

कभी-कभी 'समय-मजदूरी' निश्चित कर दी जाती है तथा खण्ड मजदूरी द्वारा वस्तुओं के उत्पादन के हिसाब से उसे अनुपूर्त किया जाता है। कभी-कभी मजदूरों के गुट को सामूहिक रूप से अधिक काम करने पर पारितोषिक मजदूरी दे दी जाती है।

कुछ अवस्थाओं में मजदूरी कानून द्वारा भी नियत कर दी जाती है। कुछ अतिरिक्त श्रमशील व्यापारों (sweated trades) में न्यूनतम मजदूरी नियत की जा सकती है। कुछ लोग राष्ट्रीय न्यूनतम मजदूरी की राय देते हैं, जो कि सब उद्योगों पर लागू हो।

२ नाममात्र तथा वास्तविक मजदूरी की तुलना (Nominal Versus Real Wages)—मजदूरी के सिद्धान्तों का अध्ययन करने से पूर्व हम नाममात्र की मजदूरी और वास्तविक मजदूरी के बीच के अन्तर को समझाने का प्रयत्न करेंगे। नाममात्र

1 Wages के लिए हमने मजदूरी तथा मजूरी दोनों ही शब्द काम में लिये हैं। मजूरी शब्द का प्रयोग हमारे संविधान के अनुवाद में हुआ है। (देखिए भारत का संविधान, अनुच्छेद ४३)

2 'A wage may be defined as a sum of money, paid under contract by an employer to a worker for services rendered' —Benham.

मजदूरी तथा वास्तविक मजदूरी में बहुत भारी अन्तर है। नाममात्र मजदूरी वह है, जो द्रव्य (money) के रूप में प्राप्त अथवा भुगतान की जाती है। परन्तु केवल द्रव्य मजदूरी एक मजदूर की आर्थिक स्थिति का सही परिचय नहीं दे सकती। वास्तविक मजदूरी जानने के लिए जो एक व्यक्ति के जीवन का स्तर निश्चित करती है, निम्नलिखित बातों पर ध्यान दिया जाना चाहिए

(क) द्रव्य की क्रय-शक्ति (The Purchasing Power of Money)—जब एक जगह की दूसरी जगह के साथ और एक समय की दूसरे समय के साथ मजदूरी की तुलना की जाती है तो द्रव्य की क्रय-शक्ति पर भी ध्यान रखना होगा। ऊँची मजदूरी का एक अंश इंगलैंड और अमरीका में इसलिए सम्भव है कि वहाँ के बाजारों में कीमतें बहुत ऊँची हैं।

(ख) सहायक आमदनी (Subsidiary Earnings)—नियमित द्रव्य मजदूरी के अतिरिक्त एक नौकर अपनी अतिरिक्त आय, वस्तु या द्रव्य के रूप में अधिक कर सकता है। उदाहरण के लिए, घरेलू नौकर के रहने व खाने के प्रबन्ध, अध्यापकों के लिए ट्यूशन या परीक्षा शुल्क आदि। सहायक आमदनी वह भी कही जा सकती है, जो मजदूर परिवार के अन्य व्यक्तियों को नौकरी का अवसर मिल जाने से उपलब्ध हो जाती है।

(ग) अतिरिक्त भुगतान के बिना अतिरिक्त काम (Extra Work Without Extra Payment)—अगर किसी नौकर को बिना उचित पुरस्कार के अधिक कार्य करना पड़ता है तो उसकी वास्तविक मजदूरी उतनी ही कम हो जाती है। बैंक के क्लर्कों को नियत घण्टों के काम का ही वेतन मिलता है। परन्तु वह हिसाब किताब की गलती ठीक करने के लिए प्रायः अधिक समय के लिए रोक लिये जाते हैं। ऐसे अधिक काम के लिए उन्हें कुछ नहीं मिलता।

(घ) नौकरी की नियमितता अथवा अनियमितता (Regularity or Irregularity of the Employment)—नियमित अथवा अधिक सुरक्षित व्यवसाय अल्प मजदूरी दे सकता है फिर भी उसमें वास्तविक मजदूरी, उस अनियमित और अरक्षित नौकरी की अपेक्षा जिससे अधिक द्रव्य-मजदूरी मिलती है, अधिक हो सकती है। उदाहरणार्थ, एक मनुष्य जिसे ५ रुपये दैनिक मिलते हैं, परन्तु काम का मिलना अनिश्चित है, उतना सम्पन्न नहीं होगा जितना नियमित रूप से २ रुपये कमाने वाला व्यक्ति होगा।

(ङ) काम की दशाएँ (Conditions of Work)—कुछ व्यवसाय दूसरों की अपेक्षा अच्छे होते हैं तथा कुछ में दूसरों की अपेक्षा काम के घण्टे कम होते हैं, काम कुछ अधिक अथवा कम आरामदायक हो सकता है; व्यवसायी अधिक या कम दयालु हो सकता है। यह सब बातें किसी मनुष्य की वास्तविक मजदूरी मालूम करते समय ध्यान में रखनी होंगी।

(च) भविष्य की आशाएं (Future Prospects)—यदि किसी व्यक्ति को भविष्य में ऊँची उन्नति की आशा है तो वह कम द्रव्य मजदूरी (money-income) को भी ऊँची वास्तविक मजदूरी से अच्छी समझेगा। इसके विपरीत यदि प्रारम्भ में

ऊँचा वेतन भी हो किन्तु भविष्य में अधिक उन्नति की सम्भावना न हो, तो वह उतनी अच्छी मजदूरी नहीं मानी जाएगी।

३ मजदूरी का जीवन-निर्वाह सिद्धान्त[1] (The Subsistence Theory of Wages)—किसी देश में प्रचलित मजदूरी के सामान्य स्तर की व्याख्या के लिए कई सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। पहले हम जीवन निर्वाह सिद्धान्त को लेते हैं। यह सिद्धान्त सर्वप्रथम फ्रांसीसी अर्थशास्त्र वेत्ताओं के फिजियोक्रेटिक स्कूल से निकला और उन्नीसवीं शताब्दी में साधारण रूप से मान लिया गया। जर्मनी के अर्थशास्त्र वेत्ता लैंसले (Lassalle) इसे मजदूरी का लौह सिद्धान्त (Iron Law of Wages or the Brazen Law of Wages) कहते थे। कार्ल मार्क्स ने इसे अपने शोषण सिद्धान्त का आधार बनाया है।

इस सिद्धान्त के अनुसार मजदूरी उसी सतह पर ठहर जाती है, जहाँ कि मजदूर उस मजदूरी से कम पर अपनी और अपने परिवार की जीविका न चला सके। अगर मजदूरी इस सतह से ऊपर उठती है तो मजदूरों को शादी करने और अपने परिवार को बढ़ाने का प्रोत्साहन मिलता है। श्रम पूर्ति की वृद्धि से मजदूरी जीविका की सीमा तक आ जाती है। यदि मजदूरी इस सीमा से नीचे गिर जाती है, तो शादी व पैदाइश का उत्साह नहीं रहता तथा आहार के अभाव के कारण मृत्यु-दर बढ़ जाती है और अन्त में श्रम पूर्ति कम हो जाती है और यह तब तक चलता रहता है, जब तक कि मजदूरी को बढ़ा कर पुनः जीविका की सीमा तक नहीं कर दिया जाता।

पिछड़े हुए देशों में मजदूरी जीविका स्तर के आस-पास रहती है, लेकिन यह सिद्धान्त अधिक उन्नतिशील देशों, जैसे इंगलैण्ड, अमरीका आदि में लागू नहीं होता। यह सिद्धान्त माल्थस (Malthus) के जनसंख्या सम्बन्धी नियम पर आधारित है। लेकिन यह गलत है कि मजदूरी में वृद्धि के कारण जन्म के अनुपात में भी वृद्धि होगी। मजदूरी की उन्नति से रहन सहन का दर्जा भी तो बढ़ सकता है। डेनमार्क (Denmark) और हॉलैण्ड (Holland) में कृषि मजदूर जीविका की सीमा से अधिक मजदूरी पाते हैं। यूरोप और अमरीका सरीखे औद्योगिक देशों में मजदूरी बराबर बढ़ती जा रही है और मजदूर वर्ग एक शताब्दी पहले जैसे था उससे बहुत अधिक सुखी है।

इस सिद्धान्त की दूसरी आलोचना यह है कि जीविका की सीमा कुछ दशाओं को छोड़ कर लगभग सभी मजदूर वर्गों की एक सी होती है। इस प्रकार यह सिद्धान्त विभिन्न व्यवसायों में मजदूरी के अन्तरों को प्रकट नहीं करता।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि यह सिद्धान्त केवल श्रम की पूर्ति (Supply) की ओर से ही लिया गया है, इसमें माँग की ओर बिलकुल ध्यान नहीं दिया गया है। माँग की ओर से व्यवसायी मजदूर के काम को देखता है उसकी जीविका को नहीं।

४ मजदूरी का निधि सिद्धान्त (The Wages Fund Theory)[2]—यह

---

1 See Dobb M—Wages 1932, Ch IV, Sec 3 p, 100

2 Ibid Ch. IV Sec 6 See also Marshall's Principles, Appendix (a)

सिद्धान्त जे० एम० मिल (J S Mill) से सम्बन्धित है। मिल (J. S Mill) ने लिखा कि 'मजदूरी श्रम की मांग व पूर्ति पर अथवा जैसा कि कहा जाता है, पूंजी और जनसंख्या के बीच के अनुपात पर निर्भर करती है। यहाँ पर जनसंख्या शब्द का अर्थ मजदूर वर्ग की संख्या, तथा वह मजदूर, जो किराये पर काम करते हैं, उनसे है, और पूंजी का अर्थ 'व्यवसाय' की कुल पूंजी से नहीं, परन्तु जितनी पूंजी प्रत्यक्षतः श्रम खरीदने में व्यय होती है, उसी से है।"

इस सिद्धान्त के अनुसार मजदूरी दो चीजों पर आश्रित है, (i) मजदूरी निधि (wage fund) अथवा चल पूंजी (circulating capital) जिससे श्रम का क्रय किया जाए (ii) नौकरी चाहने वाले मजदूरों की संख्या। इसलिए मजदूरी तब तक नहीं बढ़ सकती जब तक कि या तो मजदूरी निधि न बढ़ जाए अथवा मजदूरों की संख्या कम न हो जाए। लेकिन चूंकि सिद्धान्त की दृष्टि में मजदूरी-निधि नियत है, इसलिए मजदूरी तभी बढ़ सकती है, जब मजदूरों की संख्या में कमी हो। इसलिए, यह प्रकट होता है कि इस सिद्धान्त के अनुसार मजदूरी बढ़ाने के लिए ट्रेड यूनियनों के सब प्रयत्न निरर्थक हैं। यदि वे एक व्यापार में अपनी मजदूरी बढ़ा लेते हैं तो यह बढ़ी हुई मजदूरी दूसरे पर प्रभाव डालेगी क्योंकि मजदूरी निधि निश्चित है तथा इन ट्रेड यूनियनों का आबादी के ऊपर कोई प्रतिबन्ध नहीं होता। ट्रेड यूनियन या श्रमिक संघ समस्त श्रमिक वर्ग की मजदूरी नहीं बढ़वा सकते।

इस सिद्धान्त की बहुत आलोचनाएं की गई हैं और अब तो इसे बिलकुल रद्द ही कर दिया गया है। मिल (J S Mill) ने स्वयं इसे अपनी 'अर्थशास्त्र के सिद्धान्त' नाम की पुस्तक के दूसरे संस्करण में से हटा दिया था।

मिल (J S Mill) का विचार था कि मजदूरी केवल चल पूंजी में से ही दी जाती है। इस विषय पर कि मजदूरी का प्रधान जरिया पूंजी है अथवा वर्तमान उत्पादित वस्तुएँ, काफी वाद विवाद रहा। कुछ दशाओं में जहाँ पर उत्पादन शीघ्र होता है वहाँ मजदूरी वर्तमान उत्पादन के अनुसार दी जाती है और दूसरी दशा में जहाँ उत्पादन का ढंग लम्बा होता है वहाँ मजदूर प्रत्यक्ष अथवा विनिमय (exchange) के रूप में मजदूरी नहीं पाते। इन दशाओं में उनकी मजदूरी पूंजी से ही प्राप्त होती है।

मिल (J S Mill) कहते हैं कि मजदूरी पूंजी के एक निश्चित भाग से दी जाती है जो कि इसके लिए नियत रहता है। यह भी सच नहीं है, क्योंकि कोई निश्चित मजदूरी निधि नहीं होती और वह निधि लोचदार (elastic) होती है। इसका परिमाण (volume) लाभ के अनुसार बदलता है। इन चीजों को ठीक प्रकार से निर्धारित करने के लिए श्रम की समयानुसार उत्पादक शक्ति एक आवश्यक शर्त है।

यह सिद्धान्त स्वतः सिद्ध है। यह सिद्धान्त यह नहीं बताता कि मजदूरी निधि के कौन कौन से स्रोत हैं तथा इसका किस प्रकार अनुमान लगाया जाता है। यह केवल इतना ही बताता है जो अपने आप प्रत्यक्ष है कि मजदूरी-निधि को मजदूरों की संख्या से भाग देने पर मजदूरी निकल आती है।

फिर इसमें यह भी माना गया है कि पूंजी और श्रम में कुछ विरोध रहता है, जो वास्तव में नहीं होता। इस सिद्धान्त के अनुसार मजदूरी, लाभ बढ़ने पर ही बढ़ाई

जा सकती है, परन्तु वास्तव में ऐसी दशा नहीं होती है। व्यवसाय की समृद्धि में मजदूरी और लाभ दोनों बढ सकते हैं। यह भी समझना भूल है कि मजदूरी के बढ़ने से पूंजी विदेश मे चली जाएगी। पूंजी ऐसी चीज नही है और न लाभ ही ऐसे बेलोचदार हैं। पूंजी के लाभ समय समय पर घटते-बढते रहते हैं।

मजदूरी-निधि सिद्धान्त इस बात को समझने मे कि भिन्न भिन्न व्यवसायो की मजदूरी म क्यो अन्तर रहता है, मदद नहीं करता। इसके अलावा, मजदूरी की दरें, जो विभिन्न देशो में प्रचलित हैं, वे वहाँ की पूंजी से कोई सम्बन्ध नही रखती। नए देशो मे पूंजी कम होती है, परन्तु मजदूरी अधिक होती है। पुराने देशो का हाल इसके विपरीत है।

५. अवशेष अधिकारी सिद्धान्त (Residual Claimant Theory)—यह सिद्धान्त अमरीका के अर्थशास्त्र वेत्ता वाकर (Walker) के द्वारा प्रस्तुत किया गया है। इसके अनुसार मजदूरी वह बचत है, जो उत्पादन के अन्य साधनों का भुगतान करने के बाद बच रहे। वाकर (Walker) के अनुसार लगान, लाभ और ब्याज (rent, profit and interest) निश्चित नियमो के आधार पर निर्धारित किए जाते हैं किन्तु मजदूरी से सम्बन्धित ऐसा कोई निश्चित नियम नही है। इसलिए, कुल उत्पादन मे से लगान, लाभ, ब्याज की रकम भुगतान करने के बाद, जो रकम बचती है, वही मजदूरी है। इस प्रकार इस सिद्धान्त से श्रम की योग्यता बढने पर मजदूरी बढने की सम्भावना हो सकती है। इस दृष्टिकोण से अवशेष अधिकारी सिद्धान्त आशावादी सिद्धान्त है, जबकि मजदूरी का जीवन-निर्वाह सिद्धान्त (subsistence theory of wages) और मजदूरी-निधि सिद्धान्त (wages fund theory) निराशावादी सिद्धान्त हैं।

इस सिद्धान्त को भी बहुत से अर्थशास्त्र वेत्ताओ ने अस्वीकृत कर दिया है। इसमे अनेक दोष हैं। पहली बात तो यह है कि यह सिद्धान्त यह नहीं बतलाता कि ट्रेड यूनियनें किस प्रकार मजदूरी बढा सकती हैं। दूसरे, वह यह नही बताता कि मजदूरी के ऊपर श्रम की पूर्ति का क्या प्रभाव होता है। तीसरे, यह समझने मे कठिनाई होती है कि वही माँग और पूर्ति का नियम, जोकि उत्पादन के अन्य साधनो को पुरस्कार देता है, मजदूरी पर क्यों लागू नही होता। अन्त म सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि अवशिष्ट दावेदार उद्यमी होता है न कि मजदूर।

६ मजदूरी का सीमान्त उत्पादन शक्ति सिद्धान्त (Marginal Productivity Theory of Wages)[1]—यह सिद्धान्त श्रम की माँग और पूर्ति दोनो को ध्यान मे रखता है। इसके अनुसार मजदूरी माँग व पूर्ति के साधनो की शक्ति के बीच साम्यावस्था (equilibrium) द्वारा निर्धारित होती है। किसी विशेष समय पर पूर्ति दी रहती है और माँग का विशेष महत्त्व होता है। अधिक काल होने पर श्रम की पूर्ति घट-बढ सकती है और पूर्ति की शक्तियाँ विशेष महत्त्वपूर्ण हो जाती हैं। परन्तु ये शक्तियाँ सीमान्त उत्पादन शक्ति के ऊपर प्रभाव डालती हैं। इसलिए इस सिद्धान्त

1 For a detailed study see Readings in the Theory of Income Distribution pages 221—236, D H. Robertson's article on "Wage Grumbles".

को सीमान्त उत्पादन शक्ति सिद्धान्त कहते हैं। इस सिद्धान्त में श्रम की माँग और पूर्ति का समान रूप से महत्त्व है।

श्रम की माँग (Demand for Labour)—'श्रम की माँग' निकाली हुई माँग होती है। यह उन चीजों की माँग से पैदा होती है, जो उत्पादन में मदद देती हैं। इसलिए किसी वस्तु की माँग में आशा के अनुकूल उन्नति उस श्रम की माँग को बढ़ा देती है, जो उस वस्तु को पैदा करती है। श्रम की माँग उस हालत में नहीं बढ़ती जब कि उनकी मजदूरी कुल मजदूरी का बहुत छोटा भाग हो, परन्तु माँग उस हालत में घट-बढ़ सकेगी जबकि उत्पादित वस्तु की माँग लोचदार हो अथवा बदले में सस्ती चीजें उपलब्ध हों।

जिस प्रकार वस्तुओं की माँग कीमत (demand price) होती है, उसी प्रकार श्रम की माँग कीमत होती है। एक नए प्रकार के देश की विभिन्न परिस्थितियों में श्रम की माँग उद्योगपति की ओर से होती है, जो अपने व्यवसाय में लाभ उठाने के लिए उत्पादन के अन्य साधनों तथा श्रम को लगाता है। इसीलिए श्रम की माँग की कीमत वह मजदूरी है, जो एक उद्योगपति एक विशेष प्रकार के श्रम के लिए देने को तैयार है। मान लीजिए कि वह एक के बाद दूसरा मजदूर काम पर लगाता है। कुछ समय के बाद घटती हुई प्राप्ति का नियम (Law of Diminishing Returns) लागू हो जाएगा। प्रत्येक बढ़ा हुआ मजदूर कुल उत्पादन को घटती दर पर बढ़ाएगा। मालिक उसी बिन्दु पर अतिरिक्त मजदूर लगाना बन्द करेगा, जबकि उसके द्वारा योजित उत्पादन में बढ़ाव मजदूरी के बराबर अथवा उसके द्वारा लगाई गई अधिक लागत से कम होगा। इस प्रकार मजदूरी, जो वह उसे देगा (श्रम की सीमान्त इकाई) उस बढ़े हुए उत्पादन अथवा सीमान्त उत्पादन शक्ति के मूल्य के बराबर होगी। लेकिन चूँकि सभी मजदूर एक ही श्रेणी के होंगे इसलिए जिस मजदूरी का भुगतान सीमान्त मजदूर को होगा, वही सब मजदूरों को होगा।

श्रम की पूर्ति (Supply of Labour)—जब हम माँग की दृष्टि से मजदूरी की व्याख्या करते हैं तो पूर्ति को स्थिर मान लेते हैं। इसी प्रकार हम माँग को स्थिर मान कर यह कह सकते हैं कि जब श्रम की पूर्ति बढ़ती है, तो उसकी सीमान्त उत्पादन शक्ति गिर जाती है और जब पूर्ति गिर जाती है, तब श्रम की उत्पादन शक्ति बढ़ जाती है। पहली हालत में मजदूरी गिरेगी और दूसरी में बढ़ेगी।

इसलिए श्रम की पूर्ति पर विभिन्न साधनों का प्रभाव पड़ता है। अन्य चीजें समान रहने पर अधिक मजदूरी मिलने से अधिक श्रम आकर्षित होगा और इसके विपरीत विलोमतः ऐसा ही होगा। परन्तु यह सब उद्योगों में लागू नहीं होता। यह विशेष उद्योग में ही लागू है। दूसरे साधन इस प्रकार हैं। विवाह के प्रति सामान्य धारणा, परिवार का आकार, सन्तति निरोध (birth control), औषधि सहायता का स्तर, स्वच्छता की व्यवस्था आदि। श्रम की कुल पूर्ति आबादी के बढ़ाव पर निर्भर करती है। किसी विशेष व्यवसाय में दूसरे उद्योगों की अपेक्षा श्रम की पूर्ति बढ़ाई जा सकती है, यदि ऐसे उद्योग में श्रम की उत्पादन शक्ति बढ़ जाने से मजदूरी भी बढ़ जाय।

दी हुई श्रम की पूर्ति को पूर्ण प्रतियोगिता म, विभिन्न उद्योगो म इस प्रकार बाँटा जाता है कि श्रम की सीमान्त उत्पादन शक्ति सभी उद्योगों में एक-सी रहे। परन्तु यदि श्रम एक जगह से दूसरी जगह या एक उद्योग से दूसरे उद्योग में स्वतन्त्रता-पूर्वक नही जा सकता तो श्रम की सीमान्त उत्पादन शक्ति विभिन्न उद्योगो म भिन्न-भिन्न होगी तथा उसी प्रकार के श्रम के लिए अलग-अलग मजदूरी होगी।

अन्त म हम कह सकते है कि सम्भाव्य मजदूरो (potential workers) की सख्या दी होने पर, श्रम पूर्ति की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है, यह श्रम-इकाइयो की वह अनुसूची (schedule) है जो कि विभिन्न मजदूरी स्तर पर मजदूर (श्रमिक) देने के लिए तैयार होते हैं। यह दो बातो पर निर्भर है: (क) ऐसे श्रमिको की सख्या जो विभिन्न मजदूरियो पर काम करने को तैयार हैं तथा जो काम करने लायक है, (ख) काम करने के घटो (working hours) की सख्या जिनमे प्रत्येक श्रमिक विभिन्न मजदूरियो पर काम करने को तैयार है तथा काम करने लायक है।

ऐसी स्थिति म जब श्रमिको के काम करने की शक्ति (staying power) नही रहती और भूखो मरना ही एकमात्र रास्ता रहता है, श्रमिको की व्यापक रूप से पूर्ति पूर्णतया लोचहीन (inelastic) रहती है। इसका अर्थ यह है कि मजदूरी (wages) कम की जा सकती है। थोडे समय तक, मजदूरी म कटौती से श्रम की पूर्ति म सम्भव है कोई कमी न हो। लेकिन यदि मजदूरी बहुत कम कर दी जाए तो मालिको में परस्पर स्पर्द्धा से ही मजदूरी अधिक हो जाएगी। लम्बे अर्से तक श्रम की पूर्ति बहुत लोचदार नही होती।

सीमान्त उत्पादन शक्ति के सिद्धान्त की परिसिमतताएँ (Limitations of the Marginal Productivity Theory)—वितरण के सिद्धान्तो को ध्यान में रखकर हम सीमान्त उत्पादन शक्ति के विषय म पहले ही आलोचनाएँ पढ चुके हैं।[1] इस सिद्धान्त को जब हम मजदूरी पर लागू करते है तो फिर से दोहरा लेना चाहते हैं कि यह सिद्धान्त कुछ स्वयसिद्धियो के बीच ठीक बैठता है, जैसे पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति, श्रम स्वतन्त्रतापूर्वक एक व्यवसाय से दूसरे व्यवसाय म जा सकता हो, सब श्रम एक समान हो, निश्चित व्याज व लगान की दरें तथा स्थिर उत्पादित वस्तु की कीमतें। यह एक गतिहीन सिद्धान्त है। परन्तु यह ससार गतिशील है। श्रम के इधर-उधर जाने म भी अनेक प्रतिबन्ध होते हैं। सारा श्रम एक श्रेणी का नही होता। उत्पादन के अन्य साधनों का उचित पुरस्कार स्थायी नही होता, श्रम द्वारा उत्पादित वस्तुओ का मूल्य भी बदलता रहता है। इन सब परिवर्तनो के फलस्वरूप सिद्धान्त में, विशेष रूप से जब यह सिद्धान्त वास्तविक परिस्थितियो की कसौटी पर कसा जाता है, दोष पैदा हो गए हैं। फिर भी यह सिद्धान्त बताता है कि श्रम की प्रवृत्ति श्रम की पूर्ति और श्रम की माँग म सामञ्जस्य लाने की है। श्रम की सीमान्त उत्पादकता का सिद्धान्त हमको वे मौलिक तत्त्व अवश्य बताता है जो मजदूरी की दर निर्धारित करते हैं।

---

1 See Chapter XXIV

मजदूरी का आधुनिक सिद्धान्त श्रम में लागू होता है, जो श्रम का मुख्य सिद्धान्त है तथा जिससे साधारणतया वस्तुओं का मूल्य निर्धारित किया जाता है। बाजार मूल्य और सामान्य मूल्य की भाँति मजदूरी भी क्रमश किसी क्षण में मिलने वाली मजदूरी (wages at any given moment) तथा दीर्घावधि में मिलने वाली मजदूरी (wages in the long run) होती है। "किसी क्षण में मिलने वाली मजदूरी में मजदूरी उद्यमी को मजदूर की सीमान्त उत्पादन शक्ति के अनुसार निर्धारित करनी पड़ती है, जब कि दीर्घकालीन मजदूरी तो उतनी ही होनी चाहिए, जिससे कि मजदूर अपने रहन-सहन के स्तर को बनाए रख सके। दीर्घकाल में मजदूरी की सीमा वह होती है जहाँ पर मजदूर की सीमान्त उत्पादन शक्ति श्रम के पूर्ति मूल्य के बराबर हो, जो कि रहन सहन के स्तर के अनुसार नियत किया गया हो।"[2] वास्तव में वास्तविक मजदूरी दो सीमाओं के बीच होती है। ऊपर की सीमा मजदूर की सीमान्त उत्पादन शक्ति के अनुसार व्यवसायी निर्धारित करता है और निचली सीमा उसके जीवन-स्तर से निर्धारित होती है। इन दोनों सीमाओं के बीच वास्तविक मजदूरी दोनों दलों के सम्बन्धित सौदा करने की शक्ति के अनुसार निश्चित होती है।

दीर्घावधि तथा प्रतियोगिता की स्थिति में मजदूरी श्रम के सीमान्त तथा औसत उत्पादन की शक्ति के समान होती है। यदि उत्पादन की सीमान्त शक्ति औसत उत्पादन शक्ति से अधिक होती है, तो ज्यादा मजदूर लगाना ठीक रहेगा और ऐसा तब तक होगा जब तक सीमान्त उत्पादन शक्ति (marginal productivity) औसत उत्पादन शक्ति (average productivity) के स्तर तक गिर जाती है। इसके विपरीत, जब सीमान्त उत्पादन शक्ति औसत उत्पादन शक्ति से कम होती है तो सीमान्त उत्पादन शक्ति के औसत उत्पादन शक्ति तक उठने में कम मजदूरों (श्रमिकों) की जरूरत होगी। इस प्रकार सीमान्त उत्पादन शक्ति तथा औसत उत्पादन शक्ति की समान होने की प्रवृत्ति रहती है। चूँकि मजदूरी सीमान्त उत्पादन शक्ति के समान होती है, इसलिए वह (मजदूरी) औसत उत्पादन के समान भी होती है। इस समस्या का निरूपण निम्नलिखित रेखाचित्र द्वारा किया गया है—
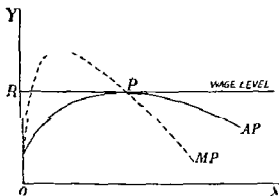
चित्र ५८

R रेखा के द्वारा मजदूरी स्तर दिखाया गया है। AP औसत उत्पादन शक्ति वक्र है तथा MP सीमान्त उत्पादन शक्ति का वक्र है। ये दोनों वक्र P बिन्दु पर परस्पर काटते हैं, जिससे यह स्पष्ट होता है कि दोनों स्थितियों में—अर्थात् सीमान्त उत्पादन शक्ति तथा औसत उत्पादन शक्ति—मजदूरी समान होती

2 Thomas S E.—Elements of Economics, 1939 p 258

है। जब AP ऊँचा उठता है, MP > AP और जब AP गिरता है, MP < AP। लेकिन जब वे (दोनो वक्र) साम्यावस्था (state of equilibrium) में होते हैं अर्थात् जब AP न ऊपर उठता है न नीचे गिरता है MP = AP। इसलिए मजदूरी = MP = AP।

७ टॉजिग का मजदूरी सिद्धान्त[1] (Taussig's Theory of Wages)—अमरीका के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री टॉजिग (Taussig), मजदूरी के सीमान्त उत्पादकता शक्ति के सुधरे हुए रूप को लेते हैं। उनके अनुसार यह सिद्धान्त बताता है कि मजदूरी, श्रम की कटौती के सीमान्त उत्पादन का प्रतिनिधित्व करती है।

वे सोचते हैं कि मजदूर सीमान्त उत्पादन का कुल योग नहीं पा सकता। यह इसलिए कि उत्पादन में समय लगता है और श्रम का अंतिम उत्पादन, शीघ्रता से प्राप्त नहीं हो सकता। परन्तु मजदूरों को उस समय तक सहायता देनी होती है। यह पूँजीपति व्यवसायी के द्वारा होता है। व्यवसायी आशा की हुई मजदूरी का सीमान्त उत्पादन के मूल्य के बराबर भुगतान नहीं करता। वह आखिरी उत्पादन (output) से अग्रिम रुपया देने के कारण खतरे को अपने ऊपर लेने के लिए कुछ प्रतिशत कम कर लेता है। टॉजिग (Taussig) के अनुसार यह कटौती प्रचलित ब्याज की दर के अनुसार होती है। सीमान्त व्यवसाय संस्था या सीमान्त भूमि के ऊपर लगे हुए समस्त श्रम के सकल उत्पादन में से उपर्युक्त कटौती काटने के बाद जो रकम बचती है, वह मजदूरी कहलाती है। उस वस्तु की वर्तमान कीमत भविष्य की अनुमानित कटौती तथा बदले पर निर्भर रहती है।

टॉजिग इस सिद्धान्त की दो कमजोरियाँ स्वयं बतलाते हैं। पहली यह कि यह धुंधली तथा भावात्मक (abstract) है जो कि वास्तविक जीवन की समस्या से दूर है। इसके लिए वह उत्तर देते हैं कि यह कमजोरी लगभग सभी माने हुए सिद्धान्तों में पाई जाती है। दूसरी, और अधिक गम्भीर आपत्ति यह है कि मिश्रित उत्पादन की चालू ब्याज की दर पर कटौती होनी है, लेकिन उसके विश्लेषण के अनुसार ब्याज की दर मजदूरों को अग्रिम रुपयों के देने के ढंग का फल होती है, क्योंकि मजदूरों को जो कुछ दिया जाता है, उसी के आधार पर वह अधिक उत्पादित करते हैं और उसी आधिक्य पर यह निर्भर है। यह तो चक्र के रूप में तर्क करते रहने के समान है। इस कठिनाई को दूर करने के लिए टॉजिग (Taussig) प्रस्ताव करते हैं कि हम सीमान्त *उत्पादन शक्ति का समय अभिमान के अनुसार (by the rate of time preference)* स्वतन्त्रतापूर्वक ब्याज की दर निर्धारित कर लेनी चाहिए, और हम उस ब्याज जो इस प्रकार निर्धारित किया जाता है, श्रम की सीमान्त उत्पादन की कटौती मालूम कर सकते हैं परन्तु यह उपर्युक्त कठिनाई का वास्तविक हल नहीं है। यह तो समस्या को टालना मात्र है।

अन्त में टॉजिग का यह सिद्धान्त मजदूरी के अवशिष्ट अधिकारी सिद्धान्त (Residual Claimant Theory of Wages) का दूसरा रूप है। वे कहते हैं कि कुल उत्पादन में से लाभ, ब्याज, लगान घटाने से जो बचता है वही मजदूरी है।

1 For detailed study consult Taussig's Readings in the Theory of Income Distribution pp 278 293

इस प्रकार इस सिद्धान्त पर मजदूरी के अवशिष्ट अधिकारी सिद्धान्त की सब आपत्तियाँ लागू हो सकती हैं।

८ मजदूरी में उतार चढाव (Wages Fluctuations)—मोटे तौर पर, मजदूरी निम्नलिखित स्थितियो में बढती है —

(i) काम में लगी आबादी (working population) में मृत्यु अथवा उत्प्रवास (emigration) के कारण कमी। (ii) मजदूरो की कार्य-पटुता में वृद्धि। (iii) देश में आर्थिक विकास की वृद्धि। विशेष तथा तीव्र आर्थिक विकास से मजदूरी की माँग बढ जाती है और इसके परिणामस्वरूप राष्ट्रीय लाभांश (national dividend) म वृद्धि होती है जो कि उत्पादन के साधनो के लिए पारिश्रमिक के स्रोत का काम करता है। (iv) प्राकृतिक स्रोतो के वैज्ञानिक उपयोग (scientific exploitation) का भी यही प्रभाव होता है। (v) मजबूत मजदूर सघो का निर्माण। (vi) मालिको की कार्यपटुता मे तरक्की अथवा मालिको की सख्या म वृद्धि जिससे श्रम मे तीव्र स्पर्द्धा होती है। (vii) युद्ध।

इसके विपरीत निम्नलिखित स्थितियो में मजदूरी गिर सकती है —

(i) आबादी मे वृद्धि। (ii) आर्थिक मन्दी। (iii) दूषित स्वास्थ्य, अकाल, खराब आवास तथा पिचपिच (congestion) आदि के कारण श्रम की कार्यपटुता मे कमी और (iv) युद्ध के कारण राष्ट्रीय आस्तियो (national assets) का बरबाद होना।

९ मजदूरी व रहन सहन का स्तर (Wages and the Standard of Living)[1]—उन्नीसवी शताब्दी के समाप्त होने पर कुछ लेखको ने जीवन-निर्वाह सिद्धान्त (Subsistence theory of wages) को अधिक सुधार कर लिखा। वे इस बात पर सन्तोष कर चुके थे कि मजदूरी केवल जीवन-निर्वाह की सीमा तक नही होती परन्तु रहन-सहन के उस दर्जे पर निर्धारित रहती है जिस मे रहन की उन्हे आदत हो गई है। इस शुद्ध किए गए सिद्धान्त म कुछ सच्चाई अवश्य है क्योकि रहन सहन का दर्जा अधिकतर मजदूरी के ऊपर विभिन्न तरीको से प्रभाव डालता है। प्रथमत मजदूर जहाँ तक सम्भव होगा, उस मजदूरी को स्वीकार न करेंगे, जो उनके रहन-सहन के स्तर से कम होगी तथा श्रम की पूर्ति न होन से व्यवसायी को उनकी माँग माननी पडगी। दूसरे, अच्छे रहन सहन म रहन से और उनकी कार्यपटुता बढने से उनकी सीमान्त उत्पादन शक्ति बढ जाएगी और इस प्रकार मजदूरी भी बढ जाएगी। तीसरे, रहन सहन का स्तर आबादी की वृद्धि की सीमा को नियत कर मजदूरी के ऊपर प्रभाव डालता है। यदि मजदूरी से उस मजदूर के रहन सहन का स्तर ठीक नही रहता तो वह बच्चो की वृद्धि को रोक कर तथा शादी न करके उसे ठीक करेगा। यह श्रम की पूर्ति को कम करेगा और सीमान्त उत्पादन शक्ति तथा मजदूरी को बढाएगा।

यह ध्यान म रखना चाहिए कि रहन सहन का दर्जा मजदूरी पर अधिक

---

1 Dobb s treatment is excellent See Chap IV Secs 4 and 5 P 106—108

आश्रित है किन्तु मजदूरी रहन-सहन के दर्जे पर उस सीमा तक निर्भर नहीं है। केवल रहन-सहन के स्तर पर हठ करने से ही मजदूरी नही बढ जाएगी । मजदूरी सीमान्त उत्पादन शक्ति के बढने पर ही बढ सकेगी। इस प्रकार मजदूरी का प्रभाव प्रत्यक्ष रूप से रहन सहन के स्तर पर पडता है जबकि रहन-सहन के स्तर का मजदूरी पर परोक्ष (indirect) प्रभाव होता है अर्थात् श्रम की कार्यपटुता के जरिए।

१० मजदूरी और कार्यक्षमता (Wages and Efficiency)—मजदूरी और कार्यक्षमता या कार्यपटुता म गहरा सम्बन्ध है। मजदूर म जितनी अधिक कार्यपटुता होगी, उसकी उतनी ही अधिक उत्पादन-शक्ति होगी । इससे उसकी मजदूरी भी बढ जाएगी। ऊँची मजदूरी से उसके रहन-सहन का स्तर भी ऊँचा होगा। रहन-सहन के स्तर के ऊँचे होने से उसका भोजन अच्छा होगा, अच्छे कपडे, अच्छा घर तथा शिक्षा एव मनोरजन के लिए उचित अवसर मिलेगा। इन सब चीजो के कारण मनुष्य की उत्पादन शक्ति तथा सन्तानों को अधिक प्रोत्साहन मिलेगा, और वह अपनी सन्तानो को इस योग्य बना देगा कि वे और अधिक मजदूरी प्राप्त कर सकें। इसके विरुद्ध कम मजदूरी से रहन-सहन का स्तर नीचा रखने से उत्पादन-शक्ति कम हो जाएगी तथा कमाने की शक्ति भी कम हो जाएगी। इस प्रकार एक दूषित चक्र पैदा हो जाएगा जिससे छुटकारा पाना मनुष्य के लिए कठिन हो जाएगा।

११ मजदूरी तथा आविष्कार (Wages and Inventions)—आविष्कारो द्वारा किस प्रकार मजदूरी प्रभावित होती है, इसका उत्तर इस बात पर आश्रित होगा कि नये आविष्कारो से श्रम और पूँजी म क्या किफायत होती है। अगर आविष्कार का प्रभाव श्रम की किफायत पर होता है, तो श्रम की माँग कम हो जाएगी। तब इसकी सीमान्त उत्पादन-शक्ति गिर जाएगी और मजदूरी भी कम हो जाएगी। दूसरी ओर, यदि आविष्कार पूँजी की माँग को कम कर देता है, तो पूँजी श्रम से अधिक बढ जाएगी और उसकी सीमान्त उत्पादन शक्ति श्रम से कम हो जाएगी। तब मजदूरी गिरेगी नही, परन्तु बढ जाएगी। कार्यरूप म कुछ ही आविष्कार या तो अकेले श्रम मे अथवा पूँजी म किफायत कर देते हैं परन्तु अधिकतर आविष्कार पूँजी की अपेक्षा श्रम मे किफायत करते है। इस प्रकार अल्प काल म वह मजदूरी को कम कर देते हैं। परन्तु यह आवश्यक नही कि दीर्घकाल म भी मजदूरी कम बनी रहे। दीर्घकाल में मजदूरी बढ सकती है। क्योकि नए आविष्कारो के कारण राष्ट्रीय लाभाश बढेगा, क्योकि नए आविष्कार कच्चे माल या प्राकृतिक स्रोतो (resources) की मात्रा को कम कर देंगे जो कि एक निश्चित उत्पादन करने में काम मे लाए जाते हैं। फलत, उत्पादन के साधनो को अन्य क्षेत्रो में भी काम म लाया जा सकेगा।

इस बात को समझ लेना चाहिए कि बढे हुए श्रम का भाग राष्ट्रीय लाभांश के सापेक्ष होगा अथवा निरपेक्ष (relative or absolute)। यह सम्भव है कि स्वतन्त्र रूप मे नए आविष्कारो के कारण मजदूरी निरपेक्ष रूप से बढ जाए तथा दीर्घकाल में पूँजी की तुलना म सम्भव है मजदूर का शेयर (share) कम हो जाए।

१२. सापेक्ष मजदूरी (Relative Wages)—अब तक हम सामान्य मजदूरी के सम्बन्ध मे विचार कर रहे थे। हमने उन साधारण सिद्धान्तो का निरीक्षण

किया है, जिससे राष्ट्रीय लाभांश का भाग उत्पादन के अन्य साधनों में न जाने के बजाए श्रम की ओर जाता है।

सापेक्ष मजदूरी की समस्या भिन्न है। यहाँ हमें विभिन्न उद्योगों, व्यवसायों तथा व्यवसायों की श्रेणियों अथवा एक ही उद्योग या श्रेणी के लोगों में मजदूरी क्यों भिन्न होती है, इसके कारणों पर प्रकाश डालना है। प्रत्येक व्यवसाय में मजदूरी की समस्या अलग है। परन्तु साधारण मजदूरी को निर्धारित करने का सिद्धान्त सब जगह एक है। मजदूरी सभी जगह श्रम की सीमान्त उत्पादन शक्ति के लगभग समान होती है। परन्तु श्रम की उत्पादन शक्ति में विभिन्न व्यवसायों और श्रेणियों में हर एक प्रकार के श्रम के साधनों की माँग के कारण कमी होने से विभिन्नता होगी। या हम यह भी कह सकते हैं कि मजदूरी, प्रत्येक प्रकार के मजदूर द्वारा उत्पादित माल की माँग पर निर्भर करती है।

यदि श्रम स्वतन्त्रतापूर्वक सभी उद्योगों में आ-जा सकता होता तो वास्तविक मजदूरी हर काम में लगाए हुए उस श्रम की सापेक्ष कार्यपटुता (relative efficiency) के अनुपात पर आधारित होती। मजदूरों की वास्तविक मजदूरी (न कि नाममात्र की मजदूरी) कार्यपटुता की उसी सीमा पर समान होती। यदि एक उद्योग के मजदूर अपनी कार्यपटुता के अनुपात से अधिक वास्तविक मजदूरी पा रहे हैं, तो श्रम उसी व्यवसाय में तब तक जाएगा, जब तक बढ़े हुए श्रम की पूर्ति वहाँ की सीमान्त उत्पादन शक्ति और मजदूरी को कम न कर देगी। यदि एक उद्योग में श्रम की सापेक्ष योग्यता के आधार पर निर्धारित की हुई मजदूरी से कम मजदूरी मिलती है, तो इसके विपरीत दशा होगी। वास्तविक जगत् में एक उद्योग से दूसरे उद्योग में विशेषतया विभिन्न वर्गों (different grades) में स्वतन्त्रतापूर्वक श्रम आ जा नहीं सकता। इस प्रकार बहुत सी श्रेणियाँ "स्पर्द्धा न करने वाले दल" बन जाते हैं।

सापेक्ष मजदूरियों में अन्तर क्यों ? (Why Relative Wages Differ ?)—उन कारणों को जो विभिन्न उद्योगों, रोजगारों (employments), पेशों (professions) तथा स्थानों में मजदूरी में अन्तर लाते हैं, संक्षेप में, इस प्रकार कह सकते हैं—

(i) **कार्यपटुता में अन्तर (Differences in Efficiency)**—यह अलग-अलग जगह के आन्तरिक गुणों के कारण है, जो प्रशिक्षण (training) की या अन्य परिस्थितियों के अनुसार हो सकती है जिसमें कि काम किया जाता है। जब मजदूरों की कार्यकुशलताओं में भिन्नता है तो उनकी मजदूरी भी भिन्न होनी चाहिए।

(ii) **स्पर्द्धाहीन दलों का होना (Existence of Non competing Groups)**—जैसा कि ऊपर समझाया जा चुका है, यह तब होता है, जब एक कम भुगतान करने वाले से अधिक भुगतान करने वाले व्यवसाय में श्रम के इधर-उधर होने में कठिनाइयाँ होती हैं। यह कठिनाइयाँ भौगोलिक, सामाजिक और आर्थिक कारणों से होती हैं, उदाहरण के लिए, परिवहन (transport) के साधनों की कमी, जाति बन्धन, गृहस्थ बन्धन अथवा टैक्नीकल शिक्षा का अभाव।

(iii) **व्यापार सीखने की कठिनाइयाँ (The Difficulties of Learning**

a Trade)—कठिन व्यापार में निपुण व्यक्तियों की संख्या बहुत कम है। उनकी पूर्ति माँग से कम है और इसलिए उनकी मजदूरी अधिक है।

(iv) रोजगार के उपयुक्त होने अथवा उसके सामाजिक मान आदि में भेद (Differences in Agreeableness or Social Esteem of Employment)—जो उद्योग अरुचिकर हैं, वे मजदूरों को आकर्षित करने के लिए अधिक मजदूरी देंगे और अगर अरुचिपूर्ण कार्य अयोग्य श्रमिकों द्वारा किया जाएगा (चाहे इसका कारण जातपात हो अथवा दूसरे गुण) तो मजदूरी कम होगी, जैसे भारत के मेहतर।

(v) भविष्य की सम्भावना (Future Prospects)—यदि किसी उद्योग में भविष्य में उन्नति की आशा है, तो लोग इसमें कम मजदूरी पर भी कार्य करना स्वीकार कर लेंगे, परन्तु एक अन्य उद्योग जिसमें मजदूरी अधिक मिल रही है, परन्तु भविष्य में उन्नति की कोई सम्भावना नहीं, तो उसे नहीं करेंगे। किसी भी पेशे में वहाँ मिलने वाली सुविधाओं के कारण मजदूरी में अन्तर होता है।

(vi) जिन धन्धों में ज्यादा जोखिम तथा डर रहता है वहाँ उपलब्धि (emoluments) अधिक होती है।

(vii) रोजगार में नियमितता और अनियमितता का भी मजदूरी के स्तर पर गहरा प्रभाव पड़ता है। नियमित रोजगार में लोग कम मजदूरी भी स्वीकार कर लेते हैं।

यह बात फिर से ध्यान में रखनी चाहिए कि यह सब साधन उद्योगों और वर्गों में श्रम की माँग व पूर्ति के समायोजन (adjustment) पर प्रभाव डाल कर मजदूरी में अन्तर उपस्थित करते हैं। मजदूरी प्रत्येक दशा में श्रम की माँग की दृष्टि से पूर्ति की कमी के द्वारा निर्धारित की जाती है अथवा श्रम के हर प्रकार के कार्य की सीमान्त उत्पादन शक्ति के द्वारा निर्धारित की जाती है।

१३ स्त्रियों की कम मजदूरी (Low Wages of Women)—अधिकतर उसी श्रम के लिए स्त्रियों को पुरुषों से कम मजदूरी दी जाती है। इसके कई कारण हैं। एक तो यह आदत अथवा रीति के कारण है। बहुत काल तक स्त्रियों को सभ्य देशों में भी सविकाएं समझा जाता रहा। आज भी वे बन्द धन्धों में ही घिरी रहती हैं जिसके कारण उनकी मजदूरी कम है।

दूसरे, चूँकि वह अपने काम को जीविका का अंग नहीं बनाती इसलिए वह अपने को ठीक प्रकार से शिक्षित व कुशल बनाने का प्रयत्न नहीं कर सकती। उनका मुख्य उद्देश्य विवाह करना होता है और इसके पश्चात् वे अधिकतर स्वतन्त्र रूप से कमाना छोड़ देती हैं।

तीसरे, इन्हीं कारणों से स्त्रियाँ अपने को मजदूर संघों में संगठित नहीं कर सकतीं, जो कि उनके लिए ऊँची मजदूरी दिलाने में सहायक हो सकते हैं। उनका काम पर लगाना बहुत कम समय के लिए होता है। वे पढ़ाई छोड़ कर केवल विवाह होने तक नौकरी करना चाहती हैं। इसलिए वे अपनी आर्थिक स्थिति को सुधारने का कोई प्रयत्न नहीं करतीं।

चौथे, स्त्रियाँ कम मजदूरी लेकर काम करने के लिए इस कारण तैयार हो

जाती हैं क्योंकि उन पर बहुत कम उत्तरदायित्व होता है। अधिकतर वे अपनी आय पर ही आश्रित नहीं रहती। पति, भाई, पिता आदि को उनकी माली (financial) सहायता करनी पड़ती है।

और अन्त में, पुरुष स्त्रियों से अधिक उत्तरदायी, विश्वासी एवं योग्य कार्यकर्ता विभिन्न कारणों से माने जाते हैं। पुरुष अधिक शक्तिशाली होता है तथा बड़े से बड़े कठिन कार्य को कर सकता है। अधिकतर स्त्री शारीरिक कारणों से आंशिक अथवा पूर्ण रूप से अपने जीवन के कुछ काल में काम करने में असमर्थ रहती है।

निर्देश पुस्तकें

Marshall, A Principles of Economics
Benham, F Economics
Tarshis, L Elements of Economics, 1946, Ch 38.
Readings in the Theory of Income Distribution, pp 221 236
Hicks, J R Theory of Wages 1932
Bobb, M Wages (revised Edition 1946)
Stigler, G J Theory of Price 1947
Robinson S The Economics of Imperfect Competition 1945, Chs 20, 21 and 22
Meyers A L Elements of Modern Economics, 1951 Ch 16

अध्याय २७

श्रम की कुछ समस्याएँ

(Some Problems of Labour)

१. ट्रेड यूनियन या कार्मिक संघ (Trade Unions)—इस अध्याय मे हम श्रम सम्बन्धी कुछ समस्याओ का अध्ययन करेंगे। कुछ समस्याएँ ये हैं, जैसे श्रमिक सघ (Trade Unions), श्रम सम्बन्धी झगडे, वेतन की नई योजनाएँ, बेरोजगारी की समस्याएँ आदि। पिछले अध्याय मे हमने राष्ट्रीय लाभाश (national dividend) मे श्रमिको के भाग (share) निर्धारण करने वाले सामान्य सिद्धान्तो का विवेचन किया था। परन्तु ये सब सिद्धान्त सर्वत्र स्वतन्त्रतापूर्वक प्रभावी नही होते। नियोजक या मालिक को श्रम की अपेक्षा कुछ अधिक सुविधाएँ रहती हैं। इसलिए श्रमिको को ट्रेड यूनियनो के रूप में अपने को सगठित करना पडता है। वैब्स (Webbs) के शब्दो मे, "कार्मिक सघ मजदूरी पाने वालो का एक ऐसा निरन्तरगामी सगठन है जो उनके कार्य की अवस्थाओ को ठीक रखने तथा सुधारने के लिए बनाया जाता है।"

श्रम शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तुओ मे से है। उसमे कोई रक्षित-शक्ति (reserve power) नहीं रहती। यदि एक दिन काम न मिला तो उस दिन की श्रम-शक्ति सदैव के लिए नष्ट हो जाती है। इसलिए मजदूर के सामने दो ही विकल्प रह जाते हैं। या तो वह काम करे या भूखो मरे। इसलिए विभिन्न देशो के श्रमिक वर्ग ने औद्योगिक विकास के प्रारम्भिक काल में इस बात का अनुभव किया कि जब तक वे कार्मिक सघ या ट्रेड यूनियन बनाकर काम की शर्तें तय करने में (सौदा करने मे) सुधार नही करते तब तक मालिकों के द्वारा, उनके शोषण का गम्भीर भय बना रहेगा।

ट्रेड यूनियनो के कृत्य (Functions of Trade Unions)—आधुनिक औद्योगिक देशो मे कार्मिक सघ दो प्रकार का कार्य करते हैं—एक तो सघर्ष का (militant), दूसरे भ्रातृत्व का (fraternal)। श्रमिको के अधिकारो की रक्षा के लिए श्रमिक सघ सघर्ष के साधन हैं। उनका लक्ष्य उचित मजदूरी, कार्य की दशाएँ और शर्तो मे सुधार तथा कुछ समय से उद्योग के नियन्त्रण मे भाग प्राप्त करना है। इन अधिकारों की रक्षा के लिए श्रमिक वर्ग को कठोर सघर्ष करना पडता है। उनके मुख्य हथियार हैं—हडताल और बायकाट। यह श्रमिक सघो के लडने के साधन हैं। किन्तु श्रमिक सघ कुछ भ्रातृत्वपूर्ण और कल्याणकारी कृत्य भी करते हैं। इस दिशा में वे एक दूसरे की सहायता करते हैं। सदस्यो के चन्दे से एक कोष (fund) बना कर वे मजदूरो को बीमारी व दुर्घटना के समय आर्थिक सहायता देते हैं और औद्योगिक झगडों के समय बेकारी, हडताल और तालाबन्दी की दशा मे सहायता करते हैं ये भ्रातृत्व सम्बन्धी कृत्य कहलाते हैं।

२ कार्मिक सघ और मजदूरी (Trade Unions and Wages)—श्रमिक सघो का मुख्य उद्देश्य मजदूरी की वृद्धि करना है । इसके विपरीत पुराने अर्थशास्त्रियो का विचार है कि मजदूरी बढने से लाभ मे कमी हो जाएगी और इसका उत्पादन पर बुरा असर पडेगा ।

तथापि, कार्मिक सघ दो प्रकार से मजदूरी बढवा सकते हैं .

(1) श्रमिक सघ इस बात को सुनिश्चित करा सकते हैं कि मजदूरो को उनकी सीमान्त उत्पादन शक्ति का पूरा मूल्य मिले । पूर्ण प्रतियोगिता की परिस्थिति मे तो मजदूरी सीमान्त उत्पादन शक्ति के समान होती है। परन्तु वास्तव में ससार मे प्रतियोगिता पूर्ण नही होती । इसलिए श्रमिको की सौदा करने की शक्ति निर्बल होने के कारण मजदूरी उत्पादन शक्ति के अनुकूल नही होती । इस शक्ति मे वृद्धि करके श्रमिक सघ उत्पादन शक्ति के स्तर तक मजदूरी बढवा सकते हैं ।

(ii) श्रमिक सघ मजदूरो की उत्पादन शक्ति को भी बढा सकते हैं । (क) वे मालिक को अधिक आधुनिक यन्त्र एव सगठन का उपयोग करने के लिए बाध्य करते है । (ख) वे मजदूरो की कार्यपटुता बढाने म भी सहायक होते हैं । यह मजदूरो के स्वभाव म गम्भीरता, किफायत एव ईमानदारी की आदतो को बढाकर तथा नई पीढी को अधिक अच्छी सामान्य शिक्षा अथवा कार्य-प्रशिक्षण देकर किया जा सकता है । (ग) कार्मिक सघ मजदूरो के किसी विशेष वर्ग की पूर्ति (supply) कम करके उसके उत्पादन शक्ति के मूल्य को बढा सकते हैं ।

कुछ विशेष हालात हो ऐसे हैं जिनम सप्लाई (पूर्ति) कम करने से मजदूरो के वर्ग-विशेष की मजदूरी बढाई जा सकती है—(१) उस प्रकार की श्रमिक वर्ग की माँग लोचहीन हो, जिसका अर्थ यह है कि जिस वस्तु के उत्पादन म वह वर्ग सहायक होता है, उसकी माँग लोचहीन हो । (२) उस वर्ग की मजदूरी कुल उत्पादन लागत का तथा उस माल के कुल मूल्य का छोटा भाग हो, तथा (३) उत्पादन की अन्य अवस्थाएँ भी अधिक मजदूरी देने को विवश करने के लिए अनुकूल हो । दूसरे शब्दो म उनका अन्य उपयोग न हो सके । परन्तु इस बात की आशका रहती है कि मालिक श्रमिको के बदले म काम करने वाले यन्त्रो का उपयोग करने लगें, और इससे श्रमिको की माँग कम हो जाए और उसके फलस्वरूप मजदूरी भी कम हो जाए ।

श्रमिक सघ मजदूरी तब बढवा सकते है जब मजदूर उनके सदस्य हो और कोई अन्य मजदूर उनके स्थान पर काम करने के लिए बाहर से न बुलाया जा सके ।

३ कार्मिक सघो के गुण और दोष (Merits and Demerits of Trade Unions)—श्रमिक सघो के मुख्य लाभ य हैं—

(1) एक सुदृढ कार्मिक सघ (trade union) औद्योगिक शान्ति तथा स्थिरता म सहायक होता है क्योंकि सामूहिक रूप से समझौता उसके अधिकाश मजदूरो द्वारा मान्य होने के कारण वह उनकी मान्यता और सहमति प्राप्त करता है ।

(ii) मजदूरी के प्रामाणिक एव उचित स्तर पर बल देने से ये अयोग्य अथवा (असमर्थ) मालिको को उद्योग के बहिष्कृत करने मे सहायक होते हैं । इस प्रकार उद्योग दृढ आधार पर उन्नति की ओर अग्रसर होता है ।

(iii) पारस्परिक सहायता से उन्होने मजदूरो की कार्यपटुता को काफी बढाया है। मजदूरी की वृद्धि से मजदूर वर्ग की गरीबी और गदगी को कम करने म भी सहायता मिलती है।

(iv) श्रम लागत बढने से श्रम बचाने वाले यन्त्रो के उपयोग की प्रेरणा मिली है। इससे टैकनिकल प्रगति हुई है।

दूसरी ओर श्रमिक सघो की तीव्र आलोचना, विशेषकर उनकी समाज-विरोधी कार्यवाहियो के कारण, की गई है। उनके विरुद्ध दोपारोपणो म कुछ निम्नलिखित हैं—

(i) प्रामाणिक वेतन-स्तर पर अनुचित जोर देकर उन्होने अधिक कार्यपटु या ऊँचे श्रमिको का वेतन-स्तर कम कर दिया है।

(ii) उन्होने अभिनवीकरण (rationalisation), उत्पादन तथा उत्पादन के अधिक उन्नत साधनो के उपयोग का केवल इसलिए विरोध किया है कि उससे कुछ मजदूरो का काम छिन जाएगा। इस रुख के कारण टैकनिकल प्रगति तथा फलस्वरूप राष्ट्रीय लाभाश की वृद्धि में बाधा पडी है।

(iii) वे बहुधा 'धीरे काम करो' की नीति बरतने का पाठ पढाते हैं, जिससे राष्ट्रीय लाभाश कम होता है। काम करने के अवसर कम होते हैं और इसलिए मजदूरो को ही हानि होती है। इससे 'मजदूरी की निधि' (work fund) का जो विचार मजदूरो म होता है उसकी वास्तविकता का भी पता चलता है।

(iv) अपनी शक्ति के मद म कभी कभी उन्होने अपर्याप्त आधारो पर हडताल कराके उत्पादको, समाज तथा स्वय को हानि पहुँचाई है।

(v) इस बात का हठ करके कि केवल कार्मिक सघ के सदस्य मजदूरो को ही काम पर लगाया जाए, उन्होने श्रमिको के कृत्रिम अभाव को उत्पन्न किया है।

४ औद्योगिक झगडे (Industrial Disputes)—श्रमिको और मालिको के झगडे पूँजीवादी देशो के औद्योगिक जीवन के एक प्रकार से साधारण अग बन गए हैं। ऐसे झगडो का परिणाम या तो हडताल होता है अर्थात् मजदूरो का काम पर न जाना अथवा तालाबन्दी जिसम मालिक मजदूरो को काम पर नही जाने देते। तालाबन्दी की अपेक्षा हडताल अधिक होती है क्योंकि अधिकाशत मजदूर वर्ग, जो सतप्त पक्ष है, पहले कार्यवाही करता है।

श्रमिको को हडताल का अधिकार होना चाहिए अथवा नही, यह एक विवादग्रस्त प्रश्न है, विशेषकर सार्वजनिक अथवा अशत सार्वजनिक उद्योगो के सम्बन्ध म। रेलवे, ट्राम्वे, जल तथा विद्युत् सप्लाई करने वाले वर्कशापो के बन्द होने से समाज का जीवनक्रम अस्तव्यस्त हो जाता है। जहाँ तक व्यक्तिगत स्वामित्व म चलने वाले उद्योग हैं और खासकर जो बुनियादी उद्योग नही हैं, उनम हडताल का अधिकार साधारणतया स्वीकार किया जाता है। सार्वजनिक उद्योगो म भी यदि मजदूरो के हडताल करने के अधिकार पर प्रतिबन्ध लगे तो न्याय की माँग है कि मजदूरो की शिकायतो पर ध्यान दिया जाए।

परन्तु कारण कुछ भी हो, औद्योगिक झगडो के फलस्वरूप हडताल से समाज

के जीवन पर बुरा प्रभाव पड़ता है। इसलिए सभी सम्बन्धित पक्षों का कर्तव्य है कि वे ऐसी अवस्थाएँ उत्पन्न करें जिससे हड़तालों की सम्भावना कम से कम हो जाए। और जब ऐसे औद्योगिक झगड़े उत्पन्न हो तो उनको निपटाने के लिए उचित व्यवस्था होनी चाहिए। इसलिए सबसे पहले झगड़ों के कारणों की जाँच की ज़रूरत होती है।

मोटे तौर पर औद्योगिक झगड़ों और श्रमिकों के असन्तोष के तीन कारण होते हैं—

(i) श्रमिकों की उच्च जीवन स्तर प्राप्त करने की आकांक्षा। इससे पर्याप्त मजदूरी देने की समस्या हल करने की आवश्यकता होती है। इस माँग को पूरा करने के लिए वेतन प्रणाली में कई प्रकार के परिवर्तनों का सुझाव दिया गया है और कई देशों में उनका प्रयोग करके देखा गया है। उदाहरण के लिए स्लाईडिंग स्केल सिस्टम (sliding-scale system), बोनस (bonus) व लाभ में सेयर देने की योजना (profit sharing schemes), निम्नतम वेतन निर्धारण आदि। इन उपायों का वर्णन अगले विभागों में किया जाएगा।

(ii) श्रमिकों की अधिक आर्थिक सुरक्षा की आकांक्षा। इससे बेकारी की समस्या का सम्बन्ध है। अध्याय के अन्तिम भाग में इस पर विचार किया जाएगा।

(iii) उद्योग के प्रबन्ध और नियन्त्रण में कुछ भाग लेने की मजदूरों की माँग। इसके लिए भी कई तरीके बताए गए हैं जिनका उल्लेख आगे के विभागों में किया जाएगा।

(iv) काम करने के घण्टों के प्रश्न पर भी झगड़े उठते हैं। परन्तु अब उन्हें कानून बनाकर निश्चित कर दिया गया है।

(v) कभी-कभी मजदूरों के नेता, या सर्वप्रिय मज़दूर का निकाला जाना अथवा श्रमिक संघ को अधिमान्यता न देने पर भी हड़तालें होती हैं।

अब हम श्रम सम्बन्धी झगड़ों की रोक थाम के उपायों पर विचार करेंगे।

५ लाभांश वितरण प्रणाली (Premium Bonus System)—लाभांश वितरण प्रणाली श्रम-काल (time rate system) तथा ठेके के आधार पर मजदूरी (piece rate system) देने के दोषों को दूर करने के लिए निकाली गई है। जब मजदूरी काम के समय के आधार पर दी जाती है, तो इस बात की आशंका रहती है कि मजदूर अपनी शक्ति भर काम नहीं करेगा। दूसरी ओर यदि ठेके के आधार पर मजदूरी दी जाती है, तो मजदूर काम में जल्दबाजी करके निम्न श्रेणी की वस्तु बना सकता है। चैपमैन (Chapman) के कथनानुसार, "लाभांश वितरण प्रणाली (Premium bonus system) में, जो कई प्रकार की है, इस बात की कल्पना की गई है कि उत्पादन के एक प्रामाणिक स्तर को स्वीकार किया जाए और उससे अतिरिक्त अधिक उत्पादन के लिए मजदूरी की घटी हुई अथवा अतिरिक्त उत्पादन की वृद्धि के साथ क्रमिक ढंग से घटती हुई दर मजदूरों को दी जाए। इससे मज़दूर को सीमा से अधिक काम करने पर रोक रहती है क्योंकि जैसे ही समय बीतता जाएगा, अतिरिक्त अर्जन की न्यूनता होती जाएगी। इस प्रकार जल्दबाजी और अत्यधिक जी तोड़ कार्य करने का

अवसर कम रह जाता है। इस प्रकार ठेके की दर (piece rate) के दोष उसके लाभो से बिना वंचित हुए दूर हो जाते हैं।

लाभांश वितरण प्रणाली के कई रूप हैं। कभी तो बोनस मज़दूर द्वारा उत्पादन के 'योग्यता स्तर' (efficiency rate) प्राप्त करने पर काम के घण्टों की दर के अतिरिक्त दिया जाता है। कुछ स्थानो म योग्यता स्तर निम्नतम होता है और उससे अधिक उत्पादन के लिए बोनस दिया जाता है। पहले प्रकार मे बोनस इसलिए दिया जाता है कि समय की बचत की जाती है और दूसरे म अतिरिक्त उत्पादन के लिए। पहले का उदाहरण अमरीका में प्रचलित हैलसे प्रणाली (Halsey System) है। उसमें जितना समय बचाया जाता है, उसके लिए साधारणतया प्रति घण्टे की निर्धारित मज़दूरी से आधी मज़दूरी प्रति घण्टे के अनुसार बोनस दिया जाता है। मान लीजिए कि एक कार्य को करने के लिए १० घण्टे नियत हैं और दर १० पेन्स प्रति घण्टा है। कोई मज़दूर उस कार्य को आठ घण्टे मे करता है तो उसे (१० × ८) पेन्स + (२ × ५) पेन्स का बोनस अर्थात् कुल योग ६० पेन्स मिलेंगे।[1]

६ विसृप वेतन श्रेणी या स्लाईडिंग प्रणाली (Sliding Scale)—इस योजना में मज़दूरी उत्पादित वस्तु की कीमत के परिवर्तन या निर्वाह व्यय (cost of living) या उद्योग द्वारा अर्जित लाभ के आधार पर घटती-बढ़ती है। जब मज़दूरी की दरो का सम्बन्ध कीमतो से होता है, तो कुछ आधारभूत कीमतें निश्चित कर ली जाती हैं। यदि वस्तु की कीमत बढ़ती है, तो एक अनुपात से मज़दूरी भी बढाई जाती है, यदि कीमत गिरती है तो मज़दूरी की दर भी गिरती है। परन्तु उसे एक निश्चित स्तर से नीचे नही गिरने दिया जाता। वैसी ही व्यवस्था निर्वाह-व्यय तथा लाभ में परिवर्तन होने पर की जाती है।

कभी कभी विसृप वेतन श्रेणी या स्लाइडिंग प्रणाली की आलोचना इस आधार पर की जाती है कि उस से मज़दूरो के वेतन में ऐसे कारणो से कमी हो सकती है जिनसे लाभ किसी प्रकार कम नही होता। उदाहरण के लिए उत्पादन के उन्नत साधनों के प्रयोग से, भाडा कम होने से, व्यापारिक खतरे कम होने आदि कई कारणो से कीमतें कम हो सकती है। ऐसी दशाओ म मज़दूरी कम करना न्यायसगत न होगा। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि व्यापार की अवस्थाओ मे अन्तर उपस्थित होते रहने पर बुनियादी दरो में भी बहुधा सशोधन करना चाहिए।

निर्वाह व्यय के आधार पर विसृप वेतन श्रेणी या स्लाइडिंग स्केल प्रणाली को लागू करने पर भी कई आक्षेप किए गए हैं, जिनमें सूचक अकों (index numbers) की अपूर्णता भी है और यह भी कि प्रणाली मे मज़दूरी स्थायी हो जाती है और उससे केवल कम वेतन वाले मज़दूरो को ही सुविधा मिलती है।

इन एतराजो का उत्तर यह दिया जाता है कि प्रणाली का उद्देश्य मुद्रा मे भुगतान की जाने वाली मज़दूरी की क्रय शक्ति को स्थिर रखना है। मज़दूरी की दरें बढाने के लिए तो मज़दूरो को अलग से अपने सगठनों और आर्थिक सघो के द्वारा जोर डालना चाहिए। स्लाईडिंग स्केल प्रणाली से मज़दूरी परिवर्तन कीमतो के अनुकूल होता

1 See S E Thomas, 1939, p 341

है और यह प्रणाली मजदूरों को, आवश्यक होने पर, मजदूरी की दर बढ़ाने के लिए जोर डालने को स्वतन्त्र छोड़े रहती है। इसके अतिरिक्त इन एतराज़ों को सूचक अंकों के सुधार तथा निर्वाह-व्यय में परिवर्तन होने पर पूर्ण रूप से उचित मुआवज़ा देकर दूर किया जा सकता है।

७ लाभ में शेयर (Profit Sharing)—इसमें मजदूरों को साधारण मजदूरी के अतिरिक्त उद्योग में होने वाले शुद्ध लाभ (net profit) का कुछ प्रतिशत भाग दिया जाता है। इसके लिए कई तरीके इस्तेमाल होते है, जिनम सबसे अधिक प्रचलित नकद बोनस (cash bonus scheme) देने का है। इसमें समय-समय पर मजदूरों में कारखाने के लाभ के एक निश्चित अंश को वितरित किया जाता है।

८ श्रम-सहभागिता (Labour Co-partnership)—यह प्रणाली लाभ में शेयर प्रणाली से मिलती जुलती है। केवल अन्तर यह है कि लाभ का भाग प्राप्त करने की प्रणाली म श्रमिको का उद्योग के नियन्त्रण में कोई हाथ नही रहता, परन्तु श्रम सहभागिता में एक सीमित अंश तक नियन्त्रण मे भी हिस्सा होता है। यह या तो शेयर (share) खरीदने के लिए प्रोत्साहित करके किया जाता है, जिसम श्रमिको को भागीदारो के साधारण अधिकार तथा उत्तरदायित्व प्राप्त होते हैं, अथवा सचालक मण्डल (Board of Directors) मे श्रमिको के एक या अधिक प्रतिनिधियो को नियुक्त करके किया जाता है। यह भेद इधर कई वर्षों से कम होता जा रहा है, क्योंकि श्रमिको तथा मालिकों, दोनो के प्रतिनिधियों की सम्मिलित समितियाँ लाभ का शेयर लेने (profit sharing) एव सह भागीदारी, दोनों बातो के देखने के लिए अधिकाधिक बनाई जा रही हैं। ये समितियाँ कारखाने के प्रबन्ध को देखने के लिए भी व्यापक अधिकारो का प्रयोग करती हैं।

लाभ का शेयर लेने की प्रणाली की उपर्युक्त आलोचनाएँ भागीदारी (co-partnership) प्रणाली पर भी लागू होती हैं। इसके अतिरिक्त इसमें यह भी दोष है कि यदि कारखाना बन्द हुआ तो श्रमिको की रोजी भी जाती है और साथ-साथ उनकी पूंजी भी और इस आक्षेप मे भी कुछ बल है कि मजदूरो के प्रतिनिधि सचालक सदस्य सदा ही अल्प सख्या में होते हैं।

लाभ का शेयर लेने की प्रणाली ने इगलैण्ड मे भी, जहाँ उसके प्रयोगो को पर्याप्त अवसर दिया गया, औद्योगिक झगड़ो की समस्या का सर्वथा समाधान नही किया। फिर भी योजना अभी प्रयोग की दशा में ही है और केवल सीमित क्षेत्र म ही लागू की गई है।

९ श्रम-परिषदें या कर्मशाला समितियाँ (Works Councils)—उद्योग के नियन्त्रण में श्रमिको के सहयोग पाने का एक तरीका, जिसका प्रयोग इगलैंड म किया गया, श्रम समितियो का है। इस योजना को सन् १९१७ मे ह्विटले समिति की रिपोर्ट (Whitley Committee Report) के पश्चात् तैयार किया गया। श्रम-समितियाँ श्रमिको तथा मालिको के समान प्रतिनिधियों को मिलाकर सगठित की जाती हैं। कहीं-कहीं उनमें केवल मजदूरो के प्रतिनिधि रहते हैं और उन्हें मालिको से प्रबन्ध के महत्वपूर्ण प्रश्नो पर विचार-विनिमय का अधिकार होता है। इसके अलावा, किसी

एक उद्योग के मालिको तथा मजदूरो के प्रतिनिधियो को मिलाकर जिला परिषदें (District Councils) भी बनाई जाती हैं।

श्रम-समितियाँ, जिन्हे ह्विटले समितियाँ भी कहते हैं, किसी सीमा तक मालिको और श्रमिको के बीच शान्ति और सद्भावना रखने में सफल हुई हैं। उनसे मजदूरो मे उत्तरदायित्व की भावना अधिक बढी, क्योंकि उद्योग के सचालन के हेतु किए गए निर्णयो पर प्रभाव डालने के लिए उन्हे अवसर दिया गया। झगडे अधिकाशत पारस्परिक विचार-विनिमय से हल हुए।

१० न्यूनतम मजदूरी (Minimum Wages)[1]—औद्योगिक झगडो को कम करने का एक तरीका पर्याप्त मजदूरी की व्यवस्था है। कानून के द्वारा न्यूनतम मजदूरी निर्धारित कर दी जाती है जिससे कम देना अपराध करार दिया जाता है। न्यूनतम वेतन कुछ चुने हुए उद्योगो म, जिन्हे श्रमशील धन्धे (sweated trades) कहा जाता है, निर्धारित किया जा सकता है अथवा उसे राष्ट्रव्यापी बनाया जा सकता है। पहले हम कुछ चुने हुए उद्योग लेंगे। मान लीजिए कि राज्य ने कुछ कठिन परिश्रम वाले उद्योगो म न्यूनतम मजदूरी निश्चित कर दी। इस प्रकार की नीति का मजदूर, मालिक तथा उपभोक्ता पर क्या आर्थिक प्रभाव होगा ?

मान लीजिए कि किसी एक अथवा कुछ उद्योगो में प्रतियोगिता स्तर से अधिक ऊँची न्यूनतम मजदूरी कानून या कार्मिक सघ के दबाव से निश्चित कर दी जाती है। सरकार मालिक को न्यूनतम मजदूरी देने के लिए बाध्य कर सकती है, परन्तु वह मालिक को सब श्रमिकों को काम म लगाए रखने के लिए बाध्य नही कर सकती। कुछ श्रमिको को काम से अलग किया जा सकता है और उनके स्थान पर अधिक कार्यकुशल श्रमिको को रखा जा सकता है। इस प्रकार न्यूनतम मजदूरी की योजना से उन्ही का हित नही होता, जिनके लिए वह लागू की जाती है। उससे केवल श्रमिको का पुनर्वितरण होता है।

साथ ही इस बात का भी खतरा रहता है कि सरकार द्वारा निर्धारित मजदूरी को मालिक अधिकतम मान कर चलें। इस प्रकार मजदूरी के स्तर म वृद्धि के स्थान पर घटने की नौबत आ जाती है।

यदि इस ऊँची दर को उपभोक्ताओ के सिर पर डाला जाता है तो वस्तु की कीमत बढ जाएगी और बेकारी नही होगी। परन्तु कीमत बढाना हर दशा में शायद सम्भव न हो क्योकि विदेशो म प्रतियोगिता हो सकती है अथवा उपभोक्ता उस वस्तु के स्थान पर दूसरी वस्तु से काम चला सकते हैं।

यदि मालिक साधारण लाभ ही कमा रहा है, तो भार उसके लाभ पर जाकर पडेगा, परन्तु अधिक दिनो तक यह नही चल सकता।

अन्तत, उद्योग के कम होने अथवा श्रम बचाने वाले यन्त्रो अथवा श्रम बचाने वाली उत्पादन प्रणालियो के परिवर्तित प्रयोग से बेकारी अवश्य होगी। स्टिगलर (Stigler) के शब्दो मे, 'न्यूनतम मजदूरी जितनी ऊँची होगी उतने ही अधिक सुरक्षित

1 See Stigler, G J "The Economics of Minimum Wage Legislation" in the American Economic Review, June 1946, pp 358 363

श्रमिक (covered workers) निकाले जाएँगे।" यह अनुमान किया जाता है कि न्यूनतम मजदूरी का मजदूरों के कुल नियोजन (employment) पर उलटा प्रभाव पड़ता है।

परन्तु तब वेकारी न होगी, जब कि मजदूरी कुल उत्पादन लागत का एक छोटा हिस्सा ही होगा। तब वस्तु की कीमत में हल्की सी वृद्धि करने से मालिक को बढ़ी मजदूरी देने से हुई हानि की क्षतिपूर्ति हो जाएगी।

इसी प्रकार उस समय भी बेकारी की नौबत नहीं आ सकती जब कि उत्पादक का सम्बन्धित उत्पादन पर एकाधिकार हो और उस वस्तु की मांग अपेक्षाकृत अपरिवर्तनशील हो, जैसे कि बिजली, पानी, गैस तथा अन्य सावजनिक उपभोक्ता वस्तुओं के विषय में है।

यदि न्यूनतम मजदूरी प्रतियोगिता स्तर (competitive level) से कम है, तो उन उद्योगों में अधिक लाभ की आशा और सम्भावना के कारण अधिक पूंजी लगाने को प्रोत्साहन मिलेगा। मजदूरों के लिए उनकी मांग बढ़ेगी। पर नए 'रगरूट' इन कामों से दूर रहने का यत्न कर सकते हैं। इस प्रकार अप्रत्यक्ष, मजदूरों की पूर्ति कम होने तथा अप्रत्यक्ष उनकी मांग अधिक बढ़ने से मजदूरी प्रतियोगिता स्तर पर आ सकती है।

यदि "श्रमशील धन्धों" में पहले बहुत अधिक लाभ कमाया जा रहा था तो न्यूनतम वेतन को प्रतियोगिता स्तर पर स्थिर करने से बेकारी नहीं होगी बरन् लाभ कम होकर साधारण स्तर पर आ जाएगा।

इस प्रकार यह दृढ़तापूर्वक नहीं कहा जा सकता कि न्यूनतम मजदूरी का प्रभाव श्रम पर क्या होगा? कुछ स्थितियों में यह लाभदायक होगा और कुछ में हानिकारक। हर स्थिति में उसके गुणावगुण (merits and demerits) के अनुसार विचार प्रकट करना पड़ेगा।

११ राष्ट्रीय न्यूनतम मजदूरी (The National Minimum Wage)—देश भर में सब उद्योगों के लिए न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करने का परिणाम और गम्भीर हो सकता है, विशेषकर यदि मजदूरी प्रतियोगिता के स्तर से अधिक ऊँची हो। इस दशा में सब मार्ग बन्द हो जाते हैं। श्रमिकों का एक उद्योग के स्थान पर दूसरे में लग जाना या श्रम का पुनर्वितरण नहीं हो सकता। हर जगह उन्हें कम कम यही मजदूरी देनी पड़ेगी।

ऊँचे मूल्यों से उसका प्रभाव नष्ट न हो जाए, इसलिए राष्ट्रीय न्यूनतम मजदूरी को वास्तविक न्यूनतम मजदूरी होना चाहिए, न कि निर्धारित द्रव्य मजदूरी। जब कीमतें बढ़ें तो न्यूनतम मजदूरी भी बढ़नी चाहिए।

चूंकि इस न्यूनतम मजदूरी से कम मजदूरी पर किसी मजदूर को कहीं भी नहीं रखा जा सकता, इसलिए एक उद्योग से निकाला गया मजदूर दूसरे में काम नहीं पा सकता। इस तरह काम से निकाले गए मजदूर तब तक स्थायी तौर पर बेकार बने रहेंगे जब तक कि वह या तो अपनी कार्यक्षमता नहीं बढ़ाते या न्यूनतम से कम मजदूरी पर काम करने को तैयार नहीं हो जाते।

इस भार को उपभोक्ताओ पर भी नही डाला जा सकता, क्योकि जब कीमते बढेगी तो फिर मजदूरी का स्तर भी बढाना होगा मजदूरी, वास्तविक मजदूरी न होगी। उत्पादन के तरीको को बदल देने से लाभ के स्तर को स्थिर नही रखा जा सकता, क्योकि श्रम बचाने वाली मशीनो तथा अन्य उपायो की भी कीमतें बढ जाएँगी। इसका परिणाम व्यापक बेकारी होगा और सभी प्रकार के उद्योगों में सकीर्णता आ जाएगी। इससे पूँजी के सचय और विनियोग में बाधा होगी।

इसके अतिरिक्त बेकारो को सार्वजनिक कोष से सहायता देनी होगी, जिसका परिणाम ऊँचे कर और उद्योगो पर और अधिक भार तथा और अधिक बेकारी होगी। इस प्रकार जहाँ उत्पादन म कमी होगी वहाँ बेकारो पर किए गए व्यय के कारण टैक्स बढेंगे। समाज अपनी पिछली बचत को व्यय करते हुए दिवालिएपन की ओर जाएगा, और यदि यह नीति बहुत अधिक दिनो तक बरती गई तो आर्थिक क्रिया के स्रोत सूखने लगेंगे।

परन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिए कि न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करना आवश्यक तौर पर मजदूरो की हानि करना है। कई परिस्थितियो म उससे अनिवाय रूप से लाभ हो सकता है —

(१) ऐसे उद्योगो म जहाँ बहुत बडी पूजी (large capital) लगी है और विशेष प्रकार के यन्त्र काम मे आ रहे ह, उद्योगपति कारखाना चालू रखने पर विवश होग, भल ही मजदूरी चुकाने म उनके लाभ कम हो जाएँ। ऐसी दशा म लाभ सकुचनशील (squeezable) होते हैं। मजदूरो को बेकारी का तात्कालिक खतरा हुए बिना न्यूनतम मजदूरी मिलती रह सकती है।

(२) यह सम्भव है कि बढी हुई मजदूरी का उपयोग मजदूर इस प्रकार करें कि उनकी कार्यपटुता बढ जाए। इससे उनकी उत्पादन शक्ति बढेगी और वे अधिक मजदूरी पाने के योग्य यदि पहले नही थे तो अब हो जाएँगे। तब मजदूरी वृद्धि का लाभ पर कोई बुरा प्रभाव नही पडेगा और तब पूँजी के हतोत्साह होने अथवा बेकारी बढने का खतरा न होगा।

(३) यह सम्भव है कि मजदूरो के गरीब और असगठित होने से मालिक उनका शोषण करते रहे हो। इस दशा म मजदूरी निश्चित करना, समय बीतने पर न्याय (belated justice) करने के समान होगा और मालिक का उन्हें काम से छुडाने का कोई कारण नही होगा।

(४) अन्त म, यदि किसी देश म बेकारी की सहायता की व्यवस्था है, तो मजदूरो को उतना कष्ट नही उठाना पडता। वे राज्य से भरण व्यय या खाने पीने का खर्च पाते है। उसका भार धनी कर दाताओ पर पडता है। इस तरह न्यूनतम मजदूरी निर्धारण धन को धनिको से लेकर गरीबो मे वितरण का साधन बन जाता है और आर्थिक तथा सामाजिक न्याय-स्थापना में सहायक होता है।

न्यूनतम वेतन का समर्थन निम्नलिखित ठोस आधारो पर किया जा सकता है। (क) इससे श्रमिको को उचित जीवन स्तर का आश्वासन होता है उनकी कार्य पटुता बढती है और गरीबी से उनका उद्धार होता है। (ख) इससे स्वार्थी मालिको

को, जो कि मजदूरों का शोषण करते तथा न्यूनतम मजदूरी देने से बचने के लिए श्रमिकों को एक उद्योग से दूसरे में बदलते हैं, स्वार्थपूर्ण तथा समाजविरोधी कार्यवाहियों की रोक होती है। (ग) इससे अयोग्य मालिकों का, जो कि न्यूनतम मजदूरी देने भर को भी अर्जन नहीं कर सकते, सम्बन्धित उद्योगों से निष्कासन होगा और औद्योगिक प्रबन्ध का स्तर ऊँचा होगा।

परन्तु यह स्वीकार करना चाहिए कि न्यूनतम मजदूरी निर्धारण से मजदूरी प्रणाली में कठोरता तथा लोचहीनता आ जाएगी, जिससे उत्पादन लागत का कीमतों से समायोजन (adjust) करना कठिन हो जाएगा। वस्तुत न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करना सरल नहीं है। यदि स्तर बहुत अधिक ऊँचा है तो उद्योग की प्रतियोगिता-शक्ति घट जाएगी और बेकारी बढ़ेगी। यदि वह नीचा होता है, तो श्रमिकों को कोई लाभ नहीं होता।

भारत में न्यूनतम मजदूरी अधिनियम (The Minimum Wages Act) १९४८ में पास हुआ। इस अधिनियम के अधीन केन्द्रीय अथवा राज्य सरकारें अपने कर्मचारियों की न्यूनतम मजदूरी निश्चित कर सकती हैं, इसमें क्लर्क भी शामिल हैं। ऐसा अनुसूचित रोजगारों (scheduled employments) में हो सकता है तथा समुचित शासन (appropriate government) इस कानून को किसी भी उद्योग में लागू कर सकता है। मजदूरी निश्चित करने में सलाह आदि के लिए सलाहकार समिति की नियुक्ति की जा सकती है। इस प्रकार निश्चित की गई दरों के पुनर्विलोकन के लिए एक अवधि निश्चित होती है जो पाँच साल से ज्यादा न हो। औद्योगिक श्रमिकों के लिए प्रत्येक राज्य में न्यूनतम मजदूरी की दर निश्चित है। जहाँ तक कृषि में लगे मजदूरों का प्रश्न है, उनके लिए न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करने के लिए एक अखिल भारतीय समिति की स्थापना की गई जो तत्सम्बन्धी आँकड़े एकत्रित करे। अधिकांश राज्यों में कृषक श्रमिकों की मजदूरी की दर निश्चित हो गई है।

भारत में १९४७ में औद्योगिक सम्मेलन में औद्योगिक सन्धि सकल्प (Industrial Truce Resolution) पास हुआ जिसमें उचित मजदूरी निश्चित करने की माँग की गई। सरकार ने इस सकल्प (resolution) को अपने १९४८ के औद्योगिक नीति विवरण (Industrial Policy Statement) में स्वीकार कर लिया। एक उचित मजदूरी समिति (Fair Wage Committee) की नियुक्ति की गई जिसने १९४९ में अपनी रिपोर्ट पेश की और इन सिफारिशों के आधार पर १९५० में एक अधिनियम का मसविदा (draft) तैयार किया गया। लेकिन वह बाद में व्यपगत (lapsed) हुआ। इस समिति के अनुसार उचित मजदूरी वह है जो न्यूनतम मजदूरी तथा निर्वाह मजदूरी (living wage) के बीच में बनती है, इसकी उच्चतर सीमा का निर्धारण उद्योग विशेष की बर्दाश्त करने की क्षमता से निश्चित होता है।

१२ औद्योगिक झगड़ों का निपटारा (Settlement of Industrial Disputes)—औद्योगिक झगड़ों को निबटाने के लिए दो उपाय होते हैं (i) समझौता (conciliation) तथा (ii) पंच निर्णय (arbitration)।

(i) समझौता (Conciliation)—इस उपाय की मुख्य बात यह है कि

मजदूरों तथा मालिकों के प्रतिनिधियों में स्वत बिना किसी बाहरी व्यक्ति की मध्यस्थता के अथवा मध्यस्थ की सहायता से समझौता हो जाता है। भारतवर्ष में सन् १६२६ के औद्योगिक विवाद कानून से सरकार ने यह अधिकार प्राप्त किया कि किसी एक पक्ष की प्रार्थना पर वह झगड़े की जांच के लिए एक समझौता बोर्ड (Conciliation Board) नियुक्त कर सकती है। परन्तु इस प्रकार की व्यवस्था से हड़तालें बिल्कुल ही असम्भव नहीं हो जाती, क्योंकि विशेष कर कार्मिक संघों में अविश्वास की भावना सदा बनी रहती है।

(ii) पंच-निर्णय (Arbitration)—इस प्रकार की व्यवस्था में झगड़े के निपटारा कराने का कार्य एक बाहरी व्यक्ति या मध्यस्थ समिति को सौंप दिया जाता है। पंच निर्णय ऐच्छिक (voluntary) हो सकता है, जैसा कि इंगलैण्ड में है, अथवा अनिवार्य, जैसा कि आस्ट्रेलिया और न्यूज़ीलैंड में है। ऐच्छिक पंच निर्णय में झगड़े को एक मध्यस्थ न्यायालय (Arbitration Court) में भेजा जाता है। न्यायालय के निर्णय को अधिकांशत मान लिया जाता है, परन्तु दोनों पक्षों के लिए मानने की बाध्यता नहीं होती। मध्यस्थ न्यायालय की रिपोर्ट प्रकाशित की जाती है और बहुत से मामलों में जनमत के दबाव से दोनों पक्षों को निर्णय मानना पड़ता है।

१३. बेकारी (Unemployment)—आधुनिक औद्योगिक देशों में मजदूरों के झगड़ों का सबसे बड़ा कारण रोजगार की अनिश्चितता है। बेकारी का भय श्रमिकों के सामने सदा बना रहता है। इसे प्रगति की 'काली छाया' (shadow side of progress) कहा गया है।

पारिभाषिक रूप से बेकारी ऐसी दशा है जब कि किसी देश में कार्य-क्षम आयु के शारीरिक-सामर्थ्य-सम्पन्न व्यक्तियों की एक बड़ी संख्या काम करने के लिए प्रस्तुत है, परन्तु उसे प्रचलित मजदूरी की दरों पर काम नहीं मिल पाता। वह लोग जो शारीरिक अथवा मानसिक दुर्बलता के कारण कार्य करने में असमर्थ हैं, अथवा जो काम करना ही नहीं चाहते, जैसे साधु, उनकी गणना बेकारों में नहीं की जाती।

किसी उत्पादक कार्य में संलग्न होना ही बेकारी का बिलकुल अभाव नहीं माना जाता। जो लोग केवल थोड़ा समय कार्य करते हैं अथवा अपनी योग्यता से नीचे का काम करते हैं, उन्हें पर्याप्त रूप से कार्य संलग्न नहीं कहा जा सकता। इसे न्यून-नियोजन (under-employment) की दशा कहते हैं। यह भी देश की समृद्धि के लिए समान रूप से अहितकर है। पूंजीवादी देशों में बेरोजगारी का होना अनिवार्य है। वहां अधिक से अधिक जो किया जा सकता है, वह है बेकारों की संख्या को यथासम्भव कम करना।

१४. बेरोजगारी के कारण (Causes of Unemployment)—चैपमैन (Chapman) ने बेरोजगारी के वस्तुपरक तथा आत्मपरक (objective and subjective) कारणों में अन्तर किया है। आत्मपरक कारण व्यक्ति के शारीरिक और मानसिक दोषों से होते हैं चाहे वह जन्मजात हों अथवा बाद में पैदा हुए हों, उपचार योग्य हों या लाइलाज। वस्तुपरक कारण ऐसी स्थितियों से उत्पन्न होते हैं जिन पर व्यक्ति का कोई नियन्त्रण अथवा अधिकार नहीं होता। ये कारण इस प्रकार हैं—

(i) व्यापार चक्र (Trade Cycles)—इसका विस्तृत अध्ययन एक पृथक् अध्याय में किया जाएगा।[1] यहाँ केवल इतना कहना ही काफी होगा कि व्यापार सम्बन्धी अवसाद या मन्दी (depression) साधारणतः एक निश्चित काल के बाद आती है। मन्दी के समय व्यापारिक क्रिया धीमी हो जाती है और बेरोजगारी (unemployment) बढ़ती है। कुछ लोगों का काम छूट जाता है और कुछ को केवल आंशिक काम मिलता है।

(ii) मौसमी मांग (Seasonal Demand)—कई आर्थिक चेष्टाएँ मौसमी होती हैं। मन्दी के मौसम में मजदूरों की मांग कम हो जाती है और उसका परिणाम बेरोजगारी होना है। उदाहरण के लिए बर्फ के कारखानों में केवल गर्मी की ही ऋतु में काम होता है खेतों में भी काम फसल के समय होता है। तीन महीने से पाँच महीने तक हमारे कृषकों को विवशन बेकार रहना पड़ता है।

(iii) औद्योगिक परिवर्तन (Industrial Changes)—इसमें नई रीतियों का प्रयोग निहित है। चूँकि उत्पादन प्रणाली में धीरे-धीरे परिवर्तन होता है, इसलिए बहुत से मजदूर एक साथ रोजगार से जुदा नहीं होते। परन्तु यदि ऐसे परिवर्तन शीघ्र होते हैं, तो बहुत से लोग बेकार हो जाते हैं। इंगलैंड की औद्योगिक क्रान्ति के फल स्वरूप सस्ते सामान ने भारतीय बाजारों को पाट दिया इसलिए स्वदेशी उद्योगों में लगे लोग बेरोजगार हो गए।

(iv) आकस्मिक या सामयिक श्रम (Casual Labour)—आकस्मिक या सामयिक श्रम का आशय उस श्रम से है जो थोड़े समय के लिए विविध प्रकार के कार्यों में लगे रहते हैं जैसे बन्दरगाह पर माल लादने या उतारने का काम। ऐसे लोगों को तब तक काम मिलता है जब तक व्यापार चालू रहता है। उन्हें निरन्तर एक काम को छोड़ कर दूसरे काम को करना पड़ता है। बहुत से आलसी लोग अस्थायी कार्य करना पसन्द करते हैं अथवा जो इस तरह का कार्य करते हैं, वे आलस्य की ओर प्रवृत्त होने लगते हैं। काम मिलने और करने में अनियमितता की इससे वृद्धि होती है।[2]

(v) सामाजिक समयान्तर (Social Time-lag)—सामाजिक समयान्तर वह समय है जो एक मजदूर को एक काम छोड़ कर दूसरे काम के ढूँढने में लगता है। यह समयान्तर मन्दी के समय अधिक और व्यापार के वृद्धिकाल में कम होता है। काम करने वाले की प्रकृति तथा उसके आर्थिक वातावरण से भी समयान्तर में भेद हो सकता है। यह बिल्कुल सम्भव है कि एक ओर मजदूर बेकार हों और दूसरी ओर मजदूरों की कमी हो। ऐसी स्थिति काम चाहने वालों तथा मजदूर चाहने वालों में सम्पर्क की कमी से पैदा होती है।

(vi) ऊँची मजदूरी (High Wages)—यह भी कहा जा सकता है कि श्रमिक संघ की कार्यवाही से भी बेकारी हो सकती है। यदि संघ ऐसी मजदूरी की दर स्वीकार कराने में सफल होते हैं जो कि सीमान्त उत्पादन शक्ति के हिसाब से अधिक है, तो आगे या पीछे मजदूरों को काम से अवश्य अलग किया जाएगा। ऐसा तब भी

1 Chapter XLI

2 Chapman, Op Cit, p. 301.

होगा जबकि न्यूनतम मजदूरी, जो कि मजदूरों की उत्पादन शक्ति से अधिक है; कानून द्वारा देना अनिवार्य की जाएगी, परन्तु जिसका देना उद्योग की सामर्थ्य के बाहर है।

(vii) सम्पत्ति में वृद्धि (Growth of Wealth)—कीन्स (Keynes) के अनुसार बेरोजगारी सम्पत्ति वृद्धि के परिणामस्वरूप भी हो सकती है। आय की वृद्धि के साथ लोगो मे उसके क्रमश कम अश को तात्कालिक उपभोग मे व्यय करने की प्रवृत्ति होती है। इससे उपभोग्य वस्तुओ की माँग कम होती है और इससे उन वस्तुओ के बनाने वाले व्यवसायियो का लाभ भी कम होने लगता है। इसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप उत्पादक उत्पादन के साधनो पर, जिसमे श्रमिक भी शामिल होते हैं, कम व्यय करना चाहते हैं और मजदूरो की सख्या कम करने लगते हैं।

(viii) जनसख्या में वृद्धि (Growth of Population)—यदि किसी देश में पूँजी के अनुपात मे जनसख्या की वृद्धि अधिक तीव्र है, तो वहाँ बेकारी फैलेगी। भारत इसका उदाहरण है। भारत में बढती हुई जनसख्या को वैकल्पिक रोजगार देने की सम्भावनाएँ अत्यन्त सीमित है।

१५. बेकारी दूर करने के उपाय (Remedies for Unemployment)—आर्थिक योजना (economic planning) तैयार करना और तदनुसार देश का आर्थिक विकास बेकारी दूर करने का सब से अच्छा उपाय है। सुनियोजित अर्थ-व्यवस्था मे बेकारी की कोई गुंजाइश नहीं रहती। सन् १९२९-१९३४ की व्यापारिक मन्दी के समय अमेरिका मे ४० लाख आदमी और ब्रिटेन म २५ लाख आदमी बेकार थे; परन्तु उसी समय रूस की आयोजित अर्थ व्यवस्था में एक व्यक्ति भी बेकार नही था।

परन्तु यदि किसी कारण समाजवादी ढग की योजना न हो सके तो पूँजीवादी व्यवस्था म भी बेकारी को कम करने के लिए कई उपाय किए जा सकते हैं। ये निम्न-लिखित हैं—

(i) रोजगार के दफ्तरो की स्थापना (Establishment of Employment Exchanges)—ये सस्थाएँ एक ओर बेकार व्यक्तियो के नाम, उनकी योग्यताएँ तथा काम देने वाले मालिको की आवश्यकताएँ रजिस्टर में लिखती जाती हैं। इस प्रकार वे उन लोगो मे जो कि काम की तलाश मे रहते हैं और जिन्हे मजदूरो की जरूरत रहती है, सम्पर्क स्थापित कराते हैं। इन सस्थाओ से कुछ और भी लाभ होते हैं। वे एक काम से दूसरे काम पाने के बीच के समय को कम करने में सहायक होते हैं और साथ ही मजदूरो को अपनी कार्य-पटुता बढाने के अवसरो की सूचना भी प्रदान करते हैं। वे स्कूल के बाद शिक्षा जारी रखने अथवा शिल्प-शिक्षण पाने के विषय मे भी परामर्श दे सकते हैं। अस्थायी कार्य करने वालो को स्थायी कार्य दिलाने में भी उनसे सहायता मिलती है।

(ii) व्यापार चक्र द्वारा उत्पन्न बेकारी का निराकरण दो प्रकार से हो सकता है। (क) मजदूरो की घटती हुई माँग को सब प्रभावित व्यवसायों मे वितरित करके। (ख) श्रम की सार्वजनिक माँग को क्षति-पूर्ति का साधन बनाकर। जहाँ तक पहले उपाय का सम्बन्ध है, मजदूरो की माँग का वितरण उद्योग को कम समय तक चला

कर या काम के घण्टे कम करके किया जा सकता है। चैपमैन का मत है कि "यह अधिक अच्छा होगा कि एक उद्योग में लगे हुए सब कर्मचारी कम काम करें और कम कमाएँ, बजाए इसके कि कुछ कर्मचारी कुछ भी न कमाएँ।"[1] कुछ अर्थशास्त्रियो का सुझाव है कि मालिक सारी मजदूरी श्रमिक सघो (labour unions) को दे दें, जो सब श्रमिकों को नियमित रूप से मजदूरी दें।

दूसरे उपाय के विषय म, मजदूरी की सार्वजनिक (सरकारी) माँग अन्य उद्योगो की माँग के विपरीत होनी चाहिए। उदाहरणार्थ, विभिन्न प्रकार के निर्माण कार्य जैसे रेल, सडकें, सरकारी इमारतें आदि व्यापारिक मन्दी के समय शुरू होने चाहिएँ क्योंकि ऐसे समय निजी उद्यम (private enterprise) शिथिल अवस्था मे होते हैं। इससे केवल उन कार्यों म लगे हुए लोगों को ही काम न मिलेगा वरन् व्यक्तिगत उद्योगों को भी प्रोत्साहन मिलेगा, क्योंकि निर्माण काम से सम्बन्धित अनेक वस्तुओं की माँग बढेगी। इससे आर्थिक सक्रियता म तेजी आ सकती है। इसके विपरीत व्यापार के तेजी काल म सार्वजनिक अधिकारियों को यथासम्भव बडी योजनाओं को चालू न करना चाहिए। इसम विशेष योजना बनाने की जरूरत पडती है, जिससे कि विशेष सस्थाएँ जैसे राष्ट्रीय रोजगार समिति तथा विकास बोर्ड (National Employment Committee and Development Board) बनाए जाएँ जो कि सार्वजनिक व्यय सम्बन्धी सहायक (compensatory) योजनाएँ तैयार करें।

(iii) सामयिक या ऋतु विशेष की बेकारी एक व्यापार को दूसरे से मिलाने से दूर हो सकती है। शिथिल काल में सग्रह हेतु सामग्री निर्मित की जा सकती है अथवा सामग्री पूर्ति के अग्रिम आर्डर लिए जा सकते हैं और काम को वर्ष भर चलाया जा सकता है।

जहाँ तक काम करने के लिए असमर्थ लोगो का सम्बन्ध है, उनको कई प्रकार से सहायता की जा सकती है। पहले, जो शराबी हैं, आवारा हैं या अन्य प्रकार से सामाजिक परोपजीवी (social parasites) हैं उनके सुधार की चेष्टा की जानी चाहिए। उन लोगों की, जो किसी शारीरिक रोग से असमर्थ हो गए हैं, यदि उनका रोग अच्छा होने लायक है, तो उसकी व्यवस्था करनी चाहिए।

बेकारी के कष्ट निवारण की एक अलग समस्या है। इससे हम सामाजिक सुरक्षा योजना की समस्या पर पहुँचते हैं जिसका क्षेत्र न केवल बेकारी को ही वरन् मजदूरों एव उनके परिवारो की अन्य कठिनाइयो को भी दूर कर सकता है।

भारत मे पचवर्षीय योजनाओं को प्रारम्भ करके देश से बेरोजगारी हटाने का कार्यक्रम तैयार किया गया है। भारत की जनसख्या मे ४५ लाख व्यक्ति प्रति वर्ष की वृद्धि हो रही है। इन में से ४० प्रतिशत व्यक्ति प्रत्येक वर्ष रोजगार की तलाश म पैदा होते रहते हैं। इस आधार पर प्रथम पचवर्षीय योजना काल में १० लाख रोजगार के अवसर पैदा करने चाहिएँ थे। किन्तु श्री सी० डी० देशमुख के अनुसार हम शायद प्रथम योजना काल में ५० लाख रोजगार के अवसर ही उपलब्ध करा सके। सम्पूर्ण प्रथम योजना काल म रोजगार के दफ्तरो में बेकारो की सख्या में

1 Chapman, Op Cit, p 358

निरन्तर वृद्धि होती रही। इस प्रकार जिस अनुपात में हमारी जनसंख्या बढती रही और रोजगार की माँग बढती रही उस अनुपात में हम श्रमिको को काम या रोजगार नही दे सके।

हमारी द्वितीय पचवर्षीय योजनाका उद्देश्य है कि हम कृषि को छोडते हुए लगभग एक करोड अतिरिक्त व्यक्तियो को रोजगार दे सकें। यद्यपि द्वितीय पचवर्षीय योजना से देश की बेकारी की समस्या का काफी समाधान होगा; फिर भी सम्पूर्ण योजना-काल में हमको पर्याप्त सावधानी बरतनी होगी। भारत की वर्तमान अर्थव्यवस्था का मौलिक सम्बन्ध हमारी व्यापक बेरोजगारी से है। योजना आयोग ने कहा है—"यद्यपि द्वितीय योजना के दौरान मे रोजगार के अतिरिक्त अवसर अवश्य प्रदान किए जाएँगे, फिर भी हम नही कह सकते कि बेरोज़गारी या अर्द्ध-बेकारी की समस्या को द्वितीय पचवर्षीय योजना कहाँ तक हल कर सकेगी।"

१६. सामाजिक बीमा (Social Insurance)—सामाजिक बीमा, कोहोन (Cohon) के शब्दो मे, "बीमा के सारे क्षेत्र का वह भग है, जिसमें मजदूरो की उन सकटों से रक्षा होती है, जिनमें या तो वह ऐसा रोजगार पाने में असमर्थ रहता है, जिसमे वह अपने एव अपने परिवार का सन्तोषजनक जीवन-निर्वाह कर सके अथवा शारीरिक असमर्थता के कारण काम ही नही कर सकता।" ऐसे मुख्य खतरे (क) अस्थायी असमर्थता जैसे दुर्घटना, रोग अथवा बेकारी (ख) अयोग्यता अथवा बुढापे के कारण स्थायी असमर्थता, तथा (ग) मृत्यु, जिसमे विधवाओ अथवा बच्चो के लिए कोई भविष्य निधि नही छोडी गई है, से उत्पन्न होते हैं।

सामाजिक बीमे की परिभाषा इस प्रकार है कि "यह एक सहकारी युक्ति है, जिसका उद्देश्य बेरोज़गारी, बीमारी तथा दूसरे आपातकालो में बीमा कराए हुए लोगो के लिए उचित सहायता का प्रबन्ध करना है, जिससे न्यूनतम जीवन-निर्वाह-स्तर सुनिश्चित हो सके। ऐसी सहायता त्रिपक्षीय (tripartite) निधि से मिले जिसे श्रमिकों के, मालिको के तथा राज्य (सरकार) के अशदान से मिला कर बनाया जाता है। साथ ही ऐसी सहायता बिना किसी साधन-परीक्षा के, उन व्यक्तियों को अपने अधिकार के रूप मे मिले।"

उपर्युक्त परिभाषा के आधार पर हमें सामाजिक बीमे के सम्बन्ध में मुख्य बातें सहज म ही मालूम हो जाती हैं। वे इस प्रकार हैं—(i) सामाजिक बीमे का उपबन्ध अनिवार्य रूप से होता है, (ii) यह सभी दलों की ओर से अशदान के रूप में है, (iii) इससे प्राप्त होने वाली सुविधाएँ अधिकार-स्वरूप मिलती हैं तथा उनके आत्म-सम्मान को कोई ठेस नही पहुँचती तथा (iv) सुविधाओ को सीमा मे रखने के लिए वे सिर्फ न्यूनतम जीवन-निर्वाह स्तर बनाए रखने के लिए होती हैं। इसके अलावा, श्रमिको का अशदान इतना होता है जिसकी अदायगी वे अपनी सामर्थ्य के अनुसार कर सकें। यह बात ध्यान देने योग्य है कि सामाजिक बीमा आपातकाल (emergency) में सहायता तो कर सकता है लेकिन आपातकाल की स्थिति पैदा होने से रोक नही सकता।

१७. सामाजिक सुरक्षा (Social Security)—आधुनिक राज्यो की आर्थिक चेष्टाओ के अन्तर्गत 'सामाजिक सुरक्षा' वाक्यांश बहुत प्रचलित हुआ है। यह 'सामाजिक बीमा' वाक्यांश की अपेक्षा अधिक व्यापक है। उपर्युक्त वर्णित सामाजिक बीमा के अलावा इसमें सामाजिक सहायता (social assistance) भी शामिल है। सामाजिक बीमा उनकी सुविधा के लिए है जो अशदान देते हैं और इसकी (सुविधा की) अधिकार रूप में मांग कर सकते हैं। इसके विपरीत सामाजिक सुरक्षा का उपबन्ध सरकारी निधि मे से सरकार की ओर से मुफ्त होता है। सामाजिक बीमे मे सहायता पाने वालो के साधनो की परीक्षा की आवश्यकता नही है, किन्तु सामाजिक सहायता सिर्फ उन्हे दी जाती है जो कुछ निर्दिष्ट शर्तें पूरी करते हैं।

कई जोखिमो (risks) का सर्वोत्तम सरक्षण तो सामाजिक बीमे के अन्तर्गत ही होता है। लेकिन कुछ आकस्मिकताएँ सामाजिक सहायता के लिए ही उचित हैं। प्राय, यदि सामूहिक निधि के दुरुपयोग की आनका है, अथवा गलत दावो का डर रहता है तो ऐसी स्थिति में सामाजिक बीमा ही सर्वोत्तम है। सामाजिक बीमे के अन्तर्गत, बेकारी, बीमारी, वार्धक्य आदि का उपबन्ध होता है। इसके विपरीत सामाजिक सहायता का सम्बन्ध अस्पतालो, सेनिटोरियो, प्रसूति-केन्द्रो, बाल-कल्याण केन्द्रो तथा स्कूल आदि सस्थाओ से है। किसी देश की सामाजिक सुरक्षा प्रणाली वहाँ की सामाजिक बीमा तथा सामाजिक सहायता योजनाओ को मिलाकर बनती है।

सामाजिक सुरक्षा की भावना का उदय राज्य (सरकार) के इस दायित्व के प्रति सजग होने से हुआ कि कुछ आपदाओ से बचाने के लिए नागरिको का उचित उपबन्ध होना चाहिए। इससे पूर्व राज्य गरीब नागरिको के अभाव तथा निर्धनता का उपबन्ध मात्र करके अपने कर्त्तव्य को पूरा हुआ मानता था। युद्धोत्तर-काल में, इस बात पर विशेष रूप से विचार किया गया कि जन-साधारण का कल्याण किया जाए, और उसकी मजदूरी तथा निधनता से पैदा होने वाली अनेको चिन्ताओ का निवारण किया जाए। तदनुसार, सयुक्त राज्य अमरीका, ब्रिटेन, कनाडा तथा न्यूजीलैंड आदि देशो म तथा दूसरे देशों मे भी जहाँ जनसाधारण के कल्याण की ओर ध्यान दिया जाता था, सामाजिक बीमा तथा सामाजिक सुरक्षा जैसी बडी-बडी योजनाओ का सूत्रपात किया गया। कई देशो में इस ओर बहुत काम हुआ जिनम ब्रिटेन की बैवरिज योजना (Beveridge Scheme), कनाडा की सामाजिक सुरक्षा के लिए मार्श रिपोर्ट (Marsh Report) तथा सयुक्त राज्य अमरीका का मरे डिंगल विधेयक (Murray Dingell Bill) विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं।

किन्तु भारत मे सामाजिक सुरक्षा के क्षेत्र मे इतना काम नही हुआ जितना जरूरी था। इसका एक मुख्य कारण तो यह है कि हमारा देश एक उप महाद्वीप के समान बडा है और यहाँ की विशाल जनसख्या तथा लोगो की गरीबी किसी भी ऐसी योजना के लिए बाधक सिद्ध होती है जिसे अशदान के आधार पर चालू किया जाए। इसलिए काफी अर्से तक सामाजिक बीमा योजना सिर्फ बौद्धिक स्तर पर सोच-विचार और वाद-विवाद का विषय बनी रही। बेवरिज योजना के प्रकाशित होने से भारत में बडी रुचि उत्पन्न हुई। स्वाधीनता के आगमन, श्रमिक वर्ग मे चेतना उत्पन्न होने

तथा साम्यवादी विचारो के प्रसार से भारत मे भी सामाजिक सुरक्षा के उपायो को लागू करने की ओर विशेष ध्यान दिया जाने लगा। भारत मे मजदूरी कम है, रोग आदि का प्रकोप अधिक होता है, बेकारी बडे पैमाने पर फैली है तथा जीवन स्तर बहुत गिरा हुआ है। श्रमिक अपनी सारी आय से दैनिक जरूरियात की वस्तुएँ कठिनाई से जुटा पाता है। ऐसी दशा में उसके लिए यह असम्भव है कि वह कुछ बचा पाए और विभिन्न आकस्मिकताओ का उपबन्ध कर सके। इस कारण से सामाजिक सुरक्षा योजना भारत के लिए बहुत जरूरी हो जाती है।

श्रमिक को जिन आकस्मिक कठिनाइयो का अपने जीवनकाल मे सामना करना पडता है, उनमे से किसी के भी पूरे-पूरे निवारण का उपबन्ध नही हुआ है। यह सही है कि औद्योगिक दुर्घटनाओ की क्षतिपूर्ति के लिए अधिनियम (Acts) बने हैं, साथ ही प्रसूति सहायता तथा हाल ही में स्वास्थ्य बीमा योजनाएँ भी बनी हैं। लेकिन उन्हे किसी भी रूप से सामाजिक सुरक्षा योजना नही कहा जा सकता। इस ओर १९४८ में कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम (Employees' State Insurance Act, 1948) तथा कर्मचारी भविष्य निधि अधिनियम, १९५२ पास करके कुछ काम हुआ है। इसमें पहले का वित्तपोषण कर्मचारी राज्य बीमा निधि से होगा जिसे मालिको तथा कर्मचारियो के अशदानो और केन्द्रीय तथा राज्य सरकारो के अनुदानों (grants) से मिला कर बनाया जाता है। प्रशासकीय खर्चे (administrative expenses) के दो-तिहाई के लिए केन्द्रीय सरकार पहले पांच सालो के लिए प्रतिवर्ष अनुदान देती है और साथ ही राज्य सरकारो को औषधीय खर्चों की लागत का भार उठाना पडता है। मालिको तथा कर्मचारियो के द्वारा साप्ताहिक अशदान की एक निश्चित रकम दी होती है। बीमारी, प्रसूति, अगहानि (disablement), आश्रितो को सहायता तथा औषधीय सहायता आदि के लिए सहायता का उपबन्ध है।

१९५६-५७ में कर्मचारी राज्य बीमा निगम (Employees' State Insurance Corporation) की रिपोर्ट म बताया गया था कि समस्त फैक्टरी श्रमिकों में से प्राय आधे (लगभग-१३ लाख) श्रमिको को बीमा योजना सम्बन्धी सुरक्षा प्रदान कर दी गई है। कर्मचारी भविष्य निधि अधिनियम (Employees' Provident Fund Act) के उपबन्धों के अनुसार श्रमिको और मालिको को एक आना प्रति रुपया (६¼%) जमा करना पडता है। १९५८ मे ६¼% के बजाय अशदान की दर ८⅓% कर दी गई। प्रारम्भ म उक्त अधिनियम उन्ही मुख्य उद्योगो वाली फैक्ट्रियो पर लागू होता था जिनम ५० या इससे अधिक श्रमिक काम करते थे। १९५६ में उक्त अधिनियम म सुधार हुआ। अब यह योजना फैक्ट्रियो के अतिरिक्त अन्य सस्थाओ और निकायो पर भी लागू हो सकती है। अब रोपण सस्थाओ पर भी उक्त अधिनियम लागू है। ३१ मई १९५७ के बाद से तो ३०० रुपए और ५०० रुपए के बीच की आय वाले कर्मचारियो पर भी उक्त योजना लागू हो गई है। १९५८ से उक्त अधिनियम के अन्तर्गत ६२१५ कारखानो के या अन्य निकायो के प्राय २८ लाख कर्मचारियो को लाभ प्राप्त हो रहा है।

अब यह आशा की जाती है कि इस प्रकार के प्रारम्भिक सामाजिक सुरक्षा के उपायो मे भविष्य के लिए सामाजिक सुरक्षा की व्यापक योजना तैयार करना सम्भव होगा।

निर्देश पुस्तकें

Keynes, J M General Theory of Employment, Interest and Money.

Davison, Sir R Social Security

Beveridge, W Social Security Scheme

Hicks, J. R Theory of Wages, 1932

Dobb, M. Wages (Rev Edition), 1946

Industrial Relations Handbook (His Majesty's Stationery Office).

Meyers, A L Elements of Modern Economics, 1951, Ch 16

Tarshis L Elements of Economics, 1946, Ch 39

अध्याय २८

ब्याज

(Interest)

१ सकल तथा शुद्ध ब्याज (Gross and Net Interest)—उधार ली गई रकम के उपभोग के एवज म दी जाने वाली कीमत ब्याज है। सामान्य रूप से ब्याज उधार दी गई राशि पर प्रतिशत के अनुसार लगाया जाता है। अधिकतर ब्याज कही जाने वाली राशि पूंजी की सेवाओ की कीमत नही होती। प्राय ब्याज कही जाने वाली चीज वास्तव में सकल ब्याज है। जैसा कि नीचे बताया गया है, शुद्ध ब्याज सकल ब्याज का छोटा सा अश होता है। ब्याज की दर म फर्क से इसी तथ्य का पता चलता है। विभिन्न कार्यों में शुद्ध ब्याज की प्रवृत्ति समान होने की होनी है यदि प्रतियोगिता (competition) खुली और पूर्ण रहे।

ऋणी साहूकार को जो पूरी रकम चुकाता है, उसे सकल ब्याज कहते हैं। परन्तु ऋणी जो सब रकम साहूकार को देता है, वह शुद्ध ब्याज नही होता, अर्थात् पूंजी की सेवाओ की कीमत नही होती। उसम अनेक अन्य अशो का समावेश होता है जिनम से शुद्ध ब्याज केवल एक अंश होता है। इसलिए सकल ब्याज में निहित तत्त्वो का विश्लेषण आवश्यक है। वे निम्नलिखित हैं

(क) शुद्ध ब्याज (Pure Interest)—यह पूंजी अथवा उधार ली हुई रकम की सेवाओ के बदले की कीमत होती है।

(ख) जोखिम या खतरे के लिए बीमा (Insurance against Risk)—ऋणदाता जब रुपया उधार देता है तो वह कुछ खतरा उठाता है। इन खतरो के बदले में उसे कुछ रकम मिलनी चाहिए। यह खतरे दो प्रकार के होने हैं (i) व्यक्तिगत जोखिम जो ऋण लेने वाले के चरित्र की अविश्वसनीयता के कारण होते हैं, और दूसरे (ii) व्यापारिक जोखिम जो रुपया लगाए जाने वाले किसी व्यवसाय के चढाव-उतार के कारण हो सकते हैं। इस प्रकार ऋणदाता को एक तो यह भय हो सकता है कि ऋण लेने वाला शायद उसका रुपया और ब्याज वापिस न करे अथवा कर्जदार व्यापार मैं ही घाटा खा जाए। जितना ही अधिक इन बातो का भय होगा, उतना ही अधिक बीमा (insurance money) के रूप में ऋणदाता लेना चाहेगा।

(ग) प्रबन्ध की मजदूरी (Wages of Management)—भुगतान का कुछ अश प्रबन्ध की मजदूरी के रूप म हो सकता है। ऋणदाता को हिसाब किताब रखना पड़ता है और थोड़े थोड़ समय के लिए ऋण देने की व्यवस्था करनी पड़ती है, इस तरह रुपया उधार देना या साहूकारी करना उसका पूरे समय का धन्धा हो जाता है।

(घ) फिर, असुविधाओ के बदले में भी कुछ भुगतान होता है। जब कोई अपना रुपया दूसरे को उधार देता है, तो एक अवधि तक वह उस रुपये के अधिकार से

वंचित हो जाता है। ऐसी दशा मे लाभकारी अवसर (सयोग) हाथ से निकल सकते हैं। इस प्रकार की हानियों के लिए उसे क्षतिपूर्ति या मुआवजे के रूप मे भी कुछ मिलना चाहिए। इसलिए वह शुद्ध ब्याज के अतिरिक्त भी कुछ वसूल करता है।

२ ब्याज की दरों में अन्तर (Differences in Interest Rates)—ब्याज की दरों में कई प्रकार के अन्तर होते हैं, जिसके मुख्य कारण निम्नलिखित हैं—

(क) दूरी के कारण अन्तर (Differences due to Distance)—लोग दूरी की अपेक्षा निवास के निकट ही रुपया लगाना अधिक पसन्द करते हैं। इससे पूँजी की अपेक्षाकृत गतिहीनता के कारण माँग और पूर्ति म अन्तर पैदा हो सकता है।

(ख) समय का अन्तर (Differences due to Time)—यदि लोगों को अधिक लम्बे समय के लिए अपना रुपया देना पड़ता है, तो वे अन्य खतरों एव असुविधाओं के होने पर भी ब्याज की अधिक ऊँची दर पाने की आशा करते हैं।

(ग) ऋण की मात्रा में अन्तर (Differences due to the Amount of Loans)—साधारणतया ब्याज की दर और ऋण की मात्रा में विपरीत सम्बन्ध है। जब ऋण की रकम अधिक होती है तो ब्याज की दर कम होती है।

सकल ब्याज म उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त निम्नलिखित कारणों से भी अन्तर हो सकता है।

(i) सामाजिक सम्मान में अन्तर (Differences in Social Esteem)—ईमानदारी के लिए अधिक विख्यात व्यक्ति नीची ब्याज की दर पर ऋण ले सकता है।

(ii) उत्पादन शक्ति में अन्तर (Differences in Productivity)—जहाँ पर उत्पादक को पूँजी से अधिक लाभ हो सकता है, वहाँ वह अधिक ब्याज देने के लिए प्रस्तुत होगा। परन्तु ऐसे व्यापार अधिकाशत सट्टेबाजी के होते हैं और ऊँचा ब्याज अधिक खतरों के कारण ही होता है। इसलिए ब्याज की दरों का अन्तर रुपया उधार देने के खतरों एव असुविधाओं के आधार पर होता है। इसका अपवाद केवल तब होता है, जब हम किसी एक ही बाजार से व्यवहार नही करना होता। एक ही बाजार में शुद्ध ब्याज की दर लगभग एक ही होती है।

ब्याज के सिद्धान्त
(Theories of Interest)

१ ब्याज का उत्पादन सिद्धान्त (Productivity Theory of Interest)—ब्याज के स्पष्टीकरण के लिए कई सिद्धान्त प्रस्तुत किए गए हैं। कुछ पुराने अर्थशास्त्रियों का विचार था कि पूँजी उसी रूप म वस्तुओं का उत्पादन करती है, जिस प्रकार से भूमि द्वारा फसलों की पैदावार होती है। उनका मत था कि ब्याज की विद्यमानता इस कारण से है कि पूँजी द्वारा अपेक्षाकृत अधिक उत्पादन हो पाता है। किन्तु पूँजीगत माल से तैयार होने वाले भौतिक उत्पादन से ब्याज की व्याख्या नही होती। यदि उधार देने वाले बिना ब्याज असीम राशि उधार देने लगें तो व्यापार उस सीमा तक बढ़ेगा कि वस्तुओं के उत्पाद में दूसरे खर्चे (charges) शामिल होंगे लेकिन ब्याज नही। ब्याज लागत में नहीं आएगा। लेकिन ब्याज वह लागत है जिसे प्रत्येक उद्यमी को जोड़ना चाहिए, जिससे कालान्तर में कीमत मे ब्याज सहित सारी लागत

आजाए । चूंकि ब्याज रहित पूंजी की मांग में वृद्धि होगी, और पूर्ति में कमी, ब्याज का उदय होना स्वाभाविक है । यदि कुछ उधार देने वाले बिना ब्याज देने को तैयार हो तो भी प्रतियोगिता के कारण यह उन्ही लोगो को मिलेगा जो ब्याज अदा करेंगे न कि अदा न करने वालो को । अत ब्याज की व्याख्या उत्पादन शक्ति (productivity) मे निहित न होकर दुर्लभता (scarcity) मे निहित है ।

उत्पादन शक्ति के सिद्धान्त से यह बात नही ज्ञात हो सकती कि ब्याज की दरें कैसे निर्धारित की जाती हैं । यदि ब्याज केवल उत्पादन शक्ति पर (सीमान्त उत्पादन पर नही) निर्भर होता, तो पूंजी की उत्पादन शक्ति के अन्तर के आधार पर ही ब्याज का अन्तर भी होता । परन्तु व्यवहार में शुद्ध ब्याज की दर एक बाजार में एक सी ही रहती है, और यदि पूंजी श्रम को अधिक उत्पादन करने मे सहायक होती है तो इस अतिरिक्त उत्पादन मे से कितना पूंजी के कारण होता है और कितना श्रम से, क्योकि बिना श्रम के पूंजी तो कुछ भी पैदा नही करती और फिर उपभोग के उद्देश्य के लिए दिए गए ऋणो को क्या मानना होगा ? वे उत्पादन तो करते नही किन्तु ब्याज तो उन पर भी देना ही होना है । इन पर हम बाद म विचार करेंगे, किन्तु इन आपत्तियो पर विजय पाई जा सकती है, यदि हम केवल पूंजी की उत्पादन शक्ति की बात न करके सीमान्त उत्पादन शक्ति पर भी ध्यान रखें ।

४ ब्याज का त्याग अथवा प्रतीक्षा सिद्धान्त (Abstinence or Waiting Theory of Interest)—ब्याज का दूसरा सिद्धान्त त्याग अथवा प्रतीक्षा का सिद्धान्त है । उत्पादन सिद्धान्त मांग की दृष्टि से ब्याज की व्याख्या करने की चेष्टा करता है, और त्याग सिद्धान्त पूर्ति की दृष्टि से ब्याज की समस्या का समाधान करता है । सीनियर (Senior) ने सर्वप्रथम बताया कि बचत म त्याग का अश निहित है । बचत उपभोग के त्याग का एक कार्य है । चूंकि त्याग करने म कष्ट होता है, इसलिए उसके लिए लोगो को कुछ प्रतिदान या पुरस्कार चाहिए । आय का एक अश व्यय करने की अपेक्षा बचत करने वालो को ब्याज के रूप में यह पुरस्कार मिलता है ।

त्याग के सिद्धान्त की इस तर्क से आलोचना की गई है कि इसमे कष्ट उठाने का भाव सन्निहित है, जब कि बहुत से धनी लोग, जो वास्तव म पूंजीधारी लोग हैं, बिना किसी प्रकार की असुविधा के ही बचत कर लेते हैं, इसलिए मार्शल ने 'त्याग' के स्थान पर 'प्रतीक्षा' शब्द रख कर बचत में प्रतीक्षा का भाव सन्निहित कर दिया। जब कोई व्यक्ति बचत करता है तो वह उपभोग का सर्वदा के लिए परित्याग नही करता वरन् वह केवल वर्तमान उपभोग को किसी भावी समय या तिथि के लिए स्थगित कर देता है । इस बीच उसे प्रतीक्षा करनी होती है । किन्तु, चूंकि अधिकाश लोग प्रतीक्षा करना पसन्द नही करते इसलिए इस उपभोग को स्थगित करने के लिए प्रोत्साहन रूप मे किसी प्रलोभन की आवश्यकता होती है । ब्याज वह प्रलोभन है ।

कुछ 'प्रतीक्षा' ब्याज प्राप्ति के प्रलोभन के बिना भी हो सकती है । कुछ लोग ब्याज की नकारात्मक दर (negative rate) तक भी प्रतीक्षा कर सकते हैं । परन्तु इस प्रकार भी बचत पूंजी की मांग को पूरा करने के लिए पर्याप्त नही होती । अन्य लोगो की बचत के लिए प्रलोभन के रूप में ब्याज देना ही चाहिए और उस दशा मे

प्रतीक्षा करने मे असुविधा होगी ही। बचत की सीमान्त वृद्धि या प्रतीक्षा को उत्पादन की माँग की पूर्ति के लिए अग्रणी करने के निमित्त ब्याज की दर भी पर्याप्त ऊँची होनी चाहिए। ब्याज की दर उसी स्तर पर नियत की जाएगी, जिसमें प्रतीक्षा की पूर्ति माँग के समान होगी।

इस सिद्धान्त मे सचाई का पर्याप्त अश है, किन्तु यह उस शक्ति का स्पष्ट विश्लेषण नही करती जो कि पूँजी के लिए माँग के पक्ष मे क्रियाशील है।

५ ब्याज का आस्ट्रियन या पारितोषिक सिद्धान्त (The Austrian or Agio Theory of Interest)—इसको मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त भी कहते हैं। पहले इसे "जान रे" (John Rae) ने सन् १८३४ में प्रस्तुत किया और उसको अन्तिम रूप आस्ट्रिया के प्रमुख अर्थशास्त्री बाम बावर्क (Bohm Bawerk) ने दिया। बाद मे साधारण सशोधनो के साथ यह सिद्धान्त फिशर (Fisher) आदि अन्य अमरीकन अर्थशास्त्रियो म भी लोकप्रिय हो गया।

बाम बावर्क (Bohm Bawerk) के सिद्धान्तो का सार यह है कि ब्याज की उत्पत्ति इसलिए होती है कि लोग भविष्य की अपेक्षा वर्तमान सामग्री की अधिक इच्छा रखते हैं। "नौ नकद न तेरह उधार" की कहावत इस बात की पुष्टि करती है। ब्याज इसी घाटे की पूर्ति करता है, जो जरूर दिया जाना चाहिए, जिससे लोग रुपया उधार देने अथवा वर्तमान सन्तोष को भविष्य की तिथि के लिए स्थगित करने के लिए आकर्षित या प्रलुब्ध किए जा सकें। ब्याज भविष्य के सन्तोष को वर्तमान सन्तोष के समकक्ष बनाने के उद्देश्य से दिया जाता है।

६ फिशर द्वारा इस सिद्धान्त का प्रतिपादन (Fisher's Statement of the Theory)—फिशर 'समय अधिमान" (time preference) पर जोर देते हैं। लोग भविष्य की अपेक्षा वर्तमान सन्तोष को अधिक पसन्द करते है। इस प्रकार वे अपनी आय को इसी समय व्यय करने के लिए व्यग्र रहते हैं। यह व्यग्रता की मात्रा, आय की मात्रा, आय के वितरण का काल तथा उनसे भविष्य मे सन्तोष पाने की निश्चिन्तता की मात्रा, व्यक्ति के स्वभाव एव चरित्र पर निर्भर करती है। अधिक आय वालो की वर्तमान आवश्यकताओ का सन्तोष अधिक पूर्णता के साथ हो सकता है, और इस प्रकार वे गरीबो की अपेक्षा भविष्य की दर कम आँकेंगे।

आय के काल वितरण के सम्बन्ध म तीन स्थितियो का अनुमान किया जा सकता है। किसी की आय जीवन भर बराबर रह सकती है, आयु के साथ बढ सकती है, तथा आयु के साथ घट सकती है। यदि वह एक समान है तो व्यय करने की व्यग्रता भविष्य को कम आकने की दर, आय की मात्रा तथा व्यक्ति के स्वभाव से प्रभावित एव निर्धारित होगी। यदि आयु के साथ आय अधिक होती है, तो इसका अर्थ यह है कि भविष्य अच्छी तरह सुरक्षित है। तो उस दशा में भविष्य की दर ऊँची आकने की प्रवृत्ति होगी। यदि आय उम्र बढने के साथ घटती है, तो इसके विपरीत होगा अर्थात् भविष्य का मूल्याकन अल्प दर से किया जाएगा।

किसी व्यक्ति के समय अधिमान की दर इस बात पर भी आधारित है कि उसकी आय का कितना भाग उधार माँगा जा रहा है। उधार का भाग जितना बडा

होगा ब्याज की दर उतनी ऊँची होगी, चूंकि ऐसा करने मे उधार देने वाले को अधिक नकदी का त्याग करना पडता है ।

इस प्रकार, व्यक्तिगत अवधि-अधिमान इस तरह निर्धारित होने के बाद ब्याज की दर के समान हो जाता है । एक व्यक्ति, जो बाजार की ब्याज दर की अपेक्षा अवधि-अधिमान की अधिक ऊँची दर रखता है, वह अपनी तीव्र आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए ऋण लेने को प्रेरित होता है । यदि उसकी अवधि अधिमान की दर बाज़ार की ब्याज दर से कम होती है, तो वह ऋण देगा और इससे लाभ उठाएगा । इस प्रकार व्यक्ति अपनी आय धारा का प्रभाव उधार देकर या उधार लेकर परिवर्तित करेगा । इस क्रिया से ब्याज की दर अवधि अधिमान अथवा समय अधिमान (time preference) की दर के समान हो जाएगी ।

७ नव-शास्त्रीय सिद्धान्त (New Classical Theory)—नव-शास्त्रीय अर्थ-वेत्ताओं का यह कहना था कि पूंजी के सम्बन्ध म ब्याज की दर का वही कार्य है जो वस्तुओं के सम्बन्ध म कीमत का होता है—अर्थात् माँग और पूर्ति के बीच साम्य स्थापित करना । किसी वस्तु के सम्बन्ध में क्या होता है ? मान लो गहूँ की माँग पूर्ति की अपेक्षा अधिक है । इसका फल यह होगा कि कीमत ऊँची होगी और कम आवश्यक खरीदारो को एक तरह से चेतावनी मिल जाएगी । इस प्रकार माँग कम होकर पूर्ति के बराबर होगी । अब मान लो पूर्ति माँग से अधिक है । इससे कीमत घटेगी और माँग मे वृद्धि होने से मण्डी से पूर्ति की मात्रा कम हो जाएगी । इस प्रकार कीमत के घटने बढने से माँग और पूर्ति एक दूसरे के बराबर हो जाते है ।

ठीक इसी प्रकार का काय ब्याज की दर करती है । यदि माँग अर्थात् नियोजन (investment) पूर्त्ति अर्थात् बचत (savings) से अधिक है तो ब्याज की दर ऊँची होगी । इसके विपरीत यदि नियोजन से बचत की मात्रा अधिक है तो ब्याज की दर घटेगी । इससे बचत की मात्रा घटेगी और नियोजन म वृद्धि होगी । इस प्रकार ब्याज की दर बचत तथा नियोजन के बीच साम्यावस्था (equilibrium) स्थापित करने का काम करती है । इस तरह नियोजन तथा बचत म साम्यावस्था स्थापित हो जाएगी । सक्षेप म, ब्याज की दर उस स्थान पर स्थिर होगी जहाँ बचत और माँग दोनो बराबर हैं ।

इस सिद्धान्त की निम्नलिखित आधारो पर आलोचना की गई है

(i) कुछ बचत अनैच्छिक रूप से हो जाती है । उस पर ब्याज की दर का कोई प्रभाव नही पडता । साम्य लाने के सम्बन्ध म ब्याज की दर की महत्ता बढाकर कही गई है । (ii) एक कडी आलोचना कीस (Keynes) द्वारा की गई है । उनका कहना है कि इस सिद्धान्त म यह मान लिया जाता है कि समाज की आय उतनी ही बनी रहती है जो कि वास्तव म ठीक नही है । यदि आय दी हुई है तो यह सिद्धान्त ठीक है । उदाहरणार्थ, ब्याज की ऊँची दर से बचत में वृद्धि होगी लेकिन इस बात को यहाँ भुला दिया जाता है कि इस ऊँची दर का आय पर क्या प्रभाव पडेगा । ऊँची दर के प्रभाव से पूंजी का लगाना कम हो जाएगा । इससे आय गिर जाएगी और फिर बचत करने की शक्ति भी कम हो जाएगी । कीस (Keynes) के कथनानुसार साम्य

की स्थापना ब्याज की दर पर नहीं बल्कि आय के स्तर पर निर्भर है। उनका कहना है कि साम्य ब्याज की दर मे परिवर्तन द्वारा नही होता। उनका कहना है कि नियोजन तथा बचत सदैव समान रहते हैं और यह समानता आय स्तर म परिवर्तन के कारण होती है, न कि ब्याज की दर में परिवर्तन से।

६ कींस का ब्याज सिद्धान्त—तरलता अधिमान (Keynes' Theory of Interest—Liquidity Preference)—अपनी "कार्य नियोजन, ब्याज तथा द्रव्य के सामान्य सिद्धान्त" नामक युगान्तरकारी पुस्तक मे स्वर्गीय लार्ड कीस (Lord Keynes) ने ब्याज के सिद्धान्त को एक नया दृष्टिकोण दिया। उनके मतानुसार "ब्याज एक निश्चित अवधि के लिए द्रवता के परित्याग का पुरस्कार है।"[1]

एक निश्चित आय वाले व्यक्ति को पहले यह निर्णय करना होता है कि वह कितना उपभोग करे और कितनी बचत। पहली बात कीस के शब्दो म, व्यक्ति की उपभोग वृत्ति (propensity to consume) पर निर्भर करेगी। इस वृत्ति के पूर्ण होने पर व्यक्ति अपनी आय के कुछ अश को बचाएगा। अब उसे दूसरा निर्णय करना होगा। क्या वह अपने साधनो को द्रव्य (money) के रूप म रखे जिससे किसी भविष्य समय पर वस्तुओ सेवाओ तथा क्रय शक्ति पर वह तात्कालिक नियन्त्रण कर सके। अपने साधनो म से कितना वह चालू द्रव्य (नकद या बिना ब्याज के बैंक मे अमानत) के रूप मे रखेगा और कितना वह उधार देगा, यह कीस के कथनानुसार तरलता अधिमान (liquidity preference) पर निर्भर होगा। उधार देने की जितनी ही कम इच्छा होगी उतना ही अधिक तरलता अधिमान होगा। जैसा कि मेयर्स (Meyers) ने कहा है, "तरलता अधिमान वह अधिमान है जिसमे दूसरे पर दावो की अपेक्षा समान राशि की नकदी हो।" यदि भविष्य की अपेक्षा मे अब समान राशि का माल तथा नकदी रखना चाहूँ, तो मेरे अधिमान की दर निश्चयात्मक (positive) होगी। किन्तु यदि मैं समान राशि वर्तमान की अपेक्षा भविष्य में लेना चाहूँ तो इसे अधिमान की नकारात्मक दर (negative rate of preference) कहेंगे।

किसी व्यक्ति विशेष का तरलता अधिमान (liquidity preference) कई बाता पर निर्भर है। प्रश्न यह है कि लोग अपने साधनो को द्रव्य अर्थात नकद रुपयों के रूप म क्यो रखते हैं, जब कि उधार देने से उनको ब्याज मिल सकता है। इसके कई कारण हैं (i) लोग नकद इसलिए रखते हैं जिससे "आय की प्राप्ति और व्यय के बीच के समय का काम चलाया जा सके।" इसी का दूसरा नाम द्रव्य हेतु (money motive) है। अधिकाश लोगो को सप्ताह या महीने में आय मिलती है जब कि खर्च हर दिन चलता रहता है। इसलिए नकद रुपया चालू भुगतान करने के लिए पास रखना जरूरी होता है। उसकी मात्रा व्यक्ति की आय, आय प्राप्त होने की अवधि तथा स्थान विशेष म प्रचलित भुगतान के तरीको पर निर्भर करती है।

(ii) व्यापारियों और उद्योगपतियों को भी अपने साधनों के कुछ अश को

---

1 "Interest is the reward for parting with liquidity for a specified period"—Keynes: General Theory of Employment, Interest and Money p 167

नकद रूप में रखना होता है, जिससे विभिन्न प्रकार के भुगतान किए जा सकें। इस तरह द्रव्य का कार्य विनिमय करना है। कीस (Keynes) के अनुसार, इसे "व्यापार हेतु" (Business Motive) कहते हैं।

इन दोनों हेतुओं को एक वर्ग अर्थात् "कार्य सम्पादन हेतु" (transaction motive) कह कर किया जा सकता है। इसका कारण यह है कि सौदा (कार्य-सम्पादन) तो उपभोक्ता तथा उद्यमी (entrepreneur) दोनों ही को करना पड़ता है।

(iii) अप्रत्याशित आवश्यकताओं के खर्च के लिए भी नकद रुपया रखा जाता है। ऐसे मौकों पर ऋण वापिस लेना शायद असम्भव हो अथवा उसके लेने से हानि की आशंका हो, जैसे कि सिक्युरिटियों को नुकसान में बेचना पड़े। इस प्रकार द्रव्य रखने को कीस (Keynes) "पूर्वविधान हेतु" (Precautionary motive) कहते हैं।

(iv) द्रव्य को जमा करने का एक कारण और भी है। एकमुश्त रकम लगाने से पूर्व यह जरूरी है कि द्रव्य को धीरे-धीरे जमा किया जाए। इसलिए, कुछ समय के लिए पैसे को अपने पास रखना पड़ता है। संक्रमण काल (transition period) में पैसे को नकदी के रूप में रखना जरूरी है, जबकि नियोजक (investor) ने एक किस्म की आस्तियाँ (assets) बेच दी हों और इसके बजाए दूसरे काम में रुपया लगाने की देखभाल कर रहा हो। इस प्रकार पैसा रखने को "वित्तीय हेतु" (financial motive) कहते हैं।

(v) कुछ लोग सट्टेबाजी के लिए भी नकद रकम रखते हैं। इसे 'सट्टा हेतु" (speculative motive) कहते हैं। सट्टा हेतु (speculative motive) के लिए द्रव्य रखने का विचार कीस (Keynes) के आधार पर नया विचार है। स्पष्ट ही, यह पूर्वविधान हेतु (precautionary motive) के अन्तर्गत मूल्य के भण्डार (store of value) को बताता है। किन्तु इसे बनाने का कारण दूसरा है। इस हेतु से रखा गया नकद पैसा सट्टेबाजी जैसे लाभ कमाने के लिए है और इस काम को बांड आदि के क्रय-विक्रय से किया जा सकता है, जिनकी कीमत घटती-बढ़ती रहती है। इस हेतु के अन्तर्गत रखी जाने वाली धन की राशि, ब्याज की दर से निश्चित होगी। यदि ब्याज की दर गिरने की आशा है अर्थात् बांड की कीमत चढ़ने की, तो व्यापारी बांड इसलिए खरीदेंगे कि कीमत बढ़ने पर उन्हें बेचा जाए। दूसरे शब्दों में, सट्टे के लिए ब्याज की कम दर की अपेक्षा ऊँची दर पर नकदी की मांग कम होगी। स्पष्ट शब्दों में स्थिति इस प्रकार होगी : ब्याज की दर कम होने पर अधिक रखा जाएगा और ब्याज की दर ऊँची होने पर कम रखा जाएगा। बीजगणित (Algebra) के अनुसार स्थिति यह होगी : इस हेतु के अन्तर्गत द्रव्य की मांग ब्याज की दर के अनुसार घटता हुआ कृत्य (decreasing function) है। निम्नलिखित रेखाचित्र में इस सिद्धान्त का निरूपण इस प्रकार किया गया है —

OX रेखा के साथ सट्टे के लिए द्रव्य की मांग (कीस इसे 'अक्रिय शेष' "inactive balances" के नाम से पुकारते हैं) दिखाई गई है, और OY रेखा के

साथ ब्याज की दर । lp तरलता अधिमान (liquidity preference) है जिसे ढाल पर वक्र के द्वारा दिखाया गया है, और यह दाईं ओर को मुड़ता है। इससे पता चलता है कि सट्टा हेतु के लिए द्रव्य की माँग जितनी कम होगी ब्याज की दर उतनी ही ऊँची होगी और वक्र की उपर्युक्त स्थिति होगी, तथा इसके विपरीत स्थिति वैसे ही बदल जाएगी । दाईं ओर अनुसूची अधिक लोचदार होती है और ब्याज की बहुत
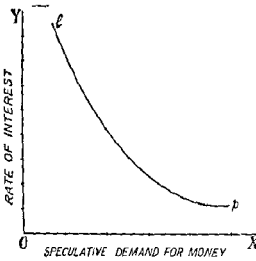
चित्र ५६

कम दर पर बॉंड की कीमत बहुत ऊँची है और ब्याज की दर म जरा-सी गिरावट से, सट्टे के लिए खरीदने की बहुत अधिक माँग होती है, क्योंकि कीमता के किसी भी क्षण गिरने की आशका रहती है ।

ये पाँच हेतु परस्पर मिलकर द्रव्य की माँग का निर्णय करते हैं। कीस (Keynes) के अनुसार पहले तीन हेतुओं के अन्तर्गत रखा गया द्रव्य 'क्रियात्मक शेष' (active balances) कहलाता है और अन्तिम हेतु के अन्तर्गत रखा गया 'अक्रिय शेष' (inactive balances) । इसके कारण स्पष्ट हैं । सक्रिय शेष मुख्य रूप से आय के कृत्य है लेकिन अक्रिय शेष (inactive balances) ब्याज की दर (जैसा ऊपर दिखाया गया है) के कृत्य हैं । मान लीजिए कि हम पहले को M_1 तथा दूसरे को M_2 के नाम से पुकारते हैं । इसलिए किसी विशेष समय म द्रव्य की कुल माँग का स्वरूप $M_1 + M_2$ होगा ।

जहाँ तक द्रव्य की पूर्ति का प्रश्न है, वह किसी देश के सैंट्रल बैंक की नीतियों द्वारा निश्चित होता है । द्रव्य की कुल सप्लाई में, सिक्के (coins) + बैंक नोट + बैंक निक्षेप (deposits) शामिल होते हैं । इसे हम M कहते हैं ।

अब हमारे सामने द्रव्य की माँग के रखने का (to hold), तथा द्रव्य की पूर्ति के रखने का (to hold) स्पष्ट चित्र है । अब हम यह देखना है कि वास्तव म ब्याज की दर का निर्णय कैसे होता है । निम्नलिखित रेखाचित्र का ध्यान से अध्ययन कीजिए । बाईं ओर के रेखा चित्र म सक्रिय शेष (active balances) दिखाये गय है अर्थात् M_1 । यह आय कृत्य के रूप में है । जैसे आय y से y_1 की ओर बढ़ती है M_1 की माँग OA से बढ़कर OA' हो जाती है, और यह क्रम इसी प्रकार चलता है । M_1 पर ब्याज की दर का प्रभाव नहीं पड़ता, प्रभाव तभी पड़ता है जब ब्याज की दर बहुत ऊँची हो जाती है—अर्थात् i_3 से अधिक जैसा कि हमारे रेखाचित्र से

स्पष्ट है। इसलिए i_3 के बाद, $y_1, y_2 \ldots\ldots y_7$ को पिछली ओर को ढालवां दिखाया गया है, अर्थात् ब्याज की दर में वृद्धि से M_1 की माँग कम हो जाती है, जबकि आय वही रहती है।
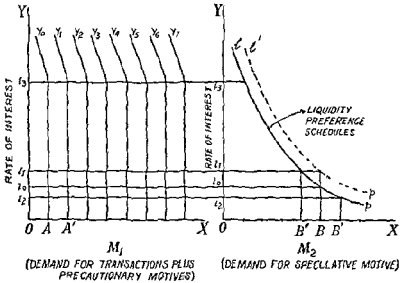
चित्र ६०

दाईं ओर के रेखाचित्र द्वारा अक्रिय शेष (inactive balances) दिखाये गये हैं, अर्थात् M_2 में।

इन दोनों रेखाचित्रों का साथ अध्ययन करने में निम्नलिखित बातों का पता चलता है।

(i) विशिष्ट द्रव्य पूर्ति (OA+OB) तथा विशिष्ट आय (y_0), ऐसी स्थिति में ब्याज की दर जितनी ऊँची होगी, तरलता अधिमान भी उतना ही अधिक होगा और ब्याज की दर जितनी कम होगी, तरलता अधिमान भी उतना ही कम होगा। उपर्युक्त रेखाचित्र में आय के y_0 स्तर पर, द्रव्य की पूर्ति OA+OB होने से, जब तरलता अधिमान lp है, तो ब्याज की दर i है। लेकिन जब तरलता अधिमान बढ़ कर $l'p'$ हो जाता है, ब्याज की दर बढ़कर i_1 हो जाती है, यदि दूसरे हालात समान रहें। इसी प्रकार, जब तरलता अधिमान गिरता है, तो ब्याज की दर भी कम होगी, यदि दूसरे हालात समान रहें।

(ii) विशिष्ट तरलता अधिमान (lp) पर, तथा विशिष्ट आय (y_0) पर, द्रव्य की पूर्ति जितनी अधिक होगी, ब्याज की दर उतनी ही कम होगी। और द्रव्य की पूर्ति जितनी कम होगी, ब्याज की दर उतनी ही अधिक होगी। उपर्युक्त रेखाचित्र में जब y_0 आय-स्तर पर, तरलता अधिमान को lp द्वारा दिखाया गया है, द्रव्य की पूर्ति OA+OB से बढ़कर OA+OB' हो जाती है, तो ब्याज की दर i_0 से गिर कर i_2 हो जाती है। इसी तरह, यदि सब हालात समान रहें तो, पूर्ति में घटोतरी होने से ब्याज की दर बढ़ जाएगी।

(iii) विशिष्ट तरलता अधिमान (lp) होने पर, और विशिष्ट द्रव्य की पूर्ति OA+OB होने पर, **आय जितनी अधिक होगी, ब्याज की दर उतनी ही अधिक** होगी, तथा आय जितनी कम होगी, ब्याज की दर उतनी ही कम होगी। उपर्युक्त रेखाचित्र में OA+OB द्रव्य की पूर्ति की स्थिति में, तरलता अधिमान को lp वक्र द्वारा दिखाया गया है, तो आय y_0 से बढ़कर y_1 हो जाती है, ब्याज की दर i_0 से बढ़कर i_1 हो जाती है। यह इसलिए होता है कि सट्टे हेतु के लिए द्रव्य की पूर्ति में घटोतरी होती है। द्रव्य की कुल पूर्ति OA+OB रहती है, आय में y_0 से y_1 वृद्धि होती है जिससे M_1 के अन्तर्गत बढ़कर AA' हो जाती है। M_2 से BB'' राशि निकाल ली जाती है। इससे ब्याज की दर बढ़ जाती है। अत आय म परिवर्तन होने से ब्याज की दर पर, द्रव्य की सापेक्ष माँग के कारण, M_1 तथा M_2 के लिए, प्रभाव पड़ता है।

सक्षेप में यह स्पष्ट है कि तरलता अधिमान सिद्धान्त के अनुसार, तरलता अधिमान द्वारा, एक ओर तो ब्याज की दर का निर्धारण होता है और दूसरी ओर द्रव्य की पूर्ति। आय को सतत (constant) मान कर, तरलता अधिमान, अथवा द्रव्य की माँग, का निर्देश उस माँग से है जो सिर्फ सट्टेबाजी के लिए है। इस प्रकार, तरलता अधिमान जितना अधिक होगा, विशिष्ट द्रव्य पूर्ति पर ब्याज की दर उतनी ही अधिक होगी, तथा स्थिति के अनुकूल इसके विपरीत भी विलोमत ऐसा ही होगा। यानी द्रव्य की पूर्ति अधिक होने पर विशिष्ट तरलता अधिमान म, ब्याज की दर कम होगी, तथा स्थिति के अनुकूल इसके विपरीत भी विलोमत ऐसा ही होगा। अत सट्टेबाजी के हेतु यह द्रव्य की माँग है जो द्रव्य की पूर्ति के साथ मिलकर ब्याज की दर निर्धारण करती है। आय के विचार करने पर, द्रव्य की माँग का निर्देश M_1+M_2 से होता है।

६ कींस के सिद्धान्त की आलोचना (Criticism of Keynes's Theory)—कींस ने ब्याज की व्याख्या वास्तविक शक्ति के रूप में न करके शुद्ध द्रव्य शक्ति के रूप में की है। वे इस बात से सहमत थे कि पूँजी की शुद्ध सीमान्त उत्पाद की प्रवृत्ति ब्याज की चालू दर के समान होने की है लेकिन ब्याज की दर का निर्णय सीमान्त शुद्ध उत्पाद से नहीं होता। उसके अनुसार ब्याज बचत का मुआवजा नहीं है, बल्कि बचत म से (एक हिस्सा) दूसरे को देने का है। ब्याज की दर बचत तथा नियोजन के बीच साम्यावस्था पैदा नहीं करती। समानता तो आय के स्तर में परिवर्तन से पैदा होती है। कीन्स (Keynes) के सिद्धान्त की एक कठिनाई उनके द्वारा बताई गई "द्रव्य" की परिभाषा मे उपस्थित होती है। उनका कहना है कि द्रव्य का विस्तार (co-extension) बैंक में जमा रकम के साथ होता है। दूसरी ओर राबर्टसन (Robertson) के साथ किये गए विचार-विनिमय म वह बैंक में जमा रकम मे से साख (credit) को बहिष्कृत करते हुए प्रतीत होते हैं।

दूसरे, कीन्स (Keynes) ब्याज की दर को नियोजन की रकम की माँग से स्वतन्त्र मानते हैं। वास्तव में वह उतनी स्वतन्त्र नहीं होती। व्यवसायियों के रोकड़ बाकी पर पूँजी लगाने के लिए धन की माँग का बड़ा प्रभाव पड़ता है। पूँजी की माँग

उसकी पूंजी की सीमान्त उत्पादन शक्ति पर निर्भर करती है और इस प्रकार ब्याज की दर पूंजी की सीमान्त उत्पादन क्षमता से स्वतन्त्र होकर निर्धारित नहीं की जा सकती।

कीन्स (Keynes) का सिद्धान्त किसी सीमा तक बाम बावर्क (Bohm Bawerk) के पारितोषिक के सिद्धान्त (Agio Theory) से मिलता है, जिसे बाम बावर्क "भविष्य का कम मूल्यांकन करना" कहते है और फिशर (Fisher) जिसे "समय अधिमान" (Time Preference) कहते है, उसी को कीन्स "उपभोग की प्रवृत्ति" (Propensity to Consume) का नाम देते हैं। वास्तव में उन दोनो का आशय वर्तमान वस्तुओं की प्राप्ति को भविष्य की वस्तुओं की अपेक्षा अधिक पसन्द करने से है। एक ब्याज को विद्यमान वस्तुओं पर अधिमूल्य (premium) मानता है, दूसरा उसे नकदी के परित्याग (parting with liquidity) का पुरस्कार समझता है। सार दोनो का एक ही है।

परन्तु जहाँ बाम बावर्क (Bohm Bawerk) अप्रत्यक्ष रूप से पूंजी की उत्पादक शक्ति को एक निर्णायक तत्व स्वीकार करते हैं, वहाँ कीन्स ऐसा नहीं मानते। कीन्स (Keynes) के मत मे चालू पूंजी के नियोजनो का महत्त्व नहीं होता कि उन्हे ब्याज की दर का निर्णायक तत्त्व माना जाए। वास्तव में उन पर ब्याज का प्रभाव पडता है।

इसलिए सब मिलाकर कीन्स (Keynes) का सिद्धान्त ब्याज को स्पष्ट करने के लिए अपर्याप्त है क्योंकि उसम केवल द्रव्य के अंग को विचार मे लिया गया है। वह वास्तविक द्रव्य सम्बन्धी शक्तियो (ऋणीय कोष से पृथक् पूंजी की माँग और पूर्ति) की क्रिया को प्रकाश मे नही लाता।

१० ब्याज का नियोजक निधि सिद्धान्त (The Investible Funds Theory of Interest)—इस सिद्धान्त का स्पष्टीकरण जे० एस० बेन (J S Bain) द्वारा उनकी पुस्तक "कीमत, वितरण तथा नौकरी" म हुआ है।[1] उनका कहना है कि किसी दिय हुए समय म ब्याज की दर नियोजन निधि की कुल माँग तथा कुल पूर्ति की साम्यावस्था द्वारा निर्धारित की जाती है। ऐसी निधि की माँग नियोजन तथा नकद रकम की माँग होती है और नियोजक निधि की पूर्ति बचत की मात्रा तथा नकद रकमो या तरल शेषो (liquid balances) से पैदा होती है।

यह आवश्यक नही है कि ब्याज की इस दर पर बचत और नियोजन एक समान हो। इन दोनों के बीच का अन्तर धन गाडने अथवा न गाडने से होता है। उदाहरण के लिए यदि बचत नियोजन से अधिक है, तो वह रकम जमीन में दबा कर जमा कर ली जाएगी, और यदि नियोजन बचत से अधिक है, तो वह रकम जमा से निकलेगी।

हम किसी भी समय मे तीन प्रकार की माँग तथा पूर्ति सूची प्राप्त कर सकते हैं जिनको रेखाचित्रो म इस तरह दिखाया जा सकता है—

---

1. Bain, J S—Pricing, Distribution, and Employment 1943, p. 384-395.

(१) I रेखा विनियोग (investment)[1] की रेखा है जो विनियोग तथा उपभोग के लिए आवश्यक माग प्रकट करती है और S बचत की पूर्ति की रेखा है जो नियोजन तथा गाड कर रखन (hoard) के लिए उपलब्ध है ब्याज की एक दर पर I (विनियोग) और S (बचत) बराबर होग। इस चित्र म यह दर R_1M_1 के द्वारा दिखाई गई है जो I तथा S वक्रो के काटन के स्थान पर पडता है।
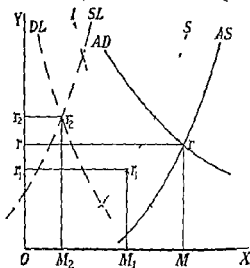
ब्याज की दर निधारित करने वाला रेखाचित्र

चित्र ६१

(२) निधि माग की दूसरी अनुसूची DL रेखा से दिखाई गई है जो इस बात को प्रदर्शित करती है कि नकदी के रूप म रखने के लिए कितनी मात्रा की माग है (अर्थात् बिलकुल खच न करने के लिए) और SL पूर्ति की रेखा है जो इस बात को बताती है कि नकदी शेष म से कितना मात्रा उपलब्ध है। ब्याज की एक दर पर दोनो (अर्थात नकदी के लिए माग तथा नकदी की पूर्ति) बराबर हाग। यह दर R_2M_2 होगी जो DL और SL रेखाओ क एक दूसरे को काटन के बिन्दु पर मिलती है।

(३) दाइ ओर की अनुसूचिया म माग तथा पूर्ति दोना को ही उपयुक्त दोना अनुसूचियो के कुल योग (total) के रूप म प्रदर्शित किया गया है, जिसमें कुल माग अनुसूची द्वारा नियोजन के लिए मागी गई राशि का प्रदशन होगा (जैसा कि उपयुक्त अनुसूची न० १ म है) + (न० २ अनुसूची म) तरल शेष (Liquid balance) के लिए मागी गई राशि। दूसरे शब्दो म हम इसे इस प्रकार रख सकते है I+DL। इसको कुल माग वक्र AD (काली लाइन) द्वारा दिखाया गया है। इसी प्रकार AS (काली लाइन) कुल पूर्ति वक्र है जो कि नियोजन योग्य कुल निधि की पूर्ति प्रदर्शित करता है अर्थात बचत म से (जैसा कि न० १ म ऊपर दिखाया गया है)+तरल शेष म से (जैसा न० २ म ऊपर दिखाया गया है)। RM ब्याज की वास्तविक दर, वह होगी जिस पर नियोजन योग्य कुल निधि की माग नियोजन योग्य कुल निधि की पूर्ति के बराबर हो (जैसा कि उपयुक्त परिभाषा म बतलाया गया है)। और जैसा कि रेखा चित्र म दिखाया गया है। यह AD कुल मांग अनुसूची तथा AS कुल पूर्ति अनुसूची के काटन वाले बिन्दु पर होगी। R पर दो दरा के बीच

1 अंग्रेजी investment शब्द के लिए विनियोग तथा नियोजन दोनों शब्दो को पर्यायवाची के रूप में लिया गया है।

की दर होगी अर्थात् R_1R_2 के जैसा कि अनुसूची से स्पष्ट है। तथा यह वह दर नही है जिस पर बचत और नियोजन समान होते हैं। दोनो के बीच का भेद (discrepency) जब दबाकर धन रखने या सट्टेबाजी (hoarding) अथवा सट्टेबाजी न करने (dishoarding) जैसी स्थिति हो, की समान राशि से सन्तुलित होता है। बचत और नियोजन मे असमानता (disparity) के कारण एक काल (period) से दूसरे तक द्रव्य आय मे परिवर्तन होगा। उदाहरण के लिए, यदि बचत की तुलना में नियोजन अधिक है, तो इससे द्रव्य आय मे वृद्धि होगी, और यदि बचत नियोजन से अधिक हो तो दूसरे काल मे द्रव्य आय कम होना जरूरी है। द्रव्य आय की घटती-बढती तब तक चलेगी जब तक बचत और नियोजन समान न होंगे।

११ सीमान्त-उत्पादन-शक्ति-सिद्धान्त (Marginal Productivity Theory)—'मूल्य' शब्द की किसी भी रूप मे उचित व्याख्या देना बडा कठिन है, जब तक हम इसके पीछे माँग तथा पूर्ति की शक्तियो का अध्ययन नही करते। ब्याज की सबसे सन्तोषजनक व्याख्या सीमान्त-उत्पादन शक्ति-सिद्धान्त है, उसी प्रकार यह सिद्धान्त मूल्य की भी सन्तोषजनक व्याख्या करता है। सीमान्त-उत्पादन-शक्ति उस सम्बन्ध की अभिव्यक्ति है जो एक ओर तो दुर्लभता (पूर्ति) की मात्रा मे तथा दूसरी ओर वस्तु अथवा सेवा (माँग) के वैकल्पिक उपयोगो में है जिनमें उन वस्तुओ या सेवाओ को प्रयोग किया जा सकता है या लगाया जा सकता है। जब हम इसे ब्याज पर लागू करते हैं, अथवा पूँजी से उठाई गई कीमत पर लागू करते हैं तो इसके अन्तर्गत माँग और पूर्ति दोनो ही आ जाते हैं।

माँग का विश्लेषण (Analysis af Demand)—माँग पक्ष में यह बात ध्यान देने योग्य है कि उधार की जरूरत दो कामो के लिए है। (i) उपभोग, तथा (ii) उत्पादन। उधार लेने वालो मे उपभोग की माँग समय अधिमान (time preference) पर आधारित है। दूसरे शब्दो म यह इस बात पर आधारित होगी कि वे अपनी भविष्य की माँगो को कितना महत्त्व देते हैं। यदि वे मौजूदा माँग को पूरा करना ज्यादा जरूरी समझें, तो वे ब्याज की ऊँची दर पर भी उधार लेने को तैयार होगे।

लेकिन उपभोग के लिए उधार की माँग उत्पादक कार्यो की तुलना मे महत्त्वहीन है। उत्पादक अथवा उद्यमी जो ब्याज की दर देना चाहेंगे वह लाभ की प्रत्याशित दर पर आधारित होगा और यह पूँजी के सीमान्त-उत्पादन मूल्य पर निर्भर रहेगा। किसी समुदाय के उपलब्ध पूँजी स्रोतो को कई कामो मे लगाया जा सकता है। पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति म, पूँजी की एक मात्रा का वितरण इस प्रकार होता है कि जिससे इसकी सीमान्त उपयोगिता अथवा उत्पादन-शक्ति विभिन्न उपयोगो मे समान हो जाए। यदि किसी उपयोग-विशेष मे पूँजी की सीमान्त-उत्पादन-शक्ति अधिक है, या यदि उसे वहाँ अधिक प्राप्ति (return) होती है, तो पूँजी का आकर्षण उस ओर तब तक बना रहेगा जब तक इसकी सहायता से तैयार माल कीमत न गिरा दे। इसलिए पूँजी की सीमान्त उत्पादन-शक्ति यह उपयोग है। यह क्रम तब तक चलता है जब तर इस उपयोग से होने वाली प्राप्ति और उपयोगो से होने वाली प्राप्तियो

के समान न हो जाए। यह बात दोहराने की आवश्यकता है कि पूंजी की सीमान्त उत्पादन-शक्ति वह अतिरिक्त (additional) योग है जो कुल पैदावार में अतिरिक्त पूंजी की इकाई लगाकर होता है।

उधार लेने वाला व्यक्तिगत रूप से ब्याज की दर निर्धारित नहीं करता। ब्याज की दर तो सीमान्त ऋणदाता और ऋण लेने वाले तय करते हैं, और यह ऐसी होनी चाहिए जिस पर पूंजी की कुल माँग और उसकी पूर्ति साम्यावस्था मे हो। वास्तव म व्यक्तिगत माँग के बजाए यह कुल माँग महत्वपूर्ण है। यदि पूंजी के लिए कुल माँग म वृद्धि होती है, तो ब्याज की दर मे वृद्धि होगी, और इसके विपरीत भी विलोम ही होगा। पूंजी की अधिक माँग का अर्थ है एक निर्दिष्ट पूर्ति की ऊँची सीमान्त उत्पादन-शक्ति और कम माँगो का अर्थ है कम सीमान्त-उत्पादन-शक्ति। इन अर्थों मे सीमान्त-उत्पादन-शक्ति ब्याज की दर निश्चित करती है।

पूर्ति का विश्लेषण (Analysis of Supply)—लेकिन पूर्ति के विषय में क्या कहा जा सकता है ? अभी तक हमने पूर्ति को दिया हुआ मान लिया था। थोड़ी अवधि के लिए हम पूर्ति को स्थिर मान सकते हैं क्योंकि पूंजी की नई पूर्ति मे समय लगता है। तो पूंजी की पूर्ति पर किन बातो का प्रभाव पड़ता है ? उधार मिलने वाली रकम की सप्लाई (पूर्ति) इस बात पर आधारित है कि उधार देने वालो का समय तथा तरलता अधिमान (time and liquidity preference) के सम्बन्ध में क्या विचार है। इससे इस बात का निर्णय भी होगा कि वे अपने निजी व्यापार में कितना पैसा लगाना चाहते हैं। उदाहरण के लिए, यदि, बाजार से रुपया उधार लेने में उन्हे ब्याज की ऊँची रकम देनी पडती है, जो उनके समय और तरलता अधिमान से अधिक है, तो वे बाजार से उधार न लेकर अपने पैसे को अपने व्यापार मे ही लगाएँगे। इसके विपरीत, यदि उनके समय तथा तरलता अधिमान से बाजार में ब्याज की दर कम है तो वे बाजार से उधार लेंगे।

जैसा कि एक पिछले अध्याय म बताया गया है, पूंजी की पूर्ति एक तो (क) बचत की शक्ति तथा दूसरे (ख) बचत की इच्छा पर निर्भर करती है। बचत की शक्ति (the power to save) तीन बातों पर निर्भर करती है : (i) कुल उत्पादन, (ii) जीवन-स्तर को कायम रखने के लिए निम्नतम आवश्यकताएँ, और (iii) बैंकिंग प्रणाली का विकास।

बचत की इच्छा शक्ति (The will to save) चार बातो पर निर्भर करती है,—१ विधि और व्यवस्था तथा सुरक्षा का आश्वासन, २ देश मे उपलब्ध बैंकिंग की सुविधाएँ, ३ ब्याज की दर की आशाएँ, तथा ४ अपने तथा अपने कुटुम्ब की भावी सुरक्षा का विचार।

जब बचत व्यक्तियो की अपेक्षा सार्वजनिक संस्थाओ द्वारा की जाती है, तो बचत की रकम अन्य बातो के अतिरिक्त उनकी नीति के ऊपर भी निर्भर करेगी।

बैंकिंग की साख से भी द्रव्य की पूर्ति होती है।

ब्याज की दर और बचत के बीच के सम्बन्ध को भी समझ लेना चाहिए। कुछ लोग एक समान रकम बचाएँगे, चाहे ब्याज की दर कम हो या अधिक। वे लोग कंजूस

हो सकते हैं, या बहुत अमीर। अन्य लोग, ब्याज की चाहे जो कुछ दर हो, बचत नहीं करेंगे। वे लोग बहुत गरीब हो सकते हैं या अपव्ययी। कुछ लोग ऐसे होंगे, जो कि ब्याज की दर जब कम होगी, तब अधिक बचाएँगे और जब अधिक होगी तब कम बचाएँगे। इस प्रकार सभी लोग भविष्य के लिए कुछ निश्चित आय की व्यवस्था करना चाहते हैं। यदि ब्याज की दर ऊँची है तो थोड़ी पूँजी के नियोजन से भी उन्हें पर्याप्त आय हो सकती है। किन्तु यदि ब्याज की दर कम है तो अधिक पूँजी लगानी पड़ेगी। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो ब्याज दर ऊँची होने पर अधिक पूँजी बचाते है, और ब्याज दर नीची होने पर कम बचाते हैं। परन्तु सब मिलाकर यह कहा जा सकता है कि देश में ब्याज की दर ऊँची होने से बचत को प्रोत्साहन मिलता है, और कम दर का विपरीत प्रभाव होता है। यदि ब्याज की दर इतने लम्बे समय तक ऊँची रहती है जिससे बचत के लिए प्रेरणा होगी तो पूँजी की पूर्ति बढेगी, उसकी सीमान्त-उत्पादन शक्ति घटेगी और ब्याज की दर आगे चल कर कम हो जाएगी।

हम एक साम्यावस्था की स्थिति (equilibrium) से आरम्भ करते हैं। मान लीजिए कि बचत में आकस्मिक वृद्धि होती है और इस प्रकार पूँजी की पूर्ति बढ जाती है। उससे ब्याज की दर कम हो जाएगी, क्योंकि पूँजी की सीमान्त-उत्पादन-शक्ति कम हो जाएगी, अर्थात् पूँजी ऐसे कामों के लिए भी उपलब्ध होगी, जिनमें उसकी सीमान्त-उत्पादन-शक्ति कम होगी। ब्याज की दर का गिरना उस समय रुकेगा जबकि दर वहाँ तक पहुँच जाएगी जहाँ कि उसके गिरने से माँग में जो बढती हुई हो, वह पूर्ति के समान हो जाए। इसके विपरीत तब होगा जबकि पूँजी की पूर्ति में कमी होगी। पूँजी अपेक्षाकृत दुर्लभ होने पर ऐसे ही कार्यों में प्रयुक्त होगी, जिनमें उसकी सीमान्त उत्पादन शक्ति अधिक ऊँची होगी। तब ब्याज की दर बढ जाएगी। माँग और पूर्ति ऊँचे ब्याज की दर पर साम्यावस्था में होंगे।

माँग की वृद्धि का असर वही होता है, जो पूर्ति में कमी का होता है। और माँग की कमी का वही असर होता है जो कि पूर्ति में वृद्धि का होता है।

ब्याज की मार्केट दर वह होगी जिस पर कि पूँजी की माँग और पूर्ति साम्यावस्था में है अर्थात् वह बिन्दु जिस पर सकल उधार देने वालों की राशि सकल उधार लेने वालों की राशि के समान बैठती है।

ब्याज और दुर्लभता का सिद्धान्त (Interest and the Scarcity Principle)—वास्तविक स्रोतों (resources) की दृष्टि से ब्याज की उत्पत्ति एक ओर तो दुर्लभ साधनों से तथा दूसरी ओर उनके हो सकने वाले अनेक प्रकार के वैकल्पिक उपयोगों के सम्बन्ध से होती है। इस वास्तविक अर्थ में पूँजी की सीमान्त-उत्पादन-शक्ति उन वस्तुओं की सीमान्त-उपयोगिता से उत्पन्न होती है जिनके उत्पादन के लिए पूँजी (अन्य साधनों के सहित) की सेवाएँ प्राप्त की जाती हैं।

निर्दिष्ट स्रोत तथा प्रतियोगी माँग आमने सामने आ जाती हैं। इन स्रोतों को दूसरे सर्वोत्तम कामों में लगाने से रोकने के लिए कीमत चुकानी ही चाहिए। अन्तत ब्याज की दर से कमी की वह मात्रा ज्ञात होती है, जो उत्पादन के अन्य तत्वों के

सम्बन्ध से पूंजी की कमी ज्ञात होती है, जबकि वह उपभोक्ताओं की विभिन्न प्रकार की वस्तुओं एव सेवाओं की प्रतिद्वन्द्वी मांगों म सहायक होती है।

१२ बैंकों का ब्याज पर क्या प्रभाव होता है ? (How Banks Effect Interest ?)—यह कहना बडी भूल है कि उधार का एक मात्र स्रोत व्यक्तिगत रूप से बचत करने वाले हैं। यह तो स्पष्ट ही है कि व्यापारी ऐसे लोगों से उधार नही लेते। वे बैंकों से उधार लेते हैं। बैंकों की ओर से उनका समय अधिमान (time preference) नही होता। चूंकि वे नकदी के रूप म उधार नही देते बल्कि निक्षेप (deposit) बनाने म सहायक होते हैं इसलिए वे उधार देने की ओर आकृष्ट होते हैं और अपनी प्राप्ति (earning) बढाते हैं। इस तरह स्वेच्छा अथवा अनिवार्य बचत के कारण मुद्रा स्फीति (inflation) की स्थिति पैदा हो जाती है। यद्यपि बैंक के लिए समय अधिमान का कोई महत्त्व नही है, लेकिन तरलता अधिमान (liquidity preference) का है। उधार देने के लिए किय गए वायदों को पूरा करने के लिए उसके पास काफी तैयार पैसा होना जरूरी है। इससे वे शक्ति से ज्यादा उधार देने (over-lending) से बचे रहते हैं।

सैण्ट्रल बैंक, जो समस्त देश की बैंकिंग व्यवस्था का नियन्त्रण करता है, बैंक साख को नियमित करके इस स्थिति म है कि ब्याज की दर निश्चित करे। वे सिक्यु-रिटियाँ खरीद कर अथवा उधार देकर नय द्रव्य का सृजन कर सकते हैं, और द्रव्य की मात्रा, उधार देना बन्द करके अथवा सिक्युरिटियाँ बेचकर घटा सकते हैं। सैंण्ट्रल बैंक, बैंक दर निश्चित करता है और सारी अर्थव्यवस्था पर प्रभाव डालता है। जब तक बैंक के पास सिक्युरिटियाँ बेचने और खरीदने के साधन हैं वे ब्याज की कोई भी दर बनाए रख सकते हैं। बेन (Bain) के शब्दों म "सैंण्ट्रल बैंक द्वारा विनियमित बैंकिंग व्यवस्था, ब्याज की दर निर्धारित करने मे समर्थ है, और जब वह ऐसा करता है, ब्याज की दर निश्चित कीमत बन जाती है, तथा द्रव्य की मात्रा विभिन्न हो जाती है, जो नियोजन के लिए निधि की मांग, तथा तरल शेष (liquid balances), और बचत की पूर्ति आदि जैसे विभिन्न कामों के लिए अपने आपको अनुकूल बनाती है।"

१३ अनिवार्य एव ऐच्छिक बचत (Forced Saving and Voluntary Saving)—हम ऊपर देख चुके हैं कि पूंजी की पूर्ति बचत पर निर्भर करती है। स्वेच्छा से की गई बचत और विवशता से की गई बचत म कभी-कभी कुछ अन्तर समझा जाता है। स्वैच्छिक बचत से तात्पर्य व्यय से बच रही आय से होता है। यह बचत की सामान्य कल्पना है। लोग इस प्रकार की बचत स्वय करते हैं। वे अपनी आय बढाने तथा व्यय कम करने की कोशिश करते हैं और इस प्रकार बचत करते हैं। यह सब स्वेच्छा से होता है और बचत का सबसे अधिक स्वाभाविक मार्ग मालूम होता है।

परन्तु अर्थशास्त्र के क्षेत्र म रकम और द्रव्य की शब्दावली मे एक नई कल्पना प्रविष्ट हुई है। वह है अनिवार्य बचत की। इस बचत का सम्बन्ध मुद्रा प्रसार (infla-tion) से है। मुद्रा-प्रसार केवल नोट और द्रव्य बनाने वाले अधिकारियों द्वारा अधिकाधिक नोट प्रचलित करने से ही नही बढता वरन् बैंकों द्वारा अधिक उधार देने

तथा अधिक प्रत्यय दे देने के कारण भी मुद्रा-प्रसार हो सकता है। बैंक ऋण देकर साख की सृष्टि करते हैं। बैंक का प्रत्येक ऋण निक्षेप (deposit) की सृष्टि करता है। निक्षेप की यह कृत्रिम वृद्धि उधार लेने वालो के हाथो मे अधिक रकम दे देती है। इससे समुदाय (community) मे अतिरिक्त क्रय-शक्ति की सृष्टि होती है। इस प्रकार चाहे मुद्रा-प्रसार सरकारी नीति का परिणाम हो, चाहे बैंकिंग प्रथा का, उससे कीमत बढ सकती है। कीमतो मे वृद्धि से "स्थायी आय वालो को बचत के लिए बाध्य" होना पडता है।

स्वेच्छा की बचत अनिश्चित काल तक बिना किसी हानिकारक प्रभाव के चलती रह सकती है। स्वेच्छा की बचत स्वागत करन योग्य है और उसको प्रोत्साहित करने के लिए प्रत्येक उपाय किया जाना चाहिए। परन्तु बाध्य बचत एक कृत्रिम वस्तु है और हानिकारक भी है। मुद्रा-प्रसार मे बडी सकटपूर्ण सम्भावनाएँ निहित रहती हैं। जो राष्ट्र मुद्रा-प्रसार का सहारा लेता है, वह एक बडे जटिल चक्र मे फँस जाता है और फिर उससे निकलना कठिन हो जाता है। अत्यधिक मुद्रा-प्रसार से आर्थिक व्यवस्था ही अस्त-व्यस्त नही हो जाती वरन् उससे राज्य की सुस्थिरता तक खतरे मे पड जाती है। इसलिए अनिवार्य बचत को सकट-रहित सीमा के अन्तर्गत ही रखना चाहिए, जबकि स्वेच्छापूर्ण बचत की कोई सीमा निर्धारित नही की जा सकती।

हम इन दोनो अर्थात् अनिवार्य और ऐच्छिक बचतो में एक और अन्तर देखते हैं। अनिवार्य बचत की परिस्थिति म उपभोग रुकता है, इसलिए उपभोग की सामग्री का उत्पादन कम होने लगता है, परन्तु वस्तुओ की कीमत बढने से व्यापार को प्रोत्साहन मिलता है और अधिक कारखाने खडे किए जाते हैं। इसलिए उत्पादन की सामग्री (पूँजीगत माल) में वृद्धि होती है।

अन्तत: बाध्य बचत (मुद्रा-प्रसार) कीमतो म सभी ओर वृद्धि करती है। उपभोग की वस्तुओ तथा पूँजीगत सामग्री दोनो की कीमते बढती हैं। परन्तु स्वेच्छा की बचत से उपभोग की वस्तुओ की माँग कम होती है और उत्पादको की अर्थात् पूँजीगत सामग्री की माँग बढती है। इसलिए उसकी कीमते उपभोग की वस्तुओ की अपेक्षा अधिक बढती हैं।

१४. अल्पावधि और दीर्घावधि की दरें (Short-term and Long-term Rates)—उपर्युक्त विवेचन से यह समझना सहज है कि ब्याज की दर मे क्यो परिवर्तन होता है। यदि पूँजी की अपेक्षाकृत कमी (scarcity) होती है, तो ब्याज की दर मे साधारणतया वृद्धि होगी। अपेक्षाकृत कमी माँग की वृद्धि अथवा पूर्ति की कमी से होती है।

ब्याज की दरो मे परिवर्तन के सम्बन्ध मे कहा जा सकता है कि अल्पावधि प्रभावो तथा दीर्घावधि प्रभावो मे अन्तर रहता है। पहले हम अल्पावधि की दरो (short-term rates) को लेंगे। अल्पावधि मे सामान्य रूप से यह दुर्लभता माँग से आरम्भ होगी। यदि व्यापारियो को उद्योग वृद्धि अथवा अधिक ऊँचे दामो और लाभ की आशा होती है, तो अल्पकाल मे ब्याज की दर बढेगी, क्योकि पूँजी के लिए माँग अधिक होगी।

अल्पकालीन दरों की वृद्धि पूर्ति पर प्रभाव डालने वाले कारणों से भी हो सकती है। उदाहरणार्थ, फसलों के खराब होने से पूंजी की कमी पैदा हो सकती है। आयकर में वृद्धि होने से लोगों की बचत की शक्ति गिर सकती है। काम के घण्टे कम करने और परिणामस्वरूप उत्पादन कम करने का भी ऐसा ही प्रभाव हो सकता है।

इसी प्रकार के प्रभावों से अल्पावधि में ब्याज की दर कम होती है। व्यापार की मन्दी की आशंका से व्यवसाय में नई पूंजी लगाने में हिचकिचाहट होगी, स्थिर ब्याज वाली प्रतिभूतियों की मांग बढ़ जाएगी, उनका मूल्य बढ़ जाएगा, उत्पादन गिरेगा और ब्याज की दर गिरेगी। जहां तक पूर्ति का सम्बन्ध है, नए आविष्कारों से पूंजी में बचत हो सकती है। बहुत "अच्छी" फसल पैदा होने का भी पूंजी की पूर्ति में बढ़ती और अल्पकालीन दरों में गिरावट का असर हो सकता है। इसी प्रकार मजदूरी में सामान्य वृद्धि होने से राष्ट्रीय लाभांश में पूंजी का शेयर (अथवा ब्याज की दर) गिर सकता है।

अल्पकालीन दरों पर राजनैतिक कारणों का भी प्रभाव पड़ता है। राजनैतिक सुरक्षा में सन्देह होने से उद्योग व्यवसाय में रुपया लगाने का उत्साह कम होगा और विनियोग के लिए मांग भी घटेगी और ब्याज की दर कम होगी। इस प्रकार किसी अन्तर्राष्ट्रीय संकट से ब्याज की दर बहुत कम हो जाएगी। परन्तु ब्याज की दर ऊँची भी हो सकती है, यदि इस तरह का संकट ऋण-बाज़ार में उधार दी जाने वाली पूंजी को कम कर दे।

अभी तक अल्पावधि की दरों के बारे में बताया गया है। दीर्घकाल के विषय में क्या कहा जा सकता है? अल्पकालीन दरों में परिवर्तन होने से उसी के समान दीर्घकालीन दरों में परिवर्तन होता है, क्योंकि रुपया एक से दूसरे बाज़ार की ओर चलने लगता है परन्तु फिर भी दीर्घकालीन दरों पर दीर्घकालीन तत्वों का, जैसे कि जनसंख्या में वृद्धि अथवा लोगों की बचत करने की आदतों में परिवर्तन होने का असर होता है और सब बातें समान होते हुए भी आबादी में वृद्धि होने से अन्तत ब्याज की दरें बढ़ जाती हैं और कमी होने से घट जाती हैं। दीर्घायु की आशा से बचत को प्रोत्साहन मिलता है और ब्याज की दर कम होती है। इसके विपरीत भी विलोमत होता है। भविष्य के विषय में अनिश्चितता होने से बचत करने के लिए उत्साह नहीं होगा और ब्याज की दरों में वृद्धि होगी।

सामान्यत दीर्घकालीन ऋणों पर अल्पकालीन ऋणों की अपेक्षा ब्याज की दर अधिक होती है। लम्बी अवधि की प्रतिभूतियों (securities) के ह्रास का भय अल्पकालीन ऋणपत्रों की अपेक्षा अधिक रहता है। इसलिए लम्बी अवधि के ऋण में ब्याज की दर का एक अंश उस आशंका के बदले की क्षतिपूर्ति के रूप में होता है। ऋण की जितनी ही लम्बी अवधि होती है, उतना ही अधिक भुगतान न होने अथवा पूंजीगत मूल्य के ह्रास की आशंका रहती है।

अल्पकालीन दरों में दीर्घकालीन दरों की अपेक्षा अधिक चढ़ाव-उतार की सम्भावना रहती है। कारण यह है कि परिवर्तन पहले अल्पकालीन ऋण के बाज़ार

मे होता है, और उसी के अनुसार दीर्घकालीन ऋण (वास्तविक न कि नाममात्र का) की ब्याज दरो पर प्रभाव पड़ने लगता है। उदाहरण के लिए, यदि अल्पकालीन दरें तेजी से बढती है, तो पूंजी लगाने वाले अपनी प्रतिभूतियो को, सरकारी ऋणपत्रो को बेच कर उनके रुपयो को अल्पकालीन ऋण तथा ऐसे ही अन्य अल्पकालीन भुगतान पत्रो मे लगाएँगे। बिक्री के दबाव से प्रतिभूतियो की कीमत गिरेगी और उसी के अनुपात से उनकी आय बढ जाएगी। इस प्रकार दीर्घकालीन दरें बढ जाएँगी। इसका उल्टा होगा यदि अल्पकालीन दरें गिरती है। लोग अपनी रकम को अल्पकालीन ऋण बाज़ार में लगाने की अपेक्षा दीर्घकालीन बाज़ार म लगाने की ओर अधिक प्रवृत्त होंगे और दीर्घकालीन प्रतिभूतियो की मॉग बढने से उनके पूंजी मूल्य म वृद्धि होगी। ऐसी प्रतिभूतियो की कीमत कम हो जाएगी और दीर्घकालीन ब्याज की दर बढ जाएगी।

१५ आर्थिक प्रगति और ब्याज की दर (Economic Progress and the Rate of Interest)—आर्थिक प्रगति टेक्नीकल अर्थों मे उत्पादन की मात्रा तथा प्रकार मे विस्तार, जीवन-स्तर में वृद्धि, आदि बातो से जानी जाती है। आर्थिक प्रगति तथा ऊँची आय होने से वस्तुओ की मॉग म वृद्धि अनिवार्य है। फलत आर्थिक प्रगति के साथ पूंजी की मॉग भी बढ जाती है। इससे यह मालूम पडेगा कि जितनी ही हम आर्थिक प्रगति करेंगे, उतनी ही ब्याज की दर भी बढेगी।

परन्तु ऐसा होता नही। आर्थिक प्रगति के साथ-साथ हमारी बचत की शक्ति और इच्छा भी काफी बढ जाती है। उपभोग की अपेक्षा उत्पादन अधिक होता है। बैंक और बीमा कम्पनियो के विकास से लोगो को रुपया लगाने के अच्छे अवसर मिल जाते है। जीवन और सम्पत्ति की सुरक्षा, शिक्षा म उन्नति आदि से बचत करने की इच्छाएँ और प्रबल हो जाती है। इन सब का सम्मिलित प्रभाव यह होता है कि पूंजी की पूर्ति मॉग की अपेक्षा बहुत अधिक बढ जाती है। इसलिए ब्याज की प्रवृत्ति लगातार गिरने और घटने की ओर होती है।

१६ समाजवादी राज्य और ब्याज (Interest in a Socialist State)—समाजवादी व्यवस्था मे भी ब्याज को हटाया नही जा सकता, भले ही वह प्राइवेट व्यक्तियो को भुगतान न किया जा सके। वहाँ भी उसके जरिए पूंजी के सीमित साधनो के विभिन्न उपयोगो के लिए प्राथमिकताओ का निर्णय करना पडेगा। समाजवादी राज्य मे सम्भवत. प्राथमिकताओ का क्रम पूंजीवादी समाज से विभिन्न होगा, परन्तु ब्याज अपना कार्य फिर भी करेगा। उसका वही काम है जो कीमत का है। पूंजी की मॉग का उपलब्ध पूर्ति से समायोजन होता है। वह पूंजी को वैकल्पिक उपयोगो के लिए होने वाली प्रतिद्वन्द्विताओ के बीच ठीक हिसाब मे वितरण करता है। ब्याज के द्वारा ही पूंजी के जिस उपयोग से अधिक लाभ की आशा होती है उसको प्राथमिकता दी जाती है। यह ठीक है कि पूंजीवादी व्यवस्था में अधिक से अधिक लाभ की कल्पना समाजवादी व्यवस्था से अलग प्रकार की होगी। पहली दशा मे उद्योग मे रुपया लगाने वाले व्यक्ति को अधिक से अधिक लाभ का विचार होगा और दूसरे मे सर्वसाधारण के लाभ का; और उसी के अनुसार पूंजी के नियोजन मे प्राथमिकता का क्रम निर्धारित होगा। ब्याज को समाप्त नही किया जा सकता। इसका समाजीकरण (socialisa-

tion) कर सकते हैं, बशर्ते कि आप पूंजी का समाजीकरण कर डालें। जब तक पूंजी का समाजीकरण नहीं होगा, तब तक पूंजी के निर्माण के लिए ब्याज अवश्य देना होगा। इसलिए ब्याज अवश्य दिया जाना चाहिए क्योंकि उधार लेने वाला उसे दे सकता है और यदि उसको पूंजी की आवश्यकता है तो ब्याज ऋणदाता को अवश्य दिया जाना चाहिए।

१७ ब्याज और लगान (Interest and Rent)—अब हम ब्याज और लगान के अन्तर को समझाने का प्रयत्न करेंगे।

(i) सभ्यता और आर्थिक प्रगति के साथ ब्याज की दर कम होती है जबकि लगान की दर बढती है। यह इसलिए होता है कि पूंजी की पूर्ति लगातार बढती रहती है। परन्तु भूमि की मात्रा सीमित है और बढाई नही जा सकती जबकि उसकी मांग जनसख्या की वृद्धि के साथ बढती जाती है।

(ii) उर्वरा शक्ति तथा स्थितियो म विभिन्नता होने से भूमि के लगान मे भी अनेक अन्तर होते हैं। भूमि के गुणों के अन्तर स्थायी होते हैं। जितनी ही अधिक प्रतियोगिता होगी, उतना ही अधिक लगानो म अन्तर होगा। भूमि की गतिहीनता के कारण उसको एक उपयोग से दूसरे उपयोग मे परिवर्तित नही किया जा सकता, इस लिए लगान के अन्तर स्थायी होने की ओर प्रवृत्त रहते हैं।

दूसरी ओर ब्याज की प्रवृत्ति समानता की ओर होती है। केवल 'सकल' (gross) ब्याज मे खतरे तथा असुविधाजनक तत्वो के कारण अन्तर होता है। पूंजी उससे कही अधिक गतिशील (mobile) होती है और इसलिए शुद्ध ब्याज के अन्तर यदि कुछ होते भी हैं तो प्रतियोगिता के कारण उनके लोप होने की सम्भावना रहती है।

(iii) लगान-रहित भूमि (no rent land) भी होती है परन्तु ब्याज हीन पूंजी (no interest capital) नही हो सकती। पूंजी का निर्माण मनुष्य द्वारा होता हैं और उसकी पूर्ति की एक निश्चित कीमत होती है। पूंजी के प्रत्येक अश पर कुछ न कुछ ब्याज अवश्य होगा। परन्तु कुछ भूमि इतनी अनुपजाऊ या अनुपयोगी हो सकती है कि उस पर कोई लगान न हो। भूमि प्रकृति की देन है और कुछ न मिलने पर भी इसे हटाया नही जा सकता।

१८ ब्याज, लगान और अर्ध लगान या आभास लगान (Interest, Rent and Quasi-Rent)—कुछ अर्थशास्त्री इस बात को स्वीकार नही करते कि लगान, अर्ध लगान या आभास लगान तथा ब्याज मे कोई अन्तर है। उनका तर्क है कि भूमि के बारे मे कोई विचित्रता नही है और यदि है भी तो उसे बहुत बढा चढा कर कहा जाता है। भूमि की तरह और भी अनेक वस्तुएं हैं जो सीमित हैं। उत्पादन के अन्य साधनो म भी अन्तर का तत्व रहता है। इसलिए यह तर्क पेश किया जाता है कि पूंजी लगाने से होने वाली आय चाहे वह भूमि सदृश स्थायी वस्तुओ म लगाई जाए अथवा अर्धस्थायी या नष्ट होने वाली वस्तुओं में लगाई जाए, अर्थशास्त्र के सिद्धान्तो की क्रिया की दृष्टि में, यह सब समान है। दुर्लभता का सिद्धान्त मूल्य का निर्धारण करने में हर अवस्था म लागू होता है।

परन्तु इन समानताओं के कारण हमें ब्याज, लगान अथवा अर्ध-लगान या आभास लगान के अन्तर को नहीं भुलाना चाहिए। सबसे बड़ा अन्तर परिवर्तन तत्व की पूर्ति की रकम पर होने वाली प्रतिक्रिया का होता है। लगान बढ़ सकता है या घट सकता है परन्तु भूमि की पूर्ति अप्रभावित रहती है और अर्ध-लगान या आभास लगान की दशा में भी कुछ समय के लिए पूर्ति अपरिवर्तित रहती है। परन्तु शीघ्र पुनरुत्थान की जाने वाली चीजों (पूँजी) के अर्जन में परिवर्तन होने की प्रतिक्रिया बड़ी शीघ्र उसकी पूर्ति पर होती है। बात यह है कि भूमि की दुर्लभता उसका स्थायी लक्षण है, जबकि और वस्तुओं की दुर्लभता अपवाद स्वरूप और अस्थायी होती है।

किसी साधन की पूर्ति की लोच (elasticity) और उसके सन्तुलन एवं समायोजन (adjustment) के लिए आवश्यक समय की आवश्यकता के कारण लगान, अर्ध-लगान और ब्याज में अन्तर होता है। यदि किसी साधन की पूर्ति स्थिर होती है, जैसी कि भूमि की अल्प तथा दीर्घकाल दोनों के लिए होती है, तो उससे होने वाली आय लगान के तौर पर होती है। यदि पूर्ति अल्पावधि के लिए लोचहीन (inelastic) होती है और दीर्घकाल के लिए लोचदार होती है जैसे कि मशीन-घरों की युद्ध काल में होती है तो आय अर्ध लगान कहलाती है। परन्तु यदि किसी साधन की पूर्ति अल्प तथा दीर्घ दोनों कालों में लोचपूर्ण है, तो उससे होने वाली आय ब्याज कहलाती है।

परन्तु मार्शल जैसे कुछ अर्थशास्त्री कहते हैं कि ये अन्तर मात्रा के हैं, प्रकार के नहीं। वे कहते हैं कि 'धीरे-धीरे चल-पूँजी पर ब्याज और पुरानी पूँजी के लगाने से प्राप्त अर्ध-लगान एक-दूसरे से मिल जाते हैं। भूमि का लगान भी स्वयं कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है, वरन् एक बड़ी प्रजाति की ही एक मुख्य जाति है।"[1] परन्तु मात्रा का यह अन्तर भी व्यावहारिक नीति और कराधान नीति के दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण है। इनसे सामाजिक और वित्तीय महत्व की बड़ी समस्याएँ उत्पन्न होती हैं।

१६. ब्याज पर द्रव्य के मूल्य में परिवर्तन होने का प्रभाव (Effect of Changes in the Value of Money on Interest)—द्रव्य के मूल्य का अर्थ होता है उसकी क्रय-शक्ति, जो फिर कीमतों के स्तर पर निर्भर है। यदि कीमतें बढ़ती हैं, तो द्रव्य कम खरीद सकता है अर्थात् द्रव्य का मूल्य कम होता है। इसके विपरीत जब कीमतें गिरती हैं, तो द्रव्य का मूल्य बढ़ता है।

अब हमें देखना चाहिए कि द्रव्य के मूल्य में अथवा कीमतों में परिवर्तन होने से ब्याज की दर पर क्या प्रभाव पड़ता है।

जब कीमतें ऊँची होती हैं, तो व्यापारियों को बड़ा लाभ होता है, पूँजी की माँग बढ़ती है और ब्याज की दर भी बढ़ती है। कीमतें बढ़ने पर ऋणदाता को घाटा होने से वे अपनी क्षतिपूर्ति करने का प्रयत्न ब्याज की दर बढ़ा कर करेंगे। फिर कीमतों में निरन्तर वृद्धि होते रहने से वर्तमान में वस्तुओं की प्राप्ति को भविष्य की अपेक्षा अधिक महत्व दिया जाता है। इस प्रकार ब्याज के आस्ट्रियन सिद्धान्त (Austrian theory of interest) की दृष्टि से ब्याज की दर बढ़ेगी। जब वस्तुओं

---

1 Marshall: Principles, p 421.

की कीमत बढने के साथ द्रव्य का मूल्य घटता है पूंजीपतियो को रुपया बचाने के लिए आकर्पित करने को प्रलोभन की आवश्यकता पडती है। जब तक वह प्रलोभन नही होगा अर्थात् जब तक ब्याज की दर नही बढती तब तक पूंजी की पूर्ति कम बनी रहेगी। माँग वही रहने पर, ब्याज की दर म वृद्धि अवश्य होगी।

दूसरी ओर जब कीमतें गिरती हैं, तो साधारणतया ब्याज की दरें भी गिरने लगती हैं। द्रव्य की क्रय शक्ति बढने से ऋणदाता ब्याज की कम दर पर भी सन्तोष कर लेंगे। ऋणी भी अधिक ब्याज देने म समर्थ नही होगे, क्योकि जब कीमतें गिरती हैं, तो ऋण का बोझ बढता है। कीमत गिरने से व्यापार में रुपया लगाने म हतोत्साह होता है, पूंजी की माँग कम होती है और ऐसी दशा म ब्याज की दर गिरेगी।

अत, हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि विलोमत (inversely) ब्याज की दर द्रव्य के मूल्य में परिवर्तन के अनुसार तथा प्रत्यक्षत वस्तुओ की कीमत के स्तर मे परिवर्तन के अनुसार बदलती है।

२० ब्याज की दर में परिवर्तन के परिणाम (Consequences of Changes in Interest Rates)—ब्याज की दरो म बढती और घटती होने से कई प्रतिक्रियाएँ होती हैं। ब्याज की दर म वृद्धि होने के कुछ परिणाम, सक्षेप म, ये हैं—(१) ब्याज की दर बढने मे वस्तुओ का स्टॉक अधिक महगा हो जाता है। सट्टेबाज और बिचौलिए (middlemen) हतोत्साह होते हैं। कच्चे माल तथा अर्धनिर्मित माल की माँग कम हो जाती है और परिणामस्वरूप उनकी कीमतें गिरने लगती हैं। (२) ब्याज की दरें बढने पर मकानो के निर्माण की लागत भी बढ जाती है। यदि मकानो का किराया नही बढता तो गृह निर्माण कम होने लगता है। जब तक लाभ की दरें नही चढती, तब तक कारखानो के लिए भी माँग नीचे गिरती रहेगी। (३) ब्याज की दर बढने पर पूंजीपति भी तब तक कम ही उधार लेंगे जब तक उन्हे बहुत बडे लाभ की आशा न होगी। इससे औद्योगिक एव व्यावसायिक विकास म बाधा पडेगी। (४) ब्याज की दर बढने से बचत करने का प्रोत्साहन मिलेगा और कालान्तर में पूंजी की पूर्ति म वृद्धि होगी। (५) बांडो की कीमतो में कमी हो जाएगी। क्योकि ऊँचे ब्याज पर अपेक्षाकृत कम रकम लगाने से भी वचनपत्रो से उतना ही ब्याज मिलेगा।

ब्याज की दर कम होने से विपरीत परिणाम होगे—(१) स्थिर ब्याज के बांड (fixed interest bearing bonds) की कीमत बढ जाएगी। (२) बचत करने का उत्साह कम होगा। (३) सट्टेबाजी की वृद्धि होगी और कच्चे माल अथवा अर्धनिर्मित वस्तुओ की माँग बढ जाएगी क्योकि स्टॉक की कीमत उस अवस्था में कम होगी। (४) औद्योगिक तथा व्यावसायिक प्रगति म सहायता मिलेगी, परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि केवल ब्याज की दर गिरने से यह नही होगा। अधिक लाभ होने की आशा अवश्य होनी चाहिए, नही तो केवल ब्याज की दर कम होने से व्यवसायी उधार लेने के लिए आकर्पित न होगे। घोडे को जल के पास ले जाया जा सकता है, परन्तु उसे पानी पीने के लिए बाध्य नही किया जा सकता। (५)

भवन-निर्माण को प्रोत्साहन मिलेगा। (६) यदि ब्याज की दर स्वैच्छिक बचत के कारण गिरी होगी तो उपभोक्ता सामग्री की माँग कम होगी और उत्पादन सामग्री के लिए बढ़ेगी। उत्पादन के साधन उत्पादन सामग्री के उद्योग की ओर प्रवाहित होंगे। (७) यदि ब्याज की कम दर, पूँजी की पूर्ति अधिक होने से है, तो उत्पादन के अन्य साधनों के साथ पूँजी का अधिक उपयोग होने से उनकी सीमान्त उत्पादन शक्ति में वृद्धि होगी। इससे लगान और मजदूरी बढ़ेगी। (८) कारखाना म वस्तुएँ अधिक बनने से चीज़ें सस्ती होंगी और इससे उपभोक्ता वर्ग को लाभ होगा।

निर्देश पुस्तकें

Keynes, J N General Theory of Employment, Interest and Money

Benham, F Principles of Economics

Meyers A L Elements of Modern Economics, 1951 Ch 17

Tarshis, L Elements of Economics, 1946, Ch 25

Bain, J S Pricing Distribut on and Employment 1948, pp 384 395

Fisher, J The Nature of Capital and Interest

Cassel G Nature and Necessity of Interest

Stigler, G J Production and Distribution Theories

Wilson T Fluctuations in Income and Employment, Chs 1, 2 and 3

Lakshmi Narasimhan S Theories of Interest

Marshall A Principles of Economics

Marshall, A Readings in the Theory of Income Distribution, pp. 355 499

Marshall, A Readings in Business Cycle Theory

Hess and Others Outside Readings in Economics 1951

Hicks J R Mr Keynes and the Classics Econometricia, 1936 (Reprinted in Readings in Theory of Business Cycles)

Richard Youngdahl on The Structure of Interest Rates on Business Loans of Member Banks , Federal Reserve Bulletin, July 1947 pp 803 807

अध्याय २९

लाभ

(Profits)

१ लाभ का स्वरूप (Nature of Profits)—लाभ उद्यमी कार्यों की अपेक्षा उद्यमी का पुरस्कार है। ड्रूकर (Druker) के शब्दों में, "पिछली लागत पर वर्तमान आय की बढ़ौती को लाभ कहते हैं। यह वर्तमान आय की पिछले औसत से तुलना करके मापा जाता है। यह भूतकाल पर वर्तमान का प्रक्षेप है।" व्यापारिक दृष्टि से लाभ का यही अर्थ होता है। परन्तु औद्योगिक दृष्टिकोण इससे भिन्न है, यह व्यक्तिगत होने के बजाए सामूहिक (corporate) है। उत्पादन एक विस्तृत विधि है जब कि व्यापार अति सन्निहित विधि है। अतएव औद्योगिक अर्थव्यवस्था भूत की अपेक्षा भविष्य पर अधिक ध्यान देती है। औद्योगिक अर्थ व्यवस्था के दृष्टिकोण से लाभ वर्तमान लागत तथा वर्तमान उत्पादन की भिन्नता से मालूम किया जाता है और यह व्यवसाय में रुके रहने के लिए भावी लागत पर एक प्रकार का पारितोषिक है। और भावी लागत का आशय व्यवसाय में होने वाले विभिन्न प्रकार की जोखिमों से है।

२ सकल लाभ का विश्लेषण (Analysis of Gross Profits)—लाभ का वास्तविक स्वरूप समझने का सबसे अच्छा उपाय यह है कि उद्यमी की सकल आय का उसके विभिन्न भागों में विश्लेषण कर लिया जाए। उद्यमी को जो कुछ प्राप्त होता है, उस सब को 'सकल लाभ' कहा जाता है न कि सिर्फ उसके कृत्यों से होने वाला लाभ। यह कई तत्त्वों का सम्मिश्रण है। प्रो० वॉकर (Walker) पहले अर्थशास्त्री हुए हैं जिन्होंने इस जटिल अवस्था में से लाभ और ब्याज में फर्क करने की कोशिश की। उनके अनुसार, उद्यमी की आय सिर्फ दो तत्त्वों से बनी है अर्थात् ब्याज तथा लाभ।

आधुनिक काल में इस विषय में और अधिक छान बीन हुई है जिससे पता चलता है कि शुद्ध लाभ तो बहुत सी मदों में से एक मद है जो सिर्फ उद्यमी कृत्यों (entrepreneurial functions) से प्राप्ति के रूप में मिलती है। व्यापार से होने वाली कुल प्राप्तियों में से उस रकम को निकाल देना चाहिए, जो ठेकेदारी के आधार पर प्रयुक्त उत्पादन के विभिन्न साधनों को पारिश्रमिक रूप में दी गई है। इस प्रकार भूमि का लगान, मजदूरों का वेतन और पूँजी का ब्याज घटा देना चाहिए। इसके बाद जो धन बचता है, वह व्यापार का सकल लाभ अथवा सकल आय होती है। इनका निम्नलिखित रूपों में विश्लेषण किया जा सकता है —

(१) प्रायः व्यापार में लगी हुई उद्यमी की निजी पूँजी के ब्याज को भ्रम से लाभ में शामिल कर दिया जाता है। लेकिन यह लाभ नहीं है, क्योंकि उद्यमी अपनी पूँजी को किसी अन्य को ऋण के रूप में देकर उससे ब्याज पा सकता है। इसलिए

हमें ब्याज की चालू दर के अनुसार कुल प्राप्ति में से ब्याज की रकम घटा देनी चाहिए।

(ii) उद्यमी की निजी भूमि के किराए को भी लाभ म नही शामिल करना चाहिए। वह अपनी भूमि को किसी दूसरे किराएदार को देकर उससे किराया ले सकता था। अस्तु उस प्रकार की भूमि का जो चालू किराया हो उसके बराबर कुल आय म से कटौती कर देनी चाहिए।

(iii) प्रबन्ध व्यवस्था पर वेतन के रूप में उद्यमी पर होने वाला व्यय—यह प्रबन्धक के रूप में उद्यमी द्वारा किए गए श्रम का पारिश्रमिक है। वह किसी दूसरी व्यवसाय सस्था म वेतन पर यही काम कर सकता था। इसलिए उसे वेतन दिया ही जाना चाहिए और इसको उसका वेतन समझा जाना चाहिए, न कि उसका लाभ।

उक्त तीनो तत्त्व वस्तुत, उद्यमी क पुरस्कार नही हैं बल्कि पूँजीपति, जमीदार व प्रबन्धक के प्रतिफल हैं जो बिना उद्यमी हुए भी वह इतना प्राप्त कर सकता है।

(iv) जोखिम उठाने वाले के रूप म उद्यमी का पुरस्कार—जोखिम उठाने का कार्य उद्यमी को स्वय करना होता है। दुर्घटना, आग लगना आदि जैसे कुछ जोखिमो का तो बीमा किया जा सकता है लेकिन अनेक ऐसे जोखिम हैं जिनका बीमा नही हो सकता और वे सब उद्यमी को ही उठाने पड़ने हैं।

(v) मजदूर, पूँजीपति, जमीदार, कच्चे माल की पूर्ति करने वाले तथा उपभोक्ताओ के साथ सौदा करने की अधिक योग्यता होन के कारण होने वाला उद्यमी का लाभ भी शामिल है।

(vi) तत्पश्चात् एकाधिकार लाभ का भी अश हो सकता है (देखिए विभाग ६)। यह लाभ अपूर्ण प्रतियोगिता के कारण होने हैं जिनक अन्तर्गत उद्यमी अधिक कीमत लेकर अथवा प्रयुक्त साधनो को कम पारिश्रमिक देकर अपने लाभ को बढा सकता है।

(vii) सयोगवश होने वाले लाभ—यह लाभ परिस्थितियो के कारण भाग्यवश अचानक हो जाते हैं, जैसे युद्ध छिड जाने पर युद्ध के लिए आवश्यक वस्तुओ के उत्पादको तथा अन्य वस्तुओ के उत्पादको को भी बड परिमाण म लाभ होते हैं। युद्धकाल में अनेक उद्यमियो ने चीजो की माँग और फलस्वरूप कीमत बढ जाने के कारण भारत तथा अ य देशो म बहुत बडे परिमाण में लाभ उठाया था। आकस्मिक लाभ केवल कीमत के तुरन्त ही बढने से नही होता। वे स्वाद म परिवर्तन अथवा वस्तु के नए प्रयोग के पता लगने से माँग म आकस्मिक वृद्धि से भी हो सकते हैं। आकस्मिक लाभ जनसख्या में परिवर्तन से भी होगा।

अब हम यहाँ लाभ के कुछ सर्वविदित सिद्धान्तो का अध्ययन करेंगे।[1]

३ लाभ जोखिम उठाने का एक पुरस्कार (Profits, a Reward for Risk-bearing)—बहुत से ऐसे लोग हैं, जो जोखिमो का ध्यान रखते हैं और व्यापार के मैदान में आने से पहले हिचकिचाते हैं। व्यापार में जितना ही अधिक जोखिम होता है उतनी ही अधिक लाभ की आशा रहती है। सभी व्यापार म कम या अधिक जोखिम

1 For history of the theories of Profits see Knight, F. H —Risk, Uncertainty and Profit, 1940 Ch. II,

होती है। अत जब तक जोखिम उठाने वाले को पर्याप्त मात्रा में पुरस्कृत नही किया जाएगा, व्यापार नही प्रारम्भ होगा। चूंकि जोखिम हतोत्साहित करने वाला होता है इसलिए उद्यमियो की सख्या कम रहती है और जो जोखिम उठाते हैं, उनकी आय पूंजी पर होने वाले साधारण प्रत्याय से बहुत अधिक होती है। इसलिए लाभ को जोखिम उठाने के लिए पुरस्कार माना जाता है।

लाभ का यह सिद्धान्त 'हाले" (Hawley) के नाम से सम्बन्धित है। उनके अनुसार 'लाभ उद्यमी द्वारा जोखिम उठाने तथा उसके उत्तरदायित्व का पुरस्कार होता है।"[1] ड्रकर (Drucker) चार प्रकार के जोखिम बताते हैं, पुन स्थापना (re placement), जोखिम (risk proper) अनिश्चितता (uncertainty), तथा प्रयोग से हटना (obsolescence)। पुन स्थापना को आमतौर पर अवमूल्यन (deprecia-tion) भी कहते हैं इसको गिना जा सकता है और लागत क रूप म माना जाता है। 'प्रयोग से हटने' को गिना (calculate) नही जा सकता परन्तु यह लागत की मुख्य मद है। जोखिम (अर्थात उत्पाद के बाजार म बेचने की जोखिम) तथा अनिश्चितता लागत नही हैं, परन्तु लाभ के व्यय स्वरूप हैं। यह व्यवसाय म रुके रहने की लागत कह जा सकते हैं। प्राकृतिक जोखिम जैसे आग, दुर्घटना आदि की बीमे से रक्षा की जा सकती है, इसलिए इनको लागत म गिना जाता है। लेकिन कई जोखिम ऐसी हैं जिनका पूर्वाभास नही हो सकता। इसलिए उनके बारे में निश्चित नही हो सकते। इन जोखिमो को उठाने के परिणामस्वरूप ही उद्यमी को पुरस्कार मिलता है।

इसके विपरीत एक यह भी विचार धारा है कि यद्यपि लाभ में जोखिम उठाने का कुछ पुरस्कार सम्मिलित है तथापि उद्यमी को जो भारी लाभ होता है, उस सबको जोखिम के साथ नही जोड़ा जा सकता। उठाए गए जोखिम के साथ उनका आनुपातिक सम्बन्ध किसी भी प्रकार नही होता। इसके विपरीत कारवर (Carver) का कहना यह है कि "केवल जोखिम उठाने से लाभ नहीं होता बल्कि लाभ इसलिए होता है कि अच्छे उद्यमी जोखिम को कम करने म समर्थ होते हैं।"[2] हमको यह विरोधाभास प्रतीत होता है कि लाभ इसलिए नही होते क्योंकि जोखिम होता है, परन्तु इसलिए होते हैं कि जोखिम को हटा दिया जाता है और उससे कोई सम्बन्ध ही नहीं रह जाता। इस पर भी इससे इन्कार नही किया जा सकता कि शुद्ध लाभ जोखिम उठाने का पुरस्कार है।

४ लाभ का गतिशील सिद्धान्त (Dynamic Theory of Profits)—यह सिद्धान्त अमरीकी अर्थशास्त्री श्री जे० बी० क्लार्क (J B Clark) के नाम से सम्बन्धित है। इनका कथन है कि स्थिर विश्व म जहां जनसख्या, पूंजी, मानव इच्छाओ का परिमाण व गुण, उत्पादन की प्रणालियाँ, टैकनीकल ज्ञान, व्यापार का सगठन आदि एक सी स्थिति म रहते हैं, वहाँ प्रतियोगिता के प्रभाव से लाभ की प्रवृत्ति लोप होने की ओर रहती है। लाभ विक्रय मूल्य व लागत क बीच के अन्तर का प्रति-

1 Hawley, F B —Enterprise and the Productive Process, 1907

2 Carver—Distribution of Wealth, p 274

निश्चित्त करता है। यह लागत के ऊपर का आधिक्य या अतिरेक होता है। लेकिन सघर्षहीन ढग पर प्रतियोगिता चलती रहे तो यह आधिक्य लुप्त हो जाता है। जहाँ कहीं आधिक्य होगा, उत्पादन म वृद्धि होने से कीमत घटेगी। इस प्रकार आधिक्य लुप्त हो जाएगा। 'स्थिर अवस्था मे प्रत्येक साधन को जो वह पैदा करता है प्राप्त कर लेता है, और चूंकि लागत तथा विक्रय कीमत सदैव समान रहती हैं, मजदूरी के अलावा जो सामान्य निरीक्षण कार्य है, कोई लाभ नही होगा।'[1] स्थिरता की स्थिति मे लोग हर बात को जानते हैं और जान सकते है। ऐसी स्थिति म कोई जोखिम या अनिश्चितता नहीं होती और इसलिए लाभ नहीं होता।

परन्तु हम स्थिरता की स्थिति मे नही रह रहे हैं। हमारा विश्व गतिशील है और इसमे निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं। कुशल उद्यमी पहले से ही इन परिवर्तनों को जान लेता है। वह अग्रगामी है। वह आविष्कारों या अन्य किसी प्रकार से लागत को घटा कर लाभ प्राप्त करता है। दूरदर्शी साहसी और कुशल उद्यमियो के लिए अपने अनुकूल स्थिति बना कर लाभ करने के निमित्त परिवर्तनशील विश्व में असीम अवसर होते हैं। इनके लिए आगे बढ़ना और लाभ प्राप्त करना केवल इसीलिए सम्भव है कि विश्व गतिशील है। स्थिरता की स्थिति मे लाभ गायब हो जाएँगे और उद्यमी को व्यवस्था और प्रबन्ध के लिए केवल वेतन मात्र ही मिल सकेगा।

५ लाभ, अनिश्चितता का भार उठाने का पुरस्कार (Profits, a Reward for Uncertainty-bearing)—प्रोफेसर नाईट के अनुसार जोखिम उठाने (जो उद्यमी का विशेष कार्य है) के बजाए अनिश्चितता वहन करना ही वह कारण है जिससे लाभ होता है। हम यह देख चुके हैं कि कुछ जोखिम ऐसे हैं, जो पहले से ही विदित होते हैं और जिनके लिए व्यवस्था कर ली जाती है। मृत्यु के जोखिम और अग्निकाण्ड, जहाज डूबने जैसी दुर्घटनाओ के जोखिम ऐसे हे, जिनको पहले से निश्चित किया जा सकता है। ऐसे जोखिम गणना करने योग्य हैं। बीमा कम्पनियाँ प्रीमियम के रूप म प्राप्त होने वाले धन के बदले इन जोखिमो को अपने ऊपर ले लेती हैं। इन प्रीमियमों के भुगतानो को उत्पादन की लागत म शामिल कर लिया जाता है। इन जोखिमो के बदले म उद्यमी को लाभ नहीं मिलता। इसलिए जोखिम उठाने का काम उद्यमी का नही बल्कि बीमा कम्पनियों का हो सकता है।

किन्तु कुछ जोखिम ऐसे है जिनके विषय म हमको पूर्वाभास नहीं हो सकता। उदाहरण के लिए बिक्री की व्यवस्था में अनिश्चितता रहती है। वस्तु की माँग भी अनिश्चित रहती है। लेकिन प्रोफेसर नाइट (Prof Knight) उन जोखिमों को जोखिम नही मानते जिनके विषय में पहले से नही जाना जा सकता। वे उन्हे 'अनिश्चितता' मानते हैं। जोखिम उन्ही खतरो को कहा जाता है, जिनके विषय में पहले से जानकारी रहती है या जिन्हे पहले से जाना जा सकता है। उद्यमी को अनिश्चितताओ को वहन करने का पुरस्कार मिलता है न कि जोखिम उठाने का। ज्ञात जोखिमो का उत्तरदायित्व बीमा कम्पनियों को वहन करना पडता है।

---

1. Knight, F.H.—Risk, Uncertainty and Profit, 1940, p 33

जिस प्रकार प्रतीक्षा करना (पूँजी) उत्पादन का साधन माना गया है, उसी प्रकार अनिश्चितता वहन करने को भी उत्पादन के साधन का दर्जा दिया गया है। उत्पादन के अन्य साधनों के समान अनिश्चितता वहन करने का भी एक पूर्ति मूल्य होता है, अर्थात् जब तक निश्चित प्रत्याय की आशा नहीं होती, किसी भी उद्यमी को अनिश्चितता का सामना करने के लिए प्रलोभन नहीं दिया जा सकता। अनिश्चितता वहन करने की मात्रा, बहुत बड़ी सीमा तक उद्योगी या उद्यमी की मनोवृत्ति, उसके साधनों की मात्रा तथा वह किस सीमा तक उन साधनों को जोखिम में डालने के लिए तैयार है, इन बातों पर निर्भर है। एक साहसी और धनवान उद्यमी, जिसने अपने धन के बड़े भाग को उद्योग में लगाने का इरादा कर लिया है बड़ी अनिश्चितता वहन कर सकता है। एक उद्यमी जो कि अपनी पूँजी के छोटे भाग की अपेक्षा बड़ा भाग उद्योग में लगाने के लिए तैयार है उसके लिए यह प्रलोभन आवश्यक है कि उसे अधिक लाभ हो। तभी वह अपनी पूँजी का बड़ा भाग जोखिम में डालेगा।

यह सदैव ध्यान में रखना चाहिए कि अनिश्चितता वहन करने की शक्ति और पूँजी के लगाव से ही उद्यमी को अच्छे लाभ के रूप में पुरस्कार मिलता है। अकेली पूँजी निर्जीव है और बिना पूँजी के अनिश्चितता वहन करना अर्थहीन है। केवल पूँजी ही जोखिम पर लगाई जा सकती है। इन दोनों का योग मुश्किल से ही होता है और यही लाभ की कुञ्जी है। कल्पनाशील मस्तिष्क के उद्यमी के पास थोड़ी ही पूँजी हो सकती है जिससे वह काफी लाभ उठा सकता है। दूसरी ओर एक व्यक्ति असाधारण रूप में धनी हो सकता है। किन्तु सम्भव है, वह डरपोक हो।

लाभ के एक कारण के रूप में "अनिश्चितता वहन करने" के इस सिद्धान्त की निम्नलिखित आधारों पर आलोचना की जाती है—

(१) अनिश्चितता ही केवल-मात्र वह कारण नहीं है जो उद्यमियों की पूर्ति को सीमित करता है। पूँजी, ज्ञान एवं अवसर का अभाव, आर्थिक संघर्ष का होना आदि कुछ ऐसे कारण हैं जो उद्यमियों की पूर्ति को सीमित करते हैं।

(२) अनिश्चितता वहन करना ही उद्यमी का कार्य नहीं है। जो लाभ वह प्राप्त करता है, वह अनेक प्रकार की सेवाओं का प्रतिफल होता है। वह उद्योग को स्थापित करता है, संगठित करता है, सौदे करता है, उद्यमी के ये कार्य अनिश्चितता वहन करने के अतिरिक्त हैं।

(३) अनिश्चितता वहन करने को उत्पादन के साधन का दर्जा नहीं दिया जा सकता, वह धन की लागत से भिन्न उस वास्तविक लागत का एक अंग है, जिसका अर्थ शक्ति लगाना, आत्मत्याग, बलिदान आदि हो सकता है। सामान्यतः वास्तविक लागत के रूप में लागत को नहीं आँका जाता। हम जानते हैं कि पूँजी उत्पादन का एक साधन है किन्तु पूँजी बचाने के लिए आत्मत्याग आवश्यक होते हुए भी उत्पादन का साधन नहीं माना जाता।

६ एकाधिकार और लाभ (Monopoly and Profits)—अभी तक हमने यह माना है कि नियोजक (employer) प्रतियोगिता की स्थिति में काम कर रहा है। दीर्घावधि में पूर्ण प्रतियोगिता की दशा में लाभ नहीं होता। ऐसी दशा में लाभ

या तो अस्थायी होगे, या फिर एकाधिकार के लाभ होगे। एकाधिकारी उत्पादन की मात्रा पर नियन्त्रण स्थापित करके कीमत को लागत की सीमा तक गिरने से रोकता है। प्रतियोगिता की स्थिति मे कीमत को लागत की सीमा तक गिरने से नही रोका जा सकता। एकाधिकारी व्यापार क्षेत्र मे नई फर्मो के प्रवेश पर नियन्त्रण लगा कर, करार (agreements) तथा पेटेंट (एकस्व) आदि द्वारा तथा ऐसे ही अन्य उपायो से एकाधिकार लाभ उठाने की स्थिति म रहता है। लेकिन एकाधिकार लाभ का सबसे सामान्य लाभ एकाधिकार प्रतियोगिता अथवा उत्पाद विभेद (product differentiation) मे है।

एकाधिकार लाभ का तत्व नवप्रवर्तन लाभ (innovation profit) अथवा पहल करने के कारण भी होता है। वह फर्म जो नया माल तैयार करती है, या जिसने किसी प्रकार के नए माल (material) की खोज की है, अथवा कोई नई मण्डी खोजी है तो वह उस दशा म तब तक लाभ कमाती रहेगी जब तक दूसरे प्रतिद्वन्द्वी नही खडे होते। चूँकि प्रतियोगिता का अभाव रहता है आशिक अथवा पूर्ण रूप में नवप्रवर्तन अथवा पहले मे होने वाले लाभो को एकाधिकार लाभ माना जा सकता है।

७ लाभ और मजदूरी (Profits and Wages)—लाभ और मजदूरी के सम्बन्ध का दो दृष्टिकोणो से अध्ययन किया जा सकता है। प्रथम दृष्टिकोण समाजवादियो का है, और वह यह है कि लाभ मजदूरी के परिश्रम के फल का केवल एक हडप किया हुआ भाग है। इस विचारधारा के अनुसार लाभ न्यायपूर्ण नही है, क्योकि वे वेतन प्राप्त करने वालो के अश को छीन कर उपार्जित किए जाते हैं। दूसरी विचारधारा प्रोफेसर टासिग (Prof Taussig) की है। वे लाभ को मजदूरी का केवल एक विशष रूप मानते हैं।

जहाँ तक समाजवादी दृष्टिकोण का प्रश्न है यह कहा जा सकता है कि पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत एक ही प्रकार के श्रम की मजदूरी की दर एक ही उद्योग में समान होती है, जिससे नियोजक को लाभ नही होता। वह भी उतनी ही मजदूरी देता है जितनी ऊँचे लाभ पाने वाला देता है। अच्छा और योग्य नियोजक इसलिए ऊँचे लाभ उपार्जित नहीं करता कि वह कम मजदूरी देता है। (वह ऐसा प्रतियोगिता की दशा म नही कर सकता) बल्कि वह अपनी अधिक अच्छी सगठन योग्यता और अनिश्चितता वहन करने की शक्ति के कारण अधिक लाभ प्राप्त करता है। वह अपने से घटिया उद्यमी प्रतिद्वन्द्वी से कम लागत पर उत्पादन कर सकता है।

अब हम प्रोफेसर टासिग (Taussig) के इस मत पर विचार करेंगे कि लाभ केवल एक विशेष प्रकार के श्रम के लिए दी गई मजदूरी के समान है। टासिग (Taussig) का कथन है कि "लाभ मजदूरी का एक सर्वमान्य रूप है।" टासिग (Taussig) के इस विचार को क्यो नही स्वीकार किया जा सकता। मजदूरी और लाभ म अनेक मौलिक अन्तर हैं जो इस प्रकार हैं—

(१) लाभ, जोखिम और अनिश्चितता का भार वहन करने का पुरस्कार है। मजदूर यह जोखिम नही उठाता। मजदूरी या मजदूर का पुरस्कार मुख्यत

उसके द्वारा किए गए श्रम के लिए है। नियोजक की जोखिम की तुलना में उसका जोखिम महत्त्वहीन है। (२) मजदूरी की बजाय लाभ में सयोग का तत्त्व अधिक होता है। मजदूरी निर्दिष्ट और निश्चित आय है जब कि लाभ अनियमित और अनिश्चित होता है। इस प्रकार मजदूरी लाभ से अधिक यथार्थ अर्थ मे 'अर्जित' आय है। (३) लाभ का एक बडा भाग प्रतियोगिता की अपूर्णताओ के कारण होता है। अपूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत, जब कि लाभ की प्रवृत्ति बढाव की ओर होती है, तो मजदूरी की प्रवृत्ति गिरावट की ओर रहती है। इसके कारण पहले बताए जा चुके हैं।

८ क्या लाभ लगान का एक रूप है ? (Is Profit a Kind of Rent ?)– लाभ के सम्बन्ध म एक दूसरी विचारधारा के अनुसार इसे लगान से मिलता-जुलता माना गया है। लाभ का 'लगान सिद्धान्त" अमरीकी अर्थशास्त्री एफ० ए० वाकर (F A Walker) द्वारा प्रतिपादित किया गया है। अग्रेजी अर्थशास्त्र सिद्धान्त मे उसने सर्वप्रथम पूँजीपति और नियोजक में भिन्नता के मत को निश्चित किया। उद्यमी के लिए पूँजीपति होना आवश्यक नही है। वह बिना अपनी पूँजी का प्रयोग किए किसी व्यापार को प्रारम्भ कर सकता है।

वाकर (F A Walker) लाभ को योग्यता का लगान स्वरूप मानते हैं। जिस प्रकार भूमि के विभिन्न वर्ग हैं ठीक उसी प्रकार उद्यमियो के भी भिन्न-भिन्न वर्ग हैं। कम योग्यता का उद्यमी, जिसे वर्तमान माँग की पूर्ति के लिए उत्पादन क्षेत्र में रहना है अपने उत्पादन की लागत को ही केवल निकाल पाता है। उस के ऊपर विभिन्न श्रेणी की योग्यता के श्रेष्ठतर उद्यमी हैं। जिस प्रकार सीमान्त भूमि से श्रेष्ठतर भूमि में पार्थक्यपूर्ण सुविधा होती है, उसी प्रकार लाभ भी अलाभकर्ता उद्यमी या सीमान्त उद्यमी से अधिक योग्य उद्यमी को पार्थक्यपूर्ण योग्यता के लिए प्राप्य पुरस्कार है। इसी प्रकार लाभ भी लगान के समान है और लगान की भाँति कीमत मे शामिल नहीं होता। व्यवस्था सम्बन्धी वेतन लाभ नही है। सीमान्त नियोजक केवल व्यवस्था-सम्बन्धी वेतन अर्जित करता है, और कुछ नहीं। कीमत और लागत म थोडा भी विपरीत हेरफेर होने पर वह नियोजक की अपेक्षा कर्मचारी के रूप म कार्य करना अधिक पसन्द करेगा। इस प्रकार उद्यमियो की पूर्ति को जारी रखने के लिए व्यवस्था-सम्बन्धी वेतन का भुगतान करना ही होगा। अस्तु, इस प्रकार वेतन कीमत में शामिल होता है।

इस सिद्धान्त म भी वही कमजोरी है, जैसी कि 'रिकार्डो" के लागत सिद्धान्त म है। जो नियोजक परिस्थितियो म तनिक सी विपरीत उलट-फेर होने पर ही व्यापार छोड देता है उसके लिए यह आवश्यक नही है कि वह कम योग्य हो। वह योग्यता में और अधिक ऊँचा हो सकता है तथा और अधिक लाभप्रद दूसरा काम उसे आकर्षित कर सकता है।

विशेषत यह सिद्धान्त लाभ के वास्तविक स्वरूप की व्याख्या नही करता। यह केवल लाभ का एक माप-दण्ड उपस्थित करता है।

यह कहना गलत है कि लाभ कीमत म शामिल नही होता। अल्पकाल म ऐसा नही होता, किन्तु दीर्घकाल में लाभ कीमत में शामिल अवश्य होता है। उद्यमी जोखिम

उठाने का आवश्यक कार्य करता है। और जब तक वस्तु की कीमत इतनी ऊँची नही होती कि वह इसके लिए नियोजक की क्षतिपूर्ति करे नियोजकों की पूर्ति घट जाएगी। जब तक कि जोखिम उठाने की सेवाओं के लिए भुगतान करने की कीमतें पर्याप्त ऊँची नही हो जाती, नियोजको की पूर्ति घटती रहेगी।

कुछ नियोजको को भारी लाभ हो सकते हैं और कुछ दूसरो को भारी क्षति का सामना करना पड सकता है। दीर्घ अवधि में जब औसत लिया जाता है तब कल्पित आधिक्य गायब हो जाता है।

और लाभ की मात्रा स्पष्ट करने मे भी यह सिद्धान्त असफल रहता है। श्रेष्ठतर नियोजको के अभाव के कारण लाभ की भिन्नता होती है। पर ऐसा अभाव होता क्यो है ? भूमि के अभाव का कारण प्राकृतिक सीमाएँ हैं। उद्यमियो के बारे म ऐसी सीमाएँ नहीं हैं। लाभ के सिद्धान्त को इस प्रकार के अभाव का स्पष्टीकरण करना ही चाहिए।

९. सामान्य या साधारण लाभ (Normal Profits)—कुछ लेखक साधारण लाभ के दृष्टिकोण को व्यवहार म लाते हैं। अनिश्चितता और अपूर्ण प्रतियोगिता के कारण जो आधिक्य होता है, वह गतिशील या परिवर्तनशील स्थिति की घटना है। जैसा कि प्रोफेसर नाईट (Prof Knight) सकेत करते हैं कि साधारण लाभ समता की परिस्थिति से सम्बन्धित हैं और उनका सम्बन्ध ऐसी स्थिति से होता है, जिसम परिवर्तन हो रहे हैं, जिसकी आशा पहले से की जा सकती है। साम्यावस्था या स्थिर समाज में साधन, कम या अधिक निश्चित हो जाते हैं और उनका विभिन्न उद्योगो मे इस प्रकार वितरण होता है कि उनको एक स्थान से दूसरे स्थान मे ले जाने का उद्देश्य ही नही रह जाता। किसी फर्म को उद्योग म प्रवेश करने अथवा छोडने की प्रवृत्ति नही होती। अस्तु न्यूनतम अनिश्चितता और पूर्ण प्रतियोगिता रहेगी। ऐसी दशा में शुद्ध लाभ की प्रवृत्ति प्राय समाप्त होगी और उद्यमी लोग केवल निरीक्षण का वेतन अर्जित करेंगे। अत व्यावहारिक रूप मे साधारण लाभ केवल प्रबन्ध या व्यवस्था-सम्बन्धी आय रह जाएगी।

१० क्या लाभ में समानता की ओर प्रवृत्ति होती है ? (Do Profits tend to Equality ?)—यहाँ भी हम सीधा उत्तर नही दे सकते। यह उस समय की परिस्थिति पर निर्भर करेगा। साम्यावस्था की स्थिति म निरीक्षण के वेतन के अर्थ में लाभ समान हो जाएगा। शुद्ध लाभ लोप हो जाएगा। ऐसे समाज म, जिसम परिवर्तन उपस्थित हैं, किन्तु अनिश्चितता नही है, लाभ सामान्य के आस-पास साम्यावस्था की ओर जाएँगे, जैसा पहले स्पष्ट किया जा चुका है। योग्यता में भिन्नता होने के कारण भिन्नताएँ भी पूर्णत अनुपस्थित नही रहेंगी। लेकिन प्रतियोगिता की शक्ति के द्वारा इन भिन्नताओ को सकीर्ण रखा जाएगा। अत यह कहा जा सकता है कि जितना ही अधिक उद्योग का दैनिक कार्य जैसा स्वरूप होगा, उतना ही अधिक लाभ का झुकाव समानता की ओर होगा बशर्ते कि समय लम्बा हो और प्रतियोगिता पर प्रतिबन्ध न रहे। किन्तु अल्पकाल म असमानताएँ रह सकती हैं।

११ लाभ तथा सीमान्त उत्पादन-शक्ति (Profit and Marginal Productivity)—क्या हम लाभ पर सीमान्त उत्पादन शक्ति का सिद्धान्त लागू कर सकते हैं ? सामान्यत हाँ। सीमान्त उत्पादन-शक्ति, जिसकी हम व्याख्या कर चुके हैं दुर्लभता तथा माँग के बीच के सम्बन्ध की अभिव्यक्ति है। उद्यमियों का अभाव है तथा उनकी पूर्ति बढाना सरल नही है। उत्पादन की आधुनिक दशाओ म उद्यमियों विशेषत अद्भुत योग्यता वाले उद्यमियों की माँग बड़ी है। उद्यमियों की सीमान्त उत्पादन शक्ति ऊँची है, और इसीलिए लाभ ऊँचे हैं। जितनी ही अधिक अनिश्चितता रहेगी, व्यापार को सफल बनाने के लिए पर्याप्त ऊँची योग्यता के नियोजकों का उतना ही अधिक अभाव रहेगा, और फलस्वरूप उतने ही ऊँचे लाभ होगे।

अन्य साधनों की तुलना में उद्यमियों की सीमान्त उत्पादन शक्ति के सिद्धान्त को लागू करने म केवल यही अन्तर है कि यहाँ प्रतियोगिता की शक्तियाँ प्रत्यक्ष रूप में काम करती हैं, जब कि अन्य साधनों के मामलों म वे नियोजकों के द्वारा कार्य करती हैं। अन्तिम सारतत्त्व वही है। समाज की प्रतियोगितापूर्ण माँगों को सन्तुष्ट करना आवश्यक है और इस प्रकार उद्यमी विषयक योग्यता के वैकल्पिक प्रयोग हो सकते हैं। प्रतियोगिता की शक्तियाँ समान योग्यता के नियोजकों के लाभ को समान करती हैं।

यह सिद्धान्त जितना स्पष्ट रूप म मूल्य के अन्य विषयो पर लागू होता है उतना स्पष्ट रूप म लाभ पर लागू नही किया जा सकता। ऐसा इस कारण से कि नियोजक जटिल कार्यों को सम्पादित करता है तथा अनिश्चितता का प्रभावीकरण सम्भव नही है। चूँकि नियोजकों की सख्या की इकाई काफी बडी है इसलिए उनको जल्दी ही न तो कम किया जा सकता है और न बढाया ही जा सकता है। एक इकाई को भी हटाने के अर्थ हैं समस्त उद्योग को अस्त-व्यस्त कर देना। इस प्रकार उत्पादन के साधन के इस वर्ग की सीमान्त उत्पादकता का पता लगाना कठिन है।

१२ लाभ के कार्य (The Functions of Profit)[1]—साधारणतया यह सोचा जाता है कि लाभ उद्यमी को होता है तथा इसका भार उपभोक्ता अथवा साधारण जनता पर पडता है। परन्तु ऐसा विचार केवल एक भ्रम है। सघर्ष के बजाए, दोनो के बीच अर्थात् उद्यमी क्या पाता है और समाज क्या देता है, बड़ी अनुरूपता है। झगडा केवल दिखावटी है। समाज का रूप चाहे जिस प्रकार का हो—पूँजीवादी, समाजवादी, साम्यवादी अथवा फासीवादी (Fascist)—लाभ बडा महत्त्वपूर्ण तथा उपयोगी कार्य करता है।

हर व्यक्तिगत उद्यमी का अपने अतिजीवन को बनाए रखने के सबध में (१) व्यवसाय की वर्तमान लागत और, (२) व्यवसाय में रहने के कारण बताए गए चार प्रकार के जोखिमों (पुन स्थापना जोखिम अनिश्चितता तथा प्रयोग से हटाना) को पूरा करने का कर्तव्य है। परन्तु इसके अतिरिक्त दो कर्तव्य और हैं जिनको लाभ प्राप्त करने वाले उद्यमी को पूरा करना चाहिए। (३) एक तो ड्रकर (Drucker)

[1] See P F Drucker on 'The Function of Profit' in Fortune March 1949

के अनुसार असफल उद्योगो की हानि भरना चाहिए, अर्थात् सामाजिक दृष्टिकोण से एक सफल उद्यम (enterprise) को अकुशल उद्यम की हानि को पूरा करना चाहिए। "जिस प्रकार कि एक उत्पादक तेल के कुएँ को सूखे छिद्र में ले जाए गए नल तथा श्रम की लागत को पूरा करना पडता है, इसी प्रकार एक सफल कम्पनी को दूसरी असफल कम्पनी की हानि को पूरा करना चाहिए।" यह बीमा का सिद्धान्त है। व्यक्तिगत उद्यमी इन असफल उद्योगो (dry holes) की चिन्ता चाहे न करे, परन्तु समाज ऐसा नही कर सकता। (४) इसीलिए लाभदायक उद्यम को असफल उद्योगो (dry holes) की हानियो को पूरा करने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेना चाहिए। इसके अतिरिक्त लाभ को एक और कार्य करना चाहिए। वह है सामाजिक भार का उत्तरदायित्व। सफल औद्योगिक उपक्रमो को सामाजिक सेवाओ अथवा सामाजिक सुरक्षा उदाहरणार्थ शिक्षा स्वास्थ्य सेवाएँ, गरीबो की सहायता, बुढापे की पेंशन, प्रसूति सहायता, रक्षा, नागरिक राज्य शासन आदि की लागत का भार सहना चाहिए।

निर्देश पुस्तकें

Schumpter, J Theory of Economic Development.

Knight, F H Risk, Uncertainty and Profit, 1940

Taussig F W Principles Vol II

Benham, F Economics

Readings in the Theory of Income Distribution, pp 547—571

Meyers A L Elements of Modern Economics 1951, Ch 19

Summer, M Stitcher An article entitled 'Are Profits Too High ?' Atlantic Monthly, July 1948

Peter F Drucker The Function of Profit' in Fortune March, 1949

Knight, F H Article on Profit in Encyclopaedia of Social Sciences

Robinson, Mrs Joan The Accumulation of Capital, 1956

अध्याय ३०

विनिमय की कार्यविधि

(Mechanism of Exchange)

मुद्रा का रूप तथा कार्य

(The Nature and Functions of Money)

१ मुद्रा का अर्थ (Meaning of Money)—वस्तुओं के विनिमय अथवा मूल्य के निर्धारण के विषय में हम पहले ही अध्ययन कर चुके हैं। हमने मुद्रा को भी मान लिया है। अब हम मुद्रा तथा मुद्रा-व्यवस्था के बारे में विचार करेंगे।

"भिन्न-भिन्न लेखकों ने मुद्रा (money) की भिन्न-भिन्न प्रकार से व्याख्या की है। कुछ कहते हैं कि "मुद्रा वह है जो मुद्रा का कार्य करती है।" दूसरे शब्दों में जो भी मुद्रा का कार्य करते हैं, वे मुद्रा हैं। व्यापक रूप में मुद्रा विनिमय का आधार है। यह व्याख्या काफी विस्तृत है। चेकों, बिलों आदि को प्रतिनिधि मुद्रा (representative money) कहा गया है क्योंकि वे मूल्य के मापदण्ड के सुविधाजनक प्रतिनिधि हैं। कुछ लेखक इस व्याख्या को सीमित कर देते हैं। और वे उसी वस्तु (अर्थात् सोना) को सम्मिलित करते हैं, जो मूल्य का काय कर सके। यह व्याख्या, मुद्रा की सूची से बैंक नोटों, सरकारी करेंसी नोटों आदि को पृथक् कर देती है। तर्क की दृष्टि से इन्हें पृथक् नहीं किया जा सकता, क्योंकि हम फिलहाल देखेंगे कि उनमें अच्छी मुद्रा के सभी गुण पाए जाते हैं। साधारणतया स्वीकृत मत यह है कि 'भुगतान और विनिमय के प्रत्येक माध्यम को जिसका ऋण के भुगतान में कानूनन प्रयोग हो सकता है, मुद्रा कहा जा सकता है।"

इस प्रकार चैक, हुण्डी (Bills of Exchange) तथा भुगतान के ऐसे ही दूसरे साधनों को मुद्रा की अनुसूची में नहीं रखा जा सकता। उनके लिए हम "साख के साधन" (Credit Instrument) शब्दों को प्रयोग में लाते हैं जैसा कि हम आगे चल कर देखेंगे। मुद्रा की विशेषता यह है कि वह साधारणत ग्राह्य होती है। चैक तथा हुण्डियों का भुगतान नियमित नहीं होता और किसी व्यक्ति को भुगतान के लिए उन्हें स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता। साधारणतया बैंकनोट ग्राह्य होते हैं, अतएव उन्हें मुद्रा कहा जा सकता है।

२ वस्तु विनिमय की कठिनाइयाँ (Difficulties of Barter)—वस्तु-विनिमय में तीन आधारभूत कठिनाइयाँ हैं —

(1) आवश्यकताओं की दोहरी अनुरूपता (Double Coincidence of Wants)—वस्तु-विनिमय में आवश्यकताओं की दोहरी अनुरूपता की आवश्यकता पड़ती है। यदि अ के पास एक गाय है और वह उसके बदले में घोड़ा चाहता है तो

उसे ऐसे व्यक्ति की तलाश करनी होगी जिसके पास न केवल घोडा हो वरन् जिसे गाय की भी आवश्यकता हो। मान लीजिए उसकी ब व्यक्ति से भेंट होती है जिसे गाय की जरूरत है लेकिन बदले म देने के लिए उसके पास सिर्फ एक भेड है। अ को तब ऐसे व्यक्ति की खोज करनी होगी जिसे भेड की जरूरत है, और यह क्रम काफी लम्बा हो जाएगा। इस तरह कई सौदो के बाद उसे अपनी जरूरत की चीज मिलेगी। यह स्पष्ट है कि इस साधन म अनगिनत कठिनाइयाँ और खतरे हैं।

(ii) मूल्य के सामान्य मापदण्ड का अभाव (Lack of Common Measure of Value)—वस्तु विनिमय की कठिनाइयो का यही पर अन्त नही होता। यदि दो व्यक्ति, जिन्हे एक दूसरे की वस्तु की चाह है मिल भी जाएँ तो भी एक दूसरी परेशानी उपस्थित हो जाती है। किस अनुपात में दोनो वस्तुओ का विनिमय हो ? मूल्य निर्धारण का कोई समान मापदण्ड नही होता। अनुपात इच्छा से निर्धारित किया जाएगा तथा उसका आधार दोनो पक्षो की आवश्यकता तथा उनकी परस्पर माँगो की तीव्रता होगी। इन परिस्थितियो में यह आवश्यक है कि एक पक्ष को हानि हो क्योकि प्रत्यक विनिमय म लेन-देन पृथक् रूप म होता है।

(iii) कतिपय वस्तुओ की अविभाज्यता (Indivisibility of Certain Articles)—यदि विनिमय के अनुपात के सम्बन्ध म समझौता हो भी जाए तो उन वस्तुओ के सम्बन्ध म एक तीसरी परेशानी उपस्थित हो जाती है जो विभाजित नही हो सकती। मान लिया, एक व्यक्ति अपनी गाय के आधे मूल्य के बराबर गेहूँ लेना चाहता है। दूसरे आधे मूल्य के बदले म वह कपडा लेना चाहता है, जो तीसरे व्यक्ति के पास है। गाय का विभाजन कैसे हो ? इसी प्रकार की कई दूसरी परिस्थितियो की हम कल्पना कर सकते हैं।

वस्तु विनिमय से उत्पन्न होने वाली कठिनाइया का उदाहरण हम एक फ्रासीसी सगीतज्ञ से ले सकते हैं, जिसने एक ऐसे द्वीप म अपने सगीत का प्रदर्शन किया जहाँ द्रव्य का चलन नही था। उसे सूअरा, मुर्गियो, बकरियो, सेब, केले आदि म भुगतान किया गया। बकरियो और सूअरा ने फलो और दूसरे खाद्य पदार्थों का सफाया कर दिया और अपने सूअरो और बकरियो को जीवित रखने के लिए उसे कई अन्य प्रदर्शन देने पडे। उसे क्या लाभ हुआ ? कुछ भी नही। यदि उसे मुद्रा में भुगतान किया जाता तो वह धनी हो जाता।

२ मुद्रा का विकास (Evolution of Money)—शीघ्र ही यह परिणाम निकला कि विनिमय म बडी सुगमता लाई जा सकती है बशर्ते कि विनिमय का आधार किसी एक वस्तु को बना लिया जाए। इस वस्तु द्वारा सभी पदार्थों का मूल्याकन किया जा सकता था और उसके द्वारा व्यक्ति वाछित वस्तु का क्रय विक्रय कर सकता था।

इस रूप मे अनेक प्रकार की वस्तुओ को भिन्न भिन्न सफलता के साथ अपनाया जा चुका है। दास, पशु, पत्थर, खाल, तीर, अनाज, कौडी आदि को अपनाया गया। किसी विशेष समाज के आर्थिक विकास के लिए यह उस युग पर आधारित था कि मुद्रा का क्या रूप हो। शिकारी स्वभावत खाल और तीर को साधन मानते थे, बनजारे

पशु और किसान अनाज को मुद्रा का रूप देते थे। अभी कुछ ही दिनों पूर्व तक हमारे ग्रामों में क्रय के लिए अनाज और कपास को काम में लाया जाता था।

अन्ततोगत्वा, किसी भाँति यह पता चला कि सोना और चाँदी जैसे मूल्यवान धातु इस काम के लिए सर्वश्रेष्ठ हैं। प्रारम्भ में सोना और चाँदी को धातु पिण्डों के रूप (bullion) में प्रयोग में लाया गया। इसमें असुविधा होता थी और प्रत्येक बार जब वह एक हाथ से दूसरे में जाते थे, उनकी जाँच में गलती की सम्भावना रहती थी। तदनन्तर सरकारों ने उन्हें चलार्थ या सिक्कों का रूप दिया, जिससे उन्हें ग्रहण करने वालों को उसकी किस्म (quality) और उसके वजन का कुछ भरोसा रहे। कुछ समय बाद धातु के सिक्कों (metallic coins) के साथ कागजी मुद्रा (paper currency) का प्रचलन शुरू हुआ जिसे धातु मुद्रा में बदला जा सकता है। बहुत सी दशाओं में सिक्के विशेषकर वे जो प्रमाणित (standard) होते थे, सरकार अथवा केन्द्रीय बैंक द्वारा प्रचलित कागजी मुद्रा के सम्मुख लोप हो जाते थे और कागजी मुद्रा ही अकेली चलार्थ रूप में शेष रह जाती थी।

वस्तु-विनिमय अर्थ व्यवस्था (barter economy) से वस्तु-मुद्रा (commodity money) वस्तु मुद्रा से कागजी-मुद्रा (paper currency), और कागजी मुद्रा से बैंक मुद्रा अथवा साख अर्थ व्यवस्था (credit economy)—मुद्रा की उन्नति तथा उसका विकास इस प्रकार होता रहा है। क्राउथर (Crowther) के शब्दों में केवल "सामान्य स्वीकृति ही मुख्य आवश्यकता है। मुद्रा का स्वयं मूल्यवान होना आवश्यक नहीं। यह वास्तव में अपेक्षाकृत दुर्लभ होनी चाहिए। परन्तु, यदि इसको अपेक्षाकृत दुर्लभ रखने और मात्रा में अपेक्षाकृत स्थिर रखने की सावधानी न रखी जाए तो मुद्रा में ऐसी बेकार वस्तुएँ पाई जाने लगेंगी जैसे कागज के फटे हुए टुकड़े अथवा बैंक की पुस्तकों में किसी क्लर्क के कलम द्वारा किए हुए निशान।"[1]

मुद्रा के जारी करने से वह सभी असुविधाएँ दूर हो गई हैं जो वस्तु-विनिमय से उत्पन्न होती थी। विनिमय के लिए आवश्यकताओं की दुहरी अनुरूपता की आवश्यकता नहीं रही। इच्छा के अनुसार वस्तु का विभाजन और विनिमय आसानी से हो सकता है। समाज को विनिमय का ऐसा माध्यम मिल गया जो साधारणतया सभी को मान्य था और सरलता से एक हाथ से दूसरे हाथ में जा सकता था। मूल्य के निर्धारण के लिए एक विश्वस्त माप दण्ड (Standard) लोगों को मिल गया। मूल्यवान वस्तुओं का संचय करना अथवा स्थानान्तरित करना सुगम हो गया। ऋण का लेन देन निर्विघ्न सम्भव हो गया।

उपभोक्ता को मुद्रा के चलन से अनगिनत लाभ हुए हैं। मुद्रा के हाथ में होने से वह दूसरों की वस्तुओं तथा सेवाओं पर अपना अधिकार प्रकट कर सकता है। मुद्रा से उसकी क्रय शक्ति व्यापक हो गई है। मुद्रा के अभाव में उपभोक्ता के लिए यह कठिन था कि वह अपने क्रय की विभिन्न दिशाओं से सम सीमान्त उपयोगिता (equi-marginal utility) प्राप्त कर सकता। इस प्रकार वह अब अधिकतम सन्तोष प्राप्त कर लेता है।

1 Crowther, G.—An Outline of Money, 1950 p 21.

उत्पादक के लिए भी मुद्रा के जारी करने से कम लाभ नही हुआ है। अब वह अपने उत्पादन कार्य को अधिक कुशलता और मितव्ययिता से सगठित कर सकता है। उत्पादक भी द्रव्य के द्वारा जिन साधनो को अपने उत्पादन कार्य म प्रयोग कर रहा है, उनकी सीमान्त उत्पादन शक्ति को बराबर करके अधिक से अधिक लाभ प्राप्त कर सकता है।

समाज को भी मुद्रा के प्रादुर्भाव से काफी लाभ हुआ है। इसी के आधार पर साख का विशाल भवन निर्मित हुआ है। राष्ट्र के आर्थिक विकास म साख और बैंक प्रथा के विस्तार से बडी सहायता मिली है। यह कल्पना करना भी मुश्किल है कि वर्तमान युग ने मुद्रा की जो सुविधाएँ दे रखी हैं, उनके अभाव म उद्योग और व्यवसाय कैसे इतने विकसित हो सकते थे। आर्थिक साधनो का अनुकूलतम वितरण (optimum distribution) तथा आधुनिक आर्थिक पद्धति का कुशल सचालन बिना मुद्रा-प्रणाली के सम्भव ही नही था।

४ मुद्रा के कार्य (The Functions of Money)—हमने देखा है कि भिन्न भिन्न समयो म भिन्न भिन्न वस्तुओ को मुद्रा के रूप म चुना गया है और सोना चाँदी तथा बाद म कागज श्रेष्ठ मुद्रा के साधन सिद्ध हुए है। श्रेष्ठ किस बात के लिए ? मुद्रा के कार्यों को पूर्ण रूप स करने के लिए श्रेष्ठ।

मुद्रा क्या कार्य करती है ? उसके पाँच अत्यन्त महत्त्वपूर्ण काय हैं—

(क) वह विनिमय का माध्यम (medium) है।

(ख) वह मूल्य सचय (store) करने के लिए प्रयोग म आती है या आधुनिक व्याख्या के अनुसार साधनो को द्रवता का गुण (liquidity) देन म सहायक होती है।

(ग) वह मूल्यो का माप दण्ड (measure) है।

(घ) ऋण के लेन देन का वह एक स्थिर साधन होती है।

(ङ) वह मूल्य को स्थानान्तरित (transfer) करती है।

मुद्रा विनिमय के माध्यम के रूप में (Money as Medium of Exchange)—अभी हमने उन विभिन्न असुविधाओ की चर्चा की जो वस्तु-विनिमय से उत्पन्न होती हैं। मुद्रा के व्यवहार के द्वारा य सब असुविधाएँ दूर हो जाती हैं। मुद्रा की अर्थ-व्यवस्था म यह आवश्यक नही होता कि इच्छाओ की अनुरूपता हो। उस व्यक्ति को, जो गाय के बदले म घोडा चाहता है, अब उसे ऐसे घोडे वाले को ढूँढने की आवश्यकता नही जिसे गाय की आवश्यकता हो। वह अपनी गाय को बाजार में बेच सकता और इस प्रकार जो द्रव्य मिले, उससे घोडा खरीद सकता है। जिस समय व्यक्ति अपनी सेवाओ अथवा वस्तुओ को अपूर्ण अवस्था में बेचना चाहता है, उसे मुद्रा के कारण बडी सुविधा रहती है जो मुद्रा के अभाव म सम्भव न होती क्योकि वह उन्हे सरलता से मुद्रा के रूप म परिवर्तित कर सकता है। कतिपय वस्तुओ की अविभाज्यता का प्रश्न भी समाप्त हो गया है। मुद्रा की इकाइयाँ विभिन्न मूल्य की होती हैं और उनसे किसी भी प्रकार की खरीदारी की जा सकती है जो वस्तु विनिमय म सम्भव न थी।

द्रव या तरल आस्तियो क रूप में मुद्रा (Money as Liquid Assets)—मुद्रा मूल्य-सचय का कार्य सम्पादित करती है या यह कहना उचित होगा कि वह

व्यक्ति को अपनी आस्तियों के एक अश को द्रवत्व गुण देने के योग्य बना देती है। तरल आस्तियाँ (liquid assets) वह साधन है जो किसी भी समय किसी भी व्यवहार में आ सकता है। आधुनिक जगत् म अधिकाश व्यक्ति अपनी जेबो में करेंसी नोट रखते हैं अथवा उन्हे घर पर रखते है या बैंक में चालू खाते जमा रखते है और जिस समय चाहते है बैंक के द्वारा निकाल सकते है। यह इसलिए आवश्यक होता है कि आय और व्यय का क्रम समान गति से नही चलता। नियोजको को मजूरी आदि का भुगतान एक अवधि म करना होता है, कभी-कभी दैनिक भी। लेकिन उन्हें अपनी आय इसी क्रम म और इसी रूप में नही मिलती। अत मुद्रा मूल्य सचय के रूप में रखा गया सबसे अच्छा साधन है।

मुद्रा मूल्य का प्रामाणिक मापदण्ड (Money as a Standard Measure of Value)—वस्तु विनिमय की एक यह कठिनाई भी अनुभव की गई है कि उसमें मूल्य का साधारण मापदण्ड नहीं था, जिसके अनुसार दूसरे मूल्यो को प्रकट किया जा सकता, जोडा जा सकता अथवा हिसाब खाता रखा जा सकता। मुद्रा ने यह कठिनाई भी दूर कर दी है। मुद्रा के रूप म हम मूल्य और सेवाओ की सुगमता से तुलना कर सकते हैं। वस्तुओ और सवाओ की श्रेष्ठता उनके मूल्यों के अनुपात से आकी जा सकती है। मूल्यो का कीमतो म प्रकटीकरण हम उन्हे जोडने तथा व्यक्ति की हैसियत का अथवा वस्तु की कीमत का अन्दाज लगाने मे सहायक होता है। विनिमय के लिए मूल्य के रूप म एक सामान्य मापदण्ड होने से सौदे करना सरल और न्याययुक्त हो जाता है।

मुद्रा विलम्बित भुगतानों का आधार (Money as Standard of Deferred Payments)—मुद्रा ऐसे भुगतानो के आधार का भी स्तर कायम रखता है जिनका भुगतान कुछ समय बीत जाने पर किया जाता है। अतएव लेन-देन अवश्य ही किसी वस्तु के रूप म होगे जिनका स्थायी मूल्य होगा। बहुत सी वस्तुएँ समय के साथ नष्ट हो जाती हैं। किन्तु यदि मुद्रा की सामग्री का उचित चुनाव हुआ है और उसका उचित प्रबन्ध रखा जाता है, तो उसका मूल्य दूसरी वस्तुओ की अपेक्षा अधिक स्थायी रहता है। भावी भुगतानो के लिए प्रामाणिक मापदण्ड का कार्य करने के कारण, मुद्रा ऋण लेन देने के खतरे को कम कर देती है। इस प्रकार यह सब प्रकार की आर्थिक कार्यवाहियो को सन्तुलित रखती है जिनका आधार ऋण या साख होती है।

मुद्रा के कार्यों को सक्षेप में इस प्रकार कह सकते हैं

"माध्यम (a medium), मापदण्ड (a measure), प्रामाणिकता (a standard) तथा एकत्रीकरण (a store)।"

"Money is a matter of functions four
A medium, a measure, a standard a store"

यह ध्यान में रखना चाहिए कि मुद्रा के यह चारो काम एक दूसरे से स्वतन्त्र नहीं हैं। ऋण के भुगतान के लिए मुद्रा को तरल आस्तियो के रूप में रखा जाता है। यह विनिमय के माध्यम का कार्य करती है। यह विनियम के माध्यम के रूप म

इसलिए स्वीकार किया जाता है कि इसका मूल्य अपेक्षाकृत स्थायी रहता है। इसी कारण से यह भावी भुगतान का साधन तथा मूल्य का मापदण्ड माना जाता है।

मुद्रा मूल्य को हस्तान्तरित करने का साधन (Money as a Means of Transfering Value)—मुद्रा के द्वारा एक और महत्त्वपूर्ण कार्य भी होता है। कोई भी व्यक्ति एक स्थान पर अपनी चल और अचल सम्पत्ति को बेच सकता है और दूसरे स्थान पर खरीद सकता है। इस प्रकार मूल्य हस्तान्तरित हो सकता है। इस तरह के मामले भारत मे विभाजन के बाद बहुत हुए हैं।

५. अच्छे मुद्रा पदार्थों के गुण (Qualities of Good Money Materials)—उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि अपने कार्यो को भली भांति सम्पन्न करने के लिए मुद्रा पदार्थ मे कुछ गुण अवश्य होने चाहिएँ।

(क) सर्वमान्यता या सर्वग्राह्यता (General Acceptability)—वह वस्तु, जो सर्वसाधारण को ग्राह्य न हो, समुचित रूप से मुद्रा का काय सम्पन्न नही कर सकती। लोग एक वस्तु को या तो इस विश्वास पर स्वीकार कर लेते हैं कि दूसरे लोग उसे स्वीकार कर लेंगे या इस विश्वास पर कि वह उसे किसी दूसरे उपयोग मे ला सकेंगे। सोना और चाँदी सर्वसाधारण को ग्राह्य रहते हैं। करैंसी नोट इसलिए ग्राह्य रहते हैं, कि लोगो को विश्वास है कि उनसे क्रय कर सकते हैं या उन्हे जारी करने वालों से उनके समान मूल्य पा सकते हैं आदि।

(ख) वहनीयता (Portability)—जो पदार्थ प्रयोग मे आए, वह सहज वहनीय होना चाहिए। दूसरे शब्दो मे, थोडी मात्रा में उसका अधिक मूल्य होना चाहिए। उदाहरण के लिए कोयला अच्छा मुद्रा पदार्थ नही है जबकि सोना, चाँदी, कागज, आदि अच्छे मुद्रा पदार्थ हैं।

(ग) सज्ञेयता (Cognizability)—मुद्रा के लिए यह एक आवश्यक गुण है। इसके अर्थ हैं कि वह सुगमता से पहचान मे आ सके। यदि आप को मुद्रा की प्रामाणिकता के लिए विशेष खोजबीन करनी पडे तो इससे बडी असुविधा होगी। सिक्के और कागजी मुद्रा, जिनका आकार प्रकार पहचान योग्य होता है, उनके प्रचलन मे यह असुविधा दूर हो जाती है।

(घ) सजातिता या समरूपता (Homogeneity)—पदार्थ को एक ही गुण रूप का होना चाहिए। यदि उसके गुण (quality) अनुरूप नही हैं, तो ऐसे पदार्थ के एक परिमाण का मूल्य भी समान नही रहेगा।

(च) विभाज्यता (Divisibility)—पदार्थ ऐसा होना चाहिए कि बिना अपना मूल्य खोये वह छोटे-छोटे टुकडो में विभाजित हो सके। उदाहरण के लिए यदि एक हीरे के दो हिस्से कर दिए जाते हैं तो दोनो हिस्सों का वही मूल्य नही रहता जो पहले था। जानवरों को उस समय तक विभाजित नही किया जा सकता जब तक कि वे जानवर रहते हैं। सोना और चांदी विभाज्य हैं।

(छ) स्थायित्व (Durability)—नाशवान वस्तुएँ मुद्रा का कार्य ठीक प्रकार से नही कर सकती। एक समय बाद उनका मूल्य कम हो जाता है। उदाहरण

के लिए जानवर बीमार पड सकते हैं, कमजोर हो सकते हैं और मर सकते हैं। जल्दी नाश होने वाली वस्तुओ की स्थिति भी ऐसी ही है।

(ज) सब से खास बात तो यह है कि मुद्रा अपेक्षाकृत स्थिर मूल्य की (stable in value) होनी चाहिए क्योंकि वह दूसरे मूल्यों को निर्धारण करने के लिए प्रामाणिक मापदण्ड होती है। सोना और दूसरी वस्तुओ की अपेक्षा अधिक स्थिर मूल्य का होता है, क्योंकि वह स्थायी होता है और इन पदार्थों को बड़ी मात्रा मे प्राप्त किया जा सकता है; फिर भी इतनी अधिक मात्रा मे नही, जिनसे उनका मूल्य बहुत गिर जाए।

६ सिक्के और टकन (Coins and Coinage)—मोटे तौर पर मुद्रा को दो रूपो मे विभाजित किया जा सकता है, पहला धातु-मुद्रा और दूसरा कागजी मुद्रा। धातु करेंसी अथवा सिक्के एक विशेष वजन और देश की सरकार की मोहराकित धातु के टुकडे होत हैं। ऊँचे मूल्य की मुद्राओ के किनारे साधारणतया खुदे रहते है, जिससे वे नष्ट होने से बची रहे और उनके साथ की गई चालबाजी का आसानी से पता चल सके। अच्छे टकन के मुख्य सिद्धान्त ये है—(क) सिक्के सुविधाजनक आकारो के होने चाहिए, (ख) वे इस प्रकार के बनने चाहिएँ कि चलन के कारण उनमे कम-से-कम छीजन हो, (ग) उनका स्वरूप इस प्रकार का होना चाहिए कि उनकी नकल बनाना या उन्हे घिसना या छाँटना असम्भव हो जाए, और(घ) उन पर कलात्मक सरकारी मोहरे होनी चाहिएँ।

साकेतिक सिक्के (Token Coins)—धातु के सिक्के, पूर्ण शुद्ध धातु के सिक्के भी हो सकते हैं और साकेतिक सिक्के भी हो सकते हैं। पूर्ण शुद्ध सिक्के वे सिक्के होते हैं जिनकी धातु का मूल्य वही है जो उनका साकेतिक मूल्य है। किन्तु साकेतिक मुद्रा का साकेतिक मूल्य अधिक होता है, उसका वास्तविक मूल्य कम होता है। भारतीय रुपया साकेतिक सिक्का है। रुपये की धातु की कीमत उसकी साकेतिक कीमत से कम है। किन्तु १८९३ से पूर्व भारतीय रुपया शुद्ध धातु का सिक्का था। उस समय के रुपये की चाँदी को एक रुपये की कीमत में बेचा जा सकता था।

कभी कभी ऐसा भी होता है कि साकेतिक मुद्रा मे प्रयुक्त धातु की कीमत इतनी बढ जाती है कि वह मुद्रा पूर्ण शुद्ध धातु वाले सिक्को के समान हो जाती है। उस समय ऐसे सिक्को का गलाकर या दबाकर रख लिया जाता है। उदाहरण के लिए १९१७ म चाँदी की कीमत इतनी बढ गई थी कि भारतीय रुपया साकेतिक मुद्रा न रहा और वह बाजार म चलन से गायब होने लगा। उस समय सरकार को रुपये के सिक्के मुद्रित करने मे पर्याप्त कठिनाई हुई थी। इसी प्रकार १९४० में भी रुपयो की कमी हो गई थी और सरकार को कम चाँदी के रुपये ढाल कर चलाने पड़े। इस समय भारतीय रुपये मे ११/१२ शुद्ध चाँदी के बजाय १/२ शुद्ध चाँदी है। ऐसे सिक्को के दबाकर रखने का भय नही रहता। पुराने शुद्ध चाँदी वाले रुपये अब विधिमान्य मुद्रा नही हैं। उन रुपयो से लेन देन नही हो सकता। १९४६ मे निकिल या रूपक धातु के रुपयो का चलन प्रारम्भ हुआ।

सांकेतिक सिक्के प्रायः सहाय टक होते हैं। किन्तु भारत में मुख्य सिक्का रुपया भी सांकेतिक सिक्का ही है। वस्तुतः भारतीय रुपया शुद्ध सिक्के और सांकेतिक सिक्के का मिश्रण है। कुछ लोग कहते हैं कि भारतीय रुपया रूपक (nickel) पर छपा हुआ नोट है। सहायक सिक्कों का प्रयोग छोटे भुगतान करने के लिए होता है। भारत में पैसा, आना, चवन्नी या ५ या १० नये पैसे के सिक्के सहायक सिक्के हैं।

सीमित तथा असीमित विधिमान्य मुद्रा (Limited and Unlimited Legal Tender)—सिक्के सीमित विधिमान्य मुद्रा या असीमित विधिमान्य मुद्रा हो सकते हैं। विधिमान्य मुद्रा वह है जिसके माध्यम से ऋणों का चुकाना विधि द्वारा मान्य हो। यदि कोई व्यक्ति विधिमान्य मुद्रा को लेने से इनकार करे तो उसे दण्ड भुगतना पड़ेगा।

जब किसी मुद्रा के द्वारा किसी भी मात्रा म ऋणों का भुगतान सम्भव हो तो ऐसी मुद्रा को असीमित विधिमान्य मुद्रा कहेंगे। किन्तु यदि उस मुद्रा के द्वारा किसी सीमा के अन्दर ही भुगतान करना सम्भव है तो ऐसी मुद्रा सीमित विधिमान्य मुद्रा कही जाएगी। उदाहरण के लिए भारत मे रुपये के सिक्के और रुपये के नोट असीमित विधिमान्य मुद्राएँ हैं। उसी प्रकार अठन्नियाँ भी असीमित विधिमान्य मुद्रा हैं। किन्तु इससे छोटे सिक्के सीमित विधिमान्य मुद्राएँ हैं। वे केवल १० रुपयों तक के भुगतानों के लिए विधिमान्य मुद्राएँ हैं।

प्रामाणिक मुद्रा (Standard Money)—प्रामाणिक मुद्रा वह मुद्रा है जिस के आधार पर मुद्रा की दूसरी किस्मों का मूल्य मापा जाता है। यह मुद्रा का अति उत्तम रूप है। या तो इसम मुद्रा विषयक प्रमाण है या यह उसका निकट प्रतिनिधि है। साधारणतया एक धातु को चुन लिया जाता है, और मुद्रा की इकाइयाँ उसमे बदली जा सकती हैं। कभी-कभी दो धातुएँ यह कार्य करती है। जब प्रामाणिक धातु एक होती है तो उस प्रणाली को एक धातु-मान (Monometallism) कहेंगे। जब दो प्रामाणिक धातुएँ होती हैं तो उसे द्विधातु-मान (Bimetallism) कहेंगे। इसी प्रकार यदि सोना धातु को चुना जाए तो उसे स्वर्णमान (Gold Standard) कहेंगे। और यदि धातु रजत है तो उसे रजतमान (Silver Standard) कहेंगे।

कभी-कभी कोई एक देश अपनी करेन्सी का मूल्य विदेशी करेन्सी के मूल्य के अनुपात मे निर्धारित करता है। उसे विनिमय मान (Exchange Standard) कहेंगे। यदि विदेशी मान स्वर्ण मान होता है तब सम्बन्धित देश की करेन्सी स्वर्ण विनिमय मान (Gold Exchange Standard) होती है। वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भ में भारत ने अपने रुपये को अंग्रेजी करेंसी से सम्बन्धित कर लिया। इंगलैंड स्वर्णमान वाला देश था। इस प्रकार भारत स्वर्ण विनिमय मान वाला देश हुआ। जब सन् १९३१ के सितम्बर मास मे इंगलैण्ड ने स्वर्णमान का परित्याग कर दिया तो भारत का सम्बन्ध स्टर्लिंग से हो गया। तब भारत स्टर्लिंग विनिमय मान वाला देश बन गया। जब से भारत ने अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (I.M.F.) से सम्बन्ध स्थापित किया है, भारतीय रुपये की स्टर्लिंग विनिमय कड़ी को सिद्धान्ततः समाप्त कर दिया गया है।

इस समय भारतीय रुपये का मूल्य ० १८६६२१ ग्रेन शुद्ध स्वर्ण के बराबर है । अत अब भारत मे स्वर्ण समाहृता मान (Gold Parity Standard) प्रचलित है ।

७ कागजी मुद्रा (Paper Money)—'कागजी मुद्रा' के अन्तर्गत बैंक नोट और सरकारी नोट आते हैं, जो हाथों हाथ बिना रोक टोक चलते हैं । इसके अन्तर्गत चैक तथा हुँडियाँ नही आती, जिनका सीमित प्रचलन है ।

कागजी मुद्रा दो किस्म की होती है—परिवर्तनीय (convertible) तथा अपरिवर्तनीय (inconvertible) । पहले किस्म की मुद्रा उसके स्वामी की इच्छा अनुसार प्रामाणिक सिक्के (प्रामाणिक धातु) मे बदली जा सकती है, लेकिन दूसरी इस रूप म नही बदली जा सकती ।

कागजी मुद्रा का परिवर्तित होना इसलिए आवश्यक है कि उससे लोगो को भरोसा रहे और वह एक निश्चित सीमा में प्रचलित रहे । जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, मुद्रा की पूर्ति म वृद्धि यदि माँग की वृद्धि के अनुरूप न हुई तो उसका मूल्य उसी भाँति घट जाता है जैसा कि अन्य किसी जिन्स का । इसलिए कागजी मुद्रा का प्रचलन राज्य सरकार की विधियो के अन्तगत नियन्त्रित रहता है । इसके नियन्त्रण का एक उपाय यह होता है कि उसे मुद्रा अथवा प्रामाणिक धातु में परिवर्तित किया जा सके ।

अपरिवर्तनीय कागजी मुद्रा म एक सबस बडा खतरा यह रहता है कि वह अधिक प्रचलित (over-issue) हो सकती है । सरकार के लिए यह लाभप्रद होता है कि वह सकट काल म, जैसे युद्ध के समय, अपने साधनो म वृद्धि के लिए अधिक नोट छाप ले और उसकी क्रय शक्ति से लाभ उठाए । ससार के करेन्सी के इतिहास म ऐसे कई उदाहरण हैं जब नोटो का अधिक प्रचलन (over-issue) हुआ । जर्मनी ने पहले विश्वयुद्ध में और उस युद्ध के बाद भी यही किया । द्वितीय विश्वयुद्ध (१६३६—४५) म भारत म अधिक नोट प्रचलित हुए ।

८ बैंक मुद्रा (Bank Money)—बैंक मुद्रा में विभिन्न साख पत्र (instruments of credit) सम्मिलित रहते हैं । कीन्स (Keynes) के शब्दो म, 'बैंक मुद्रा केवल निजी कर्ज की स्वीकृति है जो कि लेखा द्रव्य (money of account) में प्रमारित की जाती है । लेन देन के निबटारे के लिए यह एक आदमी से दूसरे आदमी के पास वास्तविक मुद्रा के रूप म आती जाती रहती है ।"

बैंक मुद्रा क कई रूप हैं । इनम स कुछ चैक हुडी, बैंक ड्राफ्ट आदि हैं । इन का वर्णन हम आगे के अध्याय म करेंगे । यहाँ केवल यह समझ लेना चाहिए कि साख पत्र (credit instruments) मुद्रा नहीं हैं, क्योंकि व सामान्य रूप से सर्व-स्वीकृत नही किए जाते । बैंक-मुद्रा अथवा चैक द्वारा उत्पन्न की हुई मुद्रा समस्त आधुनिक सम्प्रदाया म परिमाण के रूप म अत्यधिक महत्वपूर्ण है । जिस प्रकार धातु मुद्रा ने मुद्रा की अन्य वस्तुओं का प्रतिस्थापन किया और कुछ ही समय के अन्दर कागजी मुद्रा ने उसको प्रतिस्थापित किया था उसी प्रकार बैंक मुद्रा न आधुनिक काल म सभी प्रकार की मुद्राओं को प्रतिस्थापित किया है । चैक तथा अन्य बैंक मुद्राएँ अन्य प्रकार की मुद्राओं से इसलिए अधिक अच्छी हैं कि डाक द्वारा ले जाने म खरा पैसा देने म,

काउण्टर फायल के रूप मे, रसीदो के देने मे, तथा चुरा लिये जाने अथवा खोए जाने के प्रति सुरक्षित होने के कारण सुविधाजनक हैं।

६ लेखा शोधन मुद्रा (Money of Account)—लेखा शोधन मुद्रा वह इकाई है जिसम किसी देश का लेखा तैयार किया जाता है और लेन-देन होता है। स्टर्लिग, डालर, फ्रैंक और मार्क क्रमश ग्रेट ब्रिटेन, सयुक्तराष्ट्र, फ्रास और जर्मनी की लेखा मुद्राएँ हैं।

उपर्युक्त देशो मे क्रमश यही सब इकाइयाँ चलन का माध्यम हैं। किन्तु यह आवश्यक नही है कि ऐसा हो ही। लेखा मुद्रा किसी देश मे प्रचलित मुद्रा से भिन्न हो सकती है। उदाहरण के लिए, मुद्रास्फीति (inflation) के कारण सन् १९२२-२४ मे जर्मनी के मार्क का मूल्य अधिक गिर गया। लोगो का उस पर से विश्वास उठ गया, क्योकि लोग नही जानते थे कि अगले दिन या अगले घटे मार्क का क्या मूल्य होगा। यह बडा अरक्षित था कि इतनी अनिश्चित मूल्य की करेन्सी द्वारा लेन-देन किया जाए। अतएव मार्क लेखा शोधन मुद्रा नही रहा। उस समय अमेरिकन डालर सर्वाधिक सन्तुलित मुद्रा थी। अतएव लोगो ने लेन देन मे उसे अपना लिया।

१० मुद्रा के कुछ अन्य रूप (Some other Forms of Money)—कुछ और भी शब्द हैं जो कि वाद-विवाद के समय मुद्रा के सम्बन्ध म प्रयोग किए जाते हैं। वे वस्तु मुद्रा (commodity money), प्रादिष्ट-पत्र मुद्रा (fiat money) तथा प्रबन्धित मुद्रा (managed money) हैं। कीन्स (Keynes) ने उनकी निम्नलिखित परिभाषायें की हैं।[1]

वस्तु मुद्रा (commodity money)—किसी विशेष असीमित मात्रा मे प्राप्त उस नैकाधिकार (non-monopolised) वस्तु की वास्तविक इकाइयो से बना है, जिसकी अधिक अभिरुचि मुद्रा के स्पष्ट कार्यो के करने के लिए की गई हो, परन्तु उसकी पूर्ति का निर्धारण—अन्य वस्तुओ के अनुसार—दुर्लभता (scarcity) तथा उत्पादन व्यय (cost of production) से हो।

प्रादिष्ट-पत्र मुद्रा (fiat money), प्रतिनिधि मुद्रा (representative money) है (अर्थात् भौतिक पदार्थ का कुछ असली मूल्य जो कि उसके मुद्रा-विषयक अकित मूल्य (monetary face value) से पृथक् कर दिया गया है)—अब छोटी सज्ञा (denomination) के सिवा अधिकतर कागज की बनती है—जिसको सरकार बनाती अथवा निकालती है। परन्तु यह कानून के अनुसार अपने अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु से बदलने योग्य नही है और बाहरी विनिमय के सम्बन्ध मे इसका कोई निश्चित मूल्य नही है।

प्रबन्धित मुद्रा (managed money), प्रादिष्ट-पत्र मुद्रा (fiat money) के समान है। केवल अन्तर यही है कि राज्य इसके इस प्रकार चलाने की व्यवस्था का प्रबन्ध अपने हाथ मे ले लेता है, कि चाहे बदलने योग्य हो या नही, किसी बाहरी वस्तु के प्रमाण के सम्बन्ध म इसका मूल्य नियत रहे। यह वस्तु मुद्रा तथा प्रादिष्ट-पत्र मुद्रा के बीच में एक दोगले के समान है। वस्तु मुद्रा के अनुसार इसका सम्बन्ध

1 Keynes, J N—A Treatise on Money, 1950, Vol I, pp 3 4

मूल्य के बाहरी प्रभाव से है और प्रादिष्ट-पत्र मुद्रा के अनुसार यह केवल प्रतिनिधि मुद्रा है और कोई निजी असली मूल्य नहीं रखती।

११ ग्रेशम का सिद्धान्त (Gresham's Law)—टकन के सिलसिले में रानी ऐलिजाबेथ (Queen Elizabeth) के आर्थिक सलाहकार सर टॉमस ग्रेशम (Sir Thomas Gresham) के नाम से सम्बन्धित एक अधिक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। रानी एलिजाबेथ इस बात के लिए उत्सुक थी कि वह अंग्रेजी करेन्सी में, जिसका मूल्य उनके पिता हेनरी अष्टम ने घटा दिया था, सुधार करें। किन्तु वे परेशान थीं कि ज्यों ही वे किसी नई मुद्रा को चलन म भेजतीं वह लोप हो जाती थी। तब सर टॉमस ग्रेशम (Sir T Gresham) से कहा गया कि वह इस पर प्रकाश डालें। उन्होंने जो उत्तर दिया, वह उन्हीं के नाम पर एक सिद्धान्त बन गया।

ग्रेशम के सिद्धान्त को सक्षेप म हम इस प्रकार कह सकते हैं।

"बुरी मुद्रा, अच्छी मुद्रा को चलन के बाहर कर देती है।"

ग्रेशम का सिद्धान्त तीन रूपों म कार्य करता है। (क) अच्छी मुद्रा को जमा कर लिया जाता है, (ख) अच्छी मुद्रा को गला डालते हैं, (ग) अच्छी मुद्रा को निर्यात कर देते है। इस प्रकार अच्छी मुद्रा चलन से बाहर हो जाती है।

अच्छी मुद्रा (good money) से हमारा तात्पर्य प्रमाप, वजन और श्रेष्ठता तथा पूर्ण मूल्य वाली मुद्राओं से है और बुरी मुद्रा (bad money) से हमारा अर्थ उससे है जिसका मूल्य कम कर दिया गया हो, अथवा जो पुरानी हो गयी हो, जिससे उसके मूल्य म अन्तर पड जाए।

ग्रेशम का सिद्धान्त कब लागू होता है? (When does Gresham's Law Operate?)—यह सिद्धान्त तीन दशाओं म लागू होता है। (क) जब पूर्ण मूल्य वाली मुद्रा और कम मूल्य की, जाली अथवा पुरानी मुद्राएँ साथ-साथ चलन में हों, (ख) जब धातु-मुद्रा और कम मूल्य वाली कागजी मुद्रा साथ साथ प्रचलित हों और (ग) जब द्विधातुवाद हो अर्थात् जब दो प्रामाणिक मुद्राएँ प्रचलित हों अर्थात् दोनों असीमित विधिग्राह्य दोनों निर्मूल्य मुद्राकन के अधीन हों और दोनों का अंकित मूल्य धातु के वास्तविक मूल्य के बराबर हों। द्विधातुवाद के अन्तर्गत ग्रेशम के सिद्धान्त के प्रभाव हम अगले अध्याय में देखेंगे।

नियम की सीमाएँ (Limitations of the Law)—यह नियम लागू नहीं होगा यदि (क) करेंसी में कमी हो और (ख) बुरी मुद्रा के विरुद्ध जनमत हो, जिसके कारण बुरी मुद्रा को चलन के बाहर जाना ही होगा।

१२ भारतीय मुद्रा प्रणाली (Indian Monetary System)—भारत म मुख्य मुद्रा रुपया है, जो लगभग पूर्णतया निकिल या रूपक का बना होता है। इसका मूल्य वास्तव म २-३ आने से अधिक नहीं होता। रुपया लेखा शोधन मुद्रा है और मूल्य निर्धारण का मान है। दूसरी मुद्रा अठन्नी है, जिसका रूप रुपये के समान है। दोनों ही असीमित विधिमान्य मुद्रा हैं। हमारी मुद्राओं म चवन्नी, दुअन्नी, इकन्नी, अधन्ना, पैसा और पाई हैं। पाई का प्रयोग केवल लेखा शोधन के लिए होता था।

वह वास्तव में प्रचलन म थी ही नही। ये सिक्के दस रुपये तक सीमित विधिमान्य मुद्राएँ है।

१ अप्रैल सन् १९५७ से भारत में दशमलव मुद्रा प्रणाली प्रचलित हुई। नई व्यवस्था मे भी रुपया ही मुख्य मुद्रा है। किन्तु जहाँ पहले रुपये को १६ आनो में या ६४ पैसो मे विभाजित किया जाता था, अब रुपये को १०० नये पैसो मे विभाजित किया गया है। तदनुसार अब अठन्नी ५० नये पैसो के और चवन्नी २५ नये पैसो के बराबर है। वर्तमान दुअन्नी, इकन्नी और अधन्ने के मूल्य का कोई सिक्का नयी दशमलव प्रणाली में नही है। फिलहाल १० नये पैसे, ५ नये पैसे और दो नये पैसे तथा एक नये पैसे के सिक्के जारी कर दिए गए हैं। इन छोटे सिक्को ने दुअन्नियो, इकन्नियो तथा अधन्नो का स्थान ले लिया है। बडे सिक्के अर्थात् २५ नये पैसे, ५० नये पैसे और १०० नये पैसो के सिक्के बाद मे चलन मे आयेंगे। कुछ समय तक नये और पुराने सिक्के साथ-साथ प्रचलन मे रहेंगे। व्यवस्था की गई है कि पुराने सिक्को का नये सिक्कों म आसानी से परिवर्तित किया जा सके। कुछ पुराने सिक्को का वही रूप कुछ समय तक रखकर और उनके नये सिक्को में परिवर्तन की सुविधा देकर भारत सरकार ने इस परिवर्तन की अवस्था को सरल कर दिया है। निश्चित किया गया है कि दस वर्षों मे नई दशमलव मुद्रा प्रणाली पूर्ण रूप से भारत मे प्रचलित कर दी जाएगी।

दशमलव मुद्रा प्रणाली हिसाब किताब रखने तथा व्यवहार मे बोधगम्य और सरल समझी जाती है। ससार के १४० सिक्के जारी करने वाले देशों में से १०५ देशो मे दशमलव मुद्रा प्रणाली प्रचलित है। सर्वप्रथम अमरीका ने १७८६ मे दशमलव मुद्रा प्रणाली को अपनाया था। इसके पश्चात् फ्रास ने १७९९ में अमरीका का अनुकरण किया। इगलैण्ड इस दृष्टि से अपवाद है।

हमारे यहाँ कोई पूर्ण मुद्रा नही है अर्थात् वह मुद्रा, जिनका अकित मूल्य (face value) अथवा सरकारी मूल्य (official value) धातुमूल्य (metallic value) के बराबर हो। हमारी कोई भी मुद्रा पूर्ण मुद्रा नही है। वह सभी प्रतीक या साकेतिक मुद्राएं है। हमारा रुपया असीमित विधिमान्य मुद्रा है परन्तु वह भी साकेतिक मुद्रा ही है। उनका धातु मूल्य उनके अकित मूल्य (face value) से बहुत कम है। उसे 'चांदी पर मुद्रित नोट' कहा जाता था। अब यह कहना अधिक उचित होगा कि यह 'निकिल पर मुद्रित नोट' है। इस प्रकार हमारा रुपया साकेतिक (token) और प्रामाणिक (standard) मुद्राओ का मिश्रण है।

धातु मुद्रा (metallic money) के अतिरिक्त हमारे यहाँ कागजी करेन्सी भी प्रचलित है। हमारे नोट १०,०००), ५,०००), १,०००), १००), १०), ५), २), और १) रुपये के हैं। भारत म सन् १८३९ म सर्वप्रथम तीन प्रेसीडेन्सी बैंको—बैंक आफ बाम्बे, बैंक आफ मदरास और बैंक आफ बगाल ने करेन्सी नोट जारी किए थे। सन् १८६१ मे नोट जारी करने का कार्य भारत सरकार ने अपने हाथों में ले लिया। सर्व प्रथम नोटों को जारी करने का प्रत्यक्ष भाग चार करोड निश्चित रुपये किया गया और उसके बाद शत-प्रतिशत सुरक्षित कोष रखना पडता था। यह सीमा

क्रमश: बढ़ा दी गई। हिल्टन यंग कमीशन (Hilton Young Commission) ने आनुपातिक सुरक्षित प्रणाली (Proportional Reserve System) को स्वीकार करने की सिफारिश की। सन् १६३५ में रिजर्व बैंक आफ इण्डिया (Reserve Bank of India) ने नोट जारी करने का काम अपने हाथ में ले लिया। रिजर्व बैंक ऐक्ट के अनुसार कागजी करेन्सी के पीछे रुपये के सिक्के, भारत सरकार की रुपये वाली सिक्योरिटियाँ, स्वर्ण मुद्राएँ (Gold Coins), तथा (ब्रिटिश सरकार की) स्वर्ण सिक्योरिटियों का अवश्य ही पूर्ण सहारा होगा। किन्तु स्वर्ण और स्वर्ण सिक्योरिटियाँ प्रत्येक दशा में पूर्ण सुरक्षित कोष का ४० प्रतिशत हो और स्वर्ण मुद्रा तथा धातु की मात्रा कम से कम ४० करोड़ रुपये हो। सभी नोट, केवल एक रुपये के नोट को छोड़कर, रुपयों के सिक्कों में परिवर्तनीय हैं। १६५६ म भारत सरकार ने रिजर्व बैंक आफ इण्डिया संशोधन अधिनियम स्वीकार किया जिसके अनुसार आनुपातिक सुरक्षित मुद्रा प्रणाली के स्थान पर न्यूनतम निश्चित मुद्रा रिजर्व म रखने की व्यवस्था निश्चित हुई। साथ ही यह भी अधिनियमित हुआ कि भारत सरकार कम से कम ४०० करोड़ रुपय की विदेशी प्रतिभूतियाँ और ११५ करोड़ रुपयो के स्वर्ण पिण्ड आरक्षित रखे। इसके पश्चात् १६५७ मे पुन एक संशोधन किया गया जिसके अनुसार न्यूनतम आरक्षित कोष २०० करोड़ रु० कर दिया गया जिसमें ११५ करोड़ रु० के स्वर्ण पिण्ड सम्मिलित थे।

निर्देश पुस्तकें

Crowther, G. An Outline of Money, 1950, Ch I

Cole, G D H Money, Its Present and Future

Cole and Others What Everybody Wants to Know about Money

Brij Narain Money and Banking (S Chand and Co)

Coulborn, W A L A Discussion of Money, 1950, Chs I—IV.

Keynes, J N A Treatise on Money, 1950, Chaps. I, II and III

Wicksell, K Lectures on Political Economy, Vol II Chaps I and II

Kemmerer, E W Money, 1935, Ch I

Badford, F A Money and Banking, 1936, Chs I and II

Dowrie, G W Money and Banking, 1936, Chs. I and II.

Leffler, R V Money and Credit, 1935, Chs I, II and III

Halm, G N Monetary Theory, 1949 Chs 1 and 3

Robertson, D N. Money, 1948

Withers, H Meaning of Money, 1535

अध्याय ३१

मुद्रा की प्रणालियाँ

(Monetary Systems)

१ द्विधातुमान (Bimetallism)—समय-समय पर कई प्रकार की मुद्रा प्रणालियों अथवा मुद्रा मानो को अंगीकार (adopted) किया गया है। ये प्रणालियाँ इस प्रकार हैं—(क) द्विधातुमान (Bimetallism), (ख) एकधातुमान (monometallism), (ग) रजतमान अथवा स्वर्णमान, तथा (घ) पत्रमान (Paper Standard)।

द्विधातुमान मे सोने और चाँदी के सिक्के साथ-साथ चलते हैं। दोनो धातुओ के बीच एक विशेष अनुपात स्थिर कर दिया जाता है और दोनो ही धातुओ के बने सिक्के असीमित विधिमान्य मुद्रा होते हैं। कभी कभी दोनो प्रकार के सिक्के असीमित विधि-मान्य मुद्रा होते हुए भी स्वतन्त्र मुद्रा निर्माण केवल एक प्रकार के सिक्के में होता है। फ्रास मे द्विधातुमान के समय मे चाँदी के फ्रैंक का स्वतन्त्र मुद्रा निर्माण नही था। इस प्रकार की मुद्रा प्रणाली को लिम्पिंग मान (Limping Standard) कहते हैं।

द्विधातुमान के गुण (Merits of Bimetallism)—द्विधातुमान के गुण निम्नलिखित हैं —(१) इस प्रकार से मुद्रा की पूर्त्ति आसानी से बढाई जा सकती है चूंकि दो धातुओ से मुद्रा बनाई जाती है। (२) ऋण के लिए बैंक उचित मात्रा मे नकद रुपया सरलता से रख सकते हैं। चूंकि चाँदी या सोना दोनो धातुओ के सिक्के असीमित विधिमान्य मुद्रा होते हैं। (३) सरकार को भी कुछ आर्थिक लाभ होते हैं। एकधातुमान की अपेक्षा इसमे सरकार अधिक सुगमता से नकदी की आवश्यकताओ की व्यवस्था कर सकती है। (४) द्विधातुमान से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में बडी सुविधा हो जाती है क्योकि इस मान के अन्तर्गत प्रत्येक देश से विनिमय सम्बन्ध स्थापित किए जा सकते हैं, क्योकि हर देश में सोना या चाँदी की मुद्राएँ अवश्य प्रचलन में होगी। (५) यदि केवल सोने का एकधातुमान रखा जाए तो इसके लिए सोना पर्याप्त मात्रा में नही मिल सकेगा। इसलिए द्विधातुमान अधिक उपयोगी होता है। (६) १९वी शताब्दी के अन्त की ओर चाँदी के भाव में कमी हो जाने के कारण द्विधातुमान अपनाने पर अधिक जोर दिया जाने लगा। यह विचार किया गया कि द्विधातुमान के प्रयोग से चाँदी के भाव ठहर जाएँगे। (७) लोगो का यह विश्वास था कि यह मान अधिक स्थिर रहेगा क्योकि एक धातु की कीमत गिरने की कमी दूसरी धातु की कीमत की वृद्धि से पूरी हो जाएगी।

द्विधातुमान के अवगुण (Case against Bimetallism)—सब को विश्वास था कि जब तक अन्तर्राष्ट्रीय ढग पर द्विधातुमान की स्थापना न होगी, तब तक सफलता

प्राप्त नही हो सकती । और इसकी कोई आशा न थी । यदि केवल एक देश इसे अपनाता तो ग्रेशम के नियम के कारण यह सफल न होता ।

इसके अतिरिक्त पत्र-मुद्रा के चलन के कारण अब धातुओं के अपर्याप्त होने का भी डर नही रहा । सरकार भी पत्र-मुद्रा द्वारा अपनी कठिनाइयाँ दूर कर सकती है । पत्र मुद्रा के कारण सरकार भी वित्तीय कठिनाई के समय को गुजार सकती थी।

और फिर विदेशी विनिमय की प्रणाली अब इतनी विकसित हो चुकी है कि बिना द्विधातुमान के भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का विस्तार हो सकता है ।

पत्र-मुद्रा ने द्विधातु-मान के प्रचलन के विचार को सदैव के लिए समाप्त कर दिया है ।

जिस प्रकार दो मदान्ध व्यक्तियो की अपेक्षा एक गम्भीर व्यक्ति अधिक स्थिर पग रख सकता है, इसी भाँति यह देखा गया कि सोना अथवा चाँदी के एक धातु मान मे अधिक स्थिरता होती है ।

टकसाली अनुपात तथा मार्केट अनुपात म प्रतिदिन विकर्षण (divergence) होने से व्यापार म गडबड, भ्रम तथा कई प्रकार की जटिलताएँ पैदा होती हैं । "यह (द्विधातु मान का कार्यवहन) वाणिज्यिक कार्यवाही तथा राष्ट्रीय स्पर्द्धा का सूचक है, जिस से वाणिज्यिक व्यवस्था तथा देशभक्ति की भावना को ठेस पहुँच सकती है।"[1]

२ रजत मान (Silver Standard)—रजत मान में मुद्रा की इकाई का मूल्य चाँदी म निश्चित किया जाता है । अक्सर एक निश्चित भार व शुद्धता के चाँदी के सिक्के स्वतन्त्र टकन प्रणाली के अनुसार बनाए जाते हैं । उदाहरण के लिए भारतवर्ष म १८३५ से १८६३ तक रजत मान रहा । भारतीय रुपए का भार १८० ग्रेन होता था और इसमे $\frac{11}{12}$ के अनुपात म शुद्धता थी तथा रुपया स्वतन्त्र एव मुक्त ढाला जाता था ।

इस प्रणाली के द्वारा मुद्रा चलन की वृद्धि या सकुचन स्वचालित तो अवश्य हो गया पर १८७४ म जब चाँदी का भाव तेजी से गिरने लगा तो सरकार को बडी कठिनाई का सामना करना पडा । लोग सस्ती चाँदी बाजार म खरीद कर सिक्के ढलवाने लगे जिससे उन्हे लाभ होता था । चलन म अधिक मुद्रा आ जाने के कारण कीमतें बढने लगी । हमारे आयात पर इसका बहुत बुरा प्रभाव पडा क्योकि पौंड के बदले म पहले से अधिक रुपये देने पडते थे और परिणाम यह हुआ कि इगलैंड के प्रति भारत के रुपए से इगलैंड म होने वाला व्यय का भार बहुत बढ गया । भारतीय बजट के सन्तुलन में बडी कठिनाइयो का सामना करना पडा। अन्त मे हर्शल कमेटी के सुझाव के अनुसार भारतवर्ष म चाँदी का स्वतन्त्र टकन बन्द कर दिया गया और इस प्रकार इस देश म रजत मान की समाप्ति हुई ।

रजत मान व स्वर्ण मान की कार्य प्रणाली प्राय एक सी है पर स्वर्ण मान इसलिए अधिक ठीक रहता है कि चाँदी की अपेक्षा स्वर्ण मूल्य मे कम परिवर्तन होते हैं ।

1 A Discussion of Money, 1950 p 125

३. स्वर्ण परिचलन मान (Gold Circulation Standard)—इसको पूर्ण स्वर्ण मान भी कहते हैं। जिस देश में स्वर्ण केवल मूल्य के मान के रूप में ही नहीं वरन् सिक्को के रूप में भी प्रचलित होता है, उस देश का मान स्वर्ण परिचलन मान कहलाता है। १६१४ के पहले इगलैंड, फ्रास, जर्मनी और सयुक्त-राष्ट्र अमेरिका में स्वर्ण परिचलन मान प्रचलित था। ऐसी प्रणाली मुद्रा के लिए एक ठोस तथा स्पष्ट प्रतिभूति (tangib'e security) उपस्थित करती है। यह उन लोगो के लिए भी बहुत सुविधाजनक होती है जो विदेश मे भ्रमण करते हैं क्योंकि वे अपनी मुद्रा ले जा सकते हैं और ससार के किसी भी भाग मे उसके स्वीकार किए जाने की निश्चित आशा रख सकते हैं। यह बहुत ही पुरानी मुद्रा प्रणाली है।

४ स्वर्ण धातु मान या स्वर्ण पिण्ड मान (Gold Bullion Standard)—इस प्रणाली के अन्तर्गत मुद्रा का मूल्य सोने मे अकित रहता था और इस चल मुद्रा (currency) को सोने (धातु या पिण्ड) मे परिवर्तित किया जा सकता था सिक्के में नही और इसके विपरीत भी ऐसा ही सम्भव था। पर सोना सिक्कों के रूप में प्रचलित नही होता था।

सयुक्त राष्ट्र (U K) में बैक ऑफ इगलैंड ३ पौंड १७ शिलिंग ६ पैंस मे ($\frac{११}{१२}$ विशुद्धता) प्रति औंस सोना खरीद कर ४०० औंस तक सोना ३ पौंड १७ शिलिंग १०$\frac{१}{२}$ पैंस के हिसाब से बेचता था। यह वही दर थी जो १६१४ से पहले प्रचलित थी। सोने का निर्यात अथवा आयात स्वतन्त्र रूप से हो सकता था पर सोने के सिक्के नही चलते थे। इसका आशय विदेशी भुगतानो के लिए सोना सुरक्षित रखना था।

भारत म १६२७ में हिल्टन यग कमीशन के सुझावों पर स्वर्ण-धातु मान अपनाया गया। इसके अनुसार राज्य को पूर्व-घोषित दरो पर कम से कम ४०० औंस सोना खरीदना व बेचना पडता था। कमीशन का दावा था कि इस प्रकार के मान में स्वर्ण मान की हानियाँ नही होती परन्तु लाभ सब होते है, जो इस प्रकार हैं—

(i) यह प्रणाली किफायती थी, चूँकि इसमें सोने के सिक्के बनाकर चलन मे देने की जरूरत न थी। जनता रोज के चलन में सस्ती मुद्रा जैसे कागजी मुद्रा अथवा रुपए का प्रयोग करती है।

(ii) इससे राज्य का सम्मान बना रहता है क्योंकि सोने का स्वतन्त्र आयात अथवा निर्यात हो सकता है। स्वर्ण विनिमय मान की भांति केवल विनिमय के लिए ही सोने का प्रयोग नही होता।

(iii) स्वर्ण धातु मान के अन्तर्गत कागजी मुद्रा स्थिर रहती है, क्योंकि इसे सोने मे बदला जा सकता है। लेकिन स्वर्ण विनिमय मान के अन्तर्गत एक साकेतिक मुद्रा (नोट) को दूसरी साकेतिक मुद्रा (रुपये) मे बदला जा सकता है।

(iv) यह भी कहा जा सकता है कि इस मान म मुद्रा की वृद्धि अथवा सकुचन अपने आप होता रहता है, क्योंकि मुद्रा की वृद्धि तब होगी जब जनता, सोना अधिकारियो को बेचेगी और सकुचन तब होगा जब जनता सोना खरीदेगी।

(v) ऐसा विचार किया जाता है कि केन्द्रीय बैंक मे सचित होना, अधिक उपयोगी होता है और राष्ट्रीय मुद्रा को उस सोने से अधिक सहारा देता है जो कि परिचलन मे होता है।

(vi) स्वर्ण धातु मान जनता को सोना प्राप्त करने की योग्यता तथा उसको गलाने या निर्यात करने की स्वतन्त्रता प्रदान करता है।

पर यह लाभ वास्तविक नही है। कम से कम भारत के लिए तो स्वर्ण धातु मान लाभप्रद सिद्ध नही हुआ क्योकि साधारण मनुष्य इतने कागज के नोट कभी भी जमा न कर सकता था कि ४०० औस सोना (४०० औस=१०६५ तोला) बदले मे ले सके। इस प्रकार स्वर्ण धातु मान मे मुद्रा के विस्तार और सकुचन को स्वचालित नही रखा जा सका।

१६३१ में इगलैंड और भारत ने स्वर्ण धातु मान को छोड दिया और स्वर्ण धातु-मान की समाप्ति हो गई। इस प्रकार स्वर्ण-धातु-मान पूर्णतया लुप्त हो गया।

५ स्वर्ण विनिमय मान (Gold Exchange Standard)[1]—पहला देश जिसने स्वर्ण विनिमय मान अपनाया हालैण्ड है जिसने १८७७ मे इस प्रणाली को अपनाया। रूस ने इसके बाद १८६४ म इसको अपनाया। इसी समय इसको आस्ट्रिया और हगरी ने भी ग्रहण किया। तो भी इसको पूर्ण तथा सुचारु रूप से अपनाने का श्रेय भारतवर्ष को है जहाँ यह १६०७ मे चलना शुरु हुआ। फिलीपाइन द्वीपसमूह ने इसको कुछ वर्षो पहले ग्रहण किया। जेनेवा अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन ने जो १६२२ में हुआ, एक प्रस्ताव द्वारा स्वर्ण विनिमय मान को अपनाने की सिफारिश की। १६१४-१८ के युद्ध के समय भारत म यही प्रणाली प्रचलित थी।

इस मान के अन्तर्गत देशी मुद्रा चाँदी के रुपयो म थी, जो कि साकेतिक सिक्को व कागज के नोटो की होती थी, पर विदेशी भुगतान के लिए एक विशेष दर पर रुपयों के बदले ब्रिटिश मुद्रा का प्रयोग किया जाता था। लन्दन मे राज्य सचिव, परिषद् विपत्र (council bill) को (रुपए) उन लोगो के भुगतान के लिए दिया करता था जो भारत मे मौदो की अदायगी करना चाहते थे। भारत सरकार जब भारत मे राज्य सचिव के विकर्ष (draft) बेचती थी तो वे प्रति-परिषद् विपत्र (Reverse Councils) कहलाते थे। इस क्रय विक्रय की दर ऐसी होती थी कि स्टर्लिंग व रुपये का अनुपात १ शिलिंग ४ पैन्स अथवा इसके आस पास रहे।[2]

स्वर्ण विनिमय मान मे यह आवश्यक होता है कि दो प्रकार के रिजर्व रखे जाएँ। एक तो उस देश म, जो इसे अपनाए और दूसरा विदेश मे। यदि यह रिजर्व पर्याप्त होगे तो प्रणाली सफल रहेगी। इसी उद्देश्य से भारत सरकार एक स्वर्णमान रिजर्व रखा करती थी।

प्रथम महायुद्ध मे चाँदी की कीमत और रुपयो की माँग बढ जाने के कारण

---

1. See 'International Currency Experience," League of Nations, 1944, Ch II

2 Before the war of 1914 18 the selling and buying rates of the Rupee were 1s 4d and 1s 3 29/32d respectively, the former in London (Council Bills) and the latter in India (Reverse Councils)

यह प्रणाली समाप्त हो गई। चाँदी की कीमत बढ जाने से रुपया जमा किया जाने लगा और गलाया जाने लगा। सरकार पुराने भाव पर रुपया नहीं दे सकती थी। पहले सरकार ने रुपये का भाव बढा दिया। पर बाद में स्टर्लिंग म रुपये को स्थिर रखने का प्रयत्न छोड दिया गया।

सन् १९२० में फिर स्वर्ण विनिमय मान को २ शिलिंग (सोना) प्रति रुपया अपनाने का प्रयत्न किया गया पर यह प्रयत्न भी असफल रहा। इस बार इसकी असफलता का कारण यह था कि चाँदी की कीमत एक दम गिर गई और आयात निर्यात से बढ जाने के कारण विदेशो मे भुगतान के लिए स्टर्लिंग की माँग अधिक हो गई। सरकार दो शिलिंग स्वर्ण प्रति रुपये के भाव से अथवा दो शिलिंग स्टर्लिंग के भाव से रुपये नही बेच सकी और स्वर्ण विनिमय मान स्थापित करने का प्रयत्न असफल रहा।

स्वर्ण विनिमय मान की कुछ विशेषताएँ ये है (१) द्रव्य मान प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से सोने की कुछ मात्रा मे स्थिर कर दिया जाता है। उदाहरणार्थ भारतीय रुपया ७.५३ ग्रेन के बराबर बनाया गया था। (२) स्थानीय मुद्रा को विदेशी मुद्रा से बाँध दिया जाता है और स्थानीय टकमाल मे स्वतन्त्र ढलाई नही होती ताकि उसका मूल्य बनाए रखने म कोई अडचन न पडे। (३) यह आवश्यक है कि दूसरे देश मे एक स्वर्ण रिजर्व रहे और पीछे चलने वाले देश में स्थानीय मुद्रा का रिजर्व रहे ताकि मुद्रा का विनिमय मूल्य घटे बडे नही। (४) दोनो देशो मे ड्राफ्ट (draft) स्वतन्त्रता से बेचे जाते हैं ताकि वास्तविक विनिमय दर मे स्थिर दर से अधिक परिवर्तन न हो।

स्वर्ण विनिमय मान के बहुत से लाभो मे से एक लाभ यह भी है कि इसके अन्तर्गत पूर्ण स्वर्ण मान के सम्पूर्ण लाभ प्राप्त होते हैं जबकि वास्तव मे सोने के सिक्के नही चलाने पडते। इस तरह यह तरीका किफायती है। इसके अतिरिक्त भारत के रुपये का स्टर्लिंग से सम्बन्ध हो जाने से कुछ अर्थशास्त्रियों के अनुसार भारत को लाभ हुआ है क्योकि भारत के ब्रिटेन के साथ घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध थे और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में लन्दन का प्रभाव अधिक था। इससे अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानो म सुविधा हो गई और विश्व व्यापार म भारतीय रुपये का सम्मान बढ गया। इस प्रणाली से होने वाले सामान्य लाभ ये हैं (१) यह किफायती होता है। (२) यह विदेशी व्यापार को सहायता पहुँचाता है। (३) यह मुद्रा के बाहरी मूल्य को स्थिर रखता है। (४) इससे कीमतों का तुलनात्मक स्तर भी स्थिर रहता है।

स्वर्ण विनिमय मान के अवगुण (Defects of the Gold Exchange Standard)—स्वर्ण विनिमय मान की या इससे मिली-जुली व्यवस्था की जो, युद्ध के बीच के काल मे प्रचलित थी, बडी आलोचना की गई है : एक तो इस पर मुद्रा प्रसार के बढाने का दोष रक्खा जाता है। पर यह मुद्रा-प्रसार के बढाने के बजाए मुद्रा-सकुचन की विधि थी। दूसरे केन्द्रीय बैंक, स्वर्ण की अपेक्षा विनिमय रिजर्व पर अधिक भरोसा रखने मे एक समान नीति न मानते थे। अत उनके पृथक् कार्य आर्थिक असगति पैदा कर देते थे। तीसरे, किसी विदेशी मुद्रा मे रिजर्व रखना राष्ट्रीय

गौरव को धक्का पहुँचाता है। चौथे, चूंकि यह मान अंग्रेजों का दास समझा जाता था, इसलिए बहुत से देश इसको पसन्द नही करते थे। पाँचवें, विदेशी मुद्रा के अवमूल्यन (depreciation) का भय था जिसमें रिजर्व रखे जाते थे। छठे, यह कहा जाता था कि स्वर्ण गति के विपरीत विदेशी विनिमय रिजर्व मे गति से मुद्रा-संकुचन व मुद्रा-प्रसार न होता था।

जहाँ तक इस मान का सम्बन्ध भारतवर्ष से है, हिल्टन यंग कमीशन ने इसकी कटु आलोचना की है। इस सम्बन्ध मे निम्न बातें उल्लेखनीय हैं :

(i) यह प्रणाली सरल नही है और 'अशिक्षित जनता की समझ में नहीं आती।' ऐसी प्रणाली जिसे शिक्षित भारतीय भी अधिक न समझते हों, जनता की विश्वास-पात्र नहीं हो सकती। इससे लोगो के हृदय मे अधिकारियों के प्रति शक उत्पन्न हो गया।

(ii) भारत मे इस प्रणाली के अन्तर्गत कई प्रकार के रिजर्व दो स्थानों पर रखने पड़ते थे। भारत मे ऐसे तीन रिजर्व थे, जिनके प्रतिरूप इगलैण्ड मे होते थे। यह रिजर्व इस प्रकार थे—(a) स्वर्णमान रिजर्व (Gold Standard Reserve), (b) पत्र चल मुद्रा रिजर्व (Paper Currency Reserve) और (c) भारत सरकार के शेष (Government of India's Balances)। इस सचित कोष की प्रतिनिधि निधि इगलैण्ड मे भी रखनी पड़ती थी।

(iii) प्रणाली स्वचालित नही थी क्योंकि इसकी कार्यप्रणाली चलमुद्रा अधिकारियों की इच्छा पर निर्भर थी।

(iv) इसमें लोच का सर्वथा अभाव था। यह अवश्य था कि परिषद् विपत्र (council bills) को पूरा करने के लिए जब रुपये निर्गमन (issued) किये जाते थे तो मुद्रा का विस्तार होता था। किन्तु बुराई यह थी कि एक बार निर्गमन होने के पश्चात् रुपयों का चलन जारी रहता था। कोई ऐसा उपाय न था जिससे मुद्रा का संकुचन भी हो सके।

(v) सबसे बड़ा दोष यह था कि इस प्रणाली से एक देश की मुद्रा-नीति दूसरे देश की मुद्रा-नीति पर आश्रित हो जाती थी। भारतीय रुपये को अंग्रेजी मुद्रा की सब मुसीबतों मे हाथ बटाना पड़ता था।

(vi) हिल्टन यंग कमीशन (Hilton Young Commission) का विचार था कि इस मान मे कुछ जन्मजात बुराइयाँ हैं जिन्हे सुधारा नही जा सकता और इसलिए उन्होंने इसे समाप्त कर स्वर्ण बुलियन मान (Gold Bullion Standard) अपनाने की राय दी।

६. स्वर्ण समार्हता मान (Gold Parity Standard)—स्वर्ण मान की सूची मे सबसे बाद में आने वाला स्वर्ण समार्हता मान है। यह वह मान है जो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (international monetary fund) की अध्यक्षता के अधीन प्रचलित है। इस प्रणाली में सोने के सिक्के नही चलाए जाते। सोना विनिमय का माध्यम नही होता। देश की करेन्सी मे नोट तथा कुछ धातु के सिक्के होते हैं लेकिन सोने के नही और न यह नोट सिक्कों मे बदले जा सकते है, जैसे पूर्ण स्वर्ण मान मे। यह

नोट स्वर्ण धातु में भी नही बदले जा सकते जैसा कि स्वर्ण धातु मान मे होता है और न स्वर्ण विनिमय मान की तरह दूसरी स्वर्ण पर आधारित विदेशी मुद्रा मे ही नोट बदले जा सकते हैं। इस प्रणाली में सोने का कार्य केवल यह है कि मुद्रा अधिकारी देश की मुद्रा की विनिमय दर को सोने की एक निश्चित मात्रा मे स्थिर रखने का भार अपने ऊपर लेता है। यह वह स्वर्ण मान है जिसको अ० मु० को० (I M F) के सदस्य देश मानते हैं।

७ **स्वर्ण मान के लाभ तथा हानियाँ** (Advantages and Disadvantages of Gold Standard)—स्वर्णमान के, विशेषत जब यह अन्तर्राष्ट्रीय ढग पर अपनाया जाए तो कई लाभ होते हैं—

(१) यह व्यक्ति निरपेक्ष प्रणाली है और इसके ऊपर सरकार की अथवा चलमुद्रा अधिकारियो की सतत परिवर्तनशील नीति का कोई प्रभाव नही पडता।

(२) इससे देश की मुद्रा की क्रय-शक्ति दीर्घकाल मे स्थिर रहती है। इसका कारण यह है कि देश की मुद्रा और साख ऐसे स्वर्ण पर आधारित होती है जो चल-मुद्रा अधिकारियो के अधिकार मे रहता है।[1]

(३) स्वर्ण मान का एक बहुत बडा लाभ यह है कि इससे मुद्रा का बाह्य मूल्य (विनिमय दर) पर्याप्त सीमाओ मे स्थिर रहता है।[2] वास्तव मे स्वर्ण मान से विनिमय स्थिर हो जाता है जिससे व्यापारियो और नियोजको को पर्याप्त लाभ होता है। और इससे अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन हो जाता है।

(४) स्वर्णमान से हमको सामान्य सार्वदेशिक और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा के सभी लाभ प्राप्त हो जाते हैं। स्वर्णमान से अन्तर्राष्ट्रीय ढग पर मूल्य का माप प्राप्त हो जाता है। फाऊलर कमेटी (Report on Indian Currency in 1898) के समक्ष मार्शल (Marshall) ने यह कहा था कि स्वर्णमान को अपनाना रेल लाइनो को मुख्य लाइनो से मिलाकर एक रेल सघ की स्थापना करने के समान है। क्योकि विनिमय दर मे परिवर्तन होने से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में बाधा पडती है।[3] इससे विदेशी व्यापार में बडी सुविधा मिलती है।

(५) स्वर्णमान म विभिन्न देशो के बीच व्यापार शेष की भुगतान की रकमें स्वय स्थिर हो जाती हैं। यह बात छोटे से उदाहरण से स्पष्ट हो जाएगी। मान लीजिए कि इगलैण्ड और अमरीका दोनो म स्वर्णमान है और दोनो मे आपस मे व्यापार होता है। अब यदि इगलैण्ड की ओर से अमरीका का कुछ भुगतान बाकी है, तो ऐसी दशा में इगलैण्ड से अमरीका को सोना भेज दिया जाएगा। अग्रेजी केन्द्रीय बैंक को इससे हानि होगी और फलस्वरूप इगलैण्ड में मुद्रा का सकुचन हो जाएगा जिससे इगलैण्ड मे कीमतें गिर जाएँगी। अमरीका मे मुद्रा का विस्तार होने के कारण मूल्य बढ जाएँगे। ऐसी दशा म इगलैण्ड मे क्रय मे लाभ रहेगा और विक्रय म हानि। इसके विपरीत अमरीका मे विक्रय मे लाभ रहेगा और क्रय मे हानि। इगलैण्ड का निर्यात

1 केन्द्रीय बैंक अध्याय, अनुच्छेद ६ देखिए।

2 विदेशी विनिमय का अध्याय देखिये।

3 Report, Fowler Committee, para 34

बढ़ जाएगा और आयात कम हो जाएगा और अमरीकी निर्यात कम हो जाएगा व आयात बढ़ जाएगा। साम्यावस्था होने तक व्यापार शेष का भुगतान इंगलैण्ड के हक में होगा। सोने का आदान प्रदान इस प्रकार कीमतों तथा व्यापार पर प्रभाव डालकर स्वर्णमान देशों में साम्यावस्था बनाए रखता है। इसके विषय में आगे चर्चा करेंगे।

(६) इससे जनता में राज्य की ओर विश्वास पैदा होता है और विदेशों में देश का सम्मान बढ़ता है। जब तक "दस व्यक्तियों म से नौ व्यक्ति हर देश म स्वर्णमान को अच्छा समझते हैं तो वह सर्वोत्तम ही है।"

हानियाँ (Disadvantages)—

(i) यह बहुत महँगी होती है और लागत भी फिजूल होती है। हमें केवल विनिमय का माध्यम ही चाहिए और यह माध्यम सोने का बना हुआ क्यों हो यह तो विलास मात्र की भावना है। 'पीली धातु को केवल असभ्य जातियां ही पसन्द करेंगी।'

(ii) स्वर्ण का मूल्य भी दीर्घकाल म पूर्णतः स्थिर नहीं रहता।

(iii) स्वर्णमान में चल मुद्रा को आवश्यकतानुसार बढ़ाया नहीं जा सकता क्योंकि चल मुद्रा की पूर्ति स्वर्ण की पूर्ति पर निर्भर करती है जिसका कि सम्बन्ध खानों से है और खानों के ऊपर उद्योग अथवा व्यापार के विस्तार का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

हाल में स्वर्णमान भी प्रबन्धित (managed) मान रह गया है। केन्द्रीय बैंकिंग प्रणाली को स्वर्णमान पर नियन्त्रण करने का भार सौंपा गया। ऐसी दशा म यह मान जैसा कि माना जाता है, स्वचालित नहीं रहा।

(iv) स्वर्णमान बाह्य स्थिरता प्राप्त करने के लिए आन्तरिक स्थिरता की आहुति देता है, चूँकि इस मान में अन्तर्देशीय विनिमय पर अधिक ध्यान दिया जाता है।

(v) इसके अतिरिक्त 'स्वर्ण की गति से ब्याज की दरों में परिवर्तन हो जाता है। जिससे केवल आय को बढ़ाने अथवा घटाने के लिए विनियोजन (investment) की उन्नति अथवा अवनति होती है।" (बैनहम)

(vi) स्वर्णमान के देश की स्वतन्त्र नीति नहीं हो सकती। स्वर्णमान स्थिर रखने के लिए देश को अपनी इच्छा के विरुद्ध भी कभी कभी अपनी मुद्रा का सकुचन (deflate) करना पड़ता है। इस प्रकार का सकुचन देश के लिए बड़ा हानिकर होता है। क्योंकि इससे देश म बेकारी फैलती है और उद्योग आदि को हानि पहुँचती है।

८ व्यावहारिक रूप में स्वर्णमान (Gold Standard in Practice)—स्वर्णमान के लाभ केवल सैद्धान्तिक हैं, व्यावहारिक नहीं। इनको तभी प्राप्त किया जा सकता है जबकि स्वर्णमान का देश इसके नियमों का सदैव पालन करता रहे।[1] प्रथम महायुद्ध तक स्वर्ण मान सफल रहा, क्योंकि उस समय तक देशों ने इसके नियमों का पालन किया। इसके अतिरिक्त, क्योंकि सोने के सिक्के भी चलते थे, इसलिए केन्द्रीय बैंक के सोने और भुगतानों के माध्यम के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध था।

किन्तु युद्ध के पश्चात् स्वर्ण धातुमान ने केन्द्रीय बैंक को करेन्सी म घट बढ़ करने की अधिक शक्ति दे दी क्योंकि साख और द्रव्य के लिए रखे गए रिजर्व के

---

1 Report of the Committee on Finance and Industry, 1913 pp 23—24.

अनुपात मे काफी परिवर्तन लाया जा सकता था। इस प्रकार स्वर्ण-मान ने, स्वचालित न रह कर, "प्रबन्धित" चलमुद्रा-प्रणाली का रूप ले लिया है।

९. स्वर्णमान के नियम (Rules of Gold Standard)—स्वर्णमान की सफलता के लिए स्वर्णमान वाले देशो को कुछ नियमो का पालन करना पडता है—

एक तो देश मे बहुत अधिक व्यापारिक स्वतन्त्रता होनी चाहिए जिससे व्यापार शेष के भुगतानो की असाम्यावस्था (disequilibrium) वस्तुओ की गति से व्यवस्थित हो जाए। स्वर्ण को केवल अल्पकाल मे गतिशील होना चाहिए।

दूसरे, स्वर्णमान के देशो की आर्थिक व्यवस्था म काफी लोच होनी चाहिए जिससे कीमत और मजदूरी अपने को सोने के साथ व्यवस्थित कर ले।

तीसरी बात यह है, और यह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण भी है, कि राज्य व केन्द्रीय बैंक को सोने की गति के प्रभाव को कम करने का प्रयत्न नही करना चाहिए। जिस देश में सोने की हानि हो वहाँ पर कीमतो को गिरने देना चाहिए। और जिस देश मे सोना आता अधिक हो वहाँ कीमतो को बढने देना चाहिए। जब सोना देश म आये, तब मुद्रा का विस्तार करना चाहिए और जब सोना देश से बाहर जाए तब मुद्रा का सकुचन करना चाहिए। जैसा क्राउथर (Crowther) कहते हैं "स्वर्णमान का स्वर्ण नियम यह है—जब सोना आता हो तो साख को बढाओ और जब सोना बाहर जाता हो तो साख को घटाओ।"[1]

प्रथम महायुद्ध के बाद ये शर्तें पूरी नही हो सकी और स्वर्ण मान के देशो ने इन नियमो का पालन नही किया।

१० स्वर्णमान क्यो समाप्त हो गया ? (Why Gold Standard Broke Down ?)—प्रथम महायुद्ध के समाप्त होने के पश्चात् थोडे ही दिनो बाद एक के बाद दूसरे देश से स्वर्णमान समाप्त होता चला गया। इसके कई कारण थे।

प्रथमत, राजनैतिक अनिश्चितता के कारण बहुत से योरोपीय राज्य अपनी पूँजी के कुछ भाग विदेशी बैंको, विशेषकर इगलैण्ड म रखने लगे। इन पूँजियो को किसी समय भी तनिक मे भय के आभास मात्र से निकाला जा सकता था। चूंकि फ्रास ने ब्रिटेन में अपनी पूँजी का भाग निकलवा लिया, इसलिए इगलैण्ड में १९३१ मे स्वर्ण मान समाप्त हो गया। बैंक आफ इगलैण्ड (Bank of England) इतने कम समय में इतना अधिक सोना खो देना न सह सका।

इसके अतिरिक्त प्रथम महायुद्ध के फलस्वरूप बहुत से अन्तर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्व (International Obligations) व युद्ध क्षतिपूर्ति (Reparations) दायित्व पैदा हो गए। क्योकि महाजन देशो ने वस्तुओ के रूप में भुगतान लेने से इन्कार कर दिया और अधिक ऋण देना भी पसन्द न किया, इसलिए ऋणी देशो को स्वर्ण द्वारा इस ऋण का भुगतान करना आवश्यक हो गया। परिणाम यह हुआ कि ससार के सोने का $\frac{3}{4}$ भाग सयुक्त राष्ट्र अमरीका व फ्रास में जमा हो गया। यही दो मुख्य महाजन देश थे। जो सोना और देशो मे बचा वह इतना नही था कि वह सफलतापूर्वक स्वर्ण मान को स्थापित रख सकता।

1 Crowther, G —An Outline of Money, 1955 p 304

इस मान के असफल होने का तीसरा कारण यह था कि जिन देशों को सोना प्राप्त हुआ उन्होंने स्वर्ण मान नियमों का पालन नहीं किया। उन्होंने (विशेषतया यू० एस० ए०) अपने देशों में प्रचलित कीमतों को इस आए हुए सोने से प्रभावित नहीं होने दिया—फलस्वरूप सोना प्रभावहीन (sterilised) हो गया और स्वर्ण मान स्वचालित रूप से काम न कर सका। यदि इन देशों में कीमतें बढ़ती तो आयात को प्रोत्साहन मिलता और निर्यात पर रोक रहती और इस प्रकार व्यापार सतुलन हक में न होने से सोने की गति दूसरी ओर हो जाती। चूंकि ऐसा नहीं होने दिया गया, स्वर्ण मान स्वय ही बन्द हो गया।

और फिर प्रथम महायुद्ध के बाद हर देश का आर्थिक ढांचा अत्यधिक लोचहीन हो गया था। इसके कई कारण थे। राज्यों तथा स्थानीय अधिकारियों के ऊपर ऋण होने के कारण दीर्घकाल के ब्याज की किश्तों का भुगतान आवश्यक हो गया और सामाजिक सेवाओं सम्बन्धी दूसरे आवश्यक व्यय कम नहीं किए जा सके। अब ट्रेड यूनियन भी अधिक शक्तिशाली हो गए थे। उन्होंने श्रमिकों के वेतन कम नहीं होने दिए। एकाधिकार व गुटबन्दी के कारण कच्चे माल व तैयार माल के मूल्य भी निश्चित रूप से स्थिर हो चुके थे। फलस्वरूप स्वर्ण की गति के अनुसार कीमतें उस दिशा म न चल सकीं और पुराने ढग पर साम्यावस्था को न लाया जा सका।

यही नहीं इस मान की सबसे बड़ी कमजोरी यह थी कि सकट के समय यह मान सदैव असफल हो जाता था। इसलिए अक्सर यह मान अनुकूल समय मान (fair weather standard) के नाम से पुकारा जाता था।

और अन्तिम कारण यह था कि स्वर्ण गति के कारण ब्याज की दरों में अनावश्यक परिवर्तन होते रहते थे। उदाहरण के लिए मान को स्थिर रखने के लिए सकट के समय मुद्रा सकुचन करना आवश्यक हो जाता है, पर इस प्रकार के मुद्रा सकुचन का प्रभाव बहुत बुरा होता है। गिरते हुए मूल्य का सरकार व निश्चित भुगतान करने वाले लोगों पर बुरा असर पड़ता है। और फिर मूल्यों के गिरने से बेकारी आदि फैलती है और व्यापार को भी आघात पहुँचता है।

यही कारण है कि सब देशों ने यह स्वर्ण मान छोड़ दिया।

११ स्वर्ण मान का भविष्य (Future of Gold Standard)—इन अनुभवों के बाद अब शायद कोई भी देश स्वर्ण मान अपनाना पसन्द नहीं करेगा। १९१४ के पूर्व के व्यापार की दशाओं में इस मान ने लगभग स्वयचालित होकर काम किया पर लड़ाई के बाद के अनुभवों ने यह सिद्ध कर दिया कि इसकी सफलता के लिए स्वर्ण मान वाले देशों के बीच समुचित सगठन व बहुत अधिक सहयोग भी आवश्यकता है। पर आर्थिक प्रणाली की दृढ़ता के कारण मूल्य व व्यय म ऐसी अवस्था न हो सकी जिससे कि यह मान सफल रहता। युद्ध काल के अनुभव से यह स्पष्ट हो गया कि स्वर्ण मान में पर्याप्त व्यवस्था (management) की जरूरत है, तथा दूसरे स्वर्णमान स्तर वाले देशों के अधिकाधिक सहयोग की भी। "स्वर्ण मान उसी दशा म कार्यशील होगा जब प्रत्येक साथ पग बढ़ा कर साथ-साथ चलने के लिए तैयार रहे।" जब तक स्वर्ण मान के नियमों का पालन नहीं किया जाएगा, यह सफलतापूर्वक काम नहीं

करेगा। आर्थिक चेष्टाओं की कठोरता भी कीमतों और लागतों के स्तर के समायोजन (adjustment) में बाधक रही जो इसके सुचारु रूप से चलने में इतनी जरूरी थी।

और फिर विभिन्न देशों के बीच सोने का वितरण भी ठीक नहीं था। अमरीका के पास १९३९ में संसार का ८०% सोना था और इसका वितरण तब तक नहीं हो सकता था जब तक कि वस्तुएँ स्वतन्त्र गति द्वारा फिर से व्यवस्थित न हो जाएँ। इन सब बातों के लिए बहुत अधिक अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की आवश्यकता है। यदि किसी प्रकार ऐसा सहयोग प्राप्त हो जाए तो एक ऐसी संगठित प्रणाली को, जिसमें सोने की इतनी महत्ता नहीं होती जितनी कि स्वर्ण मान में, कार्यान्वित किया जा सकता है। लोगों को इस बात पर विश्वास नहीं रहा कि सोना कीमतों अथवा विनिमय के स्तर को स्थिर रख सकता है। सत्य यह है कि स्वर्ण मान पर से लोगों का विश्वास ही जाता रहा। इसके विपरीत दूसरे देशों में प्रबन्धित चल-मुद्रा प्रणाली बड़ी सफल रही, उदाहरण के लिए इंग्लैण्ड में।

इसके विपरीत अमरीका व दक्षिणी अमरीका आदि स्वर्णोत्पादक देश किसी भी ऐसी प्रणाली का समर्थन नहीं कर सकते थे, जिसमें सोने का कोई भाग न हो। और फिर कोई भी संगठित प्रणाली, जो स्वर्ण की दृढ़ नींव पर स्थिर न हो, विश्वास-पात्र नहीं हो सकती।

फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्कीम के द्वारा एक मध्यम मार्ग निकाला गया। इस स्कीम का ध्येय अन्तर्देशीय सहयोग द्वारा स्वर्ण-मान की हानियों को दूर कर उसके सम्पूर्ण लाभ प्राप्त करना है। इस प्रबन्ध का भी आधार स्वर्ण होगा, पर उसका वह प्रमुख महत्व नहीं रहेगा जो स्वर्ण मान के अन्तर्गत था। इस प्रबन्ध का अध्ययन हम विदेशी विनिमय के अध्याय में करेंगे। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि पुराने स्वर्णमान का कोई भविष्य नहीं है।

१२. स्वर्ण मान के कार्य (Functions of Gold Standard)[1]— स्वर्ण-मान के विषय को समाप्त करने से पहले हम देख सकते हैं कि आधुनिक स्वर्ण मान दो कार्य करता है:—

(१) मुद्रा के आन्तरिक मूल्य का स्थायित्व (Stability of Internal Value of Currency)—पहला कार्य मुद्रा के आन्तरिक मूल्य अथवा घरेलू कीमतों के स्तर का स्थायित्व है। हर प्रकार के स्वर्ण मान में मुद्रा सोने से जुड़ी रहती है। इस कड़ी के द्वारा देश मुद्रा की मात्रा पर नियन्त्रण रखता है तथा उसकी व्यवस्था करता है। इंग्लैण्ड में सन् १९३९ में विश्वासनिष्ठ निर्गम (Fiduciary Issue) जो कि कुल नोट निर्गम का $\frac{1}{4}$ था, ४० करोड़ पौंड था। चूँकि इसके अतिरिक्त नोटों के बदले में १०० प्रतिशत सोना रखना पड़ता था, इसलिए नोटों का निर्गम बगैर सोने की वृद्धि के नहीं बढ़ाया जा सकता था। इस प्रकार सोना नोटों के निर्गम पर रोक लगाता था। युद्ध काल में विश्वासनिष्ठ निर्गम में समय-समय पर वृद्धि की गई। यहाँ तक कि १९४७ में वह नोटों के निर्गम के बराबर हो गया और सोने का सहारा बिलकुल जाता रहा। इससे अधिक नोटों का निर्गम नियम-विरुद्ध होता यदि साथ-

1 See Crowther, G —An Outline of Money, 1950, pp 281 85

साथ केन्द्रीय बैंक के पास सोना न बढाया जाता। रिज़र्व के बारे मे कोई भी नियम क्यो न हो कोई भी केन्द्रीय बैंक बगैर नियम भग किए अपने पास के सोने से अधिक नोट निर्गम नहीं कर सकता। इस प्रकार स्वर्ण मान यह निश्चित करता है कि देश की मुद्रा एकबारगी तथा बिना सोचे समझे नही बढाई जाएगी। इससे कीमतो के स्तर मे स्थायित्व आ जाता है।

(२) बाह्य मूल्य का स्थायित्व (Stability of External Value)—स्वर्ण मान का दूसरा कार्य आधुनिक समय में मुद्रा के बाह्य मूल्य का स्थायित्व है। यह कार्य केन्द्रीय बैंक पर यह प्रतिबन्ध लगा कर किया जाता है कि वह एक निश्चित दर पर असीमित मात्रा मे सोना बेचे व खरीदे। अतएव एक निश्चित दर पर खरीद सकने वाला खरीदार सोने की कीमत निश्चित करने योग्य रहता है। जब तक इस नियम का सुधार या खण्डन नहीं किया जाता तब तक सोने की धातु की बाजार खरीदार की दया पर रहती है। हर देश मे जहाँ यह नियम लागू होता है मुद्रा की एक इकाई तथा एक औंस सोने मे निश्चित अनुपात रहता है। यह अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के उपबन्ध (provisions) के अनुसार है। सोने के द्वारा सारे देशो की मुद्रा मे एक निश्चित अनुपात स्थापित हो जाता है।

१३ स्वर्ण की गतियो के कारण (The Causes of Gold Movements)—'स्वर्ण मान के नियमो' के अनुच्छेद मे स्वर्ण के बाहर जाने व अन्दर आने का वर्णन किया गया था। अब हम यह समझाने का प्रयत्न करेंगे कि इस गति के कारण क्या हैं। बेनहेम (Benham) ने इसके निम्न कारण बताए हैं।[1]

(१) मुद्रा-सम्बन्धी नीति (Monetary Policy)—यदि कोई देश अपने देश मे मुद्रा प्रसार कर दे, और दूसरे देश न करें तो इस देश मे कीमतें बढ जाएँगी। इससे निर्यात कम हो जाएँगे और आयात बढ जाएँगे। और यदि स्वतन्त्र स्वर्ण मान हुआ तब सोना बाहर चला जाएगा।

(२) पूँजी की गति (Capital Movement)—यदि कोई देश दूसरे देशो मे रुपया उधार देता है, तब सोना देश से बाहर जाएगा पर जब ऐसा होता है और स्वर्ण मान के नियम माने जाते हैं, तो मुद्रा सकुचन प्रारम्भ हो जाता है (अथवा द्रव्य आय कम हो जाएगी)। फलस्वरूप मूल्य गिरने लगते हैं, आयात कम हो जाते हैं और निर्यात बढ जाते हैं। ऐसी दशा मे स्वर्ण लौटने लगेगा। जिस देश को स्वर्ण मिलेगा उसकी द्रव्य में आय बढ जाएँगी (चल मुद्रा मे फैलाव होगा) और वहाँ कीमतें भी बढ जाएँगी। ऐसे देशो मे आयात बढ जाएँगे और निर्यात कम हो जाएँगे। इससे व्यापार का सन्तुलन हक मे न रहने से यह सोना बाहर चला जाएगा।

(३) वस्तुओ एव सेवाओ की पारस्परिक मांग व पूर्ति (Reciprocal Supply and Demand of Goods and Services)—जिस देश मे वस्तुओ और सेवाओं का अधिक निर्यात होता है, उसके पास स्वर्ण अधिक होगा, तथा हालत के अनुसार विपरीत अवस्था में भी विलोमत ही होगा।

---

1 Banham, F.—Economics, 1940, pp 456 59

(४) जनसख्या में परिवर्तन (Changes in Population)—यदि जनसख्या आप्रवास (immigration) के कारण बढ जाती है तो द्रव्य की मांग बढ जाएगी और उसके मूल्य बढने से कीमतें कम हो जाएँगी। निर्यात बढने लगेंगे, आयात कम हो जाएँगे और सोना देश के अन्दर आने लगेगा। जनसख्या कम होने से इसके विपरीत प्रभाव होगे।

(५) पूंजी में परिवर्तन (Changes in Capital)—जिस देश में बचत अधिक होगी, वहां पूंजी का सचय अधिक होगा। इससे उत्पादन बढ जाएगा, कीमतें कम हो जाएँगी, निर्यात बढ जाएँगे, आयात कम हो जाएँगे और सोना देश म आने लगेगा।

(६) उत्पादन-प्रणाली में परिवतन (Changes in Technique)–उत्पादन प्रणाली मे उन्नति होने से उत्पादन सस्ता हो जाएगा। निर्यात बढ जाएंगे, आयात कम हो जाएँगे और सोना देश म आने लगेगा।

(७) मांग में परिवर्तन (Changes in Demand)—यदि किसी कारण विदेशो में किसी देश की वस्तुओ की मांग कम हो जाती है, तो निर्यात कम हो जाएँगे और सब बातें समान रहने पर सोना बाहर जाने लगेगा।

'यह ध्यान रखना चाहिए कि इस सम्बन्ध म दूसरे देशो से सम्बन्धित परिवर्तन ही महत्त्वपूर्ण हैं न कि निरपक्ष (aosolute) परिवर्तन, जिनका विशेष महत्व नही है।" (Benham)

१४ कागजी मान या प्रबन्धित कागजी मान अथवा चल मुद्रा विनिमय मान (Paper Standard or Managed Paper Currency or Currency Exchange Standard)—इस प्रणाली के अन्तर्गत कागजी द्रव्य प्रमुख द्रव्य होता है। देश के चलमुद्रा अधिकारी कागजी द्रव्य का सोने म विनिमय करने का उत्तरदायित्व नही लेते। विश्वव्यापी मन्दी के पश्चात् बहुत से देशो को, जिनम भारत और ब्रिटेन भी थे, स्वर्ण मान छोडना पडा। इस प्रकार इन देशो ने कागजी मान अपनाया।

यद्यपि १६३१ से ब्रिटेन ने स्वर्णमान छोड दिया है और स्टर्लिंग सोने मे बदला नही जा सकता तब भी इस देश की मुद्रा १८४४ के बैंक चार्टर ऐक्ट के अनुसार स्वर्ण के रिजर्व द्वारा व्यवस्थित रहती है।

१५ सर्वोत्तम मुद्रा प्रणाली (The Best Currency System)—अब प्रश्न यह है कि सबसे अच्छी मुद्रा प्रणाली कौन सी है? इसका उत्तर देना बहुत कठिन है, क्योंकि विभिन्न परिस्थितियों म विभिन्न मानो न काफी सफलता से काम किया है। इसलिए इस प्रश्न को इस प्रकार रखना अधिक उचित होगा अच्छी चल मुद्रा प्रणाली की क्या परीक्षा है।

एक अच्छी मुद्रा प्रणाली में निम्नलिखित गुण होने चाहिएँ —

(१) यह देश मे कीमत की स्थिरता रखने में समर्थ होनी चाहिए। दूसरे शब्दो में इसका आन्तरिक मूल्य (अथवा सम्बन्धित देश में माल खरीदने अथवा सेवा लेने की क्रय शक्ति) में बहुत अधिक बहुत परिवर्तन नही होने चाहिएँ। जैसा कि हम अध्ययन

करेंगे, इसके अर्थ यह है कि देश म व्यापार व उद्योग की आवश्यकताओ के अनुसार प्रचलित मुद्रा की मात्रा का नियन्त्रण होना चाहिए।

(ii) इसे मुद्रा के बाह्यमूल्य को भी स्थिर रखना चाहिए। इसके अर्थ यह है कि इसका विदेशी मुद्रा के निश्चित परिमाण पर इतना दबाव रहे कि इसकी विदेशो में वस्तुओ तथा सेवाओ पर क्रय शक्ति एक सी रहे। पर यह विदेशी विनिमय की समस्या है जिसका अध्ययन हम बाद मे करेंगे।

(iii) यह किफायती होनी चाहिए। विनिमय का महँगा माध्यम राष्ट्रीय अपव्यय है।

(iv) प्रणाली लोचपूर्ण तथा स्वचालित होनी चाहिए जिससे कि व्यापार की आवश्यकताओ के अनुरूप चलमुद्रा विस्तृत अथवा सकुचित हो सके।

(v) प्रणाली बहुत सरल होनी चाहिए जो साधारण मनुष्य की भी समझ में आ जाए।

निर्देश पुस्तकें

Mlynarsky F Functioning of Gold Standard

Robertson D H Money 1948, Ch I and III

Crowther G An Outline of Money, 1950, Ch IX

Benham, F Economics, 1945, Ch XXI

Malhotra D K History and Problems of Indian Currency and Exchange

Brij Narain Money and Banking (S Chand & Co)

Withers Hartley Money, 1935 Ch II

Laughlin J L Money, Credit and Prices, 1931, Ch IV

Cole, G D H Money, 1935, Chapters I and III

Houston H The Fundamentals of Money 1935, Ch II

अध्याय ३२

मुद्रा का मूल्य

(The Value of Money)

१ भूमिका—पिछले अध्याय मे हम देख चुके हैं कि सबसे अच्छी मुद्रा प्रणाली वह होती है जिसमें मुद्रा का बाह्य व आन्तरिक मूल्य स्थिर रहे। अब प्रश्न यह है कि "मुद्रा के मूल्य" का अर्थ क्या है ?

"मुद्रा का मूल्य" शब्द का प्रयोग कई अर्थों म होता है। अस्तु, (i) स्वर्ण अथवा रजत के एक निश्चित वजन तथा खरेपन के अनुसार इसका अधिकार, जैसा कि स्वर्ण या रजत मान के अन्तर्गत होता है अथवा (ii) विदेशी मुद्रा की इकाइयाँ जिनका यह क्रय कर सकता है। उदाहरण के लिए इस समय स्टर्लिंग म रुपये का मूल्य १ शि० ६ पै० है। (iii) देश मे वस्तुओं की क्रय शक्ति। इसे मुद्रा की (आन्तरिक) क्रय-शक्ति कहते हैं। जब हम बिना किसी दूसरे पद के जोडे हुए "मुद्रा का मूल्य" शब्द का प्रयोग करते हैं, तो हमारा आशय इस तीसरे अर्थ से होता है।

यह बात ध्यान रखने योग्य है कि मुद्रा का मूल्य अथवा इसकी क्रय-शक्ति का देश के अन्दर प्रचलित कीमतो से एक विलोप, यद्यपि उलटा (inverse) सम्बन्ध होना है। जब सामान्य कीमतो का स्तर बढ जाता है तो मुद्रा का मूल्य कम हो जाता है। जब कीमतो का स्तर कम होता है तो यह मूल्य बढ जाता है। इस अध्याय में हम मुद्रा के मूल्य म होने वाले परिवर्तन के कारणों पर विचार करेंगे।

२ मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त (The Quantity Theory of Money)—इटली के १६वी शताब्दी के एक लेखक डवनजाटी (Davanzatti) इस मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त के निर्माण करने वाले थे। इसको लॉक (Locke) तथा ह्यूम (Hume) ने प्रचलित किया तथा बाद म उसको प्रतिष्ठित (classical) अर्थ-शास्त्रियो ने अपने हाथ में लिया। सरलतम शब्दों में मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त यह बताता है कि मुद्रा के मूल्य मे इसके परिमाण के विपरीत परिवर्तन होता है। "यदि मुद्रा का परिमाण द्विगुणित हो जाए और यदि अन्य बातें समान रहे तो वस्तुओ की कीमत पहले से दुगुनी हो जाएगी और मुद्रा का मूल्य आधा रह जाएगा। यदि परिमाण आधा कर दिया जाए तो, अन्य बातो के समान रहने पर कीमतें पहले से आधी रह जाएँगी और मुद्रा का मूल्य दुगुना हो जाएगा।"[1]

कीमत का स्तर मुद्रा की मौजूदा राशि के सीधे अनुपात मे होता है। यदि किसी वस्तु की मात्रा की वृद्धि होती है, तो इसका मूल्य कम हो जाएगा, और यदि मात्रा में कमी होती है, तो इसका मूल्य अधिक हो जाएगा। लेकिन मुद्रा में यही एक विशेषता

1 Taussig, F W —Principles of Economics Vol. I

है जो मुद्रा तथा दूसरी वस्तुओं में भेद उत्पन्न करती है कि मुद्रा की मात्रा (quantity of money) तथा वस्तु की कीमतों (commodity prices) में आनुपातिक सम्बन्ध (proportionality) है।

इस सिद्धान्त की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है—

मुद्रा के परिमाण म वृद्धि होते से उसका मूल्य उसी अनुपात में गिर जाता है (और कीमतें बढ जाती हैं)। इसके विपरीत यदि अन्य वस्तुएँ समान रहें तो मुद्रा के परिमाण में कमी होने से मुद्रा का मूल्य उसी अनुपात म बढ जाता है और कीमत स्तर गिर जाता है।

अब प्रश्न यह है कि "अन्य वस्तुएँ समान रहने के क्या अर्थ हैं" ? इस पद के अर्थ यह हैं कि निम्नलिखित बातो म किसी प्रकार का परिवतन नही होना चाहिए।

(१) मुद्रा के चलन का वेग (Velocity)—मुद्रा के चलन के वेग का आशय मुद्रा की इकाई जितनी बार उपयोग में आती है उससे होता है। उदाहरण के लिए यदि एक निश्चित समय म पाँच रुपय का एक नोट पाँच बार उपयोग में आता है तो मुद्रा का परिमाण २५) रुपय हुआ न कि ५) रुपये।

(२) साख पत्रो का मुद्रा की भाँति प्रचलन—यदि साख पत्रो के प्रयोग मे वृद्धि (अथवा कमी) हो जाए जैसे चैक आदि तो यह समझना चाहिए कि प्रचलित मुद्रा की मात्रा में वृद्धि (अथवा कमी) हो गई है। इसी प्रकार साख पत्रो के चलन के वेग की स्थिति है।

(३) वस्तु विनिमय के सौदे—यदि कुछ सौदे बिना मुद्रा के प्रयोग के किए जाएँ तो उन्हे या तो बिल्कुल अलग कर देना चाहिए अथवा मुद्रा के परिमाण (पूर्ति) में वृद्धि समझना चाहिए अथवा सौदों की मात्रा (मुद्रा की माँग) में कमी समझनी चाहिए।

(४) व्यापार का परिमाण स्थिर रहना चाहिए—इसके अर्थ यह हैं कि मुद्रा द्वारा जो काम या सौदे होते हैं वह सदैव समान रहे। केवल विनिमय की हुई वस्तुएँ ही नही वरन् उनके प्रचलन का वेग भी स्थिर (constant) रहना चाहिए।

एक शब्द म मुद्रा का मूल्य उसकी मात्रा के प्रतिकूल और वस्तुओं तथा सेवाओं की राशि के अनुकूल बदलता है।[1]

३ प्रोफसर इरविंग फिशर के विनिमय का समीकरण (Professor Irving Fisher's Equation of Exchange)—प्रोफेसर इरविंग फिशर ने मुद्रा के परिमाण व उसके मूल्य के सम्बन्ध को एक सूत्र (formula) के रूप में प्रकट किया है जिसे वह विनिमय का समीकरण कहते हैं। यह इस प्रकार है—

$$P = \frac{MV + M'V'}{T}$$

यहाँ P = कीमतो का स्तर या $\frac{1}{P}$ = मुद्रा का मूल्य

1 In a word the value of money varies inversely with its quantity and directly with the volume of goods and services in existence

T=मुद्रा द्वारा होने वाले सौदे।

M=धातु की मुद्रा। M'=साख मुद्रा।

V=मुद्रा का चलन वेग।

V'=साख मुद्रा का चलन वेग।

इस सूत्र द्वारा मुद्रा की पूर्ति उसकी माँग के बराबर हो जाती है। कीमत-स्तर को सौदो से गुणा कर देने से कुल सौदे निकल आते हैं, जिसका अर्थ मुद्रा की माँग है (PT)। यह मुद्रा की पूर्ति के बराबर है, जिसम नकद व साख अपने प्रचलन प्रवेग के साथ सम्मिलित हैं (MV+M'V')।

अस्तु, $PT=MV+M'V'$

$$P=\frac{MV+M'V'}{T}$$

प्रोफेसर फिशर का कहना था कि अल्पकाल में T V V', सदैव स्थिर रहते हैं। M' और M का अनुपात भी स्थिर रहता है, इसलिए P का M के साथ परिवर्तन सीधे अनुपात में होता है। दूसरे शब्दो म १/P (मुद्रा का मूल्य) M अथवा प्रचलित द्रव्य के परिमाण के उल्टे अनुपात में होता है।

अब प्रश्न यह है कि 'दूसरी वस्तुएँ' (TVV' और M' का M के साथ अनुपात) स्थिर क्यो रहती हैं, प्रोफेसर फिशर का मत है कि—

सौदे अथवा द्रव्य द्वारा होने वाला काम अल्पकाल मे स्थिर रहता है। क्योकि जनसख्या नही बदलती, प्रति व्यक्ति के हिसाब से उत्पादन नही बदलता, उत्पादको द्वारा उपभोग की प्रतिशत मात्रा नही बदलती, अदल-बदल द्वारा विनिमय की प्रतिशत मात्रा नही बदलती, और वस्तुओ के चलन की तीव्र गति नही बदलती। इस सम्बन्ध में उत्पादन के ढग व लोगो की आदतें बिलकुल स्थिर रहती है। अस्तु, मुद्रा की माँग स्थिर रहती है।

जहाँ तक पूर्ति (Supply) का सम्बन्ध है मुद्रा तथा साख के चलन का वेग लोगो की आदतो व रीति-रिवाजो पर निर्भर करता है। M' का M के साथ अनुपात बैंको की नीति पर निर्भर करता है। अल्पकाल मे इन बातों में विशेष परिवर्तन नही होने। इसलिए द्रव्य का मूल्य अपनी मात्रा के उल्टे अनुपात मे होता है।

४ परिमाण सिद्धान्त की आलोचना (Criticism of the Quantity Theory)—परिमाण सिद्धान्त की कडी आलोचना हुई है। "अन्य बातें समान रहे" के पद के साथ यह सिद्धान्त सिवा अनावश्यक सत्य के और कुछ भी नही है। सच तो यह है कि अन्य वस्तुएँ कभी समान रहती ही नही। इनमें दीर्घकाल में ही नही, अल्पकाल में भी परिवर्तन होते रहते हैं। जनसख्या, प्रतिव्यक्ति के हिसाब से सौदे, चलन का वेग, साख की नकद के अनुपात में नीति, इन सभी बातो म परिवर्तन हो सकते हैं और परिवर्तन होते भी रहते हैं।

इसके अतिरिक्त जैसा कि फिशर (Fisher) का विश्वास है, यह बातें स्वतन्त्र नही हैं। उदाहरण के लिए M में किसी प्रकार के परिवर्तन से V मे भी परिवर्तन हो जाएगा और P मे M की अपेक्षा अधिक अनुपात से परिवर्तन होगा। पिछले

महायुद्ध के पश्चात् जर्मनी के मार्क का मूल्य तेजी से गिरने लगा। लोगों का इसमें से विश्वास उठ गया और फलस्वरूप मार्क के बदले में वे वस्तुएं लेने लगे। अस्तु, द्रव्य के प्रचलन की गति (V) बढ़ गई, यहाँ तक कि वह नोटों के प्रचलन (M) के सब अनुपातों से अधिक हो गई। इसी प्रकार M में किसी प्रकार के परिवर्तन से T में भी परिवर्तन हो जाता है और P का परिवर्तन M में परिवर्तन कर देता है। मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि होने से कीमतें और फलस्वरूप लाभ बढ़ जाते हैं, जिससे उत्पादन को अत्यधिक प्रोत्साहन मिलता है और कीमतों में मन्दी प्रारम्भ होती है। इसके अतिरिक्त अधिक ऊँचे कीमत-स्तर यह आवश्यक कर देते हैं कि द्रव्य की पूर्ति बढ़ जाए जिससे सौदे चलते रहें। इस प्रकार ऊँचा कीमत-स्तर मुद्रा के परिमाण का परिणाम नहीं वरन् कारण होता है। फिर M का सम्बन्ध समय के एक क्षण से है और V का सम्बन्ध समय के एक काल से है तथा दो भिन्न वस्तुओं को गुणा करना गलत है (जैसे MV)।

मुद्रा परिमाण सिद्धान्त दो ऐसी कल्पनाओं पर आधारित है जिनकी पूर्ण मान्यता अनिश्चित है (i) कीमतें कुल व्यय के साथ उसी अनुपात में बदलती हैं। (ii) कुल व्यय मुद्रा की कुल मात्रा के साथ उसी अनुपात में बदलता है। सेमुअलसन (Samuelson) का कहना है "यदि हम यह अवास्तविक कल्पना कर लें कि कुल उत्पादन समान रहता है और लोगों में बेकारी नहीं होती तब कुल व्यय में वृद्धि से कीमतें उसी अनुपात में बढ़ जाएंगी मन्दी के स्तर से कुल व्यय में वृद्धि से पैदावार में अधिक वृद्धि होती है और कीमतों में अनुपात से कम वृद्धि होती है।" और यदि इसके विपरीत यह मान लें कि "मन्दी के स्तर से कुल व्यय में कमी से उत्पादन में कमी होती है और साथ ही रोजगार की दशा में भी कमी होती है तो परिणाम-स्वरूप कीमतों में अनुपात से कम गिरावट होगी।"[1] कुल व्यय तथा मुद्रा के स्टॉक में भी अनुपात के साथ परिवर्तन नहीं होता क्योंकि द्रव्य का चलन वेग भी करीब-करीब स्थिर नहीं रहता। जैसा कि सेमुअलसन कहते हैं "परिमाण (dimensionally) के हिसाब से व्यय का मुद्रा की मात्रा से वही सम्बन्ध है जो कि एक झील में पानी के बहाव का झील से है।"[2]

मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त का मूल दोष यह है कि वह मान लेता है कि मुद्रा की मात्रा में वृद्धि वस्तुओं तथा सेवाओं के खरीदने में लगाई जाती है। यही कारण है कि इससे कीमतें बढ़ जाती हैं। परन्तु इसके स्थान पर अधिक मुद्रा बैंकों में जमा की जा सकती है, तिजोरियों में बेकार पड़ी रह सकती है, इसका सिक्योरिटी में विनियोजन किया जा सकता है अथवा बीमा कराने में प्रयोग में लाया जा सकता है। इस हद तक उसका कीमतों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।

कुछ लेखकों ने चलन वेग (velocity of circulation) के विचार की आलोचना की है। मार्शल (Marshall) का कहना है कि "परिमाण सिद्धान्त उन

1 Economics, 1948 p 292

2 'Dimensionally speaking spending bears the same relationship to the stock of money that a flow of water through a lake bears to the lake itself"—Samuelson.

बातों की, जिनसे चलन की तीव्रता निर्धारित होती है, कोई व्याख्या नही करता।" बजाय चलन वेग मे वृद्धि अथवा कमी के कुछ लेखक मुद्रा की माँग मे वृद्धि अथवा कमी का वर्णन करते हैं। हम इसका अध्ययन आगे करेंगे।

मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त एक दीर्घकालीन घटना की व्याख्या मात्र है। यह उस अल्पकालीन ससार की घटनाओ की व्याख्या करने में असमर्थ है जहाँ साम्यावस्था (equilibrium) में विघ्न डालने वाले कई कारण लगातार कार्य करते रहते हैं और जो एक सक्रमण काल (transitional period) के सूचक हैं। परन्तु चूंकि हमारा वास्तविक ससार शाश्वत रूप से सक्रमण अवस्था में है, सिद्धान्त की केवल सीमित उपयोगिता है। यह दीर्घकालीन साम्यावस्था जिसकी व्याख्या परिमाण सिद्धान्त करना चाहता है कभी भी प्राप्त नही होती। 'साम्यावस्था आने वाले कल (tomorrow) के समान है—यह कभी नही आती क्योंकि जैसे ही सुबह की भूरी लकीरें दीख पडने लगती हैं, कल के अर्थ कुछ और हो जाते हैं।"[1]

मुद्रा की मात्रा तथा सामान्य कीमत स्तर के बीच साधारण और प्रत्यक्ष सम्बन्ध तभी ठीक होता है जब कि अर्थ-व्यवस्था एक साम्य की दशा मे है। जैसा कि कीन्स (Keynes) कहते हैं "साम्य मे—अर्थात् जब उत्पादन के साधन पूर्णरूप से कार्य करते हैं, जब जनता सिक्योरिटियों के लिए न तो तेजी वाली और न मन्दी वाली प्रवृत्ति रखती है और जब जनता अपने कुल धन के सामान्य अनुपात से न तो अधिक और न कम भाग बचत जमा (savings deposits) के रूप में रखती है और जब बचत की मात्रा नय विनियोग की लागत तथा प्रकृति दोनो के बराबर होती है—इस प्रकार मुद्रा की मात्रा उपभोग वस्तुओ की कीमत स्तर तथा उत्पादन म एक विचित्र सम्बन्ध इस प्रकार का होता है कि यदि मुद्रा की मात्रा दुगुनी हो जाती है तो कीमतो का स्तर दुगुना हो जाता है।"[2] कौन कह सकता है कि ऐसा साम्य प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार मुद्रा परिमाण सिद्धान्त अपने प्रारम्भिक रूप म बेकार तथा धोखा देने वाला है।

प्रोफेसर हायक[3] (Hayek) का विचार है कि इस सिद्धान्त ने व्यर्थ मे मुद्रा के सिद्धान्त मे इतना प्रमुख स्थान पा लिया है। उनका यह भी विश्वास है कि जिस विचार ने इस सिद्धान्त को जन्म दिया है उससे आगे की उन्नति म बाधा पडती है। "इस सिद्धान्त का एक बहुत बुरा प्रभाव यह है कि यह अर्थशास्त्र से मुद्रा के सिद्धान्त को पूर्णत पृथक् कर देता है।"

लार्ड कीन्स (Lord Keynes) की इस सिद्धान्त के सम्बन्ध मे सब से बड़ा विरोध यह है कि यह समस्या का उचित अध्ययन नही करता। मुद्रा के सिद्धान्त की वास्तविक समस्या केवल सांख्यिक समीकरण मात्र स्थापित कर देना ही नही है। उदाहरण के लिए मुद्रा के कुल परिमाण का मुद्रा के बदले मिलने वाली वस्तुओ से

1 "Equilibrium is like tomorrow—it never comes, for as soon as the grey streaks of dawn appear, tomorrow means something else"

2 A Treatise on Money, 1950, Vol I, pp 146 47

3 Prices and Production, Lecture 1

सम्बन्ध है। इस सिद्धान्त का असली कार्य तो यह है कि वह विभिन्न तत्वों का विश्लेषण करे कि वह तमाम कारण, जिनसे कीमत-स्तर निश्चित होते हैं और वह उपाय जिनसे साम्यावस्था मे हेर-फेर होते हैं, स्पष्ट हो जाएं।"[1] विटेकर (Whittaker) के शब्दो मे, "परिमाण सिद्धान्त इस अर्थ म तो बडा अच्छा है कि यह कीमत-स्तर की प्रणाली स्पष्ट कर देता है किन्तु जहाँ तक कारणों की व्याख्या का सम्बन्ध है, इसमे बडी कमियाँ हैं।"[2]

मुद्रा परिमाण सिद्धान्त को उसके प्रारम्भिक रूप में माना नही जा सकता। कुछ प्रश्न इसकी गलत प्रकृति को स्पष्ट कर देंगे। क्या एक व्यापारी अपनी वस्तुओं की कीमत केवल इसलिए बढा सकता है कि केन्द्रीय बैंक ने अधिक नोटों को छाप दिया है? क्या प्रत्येक मनुष्य जितनी मुद्रा उसके पास है खर्च करने को तैयार है? इसका जवाब नही में है। क्या यह सम्भव नही है कि नई मुद्रा अधिक उत्पादन को सुविधा दे और इस प्रकार कीमतों को बढने से रोके। सिद्धान्त वस्तुओं की पूर्ति की लोच पर ध्यान नही देता। जब पूर्ति लोचदार है तो T, P से अधिक बढ सकता है। फिशर (Fisher) का समीकरण समय (element of time) का ध्यान नही रखता। मुद्रा एकबारगी बढाई जा सकती है, परन्तु व्यापार की मात्रा तथा वेग एक काल मे फैले होते हैं।

किन्तु परिमाण सिद्धान्त पूर्णत बेकार नही है। आर्थिक सिद्धान्त की हैसियत से यह बहुत महत्वपूर्ण है। इसकी उपयोगिता यह है कि इससे हमें यह पता चल जाता है कि मुद्रा प्रसार की परिस्थितियो म अथवा बैंक के साख के कम विस्तार की दशा मे अथवा व्यापार की वृद्धि की दशा में कैसा प्रभाव होगा। पर इसके लिए यह आवश्यक है कि हम दूसरी बातो (साधनो) का भी ध्यान रखें। अधिकारी वर्ग जब मुद्रा-प्रसार करते हैं अथवा मुद्रा सकुचन करते हैं, तो इसी सिद्धान्त के अनुसार काम करते हैं। सिद्धान्त मुद्रा प्रसार के काल में आर्थिक घटनाओ तथा भूतकाल मे कीमतो की अस्थिरता की व्याख्या करने मे बहुत सहायक है।

४ मुद्रा की मांग व पूर्ति का सिद्धान्त (Supply and Demand Theory of Money)—मुद्रा के मूल्य निर्धारण में मांग तथा पूर्ति के नियम लागू होते हैं। हम जानते हैं कि कीमतो के सामान्य स्तर की तरह मुद्रा के मूल्य में उलटा परिवर्तन होता है। किन्तु कीमतो का स्तर एक ओर तो मुद्रा की माँग (अर्थात् बेचे जाने वाले माल की मात्रा) पर निर्भर करता है और दूसरी ओर मुद्रा की पूर्ति (अर्थात् मात्रा) पर। इस सिद्धान्त के अनुसार 'मुद्रा का मूल्य दूसरी वस्तुओं के मूल्य की भाँति इसकी माग और पूर्ति पर निर्भर करता है।" मुद्रा की माँग व पूर्ति का वर्णन परिमाण सिद्धान्त मे भी है किन्तु वह सिद्धान्त मांग व पूर्ति की शक्तियों की व्याख्या करने में सफल नही हुआ।

---

1 Ibid Vol I p 133

2 The quantity theory is admirable as an elucidation of the mechanism involved in the price level, but as an explanation of causation, it has serious shortcomings —Whittaker op cit, p 660

मुद्रा की पूर्ति (The Supply of Money)—वर्तमान समाज में मुद्रा की पूर्ति में बहुत-सी बातें सम्मिलित हैं। (क) धातु की मुद्रा अर्थात् सोना और चाँदी, (ख) विधिमान्य मुद्रा, जिसका प्रचलन सरकार करे अथवा सरकार के नियमों के अन्तर्गत हो, (ग) साख-पत्र जैसे चैक, ड्राफ्ट, बिल ऑफ एक्सचेंज (Bills of exchange) आदि।

इनमें से प्रत्येक की पूर्ति का साधन विभिन्न परिस्थितियों पर निर्भर है। (क) धातु की मुद्रा इन बातों पर निर्भर है —(i) खान खोदने के उपायों में उन्नति, (ii) नयी खानों की खोज, (iii) अमुद्रा (non-monetary) प्रयोगों से अधिक सोने का आना।

(ख) विधिमान्य मुद्रा व दूसरे छोटे सिक्कों की मात्रा निम्नलिखित बातों पर निर्भर है—(१) सिक्का ढलाई व नोटों के अनुपात में मुद्रा सुरक्षित रखने के विषय में सरकारी नियम। (२) सरकार की मुद्रा-सम्बन्धी आवश्यकताएँ, (३) फुटकर सौदों का परिमाण।

(ग) 'बैंक मुद्रा' की पूर्ति निम्नलिखित बातों पर निर्भर करती है—(i) बैंक निक्षेपों (Bank deposits) की मात्रा, (ii) बैंकों की साख नीति, (iii) देश में आर्थिक विकास की दशा।

इस विषय में हमें प्रत्येक भाँति की मुद्रा के चलन के वेग का भी ध्यान रखना चाहिए। मुद्रा की वास्तविक पूर्ति सरकार की ऋण-नीति, सर्वसाधारण की मुद्रा गाढ़कर रखने की आदत आदि से भी प्रभावित होती है।

इन बातों से यह स्पष्ट है कि जिन देशों में धातु के सिक्के ही मुद्रा का एक-मात्र स्वरूप हैं, वहाँ इतनी सरलता से मुद्रा की पूर्ति नहीं बढ़ाई जा सकती जितनी उन देशों में, जहाँ सांकेतिक सिक्के अथवा कागज के नोट मुद्रा के रूप में चलते हैं। यदि कागज के नोट धातु के सिक्कों में विनिमय-साध्य न हों और यदि उनके विषय में कोई सख्त सरकारी नियन्त्रण न हो, तो उनका चलन करेंसी-अधिकारियों की इच्छा पर निर्भर होगा। जिन देशों में बैंक मुद्रा का चलन होता है, वहाँ मुद्रा की पूर्ति किसी सीमा तक भी बढ़ाई जा सकती है। पर आम तौर से बैंकों में नकद रुपये का कुछ भाग निक्षेपों (deposits) के अनुपात में रिजर्व के रूप में रख लिया जाता है। चूँकि यह अनुपात लोचपूर्ण होता है, इसलिए पूर्ति किसी हद तक भी घटाई या बढ़ाई जा सकती है।

मुद्रा की माँग (Demand for Money)—आरम्भ में यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि मुद्रा की माँग के क्या अर्थ हैं? मुद्रा की माँग से हमारा तात्पर्य आय अथवा धन की माँग से नहीं है। इसका अर्थ है नकदी अथवा तरल स्रोतों (liquid resources) की माँग। यह इसलिए माँगी जाती है कि इसकी क्रय-शक्ति होती है। अतएव मुद्रा की माँग वास्तव में उसकी क्रय-शक्ति की इकाइयों की माँग है। फिशर (Fisher) के सूत्र के अनुसार मुद्रा की माँग (PT) कुल सौदों के मूल्यों के बराबर होती है जो किसी समय में पूरे हों। माँग का यह विचार न तो सही है, न वैज्ञानिक।

वास्तव में मुद्रा की माँग इसका उपभोग (consume) करने के लिए इतनी

नही होती जितनी कि उसे रखने (hold) के लिए। यह प्रवृत्ति मुद्रा के चलन के वेग के प्रतिकूल है। व्यक्ति, व्यापारिक सगठन और लोक सस्थाएँ सभी प्रकार के लोग मुद्रा रखना चाहते हैं। किन्तु वे सब मुद्रा क्यो रखना चाहते है ? इसके कई कारण हैं। साधारण उपभोक्ता तो मुद्रा केवल इसलिए रखना चाहते हैं कि इससे उनकी वस्तुएँ खरीदने की प्रतिदिन की आवश्यकताएँ पूरी होती रहे। उद्यमी मजदूरी और दूसरे प्रकार के व्यय करने के लिए मुद्रा चाहते है। इसी प्रकार के कारणो से प्रभावित हो लोक सस्थाएँ भी मुद्रा रखती हैं। कभी-कभी मुद्रा केवल इसलिए रखी जाती है कि इसके अतिरिक्त कोई दूसरा लाभदायक विकल्प नही होता। मुद्रा रखने का एक और विकल्प यह भी है कि इसे या तो वस्तुओ के क्रय म व्यय कर दिया जाए या विनियोजित (invest) कर दिया जाए। मुद्रा का विनियोजन वस्तुओ में भी हो सकता है, सिक्योरिटियों म भी और बैंको मे केवल जमा पूँजी के रूप में भी हो सकता है।

किन्तु लोग अपनी सम्पूर्ण आय को प्राप्त करते ही समाप्त नही कर सकते। व्यय आवश्यकताओ के अनुसार होता है। जहाँ तक विनियोजन (investment) का प्रश्न है, इसमे सदैव आकर्षण नही हुआ करता है और अल्पकाल में तो यह बहुत कठिन हो जाता है। वस्तुओ के सग्रह का मूल्य गिरने लगता है या उनके खराब होने का डर रहता है। सिक्योरिटियो का मूल्य भी गिरने लगता है और बैंको से मिलने वाले ब्याज की दर इतनी अधिक नही होती कि लोग बैंको में रुपया जमा करने लगे। यह भी हो सकता है कि लाभ बहुत गिर जाएँ, ऐसी दशा में रुपया विनियोजित होने की अपेक्षा जमा अधिक किया जाएगा।

इसलिए लोग मन्दी के दिनो म रुपया अधिक जमा करना प्रारम्भ करेंगे किन्तु त्वरित व्यापार (brisk trade) के जमाने म मुद्रा को रोककर रखने का उतना भय नही रहता। इसलिए मन्दी के दिनो मे मुद्रा का मूल्य, माँग बढ जाने के कारण, बढ जाता है। दूसरे शब्दो में मन्दी के दिनो मे कीमते कम हो जाती हैं, इसके विपरीत जब अधिक लाभ की आशा होती है तो विनियोजन बढ जाते हैं और मुद्रा की माँग कम हो जाने के कारण (अर्थात् लोगो के पास कम पैसा होता है) इसका मूल्य गिर जाता है और कीमतें बढ जाती हैं। व्यापारियो के पास होने वाली इस मुद्रा की मात्रा खाता साख (book credit) पर निर्भर होगी जो वे परस्पर रखते हैं। लोगो की मुद्रा जमा करने की इस प्रवृत्ति को लार्ड कीन्स ने तरलता या मुद्रा-अधिमान (liquidity preference) कहा है। मुद्रा अधिमान मे वृद्धि भी हो सकती है और कमी भी हो सकती है, जिसके अर्थ यह होते हैं कि लोग क्रय शक्ति के रूप में अपनी आय के भाग को कम या अधिक सचय करते हैं।

वस्तुत और वस्तुओ की भाँति मुद्रा का मूल्य भी माँग व पूर्ति की शक्तियो द्वारा निश्चित होता है। माँग व पूर्ति ही कीमत और फलस्वरूप मुद्रा का मूल्य निर्धारित करती है। यदि पूर्ति के साथ साथ मुद्रा की माँग जो मुद्रा के मूल्य का निर्धारण करती है बढ जाए तो सामान्य कीमत स्तर बढ जाएगा। निश्चित पूर्ति की अवस्था मे, माँग में वृद्धि से मुद्रा के मूल्य मे वृद्धि होती है अथवा सामान्य कीमतें

कम हो जाती है, जैसा कि मदी के दिनो मे होता है। इसके विपरीत यदि मुद्रा की पूर्ति बढ जाए तो उसका मूल्य कम हो जाएगा और कीमतें बढ जाएँगी जैसा कि त्वरित व्यापार के समय मे होता है। पूर्ति और माँग जब साम्यावस्था पर पहुँच जाते हैं तो कीमतें स्थिर हो जाती हैं।

६ द्रव्य की माँग की लोच (Elasticity of Demand for Money)—जब हम कहते है कि मुद्रा का मूल्य बिलकुल अपने परिमाण (quantity) (अर्थात् मुद्रा दुगनी होने से उसका मूल्य आधा रह जाता है, और मुद्रा आधी होने से उसका मूल्य दुगना हो जाता है) पर निर्भर करता है तो वह केवल इसलिए कि यह मान लिया गया है कि मुद्रा की माँग की लोच एक इकाई (unity) के बराबर है।

मुद्रा की माँग वस्तु-विनिमय, साख और सौदो के परिमाण पर निभर करती है। यह मान लिया गया है कि एक निश्चित समय मे मुद्रा की माँग म बहुत ही थोडा परिवर्तन होता है। (अर्थात् माँग वक्र मे कोई परिवर्तन नही होता।) यदि मुद्रा की माँग समान रहे तो उसकी पूर्ति (मात्रा) उसका मूल्य निर्धारित करेगी। मुद्रा के परिमाण मे किसी प्रकार के परिवर्तन से उसके मूल्य मे भी उसी अनुपात में परिवर्तन होता है। यदि मुद्रा के परिमाण म शत प्रतिशत वृद्धि हो जाए तो कीमतो में भी शत-प्रतिशत वृद्धि हो जाएगी और यदि मुद्रा के परिमाण में शत-प्रतिशत कमी हो जाए तो कीमतो मे भी शत-प्रतिशत कमी हो जाएगी। वस्तुओ के सम्बन्ध में ऐसा नही होता। यदि गेहूँ की पूर्ति शत-प्रतिशत बढ जाए तो उसके मूल्य मे उसी अनुपात मे कमी नही होगी। ऐसा क्यो ?

ऐसा माना जाता है कि मुद्रा केवल एक टिकट मात्र है, जिसके द्वारा केवल विनिमय होता है। इसका दूसरी वस्तुओ की भाँति प्रत्यक्ष उपभोग नही किया जा सकता। जब वस्तुएँ अधिक तथा सस्ती होती हैं, तो उनका अधिक उपभोग होगा। परन्तु मुद्रा का इस प्रकार उपभोग नही हो सकता। इसलिए यदि मुद्रा बढ जाए तो उसका विनिमय वस्तुओ के बदले होगा। मान लीजिए, किसी देश में १०० वस्तुएँ हैं और १०० सिक्के हो तो १०० सिक्कों के बदले म १०० वस्तुएँ मिलेंगी और प्रति वस्तु की कीमत एक सिक्का होगी। अब यदि मुद्रा का परिमाण दुगुना बढ जाए तो २०० सिक्को के बदले में १०० वस्तुएँ मिलेंगी। अब २०० सिक्को और १०० सिक्को की क्रय-शक्ति बराबर है। इसलिए कुछ लेखको का यह विश्वास है कि मुद्रा की मात्रा मे परिवर्तन का कोई महत्त्व नही होता। यही बात इस प्रकार भी कही जा सकती है कि माँग की लोच ऐक्य (unity) है। "इसका अर्थ है कि मुद्रा के मूल्य मे वृद्धि से उस की माँग मे उसी अनुपात मे कमी होगी और मुद्रा के मूल्य मे कमी से उसकी माँग में उसी अनुपात में वृद्धि हो जावेगी।"[1]

किन्तु क्या मुद्रा की माँग की लोच वास्तव मे ऐक्य (unity) है ? नही।

वास्तविक जगत् में हम यह नही पाते कि मुद्रा के परिमाण मे किसी प्रकार के परिवर्तन से कीमतो में भी उसी अनुपात में परिवर्तन हो जाए। जर्मनी में प्रथम महा-युद्ध के पश्चात् मुद्रा-प्रसार के दिनो में कीमतें प्रचलित माध्यम से कही अधिक बढ

1. Coulborn, W A —A Discussion of Money, 1950, p 89.

गई थीं। मुद्रा-प्रसार के पश्चात् और अधिक मुद्रा-प्रसार आवश्यक हो जाता है। ऐसी दशा में मुद्रा की माँग भी बढ़ती रहती है। लोगों का मुद्रा से विश्वास उठ जाता है। प्रतिदिन कीमतें बढती हैं। लोग आगे की कीमतें वसूल करने लगते हैं। अस्तु, जब मुद्रा का परिमाण बढ जाता है तब उसका मूल्य अनुपात के अनुसार ही नहीं वरन् और भी अधिक कम हो जाता है। इसी प्रकार मन्दी के दिनों में कीमतें गिरती ही जाती हैं, चाहे मुद्रा के परिमाण में कोई परिवर्तन न हो। १९३० के आस-पास के दिनों में यद्यपि बहुत से देशों में मुद्रा-प्रसार बढाकर कीमतें बढाने का प्रयत्न किया गया था, किन्तु वह असफल रहे।

सच तो यह है कि कीमतों का निर्धारण एक बडी अद्भुत घटना है, जिस पर मुद्रा का परिमाण प्रभाव डालने वाला एक अंश मात्र है। इसीलिए यह सोचना कि मुद्रा के परिमाण म हर प्रकार के परिवर्तन से कीमतों में उसी अनुपात में परिवर्तन होता है, गलत है। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मुद्रा की माँग की लोच ऐक्य (unity) के बराबर नहीं होती।

एक भीषण असंगति (An Anomaly)—पर यह बिलकुल उल्टी बात है कि व्यापार की समृद्धि के दिनों में सौदों की सख्या बढ जाती है। जिसके अर्थ यह हैं कि मुद्रा की माँग बढ जाती है। अस्तु, मुद्रा का मूल्य भी बढ जाना चाहिए और कीमतें गिरनी चाहिएँ। इसके विपरीत जब व्यापार मन्दा पड जाता है तो मुद्रा की माँग बहुत कम हो जाती है, इसका मूल्य गिरना चाहिए अर्थात् कीमतें बढनी चाहिएँ। लेकिन होता इसके बिलकुल विपरीत है। इसका क्या कारण है ?

इसका उत्तर यह है कि साख का परिमाण व्यापारिक दशाओं के अनुरूप घटता बढता है। समृद्धि के दिनों में आशावादी भावनाओं के कारण साख खूब बढ जाती है। साख यहाँ तक बढ जाती है कि वह व्यापार से भी अधिक अनुपात में बढ जाती है। साख के बढने का कारण यह है कि व्यापारिक समृद्धि के दिनों में लोगों में आम तौर पर आशावादिता बढी होती है। परिणाम यह होता है कि समुदाय की क्रय शक्ति बढ जाती है और कीमतों में वृद्धि हो जाती है। मन्दी के दिनों में साख कम होने से और व्यापार जरूरत से ज्यादा सिकुड़ने से, कीमतें गिरने लगती हैं।

यह मान लेना, कि मुद्रा की माँग की लोच ऐक्य (unity) है, गतिहीनता और स्थिरता की मनोवृत्ति है। जिस निरन्तर परिवर्तनशील ससार में हम रह रहे हैं, मुद्रा का परिमाण एक साथ ही दुगुना या तिगुना नहीं हो जाता। परिवर्तन अत्यन्त शनैः शनैः और अलक्ष्य रूप म आते हैं, अनेक तत्त्व कार्यरत रहते हैं। इसीलिए मुद्रा के परिमाण म आनुपातिक परिवर्तनों की आशा करना गलत है।

निर्देश पुस्तकें

Hayek Prices and Production, Lecture I
Keynes, J.N A Treatise on Money, 1930, Book III, The General Theory of Employment, Interest and Money, 1936; Tract on Monetary Reforms, 1924
Weiser Natural Value
Crowther, G An Outline of Money, 1930, Ch III

अध्याय ३३

मुद्रा और कीमतें

(Money and Prices)

इस अध्याय में हम कीमतो मे होने वाले हेरफेर (fluctuations) के बारे म अध्ययन करेंगे। पहले हम मुद्रा-स्फीति (inflation), अपस्फीति (deflation) आदि वाक्याशो का जिक्र करेंगे।

१ मुद्रा स्फीति, मुद्रा अपस्फीति (Inflation, Deflation)—मुद्रा स्फीति (Inflation) शब्द उस समय प्रयोग म लाया जाता है जबकि कीमतो में असामान्य वृद्धि होती है। जब कीमत का सामान्य स्तर अत्यधिक बढ जाता है, जिसका कारण साधारणत मुद्रा की पूर्ति का बढना और मुद्रा की माँग का उसी के अनुसार बढना नहीं होता तो उस दशा को स्फीति (inflation) कहते हैं। जब सोने की अधिक पूर्ति से कीमतें बढ जाती हैं तो हम स्वर्ण स्फीति (Gold inflation) कहते हैं। यदि कागज़ी मुद्रा के बढने से कीमतें बढ जाती हैं तो उसको कागजी मुद्रा स्फीति कहते है। और जब कीमतें साख (credit) के अत्यधिक बढ जाने से बढती हैं तो उसको साख स्फीति (credit inflation) कहते हैं। केवल 'स्फीति' (inflation) शब्द से हमारा मतलब कीमतो के अत्यधिक बढ जाने से होता है जो कि ऊपर दिए हुए किसी एक या सब कारणो से हुआ हो। स्फीति उस दशा मे भी उत्पन्न हो सकती है जब कि मुद्रा की माँग कम हो जाए परन्तु पूर्ति वैसी ही बनी रहे। परन्तु ऐसा बहुत कम होता है।

मुद्रा स्फीति को रोकने के लिए हम निम्न उपाय बता सकते हैं, (i) बैंक दर या विवृत बाजार रीति (open market operations) के द्वारा केन्द्रीय बैंक का मुद्रा सकुचन, (ii) बैंक साख पर नियन्त्रण, (iii) कर बढाकर, (iv) राष्ट्रीय सचय को प्रोत्साहन देकर, (v) सार्वजनिक व्यय म मितव्ययिता, (vi) मूल्य नियन्त्रण तथा (vii) उत्पादन की मात्रा बढाकर।

मुद्रा अपस्फीति (Deflation), स्फीति (inflation) का उल्टा है। इसका अभिप्राय कीमतो के अत्यधिक गिरने से है जो कि मुद्रा की कमी के कारण हो अथवा उसकी अधिक माँग के कारण हो। मुद्रा अपस्फीति को, स्फीति से भी अधिक विनष्टकारी समझा जाता है।

सस्फीति (Reflation) औसत मात्रा म नियन्त्रित स्फीति को कहते हैं। जब वस्तुओ की कीमतें इतनी अधिक गिर जाती हैं कि आर्थिक कार्यों म कोई लाभ नहीं होता तो उस समय मुद्रा अधिकारी कुछ ऐसे उपाय कर सकते हैं, जिससे कि मुद्रा परिचलन म अधिक आ जाए, जिसके कारण कीमतें बढ जाएँ तथा आर्थिक क्रियाओ

में उन्नति हो। जो लोग ऐसा सोचते हैं कि मन्दी का मुख्य कारण मुद्रा की कमी ही है, तो उनके अनुसार मन्दी का सामना करने का यह भी एक साधन है। व्यापारिक चक्र (trade cycles) के अध्याय में इसके बारे में और अधिक प्रकाश डाला जाएगा।

विस्फीति (Disinflation) द्वारा कीमतों के गिराने की एक प्रवृत्ति को कहते हैं जब कि वे (कीमत) मुद्रा स्फीति के कारण अनियमित रूप से बढ़ गई हों। मुद्रा सस्फीति तथा मुद्रा विस्फीति शब्द अप्रिय भाव से रहित हैं।

२. कीमतों में परिवर्तन होने के परिणाम (Consequences of Changing Prices)—कीन्स (Keynes) ने अपनी पुस्तिका "Tract on Monetary Reform" में समुदाय को तीन भागों में विभाजित किया है। (१) विनियोजन करने वाला वर्ग, (२) व्यापारी वर्ग और (३) अर्जन करने वाला वर्ग। हम देखेंगे कि मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन किस प्रकार से इन तीनों वर्गों के लोगों पर असर डालता है। विनियोजन करने वाले वर्ग में अथवा उन वर्गों में, जिनकी आमदनी निश्चित है, इसका प्रभाव सबसे अधिक घातक होता है। वे अपनी स्थायी आय के द्वारा पहले से कम वस्तुएँ खरीद सकेंगे। कीमतों के बढ़ने से व्यवसायी वर्ग या उद्यमी वर्ग को लाभ होता है क्योंकि वस्तुओं के बेचने के दाम तो बढ़ हुए होते हैं परन्तु उत्पादन का खर्च सामान्यतः कम ही रहता है। चूँकि मजदूरी पहले से ही निर्धारित होती है, वह उसी समय नहीं बदलती। भूमि का किराया और ब्याज भी नहीं बदलते, इसलिए उत्पादक वर्ग को लाभ होता है। किन्तु मजदूरी कमाने वाले वर्ग को नुकसान रहता है, क्योंकि उनकी मजदूरी या तनख्वाह वस्तुओं की महँगाई के अनुपात में नहीं बढ़ती। इस प्रकार उनकी असली मजदूरी कम हो जाती है। परन्तु चूँकि कीमतों के बढ़ने के समय व्यवसाय और उद्योग में उन्नति होती है, इसलिए इस वर्ग के लोगों को एक यह फायदा होता है कि उनकी नौकरी बनी रहती है।

अब हम देखना है कि उधार देने और लेने वालों पर कीमत परिवर्तन का क्या प्रभाव पड़ता है। जब कीमतें बढ़ती हैं तो ऋणी लोगों को लाभ होता है। ऋण का भुगतान वस्तुओं या सेवाओं को बेचकर किया जाता है। यदि ऋणी व्यक्ति उत्पादक है तो वह ऋण के भुगतान करने के लिए कम मात्रा में वस्तुओं को बेच कर ऋण अदा कर सकेगा। और यदि वह श्रमजीवी है तो भी उसको अपना ऋण अदा करने के लिए कम काम करना पड़ेगा।

जब कीमतें बढ़ती हैं तो आमतौर पर उपभोक्ता वर्ग को हानि होती है। जब कि सभी वस्तुएँ महँगी हो जाती हैं तो व्यापारी, सट्टेबाज और चोरबाजारियों को छोड़कर अन्य सब वर्गों के उपभोक्ताओं को हानि होती है। जब सभी चीजों की कीमतें ऊँची हो जाती हैं तो वस्तुओं के उपभोग की मात्रा को अवश्य कम कर देना पड़ता है।

कीमतों के नीचे की ओर गिरने से इन वर्गों के लोगों पर प्रभाव इसका उल्टा होता है। विनियुक्तोपजीवी या अनर्जितोपजीवी (rentiers) वर्ग, विनियोजन करने वाले वर्ग, तथा मजदूरी करने वाले वर्ग दोनों को लाभ होता है, क्योंकि अपनी स्थिर आमदनी से पहले से अधिक मात्रा में वस्तुएँ और सेवाएं ले सकते हैं। परन्तु यदि लगातार मन्दी बनी रहती है तो श्रमजीवी को हानि होती है क्योंकि उस समय बेरोज-

गारी (unemployment) बढ जाती है। कुछ ही भाग्यशाली व्यक्ति जिनकी नियुक्ति बनी रहती है इसका लाभ उठा पाते हैं। व्यापारी वर्ग को मन्दी से हानि होती है। एक तो कीमतो के गिरने के कारण उनको अपने व्यवसाय में आमदनी कम हो जाती है, दूसरे उनके व्यवसायी खर्चे जैसे मजदूरी वगैरह यदि कम भी हुए, तो भी धीरे-धीरे ही कम होते हैं। इस प्रकार उनका व्यापारिक लाभ बहुत कम हो जाता है।

कीमतो के गिरने से ऋणी लोगो को भी नुकसान होता है क्योंकि उस समय उनको अपने ऋण को अदा करने के लिए अधिक मात्रा म वस्तुएँ और सेवाएं देनी पडती हैं। सन् १६३० के बाद के प्रारम्भिक वर्षो म भारतीय किसान पर लगान का बोझ बहुत अधिक बढ गया था क्योंकि उस समय खेती की उपज का दाम बहुत ही कम हो गया था। परन्तु दूसरी ओर जो व्यक्ति रुपया उधार दे चुके हैं, उनको लाभ होता है क्योंकि जो धन उन्हें वापिस मिलता है उससे पहले की अपेक्षा वे अब अधिक वस्तुएँ खरीद सकते हैं।

कीमतो की कमी से आम तौर पर उपभोक्ताओ को फायदा होता है। वे अपने रहन-सहन के स्तर को ऊँचा उठा सकते हैं।

सक्षेप मे, हम कह सकते हैं कि ऋणी लोगो को कीमतो के बढने से फायदा होता है और उनके गिरने से हानि, क्योंकि उनके निश्चित धन-सम्बन्धी दायित्व वस्तुओ और सेवाओ में बढ जाते हैं, जब कि कीमते गिरती है और यह दायित्व उस समय कम हो जाते हैं, जब कि दाम बढते हैं। इसके विपरीत उधार देने वालो या महाजनो को कीमतो के बढने से नुकसान होता है और गिरने से लाभ।

किसी भी दिशा की ओर अत्यधिक उथल पुथल आर्थिक क्रियाओ के लिए हानिकर है क्योंकि इससे भविष्य अनिश्चित हो जाता है। अतएव आर्थिक विकास के लिए यह आवश्यक है कि कीमतो म अपेक्षाकृत स्थिरता बनी रहे। इस कार्य को करने के लिए कीमत-स्तर सूचक अक या देशनाक (Index numbers) रखने की जरूरत होती है।

३ देशनांक (Index Numbers)—मुद्रा के मूल्य मे होने वाले परिवर्तन को मापने के लिए मूल्य देशनाक तैयार किया जाता है। इस प्रकार देशनाक बनाने के लिए जिन जिन बातो की आवश्यकता होती है, वे नीचे दी जाती हैं —

(i) आधार वर्ष (Base Year) का निर्धारित करना—पहली आवश्यकता यह होती है कि आधार वर्ष को चुना जाए। आधार वर्ष का मतलब उस वर्ष से है जिस वर्ष की कीमतो की तुलना और दूसरे वर्षों की कीमतो से प्रतिशत में दिखलाते हैं। इस वर्ष के चुनने मे सावधानी बरतनी चाहिए। यह एक औसत वर्ष होना चाहिए जिसमें कि आर्थिक दृष्टिकोण से न तो बहुत तेजी हो और न बहुत मन्दी हो। कभी-कभी कई वर्षो की कीमतो के औसत को ही आधार मान लिया जाता है।

(ii) वस्तुओ का चुनाव (Selection of Commodities)—दूसरा काम यह है कि उन वस्तुओ को छांटा जाए जिनकी कीमतें सामान्य कीमत स्तर का निरूपण करें। वे वस्तुएँ वास्तव मे प्रतिनिधि रूप की होनी चाहिएँ और साथ ही ऐसी होनी चाहिएँ जो कि काफी मात्रा में प्राप्त हों। इन वस्तुओ का चुनाव उस

उद्देश्य पर भी निर्भर रहता है, जिसको कि ध्यान में रखकर देशनाक (index number) बनाया जाता है।

(iii) इसके बाद हर वस्तु के मूल्य की सूची ली जाती है—इसके लिए ज्यादा अच्छा यह है कि उन वस्तुओं की औसत थोक कीमत कई एक प्रतिनिधि बाजारो में ली जाए। ये कीमतें आधार वर्ष (या वर्षों) के लिए मालूम की जाती हैं और दूसरे वर्षों के लिए भी जिनका देशनाक हमें बनाना है।

(iv) उसके पश्चात् अगला काम यह करना है कि प्रत्येक वस्तु के आधार वर्ष की कीमत १०० के बराबर मान ली जाए और उन सब वस्तुओं के दूसरे वर्षों की कीमत आधार वर्ष की कीमतों के प्रतिशत में निकाली जाए। उदाहरणार्थ यदि आधार वर्ष मे गेहूँ की कीमत ४ रुपये मन है, जिसको कि सौ मान लिया जाता है, तो दूसरे वर्ष म जब गेहूँ की कीमत ८ रुपये मन हो जाती है तो वह २०० कहलाएगा। इसी प्रकार हर वर्ष म हरेक वस्तु की कीमत होगी।

(v) आखिरी काम यह है कि प्रत्येक वर्ष में प्रत्येक वस्तु के औसत अक निकाले जाएं। आधार वर्ष में तो औसत १०० ही होगा। दूसरे वर्षों में ये औसत अक १०० से अधिक या कम होंगे। यदि कीमतें बढी हैं तो १०० से अधिक होंगे और गिरी हैं तो १०० से कम।

नीचे दी हुई तालिका से मालूम होता है कि देशनाक किस प्रकार बनाए जाते हैं।

वस्तुए	आधार वर्ष के दाम १९३९ (रु० प्रति मन)	आधार वर्ष का देशनाक १९३९	सन् १९४५ के दाम (रु० प्रति मन)	सन् १९४५ का देशनाक
गेहूं	४ ००	१००	१० ००	२५०
चावल	३ ५०	१००	१४ ००	४००
कपास	१५ ००	१००	२२ ५०	१५०
शक्कर	८ ००	१००	१६ ००	२००
घी	६० ००	१००	१५० ००	२५०
औसत		१००		१२५०—५=२५०

ऊपर दिए हुए देशनाक के हिसाब से सन् १९४५ के दाम सन् १९३९ के दामों के मुकाबले में १५० प्रतिशत बढ़े। इसका अर्थ यह हुआ कि १९४५ म भारत म मुद्रा का मूल्य सन् १९३९ के मूल्य का $\frac{2}{5}$ हो गया, अर्थात् ६० प्रतिशत कम हो गया।

भारित देशनाक (Weighted Index Numbers)—ऊपर जिस प्रकार का देशनाक दिया गया है वह अ-भारित देशनाक (unweighted index number)

है, जिसमें हर एक वस्तु को बराबर महत्त्व दिया गया है। परन्तु वास्तव मे उपभोक्ता के लिए किसी वस्तु की कीमत मे थोडी वृद्धि किसी दूसरी वस्तु की कीमत में अधिक वृद्धि से अत्यन्त हानिकारक हो सकती है क्योकि पहली वस्तु की उपयोगिता उसके घरेलू खर्च मे दूसरी वस्तु की उपयोगिता से अधिक हो सकती है। इनका महत्त्व उस समय और भी बढ जाता है जब हम निर्वाह देशनाक (cost of living index number) बनाना चाहते हैं, अर्थात् निर्वाह देशनाक से हमारा मतलब है किसी एक श्रेणी के रहन सहन के खर्चे के परिवर्तनो को मापना।

मान लीजिए कि उपर्युक्त वस्तुएँ किसी एक अमुक श्रेणी के लोगो द्वारा प्रयोग की जाती हैं और हम यह जानना चाहते हैं कि युद्ध-काल मे उन लोगो के रहन-सहन के खर्च पर क्या प्रभाव पडा। यह आवश्यक नही है कि इन उपभोक्ताओ के लिए इन सब वस्तुओ का महत्त्व एक ही हो। इन वस्तुओ के सापेक्ष महत्त्व को दिखलाने के लिए हम हर एक वस्तु को 'भार' या वजन दे सकते हैं। इसके लिए हमें हर एक वस्तु के देशनाक को उसके महत्त्व के अनुसार किसी सख्या से गुणा करना होगा। यह सख्या साधारणत पारिवारिक बजट मे वस्तुओ के ऊपर किए खर्च के अनुसार होती है।

नीचे दी गई तालिका से मालूम होता है कि भारित देशनाक किस प्रकार बनाया जाता है। इसम वही सख्याएँ ली गई हैं जो पहली तालिका में थीं।

वस्तुएँ	आधार वर्ष की कीमत १९३९ (रु० प्रति मन)	देशनाक १९३९	सन् १९४५ में कीमतें (रु० प्रति मन)	देशनाक १९४५
गेहूँ	४ ००	१००×३=३००	१० ००	२५०×३=७५०
चावल	३ ५०	१००×१=१००	१४ ००	४००×१=४००
कपास	१५ ००	१००×१=१००	२२ ५०	१५०×१=१५०
शक्कर	८ ००	१००×२=२००	१६ ००	२००×२=४००
घी	६० ००	१००×१=१००	१५० ००	२५०×१=२५०
जोड		८००		१९५०
औसत		१००		२४३ ७५

यहाँ पर हमने चावल के मुकाबले म गेहूँ को तीन गुना महत्त्व दिया है और शक्कर आदि को घी के मुकाबले में दुगुना आदि।

इस प्रकार से निकाला हुआ निर्वाह देशनाक उतना नही बढा है जितना कि अभारित देशनाक। ये अक तो केवल उदाहरण के लिए दिए गए हैं। वास्तव में एक ही देशनाक कीमतों के स्तर के परिवर्तन और रहन-सहन के खर्च के परिवर्तन को

नापने के काम मे नही लाया जा सकता। इसके अतिरिक्त विभिन्न श्रेणियों के लोगों के रहन-सहन के खर्च के परिवर्तन को नापने के लिए काम में लाई जाने वाली वस्तुएँ एक न होंगी। इसके लिए हमे देखना होगा कि किस श्रेणी के लोग किस प्रकार की वस्तुओ का उपभोग करते हैं।

यहाँ तो हमने थोड़ी सी ही वस्तुएँ चुन ली हैं। वास्तव में इन वस्तुओं की सख्या अधिक होनी चाहिए। उदाहरणार्थ, भारत सरकार के कमर्शियल इटेलीजेंस डिपार्टमेंट (Commercial Intelligence Department of the Government of India) के बनाए हुए देशनाक की माला (series) सबसे पुरानी है। इसमें २८ निर्यात की जाने वाली और ११ आयात होने वाली वस्तुएँ हैं। इस माला में गुरुकृत या भारित देशनाक नही है और १८७३ को आधार वर्ष माना है; देशनाकों की दो और मालाएँ हैं—एक वम्बई की जिसमें ४० वस्तुएँ हैं और दूसरी कलकत्ते की जिसमें ७२ वस्तुएँ हैं।

गुरुत्व या भार अप्रत्यक्ष परोक्ष रूप से भी लाया जा सकता है यदि हम किसी वस्तु की एक से अधिक किस्म लें। उदाहरणार्थ गहूँ की ३ किस्में, रुई की २ और चाय की ३ आदि।

भारत म विभिन्न महत्वपूर्ण नागरिक केन्द्रों से १९ प्रकार के निर्वाह देशनाक प्रकाशित होते हैं।

४ देशनाको के लाभ तथा उनकी सीमाएँ (Uses and Limitations of Index Numbers)—देशनाको से हम केवल कीमत के स्तर के परिवर्तनो को ही नही नाप सकते हैं बल्कि हम मुद्रा के मूल्य और रहन सहन के खर्च के परिवर्तनो को तथा प्रत्यक मानिक (quantitative) परिवर्तन को भी नाप सकते हैं। मजदूरी, आयात, निर्यात, व्यावसायिक क्रियाएँ, नौकरी, कृषि की भूमि के क्षेत्र के परिवर्तन और जनसख्या के परिवर्तनों आदि के भी देशनाक बनाए जा सकते हैं। इन चीजो के माप से हमे सामाजिक तथा आर्थिक परिवर्तनो का ज्ञान होता है जिससे कि आवश्यकतानुसार उपयुक्त नीति बनाई जा सकती है।

उदाहरणार्थ, निर्वाह देशनाक से हमे मजदूरी या वेतन को कीमत के अनुसार समायोजित करने म सहायता मिलती है। थोक कीमत के देशनाक से मुद्रा प्राधिकारी को कीमत के स्तर और विनिमय के स्थायीकरण करने में सहायता मिलती है।

हम देशनाको की सहायता से किसी श्रेणी के मनुष्यो की किन्ही दो विभिन्न समयों की आर्थिक दशाओं का माप कर सकते हैं।

देशनाको की सहायता से हम बहुत से करारो (agreements) का, जैसे कि उधार देना और उधार लेना, समान भुगतान कर सकते हैं। जब कीमतें बढ़ती हैं तो उधार देने वाले को हानि होती है क्योंकि जो धन अब उसको वापिस मिलता है उसकी क्रय शक्ति कम होती है। यह अधिक न्यायसगत होगा यदि उधार देने वाले को वही क्रय शक्ति वापस मिले। ऐसा करने के लिए मूलधन (principal) को उसी मात्रा मे बढा देना आवश्यक होगा जिस मात्रा में कीमतें बढ़ गई हों। इसी प्रकार जब कीमतें गिर गई हो तो उधार लेने वाले को चाहिए कि वह उसी तरह कम धन

दे, नहीं तो ऋण का मूल्य वस्तुओं और सेवाओं के हिसाब से उसी मात्रा में बढ़ा हुआ होगा जिस मात्रा में कि कीमतें गिर चुकी हैं।

सीमाएँ (Limitations)—इस प्रकार हम देखते हैं कि देशनाक अति लाभदायक ही नहीं हैं बल्कि वर्तमान शासन के लिए उनका बनाना अति आवश्यक है क्योंकि बगैर इसके राज्य की आर्थिक नीतियों का मतलब केवल अँधेरे में भटकना ही होगा। परन्तु यहाँ यह भी देखना आवश्यक है कि देशनाको की कुछ सीमाएँ भी हैं। सबसे पहले तो वे केवल अनुमान (approximations) ही हैं। उनको हम बिल्कुल सही मार्ग दिखलाने वाला नहीं मान सकते। उनके आँकड़े भी बिल्कुल सही नहीं माने जा सकते और उनका मतलब भी विभिन्न लगाया जा सकता है। दूसरे, उनकी अन्तर्राष्ट्रीय तुलना विभिन्न आधारों, विभिन्न वस्तुओं की मात्रा और गुणों में अन्तर होने के कारण यदि असम्भव नहीं, तो कठिन तो अवश्य ही है।

तीसरे, विभिन्न समयों में उनकी तुलना करना भी सरल नहीं होता। अधिक समय में कुछ सामान्य वस्तुएँ भी प्रतिस्थापित हो जाती हैं। कभी-कभी बिलकुल ही नई वस्तु काम में लाई जाने लगती है या वस्तु वही हो केवल उसका नाम बदल दिया जाता है। हो सकता है कि नई और पुरानी वस्तु में बड़ा अन्तर हो। आधुनिक रेल के इंजन और पहले के इंजन की तुलना कीजिए। सन् १९५९ की फोर्ड कार और सन् १९३९ की फोर्ड कार में बड़ा अन्तर है।

चौथे, देशनाकों से केवल एक ही प्रकार की कीमतों के स्तर की माप हो सकती है। एक देशनाक जो किसी विशेष उद्देश्य से बनाया गया है, उसको दूसरे काम में नहीं लाया जा सकता। एक ऐसा देशनाक जो कि मिल मजदूर या रेलवे कुलियों (porters) की आर्थिक दशा का अध्ययन करने के लिए बनाया गया है, कालेज के अध्यापकों की आर्थिक दशा जानने के लिए बिलकुल बेकार होगा। उनके लिए पूर्णतया भिन्न प्रकार की वस्तुओं का प्रयोग करना होगा। विभिन्न प्रकार के लोग विभिन्न वस्तुओं का उपभोग करते हैं और उनकी क्रय-शक्ति भी विभिन्न होती है इस लिए कीमत स्तर में परिवर्तन का प्रभाव विभिन्न श्रेणी के मनुष्यों पर अलग-अलग होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि एक ही देशनाक से यह नहीं प्रतीत हो सकता कि पृथक्-पृथक् वर्ग के मनुष्यों पर कीमत के स्तर में परिवर्तन का क्या प्रभाव पड़ा।

यह भी हो सकता है कि किसी वस्तु को एक प्रकार के भार देने का प्रभाव कुछ और तथा दूसरे प्रकार के भार का फल दूसरा हो। इससे मालूम होता है कि देशनाकों में महत्त्व देना केवल स्वैच्छिक ही है।

५ कीमत का स्थायीकरण (Price Stabilisation)—क्योंकि मुद्रा के मूल्य (या सामान्य कीमत स्तर) में एकाएक परिवर्तन होने से, सामाजिक और राजनीतिक उथल-पुथल के अतिरिक्त, आर्थिक चेष्टाओं को भी धक्का लगता है, और वे अनिश्चित हो जाती हैं इसलिए कीमतों के स्थायीकरण की अधिक आवश्यकता प्रतीत होती है। कीमतों के स्थायीकरण का अर्थ यह नहीं है कि उनको पूर्ण रूप से नियन्त्रित करने की व्यवस्था की जाए। इस प्रकार की व्यवस्था न तो सम्भव है और न उसकी आवश्यकता ही है। कीमतों में थोड़े-थोड़े समय के उतार-चढ़ाव को बिलकुल

रोका नहीं जा सकता। इसके अतिरिक्त दीर्घावधि में होने वाले कीमतों के परिवर्तनों से भी अधिक हानि नहीं होती। दीर्घावधि, जैसे कि १० या १५ वर्षों में होने वाले कीमतों के परिवर्तनों को सरलता से कम किया जा सकता है। कीमतों के ऐसे उतार चढ़ाव को न्यूनतम करने का प्रयत्न करना चाहिए। ऐसे उतार-चढ़ाव का निरूपण समय-समय पर होने वाली तेजी (boom) और मन्दी (depression) में होता है।

कीमतों का स्थायीकरण दो प्रकार से हो सकता है (i) कुछ आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति और माँग के साधनों पर प्रभाव डालकर उनकी कीमतों का स्थायीकरण करना।

(ii) दूसरी रीति यह है कि मुद्रा की पूर्ति को उसकी माँग के अनुसार बनाकर कीमतों के सामान्य स्तर की समस्या को सुलझाना। इसके लिए विभिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न मार्ग बतलाए हैं और कुछ स्वर्ण-मान पद्धति (gold standard system) को अच्छा समझते हैं और कुछ ऐसी व्यवस्था चाहते हैं जिसमें नियन्त्रित पत्र मुद्रा हो।

कीमत का स्थायीकरण सदैव आवश्यक नहीं है (Price Stabilisation not always Desirable)—इन सब कठिनाइयों के अतिरिक्त यह भी कहा जाता है कि कीमतों का स्थायीकरण एक उद्देश्य समझकर सदैव आवश्यक नहीं समझा जाता। एक ऐसी आर्थिक व्यवस्था के लिए, जो कि स्वतन्त्र प्रतिद्वन्द्विता पर खड़ी हुई हो, कीमतों का उतार चढ़ाव एक विशेष काम करता है। इसी यन्त्र के द्वारा जनसमुदाय के साधन काम में लगाए जाते हैं, जिसमें अधिक से अधिक लाभ हो। कीमतों से जनता की सापेक्ष माँग का पता चलता है। कीमतों के परिवर्तन से यह मालूम होता है कि कहीं न कहीं कोई गड़बड़ी है और उसको ठीक करने की आवश्यकता है।

इसके अतिरिक्त जैसा कि ग्रेगरी (Gregory) और हेक (Hayek) ने बतलाया है स्थायी कीमतों से अर्थ-व्यवस्था में समय-समय पर गड़बड़ी होने का डर रहता है जैसा कि अमेरिका ने सन् १९२३ से १९२९ के बीच अनुभव किया था। और यदि सामान्य कीमत स्तर स्थायी रहता है तो भी कुछ विशेष वस्तुओं के दामों में परिवर्तन से आर्थिक जीवन में गम्भीर उथल पुथल हो सकती है।

अन्त में हम कहते हैं कि सामाजिक न्याय की दृष्टि से भी स्थायी कीमतें सदैव सब से अच्छी नहीं मानी जा सकती। इस दशा में एक स्थायी परिमाण में वस्तुएँ उधार के लेन देन में रह सकती हैं। अधिक उपज के समय में उन्हीं वस्तुओं की निश्चित मात्रा के प्रति स्वार्थ-त्याग थोड़ा होगा और आविष्कारों के कारण औद्योगिक उत्पादन अधिक होगा। न्याय की दृष्टि से ऐसे समय में कीमतों को गिर जाने देना चाहिए। इसकी प्रतिकूल दशा में भी यह सब बातें विलोमतः ठीक होंगी।

९ कीमत नियन्त्रण की कठिनाइयाँ (Difficulties of Price Control)—हम कीमत नियन्त्रण तथा इसके दोषों से तो परिचित हो ही गए हैं। साधारणतः यह समझा जाता है कि किसी देश का केन्द्रीय बैंक साख पर नियन्त्रण करके कीमत के स्तर को नियन्त्रित कर सकता है। यह अनुमान कुछ मानी हुई धारणाओं पर निर्भर है परन्तु ये धारणाएँ ठीक नहीं होतीं। यह धारणाएँ इस प्रकार हैं

(i) मूल्यों के देशनाकों का ठीक-ठीक और शीघ्रता से बना लेना और उनसे पथ-प्रदर्शक का काम लेना सम्भव है। देशनाकों की विभिन्न सीमाओं को हम पहले ही बतला चुके हैं। इस प्रकार के देशनाकों में पूर्णरूप से प्रतिनिधि वस्तुएँ होनी चाहिएँ। इनका भार भी ठीक होना चाहिए और वे ऐसी वस्तुएँ होनी चाहिएँ जो कि आसानी से मिल सकें। साधारणत इन सब बातों का होना असम्भव ही है।

(ii) दूसरी धारणा यह है कि मुद्रा की मात्रा और कीमतों के स्तर म सदैव एक दृढ सम्बन्ध रहता है। मुद्रा का पारिमाणिक सिद्धान्त (quantity theory of money) समझाते समय यह बतलाया गया था कि वास्तव में ऐसे सम्बन्ध का अस्तित्व होता ही नहीं। साख अर्थ व्यवस्था में तो मुद्रा की मात्रा और कीमतों के स्तर में कोई सम्बन्ध हो ही नहीं सकता। पहले तो हम देखते हैं कि केवल बैंक-साख ही उधार लेने की एक रीति नहीं है। दूसरे, उधार लिया हुआ धन केवल वस्तुओं के खरीदने में ही नहीं लगाया जाता। यह वास्तविक सम्पदा (estate) जैसे कि भूमि और घर आदि और प्रतिभूतियाँ (securities) तथा सेवाएँ खरीदने के काम में भी लाया जा सकता है। सम्पदा तथा प्रतिभूति की कीमत बढने के कारण बैंक की साख में वृद्धि होने से वस्तुओं का स्तर गिर सकता है। इसके विपरीत, उधार में कमी होने से सम्पदा और प्रतिभूति की कीमतों में कमी हो सकती है जब कि वस्तुओं की कीमतों पर कोई प्रभाव न पडे या वे बढ भी जाएँ।

इसके अतिरिक्त ऐसा भी हो सकता है कि मुद्रा के चलन का वेग उल्टी दिशा की ओर हो और वह बैंक द्वारा की गई साख की बढती या कमी को प्रतितुलन (counter-balance) कर दे। केन्द्रीय बैंक इस वेग को अधिक नियन्त्रित नहीं कर पाता। कुछ ऐसे भी कारण हैं जो कि मुद्रा से सम्बन्धित नहीं हैं। परन्तु वे वस्तुओं के मूल्य पर प्रभाव डालते हैं जैसे कि जलवायु राजनैतिक और व्यावसायिक उथल-पुथल, उत्पादन की रीतियों में परिवर्तन, फैशन म परिवर्तन जनसख्या और मनुष्यों के स्वभाव आदि में परिवर्तन आदि। इन सब कारणों से केन्द्रीय बैंक के मुद्रा के चलन के वेग को नियन्त्रित करने सम्बन्धी प्रयत्न निष्फल हो सकते हैं।

दूसरे महायुद्ध तथा उसके बाद में कीमत नियन्त्रण ने इस नीति की त्रुटियों को स्पष्ट कर दिया है। लडाई म कीमतें लगातार बढती रहती हैं और एक उचित स्तर रखने के लिए कीमत नियन्त्रण की पद्धति स्थापित की जाती है अन्यथा कीमतें अत्यधिक बढने से स्थिति अत्यन्त भयावह हो सकती है। ऊँची कीमतें गरीबों पर अधिक प्रहार करती हैं तथा उनको जीवन की अनिवार्यताओं से वंचित रखती हैं। जनता की नैतिक अवस्था को ठीक रखना पडता है। आन्तरिक अशान्ति का भय रहता है। कीमतों पर इसलिए भी नियन्त्रण किया जाता है ताकि सरकारी नौकर ऊँची तनख्वाहें न माँगें। लडाई में माँग तथा पूर्ति के बीच का सतुलन जाता रहता है। नागरिकों की माँग के अतिरिक्त युद्ध के कार्यों के लिए भी वस्तुओं की माँग होती है। दूसरी ओर, पूर्ति कम हो जाती है क्योंकि उत्पादन के साधनों को युद्ध का सामान बनाने के लिए हटाना पडता है तथा आयात गिर जाते हैं। मुद्रा स्फीति तथा मुद्रा का चलन वेग बढ जाने के कारण कीमतें बढ जाती हैं और अमीर गरीब के बीच की

खाई चौडी हो जाती है। इस सामाजिक असमानता को कम करने तथा रोकने के लिए कीमतों पर नियन्त्रण रखना सरकार का कर्तव्य हो जाता है।

युद्धकाल में कीमत नियन्त्रण असफल रहने के मुख्य कारण ये थे—(१) कीमत स्थिति को हल करने म देरी, (२) अधिकारियों में अनुभव का अभाव; (३) सरकारी नौकरों में निष्ठा का अभाव, (४) जन सहयोग की कमी, (५) सही तथा अद्यावधिक आकडों की कमी, तथा (६) कीमत-नियन्त्रण के उपायों का एकीकरण न होना (un-coordinated) तथा उनका योजना-रहित होना।

भिन्न-भिन्न जिलो म भिन्न भिन्न कीमतें निर्धारित की गई थीं। कभी-कभी भिन्न भिन्न जिलो मे परिवहन की लागत का खयाल न करके एक ही कीमत रख दी जाती थी। कभी-कभी फुटकर कीमतें ही निश्चित करके थोक विक्रेताओं को ऊँचे दाम लेने के लिए छोड दिया जाता था। कीमत पर नियन्त्रण था लेकिन पूर्ति पर कोई नियन्त्रण न था। सब वस्तुओं पर नियन्त्रण होने के बजाय कुछ चुनी हुई वस्तुओं पर नियन्त्रण था जिसके कारण नियन्त्रण न की जाने वाली वस्तुओं की कीमतें बढ गई और नियन्त्रित वस्तुओ पर नियन्त्रण रखना कठिन हो गया। इसका ध्यान कभी भी न रखा गया कि अधिकतर वस्तुओं की कीमतें एक दूसरे से जुडी थी। नियन्त्रण के नियम इतने सामान्य थे कि उनका बनाना सरल था परन्तु उनका चलाना बहुत कठिन था।

किन्तु सब से महत्त्वपूर्ण बात मनुष्यों के नैतिक चरित्र से सम्बन्धित है। कीमत नियन्त्रण उन देशो म सफल हुए जहाँ जनता का नैतिक स्तर ऊँचा था तथा मनुष्य ईमानदार थे। पर जहाँ इन गुणो का अभाव था, वे असफल रहे।

७ कीमत प्रक्रिया का कार्य (Function of Price Mechanism)—हम ऊपर यह अध्ययन कर चुके हैं कि कीमतो के स्थायीकरण की कहाँ तक आवश्यकता है और हमने यह बतलाया था कि स्वतन्त्र प्रतियोगिता पर निर्मित आर्थिक पद्धति में कीमत प्रक्रिया एक विशेष काम करती है। अब हम कीमत-प्रक्रिया का कुछ और अध्ययन करना चाहते हैं।

कीमत प्रक्रिया इस प्रकार चलती है कि आर्थिक पद्धति का समायोजन (adjustment) अपने आप होता रहता है और किसी केन्द्रीय प्राधिकारी को कोई आज्ञा देने की या सकेत करने की आवश्यकता नहीं पडती। कीमत उत्पादन और उपभोग दोनों की नियन्त्रक है। उपभोक्ता जो कीमत देने के लिए तैयार होते हैं उस कीमत से उनकी रुचि का ज्ञान होता है। इसी प्रकार जो कीमत उत्पादक लेने के लिए तैयार होते हैं उनसे वस्तुओ की कमी या अधिकता मालूम होती है। कीमत के बढने से माग कम होती है और पूर्ति बढती है, इसी तरह इसके प्रतिकूल भी विलोमत होता है। यदि किसी वस्तु की माँग पूर्ति से ज्यादा है, तब कीमत के बढने से दोनो म समायोजन होगा। इसके प्रतिकूल यदि पूर्ति माँग से ज्यादा है तो कीमत गिर जाएगी और दोनों के बीच साम्य स्थापित हो जाएगा।

ऐसा समझा जाता है कि कीमत-व्यवस्था उपभोक्ता और उत्पादक दोनों के हित में साम्य स्थापित करती है। बेनहम (Benham) के शब्दो मे, "कीमत व्यवस्था उद्यमी की लाभ की इच्छा और उपभोक्ताओ को दिए हुए उत्पादन के साधनो द्वारा

अपनी आवश्यकताओ की अधिक से अधिक पूर्ति की इच्छा, दोनो की समता से सन्तुष्टि करती है।" परन्तु वास्तव मे यह समता देखने मे नही आती। ऐसा देखा जाता है कि या तो उपभोक्ताओ का शोषण होता है, या उद्यमी लोग नुकसान उठाते हैं। कभी तो उपभोक्ताओ को सस्ते उत्पादन का लाभ मिलता है तो कभी जान-बूझ कर उनको धोखा दिया जाता है और वे एकाधिकारी की इच्छा पर रहते हैं, जो कि उनका पूर्ण रूप से शोषण करने म जरा भी नही हिचकिचाते। इसके अतिरिक्त एक सयुक्त स्कन्ध समवाय (Joint Stock Company) को उसके सचालको के कार्य कुशल न होने के कारण हानि हो सकती है, या यह हो सकता है कि सचालक अपने को धनी बनाने मे लगे रहे जब कि कम्पनी की हानि होती रहे। इस प्रकार हम देखते हैं कि वास्तव मे उत्पादको और उपभोक्ताओ के हितो म भिन्नता है न कि समता, क्योकि कीमत व्यवस्था प्राय स्वतन्त्रता और सरलता से काम नही करती।

इन सब बातो को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि कीमत व्यवस्था के बिना पूँजीवादी व्यवस्था चल ही नही सकती। कीमत- व्यवस्था से ही आर्थिक व्यवस्था के विभिन्न भागो का समायोजन होता है। यह सोचना ही कठिन है कि मूल्य व्यवस्था के बिना कोई अर्थ व्यवस्था किस प्रकार चल सकती है।

८ महँगी मुद्रा बनाम सस्ती मुद्रा (Dear Money Versus Cheap Money)—मुद्रा के विवेचन को समाप्त करने के पहले हम यह आवश्यक समझते हैं कि हम मुद्रा विषयक नीति पर केन्द्रित विवाद पर विचार करें।

जब अर्थ व्यवस्था युद्ध से नष्ट हो जाती है अथवा मदी से छिन्न भिन्न हो जाती है तो एक ही विवाद स्पष्ट रूप मे दिखाई देता है—अर्थात देश एक महँगी मुद्रा वाली नीति को अपनाए या सस्ती मुद्रा वाली नीति को अपनाए।

किन्तु महँगी मुद्रा अथवा सस्ती मुद्रा के क्या अर्थ है ? कुछ विद्यार्थी ऐसा समझते होंगे कि महँगी मुद्रा का यह अर्थ है कि उसका मूल्य वस्तुओ तथा सेवाओ में अधिक है अर्थात् कीमत नीची है तथा सस्ती मुद्रा का अर्थ है कि मुद्रा का मूल्य (अथवा उसकी क्रय शक्ति) नीचो है और कीमते ऊँची हैं। इस प्रकार महँगी मुद्रा का सम्बन्ध नीची कीमतो से हो सकता है और सस्ती मुद्रा का ऊँची कीमतो से। परन्तु महँगी तथा सस्ती मुद्रा की परिभाषा इस प्रकार नही दी जा सकती। मुद्रा की कीमत जिसकी तरफ 'महँग' और सस्ते' शब्द सकेत करते हैं उसकी विनिमय-कीमत या क्रय शक्ति के शब्दो म निहित नही है। मुद्रा की कीमत का उचित अर्थ वह दर है जिस पर धन उधार लिया जा सकता है। इस प्रकार महँगी मुद्रा का अर्थ यह है कि उधार लेने की दर ऊँची है तथा सस्ती मुद्रा का अर्थ यह है कि ब्याज की दर नीची है। सक्षेप में मुद्रा की कीमत ब्याज की दर है।

कभी-कभी हम अर्थशास्त्रियों को महँगी बनाम सस्ती मुद्रा के वाद-विवाद में भाग लेते पाते हैं। कुछ महँगी मुद्रा की नीति अपनाते हैं और कुछ सस्ती मुद्रा की नीति का समर्थन करते हैं। इनम से कौन ठीक है, यह उस आर्थिक स्थिति पर निर्भर है जिसका हमें सामना करना पडता है। किसी आर्थिक नीति को चलाने के लिए ब्याज की दर एक महत्वपूर्ण हथियार है। कुछ समय ऐसे होते हैं जब कि उचित आर्थिक

नीति के लिए यह आवश्यक है कि मुद्रा के बाजार में ब्याज की दर नीची रखी जावे तथा कभी ब्याज की दर ऊंची रखनी पड़ती है। उदाहरणार्थ, जब मुद्रा का अधिक प्रसार हो, जब सट्टेबाजी अधिक हो, जब उद्योगपति विनियोग (investment) अधिक मात्रा में करते हो, जब बैंको ने सीमा से अधिक साख बढ़ा रखी हो, जब भुगतान शेष (balance of payment) देश के प्रतिकूल हो, तो महँगी मुद्रा की नीति उचित होती है। यह मुद्रा सकुचन (deflationary) वाली गति है। यह निर्बुद्धि पूंजी विनियोग पर रोक लगायेगी, यह बैंकों द्वारा साख के बढ़ाए जाने को रोकेगी; यह कीमतो को बढ़ने से भी रोकेगी, सट्टेबाजी के वेग को कम करेगी और अन्त में भुगतान शेष की स्थिति को एक दृढ अवस्था में कर देगी।

सस्ती मुद्रा की नीति प्रतिकूल स्थितियो में प्रकट होती है। उदाहरणार्थ जब मन्दी का बुरा प्रभाव व्यापार व्यवसाय पर पड रहा हो, जब बैंक उधार देने में हिचकते हो, जब नीचा कीमत स्तर आर्थिक उद्दीपन को नष्ट कर रहा हो, जब अधिक बेकारी हो, और जब विस्तृत निर्माण-कार्य हाथ में लेने हो तो सस्ती मुद्रा नीति अथवा नीची ब्याज दर विनियोग को प्रोत्साहन देती है, बेकारी के भार को कम करती है, और औद्योगिक यन्त्र की गति को तेज करती है। सक्षेप में, यह मन्दी और उसके बुरे प्रभावो को दूर करेगी।

सस्ती मुद्रा नीति (अर्थात् साख का सस्ता होना) (क) मन्दी को रोकने, (ख) बेकारी को दूर करने तथा (ग) विकास कार्यक्रम की व्यवस्था मे एक साधन का कार्य करती है। जब सस्ती मुद्रा नीति अपनाई जाती है तो सरकार को खुले बाजार मे उधार लेना पड़ता है। यदि साख की कमी है तो प्रतिभूतियो की कीमत बढ़ जाएगी और उनकी माँग गिर जाएगी। सरकार को बैंको आदि का आश्रय लेना पड़ेगा। सस्ती मुद्रा नीति का अर्थ सार्वजनिक ऋण का मुद्रा निर्माण है अर्थात् सार्वजनिक ऋण को तरल-नकदी (liquid cash) मे बदलना है। यदि पूर्ण रोजगारी की अवस्था आ गई हो, तो इसका अर्थ स्फीतिकारी वित्त-व्यवस्था होगा।

अब यह प्रश्न उठता है कि क्या यह राज्य के अधिकार में है कि केन्द्रीय बैंक द्वारा या दूसरे प्रकार से मुद्रा को सस्ता या महँगा रखने के लिए ब्याज दर पर नियन्त्रण रखे ? क्या ब्याज की दर ऋण सम्बन्धी माँग तथा पूर्ति के प्राकृतिक प्रभाव से निर्धारित नही होती ? जैसे कि पहले समझाया जा चुका है इस सिद्धान्त को अब त्याग दिया गया है कि ब्याज की दर सचित धन की माँग तथा पूर्ति म साम्य लाती है। जैसा कि सर विलियम बेवेरिज (Sir William Beveridge) ने बतलाया है 'ब्याज की दर मुद्रा की माँग तथा पूर्ति मे साम्य स्थापित करने का कार्य नही कर सकती क्योंकि पूंजी व्यय उसी सचय को जन्म देता है जिसकी आवश्यकता उसके अर्थ प्रबन्ध में होती है। एक को दूसरे की समता मे लाने का प्रश्न ही नही उठता क्योंकि वे आय के स्तर में परिवर्तन होने से समता मे रहते है।"[1] यदि ब्याज की दर नीची है तो विनियोग को प्रोत्साहन मिलता है। समुदाय द्वारा ऋण लेकर या रिजर्व से किया हुआ व्यय अधिकृत आय लाता है और बचत के नए उद्गम पैदा करता है। इस

1 Full Employment in a Free Society, 1945, p 307

प्रकार ब्याज की नीची दर बचत करने के उत्साह को भंग नहीं करती परन्तु यह व्यय तथा विनियोग को प्रोत्साहित करती है और अधिक बचत को सम्भव बनाती है।

आधुनिक अर्थशास्त्री अब इस बात को मानते हैं कि राज्य को ब्याज की नीची दर स्थिर करने तथा बनाए रखने का अधिकार है और दर किन्हीं प्राकृतिक साधनों द्वारा निर्धारित नहीं होती। यह इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि युद्ध-काल तथा युद्ध-काल के बाद ऋण के लिए बढ़ती हुई माँग ब्याज की नीची दर पर सन्तुष्ट हुई। यह स्पष्ट रूप से बताता है कि ब्याज की दर पर नियन्त्रण रखना सम्भव है। हम को देखना चाहिए कि यह कैसे होता है। ब्याज की दर पर नियन्त्रण बचत पर नियन्त्रण के द्वारा हो सकता है। इसके लिए बचत के भिन्न-भिन्न रूपों का जानना आवश्यक है। मनुष्य अपने संचित धन को चार तरह से रख सकता है अर्थात् नकद, बैंक (डिपॉजिट्स); बिल (अल्पकालीन विनियोग), तथा बांड (दीर्घकालीन विनियोग)। सरकार देश की पूर्ण आर्थिक स्थिति को ध्यान में रखते हुए एक विशिष्ट ब्याज दर स्थिर करने का निश्चय कर सकती है और तब बचाने वाली जनता को उस दर पर अपने संचय करने तथा जिस रूप में वह अपने संचित धन को रखना चाहती है, स्वतन्त्र छोड़ सकती है। जैसा कि बेवेरिज ने कहा है "सरकार को दीर्घकालीन बांड तथा अल्पकालीन पत्र अवश्य निकालना चाहिए ताकि बचाने वालों की इच्छानुसार संचित धन उनमें आए।"

यदि यह देखने में आता है कि सरकार इच्छित धन को घोषित की हुई दर पर प्राप्त नहीं कर सकती और जनता का अल्पकालीन व दीर्घकालीन अंशदान अपूर्ण है तो सरकार शेष धन को केन्द्रीय बैंक से अर्थोपाय अग्रिमों (wages and means advances) के द्वारा प्राप्त कर सकती है। जैसे-जैसे सरकार का व्यय आगे बढ़ता है, नई बचतें होती जाती हैं और बैंक का नकद शेष बढ़ जाएगा। बचत जिसको जनता नकद तथा बैंकों में जमा करके रख सकती है, व्यापार की विक्रय राशि पर निर्भर करती है। वे अपनी आधिक्य बचत को अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन ऋणों में भी लगा सकते हैं।

इस प्रकार ब्याज की एक स्थायी दर निश्चित करने की सम्भावना का प्रश्न ही नहीं उठता। सरकार को केवल दर निश्चित करनी होती है और तब जनता को प्रस्ताव किया जाता है कि वह इस दर पर कितना रखना चाहेगी। केवल एक ही सावधानी बरतनी है कि दर में परिवर्तन धीरे-धीरे हो। ब्याज की दर में आकस्मिक और गम्भीर परिवर्तन वांछनीय नहीं हैं। यही कारण है कि शून्य दर निश्चित करना तथा उसको ऊपर की भाँति बनाए रखने का प्रयत्न करना सम्भव नहीं होगा। दर के अचानक घटा दिए जाने पर, पूँजी तथा दीर्घकालीन ऋण बढ़ जाएँगे। इससे सामाजिक तनाव उत्पन्न हो जाएगा। परम प्रतिभूतियों का स्रोत सूख जाएगा और बैंकों तथा बीमा कम्पनियों जैसी आर्थिक संस्थाओं की क्रियाओं की नींव टुकड़े-टुकड़े हो जाएगी।

६ तटस्थ मुद्रा नीति (Neutral Money Policy)[1]—हमने ऊपर महँगी बनाम सस्ती मुद्रा के बारे में विवेचन किया है परन्तु तीसरा उपाय भी है। वह

1. See Halm, G N.—Monetary Theory, 1946, pp. 122 31. Study also Hayek, F. A (1) Prices and Production, and (2) Monetary Theory and Trade Cycles

है तटस्थ मुद्रा नीति। यह नीति यथेच्छाकारिता नीति (*laissez faire* policy) पर आधारित है। परन्तु व्यवहार म यह उससे पृथक् है क्योंकि तटस्थ मुद्रा नीति अपनाने के लिए मुद्रा सम्बन्धी शक्ति को सचेष्ट नीति खोजनी पडेगी। तटस्थ मुद्रा सिद्धान्त प्रोफेसर एफ० ए० हेयक (Prof F A Hayek) के नाम से जुडा हुआ है। इस सिद्धान्त के मानने वाला का विश्वास है कि आर्थिक अस्थिरता के मुख्य कारण हैं मुद्रा नीति म परिवर्तन। मुद्रा नीति म परिवर्तनो को रोकने से अर्थ व्यवस्था स्थिर तथा सुव्यवस्थित हो जाती है।

तटस्थ मुद्रा नीति क्या है? यह वह नीति है जो एक ओर मुद्रा प्रसार के कारण और दूसरी ओर इसके सकुचन से विघ्न डालने वाले प्रभावो को तटस्थ करने अथवा हटाने का प्रयत्न करती है। नई मुद्रा के बढाव से मुद्रा स्फीति होती है तथा मुद्रा के हटाने तथा सकुचन से अस्फीति। मुद्रा स्फीति सस्ती मुद्रा से तथा मुद्रा अस्फीति महँगी मुद्रा से जुडी हुई है। आर्थिक स्थिरता अथवा कीमतो, उत्पत्ति तथा रोजगार के दृष्टिकोण से मुद्रा स्फीति तथा अस्फीति दोनो बुरे समझे जाते हैं। हम को दो म से एक को भी अपनाना न चाहिए। हम को तटस्थ रहना चाहिए। मुद्रा को न तो महँगी होनी चाहिए और न सस्ती।

इस भाँति तटस्थ मुद्रा नीति मुद्रा स्फीति तथा अस्फीति के शून्य चिन्ह के समान है। यह ऐसी स्थिति पैदा कर देती है जैसे कि मुद्रा है ही नही अथवा सारा विनिमय वस्तुओ द्वारा ही होता है। परन्तु चूँकि मुद्रा बिलकुल लोप नही होती, अदला-बदली की बुराइयाँ भी नही रहती। तटस्थ मुद्रा नीति अपनाने म मुद्रा सम्बन्धी अधिकारी को मुद्रा की पूर्ति की ऐसी व्यवस्था करनी पडती है कि उत्पादन स्तर, मूल्य स्तर तथा व्यापार की मात्रा ऐसी है जैसे कि समुदाय किसी भी मुद्रा का उपयोग नही करता। यह मान लिया जाता है कि यदि मुद्रा चलन वाले माध्यम के टेढे मेढे प्रभाव को पृथक् रखा जाए, तो ऐसी काल्पनिक बिना मुद्रा वाली समुदाय की अर्थ व्यवस्था प्रतियोगिता के प्राकृतिक प्रभावो द्वारा स्थिर रखी जाएगी।

तटस्थ मुद्रा नीति के लक्ष्य को कैसे प्राप्त किया जा सकता है? हमने देखा है कि तटस्थ मुद्रा नीति का उद्देश्य क्या है। अब प्रश्न यह है कि यह उद्देश्य कैसे प्राप्त किया जा सकता है? हमको यह ध्यान रखना चाहिए कि इस नीति के अन्तर्गत मुद्रा स्फीति तथा सकुचन दोनो को रोकना पडेगा। क्या हम यह लक्ष्य मुद्रा की पूर्ति को अचल रख कर कर सकते हैं? नही, बिलकुल नही। हम जानते हैं कि कीमतो म परिवर्तन केवल मुद्रा की पूर्ति म परिवर्तन होने से ही नहीं होता है परन्तु ऐसे कारणो द्वारा भी जैसे जनसख्या म परिवर्तन, यन्त्र कला म तथा यातायात म सुधार, मुद्रा के चलन के वेग म परिवर्तन आदि। इन प्रभावो को भी तटस्थ बनाना होगा। यदि मुद्रा की पूर्ति दृढता से स्थिर रखी जाए, तो एक पीढी म आर्थिक उन्नति तथा उत्पादन की कार्य कुशलता म सुधार से कीमतें बहुत गिर जाएंगी परन्तु एक तटस्थ मुद्रा नीति यह सब नहीं चाहती। इस प्रकार केवल मुद्रा बढाने तथा घटाने से तटस्थ मुद्रा नीति का उद्देश्य प्राप्त नही किया जा सकता।

तब मुद्रा सम्बन्धी प्राधिकारी को क्या करना चाहिए ? यदि जनसख्या बढती है तो मुद्रा की माँग बढेगी, और इस माँग की सतुष्टि होनी चाहिए, नही तो मुद्रा की कमी से मुद्रा अस्फीति का प्रभाव पडेगा। इससे तटस्थ मुद्रा नीति अलग रहेगी। यदि मुद्रा के चलन का वेग बढ जाता है, तो यह मुद्रा स्फीति होगी, और इसके रोकने के के लिए मुद्रा की वृद्धि की चाल धीमी करनी पडगी। यदि आविष्कारो तथा दूसरे यान्त्रिक सुधारो अथवा साधनो की कार्य-कुशलता म सुधारो के कारण उत्पादन की मात्रा बढ जाती है तो ऐसी दशा म मुद्रा की मात्रा को बढाया नही जा सकता क्योंकि कीमतो में कमी भयकर नही है। यदि परिवहन म सुधार होने से व्यापार म उन्नति होती है तो बढे हुए व्यापार की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए मुद्रा की मात्रा बढानी होगी। यदि व्यापार मे सगठन होता है तो मुद्रा की माँग घट जाएगी। अधिकारियों को इसका भी ध्यान रखना होगा और कुछ प्रतिकारात्मक उपाय (Compensatory measures) करने होगे। इनको एकाधिकारियो पर भी नियन्त्रण रखना होगा ताकि कीमतें उचित स्तर पर रहे। सक्षेप म इनको मुद्रा की पूर्ति स्थिर रखने की अपेक्षा कीमत-स्तर पर ध्यान रखना होगा। कीमतो म अत्यधिक उतार चढाव बचाने ही होगे।

यह नीति फलोत्पादक कैसे हो सकती है ? कागज पर सिद्धान्त सरल मालूम होता है और तटस्थ मुद्रा नीति सीधी दिखाई देती है। पर वास्तव म इसम बहुत सी उलझनें हैं। यह सिद्धान्त गलती से यह मान लेता है कि व्यापार चक्र को निर्धारित करने वाली बातें मुख्यत मुद्रा नीति से सम्बन्धित हैं। कीमत स्तर, उत्पादन मात्रा तथा रोजगार पर प्रभाव डालने वाले साधन इतने भिन्न है कि किसी प्रकार की मुद्रा व्यवस्था उनमें स्थिरता नहीं ला सकती। आधुनिक अर्थशास्त्री यह मानने को तैयार नही हैं कि व्यापार चक्र केवल मुद्रा नीति से प्रभावित होते हैं। इस प्रकार तटस्थ मुद्रा नीति में बहुत सी कमियाँ है।

तटस्थ मुद्रा-नीति कीमत स्थिरता नीति से कहाँ तक भिन्न है? तटस्थ मुद्रा-नीति तथा कीमत-स्थिरता नीति मे भेद करने के लिए हम को दो कीमत-स्तरो का ध्यान रखना चाहिए, एक सामान्य (general) कीमत स्तर, और दूसरा सापेक्ष (relative) कीमत स्तर। एक तरह से इन दोनो नीतियो का उद्देश्य एक ही है। दोनो मुद्रा को तटस्थ बनाना चाहते हैं, और यह चाहते हैं कि वह एक ऐसा कार्य करे कि यदि कोई भी आर्थिक परिवर्तन हो तो मुद्रा का दोष न माना जाय। दोनो का उद्देश्य आर्थिक परिवर्तनो के एक मुख्य कारण को हटाना है। दोनो का अन्तर यह है। कीमत-स्थिरता की नीति का उद्देश्य सामान्य कीमत स्तर में परिवर्तनो को रोकना है ताकि मुद्रा हिसाब की इकाई की तरह तटस्थ रहती है। तटस्थ मुद्रा नीति का उद्देश्य सापेक्ष कीमतों के ढाँचे को स्थिर रखना है। इस उद्देश्य के लिए यह मुद्रा की कुल मात्रा की व्यवस्था करना चाहती है ताकि मुद्रा विनिमय का एक माध्यम होते हुए अर्थ व्यवस्था म कोई गडबडी न डाल सके।

१०. मुद्रा नीति के उद्देश्य (Objectives of Monetary Policy)[1]—मुद्रा नीति के कई उद्देश्य बताए गए हैं इनमें से हम मुद्रा के प्रबन्ध के निम्नलिखित खास उद्देश्यों को बता सकते हैं—

(१) विनिमय स्थिरता,
(२) कीमत स्थिरता,
(३) तटस्थ मुद्रा; तथा
(४) आर्थिक स्थिरता।

कुछ ऐसे अधिकारी हैं जो विदेशी विनिमय की दर को स्थिर रखना अधिक महत्वपूर्ण समझते हैं। विदेशी व्यापार के लिए यह एक महत्वपूर्ण सुविधा होगी और यह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के जोखिम को कम कर देगी। विनिमय स्थिरता के बारे में हम अगले अध्याय में विवेचन करेंगे।

इस अध्याय में हम कीमत-स्थिरता की समस्या का विवेचन कर चुके हैं। कीमतों में तीव्र परिवर्तन अर्थ-व्यवस्था पर विघ्नकारी प्रभाव डालते हैं। इसके अतिरिक्त वह कुछ लोगों को कष्टदायक होते हैं तथा कुछ को लाभ पहुँचाते हैं। परन्तु एक दृढ़ता-पूर्वक बँधा हुआ कीमत-स्तर न तो सम्भव ही है और न उचित।

हमने तटस्थ मुद्रा नीति तथा उसकी सीमाओं का अभी विवेचन किया है और हम समझते हैं कि हम उसकी मुद्रा नीति के उचित उद्देश्य के रूप में सिफारिश नहीं कर सकते।

मुद्रा नीति का सब से उचित लक्ष्य आर्थिक स्थिरता है। इससे ऐसा आर्थिक विकास हो कि पूर्ण अर्थ-व्यवस्था शान्तिपूर्वक चल सके। संयुक्त राज्य फेडल रिजर्व सिस्टम (U S Federal Reserve System) के बोर्ड आफ गवर्नर्स (Board of Governors) ने आर्थिक स्थिरता की परिभाषा इस प्रकार की है "देश की उत्पादन-शक्ति तथा श्रम का ऐसा अधियोजन (employment) जो लगातार रह सके।" इस लक्ष्य को हम राष्ट्रीय साधनों की अधिकतम उपयोगिता भी कह सकते हैं। मुद्रा नीति के उद्देश्यों का वर्णन करते हुए बोर्ड ने यह निर्णय दिया है "बोर्ड विश्वास करता है कि सार्वजनिक नीति का उद्देश्य कीमत स्थिरता की अपेक्षा आर्थिक स्थिरता होना चाहिए। इसका दृढ़ विश्वास है कि यह उद्देश्य केवल मुद्रा नीति से नहीं प्राप्त किया जा सकता परन्तु मुद्रा नीति तथा सरकार की दूसरी बड़ी नीतियों के एकीकरण से यह प्राप्त किया जा सकता है, जिनका प्रभाव व्यापारिक क्रियाओं तथा कर, व्यय, उधार, विदेशी विनिमय, खेती तथा श्रम से सम्बन्धित विशेष नीतियों पर पड़ता है।"[2] देश के आर्थिक जीवन की स्थिरता पर मुद्रा नीति का क्या प्रभाव पड़ता है, इसका अगले अध्याय में विवेचन किया जाएगा।[3]

---

1 For detailed discussion See Chandler, L V —An Introduction to Monetary Theory 1950, Ch viii
Durbin, E F M —The Problem of Credit Policy, 1935
Gayer A D — Monetary Policy and Economic Stabilization, 1937
Royal Institute of International Affairs—The Future of Monetary Policy 1935, Ch XLII

2 International Currency Experience, 1954 pp 109 10

3 Chapter XLI.

निर्देश पुस्तकें

Whittlesey, C R Money and Banking, 1948, Ch. XXV
Halm, G N Monetary Theory, 1946 Ch. 8
Keynes, J M Essays in Persuasion
Layton, W , and Crowther, G Introduction to the Theory of Prices
Cannan, E Money, 1935, Part I, Chs II and III
Crowther, G An Outline of Money, 1950, Ch III
Cole, G D H Money, Its Present and Future
Brij Narain Money and Banking (S Chand and Co)
DeKock Central Banking, 2nd Edition (1946)
Fisher, Irving The Purchasing Power of Money, 1926, Chs IX and X
" " The Making of Index Numbers, 1923
Laughlin, J L Money, Credit and Prices, Vol II, Chapter XXIV.
Keynes J M Monetary Reform, 1924, Chapters I and II
" " A Treatise on Money, 1950, Vol. I, Chapters IV, V and VI
Robertson, D H Money, 1935, Chapter I
Benham, F Economics, Chapter XXIV
Coulborn, W A H A Discussion of Money, 1950, Chapter XII

अध्याय ३४

साख

(Credit)

१ साख क्या है ? (What is Credit ?)—मुद्रा के रूप बताते समय हमने साख अथवा बैंक मुद्रा की ओर संकेत किया था। साख का अर्थ किसी मनुष्य के प्रति 'सचाई, चरित्र की पवित्रता, योग्यता तथा गुण' पर आधारित अच्छे विचार से होता है। साख से किसी व्यक्ति का धन देने की इच्छा तथा योग्यता में विश्वास का अभिप्राय माना जाता है। किसी मनुष्य की साख तीन बातों पर निर्भर रहती है—चरित्र, योग्यता तथा पूंजी। इन सब गुणों के संयोग से साख का निर्माण होता है। जो व्यक्ति अपनी साख बनाना चाहता है उसे दूसरे मनुष्यों से व्यवहार में निष्कपट तथा न्याय युक्त होना चाहिए, उसमें इतनी शक्ति होनी चाहिए कि वह व्यवसाय को सफल बना सके, तथा वह व्यक्ति धनी हो। इस प्रकार साख ऋणी का विशेष गुण होता है।

२ साख पत्र (Credit Instruments) - आधुनिक व्यवसाय में साख का बहुत बड़ा महत्त्व है, और यह साख पत्र के प्रयोग द्वारा होता है। साख पत्र कई प्रकार के होते हैं जैसे खाता साख (Book Credit), वचन पत्र—रुक्का (Promissory Note), विनिमय हुंडियां (Bills of Exchange), बैंक नोट (Bank Note), चैक (Cheque) और ड्राफ्ट (Draft) आदि।

बैंक नोट (Bank Note)—ये साधारणतया साख पत्र तभी कहलाते हैं जब कि वे किसी साधारण बैंक द्वारा सरकार की आज्ञा से चालू किए गए हों। अब केवल एक बैंक को जिसे केन्द्रीय बैंक कहते हैं नोट चलाने का एकाधिकार प्राप्त है। ये नोट मुद्रा के समान हैं साख पत्र नहीं।

वचन पत्र या रुक्का (Promissory Note)—यह सब से सरल साख पत्र होता है। इसमें क्रेता द्वारा विक्रेता को मुद्रा की निश्चित राशि प्राप्त कीमत के बदले में देने की प्रतिज्ञा होती है। ऐसा प्रलेख निजी वाणिज्य व्यवहार में प्रयोग किया जा सकता है। विनिमय पत्र केवल वाणिज्य व्यवहार में प्रयोग किए जाते हैं।

विनिमय पत्र (Exchange Bills)—यह एक आदेश होता है जिसका भुगतान मांगने पर (On demand) अथवा निश्चित भविष्य में करने को सामान्यतः ऋणदाता द्वारा ऋणी, या खरीदार को किया जाता है, जिसमें खरीदार को यह आज्ञा होती है कि वह मुद्रा की उस मात्रा का भुगतान ऋणदाता या वाहक (Bearer) अथवा निर्दिष्ट किए हुए तीसरे व्यक्ति को करे।

किसी हुंडी का बट्टा उस पर अंकित मूल्य पर जितने समय तक पत्र की मान्यता होती है, प्रचलित दर पर ब्याज या बट्टे का अनुमान लगाकर, अंकित मूल्य

से घटाकर दिया जाता है। यह वह कीमत है जिस पर बिल रखने वाला किसी समय बिल को बेच सकता है।

विनिमय पत्र (bill of exchange) का रूप साधारणतया इस प्रकार होता है :—

£ 100 Delhi
July 15, 1959.

Three months after the date pay to the Order of the State Bank of India Ltd £ 100 for value received

F Jones & Sons G Lall,
London

जी० लाल ने दिल्ली से लन्दन के एफ० जॉन्स एण्ड सन्स को १०० पौंड के मूल्य के बराबर वस्तुओं तथा सेवाओं का निर्यात किया है। बिल, १५ जुलाई, १९५९ से तीन महीने तथा तीन दिन के पश्चात् अथवा १८ अक्टूबर, १९५९ को परिपक्व हो जायगा। इस समय में यह एक पक्ष से दूसरे पक्ष को पृष्ठांकन (endorsement) के पश्चात् जा सकता है।

बिल के चलन का क्षेत्र स्वीकर्ता (acceptor) की साख पर निर्भर करता है। लोग अपने बिल या हुंडियों को अच्छी फर्म जो इस व्यवसाय में विशेषोपयुक्त होती है, द्वारा स्वीकार कराते हैं और इस प्रकार अपने बिलों को बड़े क्षेत्र में चलने के योग्य बनाते हैं।

विनिमय पत्र व्यवसायी को बिना नकद भुगतान के वस्तुओं को क्रय करने के योग्य बनाता है। इसके पहले कि बिल परिपक्व (mature) हो वस्तुओं को बेच कर तथा मुद्राओं को पाकर दायित्व को पूरा किया जा सकता है। अतएव बिना अधिक पूँजी के उपयोग के व्यापार किया जा सकता है। दूसरी ओर यह विधि निर्यातकर्त्ता (विक्रेता) को, हुण्डी पर बट्टा काट देने के पश्चात् यदि वह मुद्रा तुरन्त चाहता है, तुरन्त मुद्रा प्राप्त करने के योग्य बनाती है। दूसरे, विनिमय बिल देशों के बीच बहुमूल्य धातु के परिवहन व्यय को बचाता है। अतएव यह अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान की सस्ती तथा सरल विधि है। तीसरे, विनिमय बिल हर निर्यातकर्त्ता को अपने देश की मुद्रा म निर्यात का भुगतान पाने के योग्य बनाता है। इस प्रकार विदेशी व्यापार के वित्त पोषण में विनिमय पत्र बहुत महत्त्वपूर्ण है।

इसके अतिरिक्त तरल निधि (liquid funds) के विनियोग (investment) के लिए विनिमय बिल एक अत्यन्त साधारण विधि है। यदि वह (आयातकर्ता) मुद्रा चाहता है, तो वह विनिमय पत्र को सदैव किसी भी बैंक से भुना सकता है। यह विधि बैंक द्वारा साधारणतया अपनी संचित तरल निधि को नकद के रूप में रखने के लिए प्रयोग म लाई जाती है। बैंक विनिमय पत्र को केन्द्रीय बैंक से पुन. भुना सकते हैं।

हुण्डी—भारतवर्ष में बहुत समय से विनिमय पत्रों का प्रयोग होता रहा है। इसको हुण्डी कहते हैं। हुण्डी आन्तरिक विनिमय-पत्र होता है। यह आन्तरिक व्यापार

की अर्थ-व्यवस्था तथा मुद्रा के भुगतान में सहायता देता है। हुण्डी दो प्रकार की होती है : (i) दर्शनी हुण्डी—जो करीब करीब चैक की तरह होती है और उसको तुरन्त मांगने पर भुगतान करना होता है। (ii) मुद्दती हुण्डी—जिसका एक निश्चित समय के पश्चात् भुगतान करना होता है। यह विनिमय बिल की भाँति होती है।

चैक—चैक बैंक पर ग्राहक, जिसने उस बैंक में मुद्रा जमा की हो, मांगने पर चैक के ले जाने वाले अथवा उसके आदेश पर, निर्दिष्ट किया हुआ भुगतान करने की आज्ञा देता है। पहले प्रकार के चैक को बेयरर चैक और दूसरे प्रकार के चैक को आर्डर चैक कहते हैं। जब चैक क्रॉस होता है (अर्थात् उसके एक किनारे पर दो समानान्तर रेखाएँ खींच दी जाती हैं) तो उसका भुगतान उसके खाते में; जिसके हक में चैक लिखा जाता है या उसके आदेश पर दूसरे व्यक्ति के खाते में किया जाता है। ऐसा चैक प्रत्यक्ष रूप से भुनाया नहीं जा सकता। बेयरर चैक क्रॉस नहीं होता और इसलिए उसको कोई भी भुना सकता है। यदि वह "आर्डर चैक" है, तो सही व्यक्ति को भुगतान देने का उत्तरदायित्व बैंक पर होता है।

ड्राफ्ट (Draft)—एक बैंक द्वारा दूसरे पर धनादेश की आज्ञा को ड्राफ्ट कहते हैं। यह स्वदेश के बैंक के लिए अथवा विदेशी बैंक के लिए जिसका भुगतान विदेशी मुद्रा में होता है, हो सकता है।

३ समाशोधन गृह (Clearing House)—यह ऐसी संस्था है, जिसमें अनेक बैंकों पर दिए गए चैकों को एक दूसरे के विपरीत रद्द (cancellation) किया जाता है तथा केवल शेष (balance) का भुगतान होता है। समाशोधन गृह का कार्य-सञ्चालन नीचे दिए हुए उदाहरण से स्पष्ट हो जाएगा। मान लीजिए कि कुल ४ बैंक अ, ब, स, द हैं जिनका हिसाब एक समाशोधन गृह द्वारा किया जा रहा है। हर एक बैंक अपना एकत्र चैकों की निकासी (clearance) के लिए भेजता है।

यह भी मान लीजिए कि किसी समय इन बैंकों के परस्पर दावे (claims) इस प्रकार हैं—

बैंक अ—बैंक ब के नाम चैक देता है	= ५,००० रु०
बैंक स के „ „ „	= ४,००० रु०
बैंक द के „ „ „	= २,००० रु०
योग	= ११,००० रु०
बैंक ब—बैंक स के नाम चैक देता है	= ५,००० रु०
बैंक द के „ „ „	= १,००० रु०
बैंक अ के „ „ „	= ४,००० रु०
योग	= १,०००० रु०
बैंक स—बैंक द के नाम चैक देता है	= ५,००० रु०
बैंक ब के „ „ „	= ६,००० रु०
बैंक अ के „ „ „	= ३,००० रु०
योग	= १४,००० रु०

बैंक द—बैंक अ के नाम चैक देना है= ३,००० रु०
बैंक ब के „ „ „ = १,००० रु०
बैंक स के „ „ „ = ५,००० रु०
योग= ९,००० रु०

सभी चैंकों के द्रव्य का जोड़ जिसका हिसाब तै करना है, ४४,००० रु० है। यदि प्रत्येक बैंक के समाकलन तथा विकलन (Credit and Debit) को देखें, तो स्थिति इस प्रकार होगी।

बैंक		(Credit) समाकलन	(Debit) विकलन	शेष (Balance) + या —
अ	—	११,००० रु०	१३,००० रु०	—२,००० रु०
ब	—	१०,००० „	९,००० „	+१,००० „
स	—	१४,००० „	१४,००० „	×
द	—	९,००० „	८,००० „	+१००० „

अतएव यदि बैंक अ, बैंक ब को १००० रु० और द को १००० रु० दे दे तो सारा हिसाब ठीक हो जाएगा। ४४०००) रु० का हिसाब केवल २०००) रु० के दे देने से हो जाता है। यह भी भुगतान नकद नहीं किए जाते बल्कि केन्द्रीय बैंक को चैक देकर किए जाते हैं। इस प्रकार यह लाभ क्लियरिंग हाउस या समाशोधनगृह और चैक की व्यवस्था द्वारा होता है।

४ साख के विस्तार के कारण (Factors Determining the Volume of Credit)—साख का आशय उधार लेने तथा उधार देने की क्रिया से होता है। कभी-कभी उधार लेने तथा देने की क्रियाएँ बहुत तीव्र होती हैं। यह साख के विस्तार का समय होता है। पर कभी कभी ऋणदाताओं तथा ऋण लेने वालों की कमी हो जाती है। दूसरे शब्दों में, साख की कमी हो जाती है। अतएव साख का विस्तार अथवा उसकी कमी ऋणदाताओं की देने तथा ऋणी के लेने की इच्छा पर निर्भर करती है। यह इच्छा बाह्य स्थितियों पर आधारित रहती है, जिनमें से मुख्यत यह हैं—

(i) व्यापार की दशाएँ (Trade Conditions)—यदि व्यापार अच्छा है, तो ऋणी उधार लेने को उत्सुक होते हैं। ऋणदाता उधार देने के प्रतिकूल नहीं होते, क्योंकि बढ़े-चढ़े व्यापार के समय ब्याज के दर ऊँचे होते हैं। वह दी हुई मुद्रा के लौटने के बारे में निश्चित होते हैं क्योंकि ऐसे समय में सभी को लाभ होता है। पर मंदी के समय साख की कमी हो जाती है। पूँजी भी कम हो जाती है। व्यापारी विनियोग की जोखिम उठाने को तैयार नहीं होते।

(ii) राजनीतिक दशाएँ (Political Conditions)—व्यापार आधुनिक समय में राजनीतिक घटनाओं से बहुत बड़ी सीमा तक प्रभावित होता है। जब युद्ध के बादल छाये होते हैं तो बहुत कम नए व्यवसाय करने का साहस करते हैं। आन्तरिक अशान्ति के समय भी ऐसा ही होता है। शान्ति तथा सुव्यवस्था साख को बढ़ाती है।

(iii) सट्टेबाजी (Speculative activity)—साख का विस्तार तथा

सट्टेबाजों की क्रियाएँ साथ साथ चलती हैं। जब सट्टे का कार्य अधिक होता है, तो साख का विस्तार होता है और जब सटोरिये हानि उठाने लगते हैं, तो साख की कमी होती है।

(iv) मुद्रा की स्थिति (Currency Conditions)—साख के विस्तार के लिए मुद्रा की उत्तम प्रणाली अत्यन्त सहायक होती है। जब मुद्रा चलन की दशाएँ ठीक नहीं होतीं, उदाहरणार्थ मुद्रा की मिलावट (debasement) अथवा अवमूल्यन (depreciation) हो जाता है, तो साख की कमी हो जाती है।

५. साख के कार्य तथा उसकी उपयोगिता (Utility and Functions of Credit)—ऊपर के दृष्टान्त से यह स्पष्ट है कि साख देश की आर्थिक उन्नति के लिए बहुत से उपयोगी कार्य करती है। यथा—

(i) साख धातु-द्रव्य के उपयोग में बचत करती है। साख-पत्र सिक्कों की जगह ले लेते हैं और इस प्रकार बहुत से अनावश्यक व्यय में बचत करते हैं।

(ii) यह व्यवसायियों को अधिक ऋण देकर उद्योगों के विकास में सहयोग देती है।

(iii) यह पूँजी की उत्पादन-शक्ति को बढ़ाती है। अनुपयोगी मुद्रा बैंक द्वारा उन लोगों को प्राप्त हो जाती है, जो उसका अच्छे ढंग से उपयोग कर सकते हैं।

(iv) साख द्वारा बैंक थोड़ी सी रकम नकद में रखकर अधिक उधार दे सकते हैं।

(v) साख पत्र मुख्यतः विनिमय बिल (bills of exchange) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भुगतान करने में सहायक होते हैं।

६. साख के जोखिम (Dangers of Credit)—साख में निम्नलिखित कुछ जोखिम निहित हैं—

(i) साख अधिनिर्गमन या साख-स्फीति (Over-issue of Credit)—मुद्रा अधिकारी स्फीति का आश्रय ले सकते हैं, अथवा बैंक उदारता से उधार दे सकते हैं। ऐसी दशा में कीमतों का बढ़ना शुरू हो जाएगा। इसलिए साख का अधिनिर्गमन साख का सबसे बड़ा जोखिम है।

(ii) साख से लोग अमितव्ययी हो जाते हैं। एक मनुष्य उधार लिये हुए धन को उतनी सावधानी से व्यय नहीं करता, जितना कि अपने कमाये धन को करता है। लोग अनुचित जोखिम उठाते हैं। अतएव साख सरकार को तथा अनुत्तरदायी व्यवसायियों को व्यय व्यय करने की ओर प्रवृत्त करती है।

(iii) साख ऐसे व्यवसायों का, जिनकी आर्थिक स्थिति डाँवाडोल होती है सहारा देने का साधन बन सकती है। किन्तु साख के सहारे के बिना उनका शीघ्र विनाश हो सकता है। सत्य यह है कि अनार्थिक व्यवसाय संस्थाओं का विनाश जितनी जल्दी हो उतना ही अच्छा है।

(iv) साख व्यक्तियों तथा संस्थाओं के पास उनकी इच्छानुसार व्यय करने के लिए बहुत-सी पूँजी का प्रबन्ध कर देती है। इस प्रकार बहुत बड़ी-बड़ी व्यवसाय

सस्थाश्रो का जन्म होता है। श्रौर उनमें उपभोक्ताश्रो व श्रमिकों के शोषण तथा व्यापारिक लेन-देन म श्रनुचित रीतियों के प्रयोग का भय होता है।

७ साख तथा कीमतें (Credit and Prices)—साख कीमत पर किस प्रकार प्रभाव डालती है ? यह विवाद सम्बन्धी विषय है। मिल (Mill) तथा उसके कुछ श्रनुयायियों ने इस पर ज़ोर दिया कि साख कीमत पर उसी प्रकार प्रभाव डालती है जिस प्रकार नकदी प्रभाव डालती है, क्योंकि साख नकदी की ही तरह क्रय-शक्ति रखती है। दूसरी श्रोर श्रमरीकी श्रर्थशास्त्री वाकर (Walker), लाघलिन (Laughlin) श्रादि का मत था कि साख का कीमत पर कोई प्रभाव नहीं होता। यह दोनों विचार दो श्रलग-श्रलग सीमाश्रों पर हैं, श्रतएव पूर्ण सत्य नहीं हैं। सत्यता तो इन दोनों के बीच म है। यदि साख पत्र नकद मुद्रा के स्थानापन्न (Substitute) हैं तो उनका प्रभाव कीमत पर नकदी के समान होगा। वास्तव म लोगों का विश्वास साख पत्र के बजाय नकद मुद्रा पर श्रधिक होता है। श्रतएव बैंक सदैव श्रपने पास मांग को पूरा करने के लिए कुछ श्रनुपात म नकद मुद्रा रखते हैं। जब साख का विस्तार होता है तो परिचालन से संचित नकदी को कम करने के लिए कुछ मुद्रा वापस कर ली जाती है। इसलिए कीमत उतनी नहीं बढ़ती जितनी कि नकद के वापस न करने पर बढ सकती है। परन्तु विस्तृत साख की मात्रा की श्रपेक्षा बहुत कम मात्रा में नकद मुद्रा वापस की जाती है। साख की यह स्फीति यदि ठीक तरह से रोकी न जाए तो मूल्य म वृद्धि करती है, श्रौर यही साख की जोखिम है, श्रर्थात् उसका श्रत्यधिक विस्तार।

निर्देश पुस्तकें

Balogh T —Financial Organisation
Sayers, R S —Modern Banking

अध्याय ३५

बैंकिंग या अधिकोषण

(Banking)

१ बैंकों का विकास (Evolution of Banks)—बैंक वास्तव में एक ऐसी संस्था है जो द्रव्य या मुद्रा का व्यापार करती है। स्पष्ट रूप से बैंक उन लोगों से अधिशेष द्रव्य (surplus money) खींचते हैं, जो उस समय उसे प्रयोग में न ला रहे हों, और जो लोग उसे उत्पादक कार्यों में लगा सकते हैं, उन्हें ऋण देते हैं। आधुनिक बैंकों ने छोटी स्थिति से विशाल उन्नति की है। प्राचीन साहूकार सुनार थे। योरोप में वे मुद्रा की अदल-बदल करते थे। वे एक प्रकार के द्रव्य को दूसरे प्रकार के द्रव्य के साथ बदलते थे। क्योंकि वे मूल्यवान् धातुओं का व्यापार करते थे, उनको अपने कोष की रक्षा करने की व्यवस्था करनी पड़ती थी। धीरे-धीरे लोग, जिनके पास मुद्रा या सोना अधिक होता था, अपनी मूल्यवान् धातुओं को ऐसे व्यक्तियों के पास जमा करने लगे। यह आदि रूप में निक्षेप अधिकोषण (deposit banking) का प्रारम्भ था। वे सुनार धातुओं के जमा करने पर रसीदें दिया करते थे। चूँकि हरेक व्यक्ति उनकी ईमानदारी पर विश्वास करता था, इसलिए समय बीतने पर अनुभव होने से ये रसीदें बगैर पहले सोने में परिवर्तन किए हुए एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के पास लेन-देन का भुगतान करने के लिए प्रयोग होने लगीं। ये रसीदें ही आदि बैंक के नोट थे।

क्रमश, बैंकिंग कारोबार व्यक्तियों से संयुक्त स्कन्ध संस्थाओं (joint stock concerns) के पास चला गया। कुछ समय के बाद राज्य ने हर बैंक को नोट छापने की स्वतन्त्रता देने में खतरे का अनुभव किया। धीरे-धीरे नोट छापने का काम साधारण बैंकों से ले लिया गया और विशेष नियमों के अन्तर्गत केन्द्रीय बैंकों को सौंप दिया गया।

इसी बीच बैंकों ने क्रय शक्ति के निर्माण करने की नई विधियाँ निकालीं। उन्होंने अपने ग्राहकों को उनकी जमा पर चैक काटने की स्वतन्त्रता दे दी। यह जमा आवश्यक रूप से वह धन ही नहीं था जो ग्राहकों द्वारा वास्तव में "जमा किया गया था"। ये जमा बैंक द्वारा अधिविकर्षण (overdraft) की सुविधा देकर या जमानत पर ऋण देकर उत्पन्न किए जा सकते थे। जब तक कि बैंक नकद रिज़र्व (cash reserves) के सुरक्षित अनुपात पर विश्वास रख सकता था, उस समय तक वह ऋण या अधिविकर्षण (overdraft) की सुविधा देकर साख को एक ऊँचे शिखर तक पहुँचा सकता था।

२ बैंकों के भेद (Kinds of Banks)—बैंकों में उनके विभिन्न कार्यों के क्षेत्रों से सम्बन्धित विशेष उन्नति हुई है। विभिन्न प्रकार के बैंकों ने अधिकोषण के

विभिन्न क्षेत्रों में विशेषीकरण अर्जित किया है। मुख्य प्रकार के बैंक नीचे दिए जाते हैं—

(i) व्यवसायी बैंक (Commercial Banks)—य बैंक विशेषकर आन्तरिक व्यापार की अर्थ व्यवस्था करने म लगे हुए हैं तथा और भी साधारण साहूकारा व्यवसाय, जैसे कि जमा रखना, ऋण देना और हुण्डी का लेन देन करना करते हैं।

(ii) औद्योगिक बैंक (Industrial Banks)—य सस्थाएँ उद्योग धन्धों को वित्तीय सहायता देने म लगी होती हैं। जो व्यक्ति उद्यमी का कार्य करते हैं, उनको ये दीर्घ काल के लिए ऋण देती हैं।

(iii) कृषि बैंक (Agricultural Banks)—इस प्रकार के बैंक दीर्घकाल और अल्पकाल के लिए खेती के लिए ऋण देते हैं। दीर्घकालीन पूंजी की, भूमि प्राप्त करने और उसकी उन्नति करने के लिए तथा भारी मशीनें खरीदने के लिए आवश्यकता होती है। अल्पकालीन पूंजी की आवश्यकता बीज, खाद मजदूरी आदि के चालू व्यय के लिए होती है। भारत म इस प्रकार के बैंकों ने अल्पकालीन उधार देने के लिए सहकारी समितियों (co operative societies) का रूप ग्रहण किया है और दीर्घकालीन उधार के लिए भूमि-बन्धक बैंकों (Land Mortgage Banks) का।

(iv) विनिमय बैंक (Exchange Banks)—इन बैंकों का विशेष काम विनिमय-पत्र, ड्राफ्ट, तार द्वारा विदेशी मुद्रा का सचार बल्कि विदेशी मुद्रा के स्वत्व का क्रय और विक्रय करना है।

(v) बचत बैंक (Savings Banks)—य सस्थाएँ साधारणतया थोडी पूंजी के व्यक्तियों को धन सचित करने म सुविधा देती हैं। भारत म डाकखाने इन कामों को करते हैं। हाँ, दूसरे बैंक भी अल्प बचतों को जमा करते हैं।

(vi) केन्द्रीय बैंक (Central Bank)—किसी देश की बैंकिंग व्यवस्था में केन्द्रीय बैंक सबसे अधिक महत्वपूर्ण सस्था है। वास्तव म यह प्रत्यक्ष रूप से और परोक्ष रूप से अन्य समस्त बैंकों की कार्रवाइयों का नियन्त्रण करता है।

३ साधारण बैंकिंग कार्य (General Banking Functions)—स्पष्ट रूप में तीन ऐसे कार्य हैं जो कि बैंक (केन्द्रीय बैंकों के अतिरिक्त) करते हैं (क) जमा रखना (holding deposits), (ख) ऋण देना (advancing loans); तथा (ग) अधिपत्रों का पूर्व प्रापण या हुंडियों का भुनाना (discounting bills)।

(क) बचत को जमा रखना (Holding Deposits)—यह कार्य महत्वपूर्ण है क्योंकि बैंक विशेषकर उन जमा की रकमों पर निर्भर करते हैं जिनको कि जनता ने उनके पास जमा कर रखा है। निक्षेप तीन प्रकार के हैं—

(i) चालू खाते (Current Deposits) म जमा की हुई रकमों पर बैंक साधारणत कोई ब्याज नहीं देता। वे चैक के द्वारा एक अश में या पूर्ण रूप से बैंक से किसी समय भी निकाले जा सकते हैं। (ii) मियादी जमा (Fixed Deposits) इसलिए ऐसे कहे जाते हैं क्योंकि वे एक निर्धारित समय के लिए बैंक के पास रहते हैं जिसके व्यतीत होने के पहले वे बिना उचित सूचना दिए निकाले नहीं जा सकते। ऐसी जमा की रकमों पर बैंक अधिक ब्याज देता है। (iii) सेविंग्स या बचत के खाते

में जमा की हुई रकमें सप्ताह में एक या दो बार निकाली जा सकती हैं । और फिर भी सप्ताह में प्राय १,००० रु० से अधिक बचत के खाते में से नहीं निकाला जा सकता।

वास्तव में किसी विशेष समय पर जमा रकम का केवल एक छोटा भाग ही निकाला जाता है । परन्तु क्योंकि ग्राहक जमा वापिस ले सकते हैं और कभी-कभी लेते भी हैं, इसलिए बैंक को अपनी आस्तियों (assets) के एक भाग को तरल नकदी में रखना पड़ता है। बाकी सब विविध काल के लिए उधार दिया जा सकता है। अब हम बैंकों के दूसरे कार्यों पर आते हैं।

(ख) ऋण देना (Advancing Loans)—इस दिशा में बैंक को सबसे अधिक उत्तरदायित्व लेना पड़ता है। बैंक ऋण देकर लाभ उठाता है। परन्तु बैंक दूसरे व्यक्तियों के धन से व्यापार करता है, जो किसी भी समय निकाला जा सकता है। उधार देने और बचत को जमा रखने में अति विचार निर्णय की आवश्यकता रहती है। बैंकों को चाहिए कि अपनी तरलता स्थिति (liquidity) और लाभों के बीच उचित सामञ्जस्य बनाए रखें। यदि बैंक अपनी समस्त आस्तियों को तरल या नकद रूप में रखेंगे तो उन्हें लाभ कम होगा। इसके विपरीत यदि बैंक बहुत अधिक लाभ कमाना चाहेंगे तो शायद वे जमा करने वालों की मांगों को पूरा न कर सकें। अत बैंकों को तरलता और लाभ दोनों में उचित सामञ्जस्य बनाए रखना चाहिए।

यह ध्यान पूर्वक देखना चाहिए कि बैंक केवल उसी रकम को उधार नहीं देता जो कि वास्तव में ग्राहक द्वारा जमा की गई है। बैंक स्वयं जमा की उत्पत्ति करता है और इस प्रकार वह उधार दी हुई रकम को जमा की हुई रकम से कहीं अधिक बना लेता है। अपने को सन्तुष्ट करके वह कार्य जिसके लिए ऋण की आवश्यकता है आर्थिक दृष्टि से उचित है, और जमानत आदि के द्वारा पूर्व सचेत होकर बैंक अपने ग्राहक को चैक देने का अधिकार दे देता है। सम्बन्धित व्यापारी का ऋण इस प्रकार उसके खाते में जमा हो जाता है। यदि ग्राहक एक चैक या कई चैकों द्वारा इस रकम को निकाल लेता है, तो उसका भुगतान किसी न किसी को कर दिया जाता है। यह चैक उस देश या प्रदेश के उसी बैंक या दूसरे बैंकों के पास फिर आ जाते हैं। वे उन व्यक्तियों के खाते में जिनको कि भुगतान किए गए थे, जमा के रूप में आ जाते हैं। इसका अर्थ हुआ "ऋण जमा को उत्पन्न करते हैं।" वर्तमान काल में रोकड़ के जमा साख के जमा में परिवर्तित हो गये हैं।

(ग) हुंडियों का भुनाना या पूर्व प्रापण (Discounting of Bills)—व्यावहारिक दृष्टि से हुण्डियों को भुनाना या पूर्व प्रापण का अर्थ है अल्प-काल के लिए उधार देना। उदाहरण के लिए, व्यापारी, जो व्यापार-कार्य में बड़ी रकम फंसाना नहीं चाहता, अपने ऋणी पर हुण्डी कर सकता है और जब वह उसके ऋणी द्वारा या उसकी ओर से स्वीकृत हो जाए तब वह अपने बैंकर द्वारा उसे भुना सकता है। इससे व्यापारी को ब्याज और बैंक के कमीशन को निकाल कर बची हुई रकम तुरन्त मिल जाती है। हुण्डियां साधारणतया तीन महीने के लिए होती हैं। और जब वे पूरी हो जाती हैं तो बैंक उनके अंकित मूल्य को वसूल कर लेता है। इस प्रकार बैंक व्यापार को सुविधा देने के अतिरिक्त लाभ भी उठाता है। ये बिल अल्पकाल में पूरे हो जाते हैं

और आवश्यकता पडने पर उनका पुन पूर्व प्रापण हो सकता है। यह बैंक की सम्पत्ति (assets) के एक भाग को तरल अवस्था म रखने की एक साधारण युक्ति है। बैंकर हुण्डियो के लेन देन को एक अति उत्तम विनियोग (investment) समझते है। यही कारण है कि कहा जाता है बैंक का उत्तम सचालक एक बिल या हुण्डी (bill) और बन्धक (mortgage) के अन्तर को जानता है। आधुनिक काल में हुण्डी बाजार म व्यापार विपत्रो (trade bills) का उतना महत्त्व नही है जितना कि खजानो के विपत्रो (Treasury bills) का है।

बैंको के मुख्य कार्यों का सचालन एक वाक्य में किया जा सकता है।

बैंक ऋण देने के लिए उधार लेते हैं—वे जमा के रूप म उधार लेते हैं। (क) मियादी जमा (Fixed Deposits), (ख) सेविंग बैंक जमा (Savings Bank Deposits), तथा (ग) चालू खाते म जमा (Current Deposits)। बैंक तीन प्रकार से उधार देते हैं—(क) विवृत लेखा या अधिविकर्षण पर (On Open Account or Overdraft), (ख) रोकड साख के आधार पर ऋण (Loans on Cash Credit Basis), और (ग) बिल या हुण्डियो का भुनाना (Discounting of Bills)

४ साख का निर्माण और उसकी परिसीमाएँ (Creation of Credit and its Limitations)—साख का निर्माण आधुनिक बैंक के उच्चतम कार्यो म से एक है। देखना चाहिए कि साख निर्माण या उत्पादन का क्या अर्थ है ?

साख निर्माण क्या है? (What is Credit Creation?)—यह एक प्रत्यक्ष रहस्य है कि बैंक ग्राहको की माँगो की पूर्ति करने के लिए जमा के हिसाब से शत-प्रतिशत सुरक्षित कोष (reserve) नही रखते। बैंक कोई सामान रखने की जगह (cloak room) नही है, जहाँ कि आप अपने नोट (Currency Notes) या मुद्राएँ रख सकें और जब चाहें तब उन्हीं नोटो (Currency Notes) या मुद्राओ को वापस ले लें। सामान्यत यह समझा जाता है कि बैंक में आया हुआ धन दूसरो को देने के लिए है। एक जमा करने वाले को, बैंक की केवल इस प्रतिज्ञा पर कि वह माँगने पर भुगतान कर देगा, सतोष करना पडता है। बैंक यह कार्य बहुत ही छोटे सुरक्षित कोष द्वारा कर लेते हैं क्योकि सब ग्राहक अपना धन एक साथ नही निकालने आते। एक ही समय म कुछ निकालते हैं, तो कुछ जमा करते हैं। इस प्रकार बैंक एक छोटी रोकड सचिति (cash reserve) के द्वारा साख का बहुत विशाल भवन निर्माण करने में सफल होता है। बैंक बगैर रोकड अलग किए धन उधार देने में और उस पर ब्याज लेने म समर्थ होता है और जैसा कि हमने ऊपर देखा है, बैंक का ऋण एक जमा का निर्माण करता है। वह उधार लेने वाले के लिए साख का निर्माण करता है।

इसी प्रकार बैंक सिक्योरिटियाँ या प्रतिभूतियाँ खरीदता है और विक्रेता को अपने चैक द्वारा ही भुगतान करता है, जो रोकड नही होती, यह रोकड देने की केवल एक प्रतिज्ञा होती है। चैक किसी बैंक म जमा कर दिया जाता है और सिक्योरिटी के विक्रेता के लिए साख की उत्पत्ति कर दी जाती है। इसको साख की उत्पत्ति या साख का निर्माण कहते हैं।

साख का निर्माण कैसे होता है ? (How is Credit Created ?)—जैसा

कि ऊपर संकेत किया गया है, दो ऐसी रीतियाँ हैं जिनके अनुसार बैंक साख का निर्माण करता है। (i) रोकड़ साख (Cash Credit) के आधार पर ऋण देकर या जमा से अधिक रकम उधार देने (Overdraft) की व्यवस्था करके, और (ii) सिक्योरिटियाँ खरीदकर तथा उनका भुगतान अपने ही चैक द्वारा करके।

इन दोनों अवस्थाओं में जमा की उत्पत्ति होती है या ऋणी के लिए साख की उत्पत्ति होती है और बैंक की साख किसी निश्चित लेन-देन में लगा दी जाती है। बहुत थोड़ी-सी रोकड़ संचिति (cash reserve) लेन-देन के दायित्व को पूरा करने के लिए बैंक में रखी जाती है। इस प्रकार उत्पन्न की हुई साख एक बहुत बड़ी रकम के बराबर हो जाती है।

परिमितताएँ या परिसीमाएँ (Limitations)—साख-उत्पत्ति के उपर्युक्त वर्णन से, यह मालूम हो जाता है कि "बैंक बिना कुछ बोए ही फल प्राप्त करते हैं।" वह बिना नकद दिए हुए उधार देते हैं या प्रतिभूतियाँ (securities) खरीदते हैं। और उसी प्रकार वे अपने दिए हुए ऋण पर ब्याज लेते हैं और खरीदी हुई प्रतिभूतियों (securities) पर लाभांश (dividends) प्राप्त करते हैं। यह अति आकर्षक है कि वह बिना नकद लगाए लाभ प्राप्त करते हैं। यह बैंक द्वारा निर्मित साख का जादू है, जो काम करता है। बैंक सचमुच, जितना अधिक सम्भव हो सकता है, उतना अधिक लाभ उठाना चाहेंगे। परन्तु वह अनिश्चित काल के लिए साख का विस्तार नहीं कर सकते। परन्तु अपने ही हित में अपनी ही रक्षा के लिए उन्हें रोक लगानी पड़ेगी, और वे लगाते भी हैं क्योंकि यह तो सर्वविदित है कि बैंकों के लाभ बहुत अधिक नहीं होते। सबसे बड़ी परिमितता या परिसीमा यह है कि बैंक को जमा करने वालों की माँगों के दायित्वों को पूरा करना होता है।

बेनहम (Benham) ने बैंकों की साख उत्पन्न करने की शक्ति की तीन परिमितताएँ या परिसीमाएँ बतलाई हैं—

(i) देश में नकद की कुल रकम; (ii) रकम की मात्रा, जो जनता अपने पास रखना चाहती है, (iii) नकद से जमा का न्यूनतम प्रतिशत जो बैंक सुरक्षित समझते हैं।

जहाँ तक (i) का सम्बन्ध है यह कहा जा सकता है कि नकद के आधार पर साख की उत्पत्ति की जा सकती है। नकद अर्थात् विधिमान्य मुद्रा साख जितनी ही अधिक होगी, उतनी ही अधिक साख की उत्पत्ति की जा सकती है। परन्तु नकद रोकड़ की वह रकम जो बैंक के पास है, केन्द्रीय बैंक के नियन्त्रण के अन्तर्गत होती है। हम लोग अगले अध्याय में इस प्रकार के प्रभाव के बारे में विस्तारपूर्वक अध्ययन करेंगे। यहाँ पर यह बतला देना पर्याप्त है कि केन्द्रीय बैंक मुद्रा के निर्गम पर एकाधिकार रखता है। वह उसको बढ़ा सकता है और कम कर सकता है और साख उसी के अनुसार विकसित या संकुचित होगी। केन्द्रीय बैंक की मुद्रा नियन्त्रण शक्ति बैंकों की साख उत्पन्न करने की शक्ति के क्षेत्र पर नियन्त्रणकारी प्रभाव रखती है।

दूसरी सीमा लोगों के नकद रोकड़ के प्रयोग से सम्बन्धित आदतों के कारण होती है। यदि स्वभाव से लोग नकद व्यवहार में लाते हैं और चैक नहीं, जैसे कि

भारत म, तो जैसे ही ऋणी को बैंक साख देता है, वैसे ही वह चैक का भुगतान करा लेगा और नकद ले लेगा। जब बैंक का नकद इस प्रकार कम हो जाता है तो उसकी साख उत्पन्न करने की शक्ति भी क्रमश संकुचित हो जाती है। इसके विपरीत यदि लोग नकद का व्यवहार केवल छोटे मोटे लेन-देन के लिए ही करते हो, तो बैंका की नकद सचिति अधिक कम नही होती और उनकी साख उत्पन्न करने की शक्ति का भी ह्रास नही होता।

तीसरी परिसीमा सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसकी उत्पत्ति होती है नकद और दायित्व के परम्परागत सचिति अनुपात के कारण जो बैंको को अपनी रक्षा के लिए और उचित मात्रा म द्रवता (liquidity) बनाए रखने के लिए अवश्य रखना चाहिए। यह बहुत ही सीधी-सी बात है कि जब कोई बैंक साख की उत्पत्ति करता है या ऋण देता है, तो वह दायित्व का भार अपने ऊपर लेता है। उसके दायित्व मे वृद्धि होती है और उसके फलस्वरूप सचिति अनुपात म कमी होती है। बैंक उस अनुपात को एक विशेष न्यूनतम स्तर के नीचे नही गिरने देगा। जब यह न्यूनतम स्तर की दशा आ जाती है, तो बैंक की साख उत्पन्न करने की शक्ति का अन्त हो जाता है। उस समय और अधिक ऋण देने म जोखिम रहती है, जब तक कि बैंक का अनुभव यह न बता सके कि और अधिक छोटे अनुपात से हानि न होगी। तब वह उसकी परिसीमा हो जाएगी।

इनम चौथी परिसीमा भी जोडी जा सकती है। बैंक बिना आस्तियो (आदेय) के पाए साख का निर्माण नही कर सकते। आदेय एक प्रकार का धन होता है। इस प्रकार बैंक केवल गतिहीन धन को गतिशील धन बना देता है। अतएव क्राउथर (Crowther) के शब्दो म, 'बैंक हवा से मुद्रा का निर्माण नही करता—यह अन्य प्रकार के धन को मुद्रा के रूप म परिवर्तित कर देता है।'"[1]

अतएव सक्षेप म साख के निर्माण के मूल गुण यह हैं कि बैंक को नए रोकड रिजर्व मिलें, वे उनको उधार देने को तथा व्यवसायी उधार लेने को तैयार रहे, और उधार लेने वाले कर्ज को वापस न लें, परन्तु बैंक म जमा के रूप मे पडे रहने से सतुष्ट रहे। इसलिए उपक्रमण (initiative) उधार लेने वालो के हाथ है। वास्तव में, निक्षेप (deposit) उधार ली राशि से नही बनता बल्कि उस राशि से बनता है जिसे बैंक से नही निकाला जाता।

५ सचिति कोष का रखना (Maintenance of Reserves)—स्वस्थ अधिकोषण का रहस्य पर्याप्त कोष को बनाए रखना और उसके साथ हिस्सेदारो या अशधारियो (shareholders) के लिए लाभ प्राप्त करना है। हमने देखा है कि बैंक दूसरे लोगो के मुद्रा द्रव्य से व्यापार करता है, वह इस दृष्टि से कि वह द्रव्य सूचना देकर या बिना सूचना के बैंक से निकाला जा सकता है। परन्तु अनुभव से बैंकर यह जानते हैं कि जमा का केवल छोटा भाग ही वास्तव म निकाला जाता है। उनका उद्देश्य इसीलिए यह रहता है कि माँग पूरी करने के लिए पर्याप्त कोष रखा जाए

---

1 Crowther, G.—An Outline of Money, 1950, p 30.

और शेष धन को उधार देकर लाभ उठाया जाए । इसमें पर्याप्त सूझ बूझ और कुशलता की आवश्यकता होती है । एक चतुर बैंकर को तरलता (liquidity) तथा लाभ (profitability) के बीच उचित सन्तुलन बनाए रखना जरूरी है । अत्यधिक सावधानी का अर्थ होगा कम लाभ और अत्यधिक ऋण देने से बैंक सुरक्षित न रहेगा । बैंक में संचित निधि सम्बन्धी तरलता और लाभो के बीच सामजस्य लाना आवश्यक है । परन्तु यह काम आसान नही है । बैंक में संचित निधि सम्बन्धी तरलता और लाभ दोनो परस्पर विरोधी बातें हैं । दोनो के बीच समझौता या मध्यमार्ग निकालना अनिवार्य है किन्तु यह इतना सरल नही है । क्योकि चाहे जिस रूप तथा मात्रा म वे अपने रिजर्व को रखें वे सामान्य समय बेकार होंगे और जमा करने वालो के विश्वास के हटने पर अपर्याप्त रहेंगे । बैंक म सुरक्षित कोष या रिजर्व का रखना निम्नलिखित बातो से निर्धारित होता है[1], (१) बैंक के जमा म रोज के उतार-चढ़ाव । (२) ग्राहको के उधार की आवश्यकता म कमी बेशी । (३) गौण कोष (secondary reserves) की प्रकृति तथा बैंकिंग प्रणाली म कोष व्यवस्था की प्रकृति ।

साधारणतया बैंक अपनी आस्तियो को द्रव्य साधना या नकद में परिवर्तनशीलता के घटते हुए क्रम म रखता है । इसकी सुरक्षा की पहली लाइन जैसे कि कहा जाता है एक विशेष मात्रा में वास्तविक नकदी रखना है । यह नकदी या तो मुद्रा के रूप में या नोटो के रूप म या केन्द्रीय बैंक में बचत के रूप म रखी जाती है । नोट जारी करना केन्द्रीय बैंक का एकाधिकार है ।

केन्द्रीय बैंक के आधिक्य शेष (balances), सदैव विधि मान्य मुद्रा के रूप में निकाले जा सकते हैं । बैंक इन आधिक्य शेषो को इसीलिए नकद की भाँति मानते हैं । सभी मुख्य बैंक कानूनी तौर पर देश के केन्द्रीय बैंक मे अपने दायित्व क एक विशेष भाग को रखने के लिए बाध्य होते हैं । यहाँ पर यह कह सकते हैं कि इस प्रकार के आधिक्य शेषो का अस्तित्व केन्द्रीय बैंक को दूसरे बैंको की साख विस्तार पर नियन्त्रण करने की शक्ति प्रदान करता है ।

कोष या रिजर्व को कायम रखने के लिए सुरक्षा की दूसरी पंक्ति वह धन है जो अति अल्पकाल के लिए उधार दिया गया है । इगलैंड म ऐसे अल्पकालीन ऋणो को याचना और अल्प काल सूचना पर देय राशि (money at call and short notice) कहते हैं । इसम वे ऋण शामिल होते हैं जो पूर्व प्रापण गृहो (discount houses) या बिलो या हुण्डियो के दलालो को दिए जाते हैं । स्टॉक एक्सचेंज को दिए जाने वाले ऋण भी इसमें शामिल होते हैं । इस प्रकार के ऋण माँग पर या कुछ दिनो के अन्दर वापस लिए जा सकते हैं ।

इसके पश्चात् हुण्डियो के बट्टे का काम आता है । ज्योही वे पूरी होती हैं भुनायी जा सकती हैं । यह या तो सरकारी हुण्डियाँ होती हैं या व्यावसायिक हुण्डियाँ ।

इसके बाद विनियोजनो का नम्बर आता है । यह मुख्यत सरकारी प्रतिभूतियाँ होती हैं । निर्धारित ब्याज देने वाली प्रतिभूतियाँ (securities), जिन्हे

1 Kilborne and Woodworth—Principles of Money and Banking 1937, p 291.

इंगलैंड में परम प्रतिभूतियाँ (gilt-edged securities) भी कहते हैं, इस कार्य के लिए बहुत लोकप्रिय हैं क्योंकि इसमें वास्तव में कोई जोखिम नहीं होता।

अन्त में ग्राहकों के अग्रिम (advances) आते हैं। वे ऋण या अधिकर्षणों (overdrafts) का रूप ले सकते हैं। वे सबसे अधिक लाभ देते हैं, हालाँकि उनमें जोखिम भी सबसे अधिक है क्योंकि वे न्यूनतम तरल (liquid) होते हैं।

६ तरलता का महत्त्व (Importance of Liquidity)—वह अनुपात, जिसके अनुसार अनेक रूपों में आदेय (assets) रखे जाते हैं, एक देश और दूसरे देश में, एक बैंक और दूसरे बैंक में और व्यापार की अवस्था के अनुसार अलग-अलग होते हैं। किसी बैंक की आस्तियों की तरलता जितनी ही अधिक होगी, उतना ही अधिक विश्वास उस पर किया जाएगा परन्तु उसके लाभ उतने ही कम होंगे।

समस्त बैंकिंग व्यापार बैंक की लोगों की माग पर धन के वापस देने की योग्यता के ऊपर और लोगों के बैंक के ऊपर विश्वास पर निर्भर है। यदि किसी भी कारणवश यह विश्वास हट जाता है, तो बैंक के प्रति एक 'दौड़" शुरू हो जाती है। कोई भी बैंक यह "दौड़" सहन नहीं कर सकता, क्योंकि समस्त निक्षेप नकदी की अवस्था में नहीं होता। बैंकिंग व्यापार समृद्धिकाल का व्यापार है। जब तक मौसम साफ है अर्थात् जब तक बैंक की साख बनी है और जमा कराने वालों का विश्वास बैंक पर है कोई भी अपना पैसा निकालना नहीं चाहता और बैंक इस बात को गर्व से कह सकता है "जो चाहे अपना पैसा निकाल ले।" लेकिन जैसे ही विपत्ति आती है और इस घबराहट में लोग पैसा निकालने के लिए दौड़ते हैं, तो पैसा मिलना मुश्किल हो जाता है। यदि किसी एक बैंक पर भी ऐसी विपत्ति आ पड़े तो वह बड़ी मुसीबत में पड़ जाता है और बैंक को अपनी आस्तियों को रोकड़ में बदलना पड़ता है जिससे लोगों का भुगतान हो सके। किन्तु यदि विपत्ति बहुत भारी हो तो बैंक की हालत बिगड़ जाती है और जमा कराने वालों में से किसी को भी कुछ प्राप्त नहीं होता।

इस प्रकार यह आवश्यक है कि बैंक न केवल अपनी आस्तियों (assets) के कुछ अंश को तरल रूप में तैयार रखे, बल्कि उसे यह भी देखते रहना चाहिए कि लोगों का उसके प्रति विश्वास अडिग बना रहे। बैंकों को अपने ग्राहकों (depositors) की आदतों का भी खयाल रखना चाहिए। जिस समय बैंक के ग्राहक या निक्षेपक यह जानते हैं कि बैंक उनका रुपया वापस दे सकता है तो वे कभी भी रुपया वापस माँगने नहीं आवेंगे। किन्तु यदि उन्हें बैंक की देयता पर तनिक भी सन्देह हो जाता है, तो वे अपना धन बैंक से निकालने को आतुर हो जाते हैं। इसलिए बैंकों को चाहिए कि वित्तीय आपात काल में वे खूब साख बढ़ावें। ऐसे अवसरों पर अन्य बैंक भी विपद्-ग्रस्त बैंक की सहायता करते हैं।

लोगों को अपनी आर्थिक दशा से सूचित रखने के लिए बैंकों के लिए कानूनी रूप से यह आवश्यक है कि वे अपने स्थिति विवरण (balance sheet) को प्रकाशित करें। किसी बैंक का स्थिति विवरण (balance sheet) उसकी आर्थिक दशा का विवरण है। साधारणतया इस प्रकार का विवरण आर्थिक वर्ष (financial year)

के अन्त में निकाला जाता है। केन्द्रीय बैंक यह विवरण प्रति सप्ताह निकालता है। स्थिति विवरण (balance sheet) दो खानों म बनाया जाता है। बाईं ओर वाले खाने म बैंक का दायित्व (liabilities) रहता है और दाईं ओर के खाने मे आस्तियां (assets)। दायित्व वह धन है जो बैंक को देना है और आस्तियां या आदेय वह धन है, जो दूसरो से बैंक को लेना है और जो कुछ भी बैंक के पास उस समय हो।

साधारणत एक बैंक का चिट्ठा इस प्रकार होता है—

दायित्व (Liabilities)	आदेय (Assets)
पूँजी (Capital)	नकद (Cash)
सुरक्षित या सचित कोष (Reserve Fund)	केन्द्रीय बैंक म जमा नकद (Cash at Central Bank)
जमा (Deposits)	माँगने पर तुरन्त मिलने वाला द्रव्य या याचने राशि (Money at Call)
ग्राहकों के लिए स्वीकृतियाँ (Acceptances for Customers)	भुनाए हुए बिल (Bills Discounted)
	विनियोजन (Investments)
	स्वीकृति के लिए ग्राहकों का दायित्व (Liabilities of Customers for Acceptance)
	फर्नीचर आदि।
	भवन तथा अन्य सम्पत्ति (Premises and other Property)

बैंक अपने स्थिति विवरण (balance sheet) में यह दिखलाने का प्रयत्न करते हैं कि उनकी वित्तीय स्थिति दृढ है। यह कार्य वे एक बडी नकद सचिति रख कर या सचिति और दायित्व का उच्चतर अनुपात रख कर पूरा कर सकते हैं। इस उद्देश्य से वे उन रकमो को वापस माँगते हैं, जो माँग पर या अल्प सूचना पर वापस कर देने की शर्त पर दी गई थी और यह विश्वास दिलाते हैं कि दूसरे दिन फिर से वे उधार दे देंगे। इस प्रकार का एक सुन्दर दिखावा करने को 'अभिविन्यासन" (window dressing) कहते हैं।

निर्देश पुस्तकें

Crowther, G An Outline of Money, 1950, Ch II, pp 22-42
Benham, F. Economics, 1940 pp 384 85
Brij Narain Money and Banking (S Chand & Co)
Meyers, A. L Elements of Modern Economics, 1951, Ch 21
Samuelson, P A Economics, 1948, Ch 14
Keynes, J M A Treatise on Money, 19 0, Vol I, Ch 3
Coulborn, W A L A Discussion of Money, 1950, Ch VI
Sayers, R S Modern Banking, 1947, Ch II
Bradford, F H Money & Banking, 1936 Ch V.
Dowrie, G W Money & Banking, 1936, Ch VIII.

अध्याय ३६

मुद्रा बाजार तथा केन्द्रीय बैंक

(Money Market And Central Banks)

१ मुद्रा बाजार (Money Market)—हम देख चुके हैं कि अर्थशास्त्र मे "बाजार" शब्द का अभिप्राय किसी क्षेत्र या स्थान से नहीं होता वरन् उस समस्त प्रदेश से होता है जहां-जहां क्रेता और विक्रेता होते हैं। परन्तु 'मुद्रा बाजार' क्या है ? यह देखना है कि मुद्रा बाजार में क्रेता और विक्रेता कौन होते हैं ? तथा ये क्रेता और विक्रेता किस वस्तु का आदान-प्रदान करते हैं ? 'मुद्रा बाजार' का तात्पर्य कोई विशेष बाजार या चौक नहीं है, जहां नगर के बैंको के अधिकांश कार्यालय स्थित हों। "मुद्रा-बाजार"—यह शब्द भी किसी क्षेत्र की ओर संकेत नहीं करता वरन् विनिमय-सगठनों के समूहों (groups of exchaugers) की ओर संकेत करता है। मुद्रा को उधार लेने तथा देने वाले ही विनिमय कर्त्ता या विक्रेता हैं और मुद्रा ही क्रय-विक्रय की वस्तु है। उधार लेने वाले मुद्रा के खरीदार हैं। मुद्रा को उधार देने वाले विक्रेता हैं। जिस ब्याज की दर पर मुद्रा उधार ली या दी जाती है, वही मुद्रा का मूल्य है।

२. मुद्रा बाजार के अंग (The Constituents of the Money Market)—मुद्रा-बाजार किन लोगों से बना है, तथा मुद्रा-बाजार के सदस्य कौन हैं ? मुद्रा-बाजार किन लोगों का बनता है, यह तो हम संकेत कर चुके हैं। महाजन, दलाल, कटौती घर तथा रुपया लगाने वाले लोग—ये ही मुद्रा बाजार के सदस्य हैं। सबसे ऊपर केन्द्रीय बैंक है, जो मुद्रा बाजार की देखभाल तथा नियन्त्रण का कार्य करता है।

भारतीय मुद्रा-बाजार निम्नलिखित से बना है—रिजर्व बैंक (Reserve Bank of India), स्टेट बैंक (State Bank of India) तथा अन्य संयुक्त स्कन्ध बैंक (Joint Stock Banks), सहकारी बैंक, विनिमय बैंक, भूमि-बन्धक बैंक, सरकारी डाकखानों के सेविंग्स बैंक, तथा अन्य पुरानी चाल के महाजन। भारतीय मुद्रा-बाजार के दो निश्चित विभाग हैं। एक तो देशी महाजन हैं, दूसरे आधुनिक वाणिज्य संस्थाएँ हैं।

३ केन्द्रीय बैंक (Central Bank)—देश की आर्थिक स्थिरता को बनाए रखने वाली संस्था केन्द्रीय बैंक है। राष्ट्र की अन्तिम संचित निधि इसी के हाथ में होती है। क्रयशक्ति के प्रवाह का नियन्त्रण भी इसी के हाथ में होता है चाहे वह चलार्थ का रूप हो, चाहे साख का, तथा यह संस्था राज्य के लिए बैंक-सम्बन्धी कार्य सम्पादित करती है।

पिछले वर्षों में केन्द्रीय बैंकों का महत्त्व बहुत बढ़ गया है। इसके कई कारण हैं। विभिन्न देशों के भीतरी तथा उनके आपसी आर्थिक जीवन में अन्योन्याश्रयता की

वृद्धि, मुद्रा प्रवाह के प्रबन्ध तथा नियन्त्रण की अधिकाधिक आवश्यकता, सन् १९१४-१८ के महायुद्ध के पश्चात् मुद्रा-स्फीति तथा विनिमय-विषयक गड़बड़ी, भारी मन्दी का युग तथा उसके परिणाम के रूप में यह जानकारी कि केन्द्रीय बैंकों द्वारा मुद्रा की पूर्ति (supply) को नियन्त्रित करने से, भावों में घट-बढ़ का कुचक्र बहुत कुछ सुधारा जा सकता है; हाल ही में विभिन्न देशों की आर्थिक पद्धतियों में योजनानुसार विकास के क्रम का प्रारम्भ किया जाना—इन्हीं समस्त कारणों के आधार पर एक ऐसी संस्था का महत्व बढ़ गया है, जो उन जटिल तथा विरोधी विषयों को नियन्त्रित करे, उनका प्रबन्ध करे और उनमें सामजस्य स्थापित करे, जो निपय राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक स्थिरता को प्रभावित करते रहे हैं।

रिजर्व बैंक का स्थिति विवरण (Reserve Bank s Balance Sheet)—रिजर्व बैंक आफ इण्डिया (Reserve Bank of India) भारत का केन्द्रीय बैंक है; तथा यह भारतीय मुद्रा-बाजार की आधारशिला है। इसका पाक्षिक स्थिति विवरण प्रकाशित होता है। इंग्लैण्ड में बैंक आफ इंगलैंड (Bank of England) के स्थिति विवरण (balance sheet) को मुद्रा बाजार का मापयन्त्र या स्थिति मान (barometer) माना जाता है। कारण यह है कि लण्डन (London) का मुद्रा बाजार एक सुसम्बद्ध तथा संगठित पद्धति का द्योतक है। भारत में ऐसा नहीं है। अत भारतीय रिजर्व बैंक के स्थिति विवरण को हम भारतीय मुद्रा-बाजार का सच्चा मापयन्त्र या स्थिति मान (barometer) नहीं कह सकते।

रिजर्व बैंक के साप्ताहिक स्थिति विवरण के दो भाग हैं। निर्गम विभाग (issue deptt) से सम्बन्धित स्थिति विवरण, तथा बैंकिंग या अधिकोषण विभाग से सम्बन्धित स्थिति विवरण। पहली मई १९५९ को समाप्त होने वाले सप्ताह का रिजर्व बैंक स्थिति विवरण साथ के पृष्ठ पर दिया गया है।

हम साथ में दिए गए स्थिति विवरणों में से प्रत्येक को समझाने का प्रयत्न करेंगे। पहले निर्गम विभाग (Issue Department) को लें। जितने नोट निकाले जाते हैं, सब निर्गम विभाग के दायित्वों के रूप में होते हैं। जब भी नोटों का रुपया मांगा जाए, तभी नकद देना होगा। चाहे ये नोट जनता में चलते हों, या अधिकोषण विभाग में, इन नोटों के सम्बन्ध में दायित्व निश्चित है। ये विधिमान्य लीगल टेण्डर (legal tender) हैं। बैंक इनका प्रयोग अपने दायित्वों के चुकाने में कर सकता है। परन्तु यही नोट निर्गम विभाग के दायित्व हैं, क्योंकि निर्गम विभाग से किसी समय नोटों के बदले में नकद रुपया देने को कहा जा सकता है।

दायित्व की दृष्टि से जितने नोटों की निकासी है, वह आदेय में दी हुई रक्षित निधि से चुकाई जा सकती है। आस्तियों में दी हुई रक्षित निधि म निम्न लिखित अंग होते हैं —(१) स्वर्ण मुद्रा और बुलियन तथा स्टर्लिंग सिक्योरिटियाँ, तथा (२) मुद्रा (रुपया) तथा रुपये के रूप में सिक्योरिटियाँ। य भारत सरकार की वैसी ही सिक्योरिटियाँ हैं जैसे ब्रिटिश सरकार की स्टर्लिंग सिक्योरिटियाँ या प्रतिभूतियाँ होती है। रिजर्व बैंक अधिनियम सन् १९३४ के अनुसार कम से कम ४० करोड़ रु० का सुरक्षित कोष स्वर्ण मुद्रा तथा बुलियन में अवश्य होना चाहिए।

रिज़र्व बैंक ऑफ इण्डिया—१ मई १९५९ तक के अन्तिम सप्ताह का स्थिति विवरण

निर्गम विभाग

दायित्व		आस्तियाँ	
जारी किए गए नोट (बैंकिंग विभाग में)	रु० २७,५२,८६,०००	(क) सोने का सिक्का तथा बुलियन	
चलन में नोट	रु० १७,५१,१०,७०,०००	(क) भारत में	रु० ११,७,७६,०३,०००
		(ख) भारत से बाहर	रु० १७,८,००,८६,०००
जारी किए हुए नोटों की कुल संख्या	१७ ७८,६३,५६,०००	(क) का योग	रु० २६,५ ७६,६२,०००
		(ख) रु० के सिक्के	रु० १,३२,०५ ८५ ०००
		भारत सरकार की रुपया प्रतिभूतियाँ	रु० १३,५०,८०,७६,०००
		आंतरिक विनिमय पत्र एवं अन्य पत्रादि	
योग का कुल दायित्व	१७ ७८,६३ ५६,०००	कुल योग आस्तियाँ	१७ ७८,६३,५६,०००

बैंकिंग विभाग

दायित्व	रु०	आस्तियाँ	रु०
परिदत्त पूंजी	५ ०० ००,०००	नोट	२७,५२,८६,०००
रिजर्व निधि	८०,००,००,०००	रुपये के सिक्के	६,०८,०००
राष्ट्रीय साख (कृषि सम्बन्धी दीर्घकालीन निधि) व्यवहार	२५,००,०० ०००	सहायक सिक्के	३,८४,०००
राष्ट्रीय साख निधि (कृषि स्थायीकरण निधि)	३,००,०० ०००	खरीदे गए और भुनाए गये बिल	
निक्षेप —		(क) आन्तरिक	
(क) १ केन्द्रीय सरकार	५३,२८ ०१,०००	(ख) बाह्य	
२ अन्य सरकारें	२२,४४ ०५,०००	(ग) सरकारी खजानों के बिल	५,१० २७,०००
(ख) बैंक	८३,७० ४७,०००	विदेशों में लेना बाकी[1]	२५,२१,३०,०००
(ग) अन्य	११८,०५,६८,०००	सरकारों को दी गई उधार रकम तथा अग्रिम[2]	३६,३६,२४,०००
देय पत्र	१५,७०,६६,०००	अन्य उधार तथा अग्रिम[3]	७५ ६६,७७ ०००
अन्य दायित्व	४५,०५,१५,०००	विनियोजन	२६४,६७ ७१,०००
		अन्य आस्तियाँ	१२,६६,२५,०००
कुल योग	४५१ २४ ३२ ०००	कुल योग रु०	४५१ २४ ३२,०००

1. इस में नकद तथा अल्पकालीन सिक्योरिटियाँ शामिल हैं। 2 इस में राज्य सरकारों को दिये गये ओवर ड्राफ्ट (overdrafts) शामिल हैं।

3 इस में रु० १०,४७,०४,००० अनुसूचित बैंकों को दिये गए ऋण शामिल हैं जो सावधि विपत्र की जमानत पर रिजर्व बैंक आफ इण्डिया अधिनियम की धारा १७(४) (c) के अधीन दिये गये थे।

किन्तु १९५६ में उक्त अधिनियम के संशोधन के अनुसार सुरक्षित कोष में ११५ करोड़ रु० होने चाहिएं। प्रस्तुत स्थिति विवरण में रक्षित कोष ११७.७६ करोड़ रु० है। अधिनियम में दूसरा उपबन्ध यह है कि कुल सुरक्षित कोष में कम से कम ४०% स्वर्ण तथा स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ (securities) होनी चाहिएं। १९५७ के एक संशोधन के अनुसार विदेशी प्रतिभूतियों को न्यूनतम २०० करोड़ रु० का कर दिया गया है। किन्तु प्रस्तुत स्थिति विवरण में यह १७८.०० करोड़ रु० से अधिक है। इससे प्रकट होता है कि स्थिति बहुत दृढ़ है।

अधिकोषण विभाग (Banking Department)—अब अधिकोषण विभाग (Banking Department) को लीजिए। दायित्व का सबसे प्रमुख अंश जमा रकम का अंश है। इस रकम में से अधिकतर सार्वजनिक अर्थात् सरकारी जमा रकमें तथा अनुसूचित बैंकों (scheduled banks) की जमा रकम हैं। अन्य जमा रकमें फुटकर हैं, जैसे कर्मचारी-गण के वेतन का अवितरित भाग अथवा अन्य कोई रकम, जिसका जमा-खर्च नहीं हुआ हो, उदाहरणार्थ, स्टेट बैंक की कोई रकम।

अन्य दायित्वों में पूँजी, रक्षित निधि, तथा हानि-लाभ का हिसाब मुख्य है।

आस्तियों में नोट, रुपय तथा अन्य मुद्रा हैं। कटौती लगाए हुए बिलों का अर्थ है वे बिल जिनका मूल्य, बैंक ने अपनी कटौती काट कर, उनके तात्कालिक मूल्य के आधार पर चुका दिया है। जब इन बिलों के भुगतान का समय आएगा, बैंक रुपया ले लेगा। अतः ऐसे बिल बैंक की आस्तियाँ हैं। 'balance held abroad' का अर्थ है वह रकम जो विदेशी बैंकों में जमा है। 'अन्य ऋण तथा अग्रिम धन' (Other Loans and Advances) का अर्थ है अनुसूचित बैंकों को या प्रान्तीय सहकारी बैंकों को दिया गया रुपया। सरकारी प्रतिभूतियाँ तथा खजाने के बिल जो खरीदे गए हैं, 'विनियोग' (investment) हैं। अन्य आदेय अन्य दायित्वों के समानान्तर हैं तथा इसमें मेज, कुर्सी आदि, साज-सामान लेखन सामग्री तथा बैंक की अन्य सम्पत्ति है।

५ केन्द्रीय अधिकोषण के सिद्धान्त (Central Banking Principles)—केन्द्रीय बैंकिंग जिन सिद्धान्तों पर सचालित होती है, वे सामान्य बैंकिंग सिद्धान्तों से बिल्कुल भिन्न हैं। (1) साधारण बैंक लाभ के लिए चलाया जाता है। किन्तु केन्द्रीय बैंक देश की वित्त-विषयक तथा आर्थिक स्थिरता विषयक जिम्मेदारी निभाने के लिए चलाया जाता है। डी कॉक (De Kock) का कथन है कि 'केन्द्रीय बैंक का प्रमुख सिद्धान्त यह है कि उसे सार्वजनिक हित की दृष्टि से तथा समूचे राष्ट्र के हितार्थ कार्य करना चाहिए तथा लाभ को प्रधानता नहीं देनी चाहिए।'[1] लाभ उपार्जन करना तो केन्द्रीय बैंक के लिए गौण विषय है। केन्द्रीय बैंक राज्य की विधि के अन्तर्गत कार्य करता है तथा किसी जोखिम वाले उद्यम में रुपया नहीं लगा सकता।

इस प्रकार केन्द्रीय बैंक लाभ तथा लाभांश के पीछे पड़ने वाली संस्था नहीं है और न अन्य बैंकों से प्रतियोगिता ही करता है। अतः जमा रकम पर ब्याज शायद ही कभी दिया जाए, और न अचल सम्पत्ति की प्रतिभूति पर रुपया ही दिया जाता है। इस बैंक का प्रधान उद्देश्य होता है देश की समस्त बैंकिंग व्यवस्था में लोच

1. De Kock Central Banking.

क्षमता (solvency) बनाए रहना। अत इसको अस्तियाँ अधिक से अधिक नकद (liquid) रूप म रखनी पडती हैं।

(ii) केन्द्रीय बैंक सबसे बडा ऋणदाता है। समस्त बैंक तथा वित्तीय सस्थाएँ आवश्यकता पडने पर कुछ दर पर केन्द्रीय बैंक का सहारा ले सकती हैं। परन्तु केन्द्रीय बैंक नकद रुपया माँग कर अथवा बिलो या प्रतिभूतियो को देकर किसी अन्य सस्था का सहारा नही ले सकता।

(iii) केन्द्रीय बैंक की नीति क्रियात्मक होनी चाहिए। जब देश की साख विषयक व्यवस्था म कही भी कोई गडबडी उत्पन्न हो जाए तो केन्द्रीय बैंक चुप बैठकर तमाशा नही देख सकता। उस स्थिति को सम्भालने के लिए केन्द्रीय बैंक को क्रियाशील होना पडता है। इस अभिप्राय से केन्द्रीय बैंक दो प्रकार की कायवाही कर सकता है—प्रथम, बैंक दर की नीति मे उलट फेर करके, द्वितीय, खुले बाजार म किए गए क्रयो के द्वारा। इन उपायो का कार्यवहन आग समझाया गया है।

(iv) अपने कार्य सचालन के हेतु केन्द्रीय बैंक के पास विशेष साज सामान है (क) केन्द्रीय बैंक को नोट निकालने का एकाधिकार प्राप्त है। (ख) केन्द्रीय बैंक सरकारी बैंक है। (ग) यह अन्य बैंको का भी बैंक है। इस प्रकार की स्थिति होने के कारण केन्द्रीय बैंक मुद्रा तथा साख को नियन्त्रित कर सकता है। सत्य यह है कि बिना मुद्रा और साख पर नियन्त्रण के केन्द्रीय बैंक, केन्द्रीय बैंक ही नही हो सकता।

(v) केन्द्रीय बैंक को किसी राजनीतिक दल के हाथो म न रहना चाहिए। केन्द्रीय बैंक को राजनीतिक प्रभाव से बिलकुल मुक्त रहना चाहिए जिसम सम्पूर्ण राष्ट्र के हित साधन म बिना भय या पक्षपात काय किया जा सके। फिर भी बैंक तथा सरकार के बीच विशेष पारस्परिक सहयोग विद्यमान रहता है।

६ केन्द्रीय बक के काम (Central Banking Functions)—अर्थवेत्ताओ ने इस विषय पर बहुत विचार विमश किया है। कौन से कार्य ऐसे हैं जो केन्द्रीय बैंक के ही विशेषतया, मान जाएँ। एक विद्वान[1] ने हाल ही मे केन्द्रीय बैंक के निम्नलिखित कार्य गिनाए हैं—

(१) कारोबार तथा जनसाधारण की आवश्यकताओ के अनुसार कागजी मुद्रा (नोटो) की निकासी। इसी हेतु केन्द्रीय बैंक को नोट निकालने का एकाधिकार (चाहे कुछ सीमित भले ही हो) प्राप्त रहता है।

(२) राज्य के लिए बैंकिंग सेवाएँ तथा अभिकरण (agency) के रूप म सेवाएँ करना,

(३) व्यापारिक बैंको की नकद रक्षित निधियो की अभिरक्षा (Custody),

(४) राष्ट्र की धातु मुद्रा की अभिरक्षा,

(५) व्यापारिक बैंको, विक्रेताओ तथा अन्य आर्थिक सस्थाओ द्वारा भेजे गए विनिमय बिल (Bills of Exchange), सरकारी बिल, तथा अन्य उपयुक्त कागजो का पुन पूवक्रयण (re-discounting),

(६) अन्तिम आश्रय के रूप म ऋणदाता का दायित्व स्वीकार करना,

1 De Kock—Op cit p 15

(७) बैंकों के बीच जमा खर्च की बाकियों का निपटाना, तथा

(८) साख के नियन्त्रण को कारोबार की आवश्यकताओं के अनुसार, अपने हाथ में रखना, जिससे राज्य द्वारा निर्धारित मुद्रा विषयक मापदण्ड स्थिर बना रहे।

तदनुसार, केन्द्रीय बैंक के कार्य के सिलसिले में उसकी हैसियत निम्नांकित है—

(i) नोट निकालने वाला अभिकरण।

(ii) राज्य के लिए बैंक।

(iii) बैंकों के लिए बैंक।

(iv) साख पर नियन्त्रण द्वारा मुद्रा बाजार का अभिरक्षक।

इन कार्यों का अब हम विस्तृत विवेचन करेंगे।

७ केन्द्रीय बैंक, नोट निकालने वाले अभिकरण के रूप में (The Note-Issuing Agency)—बैंक पद्धति के प्रारम्भिक काल में, लगभग प्रत्येक बैंक को नोट निकालने का अधिकार प्राप्त था। फलस्वरूप, गड़बड़ी उत्पन्न हो जाती थी। अत्यधिक नोटों की निकासी से मुद्रा स्फीति होकर मुद्रा प्रणाली में अव्यवस्था उत्पन्न होती थी, जिसके बुरे आर्थिक परिणाम होते थे। अतः नोट निकालने पर सरकार को कठोर नियन्त्रण करना पड़ा। धीरे धीरे राज्य के प्रधान बैंक—केन्द्रीय बैंक—को यह कार्य-भार सौंपा जाने लगा। अब लगभग प्रत्येक देश में केन्द्रीय बैंक को यह एकाधिकार प्राप्त है।

८ नोटों की निकासी के सिद्धान्त (Principles of Note-Issue)—नोट निकालते समय एक दूसरे के विपरीत दो उद्देश्यों में सामंजस्य स्थापित करना पड़ता है। एक ओर तो नोटों की निकासी लचीली होनी चाहिए। व्यवसाय की आवश्यकतानुसार नोटों का चलन विस्तृत तथा संचित होना चाहिए। दूसरी ओर नोटों का मुद्रा के रूप में रूपान्तर करते रहकर नोटों के प्रति जनता की विश्वास की भावना बनाए रखना चाहिए। प्रथम सिद्धान्त लचीलेपन का है तथा द्वितीय सिद्धान्त सुरक्षा से सम्बन्धित है। इसलिए नोटों की निकासी का उचित नियमन (regulation) आवश्यक है।

चलार्थ सिद्धान्त बनाम अधिकोषण सिद्धान्त (Currency Principle vs Banking Principle)—इंगलैण्ड में सन् १८४४ में बैंक चार्टर एक्ट (Bank Charter Act) पास होते समय इस विषय पर बहुत मतभेद था कि नोटों के चलाने का सही सिद्धान्त क्या है? दो विचार पद्धतियाँ एक दूसरे का विरोध कर रही थीं। एक चलार्थ सिद्धान्त और दूसरी अधिकोषण सिद्धान्त की पक्षपाती थी।

चलार्थ सिद्धान्त के समर्थकों का कहना था कि पूरा अर्थात् शत प्रतिशत मौद्रिक रिजर्व कोष का होना अनिवार्य समझा जाए। प्रत्येक नोट, जो निकाला जाए, उसके बदले की मुद्रा बैंक में रख ली जाए। इस प्रकार नोट को मुद्रा के स्थान पर सुविधाजनक साधन मात्र माना गया था।

इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि इस प्रणाली के अन्तर्गत कागजी मुद्रा पर परिपूर्ण नियन्त्रण हो जाता है। मुद्रा अधिकारी हर समय नोटों के बदले धातु की मुद्रा

दे सकता था। किन्तु इस प्रकार नोटो की निकासी लचीली नही रहती। उतने ही नोट निकाले जा सकते है जितने के सम्बन्ध म नोट निकालने वाला अधिकारी सोना या चादी जमा कर सके।

जो अधिकोषण-सिद्धान्त के पक्ष म थे, उनका कथन था कि नोटो की निकासी को पूर्णतया बैंको के स्वविवेक पर छोड दिया जाए। इस प्रकार वे व्यवसाय की आवश्यकतानुसार नोटो की निकासी को विस्तृत अथवा सकुचित कर सकग।

इस सिद्धान्त के अनुसार नोटो की निकासी लचीली अवश्य हो सकती थी, क्योकि नोटो की निकासी के सम्बन्ध म बैंको को पूरी छूट मिलने को थी। परन्तु नोटो की निकासी की यह पद्धति अरक्षित रही। इगलैड के बैंकिंग इतिहास म ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जब लाभ के लोभ न स्वविवेक को दबा दिया। अनेक बैंक बन्द हो गए, जिनसे वे स्वय तथा उनके अनेक आश्रित नष्ट हो गए। अत अनुभव यह बतलाता है कि साधारण बैंको के हाथ में नोटो की निकासी को छोड देना अच्छा नही।

इस प्रकार मौद्रिक सिद्धान्त म सुरक्षा है परन्तु लचीलेपन की कमी है, तथा बैंकिंग सिद्धान्त मे लचीलापन है परन्तु सुरक्षा की कमी है। नोटो की निकासी की वह पद्धति ठीक होगी जिसम लोच भी हो और सुरक्षा भी हो। अत समस्त देशो म ऐसी पद्धतियाँ विकसित हो चुकी हैं जो इन दोनो सिद्धान्ता की सम्मिश्रण हैं। ये पद्धतियाँ हैं—(क) निश्चित विश्वास निष्ठ पद्धति या आंशिक जमा पद्धति (Fixed Fiduciary System or Partial Deposit System), आनुपातिक रक्षित पद्धति (Proportional Reserve System)।

फ्रास तथा जर्मनी में दूसरी पद्धति अर्थात आनुपातिक आरक्षित या सचिति निधि पद्धति बरती जाती है। फ्रास ३५ प्रतिशत तथा जमनी ४० प्रतिशत रक्षित निधि रखता है। सयुक्त राज्य अमेरिका की फेडरल रिजर्व प्रणाली म भी कुछ रूपान्तर सहित यही पद्धति ग्रहण की गई है। यह प्रणाली ससार के बड भाग म फैल गई है और इसका विशष लक्षण यह है कि नोटों के चलन के निश्चित अनुपात से धातु के रूप म रक्षित निधि बनी रहे यह अनुपात २५ प्रतिशत से ४० प्रतिशत तक हो सकता है, शेष के सम्ब ध म व्यावसायिक बिल तथा सरकारी प्रतिभूतियाँ हो, तथा यह उपब ध (provision) भी हो सकता है कि कुछ शर्तों तथा कुछ निग्रहो (penalties) को मानने हुए रक्षित निधि का अनुपात कानून द्वारा निश्चित न्यूनतम सीमा के नीचे भी गिराया जा सकता है।'[1] आमतौर पर बैंक विधिमान्य न्यूनतम रक्षित निधि से अधिक ही रखते हैं ताकि कानून की गिरफ्त म न आजाएँ। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि केन्द्रीय बैंक केवल जारी किए गए नोटो के एवज म ही रक्षित निधि नही रखता। किसी देश को जितनी अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा की आवश्यकता होती है वह स्वदेश के चलार्थ और साख पर ही निभर नही होती। वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा की आवश्यकता तभी पूरी हो सकती है जब कि जरूरतमन्द देश विदेशी व्यापार सन्तुलन म होने वाले परिवर्तनो को सहन करने की सामर्थ्य रखता

---

1 De Kock.—Opp citd, p 28 29

हो। और जो कुछ आरक्षित या रक्षित निधि के रूप में रखा जाता है, वह विदेशी व्यापार सन्तुलन की सहायता शायद नहीं कर सकता है।

यह द्वितीय पद्धति (आनुपातिक आरक्षित या रक्षित निधि पद्धति), प्रथम अर्थात् आधिक जमा पद्धति (Fixed Fiduciary Principle) से अधिक लचीली है। यदि केन्द्रीय बैंक चालीस रुपये का सोना प्राप्त कर लेता है तो द्वितीय पद्धति के अन्तर्गत एक सौ रुपये के नोट निकाल सकता है। किन्तु प्रथम पद्धति के अन्तर्गत, निश्चित सीमा पर पहुँच जाने के पश्चात्, केवल चालीस रुपये के ही नोट निकाल सकेगा। किन्तु द्वितीय पद्धति के अन्तर्गत सुरक्षा कम होती है।

कुछ लोगों का विचार है कि यदि राज्य की ओर से नोट निकाले जाएँ तो निकासी पर अधिक नियन्त्रण रहता है। रिज़र्व बैंक के यह कार्य-भार सम्भालने के पूर्व भारत में राज्य द्वारा ही नोट निकाले जाते थे। परन्तु आपत्तिकाल में तो नोट अधिक निकल ही जाएँगे, चाहे राज्य ऐसा स्वयं करे या केन्द्रीय बैंक पर अपने प्रभाव द्वारा कराए। सच तो यह है कि इस दृष्टिकोण से केन्द्रीय बैंक द्वारा नोट की निकासी ही कुछ अच्छी रहती है, क्योंकि केन्द्रीय बैंक द्वारा उन सरकारी प्रस्तावों का कुछ विरोध हो सकता है जिनके अनुसार मुद्रा के हेतु सरकार अधिक नोट छपवाना चाहे।

जहाँ तक भारत का प्रश्न है रिज़र्व बैंक को नोट की निकासी का एकाधिकार प्राप्त है। इसी अभिप्राय से रिज़र्व बैंक में एक अलग *निकासी-विभाग* (*Issue Department*) है, जैसा कि कुछ अन्य केन्द्रीय बैंकों जैसे बैंक आफ इंगलैण्ड में भी है। इस विभाग के आदेय (assets) को बैंक के दूसरे विभाग अर्थात् बैंकिंग विभाग के आदेय से अलग दिखाया जाता है।

निकासी विभाग की आस्तियों (assets) में चाँदी, मुद्रा के रूप में रुपया भारतीय सरकार की रुपया के रूप में प्रतिभूतियाँ, सुवर्ण मुद्रा, सोना बुलियन, स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ होती हैं। सुवर्ण मुद्रा तथा सोना चालीस करोड़ रुपये से मूल्य में किसी समय कम नहीं होता, तथा सोना तथा स्टर्लिंग प्रतिभूतियों को सम्पूर्ण रक्षित निधि चालीस प्रतिशत होना अनिवार्य है। केन्द्रीय सरकार की स्वीकृति लेकर चालीस प्रतिशत की सीमा को सीमित काल के लिये, विशिष्ट कर देकर, घटाया जा सकता है। इस प्रकार भारत में जो प्रणाली प्रयुक्त है वह उल्लिखित दोनों पद्धतियों का सामंजस्य है।

१० केन्द्रीय बैंक, राज्य के आधिकोषिक या बैंकर के रूप में (Banker of the State)—केन्द्रीय बैंक का दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य सरकार के लिए आधिकोषिक (*banker*) *के रूप में कार्य करना है।* देश की सरकार के समस्त शेष रोकड़ केन्द्रीय बैंक में रखे जाते हैं। केन्द्रीय बैंक साधारणतया इन पर कोई ब्याज नहीं देता। किन्तु केन्द्रीय बैंक सरकार की कुछ सेवाएँ कर देता है। सामान्यतः केन्द्रीय बैंक सरकार के वित्तीय अभिकर्त्ता के रूप में कार्य करता है। तथा सरकार को मुद्रा, विनिमय तथा वित्त-विषयक परामर्श देता है।

केन्द्रीय बैंक का राज्य से सम्बन्धित एक महत्त्वपूर्ण कार्य थोड़े समय के लिए ऋण देना होता है। केन्द्रीय बैंक सरकारी खजाने के बिलों को, जो चाहे सीधे आए हों या अन्य बैंकों द्वारा आए हों, कटौती पर ले लेता है। यह इसलिए किया जाता

है, जिसमें प्राप्त होने वाली आय के आधार पर, वह अपने चालू आर्थिक दायित्वों के भार से मुक्त हो सके। युद्ध-सरीखे आपत्तिकाल में सरकार को इस प्रकार दिए गए ऋण के फलस्वरूप बहुत अधिक मुद्रा स्फीति हो सकती है।

जब केन्द्रीय बैंक खजाने के बिलो अथवा अन्य सरकारी प्रतिभूतियो के बदले में सरकार को अग्रिम धन (advances) देता है, तब सरकार द्वारा खर्च किया हुआ रुपया जिन लोगो को प्राप्त होता है, वह उसे पुन व्यावसायिक बैंको के पास जमा करा देते हैं। तदनुसार व्यावसायिक बैंको की केन्द्रीय बैंक मे जो रकम जमा होती है, वह बढती है। यह जमा रकम, नकदी के समान ही समझी जाती है। और इस जमा रकम के आधार पर व्यावसायिक बैंक अपना ऋण तथा अग्रिम धन बढा लेता है। इस प्रकार मुद्रा स्फीति का प्रारम्भ होता है। अत यह आवश्यक है कि केन्द्रीय बैंक राज्य से अलग रहे जिसम खतरे के समय धन की मांग के रूप मे सरकारी दबाव का बैंक द्वारा विरोध हो सके।

रिजर्व बैंक आफ इण्डिया (Reserve Bank of India) राज्य का आधिकोषिक या बैंकर (Banker) बन कर कई कार्य करता है। यह केन्द्रीय सरकार का तथा राज्यो की सरकारो का रुपया लेता है। उनकी जमा रकम की सीमा के अन्दर भुगतान करता है, उनका विनिमय तथा अन्य बैंक-विषयक कार्य जिनमे सार्वजनिक ऋण का प्रबन्ध भी शामिल है, सचालित करता है।

राज्य को दिए गए अग्रिम धन के सम्बन्ध में रिज़र्व बैंक पर कोई रोक नहीं है, परन्तु यह अग्रिम धन, दिए जाने के तीन मास के अन्दर अवश्य वापस आ जाना चाहिए। बैंक किसी भी देश की सरकारी प्रतिभूतियां खरीद सकता है, किन्तु प्रतिबन्ध यह है कि महाजनी विभाग मे जितनी रकम की ऐसी प्रतिभूतियां हो, वह रकम भी बैंक की शेयर-पूंजी, रक्षित निधि तथा महाजनी विभाग के जमा सम्बन्धी दायित्वो के ⅗ भाग के योग से अधिक न हो, साथ साथ यह भी प्रतिबन्ध है कि वे प्रतिभूतियां, जो एक वर्ष में अथवा दस वर्ष म पूरी होने वाली हो, एक निश्चित सीमा के बाहर न जाएं।

११ केन्द्रीय बंक बैंकों के लिए बंक के रूप में (The Bankers' Bank)— केन्द्रीय बैंक महाजनो या अन्य बैंको के लिए बैंक के रूप म तीन हैसियतो से कार्य करता है। (1) व्यावसायिक बैंको की नक्द रक्षित निधि के अभिरक्षक की हैसियत से, (ii) ऋण देने के लिए अन्तिम आश्रय की हैसियत से, (iii) केन्द्रीय जमा खर्च, निपटारो तथा हस्तान्तरणो के लिए बैंक की हैसियत से।

(i) व्यावसायिक बैंको द्वारा केन्द्रीय बैंक में अपनी नक्द रक्षित निधि जमा कराने की आदत का धीरे-धीरे विकास हुआ तथा इस आदत का केन्द्रीय बैंक के (सरकारी बैंक तथा नोट निकालने वाले बैंक के रूप मे) कर्तव्यपालन से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। केन्द्रीय बैंक के पास रक्षित निधि रखने मे सुविधा होने का कारण यह था कि केन्द्रीय बैंको के नोटो पर सबसे अधिक विश्वास किया जाता था, तथा सरकारी बैंकिंग कार्य केन्द्रीय बैंक के द्वारा हुआ करते थे। पहले तो केन्द्रीय बैंक के

पास नकद रुपया रखना (या नहीं रखना) अन्य बैंकों की इच्छा पर निर्भर था। परन्तु बाद में अधिकतर देशों में यह एक कानूनी पाबन्दी कर दी गई।

(ii) केन्द्रीय बैंक व्यावसायिक बैंकों के लिए ऋण-विषयक अन्तिम आश्रय है। जब व्यावसायिक बैंक अपने साधनों को समाप्त कर चुकते हैं तथा बाहरी साधनों से धन नहीं प्राप्त कर पाते तब केन्द्रीय बैंक का आश्रय ग्रहण करते हैं। केन्द्रीय बैंक पुन पूर्व प्रापण सम्बन्धी कृत्यों (re discounting operations) के द्वारा यह कार्य सम्पन्न करता है।

सकुचित अर्थों में, केवल प्रथम श्रेणी के व्यावसायिक तथा कृषि-सम्बन्धी बिलों का पुन पूर्व प्रापण (rediscounting) किया जाता है। अर्थात् वे बिल, जो ऐसे व्यावसायिक बैंकों, बिलों का लेन देन करने वालों, या दलालों द्वारा केन्द्रीय बैंक के पास लाए जाते हैं जिनको नकद रुपए की तात्कालिक आवश्यकता होती है और अपनी किन्हीं अल्पकालीन आस्तियों को नकद के रूप म परिणत करना चाहते हैं। विस्तृत अर्थों में जो कि अधिकतर देशों में मान्य है, पुन कटौती करना या पुन पूर्व प्रापण "व्यावसायिक बैंकों की साख को केन्द्रीय बैंक की अतिरिक्त साख म परिणत करना है, चाहे ऐसा कार्य सीधा किया जाए या अप्रत्यक्ष रूप म' किया जाए (डी० काक)।[1] इस प्रकार पुन कटौती या पुन पूर्व प्रापण खजाने के बिलों तथा बैंकों या अन्य वित्तीय सस्थाओं को दिए गए उन थोड़ी कालावधि वाले ऋणों पर भी लागू होता है जो केन्द्रीय बैंक द्वारा बिलों, प्रामिसरी नोटों तथा सरकारी प्रतिभूतियों के सम्बन्ध में दिए जाते हैं।

(iii) केन्द्रीय समाशोधन या जमा-खर्च (Clearing) का कार्य सभी केन्द्रीय बैंक करते हैं। कुछ देशों म तो यह परम्परा अथवा सुविधा मात्र है अन्य देशों में यह कानूनी पाबन्दी है। जबकि केन्द्रीय बैंक व्यावसायिक बैंकों की नकद रक्षित निधि के अभिरक्षक हैं, तो उनकी इस स्थिति का उपर्युक्त फल होना तर्कसगत है। जबकि अन्य बैंक, केन्द्रीय बैंक के पास नकद रक्षित निधि रखते हैं तो केन्द्रीय बैंक के खातों में जमा या नाम करा कर उनके आपसी निपटारे सुविधापूर्वक हो सकते हैं। कई देशों म तो बैंकों की आपसी तथा केन्द्रीय बैंक से सम्बन्धित दायित्वों का निपटारा करने के लिए अलग समाशोधन केन्द्र या जमा-खर्च के केन्द्र (clearing houses) होते हैं। इन देशों में, जो कुछ अन्त में शेष निकलता है, वह बिना नकदी दिए व्यावसायिक बैंकों तथा केन्द्रीय बैंक के खातों म जमा-खर्च मात्र से ही दिया-लिया जा सकता है। जमा-खर्च या समाशोधन के फलस्वरूप किसी बैंक की केन्द्रीय बैंक के पास जमा निश्चित सीमा के नीचे भी गिर सकती है। ऐसी दशा म वह बैंक कुछ दिन के लिए पुन पूर्व प्रापण कटौती के आधार का सहारा ले सकता है, जब तक कि रोकड शेष की कमी पूरी न हो जाए।

१२ साख का नियन्त्रण (Control of Credit)—नियन्त्रण के उद्देश्य (The Objectives)—केन्द्रीय बैंक निम्नलिखित उद्देश्यों को लेकर साख का नियन्त्रण करता है—

1 De Kock—pp cıtd Op 106

(क) स्वर्ण के रूप मे रहने वाले, रक्षित कोष को घटाने वाले भीतरी तथा बाहरी दबावो से उक्त निधि का बचाव;

(ख) भीतरी कीमतो पर स्थायित्व बनाए रहना,

(ग) *विदेशी विनिमय का स्थायित्व प्राप्त करना, तथा*

(घ) उत्पादन तथा रोजगार में घट बढ (fluctuations) को दूर करना तथा दोनो के बीच सामञ्जस्य स्थापित करना। स्वण मान की रक्षा के हेतु स्वर्ण निधि के बचाव की आवश्यकता उत्पन्न होती है। स्वर्ण मान देश (gold standard country) में सोने का स्वतन्त्रतापूर्वक आयात तथा निर्यात हो सकता है। तथा ऐसे देश की मुद्रा को कानून के अनुसार स्वर्ण बुलियन या स्वर्ण मुद्रा के रूप म रूपान्तरित किया जा सकता है। ऐसे देश म साख के अत्यधिक विस्तार से मुद्रा स्फीति हो जाती है। जब देश के अन्दर कीमतें बढ जाती हैं तब पहले तो बैंको से अधिक नकदी निकाली जाती है तथा केन्द्रीय बैंक से अधिक सोना निकाला जाता है, जिसम उच्च-स्तर के सौदे निपट सकें। यह "निधि घटाने वाला भीतरी दबाव (internal drain)" कहलाता है। दूसरी बात यह है कि जब अन्तर्राष्ट्रीय कीमतो से देश के अन्दर कीमतें अधिक होती हैं तब आयात को प्रोत्साहन मिलता है तथा निर्यात कम हो जाता है। फलस्वरूप व्यापार का सन्तुलन बिगड जाने के कारण सोने का निर्यात करना पडता है। इसको "निधि घटाने वाला बाहरी दबाव (external drain)" कहते हैं। यदि विदेशी पूंजी लगाने वालो का मुद्रा के भविष्य म विश्वास उठ जाए और वे अपनी जमा वापस लेने लगें तो भी सोना बाहर जाने लगेगा। इन दशाओ में केन्द्रीय बैंक साख के विस्तार को सकुचित करेगा, कीमतो को गिराएगा, तथा स्वर्ण निधि घटाने वाले भीतरी तथा बाहरी दबावो को बन्द करेगा।

दूसरा उद्देश्य *आन्तरिक कीमतो म स्थायित्व बनाए रखना है।* कीमतो की घट-बढ से होने वाली विभिन्न हानियो का हम पहले उल्लेख कर चुके हैं। कीमतो मे स्थिरता न रहने से आर्थिक सम्बन्धो मे गडबडी, विषमताएँ तथा बुरे सामाजिक फल होते हैं। केन्द्रीय बैंक लोगों की आवश्यकतानुसार क्रय शक्ति की पूर्ति वा नियन्त्रण करके कीमतो की अत्यधिक घटबढ को बहुत कुछ कम कर सकता है।

विदेशी विनिमय (अर्थात् विदेशी मुद्रा का देश की मुद्रा म मूल्य) म अस्थिरता से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार म गडबडी उत्पन्न होती है।

इस विषय पर मतभेद रहा है कि *भीतरी कीमतो म स्थिरता या विनिमय* की स्थिरता—इन दो उद्देश्यों म से कौन सा उद्देश्य लेकर केन्द्रीय बैंक को चलना चाहिए, जब कि अवसर ऐसा हो कि दोनों उद्देश्य एक साथ नही प्राप्त किए जा सकते हो। यदि समस्त सम्बन्धित देश स्वर्ण मान पर आरूढ हैं, तो भीतरी कीमतो के नियन्त्रण का फल अपने आप यह होगा कि विनिमय सकुचित सीमा के अन्दर रहता हुआ स्थिर हो जाएगा।[1] अत सन् १६१४ के महायुद्ध तक कीमत स्तर म विशेष गडबडी उत्पन्न किए बिना ही, विभिन्न देश विनिमय को स्थिर बनाए रखते थे।

किन्तु जिन दिनो में कागजी मुद्रा का रूपान्तर एक देश से दूसरे देश के बीच

1. See 'Specie Points'

नही हो सका, उन दिनों में विभिन्न देशो की कीमतें अलग अलग मार्गों पर चल पड़ी और फलस्वरूप एक देश तथा दूसरे देश के बीच की कीमतों के स्तर में खाई पैदा हो गई। ऐसी परिस्थितियों मे, विनिमय की स्थिरता चाहने वाले देश को अपने देश में कीमतों के स्तर म घट-बढ को विदेशी कीमतो के अनुरूप ही रखना पड़ा। ऐसा करने से उस देश की भीतरी आर्थिक व्यवस्था म बहुत उथल पुथल हुई। अत आधुनिक काल म केन्द्रीय बैंको ने भीतरी कीमतों की स्थिरता पर अधिक ध्यान दिया है, तथा विदेशी विनिमय को अपने आपको परिस्थितियों के अनुकूल बना लेने के लिए छोड दिया है।

हाल ही के एक नए दृष्टिकोण के अनुसार विदेशी विनिमय की स्थिरता तथा भीतरी कीमतो की स्थिरता इन दोनो उद्देश्यों की आवश्यकता नही है। विश्वव्यापी मन्दी के दिनों के अनुभवों के आधार पर इस दृष्टिकोण ने जन्म लिया है। इस दृष्टिकोण के समर्थको का कहना है कि केन्द्रीय बैंक का उद्देश्य यही होना चाहिए कि व्यापारिक चक्र का मार्ग सुगम करे जो कीमतो के उतार-चढाव पर आश्रित नही है। इसम सन्देह नही है कि आन्तरिक कीमतो मे भी स्थायित्व होना चाहिए और विदेशी विनिमय की स्थिति भी अनुकूल होनी चाहिए, फिर भी देश की आन्तरिक कीमतो का स्थायित्व नितान्त आवश्यक है। सत्य यह है कि विदेशी विनिमय और आन्तरिक कीमतो का स्थायित्व दोनो ही की देश की आर्थिक व्यवस्था को दृढ बनाने में नितान्त आवश्यकता है। उद्देश्य यह होना चाहिए कि व्यापार उचित रूप से चलता रहे और उसम ज्यादा मन्दी-तेजी (booms and slumps) न आए।

१३ साख के नियन्त्रण में कठिनाइयाँ (Difficulties of Credit Control)—यदि केन्द्रीय बैंक उपर्युक्त उद्देश्यों में से एक या अधिक को प्राप्त करना चाहे तो भी इस मार्ग मे भारी कठिनाइयाँ है। प्रथम, साख का नियन्त्रण करने में तो कठिनाइयाँ हैं ही, द्वितीय, यदि साख को नियन्त्रण कर भी लिया जाए तो भी यह आवश्यक नही है कि उद्देश्य प्राप्त हो जाएँगे। साख के नियन्त्रण म कठिनाइयाँ निम्नलिखित हैं —

(१) बैंक-साख ही साख का एकमात्र रूप नही है। अन्य प्रकार की व्यावसायिक साख जैसे विनिमय-पत्र, ऐसे प्रामिसरी नोट जिनकी बैंको द्वारा कटौती नही हुई है, खाता बाकी आदि होते हैं, जिन पर केन्द्रीय बैंक का नियन्त्रण नही के बराबर है।

(२) बैंक साख के मामले म भी समस्त बैंको का केन्द्रीय बैंक से सीधा सम्बन्ध नही होता। उदाहरणार्थ, सयुक्त राज्य मे व्यावसायिक बैंको मे से जिनके साधन सम्पूर्ण साधनो का पाँचवाँ अश हैं, फेडरल रिजर्व प्रणाली (Federal Reserve System) के बाहर हैं। भारत म तो पुराने ढग के महाजन, जो भारत के कुल महाजनी कारोबार का ८० प्रतिशत कारोबार करते है, अब भी रिज़र्व बैंक के प्रभाव-क्षेत्र के बाहर हैं।

(३) यदि समस्त बैंक "सदस्य बैंक" बन जाएँ, तो भी व्यावसायिक बैंको के सदा सहयोग नही देने पर तथा निश्चित मार्ग पर न चलने पर वही प्रश्न शेष रह

जाता है। बिना इस प्रकार के सहयोग के साख का नियन्त्रण हो ही नही सकता।

(४) देश के आर्थिक ढांचे मे बैंको के अतिरिक्त अन्य तत्त्व भी हैं। अर्थात् वे परिस्थितियाँ, जो व्यापारी वर्ग के रुख को प्रभावित करती रहती हैं, केन्द्रीय बैंक के कार्य-क्षेत्र के परे हैं।

(५) साख का प्रयोग क्योंकर और कैसे किया जाएगा, इस पर केन्द्रीय बैंक को नियन्त्रण नहीं प्राप्त हो सकता है। उदाहरणार्थ, पूर्ण व्यावसायिक ऋणों का प्रयोग सट्टे मे किया जा सकता है।

किन्तु इसका यह अर्थ भी नहीं है कि केन्द्रीय बैंक द्वारा किए गए साख को नियन्त्रित करने के प्रयत्न का असफल होना अवश्यम्भावी है। ऊपर तो केन्द्रीय बैंक के कार्यक्षेत्र की सीमाएँ दी हुई हैं। बैंक के अधिकारियों को इनका ध्यान रखना पडेगा।

यदि बैंक साख को नियन्त्रित कर भी लें, तो भी इसका यह अर्थ नहीं कि कीमतो मे स्थिरता, विनिमय स्थिरता आदि अपने आप आ जाएगी। इसमे भी कठिनाइयाँ उपस्थित होती है जिनका हम अन्यत्र जिक्र कर चुके हैं।

अब हम साख के नियन्त्रण की प्रणालियो पर विचार करेंगे—ये हैं. (i) बैंक-दर की नीति (ii) खुले बाजार के कृत्य (iii) साख की राशनिंग, (iv) अन्य प्रणालियाँ।

१४. बैंक-दर की नीति (The Bank-Rate Policy)—बैंक-दर वह दर है जिस पर किसी देश का केन्द्रीय बैंक प्रथम श्रेणी के बिलों की कटौती करने को प्रस्तुत रहे। अत. यह दर केन्द्रीय बैंक की कसौटी की दर है। बाजार रेट या कटौती की दर वह दर है, जो मुद्रा बाजार मे अन्य ऋण देने वाली सस्थाओ मे प्रचलित हो। केन्द्रीय बैंक अन्तिम आश्रय के रूप में ऋण देने वाला बैंक होता है, अतः बैंक की दर, बाजार की दर से ऊँची होती है। 'ब्याज की दर'—ये शब्द अधिकतर लम्बी अवधि के लिए लगाए गए धन पर लागू होते हैं। व्यापारिक बैंक अपने उन ग्राहकों को, जो उसके पास अपनी पूँजी लम्बे समय के लिए निक्षेप रूप में रखते है, जो कुछ ब्याज देते हैं, उसे ब्याज की दर कहते हैं। 'अल्पकालीन दर' (call rate) ब्याज की उस दर को कहते हैं जो बिलो के दलालो को थोडे समय के लिए अग्रिम देने के लिए की जाती है। पूणतया विकसित मुद्रा बाजार म इन समस्त दरों का एक दूसरे से निरन्तर सम्बन्ध बना रहता है। उदाहरणार्थ, प्रथम महायुद्ध के पूर्व इंग्लैण्ड में बैंक अपनी 'अल्पकालीन दर' को अधिकतर बैंक दर से लगभग १॥ प्रतिशत नीचा रखा करते थे तथा बिलो के दलालो आदि को बहुत छोटी अवधि के लिए दी गई रकमों के लिए साधारणतया जमा कराने की दर से ½ प्रतिशत ऊँची दर रखी जाती थी, जिसमें बैंक को लेन देन में मुनाफा रहे। ग्राहको से अग्रिम धन में बैंक-रेट से लगभग एक प्रतिशत अधिक लिया जाता था, किन्तु पाँच प्रतिशत न्यूनतम दर थी। कटौती की बैंक-दर तथा बाजारू दर का सम्बन्ध मुद्रा-बाजार की परिस्थितियों पर निर्भर रहता था।

बैंक-दर की नीति का सिद्धान्त (The Theory of Bank-rate Policy)—

इस सिद्धान्त के अनुसार केन्द्रीय बैंक की बैंक दर मे परिवर्तन करने पर समस्त स्थानीय दरो मे परिवर्तन आ जाता है। यदि बैंक रेट बढाया जाता है, तो बाजारू दर तथा मुद्रा-बाजार की अन्य ऋण देने की दरें बढ जाती हैं, तथा जब केन्द्रीय बैंक अपना बैंक-रेट घटा देता है तब कटौती की बाजारू-दर तथा अन्य दरें भी गिर जाती हैं। इन परिवर्तनो का प्रभाव मुद्रा की माँग तथा पूर्ति पर पडता है। जब दरें घट जाती हैं, ऋण लेना बढ जाता है।

स्वर्णमान के बक दर की नीति (Bank-Rate Policy under Gold Standard)—इस नीति का सिद्धान्त स्वर्ण मान के विशेषतया अनुकूल है। अत ब्रिटेन म १९१४ के पूर्व इसने बहुत सफलतापूवक कार्य किया। स्वर्ण मान (gold standard) के अन्तर्गत व्यापार का असन्तुलन तब होता है जब विनिमय की गति उस स्थल पर पहुँच जाती है जहाँ कि सोने का निर्यात सीमा पार हो जाए तथा सोना बाहर जाने लगे। ऐसा होने का कारण या तो पूँजी का अत्यधिक निर्यात होता है या तैयार माल का अत्यधिक आयात होता है। इसके विपरीत जब भुगतान शेष (balance of payment)[1] पक्ष म हो जाता है तब सोने का प्रवाह भीतर की ओर हो जाता है।

सोने का प्रवाह बाहर की ओर होने का कारण यह हो सकता है कि उत्पादन की घरेलू लागत अधिक हो, जिसके फलस्वरूप निर्यात हतोत्साहित हो जाए और आयात प्रोत्साहित हो जाए, या अपने देश की मुद्रा पर अविश्वास होने के कारण, विदेशो में पूँजी अधिक लगा दी जाए या सट्टे का प्रभाव काम कर रहा हो या अन्य कारण भी हो सकते हैं।

ऐसी परिस्थितियो मे बैंक-रेट बढाने का फल हुआ—साख का सकुचन। वस्तुओ तथा प्रतिभूतियो का विक्रय बढ गया, क्योंकि ब्याज की दर ऊँची होने के कारण उनको पडी रहने म लागत अधिक हो गई, विभिन्न वर्गों की आय घट जाने के कारण घरेलू माँग कम हो गई, सट्टा तथा नये काम मे पूँजी लगाना कम हो गया, कीमतें और मजदूरी कम हो गई। अत फल यह हुआ कि निर्यात बढने लगा, विदेशी पूँजी जो लगी हुई थी उसका वापस जाना कम होने लगा आदि। इस प्रकार समयानुसार सन्तुलन पुन स्थापित हो गया। सोने का बाहर जाना बन्द हो गया। यदि इस नीति को काफी दिन तक बरता जाए तो सोना देश में आने लगेगा, साख का तनाव (credit stringency) कम हो जाएगा, मुद्रा की दरें गिर जाएँगी तथा कारोबार पुन जोर पकडेगा।

इस प्रकार बैंक दर के ऊँचा करने के दो प्रभाव होते हैं (i) तात्कालिक (immediate) तथा (ii) अन्त्य (ultimate)। तात्कालिक फल तो यह होता है कि बिलो की कटौती मँहगी हो जाने के कारण ऋण लेना कम हो जाता है। मुद्रा बैंको के बाहर नही जा पाती। यही नही, बाहर की निधि भी आने लगती है, क्योंकि बैंक रेट के बढने पर महाजनो की रुपया जमा करने की दर भी बढ जाती है। अन्त्य फल यह होता है कि साख और मुद्रा के सकुचन के फलस्वरूप कीमतें गिर जाती हैं।

1 For Balance of Payment, see Ch XXXIX

निर्यात बढ जाते हैं और आयात कम हो जाता है। व्यापार सतुलन पक्ष मे होने लग जाता है और स्वर्ण देश म आने लगता है। इस प्रकार बैंक दर को बढाने का उद्देश्य पूरा हो जाता है। अर्थात देश से सोने के निर्यात का दबाव कम हो जाता है और बदले म सोना देश म विदेशो से आने लगता है।

इसके विपरीत यदि सोना लगातार आता रहता है तो केन्द्रीय बैंक रेट को नीचे गिराता है। इससे मुद्रा का मूल्य कम हो जाता है साख व्यापार उत्पादन रुपया लगाना तथा सट्टा य सब प्रो साहित होते ह घरेलू द म लागत बढ जाती हैं। आयात प्रोत्साहित होता है तथा निर्यात हतोत्साहित होता है। विदेशो म रुपया लगान को प्रोत्साहन मिलता है। यदि लम्बी अवधि तक यही नीति बरती जाती रहे तो भुगतान म असतुलन पैदा हो जाएगा और सोन का प्रवाह देश के अन्दर की ओर न रह कर बाहर की ओर हो जाएगा।

बैंक दर नीति की सीमाएँ (Limiting Conditions of Bank Rate Policy)—विचार करन पर यह स्पष्ट हो जाएगा कि बैंक-दर नीति की सफल क्रियान्विति के लिए कई शर्तो का पालन आवश्यक हो जाता है—

(i) अ य सब दरो की गति को बैंक दर की गति का अनुगामी होना चाहिए जिसम यथासम्भव एव यथा अवसर साख विस्तत तथा सकुचित होती रहे।

(ii) देश का आर्थिक ढाँचा लचीला होना चाहिए जिसम साख विषयक परिवतन के फलस्वरूप मजदूरी लगान उत्पादन आदि म भी तदनुसार परिवतन हो जाए।

ब्रिटेन के से सगठित मुद्रा बाजार म प्रथम शत परिपूर्ण होती है।

ब्रिटेन म ऐसी परिपाटी हो गई है कि अन्य सब दरो का सम्बन्ध बैंक दर से एक सा ही चलता रहता है। कभी कभी जब मुद्रा बाजार म आवश्यकता से अधिक निधि सचित हो जाती है तब ऐसा भी हो सकता है कि बैंक दर भले ही प्रभावशाली न रहे और अन्य माग ग्रहण करना पडे। बहुत से अन्य देशो म यह शत भी पूर्ण नही होती। अत वहाँ बैंक दर नीति का बहुत कम प्रभाव होता है।

दूसरी शत के सम्बन्ध म भी ब्रिटेन की स्थिति विशषतया सन् १९१४ के युद्ध के पूर्व बहुत अच्छी थी। आर्थिक ढाचा बहुत लचीला था। मुद्रा की दरो तथा साख की परिस्थितियो मे परिवतन के अनुसार मजदूरी लगान और उत्पादन म बहुत कुछ परिवतन हो जाया करता था। कुछ समय पश्चात ब्रिटेन के आर्थिक ढाचे का लचीलापन जाता रहा। इसके कई कारण थ जिनम स्वर्णमान का टूट जाना मुद्रा का नवीन प्रबन्ध के अन्तगत आ जाना तथा मजदूरी तथा कीमतो का नियमन प्रधान थ। अन्य देशो म बैंक दर नीति को बहुत कम सफलता मिली क्योंकि उपर्युक्त दोनो शर्तें विद्यमान नही थी।

बैंक दर नीति के सम्बन्ध म कीन्स का दृष्टिकोण (Keynes View of Bank Rate Policy)—स्वर्गीय लार्ड कीन्स (Lord Keynes) के मतानुसार बैंक दर के पुराने सिद्धान्त इस बात पर बहुत जोर देते थ कि बैंक दर बैंक की पूजी की मात्रा का नियमन करने का तथा देश की स्वर्ण निधि के रक्षण का साधन है। उन सिद्धान्तो

में इस बात पर ध्यान नहीं दिया जाता था कि बचत को दृष्टिगत रखते हुए, रुपया लगाने की दर पर बैंक-रेट का क्या प्रभाव पड़ता है। रुपया लगाने तथा बचत—इन दोनों के सम्बन्ध में परिवर्तन का कीमतों, उत्पादन, काम धंधे तथा मजदूरी पर क्या प्रभाव पड़ता है।

कीन्स (Keynes) ने हाट्रे (Hawtrey) की आलोचना की है। हाट्रे ने रुपया लगाए जाने के विषय पर जोर दिया था किन्तु "केवल एक प्रकार से रुपया लगाए जाने पर (अर्थात् विक्रेताओं और दलालों द्वारा तरल वस्तुओं में रुपया लगाया जाना) बैंक दर में परिवर्तन का प्रभाव बतलाया जाता है, जिसका वास्तव में अस्तित्व नहीं है।"[1] कीन्स के मतानुसार अल्पकालीन ब्याज की दर में तथा चालू पूंजी वाली वस्तुओं के स्टाक में परिवर्तन द्वारा आर्थिक स्थिति को प्रभावित नहीं किया जा सकता, वरन् दीर्घकालीन ब्याज की दरों तथा निश्चित पूँजी वाले माल द्वारा उसे प्रभावित किया जा सकता है। बैंक दर में परिवर्तन का प्रभाव न केवल अल्पकालीन ब्याज की दरों पर पड़ता है, वरन् दीर्घकालीन दरों पर भी पड़ता है क्योंकि दोनों एक दूसरे से परस्पर सम्बन्धित हैं। दीर्घकालीन दरों में परिवर्तन का प्रभाव रुपया लगाने वालों पर पड़ता है। रुपया लगाना दीर्घकालीन ब्याज तथा लाभ की गुंजाइश पर निर्भर है। यदि यह मान लिया जाए कि लाभ की गुंजाइश उतनी ही रहेगी तो दीर्घकालीन दर जितनी ऊंची होगी, रुपया लगाना उतना ही कम आकर्षक।

अपनी हाल ही की कृति[2] में कीन्स (Keynes) ने सामान्य आर्थिक स्थिरता के लिए बचत तथा रुपया लगाए जाने—इन दोनों में सन्तुलन बनाए रखने के महत्त्व पर और अधिक जोर दिया है किन्तु उसके मतानुसार खुले बाजार में सचालन (operation) द्वारा मुद्रा की मात्रा के नियमन को छोड़ते हुए, इस प्रकार की साम्यावस्था (equilibrium) बैंक-दर नीति द्वारा नहीं वरन् राज्य द्वारा, राज्य की ओर से रुपया लगाया जाना सगठित करके तथा मन्दी के काल में सार्वजनिक कार्य प्रारम्भ करवा कर किया जाना चाहिए। कीन्स (Keynes) का कथन है कि बैंक-दर नीति साख के नियन्त्रण की ऐसी रीति है, जो अब पुरानी हो चुकी है।

१६. खुले बाजार के कृत्य—सिद्धान्त (Open-Market Operations—The Theory)—विस्तृत अर्थों में, खुले बाजार के कृत्यों का अर्थ है—केन्द्रीय बैंक द्वारा ऐसे किसी कागज की खरीद या बिक्री, जिसका केन्द्रीय बैंक आदान-प्रदान करता है; जैसे सरकारी प्रतिभूतियाँ, या अन्य सार्वजनिक प्रतिभूतियाँ या व्यापारिक हुंडियाँ आदि, किन्तु इस पद का प्रयोग सरकारी प्रतिभूतियों की खरीद या बिक्री के सम्बन्ध में होता है। यह खरीद या बिक्री केन्द्रीय बैंक की ओर से, जानबूझ कर बरती जाने वाली साख नीति के रूप में की जाती है। गत बीस या तीस वर्षों में साख के नियन्त्रण की इस रीति का महत्त्व बहुत अधिक हो गया है।

खुले बाजार के कृत्य सचालन का सिद्धान्त यह है—प्रतिभूतियों के विक्रय के फलस्वरूप साख संकुचित होती है, तथा क्रय के फलस्वरूप साख का विस्तार।

1 Keynes, A Treatise on Money, Vol I, p 193
2 General Theory of Employment, Interest and Money, p 164

जब केन्द्रीय बैंक खुले बाजार मे प्रतिभूतियाँ बेचता है, उसको बदले में किसी व्यावसायिक बैंक का चैक मिलता है। यदि खरीदार (क्रेता) कोई बैंक है तो उसी बैंक पर ही चैक काटा जाता है। दोनो स्थितियो मे फल एक ही होता है। सम्बन्धित बैंक की वह रोकड बाकी, जो केन्द्रीय बैंक के पास रहती है, कम हो जाती है। रोकड घटने से बैंक को ऋण घटाना पड़ता है। इस प्रकार साख का सकुचन होता है। जब केन्द्रीय बैंक, प्रतिभूतियां खरीदता है तो अपने आप पर ही चैक काट कर अदायगी करता है। इससे व्यावसायिक बैंको की रोकड बाकी बच जाती है और वे साख का विस्तार कर सकते हैं। "विधिग्राह्य मुद्रा (legal tender money) का ध्यान रखो और साख स्वय अपना ध्यान रखेगी" यही सूत्र है।

सिद्धान्त की सीमाएँ (Limitations of the Theory)—यह स्पष्ट है कि यह सिद्धान्त तभी काम करेगा जब कुछ शर्तें पूर्ण हो। ये शर्तें निम्नलिखित हैं—

(i) जब केन्द्रीय बैंक प्रतिभूतियो की खरीद करता है, तब सदस्य बैंको की नकद निधि बढ जाती है, तथा जब केन्द्रीय बैंक प्रतिभूतियाँ बेचता है, तब सदस्य बैंको की नकद निधि घट जाती है। ऐसा भी हो सकता है कि यह न हो। प्रतिभूतियो का विक्रय बैंको मे सोना आ जाने से, या चलन मे रहने वाले नोट वापिस आ जाने या छिपी हुई निधि वापिस आ जाने से प्रभावहीन हो सकता है। उसी प्रकार प्रतिभूतियो की खरीद के साथ-साथ सोने की निकासी या एकत्रीकरण के लिए नोटो की खीच भी हो सकती है। दोनो दशाओ मे सदस्य बैंको की नकद निधि प्रभावित नही होगी।

(ii) और यदि सदस्य बैंको की नकद निधि घट या बढ भी जाए तो भी बैंक तदनुसार साख का विस्तार या सकुचन न करें। रोकड और साख का अनुपात बिलकुल निश्चित नही होता तथा बडी सीमाओ के अन्दर रहता हुआ भिन्न स्थिति मे भिन्न हो सकता है। बैंक केवल नकदी साधनो के आधार पर साख को विस्तृत या सकुचित नही करेगा। वरन् विद्यमान आर्थिक तथा राजनैतिक दशा को देख कर साख को विस्तृत या सकुचित करेगा।

(iii) तीसरी शर्त है कि जब व्यावसायिक बैंको के नकदी साधन बढेंगे तब ऋणो तथा अग्रिम धनो की मांग भी बढेगी। विपरीत क्रिया का विपरीत फल होगा। परन्तु ऐसा होना भी आवश्यक नही है। आर्थिक तथा राजनैतिक स्थिति के डांवाडोल होने पर सस्ती दर पर भी ऋण लेने वाले न मिलें, यह सम्भव है। इसके विपरीत जब व्यापार चलता है, तथा लाभ की गुजाइश होती है, तब उद्यमी ऊँची दर पर भी ऋण लेगा।

(iv) अन्त में, बैंक की साख का चलन सम गति (constant velocity) से चलना चाहिए। परन्तु बैंक मे जमा होने वाली रकम की गति एक-सी नहीं होती। व्यापार की उन्नति के समय में जमा होने वाली रकम की गति बढ जाती है और मन्दी के दिनो में घट जाती है। अत: चलन की गति अधिक हो जाने से साख के सकुचन की नीति निष्फल की जा सकती है और इसके विपरीत भी विलोमत: ही फल होगा।

इन सीमाओं के होते हुए भी, बैंक की साख के सकुचन तथा विस्तार में तथा केन्द्रीय बैंक द्वारा प्रतिभूतियों के विनय तथा क्रय म अच्छा खासा सम्बन्ध है।

१७ साख की राशनिंग (Credit Rationing)—साख की राशनिंग का अर्थ उन नियन्त्रणों से है जो मुद्रा की कमी के समय म केन्द्रीय बैंक द्वारा साख की मांग पर लगाए जाते हैं। प्रत्येक प्रार्थी की रकम सीमित कर देने से साख की राशनिंग हो जाती है। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय बैंक छोटी अवधि के पश्चात् पूरी होने वाली हुडियों की ही कटौती स्वीकार करता है। बैंक ऑफ इगलैंड (Bank of England) द्वारा इस रीति का प्रयोग १८ वी शताब्दी के अन्त तक किया गया जब कि ब्याज विषयक कानूनों द्वारा कटौती की दर पाच प्रतिशत से अधिक नहीं हो सकती थी। हाल ही में, विशेषतया प्रथम महायुद्ध के पश्चात उत्पन्न होने वाली कठिन परिस्थितियों में रूस तथा जर्मनी सरीखे कई देशों ने साख की राशनिंग की नीति ग्रहण की।

साख-नियन्त्रण की इस रीति का दुष्प्रयोग बहुत हो सकता है अत इसको केवल आपत्ति-काल म ही प्रयुक्त किया जाना चाहिए।

१८ अन्य रीतियाँ (Other Methods)—साख नियन्त्रण की अन्य रीतियों का सक्षेप म विवेचन किया जा सकता है। सीधी कार्यवाही का एक मार्ग होता है। इसका अर्थ है दवाव डालने वाली नीति अर्थात् जिन बैंकों की साख नीति केन्द्रीय बैंक की इच्छानुसार न हो या जिन्होंने अपनी पूँजी और रक्षित निधि के अनुपात से अधिक ऋण दे रखा है, उनकी हुण्डियों में पुन कटौती करने से इन्कार करना। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय बैंक सदस्य-बैंकों से प्रार्थना कर सकता है तथा उन्हें समझा सकता है कि सट्टे या अनावश्यक अभिप्रायों के लिए ऋण को न बढ़ावे। कानून द्वारा केन्द्रीय बैंक को यह अधिकार दिया जा सकता है कि वह सदस्य बैंकों की न्यूनतम रक्षित निधि को परिवर्तित कर सकें। कानून के द्वारा प्रतिभूति ऋणों के ऊपर भी सीमान्त लगाया जा सकता है। अन्त में, प्रचार का साधन भी प्रयुक्त होता है। पाक्षिक आँकड़े, निश्चित समय पर मुद्रा बाजार की दशा का पुर्नविलोकन सार्वजनिक वित्त, व्यवसाय तथा उद्योग की तलपट के रूप में आदेय तथा देनदारी का पाक्षिक स्थिति विवरण आदि प्रकाशित करना।

केन्द्रीय बैंक की साख नियन्त्रण शक्ति के विषय में क्राउथर (Crowther) ने लिखा है, 'देश म उपलब्ध मुद्रा की मात्रा का नियन्त्रण करने की केन्द्रीय बैंक की सीमाएँ हैं। किन्तु य सीमाएँ विस्तृत तथा लोचदार हैं, इसलिए जहाँ तक मुद्रा की मात्रा का सम्बन्ध है केन्द्रीय बैंक का आधुनिक समाज म काफी नियन्त्रण है। इस प्रश्न का कि मौजूदा मुद्रा की मात्रा कौन निश्चित करता है, उत्तर यह है कि केन्द्रीय बैंक की नीति सामान्य रूप से जो स्वविवेक के अनुसार प्रवाहित होती है अपनी सीमा के अन्दर विस्तृत है किन्तु अपने क्षेत्र मे केन्द्रीय बैंक स्पष्ट रूप से डिक्टेटर के समान है।'[1]

१९ अन्तिम ऋणदाता (Lender of Last Resort)—आपात काल में नकदी की मांग पूरा करने का उत्तरदायित्व केन्द्रीय बैंक का है। जब लोगों में हलचल

1 An Outline of Money, 1950 p 58

फैल जाती है और उनकी निष्ठा कम हो जाती है, जब दूसरे बैंकों म भी गडबड होने लगती है तो सेण्ट्रल बैंक निर्भयता से सामने आता है और नकदी देकर उस भय को कम करता है। इतने तरल अधिमान की अस्थिरता पर सिर्फ सेण्ट्रल बैंक ही काबू पा सकता है। इस स्थिति के लिए सेण्ट्रल बैंक के विधान म ऐसे उपबन्ध होते हैं कि वह नियमित राशि से अधिक नोट जारी कर सके।

इसके लिए हम रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया का उदाहरण पेश कर सकते हैं जिसने इस ओर बड़ा सफल कार्य किया है। कृषि वित्त की उन्नति, बैंक सुधार कार्य, जरूरतमन्द बैंको की सहायता देशी महाजनो की बैंकिंग सस्थाओ को आधुनिक बैंको से मिलाना आदि ऐसे कार्य हैं जिनके आधार पर हम कह सकते हैं कि भारत का रिजर्व बैंक सफलता की ओर जा रहा है।

२० केन्द्रीय बंकों का राष्ट्रीयकरण (Nationalisation of Central Banks)—पिछले कुछ वर्षों म कई केन्द्रीय बैंकों का राष्ट्रीयकरण हो चुका है। इनम बैंक ऑफ इग्लैण्ड तथा भारतीय रिजर्व बैंक प्रधान हैं।

राष्ट्रीयकरण के पक्ष म यह कहा जा सकता है कि य बैंक सार्वजनिक सस्थाएँ तो समझी ही जाती हैं। इनके भागीदारो के हित की अभिवृद्धि के स्थान पर राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि होती है। केन्द्रीय बैंक एक निश्चित सीमा से अधिक लाभांश (dividend) नही घोषित कर सकता। हिस्सेदारो को उतना ही मिलता है जितना सरकारी प्रतिभूतियो में रुपया लगाने वालो को। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक बहुत कुछ राष्ट्रीय सस्थाएँ होती हैं। यदि वास्तव म य राष्ट्रीय सस्थाएँ हैं तो कानूनन उनको ऐसा क्यो न घोषित कर दिया जाए ?

दूसरे, सरकार हिस्सेदारो के हितो पर विशेष ध्यान रखे बिना, राष्ट्रीय हित म और अधिक दृढतापूर्वक तथा सुचारु रूप से कार्य कर सकेगी। सचालकगण कुछ व्यक्तियो के प्रतिनिधि न होकर सरकार द्वारा मनोनीत (nominated) होगे। हिस्सेदारो के प्रतिनिधि होने की दशा म उनको कुछ तत्सम्बन्धी बातो का ध्यान रखना आवश्यक हो जाता है। किन्तु सरकारी तौर पर मनोनीत होने पर उनका दृष्टिकोण बिलकुल बदल जाएगा। वे एकचित होकर केवल राष्ट्रीय हित वर्द्धन की बात ही सोचेंगे।

तीसरे, केन्द्रीय बैंक जमा रकम पर कोई ब्याज नही देता, अत उसे बहुत लाभ होता है। राष्ट्रीयकरण हो जाने पर यह लाभ समाज को होगा, हिस्सेदारो की सीमित सख्या को नही।

चौथे, केन्द्रीय बैंक प्रधानतया सरकारी काम करता है, करो आदि का सग्रहण (collection), सरकारी ऋणो का प्रबन्ध आदि। मुद्रा की निकासी पूर्णतया सरकारी कार्य है, जिसे केन्द्रीय बैंक करता है।

पाँचवें केन्द्रीय बैंक का कारोबार क्रमबद्ध होता है तथा एकाधिकार के रूप में है, अत राजकीय प्रबन्ध के अन्तर्गत सुचारु रूपेण चल जाता है।

आजकल समाजवाद की धूम है। केन्द्रीय बैंक के राष्ट्रीयकरण से जनता की इच्छाओ की पूर्ति होगी तथा समाजवाद की ओर कदम बढेगा।

राष्ट्रीयकरण के विरोधी नौकरशाही के भूत को सामने लाकर खड़ा कर देते हैं। वे कहते हैं कि बैंकिंग व्यावसायिक उद्यम है, तथा उसका पूर्णतया व्यापारिक सिद्धान्तों के अनुसार चलाया जाना जरूरी है। स्थायी राजकीय कर्मचारी ऐसा नहीं कर सकेंगे। उनका पद स्थायी होता है तथा सेवा काल के आधार पर उनकी तरक्की होती है। अतः अच्छा काम करने की सारी भावना तथा प्रेरणा मारी जाती है। ये लोग सरकारी घिस-घिस में बँधे रहते हैं।

इसके अतिरिक्त बैंकिंग के कारोबार के लिए विशेष ज्ञान अपेक्षित है तथा सामान्य मन्त्री इसे नहीं समझ सकता। अतः उसे अपने स्थायी कर्मचारियों के हाथ में कठपुतली बनकर रहना पड़ेगा।

यह भी कहा जाता है कि राष्ट्रीयकरण की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि केन्द्रीय बैंक पूर्णतया राष्ट्रीय हितों के आधार पर सचालित हो रहा है। अंशधारियों (shareholders) को जो लाभांश मिलता है वह बहुत अधिक नहीं है। केन्द्रीय बैंक के राष्ट्रीयकरण का सबसे बड़ा खतरा यह है कि केन्द्रीय बैंक को राजनीतिक दलबन्दी की चालों में कहीं दाँव पर न रख दिया जाए। विचारहीन मन्त्रीमण्डल द्वारा केन्द्रीय बैंक का सहयोग दल का मतलब गाँठने के लिए किया जा सकता है न कि समूचे राष्ट्र के कल्याण के हेतु।

सारी स्थिति को समझ कर हम यह कह सकते हैं कि केन्द्रीय बैंक के राष्ट्रीयकरण ने अपने औचित्य को सिद्ध कर दिया है, तथा ऐसा प्रतीत होता है कि राष्ट्रीयकरण के खतरों को अधिकतर बढ़ा-चढ़ा कर प्रदर्शित किया गया है।

२१ अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और विकास बैंक (International Bank for Reconstruction and Development)—सन् १९४५ मे दूसरी लड़ाई खत्म हो चुकी थी, लेकिन लड़ाई के कारण जो विभिन्न देशों को महान् क्षति पहुँची थी, उसे दूर करना बाकी थी। आर्थिक पुनर्निर्माण का कार्य बहुत ही आवश्यक था। इस कार्य के लिए केवल राजनीतिक उपाय ही पर्याप्त न थे। इस समस्या के हल के लिए अनेक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुए। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संस्था—I L O (San Francisco), और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संस्था—I T. O (Havana) तथा ब्रेटनवुड्स (Brettonwoods)। इन सम्मेलनों के फलस्वरूप दो संस्थाओं का जन्म हुआ—एक तो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (International Monetary Fund) और दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और विकास बैंक (International Bank of Reconstruction and Development)।

अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास बैंक (I B R D) का मुख्य उद्देश्य युद्ध-पीड़ित देशों के पुनर्निर्माण तथा पिछड़े हुए देशों के विकास में सहायता पहुँचाना है। इस कार्य के लिए यह बैंक दीर्घकालीन वित्त प्रदान करता है जबकि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (I M F) अल्पकालीन ऋण ही देता है। अपनी पूंजी से ही नहीं बल्कि बांड द्वारा संग्रह की गई पूंजी में भी यह बैंक दीर्घकाल के लिए साख की व्यवस्था करता है। उसके बांड के बिकने में कोई कठिनाई नहीं होगी, क्योंकि इनके पीछे सभी

सदस्य-देशो की गारटी है। इसके अलावा यह बैंक व्यक्तिगत सस्थाओ द्वारा दिए गए ऋणो पर ½ या १ प्रतिशत कमीशन के ऊपर गारटी दे सकता है। इससे विदेशो मे पूंजी विनियोग के कार्य को प्रोत्साहन मिलता है।

अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास बैंक (I. B R D) के प्रयत्नो से अनेक देशो की युद्धकालीन अर्थव्यवस्था, शान्तिकालीन अर्थव्यवस्था मे बदल चुकी है। यही नही, यह बैंक, ससार के प्रत्येक पिछडे देश के लोगो का रहन-सहन का स्तर ऊँचा उठाना चाहता है और सदस्य राष्ट्रो के श्रमिको की स्थिति मे सुधार करना चाहता है।

ससार के ५० प्रमुख देश (रूस को छोडकर) इस बैंक के सदस्य हैं और इसकी कुल पूंजी ६ विलियन डालर हैं। इसम अमरीका का हिस्सा एक-तिहाई है। भारत का अश ४०० प्रयुत या मिलियन डालर है। अन्य देशो के हिस्से इस प्रकार हैं—इगलैण्ड १०० प्रयुत या मिलियन डालर, चीन ६०० मि० डा०, फ्रास ४५० मि० डा०। सदस्य देशो ने अपन हिस्से का २० प्रतिशत दे दिया है और अब निकट भविष्य म शायद उन्हे और न देना पडे। इस २० प्रतिशत म हर सदस्य देश को १८ प्रतिशत अपनी राष्ट्रीय मुद्रा में और शेष २ प्रतिशत सोने या डालर म देना पडा था।

बैंक की सहायता से सदस्य देश अपने उपलब्ध साधनो को पूर्ण रूप से उपयोग म लाकर जीवन स्तर को ऊपर उठा सकते हैं।

बैंक के कार्य उचित व्यावसायिक सिद्धान्त के अनुसार चलाए जाते हैं और ऋण तभी दिए जाते हैं जब इस बात का विश्वास हो जाता है कि जोखिम लाभदायक है। ऋण देने के पहले ऋणी की सब आवश्यक आर्थिक बातो और परिस्थितियों की पूरी जाँच-पडताल कर ली जाती है। बैंक उस समय तक उधार नही देता जब तक उसे यह निश्चय नही हो जाए कि (क) उधार लेने वाले देश की समूची आर्थिक व्यवस्था ठीक है, और वहाँ की नीति तथा व्यवहार से यह धारणा न बन जाए कि वहाँ बहुत जल्दी ही ठीक हालात पैदा हो जाएँगे, यदि वह देश सकट म से गुजर रहा हो, (ख) अर्थ व्यवस्था के पुनर्निर्माण तथा विकास की समूची योजना ठीक प्रकार बनी है और उन्हे इस प्रकार चलाया जा रहा है जिससे आर्थिक व्यवस्था ठोस होगी, तथा (ग) वे परियोजनाएँ (Projects) जिनका वित्त पोषण बैंक द्वारा हो रहा है, उचित रूप म टैक्नीकल ढग स तैयार हुई हैं और उनका निर्माण वित्तीय तथा आर्थिक रूप म न्यायसगत है।

थोडे से समय में अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्माण तथा विकास बैंक (I B R D) ने कई महत्वपूर्ण ऋण दिए हैं। सबसे पहला बडा ऋण फास को २५०० लाख डालर का मिला। इसके पश्चात् २६३० लाख डालर के ऋण नीदरलैण्ड्स (Netherlands), डेन्मार्क (Denmark), लक्सेम्बर्ग (Luxemberg) और चिली (Chile) आदि देशो को दिए गए। ३४० लाख डालर का एक ऋण मेक्सीको (Mexico) को विद्युत् शक्ति के विकास के लिए दिया गया। १९५७ म बैंक ने २० ऋण १५ देशो को ३८७८ ६ लाख डालर के दिए, जबकि १९५०-५१ मे इसी बैंक ने ३९६५ लाख डालर

के २६ ऋण २० देशों को दिए थे। दस वर्षों में (१९४७-५७), बैंक ने ४५ देशों को ३१०७० लाख डालर के ऋण दिए और कई मिशन कई देशों की आर्थिक जाँच पड़ताल करने के लिए भेजे। ऋण की अवधि १५-२० वर्ष है। बैंक की ब्याज दर ३½% तथा ४½% है और १% कमीशन बैंक के विशेष रिजर्व के नाम जमा करनी पड़ती है। प्रारम्भ में प्रायः सभी ऋण कृषि उत्पादन की उन्नति के लिए तथा कम विकसित देशों में आधारभूत उपयोगिताएँ पूरी करने के लिए दिए गए। उद्योगों के लिए दिया गया ऋण अपेक्षाकृत कम है। १९५७ में अधिकतर ऋण विद्युत् शक्ति के विकास के लिए दिए गए। अब तक के दिए गए ऋणों में से प्राय एक तिहाई ऋण केवल विद्युत् शक्ति के विकास के लिए प्रयुक्त हुए हैं। अब उद्योगों के विकास के लिए भी ऋण दिए जा रहे हैं। यह बात माननी पड़ेगी कि जहाँ तक बैंक के स्रोतों का प्रश्न है वे युद्ध द्वारा नष्ट हुए देशों तथा अर्धविकसित देशों के विकास के लिए वित्तीय सहायता के रूप में पर्याप्त राशि देने में असमर्थ हैं।

जहाँ तक भारत का प्रश्न है, अन्तर्राष्ट्रीय बैंक ने ३४० लाख डालर का ऋण इंजिन खरीदने के लिए, १०० लाख डालर कृषि विकास तथा मशीनों, जैसे सेण्ट्रल ट्रैक्टर सगठन को मशीनें खरीदने को दिया जिससे कान्स नामक गहरी घास को निकाल कर भूमि कृषियोग्य बनाई जा सके, और १८५ लाख डालर नदी घाटी योजनाओं के लिए दिया। इन योजनाओं की जाँच के लिए कई टेक्नीकल मिशन भारत में भेजे गए। १९५१ के अन्तिम महीनों में एक टेक्नीकल मिशन भारत का दौरा करने आया। उसका काम प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत आयोजन, वित्त तथा निष्पादन आदि बातों के बारे में जानकारी हासिल करना था। मई १९५१ में बैंक के प्रतिनिधियों ने औद्योगिक वित्त निगम (Industrial Finance Corporation) की सहायता के बारे में विचार किया जो उद्योगों के लिए थोड़े समय तथा दीर्घ अवधि के लिए ऋण का प्रबन्ध करे। जून १९५२ में बैंक स्टाफ का एक सदस्य दामोदर घाटी योजना के बारे में अध्ययन करने आया। एक अन्य मिशन भारत में लोहा तथा इस्पात उद्योग से सम्बन्धित टेक्नीकल और वित्तीय समस्याओं का अध्ययन करने आया। उक्त मिशन का उद्देश्य था कि भारत में कहाँ तक लोहे और इस्पात के उत्पादन को बढ़ाया जा सकता है। बैंक ने सिन्धु नदी घाटी योजना के प्रति भी कुछ रुचि प्रकट की है। विश्वास किया जाता है कि सिन्धु नदी घाटी योजना से भारत और पाकिस्तान दोनों देशों को पर्याप्त लाभ होगा। १९५७ में भारत को २०० लाख डालर उद्योगों के विकास के लिए, ५६ लाख डालर हवाई यातायात की व्यवस्था सुधारने के लिए, ९८ लाख डालर विद्युत् शक्ति के विकास के लिए मिले। जून १९५७ तक भारत को १६८० लाख डालर की सहायता अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और विकास बैंक (I. B. R. D.) से मिल चुकी थी। संसार के देशों में भारत तीसरा देश है जिसने अधिकतम ऋण उक्त बैंक से प्राप्त किया है। यह इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भारत की साख बहुत लोकप्रिय है।

निर्देश पुस्तकें

De Kock Central Banking, latest edition
Kisch, C H and Elkins, W A Central Banks
Keynes, J M A Treatise on Money, 1950, Ch 13
, General Theory of Employment, Interest and Money
Brij Narain Money and Banking (S Chand & Co)
Truptil R. J British Banks and London Money Market, 1936
Samuelson, P A Economics 1948 Ch 15
Howtrey, R G The Art of Central Banking, 1932
Harrod, R F The Trade Cycle 1936
Sayers, R S Modern Banking, 1947
Crowther, G An Outline of Money, Ch 2 pp 42 77
League of Nations International Currency Experience, 1944
Macmillan Committee Report on Finance and Industry

अध्याय ३७

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का सिद्धान्त

(Theory of International Trade)

१ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का पृथक् सिद्धान्त क्यों ? (Why Separate Theory of International Trade?)—अभी तक हम एक ही देश की वस्तुओ तथा सेवाओ के विनिमय की समस्याओं के विषय में चर्चा करते रहे हैं। अब हम उन समस्याओं का अध्ययन करेंगे जो विभिन्न देशो मे रहने वाले व्यक्तियो के बीच वस्तुओं तथा सेवाओं के विनिमय से सम्बन्धित हैं।

यह ध्यान रखना जरूरी है कि आन्तरिक व्यापार तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे अन्तर किस्म का है, मात्रा (degree) का नहीं है। मूल सिद्धान्त दोनों में एक ही है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, देशी व्यापार (home trade) को भाँति, श्रम-विभाजन का फल है। व्यापारी लोग आन्तरिक व्यापार में उन वस्तुओं का उत्पादन करने में विशेषता हासिल करने का प्रयत्न करते हैं, जिनमें अधिकतम तुलनात्मक लाभ होता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार म भी ऐसा ही होता है।

फिर भी देशी तथा विदेशी व्यापार में कुछ ऐसे भेद हैं जिनके कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का पृथक् सिद्धान्त बनाने की आवश्यकता होती है।

पहला भेद यह कि देश में श्रम तथा पूँजी की गतिशीलता विभिन्न देशो के बीच की अपेक्षा अधिक होती है। इस भिन्नता के कई कारण हैं। भाषा, परम्पराएं, धर्म, रीति-रिवाज, सामाजिक तथा राजनीतिक दशाओं के अन्तर उनको अपने ही देश में रखते हैं। कभी-कभी आलस्य के वश भी लोग अपना घर छोड़ना नहीं चाहते। पूँजी श्रम से अधिक गतिशील होती है, परन्तु इसे भी लोग अपने ही देश मे विभिन्न कारणों से लगाना अधिक पसन्द करते हैं। पूँजी लगाने वाले अपने देश मे पूँजी लगाने में अपने का अधिक सुरक्षित समझते हैं।

विभिन्न देशो म श्रम तथा पूँजी की कम गतिशीलता के कारण प्रतियोगिता एक देश के विपरीत दूसरे देशो म एक प्रकार की वस्तुओं की उत्पादन-लागत को समान रखने म असमर्थ रहती है। किन्तु एक ही देश में समान चीजो की उत्पादन लागत समान रहती है। यही कारण है कि भिन्न-भिन्न देशो की भिन्न-भिन्न वस्तुओं के उत्पादन म असमान लाभ होता है। अतएव विभिन्न देशो के बीच प्रतियोगिता नहीं रहती। दो देशो के बीच में श्रम तथा पूँजी के गतिशील न होने का एक दूसरा परिणाम भी होता है। एक देश मे किसी वस्तु की कीमत उसकी उत्पादन-लागत के समान हो जाती है क्योंकि श्रम तथा पूँजी एक उद्योग से दूसरे उद्योग मे आ-जा सकते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में ऐसा नहीं होता। श्रम तथा पूँजी के गतिशील न होने के कारण कीमत तथा उत्पादन-लागत बहुत कम समान हो पाते हैं।

दूसरे, लाभ मे अन्तर प्राकृतिक कारणो जैसे भौगोलिक स्थिति तथा जलवायु की दशाग्रो द्वारा भी हो सकता है। इससे श्रम का प्रादेशिक विभाजन और उद्योगो का स्थानीयकरण हो जाता है। उदाहरणार्थ, कुछ देशो मे विशिष्ट खनिज पदार्थ जैसे कोयला, लोहा, तांबा होते हैं। दूसरो मे जलवायु अथवा भूमि कुछ फसलो के योग्य होती है, जैसे बगाल प्रान्त मे जूट। या तो यह लाभ दूसरे देशो को हस्तान्तरित नही किए जा सकते अथवा उनकी हस्तान्तरण लागत बहुत अधिक होती है।

तीसरे, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे कुछ समस्याएं इस बात से उत्पन्न होती हैं कि वे देश स्वतन्त्र राज्य होते हैं और मुद्रा, बैंकिंग कानून, विदेशी ऋण, कीमत, मजदूरी आदि के सम्बन्ध मे स्वतन्त्र नीति अपना सकते हैं। सीमाओ के बाहर जाने वाली वस्तुओ पर राज्यो द्वारा रोक लगाई जा सकती है, प्राकृतिक तथा सामाजिक बाधाओ के कारण भी वस्तुएँ एक स्थान से दूसरे स्थान पर नही ले जाई जा सकती।

इन सब कारणो से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का पृथक् सिद्धान्त है।

२ तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त (The Theory of Comparative Costs)—रिकार्डो (Ricardo) ने सब से पहले तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर लागू किया था। उन्होने बताया कि एक ही देश मे भिन्न-भिन्न व्यवसायो में लाभ समान होता है, परन्तु विभिन्न देशो में ऐसा नही होता। इसका कारण यह है कि देश के अन्दर श्रम गतिशील होता है, परन्तु भिन्न-भिन्न देशो के बीच नही। गणित के उदाहरण द्वारा उन्होने बताया कि यदि पुर्तगाल, इंग्लैण्ड की अपेक्षा सस्ता कपडा तथा शराब पैदा कर सकता है, तो भी पुर्तगाल के लिए यह लाभदायक होगा कि वह शराब मे लगा रहे, जिसमें उसको अधिक तुलनात्मक लाभ है और कपडे का इंग्लैण्ड से आयात करे।

जे० ई० केयरंस (J E Cairnes) ने रिकार्डो (Ricardo) की इस कल्पना पर आक्षेप किया कि उत्पादन के साधन एक देश के अन्दर ही गतिशील होते हैं, कई देशो के बीच नही। तो भी, वह मानते थे कि एक देश के अन्दर प्रतियोगिता न होने वाले समूहो के होते हुए भी उत्पादन के साधनो की गतिशीलता लाभ को समान करने के लिए पर्याप्त थी। किन्तु ऐसा विभिन्न देशो के बीच नही हुआ। इस भाँति पुरातन सिद्धान्त केयरस (J. E. Cairnes) द्वारा पूर्ण हुआ। अब यह विश्वास किया जाता है कि एक देश के अन्दर तो वस्तुओ की विनिमय दर उनकी लागत के अनुपात मे होती है किन्तु विभिन्न देशो में एक दूसरे की माँग इसे निश्चित करती है।

यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का यह प्रतिष्ठित सिद्धान्त प्रधानत. आधुनिक अर्थशास्त्रियो द्वारा मान्य है, तो भी, उसकी दृढता तथा उसकी व्याख्या में कुछ सुधार कर दिए गए हैं। ये सुधार इस प्रकार हैं—

(i) पुरातन एव प्रतिष्ठित (classical) अर्थशास्त्रियो ने लागत का माप श्रम के अनुसार किया। आधुनिक लेखक सिद्धान्त को सीमान्त लागत मे उत्पादन के साधनो की सापेक्ष न्यूनता की मात्रा के अनुपात मे प्रस्तुत करते हैं।

(ii) रिकार्डो (Ricardo) के सिद्धान्त ने यह मान लिया था कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार म स्थिर प्राप्ति (constant returns) का नियम लागू होता है। आधुनिक

लेखकों ने इस साधारण वर्णन का वृद्धि तथा ह्रास नियम के प्रभावों को दिखाते हुए विस्तार किया है। अतएव यदि उत्पादन के पैमाने में वृद्धि से प्रति इकाई लागत कम हो जाती है, तो तुलनात्मक लाभ बढ़ जाएगा। दूसरी ओर, यदि अधिक उत्पादन से प्रति इकाई लागत बढ़ जाती है, तो तुलनात्मक लाभ घट सकता है अथवा समाप्त हो सकता है।

(iii) रिकार्डो (Ricardo) के सिद्धान्त ने विनिमय की शर्तों की व्याख्या नहीं की। एडम स्मिथ (Adam Smith) एवं कुछ अन्य रिकार्डो (Ricardo) के प्रारम्भिक समर्थक बाज़ार के भाव 'मोल तोल' ('higgling') करने पर, जो एक अनिश्चित शब्द है, आश्रित मानते थे। आधुनिक विश्लेषण के अनुसार विनिमय का अनुपात प्रत्येक देश की दूसरे देश की वस्तुओं की माँग की लोच से निश्चित होता है।

ऊपर लिखे हुए नवीन विचारों के आधार पर अब हम तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त (theory of comparative costs) का विवेचन करेंगे।

सारा व्यापार केवल इसलिए होता है कि उत्पादन लागत में अन्तर होता है। ऐसे अन्तर तीन प्रकार के हो सकते हैं—

(i) लागतों में पूर्ण अन्तर,

(ii) लागतों में समान अन्तर, तथा

(iii) लागतों में तुलनात्मक अन्तर।

व्यापार (i) तथा (ii) में सम्भव है, परन्तु (iii) में नहीं। हम इसको उदाहरण देकर समझा सकते हैं।

(i) लागत में पूर्ण अन्तर (Absolute Differences in Cost)

क देश में { गेहूँ के उत्पादन की सीमान्त लागत ५ रु० प्रति मन है।
कपास के उत्पादन की सीमान्त लागत १० रु० प्रति मन है।

ख देश में { गेहूँ के उत्पादन की सीमान्त लागत १० रु० प्रति मन है।
कपास ,, ,, ,, ५ रु० ,, ,, ।

चूंकि कीमत उत्पादन की सीमान्त लागत के बराबर होती है, इसलिए क देश में १ मन गेहूँ, ½ मन कपास के बदले में दिया जाएगा। और ख देश में १ मन गेहूँ का विनिमय २ मन कपास के बदले में होगा।

इस प्रकार

		लागत अनुपात
क देश में	१ गेहूँ की इकाई = ½ कपास की इकाई	१ : २
ख देश में	१ गेहूँ की इकाई = २ कपास की इकाई	१ : ½

इस प्रकार क देश को गेहूँ में और ख देश को कपास में पूर्ण लाभ है। क देश गेहूँ के उत्पादन में तथा ख देश कपास के उत्पादन में लग जाएगा। क देश को तब तक लाभ होगा, जब तक कि वह १ मन गेहूँ के बदले ½ मन कपास से अधिक पा सकता है। ख देश को तब तक लाभ होगा, जब तक कि वह १ मन गेहूँ २ मन कपास से कम के बदले में पा सकता है। विनिमय का अनुपात १ मन गेहूँ के लिए ½ तथा २ मन कपास के बीच में कहीं होगा। वास्तविक दर प्रत्येक पक्ष की दूसरे देश की वस्तुओं की माँग की सापेक्षिक लोच पर निर्भर होगी। इसको हम आगे देखेंगे।

पूर्ण लाभ के कारण व्यापार समशीतोष्ण (temperate) कटिबन्ध तथा अयनवृत्त (tropical) वाले प्रदेशो में पाए जाते हैं।

(ii) लागत में समान अन्तर (Equal Differences in Cost)

जब तुलनात्मक लाभ समान होता है, तो दोनो पक्षों के बीच कोई स्थायी व्यापार नही हो सकता। अस्तु :

क देश में { गेहूँ के उत्पादन की सीमान्त लागत ५ रु० प्रति मन है।
कपास के उत्पादन की सीमान्त लागत १० रु० प्रति मन है।

ख देश में { गेहूँ के उत्पादन की सीमान्त लागत ४ रु० प्रति मन है।
कपास के उत्पादन की सीमान्त लागत ८ रु० प्रति मन है।

इस प्रकार ·

	लागत अनुपात
क देश मे गेहूँ की १ इकाई = $\frac{१}{२}$ कपास की इकाई	१ २
ख देश में : गेहूँ की १ इकाई = $\frac{१}{२}$ कपास की इकाई	१ . २

उपर्युक्त दशाओ मे विशिष्टीकरण से किसी भी पक्ष को कोई लाभ न होगा। यदि क देश गेहूँ म विशिष्ट है और ख देश कपास मे, तो क देश को केवल तभी लाभ हो सकता है, जबकि १ मन गेहूँ उसको $\frac{१}{२}$ मन से अधिक कपास प्रदान करता है। परन्तु ख देश १ मन गेहूँ के बदले $\frac{१}{२}$ मन से अधिक कपास न देगा, क्योकि वह घर पर अपने साधनो को कपास से हटाकर और गेहूँ म लगाकर इतना उत्पादन कर सकता है। यदि व्यापार प्रारम्भ भी हो जाए, तो जैसा कि पहले बताया जा चुका है, व्यापार थोडे समय मे समाप्त हो जाएगा।

(iii) लागत में तुलनात्मक अन्तर (Comparative Differences in Costs)—*जब तुलनात्मक लाभ भिन्न हो तो व्यापार वढेगा और चलता रहेगा।*

इस प्रकार

क देश मे { गेहूँ के उत्पादन की सीमान्त लागत ७ रु० प्रति मन है।
कपास के उत्पादन की सीमान्त लागत १४ रु० प्रति मन है।

ख देश मे { गेहूँ के उत्पादन की सीमान्त लागत ५ रु० प्रति मन है।
कपास के उत्पादन की सीमान्त लागत ७ रु० प्रति मन है।

ऐसी दशा मे ख देश, क देश की अपेक्षा गेहूँ तथा कपास क देश से सस्ती *उत्पन्न कर सकता है परन्तु तुलनात्मक लाभ कपास के उत्पादन मे गेहूँ के उत्पादन से अधिक है।* दूसरी ओर क देश की दोनो वस्तुओ के उत्पादन मे तुलनात्मक हानि है, परन्तु हानि गेहूँ में कपास की अपेक्षा कम है।

इस प्रकार :	लागत अनुपात
क देश मे गेहूँ का १ मन = $\frac{१}{२}$ मन कपास	१ : २
ख देश में १ मन गेहूँ = $\frac{५}{७}$ अथवा ७१ मन कपास	१ : १$\frac{२}{५}$

अतएव ख देश को कपास के उत्पादन में तथा क देश को गेहूँ के उत्पादन में विशिष्टता प्राप्त करना अधिक लाभदायक होगा।

इससे यह नही मान लेना चाहिए कि क देश मे कपास तथा ख देश में गेहूँ का उत्पादन पूर्णतया बन्द हो जाएगा। तुलनात्मक लागत सिद्धान्त केवल औसत

लागत को बताता है। यदि ख देश में हर कपास के खेत की लागत क देश के हर कपास के खेत की लागत से कम है, तथा यदि क देश में हर गेहूँ के खेत की लागत ख देश के हर गेहूँ के खेत की लागत से कम है, तो क देश में कपास और ख देश में गेहूँ का उत्पादन न होगा। परन्तु ऐसा होना असम्भव है। क देश में कुछ ऐसे कपास के खेतों का होना आवश्यक है जिनकी लागत ख देश के कुछ कपास के खेतों से कम है। अतएव क देश म कुछ कपास और ख देश म कुछ गेहूँ का उत्पादन होगा।

व्यापार की क्या शर्तें होंगी ?—ख देश को तब तक लाभ होगा, जब तक कि वह ७१ मन से कम कपास के बदले म १ मन गेहूँ पाता रहे। क देश को तब तक लाभ होता रहेगा, जब तक वह १ मन गेहूँ के बदले में ५० मन से अधिक कपास पाता रहे। विनिमय की दर इसके बीच म होगी—

१ मन गेहूँ = ५० मन कपास।

१ मन गेहूँ = ७१ मन कपास।

वास्तविक दर एक पक्ष की दूसरे पक्ष की वस्तुओ की माँग की सापेक्षिक लोच (relative elasticities of demand) पर निर्भर करेगी।

यदि क देश की कपास की माँग ख देश की गेहूँ की माँग की अपेक्षा अधिक लोचदार है तो विनिमय दर क देश के लिए अधिक अनुकूल होगी। यह इस कारण है कि क देश कपास के लिए इतना उत्सुक न होगा। दूसरी ओर इसके विपरीत विनिमय दर ख देश के लिए अधिक अनुकूल होगी।

जब विनिमय दर क देश के लिए अनुकूल होगी तो वह १ मन गेहूँ — ७१ मन कपास की सीमा के निकट होगी। जब दर ख देश के लिए अनुकूल होगी तो वह १ मन गेहूँ = ५० मन कपास की सीमा के निकट होगी।

इस उदाहरण म लाभ की सीमा अधिक सकुचित है। वास्तविक व्यवहार मे व्यापार उस समय होगा जब कि लाभ की सीमा अधिक विस्तृत होगी क्योंकि ऐसा होने पर असुविधाओ का व्यापार पर कोई विशेष प्रभाव न पडेगा। इस तर्क में दो देशो को लिया गया है किन्तु इसके अन्तर्गत दो से अधिक वस्तुएं तथा दो से अधिक देश बिना मूल सिद्धान्तो को भग किए, शामिल किए जा सकते हैं।

तुलनात्मक लागत का यही सिद्धान्त है, तो फिर विदेशी विनिमय के क्षेत्र म इसके प्रयोग म कहाँ अन्तर पडता है ?

हम प्रारम्भ म कह चुके है कि सब प्रकार का व्यापार, लागत मे अन्तर होने के कारण होता है। एक ही देश म उत्पादन के साधनो के एक कम लाभ वाले व्यवसाय से दूसरे अधिक लाभ वाले व्यवसाय की ओर सरलतापूर्वक गतिशील होने के कारण तुलनात्मक लागत में भेद के लोप हो जाने की प्रवृत्ति होती है। अतएव वस्तुएं एक ही देश के अन्दर अपने उत्पादन की सीमान्त लागत के अनुसार विनिमय की जाती हैं। उत्पादन के साधनो के गतिशील न होने के कारण यह सामजस्य दो देशों के बीच में नहीं हो सकता। इस भांति तुलनात्मक लागत म स्थायी अन्तर हो जाता है, जिससे जैसा कि ऊपर बताया गया है, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार लाभप्रद हो जाता है।

परन्तु तुलनात्मक लागत में ऐसे अन्तर एक ही देश के भिन्न भिन्न प्रदेशो में

भी हो सकते हैं, यदि इन प्रदेशो के बीच उत्पादन-साधन गतिशील नही होते। इस प्रकार एक ही देश में प्रतियोगिता न होने वाले समूह (non-competing groups) भी हो सकते हैं। उस दशा मे तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त (theory of comparative costs) देशी व्यापार मे भी लागू होगा। यही कारण है कि आधुनिक अर्थशास्त्री इस बात को नही मानते कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रस्तुत करने के लिए एक विशेष सिद्धान्त की आवश्यकता है। परन्तु चूंकि तुलनात्मक लागत मे अन्तर विभिन्न देशो मे एक देश के भिन्न क्षेत्रो की अपेक्षा अधिक पाया जाता है इसलिए राष्ट्रों के बीच व्यापार पर विचार करते समय इस सिद्धान्त पर विशेष रूप से ध्यान रखा जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे यह सिद्धान्त कार्य करता है। जलवायु, खनिज पदार्थों तथा अन्य प्राकृतिक साधनो का वितरण, भौगोलिक स्थिति तथा प्राकृतिक बनावट का ध्यान रखते हुए प्रत्येक देश कुछ वस्तुओं के उत्पादन के लिए दूसरो की अपेक्षा अधिक उपयुक्त है। यह प्रत्येक देश तथा समस्त ससार के लिए लाभदायक होगा कि हर देश उन वस्तुओ के उत्पादन में विशिष्टता प्राप्त करे, जिसमे उसको सापेक्ष लाभ है। ऐसी दशा म उस देश के उत्पादन के साधन लाभ की दृष्टि से अधिक उपयोग में आ सकेंगे। उन बातो मे जो यह निर्धारण करते हैं कि किन किन वस्तुओ के उत्पादन में कोई देश विशिष्टता प्राप्त करेगा, हम विनिमय दर, एकाधिकारी तत्त्व, हस्तान्तरित लागत, उत्पादन के साधनो की कीमतें तथा उनकी तुलनात्मक कार्य-क्षमता को शामिल कर सकते हैं। एक देश उन वस्तुओ के उत्पादन मे विशिष्टता प्राप्त करेगा, जिनमें हस्तान्तरित लागत और उत्पादन के साधनो की कीमतें कम हैं लेकिन उत्पादन कार्य-क्षमता अधिक है।

साधारणत वस्तुएं वहाँ पैदा की जाती हैं, जहां उत्पादन-लागत सबसे कम होती है। परन्तु यह तथ्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार नही है। वास्तव में तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त का तात्पर्य यह है कि एक देश कुछ वस्तुओ के उत्पादन मे विशेषता प्राप्त करे और अन्य वस्तुओ का आयात करे चाहे वह उनको कम लागत पर उत्पन्न कर सकता हो। इगलैंड डेन्मार्क से दूध के पदार्थों का आयात करता है, यद्यपि उनके उत्पादन की लागत इगलैंड मे कम है। कारण यह है कि इगलैण्ड, श्रम तथा पूंजी को अन्य दिशा में लगाकर अधिक लाभ कर लेता है, जैसे मशीनो आदि मे, और पनीर तथा मक्खन के खरीदने में जो हानि होती है, वह उधर पूरी कर ली जाती है। अतएव तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त (theory of comparative costs) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे इस प्रकार लागू होता है कि प्रत्येक देश वही वस्तु उत्पन्न नही करता, जिसे वह दूसरे देशो की अपेक्षा सस्ती उत्पन्न कर सकता है; प्रत्युत वे वस्तुएँ जिनको वह अधिकाधिक सापेक्ष लाभ अर्थात् कम से कम तुलनात्मक लागत पर उत्पन्न कर सकता है।

दूसरे आर्थिक नियमो की भाँति तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त भी केवल एक प्रवृत्ति का विवरण है। वास्तविक व्यवहार मे इस सिद्धान्त का प्रयोग भाषा, रीति-रिवाज, धर्म के अन्तर तथा श्रम और पूंजी के केवल आर्थिक महत्त्व से प्रभावित

न होने के कारण ठीक तरह से नही होता। उन पर राजनीतिक प्रवृत्तियो, व्यापारिक व्यवहारो तथा सामान्य सुरक्षा का भी प्रभाव पडता है। परिवहन की लागत तथा उत्पादन-लागत के उतार-चढाव दूसरे सीमित करने वाले अश है। विशेषीकरण उत्पादन के परिमाण को बढाती है, परन्तु यदि उद्योग मे बढती लागत का नियम लागू होता है, तो तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त का प्रभावी होना बन्द हो जायगा।

३ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे प्रतियोगिता क्यो ? (Why Competition in International Trade?)—तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त (Theory of Comparative Costs) के अनुसार प्रत्येक देश को उन वस्तुओ के उत्पादन मे विशिष्टता प्राप्त करनी चाहिए, जिनमे उसको अधिकाधिक सापेक्ष लाभ हो। प्रत्येक देश की उत्पादन क्रियाओ का पृथक् क्षेत्र होगा। ऐसे विशिष्टीकरण से प्रतियोगिता की अपेक्षा सहयोग के बढने की आशा की जाती है, क्योकि प्रत्येक देश अपनी विशिष्ट वस्तुओं की पूर्ति दूसरे देशो को करता है। परन्तु हम बहुधा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे गलाघोटू प्रतियोगिता पाते हैं जिससे विषाक्त अन्तर्राष्ट्रीय स्पर्द्धा बढती है और इसके उपरान्त युद्ध। इगलैड और अमरीका का जापान से विरोध होने का कारण उसकी औद्योगिक तथा व्यापारिक प्रधानता थी। फिर इसका क्या कारण है ?

प्रथमत, जैसा हमने ऊपर बताया है, तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त केवल एक प्रवृत्ति का वर्णन है, जिसका प्रयोग सघर्षों के प्रभावो से नष्ट हो जाता है। यह सिद्धान्त स्वतन्त्र व्यापार पर आधारित समझा जाता है, जो विद्यमान नही होता। आर्थिक राष्ट्रीयकरण के कारण आयात-कर, कोटा-पद्धति (quota system), विनिमय नियन्त्रण आदि जैसे उपाय प्रयोग मे लाए जाते हैं, जिससे वस्तुओ का स्वतन्त्र विनिमय नही हो पाता। अतएव विशिष्टीकरण पूर्ण नही होता तथा कुछ प्रतियोगिता का होना स्वाभाविक है।

दूसरे, तुलनात्मक लाभ ऐसा स्थापित तथ्य नही है, जिसका मान सभी देश करते हो। हम कदाचित् ही वह साम्यावस्था (equilibrium) अथवा स्थायित्व की दशा प्राप्त करते हैं, जब हम यह कह सकें कि प्रत्येक देश ने कुछ वस्तुओ के उत्पादन में निश्चित रूप से प्रधानता प्राप्त कर ली है। सत्य यह है कि प्रत्येक देश सदैव प्रधानता की दशा प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। प्रत्येक देश यह जानने का भी प्रयत्न करता रहता है कि उसका तुलनात्मक लाभ कहाँ है। अतएव कुछ वस्तुएँ एक ही समय में विभिन्न देशो मे उत्पन्न की जाती हैं, जिससे उनमें प्रतियोगिता होती है।

फलत, प्राप्ति के घटते हुए नियम के भय से किसी देश मे एक वस्तु का उत्पादन रुक जाता है तथा उसका कुछ अश आयात करना पडता है। उस दशा में कुछ प्रतियोगिता होना स्वाभाविक है। यदि उद्योग में प्राप्ति का बढता हुआ नियम लागू होता है, तो तुलनात्मक लागत का क्षेत्र और भी अधिक विस्तृत हो सकता है।

४ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभ (The Gain from International Trade)—सब व्यापारो की भाँति अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में श्रम विभाजन के कारण लाभ होते हैं। भिन्न देशो मे श्रम विभाजन सापेक्ष लागतो के अन्तरो और उत्पादन की पूर्ण लागत के अन्तरो के योग से उत्पन्न होता है। जब लागतो के अन्तर समान

होते हैं तो शुद्ध लाभ प्राप्त नही होता। इसी अध्याय के विभाग २ मे दिए गए उदाहरण को यह दिखाने के लिए ले सकते है कि (1) और (iii) मे कैसे लाभ हो जाता है, और (ii) मे क्यो नही होता।

(i) लागतो में पूर्ण अन्तर (Absolute Differences in Costs)—क देश में (जैसा कि लागत अनुपात से स्पष्ट है) उत्पादन साधनो की एक इकाई या तो १ मन गेहूँ का उत्पादन करती है अथवा ½ मन कपास का। ख देश मे साधनो की एक इकाई या तो १ मन गेहूँ का उत्पादन करती है अथवा २ मन कपास का। यदि इनमें से प्रत्येक देश उत्पादन-शक्ति की दो इकाइयो को विशेपता दिए बिना लगाए तो सम्पूर्ण उत्पादन इस प्रकार होगा

क देश मे = १ मन गेहूँ + ½ मन कपास।
ख देश में = १ मन गेहूँ + २ मन कपास।
क + ख देशो मे = २ मन गेहूँ + २½ मन कपास।

यदि क देश केवल गेहूँ का उत्पादन करे और ख देश केवल कपास, तो उन्ही उत्पादन के साधनो से इस प्रकार प्राप्ति होगी

क = २ मन गेहूँ
ख = ४ मन कपास
क + ख = २ मन गहूँ + ४ मन कपास

इस प्रकार उन्ही उत्पादन साधनो के विशेपीकरण से १½ मन अधिक कपास की प्राप्ति होगी। यह व्यापार से लाभ है।

(ii) लागतो में समान अन्तर (Equal Differences in Costs)—दूसरी अवस्था में विशेपीकरण के बिना और विशेपीकरण के साथ सम्पूर्ण उत्पादन समान है।

विशेपीकरण के बिना

क = १ मन गेहूँ + ½ मन कपास
ख = १ मन गेहूँ + ½ मन कपास
क + ख = २ मन गेहूँ + १ मन कपास

विशेपीकरण से : जब कि क देश सिर्फ गेहूँ का उत्पादन करता है और ख देश सिर्फ कपास का।

क = २ मन गेहूँ।
ख = १ मन कपास।
क + ख = २ मन गेहूँ + १ मन कपास।

(iii) लागतो में सापेक्ष अन्तर (Comparative Differences in Costs)—इस सूत्र मे विशेपीकरण से आधिक्य (surplus) होता है।

विशेपीकरण के बिना :

क = १ मन गेहूँ + ५० मन कपास
ख = १ मन गेहूँ + ७१ मन कपास
क + ख = २ मन गहूँ + १ २१ मन कपास

विशेषीकरण के साथ : क देश गेहूँ पैदा करता है तथा ख सिर्फ कपास।

क=२ मन गेहूँ

ख=१४२ मन कपास

क+ख=२ मन गेहूँ+१४२ मन कपास

आधिक्य=२१ मन कपास

अत व्यापार म यही लाभ है।

५ लाभ की मात्रा निर्धारित करने वाले अश (Factors Determining the Size of Gain)—ऊपर के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाएगा कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कुल लाभ दोनो देशों में लागत के अनुपात के अन्तर पर निर्भर करते हैं। जितना ही अधिक तुलनात्मक लागतो म अन्तर होगा, उतना ही अधिक कुल लाभ होगा। हैरड (Harrod) के शब्दो मे, 'किसी देश को विदेशी व्यापार से तब लाभ होता है, जब व्यापारी यह जान लेते हैं कि अन्य देशो में कीमतो का अनुपात अपने देशो की अपेक्षा भिन्न है। वे वह वस्तुएँ क्रय करते हैं, जो उनको दूसरे देश मे सस्ती दीख पडती हैं, और उन वस्तुओं को बेचते हैं, जो दूसरे देश में महँगी दीख पडती है। जितना ही अधिक इन दोनो का अन्तर होगा, और जितनी ही अधिक महत्वपूर्ण वस्तु होगी, उतना ही अधिक व्यापार से लाभ होगा।"[1]

इस लाभ का विभाजन, जो दोनो पक्षो को मिलेगा, व्यापार की शर्तों पर निर्भर होगा, अर्थात् हमारे उदाहरण में जिस अनुपात में गेहूँ कपास के लिए बदला जाता है, यह अनुपात, जैसा कि हम बता चुके हैं, एक देश के लिए दूसरे देश की वस्तुओं की माँग की लोच अथवा दोनों की माँग की तीव्रता पर निर्भर है। जो देश खरीदने या बेचने के लिए अधिक उत्सुक होगा, अन्तत सौदे मे घाटा उठाएगा।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभ सम्बन्धित देशो में मुद्रा-आय के स्तर द्वारा प्राप्त किया जाएगा। यह स्तर यह भी बतलाएँगे कि कौन सा देश लाभदायक सौदा कर रहा है। यदि किसी देश की वस्तुओं की माँग दूसरे देशों में निरन्तर बनी रहती है तो उस देश की मुद्रा-आय का स्तर ऊँचा होगा। निर्यात करने वाले उद्योगो मे, अधिक विदेशी माँग के कारण, मजदूरी बढ जाएगी, ऐसे उद्योगो की सफलता दूसरे उद्योगो में भी मजदूरी को प्रभावित करेगी। प्रतियोगिता इन उद्योगो को निर्यात करने वाले उद्योगों के बराबर मजदूरी करने के लिए विवश करेगी। यदि ऐसा न होगा तो श्रम उन उद्योगो की ओर जाएगा जिनमें अधिक मजदूरी दी जा रही हो। इस भाँति सब आय बढ जाएगी। देश म इस प्रकार मुद्रा-आय तो बढ जाएगी लेकिन विदेशी वस्तुओं की कीमतें कम रहेंगी। इसलिए लोगो को विदेशी वस्तुओं के उपभोक्ता के रूप में लाभ होगा। इसके विपरीत उस देश म जिसकी विदेशी वस्तुओ की माँग अधिक है, मुद्रा-आय कम हो जाएगी, परन्तु विदेशी वस्तुओ के लिए उसे अधिक कीमत देनी पडेगी।

६ व्यापार की शर्तें (Terms of Trade)—हम पहले ही कह चुके हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे किसी देश को जो कुछ लाभ होता है, वह बहुत सीमा तक

1 Harrod—International Economics, P. 34.

व्यापार की शर्तों पर निर्भर करता है। कोई दो देश जिन शर्तों पर आपसी व्यापार करते हैं उन्ही को व्यापार की शर्तें कह सकते हैं। मोटे तौर पर इस प्रकार समझाया जा सकता है कि आयातो के बदले म जो कुछ, कोई देश निर्यात करता है, उसके मूल्य को व्यापार की शर्त समझना चाहिए। व्यापार की शर्तो मे आशय उन दरो या भावो (rates) से है जिन पर कोई देश अपनी वस्तुओ को दूसरे देश की वस्तुओ से विनिमय करता है। यदि दो देशों के बीच व्यापार इस प्रकार का है कि एक देश कृषिजन्य उत्पादन में विशेषीकरण प्राप्त कर रहा है जबकि दूसरा कारखानो की बनी वस्तुओं के उत्पादन म विशेषीकरण प्राप्त कर रहा है, तो कृषि-प्रधान देश को व्यापार से लाभ नही होगा। उस स्थिति म हम कहेगे कि व्यापार की शर्तें उक्त देश (कृषि प्रधान देश) के लिए लाभदायक नही थी। उसी प्रकार यदि कोई देश कच्ची धातुएँ तथा कच्चा माल निर्यात करता है, तो वह देश भी विदेशी व्यापार म अलाभदायक शर्तों के आधीन काम करता है। प्रतियोगी एव तुलनात्मक लागतो की सीमाओं के बीच, देशी वस्तुओ का विदेशी वस्तुओ के साथ विनिमय, परस्पर दोनो देशों की माँगो की तीव्रता पर निर्भर करेगा, अर्थात् क देश की माँग ख देश की वस्तुओं के लिए कितनी तीव्र है और ख देश की माँग, क देश की वस्तुओ क लिए कितनी तीव्र है, इस पर देशो के बीच का व्यापार निर्भर करेगा।

व्यापार की शर्तों (Terms of Trade) को सूत्र रूप में इस प्रकार उपस्थित किया जा सकता है।

$$\text{व्यापार की शर्तें} = \frac{\text{आयातो का मूल्य}}{\text{निर्याता का मूल्य}}$$

$$= \frac{\text{आयातो का मूल्य} \times \text{आयातो की मात्रा}}{\text{निर्याता का मूल्य} \times \text{निर्यातो की मात्रा}}$$

यदि आयातो और निर्यातो की मात्रा म परिवर्तन नही होता, तो व्यापार की शर्तों का सूत्र इस भिन्न से दिखाया जा सकता है— $\frac{\text{आयाता का मूल्य}}{\text{निर्याता का मूल्य}}$

यदि हम यह समझना चाहे कि व्यापार की शर्तो पर दीर्घ-काल मे क्या प्रभाव पड सकते हैं, तो हम आयातो और निर्यातो का देशनाक (index number) भी बना सकते हैं। किसी एक वर्ष को आधार वर्ष (=१००) माना जा सकता है। इस आधार वर्ष के आधार पर अन्य वर्षों के लिए देशनाक तैयार किए जा सकते हैं। इस प्रकार हमको नई भिन्न प्राप्त होगी जिससे हम जान सकेंगे कि दो देशो के बीच व्यापार की शर्तों का क्या रुख रहा।

किसी देश के लिए व्यापार की शर्तो का भारी महत्व है, क्योकि व्यापार की शर्तों के आधार पर ही जाना ही जा सकता है कि किसी देश को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभ हो रहा है या नही। यदि व्यापार की शर्तें किसी देश के हित मे हैं, तो उस देश को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभ बढ जाएगा; और फलस्वरूप उस देश के निवासियो की आय बढ जाएगी। और यदि किसी देश की व्यापार की शर्तें अलाभदायक हो जाती हैं तो विपरीत परिणाम होगे। मान लीजिए कि ऐसे देशो में,

जिनको हम अपने खाद्यान्न निर्यात करते हैं, एकाएक अत्यधिक अन्न पैदा होने लगता है। इसका फल यह होगा कि हमारे खाद्यान्न की माँग समाप्त हो जाएगी, या कम अवश्य हो जाएगी। फलस्वरूप हमारे कृषक वर्ग की आय कम हो जाएगी और उन्हे आर्थिक सकट का सामना करना पडेगा।

७ **विदेशी व्यापार से लाभ** (Advantages of Foreign Trade)—अब हम उन तमाम लाभो की ओर सकेत कर सकते हैं, जो विदेशी व्यापार करने वाले देशो को होते हैं—

(i) सवप्रथम वह लाभ है जो तमाम देशो मे श्रम विभाजन के सिद्धान्त के लागू होने से होता है। विदेशी व्यापार देशो को उन वस्तुओ के उत्पादन मे विशिष्ट होने के योग्य बनाता है, जिसके लिए वे पूर्णतया समथ हैं अथवा जिनके उत्पादन मे उनको सबसे अधिक लाभ है। इसके कारण वस्तुओ का उत्पादन अनुकूल दशाओ म होता है और इस भाँति समार की कुल सम्पत्ति तथा हित बढ जाता है।

(ii) विदेशी व्यापार न केवल उपभोक्ताओ को उन विदेशी वस्तुओ के उपभोग करने योग्य बनाता है, जिनका उत्पादन उनका देश नही कर सकता, वरन् वह अपनी आवश्यकताएँ ससार के सबसे सस्ते बाजार से प्राप्त करते हैं।

(iii) अकाल के समय मे एक देश के लोग विदेश से खाद्य पदार्थ का आयात करके अपने जीवन तथा स्वास्थ्य को बनाए रखन के योग्य होते हैं।

(iv) विदेशी प्रतियोगिता के भय से देशीय उत्पादकों को अपना उत्पादन आधुनिक रीति मे करने के लिए विवश होना पडता है। इसके अतिरिक्त यह एकाधिकार को रोक कर प्रतियोगिता को बढाता है। अतएव उपभोक्ता के लिए कीमत कम हो जाती है।

(v) विदेशी व्यापार से वे देश जिनके पास कच्चा माल नही होता आयात द्वारा कच्चा माल प्राप्त कर सकते हैं। इससे उन उद्योगो के विकास मे प्रोत्साहन मिलता है, जिनमे वे देश अन्यथा परिपूण हैं। इसके अतिरिक्त कच्चे माल का उपयोग सर्वश्रेष्ठ प्रकार से हो सकता है।

८ **विदेशी व्यापार से हानियाँ** (Disadvantages of Foreign Trade)—तो भी ऊपर लिखे हुए लाभ निम्नलिखित हानियो के कारण एक सीमा तक कम हो जाते हैं और फलस्वरूप विदेशी व्यापार के इतने लाभ नही रह जाते।

(i) विदेशी व्यापार से देश के आवश्यक पदार्थ व खनिजो की समाप्ति हो जाती है जिनका प्रतिस्थापन नही किया जा सकता।

(ii) विदेशी व्यापार देशी उद्योगो को विदेशी प्रतियोगिता के अधीन कर देता है और कभी-कभी तो विदेशी वस्तुओ का राशिपातन (dumping) होने लगता है। १९वी शती मे भारत की दस्तकारियो के पतन से हमारे आर्थिक ढाँचे को बडा धक्का पहुँचा और कृषि पर दबाव बढ गया। यह उस समय हुआ जब कि परिवहन और यातायात की उन्नति आदि से विदेशी प्रतियोगिता बढ गई। इसी विदेशी प्रतियोगिता ने भारतीय उद्योगो को आधुनिक रूप म विकसित होने मे रुकावटें डाली और फलस्वरूप हमारी आर्थिक व्यवस्था मध्यकालीन रह गई।

(iii) विदेशी व्यापार हानिकर वस्तुओं के आयात द्वारा लोगों के उपभोग की आदतों को बदल देता है। पिछली शताब्दी में अफीम के व्यापार से चीन को बड़ी हानि पहुँची।

(iv) इसके अतिरिक्त तुलनात्मक लागत के नियम (Law of Comparative Costs) के कार्यान्वित होने से देश केवल कुछ वस्तुओं में ही विशेषता प्राप्त कर लेता है। इससे लोगों को प्राप्त होने वाले व्यवसाय कम हो जाते हैं। अस्तु, किसी देश की आर्थिक व्यवस्था को स्थिर रखने के लिए देश में किसी एक उद्योग में अधिक विशेषीकरण बुरा होता है।

(v) अन्त में, विदेशी व्यापार देश की आर्थिक व्यवस्था को दूसरे देशों पर निर्भर कर देता है। यदि युद्ध अथवा दूसरे कारणों से वस्तुओं का आयात निर्यात स्वतन्त्रता से नहीं हो सकता, तब ऐसी दशा में देश की आर्थिक व्यवस्था को बड़ा धक्का पहुँचता है।

निर्देश पुस्तकें

Gordon, M S Barriers to World Trade
Haberler, G International Trade
Heuser, H Control of International Trade
Whale, B International Trade
Bertil, Ohlin Inter regional and International Trade
Taussig, F W International Trade
Harrod, R F International Economics
Tarshis, L The Elements of Economics, 1946, Chapter, 40
Meyers, A L Elements of Modern Economics, 1951, Ch 23
Samuelson, P A Economics 1948 Ch 16
Tinbergen, J International Economic Co operation

अध्याय ३८

अबाध व्यापार बनाम रक्षण

(Free Trade Vs Protection)[1]

१ अबाध व्यापार का सिद्धान्त (The Theory of Free Trade)—विभिन्न देशों के बीच वस्तुओं के अनियन्त्रित आदान प्रदान की नीति को अबाध व्यापार की नीति कहते हैं । परन्तु देशी उद्योगों को संरक्षण देने के लिए जो नियन्त्रण किए जाते हैं, वे रक्षण की नीति के अन्तर्गत होते हैं। एडम स्मिथ (Adam Smith) के शब्दों में, "स्वतन्त्र व्यापार व्यावसायिक नीति की उस प्रणाली को कहते हैं जिसमे देशी व विदेशी वस्तुओं म किसी प्रकार का भेद भाव नही रखा जाता और इसलिए न तो विदेशी वस्तुओं पर अनावश्यक कर लगाए जाते हैं और न स्वदेशी उद्योगों को कोई विशेष सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं ।"[2] इसके यह अर्थ नही है कि अबाध व्यापार के अन्तर्गत वस्तुओं पर किसी प्रकार के कर लगते ही नही । किन्तु जो भी कर लगें, वह केवल आय के लिए होने चाहिएँ, संरक्षण के लिए नही ।

व्यावहारिक नीति के रूप म अबाध व्यापार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के उस सिद्धान्त पर आधारित है जिसका अध्ययन हम पिछले अध्याय में कर चुके हैं। कैयरस (Cairnes) के शब्दों में, 'यदि किसी विशेष लाभ के हेतु कुछ राष्ट्र परस्पर व्यापार करना आरम्भ कर दें तो उनके अबाध व्यापारिक आदान प्रदान में किसी प्रकार का हस्तक्षेप उनको इस लाभ से वंचित कर देगा।'[3] इससे कहीं पहले एडम स्मिथ (Adam Smith) ने लिखा था कि 'यदि कोई बाहरी देश किसी वस्तु को हमारे उत्पादन की अपेक्षा अधिक सस्ती दे सकता है, तो इसम हम लाभ होगा कि हम किसी अन्य वस्तु को तैयार करें, जिसम हम अपेक्षाकृत अधिक सुविधाएँ प्राप्त हो और उसके विनिमय द्वारा विदेश की वस्तु को खरीदें ।" आगे चल कर वे फिर लिखते हैं कि "यदि किसी देश को अन्य देशों की अपेक्षा कोई सुविधा प्राप्त हो, तो चाहे वह सुविधा प्राकृतिक हो अथवा प्राप्त की हुई, यह कोई विशेष महत्व की बात नही है, क्योंकि जब तक उस देश को वे सुविधाएँ प्राप्त रहेंगी, उस समय तक दूसरे देशों के लिए बजाए स्वय उत्पादन करने के उस देश की वस्तुओं को खरीदना ही अधिक लाभप्रद होगा ।"[4] इस सम्बन्ध में एडम स्मिथ (Adam Smith) न केवल प्रतिरक्षा सम्बन्धी (defence)

---

1 Reproduced by Hess and others in *Outside Readings in Economics* pp 738 742

2 Quoted by Pelgrave in Dictionary of Political Economy, Vol II p 143

3 Cairnes Leading Principles of Political Economy, Pt III, Chapter IV, Sec I

4. Wealth of Nations, Book IV, Chapter II.

उद्योगो का सरक्षण आवश्यक बताया है। क्योकि समृद्धि की अपेक्षा देश की प्रतिरक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है।

२ रक्षण नीति (Protectionism)—देश के उद्योगो को कुछ सुविधाएँ या अभ्युपकार (bounties) देकर अथवा विदेशी वस्तुओ पर ऊँचे कर लगा कर प्रोत्साहन की नीति को रक्षण की नीति कहते हैं। इसका ध्येय स्वदेशी उद्योगो की उन्नति करना होता है, चाहे इसम कुछ समय के लिए उपभोक्ताओ के हितो को कुचलना भी पडे। रक्षण की नीति मे राजनीतिक व आर्थिक उद्देश्य मिले रहते हैं। "आर्थिक स्वतन्त्रता स्थापित करना व विदेशी वस्तुओ के 'आक्रमण' से अपने देश की रक्षा करना आदि ऐसी दलीलें हैं, जो रक्षण के समर्थको द्वारा दी जाती हैं। ये दलीलें ऐसी हैं, जिनसे पता चलता है कि रक्षण का विचार भयकर अन्तर्राष्ट्रीय सघर्ष के दिनो मे हुआ होगा।"[1] पर इस नीति का सबसे महत्त्वपूर्ण कारण राष्ट्रीयता के भावो का विकास है।

३ रक्षण के पक्ष में दलीलें (Arguments for Protection)—रक्षण के पक्ष मे जो दलीलें दी जाती हैं, वे निम्नलिखित हैं —

(i) प्रारम्भिक उद्योगो को रक्षण (The Infant Industry Argument)—इगलैण्ड का जेम्स स्टुअर्ट मिल (J S Mill) केवल इसी दलील को मानता था। मिल ने इस दलील की व्याख्या इस प्रकार की थी, 'जो कर रक्षण के लिए लगाए जाते हैं, वह यदि काफी समय तक रहे तो वह अपने प्रयोग के लिए (नए उद्योग चालू करने मे) सबसे कम असुविधाजनक उपाय है, जिसे कोई भी राष्ट्र अपना सकता है। पर यह आवश्यक है कि रक्षण केवल तभी दिया जाए जब यह विश्वास हो जाए कि कुछ समय पश्चात् रक्षित उद्योग को रक्षण की आवश्यकता नही रहेगी।"[2]

पर यह दलील सर्वमान्य नही है। इसकी आलोचना दो कारणो से हुई है. (क) एक बार रक्षण मिल जाने पर उद्योग को स्वार्थ आ घेरता है और तब रक्षण को हटाना असम्भव सा हो जाता है। (ख) एक बार इस आधार पर किसी उद्योग को रक्षण दे देने से सब प्रकार के उद्योग रक्षण माँगने लगते हैं। परिणामस्वरूप राजनीतिक भ्रष्टाचार फैल जाता है।

पर इन कमज़ोरियो के होते हुए भी ससार के बहुत से देशो ने इसी दलील के आधार पर रक्षण की नीति के द्वारा अपना उद्योगीकरण किया है, जैसे अमरीका, बहुत से ब्रिटिश डोमीनियन और भारत।

(ii) उद्योग का विभिन्नता एव बहुरूपता सम्बन्धी तर्क (Diversification of Industry Argument)—जर्मनी के फैडरिक लिस्ट (Frederich List) व दूसरे लेखको ने यह दलील दी। इसके अनुसार किसी देश के पास उत्पादन व व्यवसाय के विभिन्न एव बहुरूप साधन होने चाहिएँ। सतुलित आर्थिक प्रणाली के लिए यह आवश्यक है। किसी एक अथवा थोडे से उद्योगो पर निर्भर रहना राजनीतिक व आर्थिक दोनो दृष्टियो से हानिकारक है। राजनीतिक दृष्टि से तो इसके अर्थ यह होते

1 Pelgrave, op cit p 234

2 Mill, J S—Principles of Political Economy, Book V, Ch. 10, Sec 1.

है कि ऐसी दशा म राष्ट्र को विदेशी व्यापार पर अत्यधिक निर्भर रहना पडेगा, जो युद्ध के समय में समाप्त हो सकता है। आर्थिक दृष्टि से यह इसलिए हानिकारक है कि ऐसा करने से कुछ परिस्थितियो म उस उद्योग मे बड़ी गड़बडी मच जाने के कारण देश मे आर्थिक अव्यवस्था पैदा हो सकती है। जो देश केवल कृषि पर ही निर्भर रहते हैं, उनके लिए तो उद्योगो और रोजगारो म *विभिन्नता और बहुरूपता पैदा करना* और भी अधिक आवश्यक है। क्योकि कृषि से आय कम होती है। यह दलील भारत के ऊपर विशेष रूप से लागू होती है।

किन्तु यह बात ध्यान रखने योग्य है कि इस दलील से तुलनात्मक व्यय का सिद्धान्त पूर्णत समाप्त हो जाता है, क्योकि इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक देश को कुछ उद्योगो म विशेषीकरण प्राप्त करना चाहिए जब कि उद्योगो के बहुरूपता सम्बन्धी तर्क के अनुसार देश उन वस्तुओ का भी उत्पादन करता है जिनसे उसे अपेक्षाकृत लाभ न हो।

(iii) **रोजगार का तर्क** (The Employment Argument)—यह कहा जाता है कि *रक्षण के द्वारा औद्योगिक विकास से रोजगार बढ जाता है।* यदि रक्षण न मिले तो विदेशी प्रतियोगिता पुराने उद्योगो को भी समाप्त करके देश में बेकारी फैला देगी। १९वीं शताब्दी मे विदेशी प्रतियोगिता के कारण भारतीय दस्तकारी का पतन और फलस्वरूप फैलने वाली बेकारी इस बात का प्रत्यक्ष उदाहरण है। अबाध या स्वतन्त्र व्यापार के समर्थको का कहना है कि रक्षण से रोजगार बढता नही, वरन् उससे केवल रोजगार रक्षित उद्योगो म केन्द्रित हो जाता है। इसके विपरीत यदि विदेशी प्रतियोगिता देशी उद्योगो की समाप्ति भी कर देती है, तो भी उस देश मे दूसरे निर्यात सम्बन्धी उद्योग विकसित हो सकते हैं. अथवा वहाँ के लोग दूसरे स्थानो को जा सकते है। ऐसा यह मान कर कहा जाता है कि श्रम व पूँजी आसानी से एक उद्योग से दूसरे उद्योग और एक देश से दूसरे देश को जा सकते हैं। *वास्तव मे ऐसा* बहुत धीरे-धीरे होता है। अबाध व्यापार के समर्थक यह भी मान लेते हैं कि देश के सारे उत्पादन साधन पूर्णरूप से नियोजित हैं, जब कि वास्तविकता यह है कि भारत जैसे देश म ऐसे साधनो का पर्याप्त रूप म नियोजन नही हुआ है।

(iv) **राष्ट्रीय साधनो का अधिरक्षण** (Conservation of National Resources)—केरे और पैटन (Carey and Patten) के कथनानुसार अबाध व्यापार का परिणाम यह हुआ कि अमरीका की सारी फसलो का निर्यात हुआ और भूमि की उत्पादन-शक्ति को क्षति पहुँची। इगलैण्ड में जैवेन्स (Jevons) ने कोयले के निर्यात के सम्बन्ध मे भी यही दलील दी थी। दक्षिणी अफ्रीका मे सोने के सम्बन्ध म और भारत म अभ्रक (Mica) और लोहक धातु के सम्बन्ध मे यही दलील दी जाती है।

(v) **'प्रतिरक्षा' का तर्क** (The Defence' Argument)—एडम स्मिथ (Adam Smith) का कहना है कि '*सुरक्षा समृद्धि से कहीं महत्त्वपूर्ण है।*" कहा जाता है कि भले ही कोई देश आर्थिक दृष्टि से समृद्धिशाली न हो, उसको सैनिक दृष्टि से *बहुत अधिक शक्तिशाली होना चाहिए।* हिटलर जर्मनी के लोगो से कहा करता था, 'बन्दूकें मक्खन से कहीं अच्छी होती हैं।" इस दलील के अनुसार उन

उद्योगो के विकास को प्रोत्साहन देना चाहिए जिनसे सुरक्षा सम्बन्धित है, चाहे इससे राष्ट्रीय स्रोतो का वितरण आर्थिक व्यवस्था के विरुद्ध ही क्यो न हो।

अबाध व्यापार के समर्थक कहते है कि यह तो अर्थशास्त्र की नही बल्कि राजनीति की बात है। आर्थिक दृष्टि से तो अबाध व्यापार ही आदर्श है।

(vi) **राजस्व सम्बन्धी तर्क** (The 'Revenue' Argument)—आय की दृष्टि से भी रक्षण का समथन होता है। रक्षण की दृष्टि से लगाए गए आयात-करो से अच्छी आय होती है। भारत में आयात-निर्यात करो तथा सीमा शुल्को से बहुत लाभ हुआ है।

किन्तु राजस्व व रक्षण एक सीमा तक परस्पर-विरोधी भी हैं। यदि पूर्ण रक्षण प्रदान किया जाए तो सरकार को कोई आय (राजस्व से) नही होगी, क्योकि इससे विदेशी व्यापार बन्द हो जाता है। जब विदेशी वस्तुएँ आएँगी ही नही तो उन पर लगे करो से आय भी बन्द हो जाएगी। इसके विपरीत यदि हम आय (राजस्व) चाहते हैं तो विदेशी वस्तुओ को आने देना चाहिए। इससे हमारे उद्योगो को रक्षण प्राप्त नही होगा। यह विरोध पूण रक्षण और पूर्ण राजस्व में है पर यदि कर कुछ हल्के हो तो आय भी होती रहेगी और रक्षण भी मिलता रहेगा।

(vii) **'मूल-उद्योग' का तर्क** ('Key Industry' Argument)—यदि हम यह चाहते है कि किसी देश का औद्योगिक ढांचा स्थिर व मजबूत रहे तो यह आवश्यक है कि उसमें कुछ प्रमुख या मूल उद्योगो का विकास किया जाए। मूल उद्योगो (basic industries) के बिना मानो देश का औद्योगिक भवन बाल की दीवार है जो कभी भी गिर सकती है। यदि किसी देश म इन उद्योगो के लिए तुलनात्मक सुविधाएँ न भी हो तो भी उन्हे विकसित करने के लिए उनका रक्षण आवश्यक है।

(viii) **'देश-भक्ति' का तर्क** ('Patriotism' Argument)—रक्षण का समर्थन देशभक्ति की दृष्टि से भी किया जाता है। प्रत्यक नागरिक का कर्त्तव्य है कि जहाँ तक हो सवे वह देशी वस्तुओं का ही प्रयोग करे।

(ix) **'आत्म निर्भरता' का तर्क** ('Self-Sufficiency' Argument)—एक और तक यह है कि हर देश को अपने आप मे सम्पूर्ण होना चाहिए और अपने प्रयोग म आने वाली वस्तुओ के लिए दूसरे देशो पर निर्भर नही रहना चाहिए। दूसरे देशो पर निर्भर रहना युद्ध के दिनो म विशेष रूप से हानिकारक होता है क्योकि आपात-काल म किसी भी समय विदेशी व्यापार ठप्प हो सकता है। और आजकल तो जब कि आकाश पर युद्ध के बादल मँडरा रहे हैं, इस दलील का विशेष महत्त्व है।

४ रक्षण के विरुद्ध दलीलें (Arguments Against Protection)—अब हम रक्षण का दूसरा पहलू देखेंगे। इसके विरुद्ध निम्नलिखित दलीलें दी जाती हैं—

(i) उद्योगो में निहित स्वार्थ पैदा हो जाते है। एक बार जब किसी उद्योग को रक्षण मिल जाता है तो उसको हटाना बहुत ही कठिन हो जाता है। वे रक्षण

को अपना अधिकार मान लेते हैं। प्रारम्भिक स्थिति के नाम पर वे उद्योग रक्षण के हटते ही शोर मचाने लगते हैं।

(ii) रक्षण से उद्योग म आलस्य या शिथिलता आ जाती है। विदेशी प्रतियोगिता के समाप्त हो जाने से देश के व्यवसायी लापरवाह हो जाते हैं। वे किसी प्रकार उन्नति नही करते। इससे टेक्नीकल या तकनीकी प्रवीणता नष्ट हो जाती है।

(iii) रक्षण से भ्रष्टाचार फैलता है। उद्योगपति विधान सभा के सदस्यो को घूस देकर रक्षण नही हटने देते। किसी समय अमरीका मे इस घूसखोरी की बुराई का बडा जोर था।

(iv) रक्षण से एकाधिकार का जन्म होता है। टैरिफ या प्रशुल्क (tariff) न्यासो (trusts) की जननी है। विदेशी प्रतियोगिता समाप्त हो जाने से देश के व्यवसायी गुटबन्दी द्वारा एकाधिकार के लाभ प्राप्त करते हैं। यही भारतीय शूगर सिंडीकेट के उदय का कारण है।

(v) ऐसी दशा म अरक्षित उद्योग और उपभोक्ता हानि उठाते हैं, क्योकि आयात-करो के कारण कीमतें अत्यधिक बढ जाती हैं।

(vi) धन का वितरण असमान हो जाता है। रक्षण पूँजीवादियो का पक्ष करता है और वे अधिक अमीर हो जाते हैं। इस प्रकार अमीरी और गरीबी के बीच की खाई बढती ही जाती है।

(vii) रक्षण से अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार मे तनाव आ जाता है। इस प्रकार यह युद्ध के बीज बोता है।

(viii) रक्षण के विरुद्ध सबसे बडी दलील यह है कि इससे अन्तर्राष्ट्रीय श्रमविभाजन म कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। श्रम पूँजी व उत्पादन के दूसरे साधन सर्वाधिक लाभ वाले उद्योगो में नही जा सकते। इन साधनो का वितरण आर्थिक नियमो के अनुकूल नही रह जाता। फलस्वरूप, बहु वस्तुओ के उत्पादन म अपना पूरा सहयोग नही दे पाते और उत्पादन म कमी होने के कारण जीवन स्तर नीचा होने लगता है और इस प्रकार सारे ससार की उन्नति रुक जाती है।

इस तर्क का यह उत्तर दिया जा सकता है कि जब तक सासारिक नागरिकता आरम्भ नही होती तब तक आर्थिक रूप से शक्तिवान देशो की प्रतियोगिता से अपने हितों की रक्षा के लिए पिछडे हुए देशो को रक्षण का सहारा लेना आवश्यक है।

इसलिए हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि सिद्धान्त के रूप मे चाहे अबाध व्यापार आदर्श हो, किन्तु क्रियात्मक दृष्टि से कुछ परिस्थितियो मे रक्षण आवश्यक होता है, विशेषकर भारत जैसे अध विकसित देशो में।

५ विदेशी व्यापार पर प्रतिबन्ध (Barriers to Foreign Trade)—आर्थिक दृष्टि से पिछडे हुए देशो म रक्षणवाद के जोर पकडने से, विदेशी व्यापार पर, अनेक प्रतिबन्ध लगाए गए हैं। विदेशी व्यापार पर कई प्रकार की रुकावटें हो सकती हैं। उनमे से कुछ य हैं—(१) आयात अथवा निर्यात का निषेध, (२) विनिमय नियन्त्रण, (३) आयात निर्यात कर, (४) अधिमान्य व्यवहार, (५) कोटा, (६) आयात के लिए लाइसेन्स, (७) आयात सम्बन्धी एकाधिकार आदि।

(१) आयात अथवा निर्यात का निषेध (Prohibition of Imports or Exports)—कभी-कभी सरकार की ओर से कुछ विशेष परिस्थितियो मे कुछ वस्तुओ का आयात बन्द कर दिया जाता है। उदाहरण के लिए कही-कही पर "स्वच्छता के नियम" ("sanitary regulations") होते हैं। एक बार संयुक्त राष्ट्र अमरीका ने अर्जेण्टाइना के किसी प्रदेश से आने वाले गो-मांस को बन्द कर दिया था क्योकि वहाँ पर जानवरो के मुँह और पैर मे बीमारी हो गई थी। बाद में यह निरोध सम्पूर्ण अर्जेण्टाइना से आने वाले गो-मांस पर लगा दिया गया। कभी-कभी कुछ देश परोक्ष रूप से आयात कम करने के लिए निर्यात करने से इन्कार कर देते हैं, जब तक कि उत्पादन का कुछ काम उसी देश म न होने लगे। रूमानिया केवल इस शर्त पर अपने तेल का निर्यात करने को तैयार था कि उसे रूमानिया मे ही साफ किया जाए। इसके विपरीत हगरी की यह शर्त थी कि वह तभी रूमानिया से तेल लेगा जब कि उसकी सफाई निर्यात के बाद हगरी म हो।

(२) विनिमय नियन्त्रण (Exchange Control)—जब राज्य की ओर से विदेशी विनिमय के क्रय-विक्रय म सरकारी हस्तक्षेप होता है, तो उसे "विनिमय नियन्त्रण" कहते हैं। इस प्रकार विदेशी व्यापार को कम करके उसे कुछ निश्चित दिशाओ की ओर कर दिया जाता है। ऐमी दशा में सरकार एक निश्चित राशन के अनुसार व्यापारियो को दूसरे देशों में केवल सीमित रूप मे क्रय करने का अधिकार देती है। यही नही, वह विनिमय को 'बिलकुल बन्द' (block) भी कर सकती है। उदाहरणार्थ एक अमरीकन, जो जर्मनी को वस्तुओ का निर्यात करता है, उसे इस बात के लिए बाध्य किया जा सकता है कि वह वहाँ से मिले हुए मार्क सिक्के से जर्मनी मे ही क्रय करे। दूसरे उपाय का नाम विनिमय समाशोधन (exchange clearing) है। इस प्रकार एक जर्मन जो अमरीका से १,००० डालर का माल खरीदता है उसके लिए यह आवश्यक होगा कि वह उस धन को जर्मनी मे ही किसी बैंक के पास जमा कर दे और यदि कोई जर्मन उसी दाम का माल किसी अमरीकन को बेचता है तो उस बैंक से माल का भुगतान हो सकता है। इस प्रकार यह प्रयत्न किया जा सकता है कि बिना विदेशी विनिमय के विदेशी व्यापार चलता रहे।

(३) सीमा शुल्क (Customs Duties)—यह बहुत प्राचीन उपाय है, जिसके अन्तर्गत आयात और निर्यात पर आयात व निर्यात कर लगाए जाते हैं। निर्यात कर की अपेक्षा आयात कर अधिक प्रचलित है। जब कर परिमाण अथवा माप के अनुसार लगाया जाता है तो वह निश्चित कर (specific duty) कहलाता है, जैसे एक आना प्रति गज कपड़ा अथवा दो रुपये प्रति मन गेहूँ। जब वह कर मूल्य के अनुसार लगता है तो इसे मूल्यानुसार कर (ad valorem) कहते हैं, जैसे १०% मोटरो पर अथवा रेडियो पर।

इस प्रकार के सीमाशुल्को का उद्देश्य या तो राजस्व प्राप्त करना होता है अथवा रक्षण देना। सूती कपडे के उद्योग को रक्षित करने के लिए कच्ची कपास के आयात पर कर लगा कर उसे उत्पादक के लिए सस्ता बनाया जा सकता है अथवा सूती कपडो पर आयात कर भी लगाया जा सकता है। दूसरा उपाय अधिक प्रचलित

है। सीमाशुल्क विशेषकर राजस्व प्राप्ति के लिए ही लगाए जाते हैं, और आमतौर पर वित्तीय वर्ष भर के लिए ही लगाए जाते हैं। इन शुल्को म परिवर्तन हो सकता है, या इन्हे अगले वित्तीय वर्ष म हटाया भी जा सकता है। इसके विपरीत रक्षण शुल्क काफी लम्बे समय तक चलते हैं। चूंकि रक्षण शुल्को का उद्देश्य पूंजी और श्रम को किसी उद्योग विशेष की ओर आकर्षित करना होता है, इसलिए ऐसे शुल्क काफी लम्बे समय के लिए लगाए जाने चाहिएं।

(४) अधिमान्य व्यवहार (Preferential Treatment)—कभी कभी विभिन्न देशो की वस्तुओ के ऊपर लगने वाले करो पर पक्षपातपूर्ण बर्ताव होता है। उदाहरण क लिए १६३२ क ओटावा समझौते के अनुसार भारत म अग्रेजी वस्तुओ के साथ पक्षपातपूर्ण व्यवहार होता था। भारत की वस्तुओ के साथ भी ब्रिटेन में साम्राज्य स बाहर की वस्तुओ के विरुद्ध पक्षपातपूर्ण व्यवहार होता था। इसे शाही अधिमान कहते है। इस प्रकार के समझौते से व्यापारिक दल बन जाते हैं और अतर्राष्ट्रीय व्यापार इस प्रकार कम हो जाता है। इसके अतिरिक्त यह भी हो जाता है कि जिन देशो की वस्तुओ पर अधिक कर लग हो वे अपने देशो म सम्बन्धित देशो की वस्तुओ के विरुद्ध बदले की भावना से बहुत ऊँचे आयात कर लगा दें।

(५) कोटा प्रतिबन्ध (Quota Restrictions)—कोटा दो प्रकार के होते हैं (क) आशुल्क कोटा (customs quota) और (ख) आयात कोटा (import quota)। पहले प्रकार के कोटे के अनुसार किसी वस्तु की कुछ मात्रा कम कर पर ली जाती है और उस मात्रा के पश्चात पूरा कर लिया जाता है। मात्रा की यह सीमाएं समझौते द्वारा निश्चित की जाती हैं जैसे अमरीका, कनाडा की क्रीम व दूसरी वस्तुओ के साथ इसी प्रकार का व्यवहार करता है। आयात कोटे का प्रभाव व्यापार के ऊपर अधिक गम्भीर होता है। इसमे एक मात्रा के बाद फिर उस वस्तु का आयात उस निश्चित समय म हो ही नही सकता।

आयात करो से राज्य को राजस्व प्राप्त होता है, पर कोटा प्रणाली में विदेशी कीमत का और देशी कीमत का अन्तर आयात करने वाले की जेब म जाता है और कोटे के लिए सम्पूर्ण व्यवस्था का व्यय सरकार को भुगतना पडता है। यदि निर्यात करने वालो के पास लाइसेंस हो और वे सगठित हो तो यह रुपया उनकी जेबो म भी जा सकता है। जबकि आयात करने वालो में उक्त वस्तु की पर्याप्त मांग होती है।

कोटे बहुत लोचपूर्ण होते हैं क्योंकि वे प्रशासन (administration) के अधीन होते हैं और विधान के अधीन नही होते।

इस नियम से एक लाभ और भी है। वह यह कि इस प्रणाली में चूंकि आयात की मात्रा निश्चित की जाती है, इसलिए देशी व्यापारी अपने उत्पादन की उस मात्रा के अनुसार उसे व्यवस्थित कर सकते हैं। कोटे की प्रणाली आयात करो की अपेक्षा कम बुरी समझी जाती है। इसके अतिरिक्त दूसरे देशो से व्यापारिक समझौते करते समय इनसे सौदे अच्छे हो सकते है। इसी समझौते के कारण जब आयात कर बढाना आवश्यक हो जाता है तो इन्हे रक्षण बढान के लिए कम भी किया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त सर्वाधिक सुविधा प्राप्त राष्ट्र (most favoured nations) का सिद्धान्त इसके द्वारा हट सकता है।

किन्तु कोटा प्रणाली से बहुत सी हानियाँ भी हैं। देश का बाजार ससार के बाजार से पृथक् हो जाता है। यदि दूसरे देशों मे कीमतें गिर रही हों तब भी उनका कोई प्रभाव देश के बाजार पर नही पडता। कोटा निश्चित होने के कारण और अधिक वस्तुएँ नही मँगाई जा सकती। पर आयात करो के विषय म ऐसा नही होता, क्योकि उसम ससार की कीमतों के गिरने के साथ-साथ देश म भी कीमतें गिर जाती हैं। इसी प्रकार यदि विदेशी निर्यात करने वाले अपने व्यय कम कर देते हैं तो उससे आयात करने वाले देश के उपभोक्ता उतना लाभ नही उठा सकते जितना कि स्थिर आयात कर की दशा में उठा सकते हैं। कोटा प्रणाली से सरकार को आय में बडी क्षति उठानी पडती है। इसके अतिरिक्त इस प्रणाली के अन्तर्गत अधिकतर शक्ति प्रशासकों के हाथ म रहती है विधान मण्डलों के हाथ म नही।

(६) आयात लाइसेंस (Import Licence)—इस प्रणाली के अन्तर्गत बिना लाइसेंस के सरकार किसी प्रकार के आयात की आज्ञा नही देती। इस प्रकार आयात कम हो जाते हैं और कुछ वस्तुओं के आयात पर प्रतिबन्ध लग जाता है।

(७) आयात एकाधिकार (Import Monopolies)—कभी कभी सरकार आयात कम अथवा उनम भेदभाव करने के लिए, आयातों पर सरकारी एकाधिकार स्थापित कर लेती है, जैसा कि रूस में है।

दोनों युद्धों के बीच के समय में विशेषकर महामन्दी के दिनों म, विभिन्न देशों द्वारा आर्थिक राष्ट्रीयता की भावना से इन प्रतिबन्धों का व्यापक प्रयोग हुआ था।

निर्देश पुस्तकें

Cairnes, J E Leading Principles of Political Economy
Adam Smith Wealth of Nations Book IV, Ch II
Carey, H C Principles of Social Science
List, F The National System of Political Economy
Mill J S Principles of Political Economy
Viner The Tariff Questions and the Economists
Beveridge Tariffs
Benham F Economics
Knight, B W Economic Principles in Practice
Ganguli Reconstruction of World Trade
League of Nations Commercial Policy in the Post War Period
International Currency Experience 1944
Tarshis, L The Elements of Economics 1946, Ch 42
Conference Number of the Indian Economic Association for the year, 1948

अध्याय ३६

भुगतान-शेष

(Balance of Payments)

१ व्यापार शेष तथा भुगतान शेष (Balance of Trade and Balance of Payments)—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार चाहे अबाध हो, चाहे नियन्त्रित, यह किसी-न-किसी समय वस्तुओं और सेवाओं के आयात और निर्यात पर उसी मात्रा में प्रभाव डालेगा जिस हद तक वह अबाध है या नियन्त्रित। कोई भी देश निर्यात म कमी किए बगैर आयात म कमी नही कर सकता। यदि देशो को अपना अस्तित्व रखना है, तो उनके लेखे का सन्तुलन आवश्यक है।

प्रत्यक्ष (visible) और अप्रत्यक्ष (invisible) आयात और निर्यात की मदो को समझना जरूरी है। जब वस्तुएँ, जिनम निधि भी शामिल है, देश में बाहर से लाई जाती हैं या देश के बाहर भेजी जाती हैं तो बन्दरगाहो पर उनको खातो मे दर्ज किया जाता है। वह व्यापार की 'प्रत्यक्ष" मदें कहलाती है। सेवाओं के आयात और निर्यात का कोई लेखा नही किया जाता। इसलिए वे 'अप्रत्यक्ष" वस्तुएँ कहलाती हैं।

व्यापार के शेष का सम्बन्ध केवल वस्तुओ और निधि अर्थात् प्रत्यक्ष चीजो के मूल्यो से ही है जिनम कोष (treasure) अथवा प्रत्यक्ष मदें शामिल हैं। भुगतान शेष (balance of accounts or balance of payments) का अर्थ समस्त विकलनों (debits) या समाकलनो (credits) से है चाहे वह प्रत्यक्ष मदो के कारण हों या अप्रत्यक्ष मदों के कारण। विकलन और समाकलन का अन्त म सन्तुलन होना आवश्यक है। आयात और निर्यात व्यापार की वस्तुओ का सन्तुलित होना आवश्यक नही और ऐसा होता भी बहुत कम है। जब आयात निर्यात से अधिक होते हैं (एक वर्ष में), तब यह कहा जाता है कि व्यापार शेष विपरीत, अभावसूचक, निष्क्रिय या देश के लिए प्रतिकूल है, जब निर्यात अधिक होता है तो व्यापार-शेष वास्तविक क्रियाशील तथा अनुकूल कहलाता है। यह शब्द इगलैंड की अठारहवीं शताब्दी की वाणिज्य-प्रणाली (mercantilist school) के समय से चले आ रहे हैं। वे लोग आयात के ऊपर निर्यात की अधिकता को हितकर समझते थे, क्योंकि इस अधिकता के कारण उनके देश में अधिक सोना आता था। महत्वपूर्ण वस्तु व्यापार-शेष नही है, बल्कि भुगतान-शेष या लेखा शेष है। किसी देश के लेखे का सन्तुलन अन्त म होना ही चाहिए। इन्ही अर्थों म यह कहा जाता है कि निर्यात ही आयातो के आधार हैं। निरन्तर प्रतिकूल भुगतान-शेष का अर्थ यह है कि वह देश दिवालिया होता जा रहा है।

उक्त कथन के अनुसार एक अनुकूल सन्तुलन का अर्थ जरूरी तौर पर यह नही है कि वह देश अन्तर्राष्ट्रीय लेन देन (transactions) की अनुकूल स्थिति म है

या वह उन्नतिशील है। वास्तव मे इसकी विपरीत स्थिति की अधिक सम्भावना है। ब्रिटेन का साधारणतः व्यापार-शेष प्रतिकूल रहता था जब कि भारत का अनुकूल। फिर भी ब्रिटेन भारत से कही अधिक समृद्धिशाली है।

२. भुगतान-शेष में आने वाले विषय (Items Entering Balance of Payments)—किसी देश का भुगतान-शेष क्या है ? इसके अन्तर्गत विभिन्न मदें इस प्रकार हैं :—

(क) मुख्य मदें आयात और निर्यात की गई वस्तुएँ हैं, जैसा कि बतलाया गया है। आयात और निर्यात के मूल्य को तुलना करने से हम व्यापार-शेष का ज्ञान होता है।

(ख) इसके उपरान्त अप्रत्यक्ष आयात और निर्यात आते हैं। ऐसी सेवाएँ कई प्रकार की हो सकती हैं जैसे परिवहन सेवाएँ, जहाजो का भाडा, यात्रियो का किराया बन्दरगाह और नहर के किराए पोस्ट, टेलीफोन तथा तार का शुल्क, व्यावसायिक सेवाएँ (शुल्क तथा कमीशन), अर्थ-सम्बन्धी सेवाएँ (दलालो के शुल्क आदि) और यात्रियो की यातायात सम्बन्धी सेवाएँ। इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि इसमे से कोई भी सेवा दो बार न गिनी जाय। इस प्रकार यदि बाहर से मँगाई हुई किसी वस्तु को बढे हुए दाम पर बाहर भेजा जाता है तो उस समय अप्रत्यक्ष निर्यात मे आने वाली सेवाओ के कारण हुए अन्तर आयात और निर्यात के दामो द्वारा प्रदर्शित होंगे। ऐसी दशा मे इसको अलग अलग नही गिनना चाहिए।

(ग) कभी-कभी व्यापार शेष और सेवाओ का सन्तुलन एक साथ कर दिए जाते हैं और साख के सन्तुलन से उनके अन्तर दिखलाए जाते हैं। इसके अन्तर्गत एक ओर ब्याज सन्तुलन (interest balance) है और दूसरी ओर पूँजी-सन्तुलन (capital balance) हो सकता है।

ब्याज सतुलन (interest balance) मे निम्न बातें सम्मिलित हैं—

सरकारी, म्युनिसिपल तथा निजी ऋणो के नियत ब्याज, परिवर्तनशील लाभ तथा लाभाश, लगान आदि।

पूँजी सन्तुलन (capital balance) मे दीर्घावधि तथा अल्पावधि विनियोगो (investments) म अन्तर देखना आवश्यक होगा। दीर्घावधि पूँजी निर्यात मे विदेशी उद्योगों के शेयर तथा विदेश मे लिये गए ऋणो के पुन भुगतान आते हैं। अल्पावधि पूँजी निर्यात में विदेश के बैंकों मे जमा धन मे कोई बढती विदेशी हुण्डी का रखना आदि आते हैं।

(घ) अन्त मे, कुछ ऐसी मदें भी है, जो भुगतान शेष के अन्तर्गत मानी जाती हैं। ये हैं सरकारी लेन-देन, जैसे कि कूटनीतिक प्रतिनिधियो (diplomatic representatives) के वेतन, आर्थिक सहायता (subsidies), युद्ध क्षति-पूर्ति (reparations), धन के उपहार जैसे कि उत्प्रवासियो (emigrants) द्वारा स्वदेश में भेजा गया धन, आदि।

ये ऐसी मदें है, जो भुगतान-शेष का पता लगाते समय साधारणतया ध्यान मे रखनी चाहिएँ। जो भी हो, इस शब्द का हमेशा एक ही अर्थ नही होता। इस प्रकार—

(i) किसी समय इसका अर्थ एक विशेष समय की अवधि में होने वाली विदेशी मुद्रा की खरीदी गई या बची गई रकम से होता है । (ii) इस शब्द का अर्थ एक दिए हुए समय में विदेश को भुगतान की हुई रकम या विदेश से मिली हुई रकम में भी होता है । यह बात ऊपर दी हुई (i) जैसी नहीं है। भुगतान केवल विदेशी मुद्रा खरीद कर ही नहीं किया जा सकता बल्कि पूर्वत रखी हुई विदेशी मुद्रा का हस्तान्तरण किया जा सकता है। (iii) इस शब्द का प्रयोग एक और अधिक सीमित अर्थ में भी होता है । जैसे, जब इसे आय लेखा (income account) के भुगतान शेष में प्रयोग करते हैं। इसके अन्तर्गत ब्याज शेष, व्यापार शेष और सेवाओं के शेष आएंगे। (iv) ऊपर दिए हुए अर्थ से एक कदम और आगे बढ़ने पर इस शब्द का अर्थ "अन्तर्राष्ट्रीय ऋणग्रस्तता" (international indebtedness) होगा, जो कि किसी नियत समय के अन्दर आन वाले दायित्वों के अन्तर्गत नहीं होता । यह किसी समय के दावों (claims) और दायित्वों (liabilities) की सम्पूर्ण मात्रा का प्रदर्शन करता है। (v) भुगतान शेष का सब से अधिक महत्त्व विनिमय की दर (rate of exchange) पर उसके प्रभाव द्वारा उत्पन्न होता है। विनिमय की दर का अर्थ है स्वदेशी मुद्रा का विदेशी मुद्रा या मुद्राओं की दृष्टि से मूल्य। इस दृष्टिकोण से यह पर्याप्त नहीं है कि हम किसी दिए हुए क्षण में या किसी समय की अवधि में पूरे होने वाले दायित्वों का माप करें। ऐसी परिस्थिति में सब से अच्छी विधि तो यह है कि यहाँ पर मांग और पूर्ति के विश्लेषण का प्रयोग किया जाए। स्वदेशी मुद्रा की दृष्टि से इसको विदेशी मुद्रा का दाम माना जा सकता है । भुगतान शेष में ली गई मदों के आधार पर स्वदेशी मुद्रा (या विदेशी मुद्रा) की पूर्ति या मांग का पता चल सकता है। हेबरलर (Haberler) का कहना है 'भुगतान शेष शब्द का उपयोग उस समय पूर्ण मांग या पूर्ति की दशा के अर्थ में होता है।" इस अर्थ में हम इस शब्द का प्रयोग विदेशी विनिमय (foreign exchange) के अध्ययन के समय करेंगे।

भारत का सन् १६५६-५७ का (प्रारम्भिक) भुगतान शेष तथा अप्रैल ५७ से सितम्बर ५७ तक का लेखा सामने दिया गया है।

३ भुगतान-शेष की साम्यावस्था (Equilibrium of Balance of Payments)—जिस समय किसी देश में भुगतान शेष की साम्यावस्था होती है, उस स्थिति में स्वदेश की मुद्रा की मांग उसकी पूर्ति के बराबर होती है। इस प्रकार उस समय मांग और पूर्ति की परिस्थिति न तो अनुकूल ही होती है और न प्रतिकूल । यदि भुगतान शेष किसी देश की प्रतिकूल दिशा की ओर बढ़ता है तो उस समय वस्तुओं और सेवाओं के निर्यात या और दूसरे प्रकार के निर्यातों को प्रोत्साहन देकर या सब प्रकार के आयात को निरुत्साहित करके उसकी व्यवस्था करनी ही चाहिए। कोई भी देश सदैव प्रतिकूल भुगतान शेष की स्थिति में नहीं रह सकता, जब कि यह सम्भव है और अनेक देशों में अक्सर ऐसा होता है कि उनका व्यापार शेष सदैव प्रतिकूल रहता है । देश के सम्पूर्ण दायित्वों और सम्पूर्ण आस्तियों (assets) का व्यक्तियों के दायित्वों और आदेयों की भाँति, अन्ततः सन्तुलन होना ही चाहिए।

इसका यह अर्थ नहीं है कि किसी देश का भुगतान शेष प्रत्येक दूसरे देश के

सारणी ६—भारत का भुगतान शेष
१९५६-५७ और १९५७-५८ (अप्रैल से सितम्बर तक)
वृद्धि (+) अथवा घटा (—)

(करोड रु० म)

	१९५६-५७					१९५७-५८		
	अप्रैल जून	जुलाइ सितम्बर	अक्तूबर दिसम्बर	जनवरी मार्च	कुल-योग	अप्रैल जून	जुलाइ सितम्बर	कुल-योग अप्रैल सितम्बर
१ आयात—	२३० २	२४६ ६	२९४ ०	३०५ ७	१०७६ ५	३२३ १	२९९ १	६२२ २
(क) प्राइवेट	१६६ २	१९५ ५	२०९ ६	१९४ ७	७६५ ९	२०१ ०	१८२ ५	३८३ ५
(ख) सरकारी	३४ १	५१ १	८४ ४	१११ ०	२८० ६	१२२ १	११६ ६	२२८ ७
२ निर्यात	१५३ ५	१३४ ८	१७१ ७	१७७ २	६३७ ०	१३९ ८[1]	१२७ ३[2]	२६७ १
३ व्यापार शेष	(—)७६ ७	(—)११९ ८	(—)१२२ ७	(—)१२८ ५	(—)४३९ ५	(—)१८३ ३	(—)१७१ ८	(—)३५५ १
४ सरकारी दानादि	९ ६	८ ३	७ ६	(—)१४ ३	३९ ८	५ ०	१ ५	६ ५
५ अन्य अप्रत्यक्ष व्यापार शेष (शुद्ध)	२२ ६	२२ १	३० १	३२ ४	१०७ २	२८ ६	२२ ३	५० ९
६ सरकारी ऋण	४ ६	३ ३	१० ९	३७ ६	५६ ४	९ ७	१८ २	२७ ९
७ अन्य पूंजीगत सौदे (शुद्ध)	(—)१३ २	(—) ८ ९	१५ ६	(—) १ ३	(—)३९ ०	(—)४३ ०	२ ५	५ ५
८ अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के दायित्व				६० ७	६० ७	३४ ५		३४ ५
९. भूल चूक आदि	(—) ७ १	१७ ७	२ २	(—)१७ ४	(—) ४ ६	(—) ७ ७	२३ ७	१६ ०
१० विदेशी विनिमय संचिति में घटबढ़	(—)६० २	(+) ६९ ३	(+)८७ ३	(+) २ २	(+)२१९ ०	(+)७० २	(+)१०३ ६	(+)१७३ ८

1 इस राशि में ६४ ८ करोड़ रु० की अमरीका को निर्यात की गई चादी शामिल नहीं है।

2 ,, ९ ६ ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ।

साथ जिससे कि उसका व्यापारिक सम्बन्ध है, अलग-अलग साम्यावस्था में रहे। यह आवश्यक भी नहीं है और न वास्तविक संसार में ऐसा होता ही है। व्यापारिक सम्बन्ध अनेक रूपों के होते हैं। उदाहरण के लिए, भारत का भुगतान-शेष अमरीका के साथ अनुकूल हो सकता है और इंग्लैण्ड या दूसरे देशों के साथ प्रतिकूल। किन्तु इस दौर में प्रत्येक देश दूसरे देशों में निर्यात किए गए तमाम माल से (सब देशों के निर्यात मिलाकर) अधिक मूल्य प्राप्त नहीं कर सकता।

इस प्रकार भुगतान शेष में साम्यावस्था उस देश की अर्थ-व्यवस्था की दृढ़ता का प्रतीक है। परन्तु असमता थोड़े समय या अधिक समय के लिए उत्पन्न हो सकती है। निरन्तर असमता सूचित करती है कि देश आर्थिक तथा वित्त विषयक (financial) दिवालियापन की ओर बढ़ रहा है। इसलिए हर एक देश को, अपने भुगतान-शेष के साम्य को बनाए रखने का प्रयत्न करना चाहिए। यह जानने के लिए कि यह किस प्रकार किया जा सकता है हमें असमता के कारणों का भी अध्ययन करना होगा।

असाम्यावस्था के कारण (Causes of Disequilibrium)—किसी देश के भुगतान शेष में असमता किस प्रकार उत्पन्न हो सकती है ? विविध विषय, जो भुगतान शेष के अन्तर्गत हैं हम पहले ही विस्तारपूर्वक बतला चुके हैं। कोई भी कारण, जो उन विषयों को निरन्तर एक ओर ले जाता है, असमता उत्पन्न कर सकता है। उदाहरण के लिए, कुछ कारणों से व्यापारिक वस्तुओं के निर्यात में कमी हो सकती है। इसी प्रकार दूसरे विषयों के बारे में भी विभिन्न प्रकार के कारणों द्वारा निर्यात में कमी हो सकती है। उदाहरण के लिए व्यापारिक वस्तुओं को ले लीजिए। हमारे निर्यात में ऋतु-सम्बन्धी या दूसरे कारणों से गिरे हुए उत्पादन के कारण कमी हो सकती है। अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ार में हमारी वस्तुओं की माँग गिर सकती है क्योंकि सम्भव है, इन वस्तुओं के उपभोक्ताओं की क्रय-शक्ति कम हो गई हो या भारत में इन वस्तुओं की उत्पादन-लागत अपेक्षाकृत बढ़ गई हो जो अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ार में हमारी प्रतिद्वन्द्वी शक्ति को कम कर देती है। हमारे निर्यात विदेशियों के लिए विनिमय-दर के बढ़ जाने से महँगे हो सकते हैं जैसे कि रुपए का मूल्य बढ़ जाए, उदाहरणार्थ, १ शि० ६ पैं० से १ शि० ८ पैं०। हम कृत्रिम रूप से रुपए का मूल्य, जितना कि आर्थिक स्थिति के हिसाब से न्याययुक्त है उससे अधिक रखें (जिसका कि हम अगले अध्याय में अध्ययन करेंगे) तो प्रतिकूल व्यापार शेष और भुगतान शेष का अस्तित्व बना रहेगा।

४ असमता किस प्रकार सुधारी जा सकती है ? (How Disequilibrium may be corrected ?)—जब किसी देश के भुगतान शेष में कोई गम्भीर असमता उत्पन्न हो जाती है, उस समय यदि देश की आर्थिक व्यवस्था को दृढ़ रखना है, तो असमता को सुधारने का प्रयत्न अवश्य करना चाहिए। प्रत्यक्ष है कि उन कारणों को, जो इस दशा की उत्पत्ति के कारण हैं, अवश्य ही हटा देना चाहिए। समायोजन के बारे में "प्रतिष्ठावादी" अर्थशास्त्रियों का विचार यह है—अनुकूल (active) अथवा प्रतिकूल (passive) सन्तुलन, जिसमें स्वर्ण का भीतर आना तथा बाहर जाना शामिल है, जो सामान्य रूप से गृह-मुद्रा पूर्ति के विस्तार तथा संकुचन का परिणाम माना जाता था, इस विस्तार तथा संकुचन से यह माना जाता था कि गृह लागतों

तथा कीमतो के स्तर मे उतार-चढाव होगा। विस्तार से आयात को प्रोत्साहन मिलेगा और निर्यात हतोत्साहित होगा। सकुचन से, आयात हतोत्साहित होगा और निर्यात प्रोत्साहित। स्वर्ण बाहर जाना, मुद्रा की मात्रा म परिवर्तन तथा सापेक्ष कीमत स्तर मे परिवर्तन आदि समायोजन तन्त्र के मुख्य साधन है।"[1] हाल ही के चलमुद्रा सम्बन्धी अनुभवो से इस प्रतिष्ठावादी सिद्धान्त म रूपभेद हुए हैं। अब यह माना जाता है कि आय के बहाव मे परिवर्तनो से जो भुगतान के शेष से प्रभावित है, साम्य साधन का कार्य करता है।

प्रतिकूल भुगतान शेष को ठीक करने के लिए पाँच महत्त्वपूर्ण विधियाँ हैं—

(१) निर्यात को प्रोत्साहित करना तथा/या आयात को रोकना (Stimulating Exports and/or checking Imports)—यदि निर्यात घट गया तो उसको बढाने के लिए यत्न करना चाहिए। सम्भव है कि निर्यात को प्रोत्साहन देने के लिए देश मे लागत के स्तर को गिराना पड। हो सकता है कि इस काम के लिए मजदूरी, ब्याज की दरें और दूसरी आमदनी को कम करना पडे और कीमतो को गिराने के लिए मुद्रा को सकुचित करना पडे।

व्यवसायियो को सरकारी सहायता देकर भी निर्यात को प्रोत्साहन दिया जाता है। आयातो का पूर्ण निषेध के द्वारा या आयात-कर लगाकर या कोटा-प्रणाली (quota system) के द्वारा निरुत्साहित किया जा सकता है।

(२) दूसरी विधि यह है कि स्वदेशी मुद्रा का बाहरी (विनिमय) मूल्य कम किया जाए, जिससे विदेशियो के लिए स्वदेश की वस्तुएँ सस्ती हो जाएँ। परन्तु इस मार्ग की विशिष्ट सीमाएँ है, क्योंकि दूसरे देश भी वैसा ही करने लगेगे और विनिमय का 'प्रतियोगी अवमूल्यन" (competitive depreciation) आरम्भ हो जाएगा जैसा कि १६३० के आसपास मन्दी के समय हुआ था।

(३) तीसरी विधि मुद्रा की अपस्फीति या सकुचन करना (Deflate the Currency) है। जब मुद्रा सकुचित होगी, तो दाम गिरेंगे, जिससे निर्यात को प्रोत्साहन मिलेगा और आयात पर रोक लगेगी। परन्तु अपस्फीति की विधि अनेक खतरो से भरी हुई है। यदि दाम तेजी से गिराए जाते है, परन्तु खर्च, जो साधारणतया दृढ रहते हैं (विशेषकर उन देशो की मजदूरी जहाँ श्रम सघ भली प्रकार सगठित हैं) उसी प्रकार कम नही होते, तो उस दशा मे देश को एक बडी मन्दी और बेकारी का सामना करना पड सकता है। इसलिए भुगतान शेष का भुगतान न यदि एक बार भी असमता उत्पन्न हो गई तो उसको ठीक करना कठिन हो जाता है।

(४) चौथी विधि विनिमय अवमूल्यन (devaluation) है। इसका प्रभाव वैसा ही है, जैसा कि मुद्रा का मूल्य कम करने का होता है। जब किसी मुद्रा का अवमूल्यन होता है (अर्थात् इसका धातु का भाग कम कर दिया जाता है) तो विदेशी मुद्रा में इसका मूल्य कम हो जाता है। इसका फल यह होना है कि विदेशी लोग अपनी मुद्रा के द्वारा हमारे देश में पहले से अधिक वस्तुएँ खरीद सकते है। इससे

1 League of Nations—International Currency Experience, 1944 p. 95.

निर्यात को प्रोत्साहन मिलता है। परन्तु जब हम विदेशी वस्तुएँ खरीदना चाहते हैं, तो हमारी मुद्रा के सस्ते हो जाने के कारण, हमें अधिक भुगतान करना पडता है। इस प्रकार आयात निरुत्साहित किए जाते हैं और समय बीतने पर व्यापार-शेष हमारे अनुकूल हो जाता है और भुगतान शेष को ठीक कर देता है।

(५) अन्त में एक विधि विनिमय नियन्त्रण की है। हम जानते हैं कि अपस्फीति (Deflation) भयकर है, अवमूल्यन का प्रभाव थोडे समय के लिए होता है। और उसके द्वारा दूसरो को भी अपस्फीति करने का उत्साह मिल सकता है; और अवमूल्यन देश के मान पर आघात करता है। इसलिए इन विधियो से बचने का प्रयत्न किया जाता है। और इसके बजाय शासन द्वारा विदेशी विनिमय का नियन्त्रण किया जाता है। सब निर्यातकर्त्ताओ को आज्ञा दी जाती है कि वे अपने विदेशी विनिमय केन्द्रीय बैंक के द्वारा करें और उसके बाद यह लाइसेंस प्राप्त आयातकर्त्ताओ को बाँट दिए जाते हैं। इसके अतिरिक्त और किसी का वस्तुओ के आयात करने की आज्ञा नही दी जाती। इस प्रकार आयात को सीमा के अन्दर रखकर भुगतान-शेष ठीक कर दिया जाता है।

निर्देश पुस्तकें

League of Nations International Currency Experience.
Haberler, G Theory of International Trade
Whale B International Trade
Heuser Control of International Trade
Crowther, G Outline of Money, 1950, Ch. X
Benham, F Economics, 1940, pp 425 35
Meade, J E Balance of Payments
Tarshis L The Elements of Economics, 1946, Ch 41.
Samuelson, P A Economics, 1948, Ch 16

अध्याय ४०

विदेशी विनिमय

(Foreign Exchange)

१ विदेशी विनिमय क्या है ? (Meaning of Foreign Exchange)—"विदेशी विनिमय" के निम्नलिखित अर्थ हो सकते है—

(क) विनिमय की दर, अर्थात् विदेशी मुद्रा की वह मात्रा है जो स्वदेशी मुद्रा की एक इकाई खरीद सकती है,

(ख) विदेशी विनिमय के क्रय विक्रय अथवा सौदे (व्यवहार), अर्थात् एक मुद्रा को दूसरी मुद्रा म बदलना या वह यन्त्र, जिससे विदेशी भुगतान किया जाता है,

(ग) विदेशी विनिमय (मुद्रा) कोष जो किसी देश के पास हो।

यदि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार न होता तो विदेशी विनिमय भी न होता। यदि सारे ससार के लिए एक जैसी मुद्रा होती तो उस समय भी विदेशी विनिमय की कोई समस्या न होती। परन्तु जैसी दशा है, उसके अनुसार देशो के आर्थिक सम्बन्धो के कारण एक-दूसरे के बीच लेन-देन का प्रश्न उठता है जिसको पूरा करना पडता है और विभिन्न देशो की मुद्राओ के रूप भिन्न भिन्न होने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे एक देश की मुद्रा को दूसरे देश की मुद्रा म बदलने की समस्या उत्पन्न हो जाती है।

एक उदाहरण लीजिए। मान लीजिए कि आप १०० रु० की पुस्तकें इगलैण्ड से मगाते हैं। भारत का रुपया इगलैण्ड के पुस्तक विक्रेता के लिए किसी काम का नही। आपको उसी मुद्रा म भुगतान करना होगा, जो इगलैण्ड मे क्रय शक्ति रखती हो। इगलैण्ड की मुद्रा पौंड (£) स्टर्लिंग है। इसलिए आपके लिए यह आवश्यक है कि आप अपने १००) रुपयो को पौंड स्टर्लिंग मे परिवर्तित करें (अथवा पौंड स्टर्लिंग के स्वत्व मे)। यदि आपको सोना मिल सके और आप उसके परिवहन के व्यय को बर्दाश्त करना ठीक समझते हो, तो आप उसे भी भेज सकते हैं। इसी तरह एक अग्रेज व्यापारी भारतीय निर्यातकर्ता से चाय खरीदता है। उसे अपने पौंड स्टर्लिंग को रुपयो म बदलना होगा अथवा यदि सम्भव हुआ और बचत जान पडी तो सोना भेजना होगा।

इसलिए हर एक देश में हर क्षण कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं, जो विदेशो को भुगतान करना चाहते हैं या ऐसे लोग, जो दूसरे देशो से भुगतान प्राप्त करना चाहते हैं। इस तरह हर देश मे विदेशी मुद्रा (या उसके स्वत्व) खरीदने वाले या विदेशी मुद्रा (या उसके स्वत्व) बेचने वाले लोग होते हैं। दूसरे शब्दो म, विदेशी मुद्रा की माँग और पूर्ति पर विनिमय की दर निर्भर है जिसके अनुसार विदेशी मुद्रा खरीदी जा सकती है (या देशी मुद्रा बेची जा सकती है) और बेची जा सकती है (या देशी मुद्रा

खरीदी जा सकती है)। ये क्रेता और विक्रेता मिलकर विदेशी विनिमय बाजार बनाते हैं।

२. **विदेशी मुद्रा के स्वत्व** (Titles to Foreign Money)—अभी हमे "विदेशी मुद्रा के स्वत्व" के अर्थ को स्पष्ट करना है। इनके ये रूप हो सकते हैं—(i) विनिमय बिल (Bills of Exchange), (ii) बैंकर्स ड्राफ्ट्स (Bankers' Drafts), अथवा (iii) तार द्वारा हस्तान्तरण (Telegraphic transfers)। हमने यह पहले ही स्पष्ट कर दिया है कि विनिमय पत्र या हुण्डी क्या है और वही पर यह भी बतलाया गया है कि इससे विदेशी व्यापार के अर्थ-प्रबन्ध करने मे क्या फायदे हैं। भारतीय निर्यातकर्त्ता अपनी वस्तुओ के इगलैण्ड मे आयातकर्त्ता के नाम पौड स्टर्लिंग से सम्बन्धित विनिमय पत्र लिख देता है। वह बैंक को यह पत्र या हुण्डी बेच देता है या पारिभाषिक शब्दों मे वह उसको भुना लेता है। पत्र का वर्तमान मूल्य उसको रुपयो में मिल जाता है। भारत मे इगलैण्ड की वस्तुओ का आयातकर्त्ता इस प्रकार के पत्र को रुपये देकर खरीद लेता है और उसको अपने इगलैण्ड के निर्यातकर्त्ता के पास भेज देता है, जो उसको किसी बैंक से भुना लेता है या उसके पूरे हो जाने पर पौड स्टर्लिंग मे भुगतान पा लेता है।

ड्राफ्ट (Drafts) जैसा कि हम देख चुके हैं, बैंक से उसकी शाखा के लिए या दूसरे बैंको के लिए जिनसे कि उनका हिसाब हो, किसी वाहक (bearer) को माँग पर लिखित सख्या में मुद्रा देने के लिए एक आज्ञा है। सक्षेप मे, ड्राफ्ट एक ऐसा चेक है, जो एक बैंक द्वारा किसी दूसरे बैंक के लिए एक तीसरे व्यक्ति के हित मे लिखा गया हो। आप एक ड्राफ्ट जिसका कि अग्रेजी मुद्रा मे भुगतान किया जा सकता हो, खरीद कर धन इग्लैण्ड भेज सकते हैं। यह ड्राफ्ट डाक से उस व्यक्ति के पास भेज दिया जाता है जिसको भुगतान पाना है, और वह व्यक्ति उसे उस बैंक को देकर जिसके नाम ड्राफ्ट लिखा गया है, अपना भुगतान पा जाता है।

तार द्वारा हस्तान्तरण (Telegraphic transfer) किसी बैंक को एक निश्चित धन-राशि का, कथित व्यक्ति को भुगतान करने का आदेश है। यह एक तार द्वारा भेजा गया ड्राफ्ट कहा जा सकता है। इस रीति मे भुगतान तुरन्त कर दिए जाते हैं। इसलिए तार द्वारा हस्तान्तरण की दर, खरीदारो के लिए सामान्य ड्राफ्टो पर लगने वाले दरो के मुकाबले म अधिक महगी होती है।

३ **विनिमय की दरें** (Rates of Exchange)—विनिमय की दर समझाने के लिए अधिक स्पष्टीकरण की आवश्यकता है। हमने बताया था कि विदेशी मुद्रा की पूर्ति और माँग ही विनिमय की दर को निर्धारित करती है, ठीक वैसे ही जैसे वस्तुओ का बाजार-मूल्य पूर्ति और माँग की शक्तियो द्वारा निश्चित होता है। हमने यह भी बताया था कि विदेशी मुद्रा की माँग और पूर्ति (या इसके विपरीत देशी मुद्रा की पूर्ति और माँग) किस प्रकार उत्पन्न होती है। जब पूर्ति माँग के बराबर होती है तो विनिमय सममात्र (par) होता है। यदि विदेशी मुद्रा की पूर्ति माँग से अधिक है तो विदेशी मुद्रा का मूल्य सममात्र के नीचे गिरता है (या देशी मुद्रा का मूल्य सममात्र के ऊपर उठता है।) और इसके विपरीत यदि विदेशी मुद्रा की माँग उसकी पूर्ति से

अधिक है तो विदेशी मुद्रा का मूल्य सममात्र के ऊपर उठता है। (या देशी मुद्रा का मूल्य सममात्र के नीचे गिरता है।) किन्तु बहुत ही थोडी सख्या म अन्तर्राष्ट्रीय सौदे विदेशी विनिमय बाजार में हुडियो के क्रय विक्रय के द्वारा तय होते है। अब तो एक देश की मुद्रा का दूसरे देश की मुद्रा के साथ सीधा विनिमय होता है।

४ स्वर्ण मान के अन्तर्गत विनिमय की दरें (Rates of Exchange under Gold Standard)—जब दो सम्बन्धित देश स्वर्ण मान (Gold Standard) के अन्तर्गत होते हैं उस समय, जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है, उनकी मुद्रा इकाई या तो सोने के सिक्के होते हैं या वे एक नियत दर पर सोने म परिवर्तित हो सकने वाली होती हैं। इसके अतिरिक्त सोना अबाध रूप से देशो के बीच आता-जाता है। ऐसे देशो के बीच की विनिमय की दर को विनिमय की टकसाली दर कहते हैं। उन दो देशो की मुद्रा-इकाई म रहने वाले सोने को (या सोने की उस मात्रा को जो मुद्रा अधिकारियो न उनके बदले म देना नियत की हो) समीकरण करने म इसका निरूपण किया जा सकता है। एक स्वर्ण मान के देश और रजत मान क देश के बीच कोई विनिमय की टकसाली दर नही हो सकती।

५ स्वर्णांक (Specie Points)—मान लीजिए कि फ्रासीसियो को इगलैण्ड के लोगो को उससे अधिक भुगतान करना पडता है जितना कि इगलैण्ड के लोग फ्रासीसियो को करते हैं। फ्रास म इगलैण्ड की मुद्रा की माँग उसकी पूर्ति से अधिक होगी। फ्रैंक की दर म पौण्ड का मूल्य बढ जाएगा। फ्रासीसी आयातकर्ता को लन्दन में एक पौण्ड लेने के लिए २५ २२१५ फ्रैंक से अधिक देन पडेंगे। परन्तु वह कितना अधिक देने को तैयार रहेगा? हम यह पहले ही बता चुके है कि आयातकर्ता सोना भेजेगा, यदि वह उसे प्राप्त हो और उसे भेजना अधिक सस्ता समझे। स्वर्ण मान के देश सदैव अपनी मुद्रा क बदले म सोना दे देते है और उसको बाहर भेजन की आज्ञा भी देते हैं। परन्तु सोना बाहर भेजने मे परिवहन व्यय (जहाज का किराया बीमा, ब्याज आदि) लगता है। इसलिए फ्रास मे आयातकर्ता उसी समय सोना भजेगा यदि विनिमय सममात्र से पेरिस से लन्दन सोना भेजने के व्यय से भी अधिक है। मान लीजिए कि २५ २२१५ फ्रैंक के मूल्य के सोने का पेरिस से लन्दन भेजन का खर्च ३ फ्रैंक है। यदि विनिमय की दर २५ २२१५ फ्रैंक बराबर १ पौण्ड से ३ फ्रैंक से भी अधिक हो जाती है तो उस समय सोना भेजना उचित हो जाएगा। यदि विनिमय वास्तव म इस बिन्दु के ऊपर उठ जाता है तो सोना फ्रास से इगलैण्ड की ओर जाने लगगा। इसलिए यह बिन्दु फ्रास के दृष्टिकोण से स्वर्ण निर्यात अक (gold export point) और इगलैण्ड के दृष्टिकोण से स्वर्ण आयात अक (gold import point) कहा जाएगा। यह अक विनिमय की टकसाली दर म परिवहन व्यय जोड देने से मालूम होता है। इसे ऊपरी स्वर्ण बिन्दु या ऊपरी स्वर्णांक (upper gold point) भी कहते हैं।

इसी प्रकार फ्रास के लिए निम्न-स्वर्णांक (lower specie point) या स्वर्ण आयात अक होता है और इगलैण्ड के लिए निर्यात अक। यह परिवहन-व्यय को सममात्र टकसाल में से घटा देन पर मालूम हो जाता है। ऊपर के उदाहरण म इस प्रकार

होगा २४ ६२१५ फ्रैंक बराबर १ पौण्ड के। यदि विनिमय दर इस अंक के नीचे गिर जाता है तो इगलैंड के आयातकर्त्ता फ्रैंक के स्वत्व खरीदने की अपेक्षा सोना भेजेंगे।

इस प्रकार यदि सोना मिल सकता हो और उसको दो देशो (स्वर्ण-मान के अन्तर्गत) के बीच आने-जाने की स्वतन्त्रता हो, तो विनिमय-दर उन दो सीमाओ के बीच चलेगी, जो कि ऊपरी और नीची स्वर्ण अंको द्वारा निश्चित की गई है। यदि सोना न मिल सके तो विनिमय दर-स्वर्णांक को पार कर जाएगी। ये दो सीमाएँ हैं जिनके बीच में विदेशी मुद्रा अर्थात् हुंडी ड्राफ्ट तार द्वारा परिवर्तन आदि की पूर्ति और माँग म परिवर्तना द्वारा उतार चढ़ाव होगा।

६ स्वर्ण तथा रजत मान के बीच विनिमय—उपर्युक्त उदाहरण ऐसा है जहाँ कि सम्बन्धित दोना देश स्वर्ण-मान के अन्तगत हैं। यदि एक देश स्वर्ण-मान के अन्तर्गत हो, और दूसरा रजत मान के अन्तगत, तो उस समय विनिमय दर उस देश के, जो रजत मान के अन्तर्गत है, चादी की मात्रा में सोने के दाम द्वारा निश्चित की जाएगी, और जो स्वर्ण मान के अन्तर्गत है, सोने की मात्रा मे चादी के दाम द्वारा निश्चित की जाएगी।

७ अविनिमयसाध्य कागजी मुद्राओ के बीच विनिमय—क्रयशक्ति की समता (Exchange between Inconvertible Paper Currencies—Purchasing Power Parity)—परन्तु सबसे कठिन समस्या उन देशो की है, जहाँ कि दोनो देश अपरिवर्त्य पत्र मुद्रा वाले हे। मान लीजिए कि इगलैंड और फ्रास दोनो धातु म न बदल सकन वाली कागजी मुद्रा के अन्तर्गत हा तब एक पौण्ड खरीदने के लिए कितने फ्रैंक देने पडेग ? स्पष्ट है कि उतन ही जिनकी कि फ्रास में क्रय-शक्ति उतनी ही है, जितनी कि इगलैण्ड मे एक पौण्ड की है। यदि इगलैण्ड म एक पौण्ड से 'क' वस्तुएँ खरीदी जा सकती हैं तो एक पौण्ड से फ्राम मे उतने फ्रैंक खरीदे जा सकेंग जो फ्रास में 'क' वस्तुएँ खरीद सकें, 'क' वस्तुओ क एक देश से दूसरे देश में ले जाने के खर्च को छोडकर।

मान लीजिए कि इगलैण्ड म एक पौण्ड 'क' वस्तएँ खरीदता है।

फ्रास म 'क' वस्तुओं का मूल्य २५ फ्रैंक है। तब विनिमय दर इस प्रकार प्रवृत्तिशील होगी —

१ पौण्ड=२५ फ्रैंक।

अब कल्पना कीजिए कि दोनो देशो में कीमत-स्तर स्थिर रहता है परन्तु विनिमय किसी प्रकार बदल कर ऐसा हो जाता है—

१ पौण्ड=३० फ्रैंक।

इसका अर्थ हुआ कि फ्रास में पौण्ड की क्रय-शक्ति २५ फ्रैंक से अधिक है। लोगो को इस दर पर पौण्डो को परिवर्तित करने से लाभ होगा। वे फ्रास म २५ फ्रैंक देकर 'क' वस्तुएँ खरीद कर फिर उनको इगलैंड में १ पौण्ड पर बेच देंगे। उस व्यापार से वे ५ फ्रैंक प्रति पौण्ड का लाभ उठाएँगे। इससे इगलैंड म फ्रैंक की माँग बहुत बढ जाएगी तथापि उनकी पूर्ति कम हो जाएगी, क्योकि बहुत कम लोग इगलैण्ड से फ्रांस के लिए वस्तुओ का निर्यात करेंगे। पौण्ड की मात्रा में फ्रैंक का मूल्य बढता

जाएगा जब तक कि वह, १ पौण्ड=२५ फ्रैंक के नहो हो जाता । उस बिन्दु पर फ्रास से किए हुए आयात से असामान्य लाभ नही होगा । यह दर (१ पौण्ड=२५ फ्रैंक) दो देशो की खरीदने की समशक्ति (parity) कहलाती है । "जब कि किसी मुद्रा-इकाई का मूल्य दूसरी मुद्रा की मात्रा में किसी विशिष्ट समय पर बाजार की माँग और पूर्ति की स्थितियो मे से निश्चित किया जाता है, दीर्घकाल में वह मूल्य दोनो मुद्राओ के सापेक्ष मूल्य से, जिसका कि ज्ञान उनकी वस्तुओ और सेवाओ के खरीदने की सापेक्षिक शक्ति द्वारा होता है, निश्चित किया जाता है । दूसरे शब्दो मे, विनिमय के दर की प्रवृत्ति उस बिन्दु पर स्थिर रहने की होती है, जो दोनो देशो की मुद्राओ की सापेक्षिक क्रय-शक्तियों मे बराबरी दिखलाती है । यह बिन्दु क्रयशक्ति की समता कहलाता है ।[1]

ऊपर दिए गए उदाहरण के अनुसार यदि फ्रास म दाम दुगुने हो जाते हैं तो फ्रैंक का मूल्य बिलकुल आधा हो जाएगा । नई समता दर होगी १ पौंड=५० फ्रैंक । यह इस कारण होगा क्योकि अब फ्रास मे ५० फ्रैंक 'क' वस्तु खरीदेगे, जो पहले २५ फ्रैंक खरीदते थे । यहाँ हमने माना है कि इगलैण्ड म दाम वैसे ही रहते है जैसे पहले थे । परन्तु यदि दोनो देशो मे दाम दुगुने हो जाते है, तब क्रय-शक्ति मे कोई अन्तर न आएगा ।

इस प्रकार—२ पौड=५० फ्रैंक ।   १ पौड=२५ फ्रैंक ।

परन्तु वास्तविक परिस्थिति में खरीदने की सम शक्ति-दर वस्तुओ के एक देश से दूसरे देश तक के परिवहन-व्यय (कर आदि सहित) के कारण बदल जाती है ।

इस प्रकार अविनिमयसाध्य कागजी मुद्रा वाले देशो के बीच टकसाली दर का स्थान क्रय-शक्ति की समता ले लेती है । दोनो में अन्तर यह है कि पहली तो एक स्थिर दर है, जब कि दूसरी उन दोनो देशो म होने वाले दामो के उतार-चढाव के
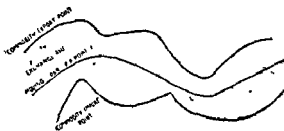
चित्र ६२

साथ बदलतो रहती है । सम्बन्धित मुद्रा की पूर्ति और मांग में परिवर्तन होने के कारण इस सममात्र के इर्द-गिर्द पहले की तरह उतार चढाव होगा । इस उतार चढाव की सीमाएँ एक देश से दूसरे देश को वस्तुएँ ले जाने के परिवहन-व्यय द्वारा निश्चित होगी । इसलिए ये सीमाएँ उतनी निश्चित न होंगी, जितनी कि स्वर्णांक में । उपर्युक्त रेखाचित्र से यह बात स्पष्ट हो जाती है ।

---

1. Thomas, S E —Elements of Economics.

८ क्रय शक्ति समता सिद्धान्त की आलोचना (Criticism of Purchasing Power Parity Theory)—प्रथम महायुद्ध के बाद स्वीडन के एक अर्थशास्त्री गुस्टव कैसल (Gustav Cassel) द्वारा यह सिद्धान्त प्रचलित किया गया था। कैसल (G Cassel) ने लिखा था, "दो मुद्राओं के विनिमय की दर अवश्य ही उनकी आन्तरिक क्रय-शक्तियों के फल पर निर्भर होनी चाहिए।" इसका अनुमान आसानी से लगाया जा सकता है यदि हम इस बात पर विचार करते हैं कि विदेशी मुद्रा मे दी गई कीमत अन्त मे वही कीमत होती है, जो देशी बाजार म वस्तुओं की कीमत से कोई न-कोई सम्बन्ध अवश्य रखती है।

यहाँ पर यह ध्यान देने की आवश्यकता है कि क्रय-शक्ति समता दोनों देशों की कीमत के सामान्य स्तर की तुलना करती है, न कि केवल उन वस्तुओं के कीमत स्तर की, जो वास्तव म अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे आती हैं। उपर्युक्त प्रकार की वस्तुओं की कीमतें हर देश म उनके परिवहन व्यय, तट-कर आदि का ध्यान रखते हुए, नि सन्देह एक ही होती हैं। यदि हम केवल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की वस्तुओं की कीमत की तुलना करें तो इस सिद्धान्त को प्रमाणित करना अति सुगम हो जाएगा। वास्तव म जब हम इसे केवल इन्ही वस्तुओं पर लागू करते हैं तो यह सारहीन तथ्य रह जाता है जैसा कि प्रो० हाम (Halm) लिखते हैं कि 'यह स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय वस्तुओं की राष्ट्रीय कीमतों को यदि प्रचलित विनिमय दरों म अकित किया जाए तो वे विभिन्न बाजारों में समानता की ओर चलेंगी।"[1]

परन्तु जब हम उन सब वस्तुओं के दामों के देशनाकों की तुलना करने का प्रयत्न करते हैं जो सम्बन्धित बाजार मे बेची जाती हैं, तो उस समय विनिमय की दर इस प्रकार से निश्चित किए गए अकों के सदैव अनुरूप न होगी। यह इसलिए कि घरेलू वस्तुओं की कीमतें कम से कम अल्पकाल में हो सकता है कि उसी दिशा की ओर न बढें जिस ओर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार म आने वाली वस्तुओं की कीमतें बढें। दीर्घकाल म तो अवश्य ही विनिमय दर और कीमत-स्तर की वृत्ति एक ही दिशा की ओर जाने की होगी। इसलिए यह सिद्धान्त केवल दीर्घकाल में ही लागू होता है। इसके अलावा उन वस्तुओं के बीच जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे शामिल होती हैं, और वे जो शामिल नही होती, कोई स्थायी भेद नही होता। यह तो स्वय विनिमय की दर पर आधारित है। यदि विदेशी मुद्रा का मूल्य बढ जाता है तो कुछ वस्तुओं का, जो अभी तक देश म ही रहती थी, निर्यात लाभप्रद हो जाएगा तथा प्रतिक्रम भी उसी प्रकार विलोमत होगा।

दीर्घकाल में भी यह सिद्धान्त केवल उसी समय लागू होगा जब अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की आवश्यक परिस्थितियो म परिवर्तन नही होता परन्तु ये परिस्थितियाँ बहुत ही कम अपरिवर्तित रहती हैं। उदाहरणार्थ, व्यापार के वस्तु-विनिमय की शर्तें सदैव देशों के बीच विदेशी वस्तुओं की माँग म परिवर्तन के कारण या घरेलू वस्तुओं की पूर्ति की स्थितियो म होने वाले परिवर्तनों के कारण, निरन्तर बदलती रहती हैं। इसके अतिरिक्त, विदेशी ऋण की मात्रा मे, परिवहन-व्यय मे या अप्रत्यक्ष व्यापार-

1 Monetary Theory, 1946, p 224

सन्तुलन के किसी मद मे परिवर्तन हो सकते हैं। वस्तु-विनिमय की शर्तों मे इस प्रकार हुए परिवर्तन कीमत स्तरो के बीच के सम्बन्ध को अस्त व्यस्त कर सकते है और हो सकता है कि इन कीमत स्तरो पर निर्मित समताएँ विनिमय-दर के अनुकूल न हों। जैसा कि श्री कैसल (Cassel) लिखते हैं, 'दो देशो की आर्थिक स्थिति मे विभिन्नता विशेषकर यातायात तथा तट कर के सम्बन्ध मे, साधारण विनिमय दर को कुछ, सीमा तक, मुद्राओं की क्रय-शक्ति द्वारा निर्धारित दर से दूर हटा सकती है।'[1] यदि कोई देश तट कर लगा देता है तो उसकी मुद्रा का विनिमय-मूल्य बढ जाएगा लेकिन मूल्य-स्तर वही रहेगा।

इसके अतिरिक्त भुगतान शेष (balance of payments) की अनेक मदें जैसे बीमा व्यय, अधिकोषण व्यय, और पूंजी को स्थानान्तरित करने के व्यय आदि पर कीमत स्तरो के परिवर्तनो का बहुत ही कम प्रभाव पडता है। फिर भी इन मदो का विनिमय दरो पर अवश्य प्रभाव पडता है, क्योंकि विदेशी मुद्राओं की माँग और पूर्ति प्रभावित होती ही है। क्रय शक्ति समता का सिद्धान्त (theory of purchasing power parity) इन प्रभावो पर ध्यान नही देता।

कैसल (Cassel) का सिद्धान्त यह बतलाता है कि कीमतो के परिवर्तन विनिमय-दर मे भी परिवर्तन लाते हैं लेकिन विनिमय-दर के परिवर्तन कीमतो म कोई परिवर्तन नही लाते। यह दूसरी बात ठीक नही है क्योंकि विनिमय के परिवर्तन आन्तरिक कीमतो पर कुछ-न कुछ प्रभाव अवश्य डालत है।

अन्त मे, हम कह सकते हैं कि क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त विनिमय दर का निश्चय करने वाली तात्कालिक शक्तियो की अपेक्षा अन्तिम शक्तियों की व्याख्या करने का प्रयत्न करता है। अपनी त्रुटियो के होते हुए भी क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त आजकल दीर्घकाल के विनिमय दरो की अति सन्तोषजनक व्याख्या मानी जाती है।

९ विनिमय-दर की अस्थिरता (Fluctuations of the Rate of Exchange)—दीर्घकाल-समता चाहे टकसाल सममान हो जैसी स्वर्ण-मान के अन्तर्गत होती है, चाहे क्रय-शक्ति समता हो, जैसे अपरिवर्तनीय, कागजी मुद्रा के अन्तर्गत होती है, परन्तु अल्पकाल मे बहुत से ऐसे कारण हे जो इस साम्य-दर स्तर के नीचे या ऊपर विनिमय-दर को गिराते, उठाते हैं।

ये कारण दो भागो मे विभाजित किए जा सकते हैं—

(i) जो विदेशी मुद्रा की माँग या पूर्ति पर प्रभाव डालते हैं; और

(ii) वे, जो कि मुद्रा की स्थितियों को प्रभावित करते हैं।

(१) पहले के सम्बन्ध मे हम देखते हैं कि विदेशी मुद्रा की माँग और पूर्ति तीन कारणों से उत्पन्न होती है—

(क) व्यापारिक दशाएँ,

(ख) स्टाक-विनिमय के प्रभाव, तथा

(ग) अधिकोषण के प्रभाव।

---

1. Cassel, G—Money and Foreign Exchange After 1914, p. 139.

(क) व्यापारिक दशाएँ (Trade Conditions)—ये आयात और निर्यात पर प्रभाव डालती हैं और इसीलिए विदेशी मुद्रा की पूर्ति और माँग क्रमशः प्रभावित होती है। जिस समय हमारे निर्यात आयात से अधिक होते हैं, उस समय विनिमय की प्रवृत्ति हमारे हित की ओर बढने की होगी और विपरीत स्थिति मे इसकी प्रवृत्ति हमारे प्रतिकूल होगी। आयात और निर्यात के अन्तर्गत यहाँ पर केवल प्रत्यक्ष मदें (visible items) ही नही हैं, बल्कि अप्रत्यक्ष मदें भी हैं।

(ख) स्टाक-विनिमय के प्रभाव (Stock Exchange Influences)—इसके अन्तर्गत है ऋण का लेना, ब्याज और ऋणो का भुगतान करना, विदेशी प्रतिभूतियो का क्रय विक्रय, आदि। जब कोई देश किसी दूसरे देश को ऋण देता है तो मुद्रा की माँग बनती है और स्वदेशी मुद्रा के मूल्य की प्रवृत्ति गिरने की ओर होती है। जब देश के विनियोजक विदेशी प्रतिभूतिया खरीदते हैं या विदेशी विनियोजक स्वदेशी प्रतिभूतियाँ बेचते है तो उस समय भी ऐसा ही होता है। विनिमय किसी उस देश के हित म चलता है जब कि उसके ऋण का भुगतान हो रहा हो या जब विदेशी लोग उसकी प्रतिभूतियाँ खरीदते हो, क्योकि इस प्रकार के कार्यो से स्वदेशी मुद्रा की माँग की उत्पत्ति होती है।

(ग) अधिकोषण के प्रभाव (Banking Influences)—बैंक ड्राफ्टो का क्रय-विक्रय, यात्रियो के साख पत्र अन्तर-पणन (arbitrage operations) (अर्थात् विदेशी मुद्राओ का क्रय-विक्रय करके, विभिन्न केन्द्रो म उनकी दरो मे अन्तर हो जाने के कारण लाभ उठाना) आदि इस वर्ग के अन्तर्गत हैं। किसी विदेशी केन्द्र में ड्राफ्ट का विक्रय विदेशी मुद्रा की माँग की उत्पत्ति करता है और उसके मूल्य को बढाता है या स्वदेशी मुद्रा के मूल्य को गिराता है। बैंक-दर भी विनिमय-दर को प्रभावित करती है। ऊँची बैंक-दर विदेशी केन्द्रो से धन को आकर्षित करती है और इस प्रकार स्वदेशी मुद्रा की माँग को बढाती है और इसलिए उसके मूल्य को भी। इसके विपरीत स्थिति म उसका मूल्य गिर जाता है, क्योकि निधि देश के बाहर जाने लगती है और इस प्रकार विदेशी मुद्रा की माँग बढ जाती है।

(२) मुद्रा-सम्बन्धी स्थितियाँ (Currency Conditions)—मुद्रा के मूल्य सम्बन्धी वास्तविक या आशान्वित परिवर्तन भी विनिमय दर को प्रभावित करते हैं। यदि मुद्रा बहुत अधिक बाहर निकाली गई है या उसकी आशा है, तो लोग उस देश में अपनी पूंजी का विनियोजन करने के इच्छुक न होंगे। वास्तव में पूंजी की प्रवृत्ति बाहर जाने की होगी। इसको 'मुद्रा से भागना' कहते हैं। यदि लोग मुद्रा के अधिमूल्यन की आशा करते हैं तो उनकी प्रवृत्ति सट्टे के लाभ के लिए ऐसी मुद्रा खरीदने की होगी। पहली दशा में विनिमय दर की प्रवृत्ति प्रतिकूल होने की होगी और दूसरी दशा में अनुकूल।

१०. विनिमय-दर के उतार-चढाव की सीमाएँ (Limits to Exchange Fluctuations)—परन्तु उतार चढाव कुछ सीमाओं के अन्दर ही होते हैं। हम यह पहले ही देख चुके हैं कि स्वर्ण-मान के अन्तर्गत इन सीमाओ का निर्धारण स्वर्ण या स्वर्ण-अंको द्वारा होता है।

किसी देश के लिए अनुकूल विनिमय-दर उस समय होती है जब यह दर स्वर्ण आयात-अंक के अधिक समीप हो, और उस समय प्रतिकूल होती है जब वह स्वर्ण-निर्यात अंक के अधिक समीप हो। यह दर उस समय भी अनुकूल कहलाती है, जब स्वदेशी मुद्रा का मूल्य विदेशी मुद्रा में बढ जाता है या जब स्वर्ण आयात के स्थान पर निर्यात होने लगता है। यदि स्वदेशी मुद्रा का मूल्य गिरता है या सोने की प्रवृत्ति देश के बाहर जाने की होती है तो विनिमय-दर प्रतिकूल कही जाती है।

११ विनिमय की साम्य दर (Equilibrium Rate of Exchange)—उतार-चढाव के बाद विनिमय दर अपेक्षाकृत एक ऐसे स्थायी स्तर पर पहुँच सकती है जिसे साम्य दर कहा जा सकता है। भारतीय मुद्रा के इतिहास म हमने १८ पें० और १६ पें० की विनिमय दरो का अध्ययन किया है। उनम से कौन सा अनुपात ठीक था ? दोनो दरो के बारे मे यह कहा जाता था कि उन पर विभिन्न आर्थिक बातो का, जैसे कि कीमत, मजदूरी, ब्याज आदि का समायोजन था। अर्थात् वे दोनो साम्य दरें थी। सब बातो को ध्यान म रखते हुए जो दर सब से उत्तम होती है, उसे साम्य दर कहते हैं। उस दर पर किसी प्रकार की विषमता व असमता (जैसे कीमत लागत असमानता) नही होती तथा अर्थ व्यवस्था के किसी भी क्षेत्र म असाम्य तथा दुर्व्यवस्था का चिह्न नही दीख पडता।

इसकी परिभाषा इन शब्दा म की गई है—"यह वह दर है कि जिस पर भुगतान साम्य की स्थिति म होता है और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा रिजर्व म कोई वास्तविक घट-बढ नही होती।" इसकी परिभाषा इस प्रकार भी की गई है, "जो शेष ससार से अधिक बेरोजगार फैलाए बिना भुगतान शेष का साम्य बनाए रखता है।"[1] इसको इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि साम्य दर वह दर है जिस पर प्रत्यक मुद्रा की माँग उसकी पूर्ति के बराबर होगी। यह विभिन्न अर्थ-व्यवस्थाओ के बीच साम्य का सकेत करती है। साम्य दर पर देश की मुद्रा विदेशी मुद्रा के अनुपात में न तो अधिक मूल्य रखती है और न कम। यह न तो निर्यात को प्रोत्साहन देती है और न आयात को। यह तटस्थ रहती है।

श्री हाम (Halm) साम्य दर के बारे म निम्नलिखित बातें बताते हैं—[2]

(i) इसे घरेलू स्थिरता के औसत अनुपात म होना चाहिए। उदाहरणार्थ, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, आन्तरिक बेकारी बाह्य बेकारी से अधिक न होनी चाहिए।

(ii) यह आवश्यक नही होना चाहिए कि इस दर को स्थिर रखने के लिए राष्ट्रीय स्वर्ण कोष पर अधिक बोझ पडे या विदेशी विनिमय की बचत का अधिकाधिक प्रयोग करना पडे। यदि इसके लिए देश की मुद्रा को कम करना पडे जिससे फलस्वरूप मन्दी की स्थिति आए या विकास म रुकावट पडे तो वह साम्य-दर नही होगी।

(iii) इससे विदेशी व्यापार मे कृत्रिम लाभ या हानि नही होनी चाहिए।

1 International Currency Experience, pp 124 and 126, respectively
2 Monetary Theory, 1946, p 219

विदेशी व्यापार से सम्बन्धित दूसरे देशों की माँग, लागत व कीमत आदि बातों के सम्बन्ध म इसे निष्पक्ष रहना चाहिए।

१२ स्वण मान के अन्तर्गत असमता कैसे ठीक की जा सकती है ? (Correcting Disequilibrium under Gold Standard ?)—यदि विदेशी विनिमय के सम्बन्ध म कुछ असाम्य है तो उसे दूर करना आवश्यक है। हमने स्वर्ण-मान का अध्ययन करते समय इसके गुणो म से एक की व्याख्या करते हुए यह बतलाया था कि इसके अन्तर्गत भुगतान-शेष के साम्य में होने वाली किसी भी गड-बडी की प्रवृत्ति स्वय ठीक हो जाती है। अब हम यह देखेंगे कि यह किस प्रकार होता है। एक पूर्ण आदर्श स्वर्ण मान की कल्पना सैद्धान्तिक रूप से ही की जा सकती है। परन्तु सन् १९१४ से पहले की ब्रिटिश पद्धति इस आदर्श के निकट मानी जा सकती है।

मान लीजिए कि उस समय ब्रिटेन का आयात निर्यात की अपेक्षा अधिक था और यह प्रतिकूल आधिक्य अप्रत्यक्ष निर्यात से भी पूरा नही हुआ। इससे विदेशी मुद्रा की माँग बढ जाएगी। मान लीजिए फ्रांस की मुद्रा की माँग इगलैण्ड मे बढी और फ्राँस की मुद्रा स्वर्ण मान के अन्तर्गत थी जिससे कि स्टर्लिग का फ्रैंको मे अवमूल्यन (depreciation) होगा। यही अवमूल्यन स्वय फ्रासीसियो के लिए ब्रिटिश वस्तुएँ अधिक सस्ती करेगा और फ्रासीसी वस्तुएँ अग्रजो के लिए अधिक महगी। निर्यात को इस प्रकार प्रोत्साहन मिलेगा और आयात निरुत्साहित होगा और व्यापार सन्तुलन की प्रवृत्ति ब्रिटेन के हित म जाने की होगी। इस प्रकार पहले की असमता ठीक हो जाएगी। यह उस समय भी होगा जब कि विनिमय एक अश म ब्रिटेन के प्रतिकूल भी जाए।

परन्तु मान लीजिए कि प्रतिकूल आधिक्य बहुत गम्भीर था और विनिमय इगलैण्ड से स्वर्ण निर्यात अक को पार कर गया, तो सोना इगलैण्ड से बाहर निकलेगा और फ्राँस के भीतर जाएगा। इगलैण्ड म साख सकुचित होगी (केन्द्रीय बैंक द्वारा अपनी निधि को बचाने के काय से) और उसी तरह फ्राँस म साख का प्रसार होगा। कीमतें और लागते इगलैण्ड म गिरेंगी और फ्राँस में बढेगी। इगलैण्ड खरीदने के लिए एक आकर्षक बाजार बन जाएगा और फ्राँस म इसके विपरीत होगा। इगलैण्ड के निर्यात के प्रोत्साहन मिलेगा और आयात निरुत्साहित होगे। इस प्रकार असमता के मूल कारण ठीक हो जाएँगे।

१३ अविनिमयसाध्य मुद्रा के अन्तर्गत असमता का सशोधन (Correcting Disequilibrium Under Inconvertible Paper)—यदि वस्तुओ के एक देश से दूसरे देश म आने-जाने की पूर्ण स्वतन्त्रता दी जाए तो उस दशा मे भी अपरिवर्तनीय कागजी मुद्रा के अन्तर्गत ऐसे ही स्वयगतिक सशोधन की कल्पना की जा सकती है। सोने के चलन के स्थान पर वस्तुओ का चलन होगा और उससे दोनो देशो के सापेक्ष मूल्य-स्तर पर प्रभाव पडेगा।

परन्तु वास्तव मे देशो में होने वाले दामो के सापेक्ष परिवर्तनो का उस समय अधिक कठिनाई से आभास होता है जब कि सोने की अपेक्षा सम्बन्ध वस्तु या वस्तुओ

द्वारा जोडा जाता है। उन वस्तुओं की अपेक्षा जिनकी माँग बहुत से कारणों पर निर्भर है, सोना सर्वत्र मान्य होता है। इस तरह ऐसा हो सकता है कि वास्तविक विनिमय-दर क्रय शक्ति समानता से दूर रहे और यह असमता सापेक्ष कीमत के स्तरो के परिवर्तनो द्वारा सशोधित न हो सके। ऐसी परिस्थिति म समता लाने का आम तरीका यह है कि विनिमय का स्वत मूल्य स्तर का समायोजन करने के लिए स्वतन्त्र कर दिया जाए।

स्वर्ण मान के अन्तर्गत विनिमय और कागजी मुद्रा-मान के अन्तर्गत विनिमय के बीच एक और अन्तर यह है कि पत्र मुद्रा का वर्तमान मूल्य उसके भविष्य के आशातीत मूल्य के विचारो द्वारा बहुत कुछ प्रभावित होता है। यदि यह सामान्यत विश्वास किया जाता है कि सम्बन्धित मुद्रा के अवमूल्यन की आशा है तो लोग उसको किसी दूसरी मुद्रा म परिवर्तन करके उससे पीछा छुडाने का प्रयत्न करेंगे। इस प्रकार इस मुद्रा का अवमूल्यन होगा, भले ही उन देशो के सापेक्ष मूल्य स्तरो म कोई परिवर्तन न हुआ हो। इसी प्रकार इस तरह के परिकल्पी प्रभावो के कारण एक असमानता उत्पन्न हो जाएगी।

एक देश म दूसरे देश की वस्तुओं की परस्पर माँग की तीव्रता का प्रभाव भी एक कारण है। यदि सापेक्ष मूल्य स्तर स्थिर रहते हैं और किसी भी कारण से एक देश 'अ' की माँग देश 'ब' की वस्तुओं के लिए अपेक्षाकृत अधिक तीव्र हो जाती है, तो विनिमय दर देश 'अ' के विपरीत और देश 'ब' के अनुकूल उस सीमा से अधिक बढेगी जितना कि मूल्य स्तरों के अन्तर के अनुसार आवश्यक है। यदि दोनो देश स्वर्ण-मान के अन्तर्गत हैं तो इस परिस्थिति का फल यह होगा कि सोना 'अ' देश से निकल कर 'ब' देश के पास तब तक जाता रहेगा, जब तक कि मूल्य स्तरो के परिवर्तन टकसाली विनिमय दर पर साम्य स्थापित नही करते।

सक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि स्वर्ण-मान के अन्तर्गत दो देशो के बीच समता की प्रवृत्ति सोने के चलन और सापेक्ष मूल्य स्तरो द्वारा स्थापित होने की होती है तथा अविनिमयसाध्य कागजी मुद्रा के अन्तर्गत विनिमय की दरो के परिवर्तन द्वारा।

१४ विनिमय स्थायित्व बनाम कीमत स्थायित्व (Exchange Stability Versus Price Stability)[1]—स्वर्ण मान के अन्तर्गत विनिमय अपेक्षाकृत अधिक स्थायी होते हैं और सोने के चलन से समायोजन किए जाते हैं जिनका प्रभाव सापेक्ष मूल्य स्तरो पर पडता है। अपरिवर्तनीय कागज मुद्रा के अन्तर्गत विनिमय के परिचलन द्वारा समन्वय अधिक सरलता से हो जाता है परन्तु कागजी मुद्रा के अन्तर्गत भी विनिमय कृत्रिम रूप से नियन्त्रित किए जा सकते हैं और स्थायी रखे जा सकते हैं। तब उन देशो के बीच समायोजन कीमतों और लागतों के एक दुखदायी सापेक्षिक परिवर्तन द्वारा करना होगा।

प्रश्न उठता है कि देश को किस नीति को अपना उद्देश्य बनाना चाहिए—विनिमय स्थायित्व या कीमत स्थायित्व? इस प्रश्न का कोई सीधा उत्तर नही दिया

1 See also Ch. 36, Sec 12

जा सकता। यह देश की आर्थिक दशा और उसके विदेशी व्यापार के विस्तार पर निर्भर होगा।

यदि देश बड़ा है और उसकी अर्थ-व्यवस्था में विदेशी व्यापार का स्थान तुच्छ है और उसके मूल्य और लागतों का ढांचा लचीला नहीं है, तो उस समय उसके मूल्यस्तर के स्थायित्व को सुरक्षित रखना और विनिमय की दर की गतिविधि का उचित समन्वय करना उसके हित में होगा। इसके विपरीत एक छोटे देश के लिए, जिसका विदेशी व्यापार विस्तृत है और कीमतों और लागतों का ढांचा लचीला है, यह लाभदायक होगा कि वह अपने विनिमय की दर को स्थायी रखे और आन्तरिक कीमत और लागतों की गतिविधि द्वारा समायोजन होने दे। उदाहरण के लिए, भारत जैसे देश का लक्ष्य कीमतों का स्थायित्व और स्वतन्त्र विनिमय होना चाहिए जब कि ब्रिटेन के लिए अधिक आवश्यक उद्देश्य स्थायी विनिमय होना चाहिए।

इधर कुछ समय से मुद्रा-नीति का उद्देश्य इन दोनों लक्ष्यों से दूर हट गया है। उद्देश्य अब न तो विनिमय की स्थिरता है और न कीमत की स्थिरता। आर्थिक जीवन में स्थिरता लाना अथवा व्यापार चक्र की गति को सन्तुलित बनाए रखना ही अब उद्देश्य बन गया है।

१५ अनिश्चित बनाम निश्चित विनिमय (Fluctuating Vs Fixed Exchange)[1]—क्या विनिमय-दरों को स्वतन्त्र छोड़ देना चाहिए, जिस ओर वे जाएँ जाने दिया जाए या उन्हें स्थिर रखना चाहिए ? दोनों पक्षों में कुछ कहा जा सकता है। लोचदार विनिमय के समर्थकों का कहना है कि स्वतन्त्र दर की प्रथा द्वारा कोई देश स्वतन्त्र आर्थिक नीति अपना सकता है। देश को आन्तरिक स्थिरता की ओर प्रयत्नशील रहना चाहिए अर्थात् कीमतों, उत्पादन और रोजगार के स्थायित्व पर विशेष ध्यान देना चाहिए और विनिमय-दर का स्वतन्त्र छोड़ देना चाहिए। इस प्रकार की नीति से आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था को बाहरी हस्तक्षेप से बचाया जा सकता है। विनिमय दर भुगतान शेष को साम्य स्थिति पर लाती है और यह ठीक ही होगा कि इसे इस वक्त अपने आप स्वतन्त्रतापूर्वक रहने दिया जाए। यदि विनिमय दर को स्थिर रखा जाता है तो विदेश में उत्पन्न हुई मुद्रा विस्तार और सकुचन की बुराइयाँ आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था म आ घुसती है। परिवर्तनशील विनिमय-दरें इन बुराइयों से बचा सकती हैं और यह भी पूछा जा सकता है कि "यदि मांग पूर्ति के नियम सब आर्थिक क्षेत्रों में ठीक प्रकार कार्य कर सकते हैं तो विदेशी विनिमय में क्यों नहीं कर सकते ?"

इस प्रकार के तर्कों में काफी सचाई है। फिर भी निम्नलिखित कारणों से स्वतन्त्र परिवर्तनशील विनिमय-दर की पद्धति को सर्वत्र त्याग दिया गया है[2]:

(१) चूंकि विनिमय की दरों म परिवर्तन का प्रभाव आयात और निर्यात पर पड़ता है, इसलिए परिवर्तनशील विनिमय-दर आन्तरिक स्थिरता मे बाधा डालती है।

---

1 See League of Nations—International Currency Experience, 1944, pp 117 22 and also Ch XI

2. See Halm, G N—Monetary Theory, 1946, pp. 211—16.

(२) उतार-चढाव वाली विनिमय दर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के जोखिमो को बढा कर उसके विकास में बाधक है।

(३) उतार चढाव वाली विनिमय की प्रथा मे विदेशी मुद्राओं के सम्बन्ध में बहुत सट्टेबाजी होती है जिससे विनिमय की दरो म अत्यन्त अस्थिरता आ जाती है। यदि विनिमय म अवमूल्यन की शका है, तो इसमे बहुत खतरा बढता है। पूँजी दूर भागने लगती है। इस प्रकार उतार-चढाव वाली विनिमय दर समायोजन की वृद्धि के लिए उचित नही है।

(४) उतार चढाव वाली विनिमय दरों से आकस्मिक लाभ और हानि बहुत अधिक होती है। विनिमय-दर म आकस्मिक परिवर्तनो से लाभ उठाने के लिए व्यापारियो को अधिक मात्रा म नकदी रखनी होती है। इससे साख का सकुचन होता है, ब्याज की दर बढ जाती है और बेकारी फैलने लगती है।

(५) उतार चढाव वाली दरो से दीर्घकालीन अन्तर्राष्ट्रीय विनियोजन मे भी बाधा पडती है क्योकि जिस बात से आन्तरिक अर्थ व्यवस्था में गडबडी पैदा होती है उसका प्रभाव पूँजी लगाने वाले पर भी पडता है और वह पूँजी लगाने म हिचकने लगता है।

उपर्युक्त बातो से यह स्पष्ट है कि न तो स्थायी और न अस्थायी दरो से काम चल सकता है। "यह सच है कि विनिमय फेरफार भुगतान शेष की अल्पावधि की गडबडी को दूर करने का अनुचित तथा अवांछित उपाय है, लेकिन यह भी समान रूप से सही है कि आन्तरिक तथा बाह्य साधनो म बडे परिवर्तन होने की दशा म निरपेक्ष (absolute) विनिमय-दर हानिकारक है। सामान्य हित की दृष्टि से चलमुद्रा मूल्य का समय समय पर पुनर्निरीक्षण होना चाहिए जिससे विभिन्न देशो के कीमत-स्तर तथा विनिमय दर म असमानता कम हो जाए।"

उतार-चढाव वाली विनिमय-दर की जोखिमों तथा हानियो के कारण ही विनिमय नियन्त्रण प्रणाली का चलन हुआ।

१६ विनिमय नियन्त्रण (Exchange Control)—प्रथम युद्ध से विभिन्न कारणो के फलस्वरूप सरकार ने विनिमय पर नियन्त्रण रखना प्रारम्भ कर दिया है।

विनिमय पर नियन्त्रण करने का मुख्य उद्देश्य यह है कि इसे उस स्थान के बजाए जहाँ यह आर्थिक शक्तियो को स्वतन्त्र छोड देने पर निश्चित होता, दूसरे स्थान पर निश्चित किया जाए। हो सकता है कि देश की स्वर्ण निधि लगातार घट रही हो या भुगतान शेष निरन्तर घाटे का हो या देश से पूँजी लगातार बाहर को जा रही हो, या विदेशी विनिमय को स्थिर रखने के लिए बहुत अधिक पूँजी विदेशो म लगाना आवश्यक हो गया हो। इस प्रकार की परिस्थितियो में स्वतन्त्र विनिमय हानिकारक हो सकता है। अत· विनिमय नियन्त्रण एक नितान्त आवश्यकता है।

वह देश जो विनिमय नियन्त्रण चाहता है, इन तीन तरीको से चल सकता है। यह वहाँ की आर्थिक स्थिति पर आधारित है (१) वह देश चल मुद्रा के मूल्य को कम कर सकता है (अथवा अवमूल्यन); (२) या अतिमूल्यन (overvaluation)

कर सकता है; अथवा (३) उतार-चढ़ाव से बचकर स्थिर दर बनाए रखने का निश्चय कर सकता है। अब हम प्रत्येक पर जुदा-जुदा विचार करेंगे।

जब कोई देश मूल्य म कमी करता हो अर्थात् स्वतन्त्र विनिमय के बाज़ार से कम मूल्य पर वस्तुओं को बेचता है तो आयात को धक्का लगता है और निर्यात को प्रोत्साहन मिलता है जिससे देश की वस्तुओं की कीमत दूसरे देशों की अपेक्षा बढ जाती है। यह तरीका मन्दी के हटाने के लिए प्रयोग म आता है। किन्तु यह पूर्ण रूप से सम्भव नहीं होता। इसम आन्तरिक कीमतों के बढ़ने के बजाए बाहरी कीमतें बढ सकती हैं। यह बड़े-बड़े देशों म ही घटित होती है, जैसे, भारत और अमरीका। चूंकि कीमतों पर आयातों और निर्यातों का प्रभाव अवश्य पड़ता है, इसलिए कीमत-स्तर तभी प्रभावित होगा जब कि किसी देश का विदेशी व्यापार अत्यन्त विस्तृत है अन्यथा नहीं।

विनिमय नियन्त्रण का दूसरा उद्देश्य मुद्रा अधिमूल्यन अथवा दूसरी मुद्रा से ऊँचा मूल्य निश्चित करना है। नियन्त्रण के न होने पर ऐसा नहीं हो सकता। यह रास्ता तभी अख्तियार किया जाता है जब व्यापार सन्तुलन म अधिक उतार-चढ़ाव पाया जाता है। फलस्वरूप राष्ट्रीय मुद्रा की पूर्ति उसकी माँग से कहीं अधिक बढ जाती है। ऐसी अवस्था म देश को विदेशी माल की अधिक आवश्यकता होगी या तो युद्ध की तैयारी के लिए अथवा युद्ध के बाद पुनर्निर्माण के लिए। यदि ऐसी अवस्थाओं में विनिमय की दरें कम कर दी जाएँगी तो आयात वस्तुओं की कीमत अधिक हो जाएगी अथवा आयात बन्द हो जाएगा। यदि किसी देश की आकस्मिक आवश्यकता किसी वस्तु को दूसरे देश से खरीदने की पड़ जाती है तो मुद्रा के मूल्य में वृद्धि लाना अधिक लाभप्रद पाया जाता है। यदि किसी देश में मुद्रास्फीति है तो राष्ट्रीय मुद्रा के विनिमय का मूल्य कम हो जाएगा जब कि विनिमय स्वतन्त्र रूप से छोड़ दिया जाएगा। यदि विदेशी व्यापार भली प्रकार से देश की आर्थिक अवस्था के लिए कार्य कर रहा है तो इसे अवश्य रोकना चाहिए नहीं तो आयात महँगा हो जाएगा और निर्यात को लाभ होगा।

विनिमय नियन्त्रण का तीसरा रास्ता जो न तो अधिक मूल्य का है और न कम मूल्य का, वह है उतार चढ़ाव से बचाव। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि विनिमय को कठोरता से एक सूत्र में बाँध दिया जाए और वह तनिक भी हिल-डुल न सके। इसका केवल तात्पर्य यह है कि विनिमय को आकस्मिक उतार-चढ़ाव से बचाया जाए जिससे कि सर्वसाधारण के लिए लाभदायक सिद्ध हो सके। विनिमय साम्य (exchange equalization) का यही परिणाम हुआ। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष (I M F) के स्थापित करने का यही उद्देश्य है।

विनिमय नियन्त्रण विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय माल के विधिवत् आयात निर्यात में रहता है अथवा किसी निश्चित दर से विदेशी सिक्के के क्रय और विक्रय में रहता है। विनिमय नियन्त्रण तभी फलीभूत हो सकता है जब कि विनिमय बाजार में मुद्रा की माँग और पूर्ति को मनमाने ढंग से प्रभावित किया जा सके। यह टटकर, ब्याज दरों में परिवर्तन आदि द्वारा परोक्ष रूप से किया जा सकता है। आयात-कर और आयात

मात्रा (कोटा) आने वाले माल को कम कर देगी। विदेशी मुद्रा की माँग और मूल्य भी कम हो जाएँगे और स्वदेशी मुद्रा का मूल्य बढ़ जाएगा। निर्यात कर जो इतने प्रचलित नहीं हैं, इसके विपरीत प्रभाव डालते हैं। इस दिशा में सरकारी आर्थिक सहायता का पृथक् प्रभाव होता है। निर्यात सम्बन्धी सरकारी आर्थिक सहायता देशी सिक्कों के मूल्य को बढ़ा देती है और आयात सम्बन्धी सरकारी आर्थिक सहायता देशी मुद्रा के मूल्य में कमी कर देती है। ब्याज की दर में वृद्धि विदेशी पूँजी को आकर्षित करती है तथा देशी मुद्रा की माँग को बढ़ाती है और साथ ही उसके मूल्य को भी बढ़ाती है। तथा इसके विपरीत दिशा में भी विलोमत ही होगा। किन्तु इन साधनों से विनिमय प्रभावित हो किया जा सकता है, नियन्त्रित नहीं। यदि प्रतिस्पर्द्धी देश भी इन्हीं उपायों का आश्रय लेगा तो ये उपाय व्यर्थ हो सकते हैं और विनिमय-नियन्त्रण केवल कल्पना मात्र रह जाएगा। यह ढंग विनिमय पर नियन्त्रण करने के लिए प्रतिद्वन्द्वी देश के निमित्त प्रयोग में नहीं लाए जाते हैं। यह ढंग विनिमय पर नियन्त्रण करने के लिए आवश्यक रूप से नहीं स्वीकार किए जाते। और न यह ढंग कुशल नियन्त्रण लाने के लिए पर्याप्त ही हैं। अतः और बहुत से प्रत्यक्ष साधनों के प्रयोग आवश्यक होते हैं।

साधारणतया केवल दो ढंग हैं जिनसे विनिमय पर नियन्त्रण लगाया जा सकता है (१) शासन की ओर से विनिमय के बाजार में विदेशी विनिमय के क्रय और विक्रय के द्वारा विनिमय-दर को साम्य स्तर पर लाने के लिए हस्तक्षेप किया जाता है। इस ढंग को हस्तक्षेप कहते हैं और यह विनिमय उद्‌बन्धन (exchange pegging) की ओर बढ़ाता है। (२) सरकार मुद्रा की माँग और पूर्ति पर रोक लगा सकती है जिससे वह विनिमय बाजार तक न पहुँच सके। इस विधि को प्रतिबन्ध कहते हैं। यह तरीका बहुत ही लाभदायक और प्रसिद्ध है, क्योंकि पहला तरीका केवल अल्पकालीन अस्त्र है। और इसमें अधिक व्यय की आवश्यकता होती है।

विनिमय प्रतिबन्ध वास्तविक विनिमय नियन्त्रण है। इसके लिए निम्नलिखित तीन बातों की आवश्यकता होती है (क) प्रत्येक विदेशी विनिमय क्रिया को सैंट्रल बैंक में केन्द्रित कर देना चाहिए। (ख) राष्ट्रीय सिक्के विनिमय के लिए बिना पूर्व-स्वीकृति के नहीं दिए जा सकते। (ग) अनधिकृत विदेशी विनिमय के लेन-देन में प्रवेश करने पर दण्ड दिया जाता है। इसके लिए साधारण रास्ता यह होना चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति जो बाहर माल भेजना चाहता है उसे सैंट्रल बैंक के पास प्रार्थना-पत्र तथा विदेशी सिक्कों पर अपना अधिकार प्रस्तुत करना चाहिए और सैंट्रल बैंक का लाइसेंस-प्राप्त व्यक्तियों के पास विदेशी आए हुए माल को बाँट देना चाहिए। इस प्रकार से विनिमय नियन्त्रण पूर्ण रूप से आए हुए माल पर नियन्त्रण रखता है। सन् १९३९ तक जर्मनी ही विनिमय-नियन्त्रण में प्रमुख देश था यद्यपि और भी कई यूरोपीय देशों ने महान् मन्दी (great depression) के दिनों में यह विधि अपनायी थी। विनिमय-नियन्त्रण ने जो विभिन्न रूप अपनाए हैं, वे इस प्रकार हैं :—

(१) विनिमय "उद्‌बन्धन" (Exchange Pegging)—यह विधि साधारणतया युद्ध के समय में विनिमय उतार-चढ़ाव को कम करने के लिए काम में लाई

जाती है। किसी मुद्रा के आन्तरिक मूल्य का मुद्रा प्रसार के कारण अवमूल्यन हो सकता है परन्तु सरकार अन्तर्राष्ट्रीय लेन देन को सुविधा देने के लिए इसके बाह्य मूल्य को जितना कि वह क्रय शक्ति समता के अनुसार उचित है, उससे भी ऊँचा स्तर बनाए रखने का प्रयत्न कर सकती है। यह विधि इगलैण्ड के द्वारा प्रथम महायुद्ध में, और फिर दूसरे महायुद्ध में भी काम में लाई गई थी।

(ii) विनिमय-समकारी या क्षतिपूरक लेखा (Exchange Equalisation Account)—विनिमय निधि का उदय अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-मान प्रचलन का अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण निर्णय प्रणाली म रूपान्तर करना था, जो (यह परिवर्तित प्रणाली) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में सोने को सन्तुलन मद के रूप म उपयोग करने लगी। इगलैण्ड द्वारा सन् १९३१ म स्वर्ण-मान के बन्द किए जाने के बाद तीव्र विनिमय उतार-चढाव के रोकने की फिर आवश्यकता हुई। इस कार्य के लिए विनिमय-समकारी लेखा-निधि (Exchange Stabilisation Fund) को काम म लाया गया। 'विनिमय-समकारी लेखानिधि आस्तियो का सग्रह है जिसे केन्द्रीय नियन्त्रण के अन्तर्गत पृथक् कर दिया जाता है ताकि विनिमय बाजार में ज्यादा उतार-चढाव पर नियन्त्रण रखा जा सके। आवश्यकतानुसार विदेशी मुद्रा का इस निधि की सहायता से क्रय विक्रय किया गया और इस प्रकार अल्पकाल निधियो की इगलैण्ड के अन्दर जाने की या बाहर आने की अनिश्चित गतिविधियो के होते हुए भी विनिमय एक सकुचित क्षेत्र मे सीमित रखा गया। यह निधि मुद्रा मूल्य म दीर्घकाल समायोजन (adjustment) को रोकने के काम म नही लाई जाती।

विनिमय समकारी लेखा निधि का विभिन्न देशो में भिन्न उपयोग हुआ है तथा एक ही देश म कई स्टेज पर भिन्न प्रयोग हुए है।

(iii) विनिमय नियन्त्रण (Exchange Control Proper)—वास्तव मे विनिमय नियन्त्रण का अर्थ उन अनेक युक्तियो से है, जिनमे से बहुत सी जर्मनी म नाजी शासन के समय शुरू की गई थी। उसके बाद दूसरे देशो ने भी उनमे से कुछ को अपनाया।

विदेशी व्यापार की बाधाओं के बारे में समझाते हुए हमने इनमे से कुछ युक्तियों का अध्ययन किया है। यहां हम फिर विदेशी व्यापार के दृष्टिकोण की अपेक्षा विदेशी विनिमय के दृष्टिकोण से उन पर प्रकाश डालेंगे। य युक्तियाँ हैं: (क) निष्कासन या समाशोधन-समझौते (clearing agreements), (ख) यथापूर्व-स्थिति समझौते (standstill agreements), (ग) हस्तान्तरण शोध विलम्ब (transfer moratoria), और (घ) समावरुद्ध लेखे (blocked accounts)।

दो देशो के बीच के समाशोधन-समझौते (clearing agreements) के अन्तर्गत आयात कर्त्ता अपने-अपने केन्द्रीय बैंको म आयात की हुई सब वस्तुओं के क्रय-मूल्य को एक लेखे म जमा कर देते हैं। इस धन से फिर निर्यात कर्त्ताओ का भुगतान कर दिया जाता है। मुद्राओ की दर साधारणतया समझौते की शर्तों के अनुसार निर्धारित की जाती है। इसका उद्देश्य है राज्य की इच्छानुसार आयात का नियमन करना, भुगतान-सन्तुलन मे साम्य निश्चित करना और घटते-बढते हुए विनिमय की

अनिश्चितता को दूर करना। इस प्रणाली की प्रवृत्ति बहुमुखी व्यापार के बजाय द्विमुखी व्यापार को प्रोत्साहन देने की है और इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर इसका प्रभाव अवरोधक होता है। इसके अतिरिक्त यह राशिपातन (dumping) और मुद्रा-अवमूल्यन को निरुत्साहित करती है। सब प्रकार से देखते हुए यह प्रणाली निन्दित ठहराई जाती है। केवल युद्ध के समय की विशेष परिस्थितियों में या एक अस्थायी युक्ति के तौर पर किसी देश के भुगतान शेष की असमता की परिस्थिति पर काबू पाने के लिए उस समय तक इसका आश्रय लिया जाता है, जब तक कि असमता के कारण दूर नहीं हो जाते।

यथापूर्व-स्थिति समझौता (Standstill Agreement)—किसी देश को अपनी वित्तीय स्थिति सुधारने के लिए समय देने की एक युक्ति है जिससे कि उस देश से प्रति विशिष्ट विदेशी अल्पकाल ऋण के विलम्ब काल शोध (moratorium) के रूप में पूंजी बाहर न जा सके। या तो अल्पकाल ऋण दीर्घकाल ऋण में परिवर्तित कर दिया जाता है या उसके धीरे-धीरे भुगतान करने की व्यवस्था कर दी जाती है। यह युक्ति जर्मनी में सन् १९३१ के संकट के बाद प्रयोग में लाई गई थी।

हस्तान्तरण विलम्ब काल शोध (Transfer Moratoria)[1] इसी प्रकार की एक दूसरी युक्ति है। इस प्रणाली के अन्तर्गत आयात कर्ता और दूसरे लोग अपने विदेशी ऋण का भुगतान अपनी स्वदेशी मुद्रा में एक निर्दिष्ट प्राधिकारी को करते हैं। जब विलम्ब काल शोध (moratorium) की समाप्ति हो जाती है तो ये निधियाँ विदेशों को भेज दी जाती हैं। कभी-कभी एक विदेशी ऋणदाता को उस देश में, जो विलम्ब काल शोध (moratorium) लागू करता है, अपनी निधि को सरकार द्वारा निर्दिष्ट ढंग पर व्यवहार में लाने की आज्ञा दे दी जाती है।

ऊपर बतलाए हुए यथापूर्व-स्थिति समझौते और हस्तान्तरण विलम्ब काल शोध की युक्तियों से एक तीसरी युक्ति निकलती है जिसका कि समावरुद्ध लेखा या बंधे हुए खातों की प्रणाली (blocked accounts) कहते हैं। जिस समय केन्द्रीय बैंक को स्वदेशी मुद्रा में दिए गए विदेशी ऋण सरकार की आज्ञा के बगैर विदेश नहीं भेजे जा सकते उस समय समावरुद्ध लेखा का उदय होता है। चूंकि देश में पड़ी बेकार निधि साख को संकुचित करती है, इसलिए विदेशी उत्तमर्ण या ऋणदाता उसको व्यवहार में लाने से बिलकुल वंचित नहीं किए जाते। परन्तु निधियाँ सरकार की निर्दिष्ट विधि के अनुसार ही व्यवहार में लाई जाती हैं। साधारणतया उनको स्वतन्त्र बाजार में बेचने की आज्ञा दे दी जाती है। अधिकतर वे ऊँचे बट्टे पर बेची जाती हैं।

१७ वायदा विनिमय (Forward Exchange)—विनिमय में उतार-चढ़ाव की जोखिम, विशेषकर अविनिमयसाध्य मुद्रा के अन्तर्गत, एक युक्ति से हटाई जा सकती है, जिसको कि "वायदा विनिमय" कहते हैं। इसके अनुसार वह व्यक्ति, जिसे भविष्य में कभी कोई भुगतान करना है, या लेना है, एक ऐसे बैंक से प्रसंविदा

1 An emergency measure authorising the suspension of payments of debts for a given time the period thus declared

कर लेता है जो उस समय विनिमय की दर का निर्णय करता है। मान लीजिए कि किसी भारतीय आयात-कर्त्ता को तीन महीने बाद इंगलैण्ड के एक निर्यात-कर्त्ता को ५०० पौंड का भुगतान करना है। विनिमय की अनिश्चितता के कारण वह इस बात का निर्णय नहीं कर सकता कि समय आने पर उसको कितने रुपये देने होंगे। बिना यह समझे हुए कि उसकी लागत कितनी हुई वह आयात की हुई वस्तु का मूल्य निर्धारित नहीं कर सकता। इस समय व किसी निश्चित किए हुए दर पर अग्रिम (फॉरवर्ड) स्टर्लिंग खरीद कर वह इस संकट से मुक्ति पा सकता है। यह उसको विनिमय में उतार-चढ़ाव की जोखिम से सुरक्षित कर देगा। इसी प्रकार भारतीय निर्यात-कर्त्ता जिस को कि भविष्य में स्टर्लिंग में भुगतान मिलना है, एक निश्चित की हुई दर पर हुण्डी बैंक को बेच सकता है।

वायदा विनिमय की दरें प्रचलित दर में दी जाती हैं, या "तात्कालिक दर" (spot rate) में। यदि स्वदेशी मुद्रा की एक इकाई के बदले में विदेशी मुद्रा का एक थोड़ा भाग मिलता है, तो यह अग्रिम दर 'अधिमूल्य' (at a premium) पर होती है। यदि स्वदेशी मुद्रा की इकाई के बदले में अधिक विदेशी मुद्रा मिलती है तो उसको "अपहार" अथवा बट्टे पर होना कहते हैं।

किन परिस्थितियों में अन्तिम दर अधिमूल्य पर या बट्टे पर हो सकती है? दूसरे शब्दों में, वे क्या कारण हैं जिनको बैंक अग्रिम दरों का मूल्यांकन करते समय अपने ध्यान में रखते हैं। साधारणतया तीन बातें ध्यान में रखी जाती हैं:—

(i) स्वदेश और विदेश में ब्याज की सापेक्ष दरें (The Relative Rates of Interest at Home and Abroad)—यदि ब्याज की दर किसी विदेशी केन्द्र में स्वदेश से अधिक है तो बैंक को अपनी निधि विदेशी केन्द्र में भेजने से लाभ होगा। इस प्रकार वह अग्रिम विनिमय सस्ती दरों पर बेच सकता है। अग्रिम विनिमय का मूल्यांकन बट्टे पर होगा। यदि स्वदेश में ब्याज की दर उच्चतर है तो निधि के विदेश भेजने में कोई आकर्षण न होगा। ऐसी दशा में अग्रिम विनिमय का मूल्यांकन अधिमूल्य पर किया जाएगा।

(ii) संविदा का सन्तुलन ('Marrying' a Contract)—निधियों को एक जगह से दूसरी जगह भेजने के बजाय बैंक एक लेन-देन को दूसरे लेन देन से पूरा कर सकते हैं। कुछ व्यापारियों को विदेशी मुद्रा की भविष्य में आवश्यकता होगी और इसके विपरीत कुछ व्यापारी भविष्य में विदेशी मुद्रा बेचना चाहते हैं। बैंक इनके बीच में एक मध्यस्थ के तौर पर आ जाता है। यह एक से खरीदता है और दूसरे को बेचता है और लाभ अपने लिए निकाल लेता है। इसको संविदा का सन्तुलन (marrying a contract) कहते हैं।

(iii) मुद्रा की स्थितियाँ (Currency Conditions)—यदि विदेशी मुद्रा के अवमूल्यन की आशा है, तो बैंक उसको अग्रिम रूप से खरीदने के लिए तैयार न होगा और इस प्रकार अग्रिम दरें अधिमूल्य पर मूल्यांकित की जाएँगी।

ऊपर कही गई बातों को ध्यान में रखकर देखने से यह समझना सरल हो जाता है कि अग्रिम विनिमय या भविष्य का लेन-देन, किस प्रकार विनिमय में उतार-

चढाव कम करने मे सहायक होता है। ये लेन-देन केवल सच्चे व्यापारिक उद्देश्यो से ही प्रयोग म नही लाए जाने बल्कि सट्टेबाजी के उद्देश्यो से भी ऐसे सौदे किए जाते हैं।

१८ अन्तर-पणन (Arbitrage Operations)—जब अग्रिम विनिमय से विनिमय उतार चढाव समय की दृष्टि से कम हो जाते है तो अन्तर पणन से विनिमय-दरो के अन्तर स्थान की दृष्टि से कम हो जाते हैं। एक उदाहरण मे यह भेद समझ म आ जाएगा। मान लीजिए कि बम्बई के विनिमय बाजार में रुपया स्टर्लिंग विनिमय की दर है १८ पैं० प्रति रुपया और लन्दन म किसी भी कारण से दर बढ कर १६ पैं० प्रति रुपया हो जाती है। प्रत्यक्ष है कि इस अन्तर के कारण लाभ कमाने का एक अवसर उत्पन्न हो जाता है। आप अपने इगलैण्ड के बैंक को तार से १६ पैं० प्रति रुपया की दर पर स्टर्लिंग खरीदने का आदेश कर सकते हैं। आप उसको अपने भारतीय बैंक द्वारा १८ पैं० प्रति रुपया की दर पर बेचकर २ पैं० प्रति रुपया लाभ उठा सकते हैं। और लोग भी अवश्य ऐसा करेंगे। लन्दन में स्टर्लिंग की माँग बढ जाएगी और विनिमय की दर १८ पैं० प्रति रुपया की ओर उतरने के लिए प्रवृत्तिशील होगी। इसके विपरीत भारत म स्टर्लिंग की पूर्ति बढ जाएगी और रुपयों म इसका मूल्य गिरेगा। विनिमय की दर १६ पैं० की ओर बढेगी। यह उतार चढाव तब तक चलता रहेगा, जब तक भारत और लन्दन में विनिमय दर लगभग एक सी नही हो जाती। वास्तव म इतना ऊँचा अन्तर जितना कि यहाँ हमने माना है, असम्भव होता है क्योकि अन्तर पणन (arbitrage operations) अन्तर को न्यूनतम बनाए रहता है।

१९ अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (International Monetary Fund)—आजकल एक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना करके विनिमय उतार चढाव को दूर करने का एक अन्तर्राष्ट्रीय प्रयत्न किया गया है। इस सस्था का जन्म सन् १९४४ म होने वाले ब्रेटन वुडस (Bretton Woods) सम्मेलन म हुआ। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष नामक सस्था के स्थापित करने का उद्देश्य यह था कि विनिमय म स्थिरता आ जाए और एक दूसरे देशो म परस्पर विनिमय मित्रतापूर्वक हो जिससे भुगतान शेष की विषमता मिट जाए।

इसी सस्था (I M F) के सविधान के अनुच्छेद १ के अनुसार इसके निम्नलिखित कार्य हैं —

(१) एक स्थायी सस्था द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय सहकारी कोष स्थापित करना।

(२) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार म साम्य रखना और सदस्य देशो में ऊँचे स्तर की नियोजन व्यवस्था करना।

(३) विनिमय की प्रतिस्पर्धा को रोकना एव विनिमय की स्थिरता म वृद्धि करना तथा प्रतिस्पर्द्धी मुद्रा अवमूल्यन को निरुत्साहित करना।

(४) सदस्यो म विदेशी विनिमय के सम्बन्ध म, द्रव्य की अदायगी के लिए बहुमुखी पद्धति की पुष्टि के लिए सहायक होना तथा विदेशी विनिमय के मार्ग की बाधाओ को दूर करना।

(५) सदस्यो को पर्याप्त मात्रा में धन उपलब्ध होने का विश्वास दिलाना

जिससे वे अपने देश के भुगतान शेष को सही और ठीक रख सकें और जिससे राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय समृद्धि बरबाद न हो (जैसे अपस्फीति नीतियाँ)।

(६) उपर्युक्त उपायों के आधार पर सदस्य-राष्ट्रों के अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान की विषमता को ठीक किया जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (I M F) सदस्यों के चन्दे से बनाया गया, जिन्होंने कि उस कोष में भाग लेने का निश्चय किया था। यह कोष ८ ५ महापद्म (billion) डालरों से प्रारम्भ किया गया था। इसमें भारत ने ४,००० लाख डालर जमा किए थे। चन्दे के भुगतान का कुछ भाग सोने में और अंशत कुछ उस देश की मुद्रा में होता था। सदस्य देश को २५% अपना कोटा देना होता है अथवा सोने के भाग का १०%, जो भी कम हो। इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के साधन, कुछ तो सोने में है और कुछ सदस्य-देशों की मुद्राओं में है जो कि उन देशों के केन्द्रीय बैंकों में रखी जाती हैं।

इस कोष का मुख्य कार्य सदस्य-देशों की मुद्राओं को एक दूसरे के लिए क्रय और विक्रय करना है। किन्तु शर्त यह है कि कोई देश अपने कोटे को २००% से अधिक मुद्रा नहीं ले सकता। सदस्य-देशों को इस निधि से उनके कोटे का ७५% और इसके अतिरिक्त २५% प्रति वर्ष, और अधिक से अधिक उनके कोटे के २००% तक सहायता दी जा सकती है। कोष की इच्छा पर ये शर्तें ढीली की जा सकती हैं। इस कोष की सहायता से एक ऋणी देश सोने के निर्यात और उससे उत्पन्न हुई अपस्फीति (जैसा कि स्वर्ण मान के अन्तर्गत हुआ था) से सुरक्षित रहता है।

जहाँ तक विनिमय की दरों का प्रश्न है, सदस्य देशों को अपनी मुद्राओं की सोने के साथ विनिमय-दर निर्धारित करनी पड़ती है परन्तु ये दरें हर समय के लिए निर्धारित नहीं की जाती। उनमें पूर्णतया एकरूपी परिवर्तन उन सदस्य-देशों की राय से, जो अलग अलग अपने अभ्यश का १० प्रतिशत भाग देते हैं, किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त सदस्य देश अपनी मुद्राओं के विनिमय-मूल्य में १०% तक परिवर्तन कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त १०% परिवर्तन मुद्रा कोष की स्वीकृति से भी किया जा सकता है। इस सीमा के आगे परिवर्तन, इस कोष की स्वीकृति से केवल मौलिक असमता को ठीक करने के हेतु ही किए जा सकते हैं।

भुगतान शेष में फिर से समता लाने के लिए यह संस्था सदस्य देशों की आन्तरिक अर्थ व्यवस्था में हस्तक्षेप नहीं करती। सदस्य देश केवल एक लिखित सूचना देकर इस कोष या संस्था से अलग हो सकते हैं।

मुद्रा कोष का प्रबन्ध कार्यकारी मंडल के १२ संचालकों द्वारा होता है। उक्त कार्यकारी मंडल में अमरीका, भारत, चीन और इंगलैण्ड प्रत्येक को स्थायी स्थान दे दिया गया है। दो स्थान लैटिन अमरीका प्रजातन्त्र को दे दिए गए हैं और शेष ५ स्थानों की पूर्ति चुनाव द्वारा की जाती है।

यह प्रणाली विनिमय स्थायित्व लेखों से, जिनको कि मन्दी के दिनों में पृथक्-पृथक् देशों ने निकाला था, मिलती-जुलती है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी यही सिद्धान्त

प्रयोग में लाए गए हैं। यह निधि अन्तर्राष्ट्रीय-स्वर्णमान के उद्देश्य की प्राप्ति, उसकी त्रुटियों के बिना, करना चाहती है।

इस प्रकार उपर्युक्त वर्णन से अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के तीन मुख्य कार्य हो सकते हैं —

(१) यह अल्पकालीन साख संस्था के रूप में कार्य करता है। यदि किसी देश को कठिनाई है और व्यापार-शेष उसके प्रतिकूल है तो ऐसे समय पर उसकी मदद के लिए मुद्रा-कोष आगे कदम बढाता है। लेकिन यह उस देश की विदेशी विनिमय की प्रत्येक पूर्ति की जो वहाँ पर प्रयोग में आती है, जिम्मेदारी नही लेता। सभी देशों से आशा की जाती है कि वे विदेशी विनिमय सचित रखें जिस से वे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें। यह सस्था प्रत्यक वस्तु की पूर्ति का उत्तरदायित्व नही लेती। वह तो केवल आकस्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। कर्ज लेने वाले देश को ब्याज देना पड़ता है और अपने कोटे (quota) को पूर्ण रखना पड़ता है। इस भय से कि कोई देश अत्यधिक ऋण में न डूब जाए, ब्याज की दर बढने लगती है ज्यो-ज्यो ऋण की रकम बढती जाती है। कम ब्याज उसी अवस्था में लिया जाता है जब कि ऋण अल्पावधि के लिए लिया जाता है। यदि ऋण के ऊपर ब्याज की दर ५% से अधिक हो जाती है तो फिर मुद्रा-कोष (I. M. F) ब्याज की दर को किसी भी स्तर तक जुर्माने के रूप में बढा सकता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि कोष (I. M. F) दृढ व्यापारिक आधार पर ही स्थापित नही किया गया है, बल्कि इसका यह भी निश्चित उद्देश्य है कि ऋण केवल अल्पावधि के लिए ही दिए जाएं।

(२) मुद्रा-कोष, दीर्घकालीन भुगतान शेष की स्थिति में भी सुधार लाने की व्यवस्था करता है। यह साधारण विनिमय-दरों को समायोजित करके दीर्घकालीन भुगतान शेष की स्थिति को सुधारता है। कोई भी सदस्य देश अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों में मनमानी प्रतिस्पर्द्धा नही कर सकता। यदि कभी कोई देश यह समझता है कि उसकी विनिमय की दरें कम हैं तो वह मुद्रा-कोष के अधिकारियों से स्वीकृति मिल जाने पर ही अपनी विनिमय-दर में परिवर्तन कर सकता है। इस प्रकार से विनिमय-दरों के परिवर्तन पर एक निश्चित शर्त है। विनिमय-दर में परिवर्तन तभी होगा जब सम्बन्धित देश की आन्तरिक वित्तीय व्यवस्था में समायोजन और सन्तुलन बना रहे। इस प्रकार विनिमय दर के ऊपर नियन्त्रण का फल यह होगा कि एक ओर तो देश में आन्तरिक स्थिरता और पूर्ण रोजगार की स्थिति बनी रहेगी; और दूसरी ओर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की गति अबाध रूप से चलती रहेगी। प्रत्येक देश को अपनी उत्पादक-कुशलता पर विश्वास करना चाहिए। उसे विनिमय ह्रास की कृत्रिम उत्तेजना पर भरोसा न करके विश्व मार्केट में अपने बल पर चलना चाहिए।

(३) मुद्रा-कोष, अन्तर्राष्ट्रीय विचार विनिमय के लिए साधन आयोजित करता है। इस सस्था में ससार के मुख्य-मुख्य देशों के प्रतिनिधि आते हैं। इससे केवल ससार की आर्थिक व्यवस्था पर ही विचार नही होता बल्कि ससार के प्रत्येक देश के व्यापार के विकास के विषय में आयोजनाएँ बनाई जाती हैं। विभिन्न देशों के बीच पारस्परिक व्यापारिक गतिरोध भी इस सस्था के प्रयत्नों से दूर किए जाते

हैं। इस प्रकार के सहायक रुख और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के समन्वय का फल यह होगा कि संसार की अर्थव्यवस्था में स्थिरता आएगी और विश्व-व्यापार का स्वस्थ विकास होगा, और सभी देशों में उत्पादन में वृद्धि होगी। इस प्रकार से प्रत्येक सदस्य देश के व्यवसाय-चक्रों और आय विकास पर विचार किए जाते हैं। यह संस्था इन सब समस्याओं को हल करने के लिए गहन अध्ययन और शोध-कार्य करने में सतत प्रयत्नशील है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष का वार्षिक अधिवेशन अक्तूबर, १९५८ में नई दिल्ली में हुआ था। उस समय मुद्रा-कोष के प्रबन्ध संचालक श्री रूथ (Ivor Rooth) ने कहा था, "कोष ने अपने उद्देश्यों की प्राप्ति में यथेष्ट प्रगति की है। अब संसार में विनिमय स्थायित्व आता जा रहा है। कोष के सदस्य राष्ट्रों में सुविधाजनक विनिमय हो रहा है और वे आपस में प्रतिस्पर्द्धी रीति का आश्रय नहीं ले रहे हैं। उनमें आपस में विनिमय सम्बन्धी रुकावटें हटती जा रही हैं और उनके आपसी सौदों के विनिमय समायोजन अनेकरूपीय हो रहे हैं। यद्यपि कुछ अर्द्ध-विकसित देशों ने अपने माल की गिरती हुई माँग के कारण विनिमय सम्बन्धी नियन्त्रण लगाने आवश्यक समझे थे, फिर भी अधिकतर देश विनिमय सम्बन्धी नियन्त्रण हटाने के पक्ष में थे और हैं।

१९५८ के अन्त में पश्चिमी यूरोप के कई देशों ने जिनमें इंगलैण्ड भी सम्मिलित था, अपनी मुद्राओं का स्वतन्त्र विनिमय घोषित कर दिया। इस प्रकार यूरोप अब संसार से अलग-थलग न रहकर संसार के उतार-चढ़ाव में समान रूप से भागी होने जा रहा है।

परन्तु यह सन्देहास्पद है कि मुद्रा-कोष, संसार की ऐसी स्थिति में, जब कि व्यापार की मात्रा और परिमाण अवश्य रूप से बढ़ गया है, अपना भाग स्वतन्त्रतापूर्वक अदा कर सकेगा। १९४७-५७ के दौर में संसार के निर्यात व्यापार में ९०% वृद्धि हुई, और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में १९३७-५७ के बीच वस्तुओं की कीमतों में १४०% की वृद्धि हुई। पिछले दस वर्षों में तो अन्तर्राष्ट्रीय निर्यात व्यापार प्रायः दुगुना हो चला है। किन्तु मुद्रा-कोष के कोटे में १९४८ से प्रायः बिलकुल वृद्धि नहीं हुई है।

इसलिए मुद्रा-कोष के संचालकों ने अक्तूबर '५८ में नई दिल्ली में सदस्य देशों से अपील की थी कि वे अपने-अपने कोटे (quotas) बढ़ाकर कोष की सामर्थ्य बढ़ावें। अब कोष के प्रबन्ध मण्डल ने कनाडा, जर्मनी (Federal Republic of Germany) और जापान से कहा है कि वे अपने वार्षिक कोटे को दुगुना कर दें।

भारत और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष (India and the I M F)—भारत ने अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष (I M F) की निम्न कारणों से सदस्यता स्वीकार की—

(क) भारत स्वतन्त्र था कि वह स्टर्लिंग कड़ी से सम्बन्ध विच्छेद करदे अपनी आवश्यकताओं के अनुसार विनिमय व्यवस्था कर ले। मुद्रा-कोष की कोई ऐसी शर्त नहीं है कि भारत स्टर्लिंग के साथ ही जुड़ा रहे। वास्तव में भारत ने स्वर्णमान के साथ बराबरी का सम्बन्ध स्थापित किया है। मुद्रा-कोष ने यह भी सुविधा दी है कि कोई देश अपनी बदलती हुई आवश्यकताओं के अनुसार विनिमय-दरों में परिवर्तन कर सकता है।

(ख) मुद्रा-कोप ने अपने सदस्य देशों की वित्तीय स्वायत्तता को मानने का आश्वासन दिया है। भारत अपनी राजकोपीय नीति अपनी औद्योगिक आवश्यकताओं के अनुसार निर्धारित करने में स्वतन्त्र है।

(ग) भारत को मुद्रा कोप के प्रबन्ध में स्थायी स्थान मिल गया है।

(घ) चूंकि अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और विकास बैंक (I B R D) की सदस्यता तभी मिल सकती है जब कि कोई देश अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोप का सदस्य हो, इसलिए भी भारत को मुद्रा कोप (I M F) की सदस्यता प्राप्त करना आवश्यक था क्योंकि अन्यथा भारत को पुनर्निर्माण और विकास बैंक (I B R D) से ऋण प्राप्त न हो सकते।

(ङ) चूंकि बहुत से देशों ने मुद्रा-कोप की सदस्यता स्वीकार कर ली थी इसलिए भारत का अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय सहयोग से अलग-थलग रहना उचित न रहता।

प्रत्यक सदस्य देश को अधिकार है कि वह अपने अंशदान या कोटा के बराबर विदेशी मुद्रा किसी भी देश के ऊपर ऋण ले सकता है। और वह देश मुद्रा-कोप को उतनी मुद्रा अपनी मुद्रा के द्वारा चुका सकता है। भारत को अधिकार है कि वह अपने ४,००० लाख पौण्ड के अंशदान के सहारे १,००० लाख डालर की विदेशी मुद्रा उन रुपया प्रतिभूतियों के सहारे ले सकता है, जिन्हें उसने कोप (I M F) के पास रेहन रख दिया है। इसके अतिरिक्त २७५ लाख डालर के मूल्य के विदेशी विनिमय भी अपने स्वर्ण अंशदान के सहारे ले सकता है। भारत ने १९४८-४९ म १,००० लाख डालर का ऋण मुद्रा-कोप से लिया था जिसे वह वापस दे चुका है। जनवरी, १९५७ म भारत के पास विदेशी विनिमय की कमी थी, अत उसने १,२७५ लाख डालर का ऋण लिया। १९५७ म भारत ने कोप से २,००० लाख डालर की अस्थायी साख प्राप्त की। मुद्रा-कोप दीर्घावधि के ऋण नहीं देता। यह काम विश्व कोष (World Bank) का है। मुद्रा कोप तो अल्पावधि के ऋण ही विनिमय सम्बन्धी भुगतान शेष के लिए देता है।

मुद्रा-कोप ने भारत को तकनीकी सलाह देने के लिए कई विशेषज्ञों को भारत भेजा है। मुद्रा कोप के कई मिशन भी भारत आ चुके हैं जिन्होंने भारत की वित्तीय स्थिति राजकोपीय नीति और विकास योजनाओं का सम्यक अध्ययन करके अपनी सलाह दी है।

२० अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण मान के साथ तुलना (Comparison with International Gold Standard)—अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोप (I M F) निम्न बातों में स्वर्ण मान से मिलती है—

(1) स्वर्ण-मान के अन्तर्गत हर एक देश अपने बाह्य लेखे का समन्वय सम्पूर्ण संसार से एकबारगी करता है, न कि पृथक् पृथक् देशों से।

इसको बहुपक्षवाद (multilateralism) कहते हैं। यह द्विपक्षवाद के विपरीत है, जो कि सन् १९३० की मन्दी के समय बहुत लोकप्रिय हो गया था। बहुपक्षवाद के अन्तर्गत एक देश का निर्यात आधिक्य दूसरे देश के आयात आधिक्य के भुगतान करने के काम म लाया जा सकता है। इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोप के अन्तर्गत मुद्राएं

किसी विशेष समय पर निर्धारित की हुई दरों पर परिवर्तित की जा सकती है। इस प्रकार बहुपक्षी लेन देन को प्रोत्साहन मिलता है।

(ii) स्वर्ण-मान के अन्तर्गत एक देश, जिसका भुगतान शेष घाटे में है, इस कमी को सोने या विकर्षों (drafts) के निर्यात से पूरा करता है। नई व्यवस्था में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का कोटा इस कार्य को करता है।

(iii) स्वर्ण-मान के अन्तर्गत कोटा और प्रत्यक्ष विनिमय जैसी कोई बाधाएँ नहीं थी। ये बाधाएँ इस सिद्धान्त के असगत हैं कि व्यापार तुलनात्मक लागत के द्वारा शासित होना चाहिए। ये बाधाएँ व्यापार को उस मार्ग पर ले गईं जो इस सिद्धान्त के विरुद्ध था। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के अन्तर्गत भी ये बाधाएँ अन्तर्वर्ती काल के बीतने पर हट जाएँगी और व्यापार फिर से स्वतन्त्र रूप से परिवर्त्य मुद्राओं और उचित स्थायी विनिमय द्वारा होने लगेगा।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा निधि के अन्तर्गत ये सब सुविधाएं, बगैर स्वर्ण-मान की बुराइयों के मिल जाती हैं। हम एक दूसरे सम्बन्ध में स्वर्ण-मान की कुछ त्रुटियों को पहले बतला चुके हैं। हम यहाँ पर स्वर्ण-मान की दो सब से बड़ी त्रुटियाँ बतलाते हैं, जो कि नयी व्यवस्था में नहीं पाई जाती।

(i) स्वर्ण-मान के अन्तर्गत किसी देश के संचित सोने पर चालू लेखे के अन्तर्गत आयात-आधिक्य (import surplus) (अर्थात् प्रतिकूल व्यापार-सन्तुलन) और पूँजी के वापस लेने का प्रभाव लगभग एक-सा ही था। सोना बाहर गया और साख संकुचित हो गई। विनिमय-समकारी लेखे की प्रणाली द्वारा, जो घरेलू साख के आधार को अल्पावधि पूँजी के आन्तरिक प्रवाह (inflow) तथा बाह्य प्रवाह (outflow) से प्रभावित नहीं होने देती थी, यह त्रुटि बहुत कुछ दूर हो गई है। नयी प्रणाली अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की सहायता से एक देश को, उसकी साख-व्यवस्था पर बुरा प्रभाव डाले बिना प्रतिकूल आधिक्य का सामना करने के लिए शक्तियुक्त बनाती है।

(ii) स्वर्ण मान की दूसरी और अधिक महत्वपूर्ण त्रुटि यह थी कि विनिमय-स्थायित्व इस नीति का पहला उद्देश्य बनाया गया था और यह मान सोना बाहर भेजते रहने वाले देश के साख की अपस्फोति करके कायम रखा गया था। सिद्धान्तत जिस देश में सोना अन्दर जा रहा था उससे साख के विस्तृत होने की आशा थी। परन्तु इस व्यवस्था के नियमों के इस भाग का सदैव पालन नहीं किया गया। भुगतान शेष में समता कायम रखने की इस कोष ने, जिससे कि विनिमय समता रही, उस समय तक सरलतापूर्वक कार्य किया जब तक कि मजदूरी तथा दूसरी लागतें लोचदार रहीं, जिससे कि साख की अपस्फीति ने निर्यात वस्तुओं की कीमत को कम किया और असमता के मौलिक कारणों को दूर किया। परन्तु क्योंकि विशेषकर व्यावसायिक सघों के मजदूरी कायम रखने के दबाव के कारण लागत अधिकाधिक दृढ होत. गईं इसलिए साख की अपस्फीति का अर्थ था आर्थिक व्यवस्था पर पक्षाघात और अपने सब दुष्परिणामों के साथ देश में बेकारी।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष स्वर्ण-मान की इन बुराइयों से बचने का प्रयास करता है, जैसा कि हमने देखा है, हालांकि विनिमय दरें सोने की मात्रा में सदस्य-देशों द्वारा

निर्धारित की जाती है, परन्तु फिर भी किसी मूल असमता के आने पर सदस्यो द्वारा इन दरो मे परिवर्तन करने की व्यवस्था है। हालाकि ये परिवर्तन इस कोष की आज्ञानुसार ही किए जा सकते हैं, परन्तु यह आज्ञा आवश्यक मामलो मे रोकी नही जाएगी।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के अन्तर्गत भी सोना निम्नलिखित कार्य करेगा—

(१) जब सोने की विनिमय दरें बदल जाती हैं, तो यह विनिमय दर को स्थिर रखने में सहायक होगा।

(२) जब अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान शेष मे अल्पकालिक असमता आ जाती है, तो यह फिलहाल काम चलाने मे सहायता दे सकता है।

(३) यह विभिन्न मुद्राओ का सामान्य मान है।

(४) चूंकि मुद्रा-कोष म सोने को निश्चित स्थान दिया गया है, इसलिए उन देशो को, जो सोना उत्पन्न करते हैं, इस कोष मे शामिल होने के लिए प्रोत्साहन मिलता है।

इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष स्वर्ण-मान तथा स्वतन्त्र विनिमय के गुणो का योग है। सोना अब भी मूल्य का अन्तिम मान है, परन्तु स्वर्ण-मान के कठोर नियमो और नियन्त्रणो को दूर रखा गया है। फिर भी इस नई प्रणाली को चलाने के लिए अधिकाधिक अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की आवश्यकता है। इसलिए यद्यपि मुद्रा-कोष की व्यवस्था मे अब भी सोना महत्त्वपूर्ण अशदान करता है, क्योंकि सदस्य-देशो की मुद्राएँ स्वर्ण के अनुपात म प्रस्तुत की जाती हैं, फिर भी यह दिन की भाँति स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना स्वर्ण-मान की पुन स्थापना नही है।

निर्देश पुस्तकें

Crowther, G An Outline of Money 1950, Chs 7 and 8

Brij Narain Money and Banking (S Chand & Co)

Publication of the League of Nations Economic Policy in Inter war and Post war Period

Halm, G N Monetary Theory 1946, Chapters 11 15

Publication of the League of Nations International Currency experience, 1944 Chapters 5 8 also Report on Exchange Control

Robinson, Joan Essays in Theory of Exchange

Cassel, G Money and Foreign Exchange After 1941

Keynes, J M Tract on Monetary Reform

Whale, B International Trade

Ohlin, B 'Mechanism and Objectives of Exchange Control' in American Economic Review Supplement, March 1937

Clare and Crump A B C of Foreign Exchange

Ellis, H S Exchange Control in Central Europe

Coulbron, W A L A Discussion of Money, 1950, Chs 11 and 18

Paul Einzig Exchange Control, 1941

Escher, F Modern Foreign Exchange, 1932

Furness, E S Foreign Exchange

Griffin, C E Principles of Foreign Trade

अध्याय ४१

नियोजन सिद्धान्त

(Theory of Employment)

१ समस्त उत्पादन और नियोजन (Aggregate Output and Employment)—पिछले अध्यायो म हमने मुख्यत उत्पादक साधनो की कीमत निश्चित करने वाले सिद्धान्तो तथा उनके विभिन्न उपयोगो में उन साधनो के वितरण का अध्ययन किया है। मूल्य और वितरण का सिद्धान्त मुख्यत इन सिद्धान्तो के साथ जुडा हुआ है। यद्यपि कीमतो का काफी महत्त्व है, किन्तु सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था में आर्थिक क्रियाशीलता की मात्रा तथा नियोजन का भी पर्याप्त महत्त्व है। जिन साधनों पर नियोजन आधारित है, उन पर विचार करना अतीव आवश्यक है। अभी कुछ दिनो पूर्व तक इस ओर पर्याप्त ध्यान नही दिया जाता था। किन्तु सन् १९३० के आस-पास की महान् मन्दी और अवसाद ने अर्थशास्त्रियो को मजबूर किया कि वे इस समस्या पर गम्भीर विचार करें। श्री जे० एम० कीन्स (J M Keynes) ने इस दिशा में सर्वप्रथम सोचना प्रारम्भ किया। अब अविकसित या अर्द्ध-विकसित देशो का भी आर्थिक कायाकल्प होने जा रहा है। ऐसी दशा म नियोजन (employment) के प्रश्न का महत्त्व और भी बढ गया है। उन साधनो और उपायो का अध्ययन नितान्त आवश्यक है जिन पर किसी देश का नियोजन अवलम्बित है। अत अब हम अर्थशास्त्र के विभिन्न अगो के अध्ययन से हट कर समस्त अर्थशास्त्र का अध्ययन करने जा रहे है। अब हम वस्तुओ और सेवाओ के समस्त उत्पादन की और साथ ही उन वस्तुओ और सेवाओ के उत्पादन करने वाले व्यक्तियो के नियोजन की चर्चा करेंगे। हम पता लगाने का प्रयत्न करेंगे कि किन साधनो के द्वारा समस्त उत्पादन और नियोजन का स्तर निर्धारित किया जा सकता है, और समय समय पर सकल उत्पादन और नियोजन के स्तरों म परिवर्तन किस प्रकार होते हैं। इस प्रकार इस समस्या के दो पहलू है (१) किसी एक निश्चित समय पर सकल उत्पादन और नियोजन की मात्रा का निर्धारण, (२) दीर्घकाल म इनके स्तरो में होने वाले परिवर्तनों के कारणो का विश्लेषण। दूसरा पहलू औद्योगिक उतार-चढाव के उस सिद्धान्त का द्योतक है जो हमको व्यापार चक्रो के सिद्धान्त (Theory of Trade Cycles) की ओर ले जाता है। इसका अध्ययन हम अगले अध्याय म करेंगे।

२ बेकारी के प्रकार (Types of Unemployment)—सरचनात्मक बेकारी, दीर्घकालीन बेकारी या मार्क्सवादी बेकारी (The Structural, Long Term or Marxian Unemployment)—बेकारी का इलाज सुझाने से पूर्व, हम बेकारी के कारणो का विश्लेषण करेंगे। हम २७वें अध्याय में बेकारी के कारणो पर प्रकाश डाल चुके है। उन कारणो पर पुन विचार करना लाभदायक होगा।

आधुनिक ससार मे मनुष्य अकेला कुछ भी पैदा नही कर सकता। कृषक को भूमि, हल, बैल, बीज, खाद्यान्न का प्रबन्ध करना ही होगा ताकि वह खेती कर सके और बुवाई के समय से लेकर कटाई के समय तक अपना पेट भर सके। औद्योगिक क्षेत्र मे भी मनुष्य को कारखाने, मशीनें आदि चाहिएँ। ये सारी चीजें समस्त समुदाय की पूँजी का अश हैं। अब यदि सचित पूँजी की क्षमता की अपेक्षा आर्थिक क्रिया की गति तेज हो जाती है तो समस्त उपलब्ध श्रम शक्ति को उत्पादन सम्बन्धी नियोजन मे लगाना कठिन है, क्योकि उत्पादन के पर्याप्त उपकरण प्राप्त नही हैं जिनमे उन को नियोजित किया जाए। फलस्वरूप इस प्रकार की बेकारी को सरचनात्मक या दीर्घकालीन या मार्क्सवादी बेकारी कहेंगे।

अर्थशास्त्रियो का प्रतिष्ठित वर्ग भी सरचनात्मक या दीर्घकालीन या मार्क्स-वादी बेकारी को ही बेकारी मानता था। किसी राष्ट्र की सचित पूँजी अधिक विनि-योग के द्वारा बढाई जा सकती है; और यदि देश के प्राकृतिक ससाधन अभी अछूते पडे हैं तो समुदाय को उन ससाधनो का लाभ उठाने के लिए अधिक बचत करनी ही पडेगी। प्रतिष्ठित (classical) अर्थशास्त्री कहते थे कि पूँजी के निर्माण की गति क्रियाशील बनी रहनी चाहिए, तभी बढी हुई जनसख्या को नियोजनो पर लगाया जा सकेगा। भारत जैसे पिछडे देशो के सामने भी यही समस्या है। हाल के वर्षों म भारत की जनसख्या १ ५०% की गति से बढी है किन्तु राष्ट्रीय आय उसी अनुपात में नही बढी है। चूँकि देश मे पूँजी का निर्माण उसी गति से नही हो रहा है जिस गति से कि जनसख्या बढ रही है, अत बढी हुई श्रम-शक्ति को काम मिलना कठिन हो रहा है। इसी के दुष्परिणामस्वरूप शहरो म बेकारी बढ रही है और दूसरी ओर आवश्यक्ता से अधिक लोग कृषि कर्म मे लगे हैं। सभी जानते हैं कि थोडा-सा तकनीकी सुधार होने पर जब कृषि में मशीनो का प्रयोग व्यापक हो जाएगा तो बहुत थोडे आदमियो की कृषि में आवश्यकता रह जाएगी। यदि इन लोगो के लिए वैकल्पिक काम दिया जा सकेगा तभी इन्हे कृषि से हटाना सम्भव होगा और इनको अधिक उपयोगी कार्यों में लगाया जा सकेगा। इस मार्ग से देश की राष्ट्रीय आय बढेगी। किन्तु चूँकि कृषि क्षेत्र से बाहर नियोजन के अवसर नही बढ रहे हैं, इसीलिए नई श्रम-शक्ति भी कृषि में ही लगी पडी है, जहाँ वे छिपी हुई बेकारी के शिकार हैं। यदि उन्हे अन्य वैकल्पिक कामो में लगाया जा सकता तो उनकी कार्यक्षमता भी बढती और देश की राष्ट्रीय आय मे भी वृद्धि होती।

इस समस्या का इलाज यही है कि पूँजी का निर्माण तीव्रगति से किया जाए ताकि नियोजन के अवसर बढाए जा सकें। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए बचत पर जोर देना चाहिए और उस बचत को लाभदायक कार्यो म लगाने का प्रयत्न करना चाहिए। अर्द्ध-विकसित देशों में पूँजी-नियोजन के लाभ अत्यन्त सीमित हैं, अतः वहाँ राज्य को प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रीतियो से पूँजी के निर्माण की ओर सक्रिय कदम उठाने चाहिएँ। राज्य अपनी वित्तीय और आर्थिक नीति इस प्रकार बना सकता है कि पूँजी लगाने वालो को पूँजी लगाना हितकर जान पडे। अर्द्ध-विकसित देशो म प्राइवेट पूँजी छिपी पडी रहती है, अत. आर्थिक पुनर्निर्माण का सारा कार्य राज्य को

ही करना पडता है। दूसरी ओर जनसख्या की वृद्धि को भी रोकना चाहिए। हो सकता है कि माल्थस (Malthus) के जनसख्या और आजीविका सम्बन्धी विचार गलत हो किन्तु इससे तो इन्कार नही किया जा सकता कि यदि जनसख्या इसी गति से बढती रही, तो इतने लोगो का वर्तमान जीवन-स्तर इसी राष्ट्रीय आय पर कायम रखना कठिन होगा। हमको बहुत बडी पूंजी की आवश्यकता होगी तभी हम बढती हुई जनसख्या का वर्तमान जीवन स्तर बनाए रख सकेगे।

३ प्रतिरोधी बेकारी (Frictional Unemployment)—उन्नतिशील समाज मे उत्पादन के तकनीक प्रतिदिन बदलते रहते हैं, इसका फल यह होता है कि आज जो लोग जिस काम म लगे है वे कल को नए तकनीक म नौसिखिए होने के कारण बेकारी के शिकार हो सकते हैं। इसे प्रतिरोधी वृत्तिहीनता या बेकारी कह सकते हैं। तकनीकी उन्नति का यह स्वाभाविक परिणाम है। किन्तु यदि हम विस्थापित लोगो को पुन प्रशिक्षण देकर इस योग्य बना सके कि वे नय तकनीक के योग्य अपने आप को ढाल सके या यदि हम श्रमिको को एक रोजगार से दूसरे रोजगार म प्रतिस्थापित कर सकें, या उन्हे सामाजिक सुरक्षा प्रदान कर सके जिससे एक रोजगार से दूसरे म लगने के सक्रमण काल के लिए उनके पास कुछ सहारा हो सके, तो हम किसी सीमा तक प्रतिरोधी वृत्तिहीनता (frictional unemployment) का दुष्प्रभाव कम कर सकेगे।

४ मौसमी बेकारी (The Seasonable Unemployment)—कुछ रोजगार मौसमी होते हैं, जिनमे लगे हुए व्यक्ति खराब मौसम मे बेकार हो जाते हैं। भारतीय कृषि कर्म मौसमी कार्य है और खाली समय मे भारतीय कृषक बेकार रहता है। बर्फ के कारखानो और धान कुटवाई के कारखानो या रुई धुनने वालो को भी मौसमी बेकारी (seasonable unemployment) का शिकार होना पडता है। मौसमी बेकारी का हल ढूंढने के लिए हमको उत्पादन के ढग को बदलना पडेगा। यदि यह सम्भव नही है तो मौसमी बेकारी से रक्षा करने के लिए कुछ इस प्रकार के कुटीर-उद्योगो का निर्माण करना होगा जिससे लोग साल के बारह महीने कुछ न कुछ आजीविका कमाने योग्य बने रहे।

५ कीन्स के वृत्तिहीनता सम्बन्धी विचार (Keynesian Unemployment)—कीन्स (Keynes) का विचार है कि प्रभावपूर्ण मांग की कमी के कारण वृत्तिहीनता या बेकारी पैदा होती है। इसको चक्रिक बेकारी भी कहते ह। उन्नतिशील पूंजीवादी देशो म इस प्रकार की वृत्तिहीनता अधिक देखने म आती है। इस प्रकार की बेकारी का कारण है अत्यधिक पूंजी का होना। दूसरे शब्दो म इस प्रकार की वृत्तिहीनता उस समय आती है जब समुदाय उतनी वस्तुओ का प्रयोग करने में असमर्थ होता है जितनी कि उपलब्ध पूंजी के द्वारा तैयार होती ह। निजी उद्योगो की अर्थव्यवस्था म उत्पादन लाभ के लिए किया जाता है। अत जब वे अपनी सारी उत्पादित वस्तुएँ निकाल नही पाते तो उनकी प्रतिक्रिया यह होती है कि वे उत्पादन म कमी करते हैं। उत्पादन के विभिन्न साधनो को पारिश्रमिक तभी मिलता है जब वे उत्पादन में हाथ बंटाते है। किन्तु जब उद्यमी उत्पादन कम करने का निश्चय कर लेता है तो उत्पादन के कुछ साधन अवश्य ही बेकार होगे। समाज के बडे वर्ग की वृत्तिहीनता का अर्थ

है उसकी आय की कमी। इस अध्याय में आगे हम कीन्स के विचारो के अनुसार वृत्तिहीनता पर विचार करेंगे।

"उद्योग-प्रधान देशों में बेकारी बढने का कारण यह है कि समाज की माँग उत्पादित वस्तुओ के उत्पादन की मात्रा मे गिर जाती है।" इस सिद्धान्त के प्रवर्त्तक लार्ड कीन्स (Lord Keynes) माने जाते हैं। कीन्स (Keynes) से पूर्व के अर्थशास्त्री बेकारी की समस्या को विशेष महत्त्व नही देते थे। उदाहरण के लिए से (Say) का बाजार सम्बन्धी नियम (Say's Law of Markets) यह था कि स्वतन्त्र और प्रतियोगी पूँजीवादी अर्थव्यवस्था मे कभी भी उत्पादित वस्तुओ की माँग गिरेगी नही। से (Say) फ्रांस का प्रसिद्ध अर्थशास्त्री था। उसका मत था कि प्रत्यक उत्पादित वस्तु उतनी ही माँग भी उत्पन्न करती है। इसलिए वह यह नही मानता था कि कभी अत्यधिक उत्पादन की समस्या सामने आ सकती है। वह अत्यधिक उत्पादन के कारण बेकारी की उपस्थिति को स्वीकार नही करता था। इसके विपरीत वह यह मानता था कि बेकारी तब आ सकती है, जब प्रतियोगी कीमत-व्यवस्था के मार्ग मे बनावटी बाधाएँ डाली जाएँगी। वह एकाधिकार, ट्रेड यूनियन, या सरकार द्वारा कीमत नियन्त्रण को कीमत व्यवस्था के मार्ग मे बाधक मानता था। यह बात समझ मे आती है कि वस्तुओं की पूर्ति से वस्तुओ और सेवाओ की माँग भी बनती है क्योकि उत्पादन के विभिन्न साधन उत्पादन की क्रियाओ में रत रह कर ही अपनी आय कमाते हैं। जब उत्पादन के साधन वस्तुएँ तैयार करते है तो उन्हे मजदूरी, किराया, ब्याज और लाभ के रूप में आय होती है। परन्तु इसके यह अर्थ नही हैं कि उत्पादित की हुई समस्त वस्तुओ की माँग पैदा हो जाएगी। और यह भी आवश्यक नही कि उत्पादन के साधन अपनी समस्त आय वस्तुओ और सेवाओ के क्रय पर ही व्यय कर डालेंगे। आय का कुछ भाग बचाकर भी रखा जाएगा; अत यह अश वस्तुओ और सेवाओ की माँग पैदा नही करेगा। इस प्रकार जब तक नियोजक अतिरिक्त पूँजी (बचत की गई पूँजी के बराबर) लगाने को तैयार न होंगे तब तक प्रभावी माँग इतनी न होगी जो समस्त पूर्ति को खपा सके। और यदि माँग इतनी हो भी जाए तो भी उत्पादक अपनी सारी पूर्ति को बेच नही सकेंगे, उनका लाभ गिर जाएगा और वे अपना उत्पादन कम कर देंगे। इससे वृत्तिहीनता या बेकारी बढ़ेगी।

प्राइवेट अर्थव्यवस्था म उपभोक्ता कुछ आय तो खर्च करते हैं और कुछ को बचाकर रखना चाहते है। इसी प्रकार उद्यमी (entrepreneurs) भी मशीनो या कारखानो म किसी सीमा तक ही पूंजी लगाते है। सम्पूर्ण प्रभावी माँग=उपभोग और विनियोग का योग। प्राइवेट अर्थव्यवस्था म बचत करने वालो का उद्देश्य कुछ और है; और नियोजन करने वाला (investors) का उद्देश्य कुछ और। अत: ऐसी व्यवस्था प्राप्त करना कठिन है कि पूंजी बचाने वाले उतना ही बचावें जितना कि विनियोग करने वाले विनियोग करें। यदि इन दोनो वर्गों (savers and investors) के बीच साम्यावस्था नही होगी तो निश्चय ही उत्पादन, आय, नियोजन आदि म घट-बढ होगी जिससे कि उपर्युक्त समाम्य ठीक हो जाए। इसलिए यदि नियोजित विनियोग, नियोजित बचत से अधिक है, तो उत्पादन इतना नहीं होगा कि

वह माँग को पूरा कर सके । फलस्वरूप आय, उत्पादन और नियोजन बढ़ेंगे और इसके विपरीत विलोमत ही होगा । इस प्रकार हम देखते हैं कि से (Say) के नियम की मुख्य कमजोरी यह थी कि बचत और नियोजन को एक स्तर पर किस प्रकार लाया जाए । दूसरे, बचत करने वाले और लोग हैं जबकि नियोजन करने वाले और लोग हैं । दोनो वर्गों के उद्देश्य भी भिन्न हैं । ऐसी दशा में बचत और नियोजन का समान होना सम्भव नहीं । जब दोनो के बीच (बचत और नियोजन के बीच) असमता उत्पन्न हो जाती है, तो फिर उस असाम्य को सुधारने के लिए आय या रोजगार की मात्रा मे हेर-फेर करना अनिवार्य होगा ।

६ सेवा नियोजनो की मात्रा के निर्णायक तत्त्व–पूंजी नियोजन (The Determinants of the Volume of Employments—Investment)—हम देख चुके है कि कीन्स (Keynes) के अनुसार सेवा-नियोजन वस्तुओं की प्रभावी माँग पर आश्रित है । प्रभावी माँग पर दो बातो का प्रभाव पड़ता है—पूंजी नियोजन और उपभोग । इन दोनों म से पूंजी नियोजन अनिश्चित और परिवर्तनशील है । पूंजी नियोजन से हमारा अभिप्राय यह है कि राष्ट्र की सचित निधि में कितनी वृद्धि हुई है । प्राइवेट व्यक्ति भी पूंजी-नियोजन कर सकते हैं और सरकार भी । नई फैक्ट्रियों का निर्माण, नई मशीन का लगाना या तैयार माल की वृद्धि को पूंजी नियोजन कह सकते हैं जबकि किसी कम्पनी म शेयर या अश खरीदना पूजी-नियोजन नही है ।

वस्तुत पूंजी-नियोजन (Investment) अनिश्चित और परिवर्तनशील तत्त्व है जो प्रभावी माँग को प्रभावित करता है । किन्तु उपभोग उतना अनिश्चित नहीं है । व्यापारी वर्ग क्योंकर पूंजी-नियोजन करते हैं । अभी तक प्राइवेट पूंजी के नियोजन के निर्णायको के सम्बन्ध म अर्थशास्त्रियों म एकमत नही है । मुख्यतः लाभ की आशा ही मुख्य रूप से प्राइवेट पूंजी को आकर्षित करती है । लाभ की आशाएँ आर्थिक गतिविधियों की मात्रा क स्तर तथा उत्पादन के तकनीक में परिवर्तन आदि पर अवलम्बित हैं ।

उपभोग प्रवृत्ति
(The Consumption Function)

७ उपभोग करने और बचाने की औसत और सीमान्त प्रवृत्ति (Average and Marginal Propensity to Consume and Save)—जहाँ तक सर्वसाधारण की उपभोग प्रवृत्ति का प्रश्न है, उस पर निम्नलिखित तत्त्वों के प्रभाव पड़ते हैं —

(क) व्यक्ति की वास्तविक आय (the real income of the individual) ।

(ख) उसकी पिछली बचत (his last savings) ।

(ग) ब्याज की दर (rate of interest) ।

इन तीनो म से व्यक्ति की वास्तविक आय का प्रभाव सर्वाधिक होता है । अधिकतर लोगो के पास पिछली बचत अत्यल्प होती है और वह भी विशेष उद्देश्यो के लिए ही की जाती है । इसलिए पिछली बचत का प्रभाव इस समय के उपभोग

पर प्राय. नगण्य होता है। जहाँ तक ब्याज की दर में वृद्धि का प्रश्न है, इससे कुछ लोग अधिक बचत करने के लिए प्रभावित हो सकते हैं, क्योंकि बचत पर अधिक ब्याज मिलेगा, किन्तु यदि कोई व्यक्ति किसी निश्चित उद्देश्य के लिए बचत कर रहा हो तो वह अधिक ब्याज पर कम बचत करके भी भविष्य में उतना ही अपने निश्चित उद्देश्य के लिए बचा सकेगा। अत ब्याज की ऊँची दर के कारण हमारी आय भी उपभोग की प्रवृत्ति को प्रभावित करती है।

आय और उपभोग के बीच का सम्बन्ध उपभोग करने की औसत और सीमान्त प्रवृत्तियों से भी जाना जा सकता है। उपभोग करने की औसत प्रवृत्ति किसी निश्चित समय मे सकल उपभोग (total consumption) और सकल आय (total income) के बीच का सम्बन्ध है, जब कि उपभोग करने की सीमान्त प्रवृत्ति आय की वृद्धि के फलस्वरूप उपभोग मे वृद्धि को मापती है। इस प्रकार

$$\text{औसत उपभोग प्रवृत्ति} = \frac{\text{उपभोग}}{\text{आय}}$$

$$\text{और सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति} = \frac{\triangle \text{उपभोग}}{\triangle \text{आय}}$$ [1]

आय और उपभोग म सामान्य सम्बन्ध ऐसा है कि जब आय बढती है, तो उपभोग भी बढता है। किन्तु उपभोग की मात्रा मे वृद्धि आय की वृद्धि के अनुरूप नही होती। दूसरे शब्दो म सामान्य काल मे उपभोग की सीमान्त प्रवृत्ति एक से कम होती है।
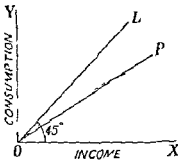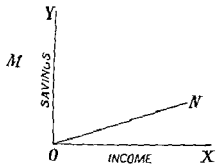
चित्र ६३ चित्र ६४

आय	उपभोग	बचत
१००	७५	२५
१२०	९०	३०
१४०	१०५	३५
१८०	१३५	४५
२२०	१६५	५५

उपर्युक्त तालिका, रेखा चित्र ६३ म अकित की गई है, जिसम आय तो

1 △ उपभोग = उपभोग में वृद्धि स्वरूप परिवर्त्तन
△ आय = आय " " "

X रेखा से और उपभोग Y रेखा से दिखाया गया है। OL रेखा दोनों रेखाओं के साथ ४५° का कोण बनाती है। अ। OL पर कोई भी बिन्दु दोनों अक्ष रेखाओं से समानान्तर पर होगा। यदि आय और उपभोग की रेखाएं इसी रेखा पर पड़े तो यह समझा जाएगा कि उपभोग की सीमान्त प्रवृत्ति एक के बराबर है। किन्तु ऐसा सही नहीं है। अत आय और उपभोग का वक्र OP है जिसकी पूरी लम्बाई ४५° से नीचे की ओर है। अत उपभोग की सीमान्त प्रवृत्ति उस कोण की स्पर्शी रेखा से मापी जाएगी जो आय और उपभोग वक्र X रेखा के साथ बनावेगा। अत

उपभोग की सीमान्त प्रवृत्ति = स्पर्शी रेखा $\angle$ POX

ऊपर जो वक्र हमने बनाया है वह सरल रेखा है। इसका अर्थ यह है कि उपभोग की प्रवृत्ति सदैव और हर हालत म सम रहेगी। किन्तु ऐसा होना आवश्यक नहीं है। और ज्यों-ज्यों आय बढती है त्यों त्यों वक्र चौड़ा होता जाएगा; क्योंकि ज्यों-ज्यों उपभोग की आवश्यकताएं कम होती जाएंगी त्यों ही त्यों बढी हुई आय में से बचत की मात्रा भी बढती जाएगी। वक्र OM यही दिखाता है, अर्थात् ज्यों-ज्यों आय बढती है, त्यों त्यों उपभोग की सीमान्त प्रवृत्ति कम होती जाती है।

बचत वक्र (Savings Curve)—आय और उपभोग के सम्बन्ध के आधार पर हम बचत और आय का सम्बन्ध भी स्थिर कर सकते हैं, क्योंकि उपभोग में बिना लाई गई आय भी बचत ही है। ऊपर की तालिका देखो। यदि हम बचत को Y रेखा पर और आय को X रेखा पर अंकित करें तो रेखाचित्र ६४ में ON वक्र, बचत और आय का सम्बन्ध बतावेगा। एक निश्चित स्तर तक आय के सम्बन्ध मे बचत को उस दूरी से मापा जा सकता है जो आय-उपभोग वक्र के ऊपर किसी बिन्दु और ४५° वाली रेखा (रेखा चित्र ६३ देखिए) के ऊपर किसी बिन्दु के बीच होगा। जिस प्रकार कि उपभोग की सीमान्त प्रवृत्ति आय-उपभोग वक्र के ढाल से मापी जा सकती है, उसी प्रकार बचत करने की सीमान्त प्रवृत्ति भी आय-बचत वक्र के ढाल से मापी जा सकती है। बचत की सीमान्त प्रवृत्ति, बचत में वृद्धि है जो आय की निश्चित वृद्धि के कारण होती है।

$$\text{बचत की सीमान्त प्रवृत्ति} = \frac{\triangle \text{ बचत}}{\triangle \text{ आय}}$$

$$= १ - \frac{\triangle \text{ उपभोग}}{\triangle \text{ आय}}$$

$$\text{बचत की औसत प्रवृत्ति} = \frac{\text{बचत}}{\text{आय}} = \frac{\text{सकल बचत}}{\text{सकल आय}}$$

८ गुणक का सिद्धान्त (The Concept of Multiplier)—उपभोग करने की सीमान्त प्रवृत्ति की सहायता से हम निश्चित रूप म कह सकते हैं कि यदि नियोजन में वृद्धि होती है तो फलस्वरूप आय म तदनुरूप परिवर्तन होता है। इन दोनों का सम्बन्ध समीकरण के द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है। मान लीजिए कि किसी दिन १०० रुपयों का नियोजन होता है। इसका प्रथम परिणाम तो यह होगा कि नियोजन कार्य में रत लोगों की आय में १०० रु० की वृद्धि होगी। किन्तु यह क्रिया यही

समाप्त नही हो जाती। जिन लोगो के हिस्से म उक्त १०० के अश आय के रूप में आवेंगे, वे अपनी अतिरिक्त आय का कुछ अश तो अवश्य व्यय करेंगे और कुछ को बचा कर रखेंगे। इस प्रकार उनके अतिरिक्त व्यय की मात्रा का निर्धारण उनकी उपभोग करने की सीमान्त प्रवृत्ति पर निर्भर होगा। मान लीजिए कि वह प्रवृत्ति (marginal propensity to consume) $\frac{३}{४}$ है। तो वे ७५ रु० व्यय करेंगे और २५ रु० बचाकर रखेंगे। जब वे इन ७५ रु० को वस्तुएँ और सेवाएँ खरीदने म व्यय करेंगे तो सम्बन्धित वस्तुओ और सेवाओ के बेचने वालो की आयों म भी ७५ रु० की वृद्धि होगी। वे भी उक्त ७५ रु० की अतिरिक्त आय का कुछ अश अपनी उपभोग करने की सीमान्त प्रवृत्ति के अनुसार व्यय करेंगे। यदि उनकी भी प्रवृत्ति (marginal propensity to consume) $\frac{३}{४}$ है तो वे ५६.२५ रु० तो व्यय करेंगे और शष धन को बचाकर रखेंगे। इस प्रकार व्यय का यह प्रारम्भिक चक्र प्रारम्भिक आय की राशि से कही अधिक आय उत्पन्न करता है। यदि उपभोग की सीमान्त प्रवृत्ति स्थिर है तो व्यय का यह चक्र गुणोत्तर श्रेणी (geometric progression) में बढता चला जाता है।

$$\text{१००} + \text{१००} \times \tfrac{\text{३}}{\text{४}} + (\text{१००})\left(\tfrac{\text{३}}{\text{४}}\right)^{\text{२}} + \text{१००} \times \left(\tfrac{\text{३}}{\text{४}}\right)^{\text{३}} + \text{१००} \times \left(\tfrac{\text{३}}{\text{४}}\right)^{\text{४}}$$

$$\triangle\text{आय} = \text{१००}\{(\text{१} + \tfrac{\text{३}}{\text{४}} + (\tfrac{\text{३}}{\text{४}})^{\text{२}} + (\tfrac{\text{३}}{\text{४}})^{\text{३}}\}^{\text{२}}$$

$$= \text{१००}\left(\frac{\text{१}}{\text{१} - \frac{\text{३}}{\text{४}}}\right)$$

$$= \text{१००} \times \text{४}$$

$$\triangle\text{आय} = \text{४००}\ \text{रुपय।}$$

इस प्रकार हमने देखा कि प्रारम्भ मे १०० रु० के नियोजन से राष्ट्रीय आय में ४०० रु० की वृद्धि हुई। नियोजन के सम्बन्ध म गुणक सिद्धान्त के द्वारा हम नियोजन म वृद्धि के फलस्वरूप आय म जो वृद्धि होती है उसकी माप कर सकते हैं।

$$\text{नियोजन गुणक} = \frac{\triangle\text{आय}}{\triangle I}$$

$$\text{ऊपर गुणक} = \frac{\text{४००}}{\text{१००}} = \text{४}$$

ऊपर हम देखते हैं कि गुणक निम्न सूत्र से मालूम किया जा सकता है।

$$\text{गुणक} = \frac{\text{१}}{\text{१} - \text{उपभोग करने की सीमान्त प्रवृत्ति}}$$

$$= \frac{\text{१}}{\text{बचत करने की सीमान्त प्रवृत्ति}}$$

६ **आय और नियोजन के बीच साम्यावस्था-स्तर (Equilibrium Level of Income and Employment)**—हम कह चुके हैं कि कीन्स (Keynes) के अनुसार वस्तुओ की प्रभावी माँग के अनुसार ही उत्पादन की मात्रा और नियोजन के विस्तार का निर्णय हो सकता है। प्रभावी माँग पर दो चीजों का प्रभाव पडता है—उपभोग और नियोजन। हम मान लेते हैं कि नियोजन की दर निश्चित है। ऐसी दशा में

आय का साम्य स्तर कहां स्थिर होगा? वास्तव में इस दशा में आय का स्तर उस बिन्दु पर स्थिर होगा जहां उपभोग की सीमान्त प्रवृत्ति के अनुरूप बचत बराबर है नियोजन में वृद्धि के।
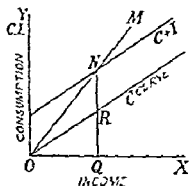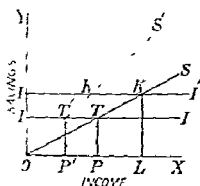
चित्र ६५ चित्र ६६

रेखाचित्र ६५ में, C आय उपभोग वक्र है और C + I उपभोग + नियोजन वक्र है जिसमें नियोजन, आय के प्रत्येक स्तर पर समान है, तथा C + I वक्र, वक्र C के समानान्तर है। उत्पादन का साम्य स्तर उस बिन्दु पर होगा जहां C + I वक्र ४५° रेखा को काटेगा। रेखाचित्र ६५ में, C + I वक्र ४५° रेखा को बिन्दु N पर काटता है, अतः OQ उत्पादन का साम्यस्तर है। साम्य स्तर केवल N बिन्दु पर ही सम्भव है क्योंकि इसी बिन्दु पर उपभोग और व्यय नियोजन का कुल योग इतनी मांग पैदा करता है कि उत्पादन मांग के अनुरूप पर्याप्त हो जाता है। केवल N पर OQ आय (= NQ) में से NR बचत बराबर है नियोजन की वर्तमान दर के।

यही बात बचत आय वक्र (रेखाचित्र ६६) के द्वारा भी सिद्ध की जा सकती है। II नियोजन की निश्चित स्तर वाली रेखा है और वक्र OS आय और बचत के बीच सम्बन्ध प्रदर्शित करता है। आय का साम्य स्तर T बिन्दु पर है क्योंकि इसी बिन्दु पर बचत (PT), आय OP में से बराबर है नियोजन (OI)। अतः उत्पादन और नियोजन का साम्य उस बिन्दु पर होगा, जहां बचत = नियोजन के।

१० पूर्ण नियोजन का विचार (The Concept of Full Employment)—उक्त विचार-विनिमय के आधार पर हम पूर्ण नियोजन के विचार पर पहुंच जाते हैं। नियोजन तब पूर्ण कहा जाता है जब किसी को काम की आवश्यकता हो तो उसे प्रचलित मजदूरी की दर पर वह मिल सके। निःसन्देह, पूर्ण नियोजन का आशय अनियोजन का सर्वथा अभाव न तो समझना चाहिए और न ही समझा जा सकता है। क्योंकि, किसी भी प्रकार की अर्थ व्यवस्था में अनियोजन या बेरोजगारी की कोई सीमा तो होगी ही। कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो किसी कारणवश बेकार रहना पसन्द करते हैं, और उन्हें थोड़े ही समय के लिए चाहे जितना भी प्रलोभन क्यों न हो, कार्य करने की प्रेरणा नहीं की जा सकती। दूसरे, कुछ लोग ऐसे हैं, जो एक कार्य को छोड़कर दूसरे की खोज करते हैं, और उन्हें एक कार्य को छोड़कर दूसरे तक पहुंचने के मध्यकाल में बेकार रहना पड़ता है। इसके बाद कुछ लोग ऐसे हैं, जिन्होंने

अपने पुराने कार्य को छोड दिया होता है, और उन्हे नया काम सीखने म कुछ समय लगाना पडता है। उस सीखने के काल म वे अस्थायी होते हैं और उन्हे पारिश्रमिक नही मिलता अथवा मिलता भी हो तो नाममात्र का भत्ता मिलता हो। बेकारो म ऐसे सब लोगो की सख्या ३ से ८ प्रतिशत अथवा अधिक भी आँकी जा सकती है। इस सीमा को छोड कर, शेष प्रभावी मनुष्य शक्ति नियोजन के लिए उपलब्ध होती है। नियोजन तब पूर्ण कहा जाता है जब यह श्रम शक्ति, जो सम्पूर्ण श्रम शक्ति की ९५ से ९७ प्रतिशत है, पूर्ण रूप से नियोजित हो। नियोजन का ऐसा उच्च स्तर युद्ध के समय ही पूर्णरूपेण दृष्टिगोचर होता है। किन्तु समस्या तो इसे शान्ति-काल म प्राप्त करने की है। वस्तुत प्रत्यक स्वतन्त्र बाजार-सम्बन्धी अर्थ व्यवस्था की यह सबसे जटिल समस्या है।

११ बेकारी सम्बन्धी नीति (Policy Regarding Unemployment)—

(१) यदि बेकारी का कारण यह है कि जनसख्या म अत्यधिक वृद्धि हो रही है जबकि साथ-साथ पूंजी में उसी अनुपात मे वृद्धि नही हो रही है, तो हमको पूंजी का नियोजन बढाना चाहिए और जनसख्या की वृद्धि को रोकना चाहिए।

(२) प्रतिरोधी वृत्तिहीनता (frictional unemployment) को रोकने के लिए पर्याप्त पुनर्प्रशिक्षण की सुविधाएँ देनी चाहिएँ, रोजगार दफ्तर खुलवाने चाहिएँ एक रोजगार से दूसरे रोजगार म जाने की सुविधाएँ होनी चाहिएँ तथा श्रमिको को सामाजिक सुरक्षा का आश्वासन मिलना चाहिए।

(३) मौसमी वृत्तिहीनता (seasonal unemployment) के लिए सहायक धन्धो की व्यवस्था होनी चाहिए ताकि खाली मौसम म लोग कुछ न कुछ पैदा करते रहे।

(४) यदि वस्तुओ की माँग की कमी क कारण वृत्तिहीनता है, तो माग बढाने का प्रयत्न करना चाहिए। प्राइवेट उद्योगपतियो को सस्ता प्रत्यय देकर और कर-भार म कमी करके माँग की कमी को दूर किया जा सकता है। इसी प्रकार सर्व-साधारण के ऊपर कर भार कम करके भी उपभोग की मात्रा को बढाया जा सकता है। यदि इन सब उपायो मे भी वृत्तिहीनता कम नही होती तो सरकार को चाहिए कि सार्वजनिक निर्माण कार्यक्रम अपने हाथ म ले और इस प्रकार वृत्ति के अधिक अवसर जुटाए।

प्रश्न यह है कि यदि रोजगार या नियोजन की पूर्ण से भी अधिक की स्थिति पैदा हो जाए तो क्या किया जाए। जहाँ १९३० के आसपास के मन्दी के दौर म सभी देशो म बेकारी की स्थिति मुँह बाए खडी थी, युद्ध के बाद नियोजन पूर्ण से भी अधिक रहा और स्फीति की दशा से सभी देश पीडित रहे। ऐसी स्थिति म वस्तुओ की माँग अत्यधिक है न कि कम। इसका इलाज यह है कि शनै शनै वस्तुओं की माँग की मात्रा को कम किया जाए किन्तु वृत्तिहीनता की स्थिति को अत्यधिक न बढने दिया जाए। हमारी राजकोषीय नीति ऐसी हो जो व्यय करने पर अकुश रखे। साथ ही हमारी वित्तीय नीति ऐसी हो जो ब्याज की दरें बढें ताकि नियोजन की प्रवृत्ति घटे और अत्यधिक रोजगार की स्थिति का सही इलाज किया जा सके।

अध्याय ४२

व्यापार-चक्र

(Trade Cycles)

१ व्यापार-चक्र किसे कहते हैं ? (What is a Trade Cycle ?)—पिछले डेढ सौ वर्षों म ससार ने महान् आर्थिक उन्नति का अनुभव किया है। पर यह विचार सर्वथा भ्रमपूर्ण होगा कि यह उन्नति सदैव समान व गतिशील रही है। सच तो यह है कि दस या बारह वर्ष बाद व्यवसाय को एक धक्का सा लगता है, जिससे कई वर्षो के लिए उद्योगो की प्रगति रुक जाती है। अस्तु, व्यवसाय में प्रगति के साथ अवनति और अवसाद के भी दिन आते हैं और समृद्धि काल के पीछे मन्दी का समय भी आया करता है। मन्दी व समृद्धि के इसी क्रम को व्यापार-चक्र कहते हैं।

इसके विपरीत सकटकाल उस काल को कहते हैं जब व्यवसाय म कठिनाइयाँ उपस्थित होने लगती हैं। एडोल्फ वेगनर (Adolph Wagner) के शब्दो में,' सकटकाल म व्यवसायियो के सामने इस प्रकार की कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती हैं कि वे निरन्तर अपने को ऋण चुकाने के लिए अशक्त पाते हैं।" अथवा जे० एस० मिल (J S Mill) के अनुसार, 'जब बहुत से व्यापारी अपने व्यापार म कठिनाइयो का अनुभव करने लगते हैं और अपने दायित्व पूरे नही कर पाते तो वह अवस्था सकट की होती है। जब य कठिनाइयाँ केवल व्यापारियो तक ही सीमित रहती हैं तो सकटकाल व्यावसायिक होता है, पर जब य कठिनाइयाँ अत्यधिक बढ जाती हैं और बैंक आदि बन्द होन लगत हैं, तो वित्तीय सकट पैदा हो जाता है।"

२ व्यापार-चक्रो का क्रम (Course of Trade Cycles)—अब हम व्यापार-चक्रो के क्रम का सक्षेप म अध्ययन करेंगे। पहले हम व्यापार की उस स्थिति पर विचार करेंगे जब चारो ओर व्यापार की गति शिथिल होती है और मन्दी तथा अवसाद की काली छाया सभी को आक्रान्त करती है। मन्दी के दिनो मे जिन थोडे से लोगो को रोजगार मिला रहता है उन्हे भी अत्यन्त कम वेतन या पारिश्रमिक मिलता है और नौकरीपेशा लोगो की तनख्वाहे बिलकुल कम हो जाती हैं। ऐसे समय म मुद्रा की क्रय शक्ति तो अवश्य बहुत अधिक बढ जाती है, पर व्यक्ति की क्रय-शक्ति कम हो जाती है। इसलिए उत्पादन-कार्य, चाहे वह उपभोक्ताओ की वस्तुओं का हो अथवा उद्योगी वस्तुओ का, शिथिल हो जाता है।

पर यह परिस्थिति सदैव बनी नही रह सकती। थोडे ही समय बाद आशा की क्षीण रेखाएँ प्रकट होने लगती हैं और मन्दी के दिन समाप्त होने लगते हैं। मन्दी मे ही व्यापारिक उन्नति का रहस्य छिपा रहता है। चूँकि कार्य कुशल व्यक्तियों की भी तनख्वाहे कम होती हैं, इसलिए कुशल श्रम की पूर्ति बढ जाती है। मुद्रा व उत्पादन के अन्य पदार्थ और साधन बहुत सस्ते होते हैं। यह अवश्य है कि

मूल्य कम होते हैं पर साथ ही उत्पादन-व्यय तो बहुत ही कम हो जाता है। कभी-कभी तो उत्पादन-व्यय व लागतों में इतनी कमी हो जाती है कि लाभ का भाग उभर आता है और फलस्वरूप उद्यमी अपने प्रतियोगियों को पीछे हटाने के लिए अपने व्यवसाय में हर प्रकार की उन्नति करने का प्रयत्न करता है ताकि मन्दी का दौर समाप्त होने पर वह अन्य उद्यमियों के मुकाबले में पिछड न जाए। अन्य लोग भी देखा देखी अपने-अपने व्यवसाय म उन्नति करने का प्रयत्न करते हैं। निर्माण-कार्य और तत्सम्बन्धी उद्योगों को बढावा मिलता है। इस प्रकार बहुत से लोगों को आजीविका कमाने के अवसर हाथ लगने हैं। जिन लोगों की आय बढ जाती है वे अपनी आय को उपभोग की चीजों पर व्यय करते हैं। इस प्रकार उद्योगों की उन्नति होती है और उत्पादन बढता है। मन्दी म इन तमाम परिवर्तनों से व्यापार की दशा ही बदलने लगती है और उन्नति के लक्षण प्रकट होने लगते हैं।

पर जिस प्रकार से मन्दी के बाद तेजी आती है इसी प्रकार तेजी की परिस्थितियों में भी कुछ समय बाद अडचनें आने लगती हैं। क्योंकि सब प्रकार के लोग उद्योग मे लग जाते हैं, इसलिए घटिया किस्म के श्रमिक काम पर लग जाते हैं। परिणाम यह होता है कि कम योग्य व्यक्ति भी अधिक वेतन पाने लगते हैं। ब्याज व अन्य वस्तुओं की दरें भी बढ जाती हैं। फलस्वरूप व्यय बढ जाते हैं, जिससे लाभ का भाग कम होने लगता है। इस प्रकार समृद्धि का दौर समाप्त होने लगता है। बैंक अग्रिम देने में आनाकानी करने लगते हैं और रुपया या पूंजी वापस माँगने लगते हैं। अन्तत यह होता है कि समृद्धि का काल समाप्त हो जाता है।

फिर चक्र नीचे की ओर घूमता है। लाभ कम हो जाने से चतुर व्यापारी अपने व्यवसाय में छँटनी करना प्रारम्भ कर देते हैं। सरकार नियन्त्रण लगाती है, बैंक भुगतान पर जोर देते हैं, चारों ओर जमा की हुई वस्तुओं को निकालने की भावना जोर पकड जाती है। सभी लोग नकदी वापस लेकर सुरक्षित रखना चाहते हैं। मन्दी के लक्षण दृष्टिगोचर होने लगते हैं, बहुत से उद्योगी तो दिवालिए हो जाते हैं। एक फर्म के फेल होने से अन्य फर्मों पर भी जिनका उस फर्म से सम्बन्ध था बुरा प्रभाव पडता है। व्यवसाय म चारों ओर अधकार दिखाई पडने लगता है। व्यापार-चक्र के इस पहलू को सकट-काल कहते हैं।

सकट-काल उद्योगों के लिए सब से अधिक मुसीबत का समय होता है। पर समय के साथ वे अपनी कठिनाइयों को पार कर लेते हैं। किसी प्रकार वह अपने भुगतानों का निपटाकर अपना व्यवसाय चलाते हैं। यह मन्दी का समय होता है। लार्ड ओवरस्टोन (Lord Overstone) ने व्यापार-चक्र की गति का वर्णन इस प्रकार किया है—'स्थिरता का समय—उन्नति—विश्वास-काल—समृद्धि—उत्तेजना—अत्यधिक व्यापार—धक्का—निराशा—कठिनाई अथवा मन्दी और अन्त म फिर स्थिरता।'[1]

मिचेल (Mitchell) के शब्दों में हम व्यापार-चक्र के चार रूप बतला सकते हैं—अर्थात् विस्तार (ऊपर की ओर गति), अवरोध, सकुचन (नीचे की ओर गति)

1 Quoted by Marshall in *Money, Credit and Commerce*, p 246

तथा समुत्थान। इसको हम इस प्रकार भी प्रस्तुत कर सकते हैं।
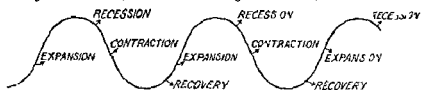
चित्र ६७

३ व्यापार-चक्र की विशेषताएँ (Characteristics of a Trade Cycle)— व्यापार-चक्र के अध्ययन से दो विशेषताओं का पता चलता है : (१) इसका चक्रात्मक रूप (cyclic nature) अर्थात् आवधिकता (periodicity) और (२) इसकी सामान्य प्रकृति (general nature), अर्थात् समरूपता (synchronism)।

यह देखा गया है कि व्यापार चक्र लगभग निश्चित समय के उपरान्त प्रकट होते रहते हैं। यह व्यापार-चक्र जिस नियन्त्रित रूप से प्रकट होते हैं, उससे हम इस अवधि की निश्चितता का पता लगा सकते हैं। लोगों का विचार है कि लगभग सात तथा दस वर्षों में व्यापार-चक्र पूरा हो लेता है। इसके विषय में किसी निश्चित अवधि को स्थिर नहीं किया जा सकता। पर यह अवश्य है कि जिस प्रकार रात के पश्चात् दिन होता है, इसी प्रकार मन्दी के बाद तेजी का होना आवश्यक है।

व्यापार-चक्र की दूसरी विशेषता यह है कि यह सर्वव्यापक होता है। व्यावारिक विश्व एक सम्पूर्ण आर्थिक इकाई है जिसमें किसी भाग पर धक्का लगने से सम्पूर्ण व्यवसाय को झटका लगता है। यदि किसी एक उद्योग में बुराइयाँ उत्पन्न हो जाएँ तो वह सारे उद्योग, जिनका उससे सम्बन्ध है, प्रभावित होंगे। इस प्रकार मन्दी एक उद्योग से दूसरे उद्योग में फैलती है। व्यवसाय जगत् में किसी एक उद्योग के बन्द होने से अन्य बहुत से उद्योग, जिनका उस फेल होने वाले उद्योग से सम्बन्ध था, बन्द होने लगते हैं। निराशावादी भावनाओं में छूत का प्रभाव होता है और इसलिए बहुत कम व्यवसाय ऐसे हैं, जो मन्दी अथवा तेजी की परिस्थितियों में अछूते रह सकें।

'अमेरिकन इकोनामिक असोसियशन' (American Economic Association) के अनुसार व्यापार-चक्र के साधारण लक्षण इस प्रकार हैं—

(i) कृषि को छोड़कर कीमत तथा उत्पादन की गति एक ही ओर को होती है।

(ii) उत्पादक तथा स्थायी वस्तुओं के कुल व्यय में उपभोग तथा शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तुओं के कुल व्यय से अधिक परिवर्तन होता है। अतएव उन उद्योगों में, जो उत्पादक वस्तुओं तथा स्थायी वस्तुओं का उत्पादन करते हैं, अधिक तेजी से घटाव बढ़ाव होते हैं।

(iii) व्यावसायिक आविष्कार पर प्रचलित व्यय कुल बिक्री से अधिक प्रतिशत दर से घटते अथवा बढ़ते हैं।

(iv) द्रव्य (मुद्रा तथा साख द्रव्य) की मात्रा तथा चलन-वेग कुल उत्पादन तथा व्यवसाय के परिवर्तन के साथ प्रत्यक्ष रूप में बदलता है।

(v) निर्मित वस्तुओं की कीमतें सापेक्ष रूप में दृढ़ होती हैं जबकि कृषि उत्पादित वस्तुओं की कीमत दृढ़ नहीं होतीं।

(vi) लाभ में दूसरे साधनों की आय की अपेक्षा अधिक घटाव-बढ़ाव होता है।

व्यापार-चक्र के सिद्धान्त
(Theories of the Trade Cycle)

४ व्यापार-चक्र का आधुनिक सिद्धान्त प्रारम्भिक वक्तव्य (Modern Theory of the Trade Cycle Introductory)—जबसे स्वर्गीय कीन्स (J M Keynes) की पुस्तक 'General Theory of Employment, Interest and Money' प्रकाशित हुई है, व्यापार-चक्र के सिद्धान्तों म पर्याप्त दिलचस्पी बढी है। निस्सन्देह कीन्स (J M Keynes) से पहले भी यह माना जाता था कि नियोजन की मात्रा म घटाबढी से व्यापारिक गतिविधि पर उसी मात्रा में प्रभाव पडता है, परन्तु इस सम्बन्ध म वैज्ञानिक विश्लेषण नही किया जा सकता। पिछले अध्याय में हमने यह दिखाने का प्रयत्न किया था कि राष्ट्रीय नियोजन की मात्रा में परिवर्तन से राष्ट्रीय आय पर भी प्रभाव अवश्य पडता है। यह गुणक का प्रसिद्ध सिद्धान्त है। गुणक का सिद्धान्त (the theory of multiplier) हमको बताता है कि जब पूँजी का विनियोग बढता है तो राष्ट्रीय आय भी बढती है और रोजगार के अवसरो की भी वृद्धि होती है। इससे हमको विनियोग (investment) और आय का सम्बन्ध समझने म आसानी होगी। परन्तु गुणक का सिद्धान्त व्यापार-चक्र के सिद्धान्त की पूर्ण व्याख्या नही करता। वास्तव मे व्यापार-चक्र की एक विशेषता यह है कि वह कभी ऊपर की ओर तो कभी नीचे की ओर उन्मुख होता है। जहाँ एक बार व्यापार चक्र ऊपर या नीचे को चलना प्रारम्भ होता है तो वह कुछ समय के लिए अपनी गति पर वर्द्धमान रहता है। अत हमको आर्थिक उन्नति और आर्थिक अवसाद की व्याख्या करनी होगी। गुणक का सिद्धान्त आर्थिक उतार चढावो की सही व्याख्या नही करता। मान लीजिए कि विनियोग म १०० रु० की वृद्धि होती है और गुणक की वृद्धि केवल ४ है। अत गुणक के सिद्धान्त से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेगे कि राष्ट्रीय आय में ४०० रु० की वृद्धि होगी, और यदि केवल गुणक (multiplier) ही कार्य करता है तो बात यही समाप्त होती है और राष्ट्रीय आय एक उन्नत बिन्दु पर पहुँच जाती है। किन्तु व्यवहार म ऐसा होता नही, क्योकि विनियोग (investment) म वृद्धि करने से राष्ट्रीय आय म वृद्धि तो होगी परन्तु इसके देश की सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था पर अन्य प्रभाव भी दृष्टिगोचर होगे। इस प्रतिक्रिया का अध्ययन हम गतिवर्द्धक सिद्धान्त (accelerator theory) के अन्तर्गत करेंगे।

५ गतिवर्द्धन सिद्धान्त (Acceleration Principle)—जब आय में ४०० रु० की वृद्धि होती है तो यह माना जाएगा कि सर्वसाधारण की व्यय करने की शक्ति में भी इतनी ही वृद्धि हुई है। इसके अतिरिक्त आय के सहारे लोग वस्तुओ और सेवाओ पर अधिक व्यय करेंगे। यदि वस्तुओ की माँग बढेगी तो माँग को पूरा करने के लिए संयत्र (Plant) और मशीनो से अधिक काम लिया जाएगा। इस प्रकार लाभ बढेंगे और साथ ही उत्पादन बढेगा। इससे नए नए काम खुलेंगे; नयी मशीनें लगेंगी और अधिक धन लगेगा। ज्यो ज्यो आय बढेगी त्यो-त्यो अधिक पूँजी लगती जाएगी।

६ गुणक सिद्धान्त और गतिवर्द्धक सिद्धान्त की एक दूसरे पर प्रतिक्रिया (Interaction of the Multiplier and the Accelerator)—गतिवर्द्धक

सिद्धान्त मे हम देखते हैं कि वह व्यापार-चक्र के दिनो मे व्यापक अस्तव्यस्तता के कारण प्रस्तुत करता है। यदि केवल गतिवर्द्धन सिद्धान्त ही क्रियाशील होता तो अर्थ-व्यवस्था में पूर्ण अस्तव्यस्तता दिखाई पड़ती। शायद वास्तविक गड़बड़ी से भी अधिक। किन्तु वास्तव म हम देखते हैं कि व्यापार-चक्र के चढ़ाव और उतार में अस्तव्यस्तता की भी सीमाएँ हैं। व्यापार-चक्र की सीमाएँ उच्चतम बिन्दु और निम्नतम बिन्दु तक ही पहुँचती हैं। इसका कारण यह है कि इस ओर गुणक का सिद्धान्त (theory of multiplier) काम कर रहा है। वास्तविक जीवन मे गुणक का सिद्धान्त और गति-वर्द्धन सिद्धान्त दोनों ही काम करते हैं, और व्यापार-चक्र दोनो नियमो का परिणाम होता है। विनियोग से गुणक के द्वारा आय बनती है। और इस आय से पुन गति-वर्द्धन के द्वारा विनियोग तैयार होता है। इस प्रकार एक दूसरे की सहायता से यह क्रम जारी रहता है।

हाल ही के वर्षों मे गतिवर्द्धन सिद्धान्त की कटु आलोचना हुई है। प्रो० काल्दोर (Prof Kaldor) का कथन है कि हम व्यापार-चक्र के पूरे प्रवर्तन-काल मे गति वर्द्धन सिद्धान्त के मूल्य को स्वीकार नही कर सकते। वे यह भी नही मानते कि १००) की माँग से बढकर ३००) की पूँजी उपस्थित हो जाएगी। और यदि यह मान भी लिया जाए कि माग केवल अस्थायी है, तो भी नई मशीनें और नए कारखाने लगाने के बजाए कोई व्यक्ति मौजूदा मशीनो पर ही अधिक समय काम करेगा। पुन कोई व्यवसाय संस्था थाडी माँग रखना अधिक पसन्द करेगी किन्तु बडी माँग रखना और उसका प्रयोग कष्टसाध्य होगा। इसलिए मशीनो में या पूँजी म अल्पवृद्धि अधिक रुचिकर होगी किन्तु अत्यधिक वृद्धि रुचिकर नही होगी। अत गतिवर्द्धन सिद्धान्त (accelerator theory), व्यापार-चक्र की सही व्याख्या करने मे पूर्ण सफल नही है। किन्तु इसका यह अर्थ नही लगाया जाएगा कि गतिवर्द्धन सिद्धान्त अर्थहीन है। यह ठोस आधारो पर टिका है और फिर हम यही कहेंगे कि राष्ट्रीय आय म परिवर्तन से पूँजी विनियोग की गति म भी परिवर्तन अवश्य होंगे।

७ व्यापार-चक्र के आधुनिक सिद्धान्त की स्पष्टतर व्याख्या (Modern Theory of Trade Cycle Further Explained)—व्यापार-चक्र का आधुनिक सिद्धान्त व्यापार चक्र को वास्तविक स्थितियो के प्रकाश में समझाने का प्रयत्न करता है जबकि सैद्धान्तिक अर्थशास्त्री, उदाहरणार्थ हाट्रे (Hawtrey), व्यापार चक्र की व्याख्या मुद्रा सम्बन्धी सिद्धान्तो के प्रकाश म करते हैं। हम देख चुके हैं कि गुणक और गतिवर्द्धन सिद्धान्त व्यापार-चक्र के दो धुरे हैं और इन धुरो के प्रयोग से ही व्यापार-चक्र चलता है। अब हम यह बताने का प्रयत्न करेंगे कि व्यापार-चक्र किस प्रकार गति पकड़ता है।

व्यापारिक समृद्धि के काल मे आय और उत्पादन मे वृद्धि होती है और गुणक एव गतिवर्द्धन की परस्पर प्रतिक्रिया के फलस्वरूप आय और उत्पादन म और अधिक वृद्धि होती है। इस दौर म माँग मजबूत रहती है और लाभ भी अधिक रहते हैं। मन्दी के दुष्प्रभाव शीघ्र समाप्त होने को होते हैं। अत विस्तार की गति तीव्र होती है। शीघ्र ही विस्तार की गति इतनी तीव्र होती है कि खुशहाली का दौर आ

जाता है। कुछ समय के लिए आर्थिक गतिविधि उच्च बिन्दु पर स्थिर हो जाती है। किन्तु इस समृद्धि में विनाश के बीज छिपे रहते हैं। शीघ्र ही इस दिखावटी खुशहाली का दौर समाप्त हो सकता है। ऐसा निम्नलिखित कारणों से या उनके सयोग से हो सकता है—

(१) विस्तार के समय पूँजी नियोजन तेजी से होता है। कुछ समय के लिए आर्थिक क्रियाकलाप ऊँचे स्तर पर स्थिर रहते हैं। किन्तु कुछ समय के पश्चात् जब पूँजी नियोजन के प्रभावी लाभ होने लगते हैं तो उत्पादन अत्यधिक बढ जाता है और पूँजी भी बढ जाती है। पूँजी स्टाक के अत्यधिक बढ जाने से लाभ की मात्रा कम रह जाती है, अत उद्यमी अधिक पूंजी लगाने से हाथ खीचने लगते हैं। ऐसी स्थिति म गुणक (multiplier) और गतिवर्द्धन (accelerator) सिद्धान्त प्रभावशील हो जाते हैं। और शनै शनै अर्थव्यवस्था छिन्न-भिन्न होने लगती है।

(२) जब पूँजी नियोजन की गति तीव्र होती है तो नियोजन-वस्तुओं की कीमतें ऊँची हो जाती हैं। इससे उत्पादन व्यय बढ जाते हैं और फलस्वरूप लाभ की मात्रा सिकुड जाती है। अत अगले दौर में पूंजी नियोजन की गति पहले दौर की अपेक्षा मन्द पड जाती है।

(३) मान लीजिए कि पूर्ण रोजगार की स्थिति है। जब किसी अर्थ व्यवस्था में पूर्ण रोजगार की स्थिति प्राप्त हो जाती है तो अर्थव्यवस्था में विस्तार इतनी गति से नही हो सकता कि पूर्ण नियोजन से भी अधिक नियोजन दे सकें, क्योंकि जनसख्या भी तीव्र गति से बढती है और उ पादन भी। इस प्रकार जब पूर्ण नियोजन की स्थिति होती है तो गतिवर्द्धन (accelerator) की गति कुण्ठित हो जाती है। फलस्वरूप कमजोर गतिवर्द्धक पूर्ण नियोजन की स्थिति को स्थिर नही रख सकता और आज या कल अर्थव्यवस्था अवश्य लडखडा जाएगी।

(४) जब समद्धि काल म आय ऊँची होती है तो आय का अधिकाश भाग लाभ के रूप मे मालिकों की जेबा म जाने लगता है। किन्तु लाभ के धन म से उपभोग करने की सीमान्त प्रवृत्ति (marginal propensity to consume) उतनी तीव्र नही होती जितनी कि आय म से उपभोग करने की प्रवृत्ति तीव्र होती है। इस प्रकार समस्त समाज की उपभोग करने की सीमान्त प्रवृत्ति गिर जाती है। इससे गुणक का मूल्य गिर जाता है और फलस्वरूप पूंजी नियोजन की दर पहले की अपेक्षा कम आय देने लगती है। इस प्रकार वस्तुओं की पूर्ति अधिक बढती है किन्तु उनकी माँग म उसी अनुपात म वृद्धि नही होती। फल यह होता है कि कुछ समय पश्चात् व्यवसायी अपनी वस्तुओं को बेच नहीं पाते और हानि उठाते हैं। और तब वे पूँजी नियोजन कम करने लगते हैं।

(५) व्यापारिक समृद्धि के दिनों म साख व्यवस्था म विस्तार हो जाता है किन्तु बैंक धन उधार देने पर अकुश रखना चाहते हैं इससे ब्याज की दर ऊँची हो जाती है, और बैंक अपनी सस्ती दरो पर लगाई गई पूंजी वापस माँगने लगते हैं। इससे मुद्रा बाजार म एक प्रकार की अव्यवस्था फैल जाती है जो बढते बढते समस्त आर्थिक जीवन को आक्रान्त कर लेती है।

(६) ज्यो ही एक बार व्यापारिक समृद्धि का दौर समाप्त हो जाता है, सारी अर्थ-व्यवस्था विशृखल सी-होने लगती है। ऐसे समय मे गुणक और गतिवर्द्धक नीचे की ओर कार्य करते हैं। वित्तीय आपात के बीच म बैंकिंग व्यवस्था की गडबडी से और भी स्थिति खराब हो जाती है। अपनी तरल गति को सुदृढ बनाने के लिए बैंक व्याज की दर को और ऊँची करते हैं और उन व्यवसाय सस्थाओ से ऐसे समय में पूंजी वापस मांगते हैं जब वे वित्तीय आपात के घेरे मे होती हैं और जो पूंजी वापस करने की स्थिति में नही होतीं। इससे स्थिति और बिगडती जाती है और अनेक व्यवसाय सस्थाएँ दिवालिया हो जाती हैं।

किंतु कभी न कभी अर्थ व्यवस्था में सुधार होगा ही और वह अधोगति म जाने से कुछ सम्भल जाती है। ऐसा पूंजी नियोजन घटाने से होता है। यदि आय गिरती है तो पूंजी नियोजन भी गिरेगा, किन्तु किसी निश्चित समय मे पूंजी नियोजन की कमी का प्रभाव मशीनो के प्रतिस्थापन (replacement) के द्वारा उलटा किया जाता है। यदि आप वास्तव म ही पूंजी नियोजन म कमी करना चाहते हैं तो पुरानी, घिसी मशीनो का प्रतिस्थापन मत कीजिए। फलस्वरूप कुछ समय पश्चात् गतिवर्द्धन (accelerator) शून्य हो जाएगा। ऐसी स्थिति आ जाने पर पूंजी नियोजन को रोकना असम्भव होगा। फलस्वरूप उस स्थिति के आने पर कम से कम कुछ समय के लिए आर्थिक गतिविधि स्थिर हो जाएगी।

इस स्तर पर अर्थ व्यवस्था मे विस्तार की पर्याप्त सम्भावनाएँ विद्यमान रहती हैं। किन्तु कुछ समय तक विस्तार नही हो पाता। तब ऐसी स्थिति अवश्य आएगी जबकि कम जमा पूंजी को सुरक्षित रखने के लिए प्रतिस्थापन पूंजी नियोजन नितान्त आवश्यक होगा। जब सकल नियोजन शून्य से बढकर प्रभावी स्थिति तक पहुँच जाता है तो ऐसा माना जाएगा कि अर्थव्यवस्था का सुधार या पुनरुद्धार हो रहा है। किन्तु पुनरुद्धार इससे पहले भी हो सकता है क्योंकि सम्भव है, इन्ही दिनों प्राद्यौगिक उन्नति हो रही हो और कुछ उन्नतिशील व्यवसाय सस्थाएँ नई खोजो के आधार पर अधिक लाभ उठा रही हों। उनकी सफलता से अन्य सस्थाओ को भी उत्साह प्राप्त होगा और इस प्रकार रोगी अर्थ व्यवस्था की रोगमुक्ति शनै शनै उन्नति और समृद्धि की ओर बढ सकती है। इन दिनो यदि मुद्रा बाजार में द्रव्य सस्ती दरो पर मिले तो पुनरुद्धार और उन्नति के इस क्रम म तीव्रता अवश्य आ सकती है।

८ आर्थिक सकट को दूर करने के उपाय (Remedial Measures to fight Economic Crisis)—सकट के समय व्यवहार में आने वाली नीतियो के विषय म सकट के कारणो की अपेक्षा अधिक मतभेद हैं। अधिकतर अर्थशास्त्री अब इस विषय पर सहमत हैं कि वर्तमान आर्थिक अवस्था म सकट अवश्यम्भावी है। अधिक से अधिक उन्हे स्थगित मान किया जा सकता है, रोका नहीं जा सकता। अस्तु, इन सकटो का सामना करने के लिए हमे दो प्रकार के उपायो की आवश्यकता है—निवारक (preventive) और औपचारिक (curative)।

निवारक उपाय सकट की प्रकृति पर निभर करते हैं। कच्चे माल की पूर्ति पर जलवायु का जो प्रभाव होता है, उससे हम विमुख नही रह सकते। भारत जैसे

देश के लिए, जहाँ दो-तिहाई से अधिक निवासी कृषि पर निर्भर करते हैं, यह आवश्यक है कि कृषि को वर्षा से स्वतन्त्र किया जाए। पानी की नियमित पूर्ति के लिए पर्याप्त मात्रा में कुओं, नहरों व तालाबों का निर्माण अति आवश्यक है। यह अवश्य है कि युद्ध, भूचाल व छूत की बीमारी जैसे बाह्य कारणों का कोई उपाय नही किया जा सकता पर इनका व्यापार-चक्र मे कोई विशेष महत्त्व नही है। कम से कम यह नियमित रूप से तो कोई प्रभाव नही डाल सकते।

माँग व पूर्ति की अपूर्ण व्यवस्था को फसलो की दशा, उद्योगो द्वारा उत्पादित वस्तुओं की मात्रा, व्यवसाय की दशा, आयात व निर्यात, आय प्रति व्यक्ति, मूल्य व लागत सम्बन्धी देशनाको, व लाभ की दशा आदि की सही परिगणना करके सम्हाला जा सकता है। इसके द्वारा व्यापारी वस्तुओं की माँग व पूर्ति के विषय में ठीक अनुमान लगा सकता है। इसके अतिरिक्त सूचना विभाग को अनुचित आशावादिता अथवा निराशावादिता को रोकने के हेतु समय-समय पर चेतावनियाँ प्रकाशित करते रहना चाहिए। समृद्धि के दिनो म कारखानो को लाभाश देते समय विशेष सावधानी से कार्य करना चाहिए। और भविष्य के लिए निधि संचित करके रखनी चाहिए।

मुद्रा-नीति (Monetary Policy)--पर केवल इतने निवारक उपाय ही पर्याप्त नही हैं। इसके अलावा समृद्धि एव मंदी को रोकने के लिए देश को सदैव उचित बैंकिंग नीति को अपनाना चाहिए। नीति इस प्रकार की होनी चाहिए कि यदि किसी भाँति आर्थिक सकट उपस्थित भी हो जाए तब भी कम से कम उसकी तीव्रता तो कम हो जिससे शीघ्रातिशीघ्र आर्थिक स्थिरता स्थापित हो सके।

मुद्रा-नीति के अन्तर्गत अधिकोषण नीति, साख नीति, ऋण और ब्याज नीति, मुद्रा मान नीति (monetary standard) और सार्वजनिक ऋण नीति आती हैं। मुद्रा-नीति साख के विस्तार का प्रभावित करके देश म प्रचलित कीमतो व आर्थिक क्रियाओं को प्रभावित करती है। इसका विस्तृत अध्ययन हम पिछले अध्याय मे कर चुके हैं। यहाँ केवल इतना याद रखना पर्याप्त है कि इस नीति को दो उपायो से प्रभावशाली बनाया जा सकता है—बैंक दर को व्यवस्थित करके और खुले बाजार की क्रियाओं को समुन्नत करके। जब समृद्धि की परिस्थितियाँ होती हैं तो बैंक-दर को बढाकर व्यापारिक क्रियाओ म और अधिक विस्तार को रोक दिया जाता है। इसी प्रकार मन्दी के दिनो म सस्ती मुद्रा की नीति से व्यापारिक विनियोजन को प्रोत्साहन दिया जाता है और इस प्रकार पुनर्जीवन में सहायता होती है।

बैंक की साख-नीति मे दो प्रकार के नियन्त्रण होते हैं—परिमाण-सम्बन्धी तथा गुण-सम्बन्धी (quantitative and qualitative)। परिमाण सम्बन्धी नियन्त्रण से अभिप्राय साख-पद्धति को यथा आवश्यकता सामान्य, दृढ तथा ढीला करने से है। यह बैंक के कोष को प्रभावित करके किया जाता है। गुण सम्बन्धी नियन्त्रण एक विशिष्ट प्रकार की साख को नियन्त्रित करता है। इस नियन्त्रण का उद्देश्य यथा आवश्यकता बैंक के अग्रिमो को नियन्त्रित करना है ताकि विशिष्ट योजनाओं के लिए पूंजी उपलब्ध होती रहे या उसके मिलने पर आवश्यक अकुश लगे रहें। पिछले कई

वर्षों से भारतीय रिजर्व बैंक प्रवृत्त साख नियन्त्रण (selective credit control) की नीति पर चल रहा है।

निस्सन्देह नियन्त्रित-मुद्रा नीति के अनेक लाभ हैं। इसीलिए प्राय. बीस वर्ष पूर्व तक नियन्त्रित मुद्रा नीति को व्यापारिक-चक्रों के कुचक्र से बचाने के लिए प्रभावी उपाय समझा जाता था। किन्तु हम पहले ही देख चुके हैं कि बैंक दर के नियन्त्रण या खुले बाजार के कृत्यों से निश्चित और इच्छित लाभ नहीं मिलते।[1] इसकी सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि कहा तक बहुत सी मानी हुई बातें सही हैं। उदाहरणार्थ, यह बात ध्यान रखने योग्य है कि अन्य बैंक किस सीमा तक केन्द्रीय बैंक का अनुकरण करने को तत्पर हैं, कहाँ तक बैंक अपने ऋणियो को रुपये का उचित विनियोजन करने के लिए बाध्य कर सकते हैं, कहाँ तक आर्थिक परिवर्तनों के लिए मुद्रा-सम्बन्धी कारण उत्तरदायी हैं और अन्त म व्यापारिक वर्ग परिवर्तित दर पर विनियोजन करने को तत्पर है या नहीं।

लेकिन, यह बाते सर्वथा सत्य नहीं हैं, इसलिए इस प्रकार की व्यवस्था पूर्णतया सफल नहीं हो सकती। मन्दी के दिनो मे विशेष तौर से यह नीति सर्वथा असफल रहती है, क्योंकि इन दिनों म व्यापारी वर्ग निराशा में ऐसा जकडा होता है कि दरो मे अत्यधिक कमी होने पर भी वह नवीन विनियोजन करने अथवा अपने व्यापार का विस्तार करने की हिम्मत नहीं करता। मुद्रा अधिकारी व्यापार के लिए प्रोत्साहन मात्र दे सकते हैं, वे व्यापारियों को उधार लेकर व्यापार चालू करने के लिए मजबूर नहीं कर सकते।

राजकोषीय नीति (Fiscal Policy)—मुद्रा-नीति के अपर्याप्त होने के कारण दूसरे उपायों की खोज हुई। इनम सब से महत्वपूर्ण उपाय राजकोषीय नीति का उपाय पाया गया। यद्यपि "इस उपाय की खोज केवल मुद्रा नीति की सहायता के लिए की गई थी किन्तु अब वह उसी नीति को बिलकुल नष्ट करना चाहती है।" (विलियम्स)। चूँकि राज्य प्रशासन पर होने वाले खर्च की मात्रा बहुत अधिक होती है इसलिए यह कुल राष्ट्रीय आय का बडा भाग है। इस तरह राजकोषीय नीति से कीमत स्तर प्रभावित होता है। इसके अलावा उत्पादन और नौकरी पर भी प्रभाव पडता है, चाहे ऐसी नीति जान-बूझ कर अपनायी गई हो या नहीं।

मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि राजकोषीय नीति में निम्नलिखित बातें सम्मिलित हैं—(क) राजकीय व्यय (public spending), या सार्वजनिक निर्माण-नीति और (ख) उचित कर प्रणाली (appropriate taxation)।

हम यह देख चुके हैं कि कीन्स (Keynes) के सिद्धान्त के अनुसार व्यापार-चक्र बचत व विनियोजन के बीच असमता के कारण उत्पन्न होता है। इसलिए यदि राज्य और सार्वजनिक संस्थाओं के विनियोजनो का विभिन्न व्यक्तिगत विनियोजनो से समन्वय कर दिया जाए तो असमता उत्पन्न होने से रोकी जा सकती है और इस प्रकार आर्थिक स्थिरता स्थापित की जा सकती है। और यदि किसी भाँति असमता उत्पन्न भी हो जाए तो सार्वजनिक व्यय के समायोजन द्वारा उसको ठीक किया जा

1 Chapter 36

सकता है। इसलिए व्यापारिक स्थिति के अनुसार सार्वजनिक व्यय को परिवर्तित करते रहना पड़ता है। मन्दी के दिनों में जब व्यक्तिगत विनियोजन बहुत शिथिल होता है, तो उसकी कमी पूरी करने के लिए राज्य को बड़ी मात्रा में विनियोजन करना पड़ता है। इसके विपरीत यदि समृद्धि का काल हो तो राज्य को अपने व्यय कम करने पड़ते हैं। इस प्रकार मन्दी के दिनों में राज्य को अपने चालित राजस्व की सीमा से परे खर्च करने को तैयार रहना चाहिए। दूसरे शब्दों में, मन्दी के दिनों में राज्य को घाटे के वित्तीकरण के लिए उद्यत रहना चाहिए और असाधारण समृद्धि के दिनों में अतिरेक आयव्ययक के लिए तैयार रहना चाहिए। इसको यूँ भी कहा जा सकता है कि बजाय प्रत्येक वर्ष सन्तुलित आयव्ययक रखने के राज्य को दीर्घावधि के सन्तुलित आयव्ययक का ध्येय रखना चाहिए।

जहाँ तक राज्य के राजस्व का प्रश्न है, राज्य को मन्दी के दिनों में कर कम कर देने चाहिएँ और तेजी के दिनों में अधिक। यही नहीं, मन्दी के दिनों में राज्य की ओर से कई प्रकार की उदार रियायतें और दूसरी सुविधाएँ दी जानी चाहिएँ।

इस प्रकार राजकोषीय नीति का सचालन सार्वजनिक राजस्वों और सार्वजनिक व्यय के नियन्त्रण द्वारा हो सकता है। इसे राजस्व का चक्र विरोधी सगठन भी कहते हैं। इन दोनों में व्यय वाला सिद्धान्त अधिक सफल है, क्योंकि इसमें व्यापारिक क्रिया को प्रोत्साहन मिलता है। इसके अतिरिक्त राजस्व वाला ढग विशेष लाभ का नहीं होता क्योंकि इससे विनियोजन उचित रूप से नहीं हो सकता। पर सब से अधिक सफलता तब प्राप्त की जा सकती है जब दोनों ढगों के सहयोग से काम लिया जाए।

राजकीय व्यय अथवा सार्वजनिक निर्माण की नीति (Public Spending or Public Works Policy)—यह नीति अधिक सफल हुई है इसलिए इस पर विस्तार से विचार की आवश्यकता है। मन्दी के दिनों में जब आर्थिक क्रियाएँ पूर्णत शिथिल हो जाती हैं, और फलस्वरूप बेकारी बढ़ जाती है, तो वस्तुओं के उपभोग की प्रवृत्ति में कमी आ जाती है। यह बात बड़े महत्त्व की है कि उपभोग की ओर रुचि बढ़ाने का प्रयत्न किया जाए। यदि किसी प्रकार सार्वजनिक कार्यों द्वारा कुछ नवीन नियोजन पैदा किया जा सके तो लोगों की क्रय-शक्ति बढ़ जाएगी और उपभोग की मात्रा भी बढ़ जाएगी, जिससे गुणक और गतिवर्द्धन के सिद्धान्त (principles of multiplier and acceleration) के अनुसार व्यक्तिगत विनियोजन को प्रोत्साहन मिलता है। अस्तु सार्वजनिक निर्माण कार्यों पर सरकार की ओर से व्यय किए गए धन के व्यक्तिगत विनियोजन को अत्यधिक प्रोत्साहन मिलेगा। इस प्रकार किसी देश की आर्थिक क्रिया में राज्य जीवन-सचार का कार्य करता है।

इससे मन्दी के प्रभाव को रोका जा सकता है या यदि मन्दी मुँह बाये आ रही हो तो उसको आने से भी रोका जा सकता है। पर सार्वजनिक व्यय से एक और भी काम होता है—वह यह कि इससे आर्थिक क्रिया में दीर्घकाल में स्थिरता आ जाती है और वह मन्दी व तेजी से सुरक्षित हो जाती है। इस उद्देश्य को व्यक्तिगत विनियोजनों के अनुसार सार्वजनिक विनियोजनों का समन्वय करके प्राप्त किया

जा सकता है। इसे राजकोषीय नीति का क्षतिपूरक या पूर्णतनक काय (Compensatory action) कहते हैं। 'अमरीकन इकॉनामिक एसोसिएशन' (American Economic Association) के अनुसार 'ऐसी राज्य-व्यवस्था म जहाँ अधिकाश लोग प्राइवट कार्यों म लगे है, सरकारी नीति यह होनी चाहिए कि सामान्य आर्थिक दशा म परिवतन किया जाए जिससे प्राइवेट (निजी) व्यापार आदि म विकसित उतार चढाव म कुछ कमी हो और ऐसे हालात में सुधार हो।" चक्र की अस्थिरता को रोकने के लिए सरकारी नियन्त्रण निम्नलिखित है —

(१) व्यक्तिगत प्रेरणा म परिवतन लाने के लिए कर-दर तथा कर के ढांचे म परिवतन।

(२) कुल आय म सरकारी अश का हस्तान्तरित भुगतान द्वारा (उदाहरणार्थ employment benefit) परिवर्तन।

(३) राजकीय निर्माण कार्यो मे तथा अन्य सरकारी व्यय मे परिवर्तन।

(४) लागत तथा बैंक साख की प्राप्ति में परिवर्तन लाने के लिए मुद्रा-सम्बन्धी नियन्त्रण।

(५) जनता की वित्तीय आस्तियां और दायित्वों मे परिवर्तन लाने के लिए ऋण अथवा मुद्रा सम्बन्धी नीति का आश्रय।

(६) विनियोजन निणय तथा उत्पादन और व्यवसाय से सम्बन्धित निर्णय को प्रभावित करने के लिए सरकारी नीति की ठीक समय मे घोषणा।

(७) कीमत तथा मजदूरी निर्धारण पर प्रभाव डालने वाले उपायो का आश्रय।

(८) उचित अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक नीति।

आर्थिक स्थिरता को प्राप्त करन के लिए दो मूल नियम बतलाए गए हैं—

(क) सरकारी करो से प्राप्त आमदनी (राजस्व) को पूर्ण व्यवसाय के समय म ऊँचा तथा बेकारी के दिनो म अपेक्षाकृत कम होना चाहिए।

(ख) पूर्ण व्यवसाय के समय म द्रव्य तथा साख सापेक्ष रूप से अधिक दृढ हो और व्यापक बेकारी के समय ढीला होना चाहिए।

पर अब भी अर्थशास्त्रियो मे इस सम्बन्ध में बड़ा मतभेद है कि सार्वजनिक व्यय की नीति द्वारा बचत व विनियोजन म समता रखी जा सकती है अथवा नहीं। इसके विपरीत यह सब मानते हैं कि राजकोषीय नीति चक्रात्मक परिवतनो मे लड़ने म बड़े उपयोग की है।

मन्दी के दिना म विनियोजन म सहायता देने के अतिरिक्त राज्य द्वारा सार्वजनिक निर्माण कार्यक्रम हाथ म ले लेने से राज्य को कम मूल्य म सार्वजनिक निर्माण काय करने में सहायता मिलती है। मजदूरी, कीमत व ब्याज की दरें मन्दी के दिना म कम हो जाती है। इसके अतिरिक्त राज्य के शुद्ध व्यय तो और भी कम होते हैं, और फिर यदि यह नीति नहीं अपनायी जाती तो बेकारी के भत्ते दने आवश्यक हो जाते है। इसलिए सावजनिक कार्यों का शुद्ध व्यय उनके पूर्ण व्यय में से बेकारी के भत्ते निकालकर होता है जो कि अन्यथा दिया जाना आवश्यक होता।

पर राजकोषीय नीति में कुछ कमजोरियाँ भी हैं। बहुत से सार्वजनिक कार्य ऐसे भी हैं, जिन्हें मन्दी की प्रतीक्षा में स्थगित नहीं किया जा सकता। उनमें से बहुतों का सम्बन्ध तो व्यवसाय की गति से होता है और इसलिए उनके द्वारा सुधार का विचार ठीक नहीं है। फिर श्रम की गतिहीनता के कारण कभी-कभी नीति अतिरिक्त नियोजन का निर्माण करने में असफल रहती है। जैसे सड़क बनाने के काम में सूती मिल के बेकार मजदूर नहीं लगाए जा सकते। एक जनतन्त्रात्मक राज्य में जनता समृद्धि के दिनों में लाभ के वित्तपोषण का विरोध करती है और करों में कमी की माँग करती है। इसके अतिरिक्त राज्य को इस बात का भी ध्यान रखना पड़ता है कि वह ऐसे क्षेत्रों में व्यय करे जहाँ व्यक्तिगत विनियोजन की सम्भावना न हो, अन्यथा राज्य का विनियोजन व्यक्तिगत विनियोजन को प्रतिस्थापित मात्र कर देगा। यह भी ध्यान रखने योग्य बात है कि राज्य के सार्वजनिक व्यय से उत्पादन-व्यय बढ़ जाने के कारण व्यक्तिगत विनियोजन की कठिनाइयाँ भी कहीं बढ़ न जाएँ।

इन सब बातों के होते हुए भी राजकोषीय नीति बहुत अच्छा व्यापार-चक्र विरोधी शस्त्र है। यदि इसके साथ समुचित वित्त-प्रबन्ध भी हो तो यह और भी अधिक सफल हो सकती है। राजकोषीय नीति और वित्त प्रबन्ध योजना की क्रियान्विति के द्वारा एक से निरन्तर दूसरों को बल मिलेगा। "मन्दी से निकलने के लिए घाटे का वित्तीकरण आय के नवीन साधन निकालकर और सस्ते द्रव्य को अपनाकर अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकता है तथा समृद्धि के दिनों में मुद्रा की नीति अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकती है।"

विनियोजन पर राज्य-नियन्त्रण (State Control of Investment)—कुछ वर्षों से व्यापारिक-चक्र के कुचक्र से बचाव के लिए अर्थशास्त्री राज्य विनियोजन के अतिरिक्त और भी उपाय सोचने लगे हैं। उनका कहना है कि व्यक्तिगत विनियोजन के ऊपर राज्य की ओर से नियन्त्रण होना चाहिए। कुछ देशों में सन् १६३० से यह नियन्त्रण लागू है। यद्यपि पहले यह केवल संकट से बचाव के लिए लगाए गए थे तो भी, लड़ाई के दिनों में यह नियन्त्रण और भी बढ़ा दिए गए। पर इनका उद्देश्य केवल युद्ध के साधनों को व्यवस्थित करना था। युद्ध के पश्चात् यह नियन्त्रण कम कर दिए गए पर अर्थशास्त्री अब भी इस बात पर जोर देते हैं कि आर्थिक स्थिरता के लिए यह नियन्त्रण आवश्यक हैं। किन्तु इस नीति में भय यह है कि राज्य के बहुत अधिक हस्तक्षेप से व्यक्तिगत विनियोजन समाप्त हो जाएगा। पर व्यक्तिगत विनियोजन को पूर्णतः स्वतन्त्र छोड़ देना भी भयंकर है। अस्तु, एक मध्यम मार्ग की आवश्यकता है। कीन्स का विश्वास है कि इस प्रकार का मार्ग निकाला जा सकता है और यदि ऐसा हो गया तो आर्थिक स्थिरता प्राप्त की जा सकती है।

अन्तर्राष्ट्रीय उपाय (International Measures)—अभी तक हमने केवल उन उपायों का अध्ययन किया है जो व्यक्तिगत राष्ट्रों की ओर से किए जाते हैं। पर व्यापार-चक्र की प्रकृति अन्तर्राष्ट्रीय है। कोई देश संसार के दूसरे भागों से पृथक् नहीं रह सकता। इसकी यह अन्तर्राष्ट्रीय प्रकृति संकट नियन्त्रण को जटिल बना देती है।

अन्तर्राष्ट्रीय ढंग पर व्यापार-चक्र के दुष्प्रभाव को रोकने के लिए जिन उपायों का सुझाव रखा गया है, वे इस प्रकार हैं—अन्तर्राष्ट्रीय उत्पादन नियन्त्रण (International Production Control); अन्तर्राष्ट्रीय निरोध स्कंध (International Buffer Stocks); अन्तर्राष्ट्रीय विनियोजन नियन्त्रण (International Investment Control)। अन्तर्राष्ट्रीय उत्पादन नियन्त्रण के अन्तर्गत उत्पादन की प्रमुख वस्तुओं के उत्पादन तथा उनकी कीमतों पर नियन्त्रण रखा जाता है। इस प्रकार के नियन्त्रण में बड़ी कठिनाइयाँ होती हैं। भारत जैसे देशों में कृषि बहुत छोटे पैमाने के व्यवसाय के रूप में ही नहीं वरन् जीवन की आवश्यकता के रूप में होती है। फलस्वरूप यदि कृषि लाभप्रद न भी रहे तो भी उसे छोड़ा नहीं जा सकता। पर उत्पादन नियन्त्रण और स्कन्ध निरोधक पूर्ति के अचानक परिवर्तनों को रोककर कीमतों के उतार चढ़ाव को रोक सकेगा।

पर यह उपाय बहुत अधिक सफल नहीं हो सके। अभी तक भी व्यापारिक संकट की कोई अचूक दवा नहीं खोजी जा सकी है। वास्तव में आवश्यकता तो इस बात की है कि हमारे आर्थिक ढाँचे को पूर्णतः बदल दिया जाए। यह सम्पूर्ण संकट पूँजीवाद की देन है और संसार में जब तक पूँजीवाद रहेगा यह संकट भी रहेगा। इसलिए नियोजित अर्थव्यवस्था या समाजवाद के किसी रूप से ही इस भयावह स्थिति को सुधारा जा सकेगा।

निर्देश पुस्तकें

Schumpeter J A Business Cycles

Hawtrey R G Trade and Credit ; also Economic Destiny

Pigou A C Industrial Fluctuations

Brij Narain Money and Banking (S Chand & Co)

Crowther G An Outline of Money

Myrdal G Monetary Equilibrium

Keynes J M Treatise on Money, also the General Theory of Employment Interest and Money

Robertson D H Money

Hayek F A Prices and Production

Estey Business Cycles

Haberler G Prosperity and Depression

American Economic Association Readings in Business Cycle Theory 1944

American Economic Association on The Problem of Economic Instability ' in the American Economic Review, September 1950, pp 50 5 3

Mitchell W C Business Cycles ; The Problem and its Setting

Hansen A H Fiscal Policy and Business Cycles, 1941

Halm G N Monetary Theory 1946 Chs 20 23

Hicks J R A Contribution to the Theory of Trade Cycles, 1950

Kalecki M. Essays in Theories of Economic Fluctuations, 1939

अध्याय ४३

सार्वजनिक अर्थशास्त्र

(Public Economics)

१. विषय प्रवेश (Introduction)—राज्य एक राजनीतिक समाज है। इसका अन्तिम उद्देश्य मानव कल्याण की वृद्धि है। इसलिए राज्य के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने नागरिकों की आर्थिक क्रियाओं पर दृष्टि रखे। अब तो यह आम तौर पर माना गया है कि राज्य का आर्थिक क्षेत्र में हस्तक्षेप और नियन्त्रण सामान्य कल्याण के लिए आवश्यक है।

२. राज्य के क्रियाकलापों की परीक्षा (Views on State Activity)—यह ठीक ही कहा गया है कि "राजनीतिक सिद्धान्त परिस्थितियों पर आश्रित है।" जैसे जैसे परिस्थितियाँ बदलती हैं, वैसे ही राज्य की गतिविधि के उचित क्षेत्र के विचार भी बदलते गए हैं। राज्य के हस्तक्षेप की सीमा और रूप के सम्बन्ध में राजनीतिक विचारकों में मतविभिन्नता रही है। हम यहाँ पर कुछ राजनीतिक विचारों के मुख्य रूपों का भेद उपस्थित करते हैं।

अराजकतावादी (The Anarchists)—ये लोग शासन-तन्त्र न होने में विश्वास करते हैं। वे सोचते हैं कि एक ऐसी अवस्था आएगी, जब मनुष्य नैतिकता के इतने ऊँचे स्तर पर पहुँच जाएगा कि शासन अनावश्यक हो जाएगा और "उसका अन्त हो जाएगा।" समाज स्वयं अपने को नियमित कर लेगा। राजनीतिक विचारकों का यह केवल स्वप्न मात्र है।

साम्यवादी (The Communists)—दूसरे छोर पर साम्यवादी हैं, जो विश्वास करते हैं कि राज्य का हटाना तो दूर की बात है, राज्य को जीवित रखना होगा और उसे आर्थिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए शक्तिशाली साधन के रूप में दृढ़ होना होगा। साम्यवादी व्यक्तिगत आर्थिक चेष्टाओं पर दृढ़ नियन्त्रण रखेंगे। प्रत्येक वस्तु राज्य की होगी और शासन सब तरह की आर्थिक गतिविधियों की व्यवस्था करेगा। व्यक्ति तो केवल शतरंज के खेल में एक प्यादे के समान है। कुछ लोग इसको आर्थिक दासता कहेंगे। यह अवस्था अभी व्यावहारिक राजनीति से दूर है।

इन दो चरम धारणाओं के बीच में दो अन्य विचारधाराएँ हैं जिन्होंने वास्तव में राजनीतिक नीतियों को प्रभावित किया है। इनमें से एक विचारधारा वह है, जिसको व्यक्तिवाद (individualism) या आर्थिक उदारता (economic liberalism) कहते हैं, दूसरी है समूहवाद (collectivism)।

व्यक्तिवादी (Individualists)—व्यक्तिवादी राज्य को एक बुराई समझते हैं, और यह बुराई अनिवार्य है। उनका विश्वास है कि मानव कल्याण उस समय सब से अधिक होगा, जब आर्थिक गतिविधि राज्य के हस्तक्षेप के बिना, निर्बाध, रुकावट और अड़चन रहित दशा में होगी।

फ्रास के एक फिजियोक्रेट (Physiocrat) फ्रेंकोस क्वेज्ने (Francois Quesnay) के शब्दों मे, "प्रतियोगिता को असीमित स्वतन्त्रता आन्तरिक तथा बाह्य वाणिज्य का सबसे उत्तम सरक्षण है, यह बहुत ही ठीक है और राष्ट्र और राज्य, दोनो के लिए अति लाभदायक है।" इगलैंड मे ऐडम स्मिथ (Adam Smith) की आर्थिक विचारधारा के अनुसार, सरकार को कम से कम हस्तक्षेप करना चाहिये। यह एक पुलिस राज्य होगा और नियमो का पालन कराना और शान्ति स्थापित रखना ही केवल इसका काम होगा। कारखानो के नियम और सामाजिक सुरक्षा के लिए इसमें कोई स्थान न होगा। स्पष्ट है कि यह विचारधारा समाज की उचित आवश्यकताओ पर ध्यान नही देती।

व्यक्तिवाद को राजनीतिक सिद्धान्त और राज्य के कार्यों के लिए एक पथ-प्रदर्शक के रूप से भी दोषी ठहराया गया है। व्यक्तिवाद की नीव कभी की नष्ट हो चुकी है। अब कोई भी यह सचाई से विश्वास नही करता कि हर व्यक्ति अपने हित को ठीक-ठीक समझता है या उसके पाने की शक्ति रखता है। यहाँ तक कि जे० एस० *मिल (J. S Mill) को भी, जो 'यथेच्छाचारिता' (laissez faire) के प्रबल समर्थक* हैं, कुछ क्षेत्रो मे राज्य के हस्तक्षेप की आवश्यकता स्वीकार करनी पडी। आज के ऐसे ससार म उन्नीसवी शताब्दी के व्यक्तिवाद का कोई भी स्थान नही है।

समूहवादी या समाजवादी विचारधारा (The Collectivist or the Socialist View)—समूहवादियो और समाजवादियो की विचारधाराएँ बिल्कुल भिन्न हैं। समाजवादी और समूहवादी समाज के हित पर ज्यादा जोर देते है और व्यक्तियो के अधिकारो और विशेषाधिकारो पर कम। राज्य को एक अनिवार्य बुराई समझना तो दूर रहा, वे इसको एक अति आवश्यक और उपयोगी सस्था मानते हैं और वे उसको बहुत-सी सीमा-रहित शक्तियाँ देना चाहते है। वे राज्य के हर प्रकार के हस्तक्षेप को उचित मानते हैं बशर्ते कि उसके द्वारा सामाजिक कल्याण म उन्नति होती हो। राज्य के हस्तक्षेप की कोई सीमा नही है किन्तु उसका ध्येय मानव-कल्याण की प्रगति होनी चाहिए।

आधुनिक काल की विचारधारा समाजवाद या समूहवाद की ओर दृढता से झुकी हुई है। आज के राजनीतिज्ञ शासन के आर्थिक क्षेत्रो म हस्तक्षेप करने की कोई सीमा निश्चित नही करते। वे केवल यही देखते हैं कि राज्य के कार्य प्रत्यक्ष रूप से या परोक्ष रूप से समाज के हित म होते हैं या नही।

३ आधुनिक राज्य के कार्य (Functions of a Modern State)—जे० एस० मिल ने राज्य के कार्यो को दो वर्गों में विभाजित किया है—(क) आवश्यक कार्य, जो न्याय और सुरक्षा का प्रबन्ध करें, और दूसरे वैकल्पिक कार्य, जिनमें अन्य सब कार्य सम्मिलित हो। एडम स्मिथ (Adam Smith) ने अपनी १७७६ की प्रकाशित पुस्तक 'वेल्थ आफ नेशन्स' (Wealth of Nations) मे शासक के तीन कर्तव्यो का उल्लेख किया है—

(१) समाज की, अन्य स्वाधीन समाजो के अन्याय तथा हिंसा से रक्षा करना;

(२) नागरिको के बीच आन्तरिक न्याय का प्रबन्ध;

(२) जनता की उन संस्थाओं को बनवाना तथा बनाए रखना जो बड़े समाज के लिए अत्यन्त लाभदायक हो, चाहे वे एक व्यक्ति को कभी व्यय न अदा कर सके।

आधुनिक राज्य के मुख्य कार्यों का नीचे दिया हुआ वर्गीकरण उचित माना जा सकता है —

(i) संरक्षण तथा रक्षा के कार्य (Protective Functions)—बाह्य आक्रमण से देश की रक्षा करना और देश में शांति स्थापित रखना, इन कार्यों में शामिल है। राज्य का यह पहला काम है।

कुछ लेखक इन कार्यों को अनुत्पादक कार्य कहते हैं। परन्तु यह दृष्टिकोण ठीक नही है। इसमे कोई शक नही कि सकुचित आर्थिक दृष्टि से देखने हुए इस प्रकार के कार्यों का कोई भौतिक या प्रत्यक्ष लाभ नही होता, फिर भी विस्तृत दृष्टि से और अप्रत्यक्षत रक्षा-विषयक कार्य उत्पादक कहा जा सकता है। जब तक कोई देश बाहरी आक्रमण से सुरक्षित नही रखा जाता, उस समय तक वहाँ कोई उत्पादन-कार्य नही किया जा सकता।

(ii) प्रशासनीय कार्य (Administrative Functions)—सेना और पुलिस रखने के अतिरिक्त, जिन्हें देश की प्रतिरक्षा के लिए रखा जाता है हर एक सरकार बहुत से ऐसे प्रशासन कर्मचारियो और संस्थाओं का प्रबन्ध करती है, जिनका काम शासन के विभिन्न विभागों का प्रबन्ध करना होता है। प्रशासन-कार्यों का सम्बन्ध सरकार के नित्य-प्रति के कार्यों के करने से है।

(iii) सामाजिक कार्य (Social Functions)—इस वर्ग म आम तौर पर वे कार्य है जैसे गरीबो, रोगियों और बेकारो की सहायता का प्रबन्ध, सामाजिक बीमा, जिसमें कि आरोग्य और बेकारो का बीमा शामिल है, और वृद्धावस्था की पेंशनें, जो वर्तमान काल मे सभी सभ्य सरकारो के आवश्यक कार्य समझे जाते हैं। ससार के उन्नतिशील देशो में आजकल ऐसी बडी बडी और ऊँची योजनाएँ बनाई जा रही है, जिनका लक्ष्य जनता से अभाव और भय को एक दम हटा देना है। इन सब बातो के अतिरिक्त आजकल की सरकारें अजायबघर, सार्वजनिक उद्यान, पुस्तकालय, शिक्षा, चिकित्सा और मकानो का भी प्रबन्ध करती हैं और इनको अपना कर्तव्य समझती हैं।

सकुचित दृष्टि से इन कार्यों से कोई आर्थिक लाभ नही होता, परन्तु विस्तृत दृष्टि से ये कार्य अति लाभदायक समझे जाते हैं। इनसे राष्ट्र के प्राकृतिक और मानवीय साधनो का उत्थान होता है।

(iv) आर्थिक और वाणिज्यिक कृत्य (Economic and Commercial Functions)—अर्थशास्त्र में हमारा ऐसे कार्यों से ही अधिक सम्बन्ध है। य सरकार के सभी व्यापारिक और औद्योगिक कार्यों से सम्बन्धित हैं। इनमें "व्यापार को सुविधाएँ देना, उत्साहित करना और उस पर नियन्त्रण करना" शामिल है।[1]

अब हमें यह देखना चाहिए कि राज्य का हस्तक्षेप कब उचित है, और वह किस रूप म सामने आना चाहिए।

1 Thomas, S E —Elements of Economics, 1936, p 616

४ राज्य द्वारा हस्तक्षेप (Sphere of State Intervention)—आर्थिक क्षेत्र में राज्य का हस्तक्षेप निम्नलिखित दशाओं में उचित है[1] :—

(i) जब व्यापार एकाधिकार-प्रकृति का हो (When the Business is of Monopolistic Nature)—एकाधिकार के होने पर उपभोक्ताओं के एकाधिकारी द्वारा शोषण किए जाने की सम्भावना और भी बढ़ जाती है। उस समय राज्य का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह एकाधिकारी शक्ति के दुरुपयोग को रोके और शोषण को बन्द करे। ऐसे समय में शासन के लिए एकाधिकारी के कार्य पर नियन्त्रण करना आवश्यक हो सकता है, यहाँ तक कि शासन को एकाधिकार वस्तु की कीमत को भी निश्चित कर देना चाहिए।

(ii) जब निजी उद्यम का कोई आकर्षण नहीं होगा (When Private Enterprise would not be Attracted)—यह अधिकतर उस समय होता है, जब कि विनियोजन पर लाभ की कोई आशा नहीं होती, जैसे स्कूल, अस्पताल और सड़कें। इस प्रकार के उद्योगों से अधिक लाभांश नहीं मिल सकता, इसलिए उनको चलाने के लिए समाज को मिलकर काम करना पड़ता है। सरकार को उस अवस्था में भी दखल देना चाहिए, जब व्यक्तिगत उद्योग आगे न बढ़ता हो, क्योंकि उसको वर्तमान पीढ़ी में लाभ नजर नहीं आता। उदाहरणार्थ, जंगलों के लगाने की योजनाएँ, भूमि कटाव बन्द करने की योजनाएँ आदि।

(iii) जबकि आर्थिक रूप से कमजोर व्यक्तियों की रक्षा की आवश्यकता हो (Where the Economically Weak Require Protection)—कारखानों के मजदूर बहुत ही शोचनीय दशा में हैं और उनकी शक्तिशाली सचालकों से वैधिक रक्षा करनी ही होगी। ऐसी दशा खासतौर पर पसीने की कमाई या पसीने के धन्धों में पाई जाती है।

(iv) सामाजिक एकाधिकार या सार्वजनिक उपयोगिता की सेवाएँ (Social Monopolies or Public Utility Services)—साधारणत रेलवे, डाक तथा तार, जल, विद्युत् या गैस वितरण आदि लोकोपयोगी कार्यों की सूची में आते हैं। ऐसी अवस्थाओं में यह स्पष्ट है कि प्रतियोगी संस्थाओं का सेवाओं की पूर्ति करना अमितव्ययी तथा अवांछनीय है। लगातार और सस्ती सेवाओं के बनाए रखने के लिए ऐसी सेवाओं पर नगरपालिका या शासन का नियन्त्रण होना आवश्यक है। इसलिए यह शासन के हस्तक्षेप करने का उचित क्षेत्र है।

(v) जहाँ उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा की जरूरत हो (Where the Consumers' Interests need Protection)—साधारण उपभोक्ता से किसी वस्तु की क्वालिटी या शुद्धता के बारे में ठीक निर्णय पर पहुँचने की आशा नहीं की जा सकती। इस प्रकार वह इस स्थिति में नहीं होता कि अपने हितों की रक्षा कर सके। सरकार को उसकी सहायता के लिए आगे बढ़ना चाहिए।

(vi) जहाँ कि राज्य प्रबन्ध और नियन्त्रण के लिए राजनीतिक या सामाजिक और आर्थिक दृष्टिकोण से आज्ञा दी जाती है (Where State Management

1 Ibid, p 605

and Control are Dictated by Political or Social as well as Economic Considerations)—इसके उदाहरण स्पष्ट हैं : मुद्राचलन की पूर्ति तथा अस्त्र-शस्त्रों का उत्पादन। अब यह माना जाता है कि कागजी मुद्रा का निजी संस्थाओं द्वारा निकाला जाना सम्पूर्ण समाज के लिए बहुत खतरनाक हो सकता है। आर्थिक यन्त्र को अव्यवस्थित न होने देने के लिए मुद्रा-चलन का राज्य द्वारा नियन्त्रण और नियमन बहुत ही आवश्यक है। इसी प्रकार शस्त्रों का निर्माण और विक्रय निजी उद्यम को नही सौंपा जा सकता, क्योंकि उस दशा मे शान्ति भंग होने का भय रहेगा।

५ व्यवसाय में राज्य-हस्तक्षेप (State Intervention in Business)—अब हमें यह देखना चाहिए कि राज्य की गतिविधि किस प्रकार से देश म व्यापार और व्यवसाय को सहायता पहुँचाती है। विस्तृत रूप मे हम व्यापार और व्यवसाय को सहायता पहुँचाने वाले राज्य कार्यों को निम्नलिखित भागों म विभाजित कर सकते हैं—

(i) व्यापार को सुविधाएँ देना (Facilitating Business)—सरकार व्यापारियो को अनेक प्रकार की सुविधाएँ देती है, जिनके बगैर उनको लगभग अपना काम चलाना मुश्किल हो जाए। उनम से खास य हैं—मुद्रा-चलन की व्यवस्था करना, संचार और परिवहन के साधनो की व्यवस्था करना, नाप और तौल, मापो और बाटों को निर्धारित करना, व्यापारिक कानूनों का बनाना आदि। इस तरह की सब सुविधाओं के कारण व्यापार और व्यवसाय का चलना आसान हो जाता है।

(ii) व्यवसाय को प्रोत्साहन देना (Encouraging Business)—आधुनिक समय म ऊपर बतलायी हुई सुविधाएँ मुश्किल से पर्याप्त समझी जाती हैं। राज्य के इस प्रकार के उपेक्षित व्यवहार से देश की उतनी मात्रा म उन्नति होने की आशा नही की जा सकती जितनी कि वह कर सकता है। इसलिए ऐसा अनुभव किया जाता है कि सरकार को अवश्य ही देश म औद्योगिक और आर्थिक कार्यों को तीव्रता से प्रोत्साहन देना चाहिए। वह प्रोत्साहन अनेक रूपो म दिया जा सकता है। एक उचित राजकोषीय नीति देश को बहुत कुछ व्यावसायिक दृष्टि से समृद्धिशाली बना सकती है। घरेलू व्यवसाय विदेशी प्रतियोगिता से आयात-कर लगाकर रक्षित किए जा सकते हैं या विदेशी आयात, कोटा प्रणाली द्वारा, जिससे विदेशी प्रतियोगिता सीमित हो, नियमित किया जा सकता है। किसी उद्योग को सरकारी सहायता या आर्थिक सहायता देकर सरकार उसको प्रत्यक्ष रूप से प्रोत्साहन दे सकती है। द्विमुखी या बहुमुखी व्यापार-सम्बन्धी करार देश के वाणिज्य के हितो के लिए किए जा सकते हैं।

(iii) व्यापार का नियमन (Regulating Business)—देश मे व्यापारिक क्रियाशीलता का नियमन करने के लिए और उद्यमी की आवश्यक और असामाजिक प्रवृत्तियों को नष्ट करने के लिए राज्य का हस्तक्षेप और भी आवश्यक है। भूतकाल मे अनियमित और अनियन्त्रित प्रतियोगिता से ऐसी सामाजिक बुराइयाँ पैदा हुई, जो सामाजिक चेतना पर गहरा आघात करने के लिए पर्याप्त थी। औद्योगिक क्रान्ति की आदि अवस्था म कारखानो के मालिकों के लालच और स्वार्थ-साधन के परिणाम-स्वरूप श्रमजीवियो पर बहुत अत्याचार हुआ। व्यक्तियों की आर्थिक क्रियाओं पर

राज्य-नियमन रखने की आवश्यकता को देख राजनीतिज्ञ जैसे जाग उठे। कारखानों के लिए नियम बनाए गए। कानून मे रेलो और जहाजो के मज़दूरो की सुरक्षा के लिए व्यवस्था है। दुर्घटना होने पर मुआवजा दिया जाता है और सभी उन्नत देशों में सामाजिक बीमे की योजनाएँ कार्य कर रही हैं। न्यूनतम मज़दूरी निर्धारित कर दी गई है। लोकोपयोगी सेवाओं का दृढता से नियमन करके उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा की गई है।

(iv) नियन्त्रण (Control)—कुछ राज्यों को केवल व्यापार को सुविधाएँ देने से, प्रोत्साहन देने से और इनके नियमन करने मे ही सन्तोष नहीं होता। वे आग बढते हैं और देशवासियो के आर्थिक जीवन पर एक नियन्त्रण रखने लगते हैं। शान्ति के समय इटली और जर्मनी जैसे फासिस्ट देशो म राज्य नियन्त्रण एक दूर सीमा तक पहुँच गया था। उस समय वहाँ पर उत्पादन और उपभोग, दोनो पर कठोर नियन्त्रण था। जन-साधारण अब आर्थिक नियन्त्रणों की कार्य प्रणाली से भली-भाँति परिचित हो गए हैं। यद्यपि युद्ध का अन्त हो गया है तथापि नियन्त्रणों का अस्तित्व जारी है। विनिमय पर नियन्त्रण है आयात और निर्यात पर नियन्त्रण है, कीमतों तथा पूंजी व व्यय पर नियन्त्रण है आदि। जब राष्ट्र सकट-काल से निकल रहा हो या जब राज्य नियोजित विकास कार्य म लगा हो तो ऐसे नियन्त्रण आवश्यक हो जाते हैं।

(v) राज्य स्वामित्व (State Ownership)—हस्तक्षेप का अधिकतम उग्र रूप, जो कि राज्य धारण करता है, वह है उद्योग के निजी स्वामित्व का अन्त करना। इगलैंड के बैंक का राष्ट्रीयकरण किया जा चुका है। भारत म रिजर्व बैंक तथा स्टेट बैंक ऑफ इंडिया का भी राष्ट्रीयकरण हो चुका है। कुछ स्थितियो में ऐसा समझा जाता है कि राष्ट्र के सम्पूर्ण हितों की सब से अच्छी रक्षा उस समय हो सकती है, जब निजी व्यवसायो को हटा दिया जाए। समाज लाभ को कुछ आर्थिक कार्यों से इस प्रकार लेना चाहता है कि वह व्यक्ति विशेष को धनी न बनाकर इस प्रकार से वितरित किया जाए कि उससे साधारण समाज का हित हो। आजकल समूहवाद या राष्ट्रीयकरण की ओर तीव्र झुकाव है। निजी उद्यम के किले के मध्य म ही निरकुश पूंजीवाद की इमारत टुकड टुकड होकर गिरती हुई दिखलाई देती है।

निर्देश पुस्तकें

Lanley Government Control of Economic Life
Chase, S Government in Business
Dalton, H Public Finance
Pigou, A C Public Control of Industry
Findlay Shirras Public Finance

अध्याय ४४

सार्वजनिक वित्त

(Public Finance)

१. सार्वजनिक वित्त तथा उसका महत्त्व (Public Finance and its Importance)—"द्रव्य से ही गाड़ी चलती है", यह बहुत साधारण कहावत है। प्रत्येक व्यक्ति उन सब कार्यों म, जिन्हें वह करता है, द्रव्य की आवश्यकता को अनुभव करता है। यदि व्यक्ति के लिए द्रव्य का महत्त्व बडा है तो सरकार के लिए द्रव्य का महत्त्व तो और भी अधिक है। *पिछले अध्याय में हम उन अनेक कार्यों का अध्ययन* कर चुके हैं, जिन के बारे मे हम आशा करते हैं कि आधुनिक सरकार को उन्हें करना चाहिए। यह स्पष्ट है कि इन कार्यों को सम्पन्न करने के लिए द्रव्य की आवश्यकता है। किसी भी राष्ट्र की शक्ति का सूचक उसका आय-व्ययक (budget) होता है। राष्ट्र के कार्यों की सीमा तथा उसकी कार्यक्षमता मुख्यत उसके कोष की शक्ति पर निर्भर करती है।

एक अर्थशास्त्री के लिए, जो मुख्यत मानव-कल्याण की उन्नति का अध्ययन करता है, वास्तव म सार्वजनिक वित्त के अध्ययन का महत्त्व बहुत बडा है।

सार्वजनिक वित्त के विज्ञान का सही अर्थ हम क्या समझते हैं तथा इसका क्षेत्र और विषय क्या है ? इसके अन्तर्गत हम इस बात का अध्ययन करते हैं कि *सरकारें राजस्व कैसे प्राप्त करती हैं और वह उसको किस प्रकार खर्च करती हैं ?* आर्मिटेज स्मिथ (Armitage Smith) के शब्दों म, "राजकीय व्यय और राजकीय आय के स्वभाव व सिद्धान्तो की जाँच को सार्वजनिक वित्त कहा जाता है।"[1]

किन्तु सार्वजनिक वित्त का विज्ञान, जैसे कि आजकल समझा जाता है, केवल राजकीय व्यय व राजकीय आय से ही सम्बन्धित नही है। इसका क्षेत्र बहुत व्यापक है। इस म आर्थिक प्रशासन भी सम्मिलित है।

बेस्टेबल (Bastable) के शब्दो मे, "सार्वजनिक वित्त राष्ट्र के राजकीय अधिकारियों के आय-व्यय, उनके पारस्परिक सम्पर्क तथा आर्थिक प्रशासन व नियंत्रण मे सम्बन्ध रखता है।"

अस्तु, व्यापक दृष्टि से राजकीय वित्त-व्यवस्था या वित्त विज्ञान के अध्ययन को निम्नलिखित मुख्य भागो में विभाजित किया जा सकता है—

(क) सार्वजनिक व्यय का वर्गीकरण तथा उसके सिद्धान्त,

(ख) सार्वजनिक राजस्व प्राप्त करने की प्रणालियाँ तथा कर लगाने के सिद्धान्त,

1 Armitage Smith Principles and Methods of Taxation, 1935, p 14

(ग) वित्तीय प्रशासन—जिसमें आय-व्ययक का प्रस्तुत करना, उसकी स्वीकृति, जाँच आदि शामिल हैं, और

(घ) लोक ऋण—लोक ऋण लेने के साधनों व सिद्धान्तों का अध्ययन,

२ सार्वजनिक एवं निजी वित्त का अन्तर (Distinction between Public Finance and Private Finance)[1]—सार्वजनिक वित्त का अध्ययन करने के पूर्व इसका अध्ययन कर लेना उचित होगा कि सरकारी वित्त एवं वैयक्तिक वित्त में क्या अन्तर है। इससे हमको यह समझने में आसानी होगी कि सरकार की तथा व्यक्ति की सार्वजनिक वित्त के सम्बन्ध में क्या नीति है और क्या उद्देश्य है।

(i) आय व्यय का समायोजन (Adjustment of Income and Expenditure)—यह एक प्रसिद्ध कहावत है कि 'उतना पैर पसारिये जितनी चादर होय।" लोगों को प्राय यही उपदेश दिया जाता है, किन्तु सरकार पहले चादर की लम्बाई चौड़ाई निश्चित करती है और उसके बाद उसके लिए आवश्यक कपड़े का प्रबन्ध करती है। दूसरे शब्दों में एक व्यक्ति को अपनी आय की सीमा के अन्दर रहना अर्थात आय के अनुसार व्यय करना आवश्यक होता है। किन्तु सरकार पहले व्यय का अनुमान लगाती है उसके पश्चात उतना धन प्राप्त करने के उपाय एवं मार्ग निकालती है।

(ii) समय की अवधि (Period of Time)—लोक अधिकारियों के लिए, आय व्ययक के लिए समय की अवधि एक वर्ष होती है। परन्तु व्यक्ति उस एक वर्ष की अवधि को कोई विशेष महत्व नहीं देता। उसे किसी निश्चित तारीख को या निश्चित अवधि के अन्दर अपना आय-व्ययक सन्तुलित करने की आवश्यकता नहीं होती

(iii) व्यक्ति कोई आन्तरिक ऋण नहीं ले सकता (No Internal Borrowing for an Individual)—सरकार तथा व्यक्ति के अपने साधनों में भी अन्तर होता है। जब कठिनाई उपस्थित होती है तो सरकार देश व विदेशों से ऋण ले सकती है अर्थात् वह आन्तरिक या बाह्य ऋण ले सकती है, लेकिन व्यक्ति केवल बाह्य ऋण ही ले सकता है आन्तरिक नहीं।

(iv) सरकार के लिए मुद्रा प्रसार—एक विशेष सुविधा (Inflation, a Peculiar Privilege of the Government)—सरकार के लिए आय का एक दूसरा स्रोत भी खुला रहता है। वह मुद्रण-यन्त्र का आश्रय ले सकती है। युद्ध में मित्र राष्ट्रों की सरकारों ने, कम या अधिक, युद्ध के भारी व्यय की पूर्ति के लिए नोट छाप थे। सन् १९१४-१९१८ के युद्ध में जर्मनी ने तो नोटों के अत्यधिक प्रसार से अपने को नष्ट ही कर लिया। जब सरकारें यह अनुभव करती हैं कि राष्ट्र की कर लगाने की सामर्थ्य पर अधिक भार हो गया है और जनता का विश्वास समाप्त हो रहा है तब वे इस 'गुप्त-शक्ति" का प्रयोग कर सकती हैं और इस जादू के डंडे को चलाकर रुपया बना सकती हैं। व्यक्ति ऐसा नहीं कर सकता।

[1] For a fuller discussion see Findlay Shirras Principles of Public Finance, 1936, Vol I, Ch IV

(v) सीमान्त उपयोगिताओं का समीकरण (Equalising Marginal Utilities)—हम यह देख चुके हैं कि सम-सीमान्त उपयोगिता के सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यय को ऐसा व्यवस्थित करना चाहता है कि वह व्यय की गई मुद्रा की प्रत्येक इकाई से वही सीमान्त उपयोगिता पाता रहे। इस उद्देश्य से वह सतर्कतापूर्वक विभिन्न वस्तुओं के खरीदने की उपयोगिताओं पर विचार कर लेता है। किन्तु जब सरकार धन को व्यय करती है तो उसके लिए इस प्रकार सतर्कतापूर्वक विचार करना सम्भव नहीं है, क्योंकि उपयोगिता निराकार है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि सार्वजनिक व्यय अविवेकपूर्ण होता है।

(vi) सार्वजनिक वित्त में सोच-विचार कर भारी परिवर्तन करना आसान है (Deliberate and Big Changes in Public Finance are Easier)—किसी व्यक्ति के लिए आय अथवा व्यय में बड़े परिवर्तन लाना आसान नहीं होता। प्रत्येक व्यक्ति अपनी आय को बढ़ाना या दुगुना करना चाहता है। लेकिन ऐसा कितने लोग कर सकते हैं? इसी प्रकार व्यक्ति रहन सहन के एक निश्चित स्तर का आदी हो जाता है जिसमें आसानी से परिवर्तन व समायोजन नहीं हो पाता। लेकिन सरकार सार्वजनिक आय व व्यय की योजना में अच्छी तरह बड़े व मौलिक परिवर्तन कर सकने में समर्थ है। यदि एक समाजवादी दल के हाथ में सत्ता आ जाए तो वह निश्चित ही सार्वजनिक आय और व्यय दोनों में क्रान्तिकारी परिवर्तन कर सकता है। निजी वित्त प्रबन्ध में इस लोच का अभाव है।

(vii) भविष्य के लिए व्यवस्था (Provision for the Future)—भविष्य के लिए व्यवस्था करने के मामले में सरकार बहुत अधिक उदार और दूरदर्शी होती है। जंगलात सम्बन्धी, निर्माण कार्य व सामाजिक सुरक्षा आदि से सम्बन्धित योजनाओं पर सरकार भारी रकम खर्च करती है, जिनके बदले में उसको कुछ धन का लाभ नहीं होता यदि होता भी है तो पीढ़ियों बाद। इसके विपरीत व्यक्ति शीघ्र लाभ प्राप्त करने को उत्सुक रहता है। मानव-जीवन इतना अनिश्चित होता है कि कुछ व्यक्ति भविष्य की विशेष चिन्ता नहीं करते। परन्तु समाज व्यक्तियों के आवागमन के बाद भी जीवित रहता है। वह हमेशा स्थायी रहता है। इसलिए राज्य भविष्य के लिए ठोस व्यवस्था करने को बाध्य होते हैं।

(viii) आधिक्य का आय-व्ययक व्यक्ति के लिए एक गुण है परन्तु राज्य के लिए नहीं (Surplus Budgeting is a Virtue for an Individual but not for the State)—मितव्ययी व्यक्ति को अपनी आय से कम व्यय करना ही चाहिए। उसका आधिक्य आय-व्ययक होना चाहिए। व्यक्ति के लिए यह स्वाभाविक है, किन्तु राज्य के लिए नहीं। घाटे के बजट निस्सन्देह बुरे हैं और अस्थिर वित्त-व्यवस्था का संकेत करते हैं। परन्तु कुछ भी हो, आधिक्य का आय व्ययक होना वास्तव में कोई गुण नहीं है। इसका अर्थ यह हो सकता है कि करों का स्तर अनावश्यक रूप से ऊँचा रखा गया है और राजकीय व्यय अनुचित रूप से कम रखा गया है। कल्याण सम्बन्धी या राष्ट्रनिर्माण-सम्बन्धी जैसे कुछ विभागों को पोषण रहित रहना पड़ सकता है। सदैव आधिक्य के आय व्ययक को ही रखना अच्छी वित्त-

व्यवस्था नही है। यदि प्रतिवर्ष बडी तादाद म आधिक्य आय हो तो कर-दाताओ को कुछ छूट देना या सामाजिक व्यय के स्तर म वृद्धि करना अधिक उत्तम होगा।

(ix) व्यक्तिगत वित्त-प्रबन्ध रहस्य में छिपा है (Individual Finance is Shrouded in Mystery)—व्यक्तिगत वित्त प्रबन्ध गुप्त होता है। प्रत्येक धनवान व्यक्ति दूसरो की बुरी नजर बचाता है। व्यक्तिगत साख इस बात पर आश्रित नही होती कि उसके पास कितना धन है वरन् वह साख इस पर निर्भर रहती है कि उसे कितना धनवान माना जाता है। वह लोगो को अनुमानो मे भटकने देता है। वह अपनी आर्थिक स्थिति के विषय म लोगो के सामने अस्पष्ट तथा बढा हुआ चित्र रखने का प्रयत्न करता है। किन्तु इसके विपरीत सार्वजनिक वित्त का सार प्रचार है। आय-व्ययक प्रकाशित होते हैं और इनका अधिकतम प्रचार किया जाता है। प्रचार सावजनिक साख को कमजोर नही बल्कि शक्तिशाली बनाता है।

यही वे तथ्य हैं जिनके द्वारा सार्वजनिक तथा व्यक्तिगत वित्त-प्रबन्ध के बीच का अन्तर जाना जाता है और जो व्यक्तिगत वित्त प्रबन्ध से राजकीय वित्त-प्रबन्ध को भिन्न रखते हैं।

३ सावजनिक व्यय (Public Expenditure)—सार्वजनिक वित्त के सार्वजनिक आय व सावजनिक व्यय नामक जो दो अग हैं, उनम से पहले हम सार्वजनिक व्यय का अध्ययन करेंगे। १६वी शताब्दी म सार्वजनिक वित्त के लेखको द्वारा सावजनिक वित्त के इस विभाग पर कम ध्यान दिया गया। केवल सार्वजनिक आय पर ही अधिकाधिक ध्यान दिया गया। वर्तमान शताब्दी म ही यह अनुभव किया गया कि सार्वजनिक व्यय जनहित मे उससे अधिक महत्वपूर्ण है। सभवत, पहले सार्वजनिक व्यय की उपेक्षा किए जाने का मुख्य कारण यह प्रतीत होता है कि उस समय सार्वजनिक व्यय की रकम बहुत थोडी थी, क्योकि सरकारी कार्य के क्षेत्र सीमित थे। किन्तु अब सरकारी काय के क्षेत्र बहुत बढ गए हैं।

(i) क्षेत्र व जनसख्या में वृद्धि (Increase in Area and Population)—सर्वप्रथम सार्वजनिक व्यय म वृद्धि का कारण यह है कि राष्ट्रो की सीमा में व्यापक प्रसार हो गया है। 'अराजक क्षेत्रो" म भी सगठित शासन होने लगा है। साथ-साथ जहाँ क्षेत्र म वृद्धि नही हुई, वहाँ जनसख्या काफी मात्रा म बढ गई है। इसलिए सरकारो को उन जगहो के करोडा अतिरिक्त लोगो की आवश्यकताओं का प्रबन्ध करना पडता है जो कि विस्तृत क्षेत्रो म फैले हुए हैं।

(ii) उच्च कीमत स्तर (The High Price Level)—सार्वजनिक व्यय के अधिकाधिक बढते जाने का दूसरा कारण उच्चतर कीमत स्तर है। जिन्होने भारत के पुराने 'अच्छे दिन' देखे हैं या उनके विषय म सुना है, उनका कथन है कि एक समय वह था, जब घी रुपये का चार सेर बिकता था, जबकि आज उसका भाव रुपये म चार छटाँक भी नही है। अन्य वस्तुओ की कीमतो म भी इसी प्रकार वृद्धि हुई है। अत व्यक्ति के समान सरकारो को भी इन वस्तुओ और सेवाओ की खरीद के लिए अधिक धन का प्रबन्ध करना पडा।

(iii) राष्ट्रीय धन व रहन-सहन के उच्चतर स्तर में वृद्धि (Increase in

National Wealth and the Higher Standard of Living)—हर देश म कृषि, व्यापार व उद्योग में निरन्तर विकास हुआ है, यद्यपि भारत जैसे कुछ देशो मे इसकी गति दु खद रूप से धीमी रही है। प्रति व्यक्ति की आय म काफी वृद्धि हुई है और उसके फलस्वरूप जीवन-स्तर म सुधार हुआ है। साथ-साथ सार्वजनिक राजस्व (public revenue) तथा सार्वजनिक व्यय (public expenditure) म भी विकास हुआ है।

(iv) युद्ध व युद्ध निवारण (War and Prevention of War)— हम हानि उठाकर यह जान चुके हैं कि आधुनिक युद्ध कितना खर्चीला है। गत युद्ध म इगलैंड १५० लाख पौंड दैनिक खर्च कर रहा था। आज, जब कि युद्ध चल भी नहीं रहा है, तब भी उसकी तैयारी या उसे रोकने के उपायो पर भारी रकम खर्च की जा रही है। सार्वजनिक व्यय को बढाने के लिए जिम्मेदार कारणो में से युद्ध मुख्य रहा है।

(v) दोषपूर्ण वित्त व्यवस्था व नागरिक प्रशासन (Defective Financial and Civil Administration)— नागरिक प्रशासन के कारण सावजनिक व्यय म कोई कम वृद्धि नही हुई। सरकारी सस्थाओ का दोहराव तथा उनका अनावश्यक गुणन हो जाना साधारण बात है। साधनो एव कार्यो के दोषपूर्ण निर्धारण से भी अधिक व्यय होता है। सावजनिक व्यय पर ढीला नियन्त्रण होने से भी व्यय के अक अनावश्यक रूप म ऊँचे हो जाते हैं।

(vi) प्रजातन्त्र का भार (Incidence of Democracy)—प्रजातन्त्र राज्य म कई राजनीतिक दल होते हैं और उनम से प्रत्यक जनता का समथन प्राप्त करने को उत्सुक रहता है। इन दलो के समर्थक सावजनिक निधि से लाभ व सुविधाओ के लिए निरन्तर जोर देते रहते हैं। देश के हर कोने तथा हर वर्ग की ओर से अधिकाधिक सुविधा, शिक्षा, चिकित्सा सहायता, सडक आदि के लिए आवाज उठाई जाती है। मन्त्रियो से जनता के लिए जिले जिले म कालेज आदि खोलने की माँग की जाती है। अस्तु प्रजातन्त्री शक्तियो के द्वारा सरकारो पर कार्यो का बोझ बढता जाता है। "सार्वजनिक कार्यो म वृद्धि" के वैगनर के सिद्धान्त के अनुसार सावजनिक कार्यो में गहन व विस्तृत दोनो रूपो म वृद्धि हुई है। पुराने कार्यों को और अच्छे ढग से सम्पादित किया जा रहा है तथा अनेक नए कार्य हाथ म लिय जा रहे हैं।

४ सार्वजनिक व्यय के सिद्धान्त (Principles of Public Expenditure)—जिस प्रकार कर लगाने के सुविदित नियम हैं, ठीक उसी प्रकार कुछ ऐसे नियमो को बना लेना सम्भव है जिनके अनुरूप मितव्ययी सार्वजनिक व्यय हो। ये निम्नलिखित हैं—

(i) अधिकतम सामाजिक हित (The Maximum Social Benefit)—सार्वजनिक व्यय के लिए "अधिकतम सामाजिक हित" के मूल आधार की पूर्ति करना आवश्यक है। सरकार द्वारा खर्च किए गए हर रुपए का उद्देश्य समाज को अधिकतम हित पहुँचाना होना चाहिए। इस बात पर विशेष ध्यान देना चाहिए कि सार्वजनिक निधि का प्रयोग समाज के किसी गुट या विशेष वर्ग के हित में न हो। हमारा ध्येय

समाज का सामान्य कल्याण होना चाहिए। सरकार जनता की भलाई के लिए होती है। इसलिए पूरे समाज के हित में सार्वजनिक व्यय होना न्यायपूर्ण है।

(ii) मितव्ययिता (Economy)—यद्यपि सार्वजनिक व्यय का उद्देश्य सामाजिक कल्याण को अधिकतम करना है तथापि इससे सरकार के अपने व्यय में अधिकतम मितव्ययिता करने में रुकावट नहीं आती। मितव्ययिता का अर्थ कृपणता नहीं है। इसका अर्थ केवल अपव्यय और क्षय को रोकना है। सार्वजनिक व्यय सार्वजनिक हित के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है, परन्तु यह हानिकारक भी हो सकता है।

किफायत करने के लिए यह जरूरी है कि अधिकारी दोहरे खर्च से बचने का पूरा-पूरा यत्न करें। सार्वजनिक व्यय का बचत पर विपरीत प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए। यदि सरकारी कार्यविधि व्यक्ति की बचत करने की इच्छा या शक्ति को नष्ट कर देती है तो यह मितव्ययिता नियम के विपरीत होगी।

(iii) स्वीकृति नियम (The Canon of Sanction)—सार्वजनिक व्यय का एक अन्य मुख्य सिद्धान्त यह है कि वास्तविक रूप में इस व्यय को करने के पूर्व इसकी ठीक अधिकारी द्वारा स्वीकृति ले ली जाए। अस्वीकृत खर्च करने से अपव्यय व अति-व्यय होगा। इसका अर्थ यह भी है कि किसी भी रकम को उसी उद्देश्य पर खर्च किया जाना चाहिए जिसके लिए वह स्वीकृत हुई हो। स्वीकृति नियम से सम्बन्धित एक दूसरा नियम लेखा परीक्षण का है। सार्वजनिक व्यय के लिए उसकी पूर्व स्वीकृति ही अनिवार्य नहीं है बल्कि व्यय के बाद उसकी परीक्षा भी उतनी ही आवश्यक है। सभी सार्वजनिक खातों के विषय में प्रतिवर्ष इस बात की जाँच होनी चाहिए कि रकमों को अनुचित ढंग से तो खर्च नहीं किया गया।

(iv) आधिक्य नियम (The Canon of Surplus)—वैयक्तिक वित्त व्यवस्था के समान ही सार्वजनिक वित्त की यह सुदृढ़ प्रणाली है कि बजट को सन्तुलित रखने व आय-व्यय में सामंजस्य लाने का प्रयास करते रहना चाहिए। प्रतिवर्ष बड़े परिमाण में आधिक्य प्राप्त करना आवश्यक नहीं है। ऐसा भी आय व्ययक अच्छा नहीं होगा। परन्तु निरन्तर घाटे से बचने की जरूरत है। यदि किसी देश को अपनी प्रय-साख रखनी है और स्थायित्व को नष्ट नहीं होने देना है, तो उसको अपने आय-व्ययक में उचित सन्तुलन रखना ही चाहिए।

(v) लोच नियम (The Canon of Elasticity)—सार्वजनिक व्यय का एक और सिद्धान्त यह भी है कि इसको उचित रूप में लोचदार होना चाहिए। सार्वजनिक अधिकारियों के लिए आवश्यकता व परिस्थितियों के अनुसार व्यय में भिन्नता लाना सम्भव होना चाहिए। व्यय का कठोर स्तर आपत्तिकाल में कष्टदायक हो सकता है। व्यय के स्तर में वृद्धि कर देना आसान है। किन्तु लचीलेपन की आवश्यकता व्यय को घटाने की दिशा में सबसे अधिक होती है। मितव्ययिता की कुल्हाड़ी का प्रयोग करना वेदनाप्रद तरीका है। व्यापक स्तर में छँटनी से गम्भीर सामाजिक असन्तोष उत्पन्न होता है। इसलिए यदि सार्वजनिक व्यय को बढ़ाना है तो उसे धीरे-धीरे बढ़ाना बहुत आवश्यक है। थोड़े समय के लिए यदि समृद्धि आ जाए तो उसके साथ ही दीर्घकालीन व्यय निर्धारण न करना चाहिए। आरम्भ में जब गिरावट आ

रही हो तब यदि आर्थिक आपात से बचना है तो सार्वजनिक व्यय का उचित मात्रा में लचीला होना अत्यन्त आवश्यक है।

(vi) उत्पादन व वितरण पर बुरा प्रभाव न हो (No Adverse Influence on Production or Distribution)—इस पर भी ध्यान रखना आवश्यक है कि धन के उत्पादन व वितरण पर सार्वजनिक व्यय का अच्छा प्रभाव बना रहे। उसे उत्पादन सम्बन्धी कार्य को इतना प्रोत्साहन देना चाहिए कि देश का उत्पादन स्तर बढ जाए और इससे जनता के जीवन के स्तर को ऊंचा करना भी सम्भव हो सके। लेकिन इस उद्देश्य की पूर्ति केवल तभी सम्भव है, जब कि धन का समान वितरण हो। यदि नव-उत्पादित धन केवल उनके ही पास जाता है जिनके पास पहले से ही धन है तो इस उद्देश्य की पूर्ति नही होती। सार्वजनिक व्यय का लक्ष्य धन के वितरण की असमानता को कम करना होना चाहिए।

५ राजकीय व्यय का वर्गीकरण (Classification of Public Expenditure)[1]—ऐसे कई आधार है जिन पर राजकीय व्यय का वर्गीकरण हो सकता है। हम आगे कुछ प्रसिद्ध वर्गीकरण दे रहे हैं—

सार्वजनिक अधिकारियो के प्रादेशिक कार्यों के आधार पर हम एक वर्गीकरण कर सकते हैं। इस आधार पर सार्वजनिक व्यय के निम्नलिखित वर्ग किए जा सकते है—

(i) केन्द्रीय सरकार से सम्बन्धित केन्द्रीय या राष्ट्रीय व्यय (Central or National Expenditure)—जैसे भारत सरकार का व्यय।

(ii) स्थानीय व्यय (Local Expenditure)—स्थानीय सस्थाओं, जैसे कारपोरेशन नगरपालिकाएँ तथा जिला बोर्ड समितियो के व्यय और

(iii) अर्द्धराष्ट्रीय व्यय (Semi national Expenditure)—इस वर्ग म भारत तथा अमरीका की राज्य सरकारो का व्यय आएगा।

एडम्स (Adams) ने सार्वजनिक व्यय को इस प्रकार विभाजित किया है—

(i) सरक्षण व्यय (Protective Expenditure)—जैसे सेना, पुलिस आदि पर होने वाला व्यय।

(ii) व्यावसायिक व्यय (Commercial Expenditure)—व्यवसाय के नियन्त्रण, नियमन, प्रोत्साहन तथा सुविधा आदि देने तथा प्रत्यक्ष राज्य द्वारा व्यावसायिक उद्यम पर किया जाने वाला व्यय।

(iii) विकास सम्बन्धी व्यय (Development Expenditure)—शिक्षा, स्वास्थ्य, गृह निर्माण, विकास कार्य, श्रम सकलन आदि सम्बन्धी व्यय।

६ उत्पादन पर सार्वजनिक व्यय के प्रभाव (Effects of Public Expenditure on Production)—एक दूसरे प्रकार का सार्वजनिक व्यय भी है, जो कुछ लोगो के अनुसार अनुत्पादक है। यह व्यय युद्ध की तैयारी या उसके सचालन में

---

1 For a fuller discussion see Findlay Shirras, Principles of Public Finance, 1936, Vol 1 Ch V.

होता है। यह विश्वास पूर्ण रूप से सही नहीं है। सैनिक व्यय, यदि अधिक न किया जाए, तो वह समाज मे व्यवस्थित आर्थिक जीवन बनाकर उत्पादन में अप्रत्यक्ष रूप से सहायक होता है। वस्तुत ऐसा व्यय आवश्यकता से अधिक होता है और उसके एक बडे भाग को अनुत्पादक व्यय कहा जा सकता है। साथ ही हम यह भी स्वीकार करना पडेगा कि छोटा और सफल युद्ध कुछ आर्थिक सुविधाओं को प्राप्त कराके राष्ट्र का बहुत आर्थिक लाभ कर सकता है। इसी प्रकार आक्रमण को रोक कर सशस्त्र सेना देश को आर्थिक हानि से बचा सकती है। इसलिए सैनिक व्यय को अप्रत्यक्ष या व्यापक रूप मे उत्पादक माना जा सकता है।

सार्वजनिक व्यय का अधिकांश भाग प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप मे, उत्पादक ही होता है। प्रत्येक देश म सरकारे व्यापारिक उद्योगो का सचालन करती है, जो प्रत्यक्ष रूप मे उत्पादक है। भारत सरकार ने नहरो और रेलो के रूप म ठोस और उत्पादक सम्पत्ति बना ली है। राज्यों के उद्योग उत्पादन मे प्रत्यक्ष योगदान देते है। इसी प्रकार भूमि का सुधार करके उसे कृषि योग्य बनाने व जगल उगाने की योजनाएँ भी प्रत्यक्ष रूप म उत्पादक है।

कुछ भी हो, सार्वजनिक व्यय का बडा भाग केवल परोक्ष रूप मे उत्पादक होता है। इस सम्बन्ध म निम्नलिखित मदो पर सार्वजनिक व्यय के प्रभावो के विषय म विचार किया जा सकता है—

(क) कार्य करने तथा बचत करने की शक्ति,

(ख) कार्य करने और बचत करने की इच्छा, और

(ग) साधनो और स्रोतों को भिन्न-भिन्न जगहों और नियोजनों में लगाना।

कार्य करने व बचत करने की शक्ति (Power to Work and Save)—जहाँ तक इसका सम्बन्ध है, यह ध्यान म रखने की बात है कि आधुनिक सरकारो द्वारा किया जाने वाला सामाजिक दृष्टि से वाछनीय व्यय नि सन्देह समाज की उत्पादन शक्ति को बढाता है और इसके परिणामस्वरूप बचत करने की शक्ति को भी बढाता है। इस प्रकार के व्यय म सूचना, सचार व परिवहन के साधनों की व्यवस्था, शिक्षा, स्वास्थ्य, वैज्ञानिक एव औद्योगिक गवेषणा, मनुष्य, पशु व पौधो के रोगो पर नियन्त्रण, सामाजिक बीमा (स्वास्थ्य बीमा बेकारी बीमा, वृद्धावस्था मे पेन्शन) आदि सम्बन्धित व्यय सम्मिलित है।

कार्य करने व बचत करने की इच्छा (Will to Work and Save)—यह अधिकतर सार्वजनिक व्यय व उसको सचालित करने वाली नीति पर निर्भर करती है। यदि जनता को सार्वजनिक व्यय से भविष्य मे होने वाले लाभ की आशा दिलाई जाए तो इससे जनता की काम करने व बचत करने की इच्छा नष्ट हो सकती है। सार्वजनिक व्यय में वृद्धावस्था म पेशन देने, बेकारी व अस्वस्थता का बीमा और शिक्षा की व्यवस्था करने से जनता म भविष्य के प्रति उदासीनता आ सकती है और वह बचत करने की उपेक्षा उत्पन्न कर सकती है।

साधनो और स्रोतो का भिन्न-भिन्न जगहों व नियोजनो में लगाना—व्यय का उत्पादन पर लाभदायक प्रभाव हो सकता है। सहायता व अनुदानों द्वारा सरकार

अपने साधनों का ऐसी मदों में प्रयोग कर सकती है, जो अब तक उपेक्षित रहे हों। इसी प्रकार वह नए उद्योगों की स्थापना कर सकती है। और पिछड़े हुए क्षेत्रों पर रुपये खर्च करके सरकार देश के कुल उत्पादन को बढ़ा सकती है। बुद्धिमानी से संचालित सार्वजनिक ऋण लेने की नीति से समाज के वर्गों को पूंजी लगाने व बचत करने की प्रेरणा मिल सकती है, जो कि उत्पादन के लिए निश्चित रूप से लाभदायक है। साथ ही सरकार अपने साधनों का ऐसी मदों में प्रयोग कर सकती है, जिससे राष्ट्रीय धन की पर्याप्त वृद्धि हो सकती है।

अन्तत, हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि बुद्धिमानी से होने वाले सार्वजनिक व्यय का उत्पादन पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ता है। काम करने व बचत करने की इच्छा बढ़ाकर तथा साधनों और स्रोतों को भिन्न-भिन्न जगहों व नियोजनों में लगाकर यह परोक्ष रूप में उत्पादन में सहायता करता है। यह राज्य द्वारा चलाए जाने वाले उद्यमों से होने वाले प्रत्यक्ष उत्पादन के अलावा होता है।

७ *सार्वजनिक व्यय के वितरण पर प्रभाव* (*Effects of Public Expenditure on Distribution*)--समाज में धन के वितरण पर सार्वजनिक व्यय का बहुत अच्छा और बड़ा प्रभाव पड़ता है। यहाँ तक कि यह आय की असमानताओं को भी दूर कर सकता है। इस बात को सब मानते हैं कि राज्य-संस्थाओं द्वारा गरीबों को अमीरों से अधिक लाभ पहुँचता है। धनी व्यक्ति अपना संरक्षण स्वयं कर सकता है। वह अपनी शिक्षा तथा चिकित्सादि की व्यवस्था स्वयं कर सकता है। परन्तु एक निर्धन मनुष्य असहाय होता है। अस्तु, सार्वजनिक कार्यों से निर्धन ही अधिक लाभ प्राप्त करता है। सार्वजनिक व्यय इस सीमा तक धनी तथा निर्धन के बीच की खाई को पाटने का प्रबन्ध करता है और यही उसका लक्ष्य भी होना है।

कुछ निश्चित व्यय ऐसे हैं जिनसे गरीब का मुख्यत. हित होता है, जैसे गरीबों की सहायता, वृद्धावस्था में पेंशन, बेकारी व अस्वस्थता में सहायता आदि। इन रीतियों से गरीबों को जो लाभ होता है, उसे उनकी आय में शुद्ध योग कहा जा सकता है। जब कि हम यह जानते हैं कि धनियों पर कर लगाकर राजस्व प्राप्त किया जाता है, तब हमें इसी परिणाम पर पहुँचना होगा कि कुछ सीमा तक सार्वजनिक व्यय धन-वितरण की असमानताओं को कम करता है।

किन्तु फिर भी सार्वजनिक व्यय व उसको संचालित करने वाली नीति पर बहुत कुछ निर्भर करता है। जिस प्रकार आनुपातिक, प्रगतिशील व प्रतिगामी कर होते हैं, ठीक उसी प्रकार सार्वजनिक अनुदान भी आनुपातिक, प्रगतिशील व प्रतिगामी हो सकते हैं। यदि वास्तव में सार्वजनिक व्यय द्वारा धन के वितरण को अधिक न्यायपूर्ण बनाना है तो उसे प्रगतिशील होना ही पड़ेगा। इसे (कर के रूप में भुगतान की क्षमता के अनुरूप ही) प्राप्ति की क्षमता के अनुकूल रहना ही होगा। कर में न्यूनतम त्याग के सिद्धान्त के अनुकूल सार्वजनिक व्यय में अधिकतम लाभ का सिद्धान्त निहित है। सार्वजनिक व्यय को इस प्रकार व्यवस्थित किया जाना चाहिए कि उससे पूरे समाज को अधिकतम लाभ हो। यह मार्गदर्शक सिद्धान्त है। इस दृष्टि से हम

यह देखते हैं कि ऋण सम्बन्धी सेवाओं पर किया जाने वाला व्यय प्रतिगामी होता है क्योंकि इससे धनी लोगों की अधिक आय होती है। वृद्धावस्था म सहायता (पेंशन) तथा सामाजिक बीमा आदि के लाभों का अनुदान प्रगतिशील है। यदि सरकार गरीबों द्वारा उपभोग की जान वाली वस्तुओं के उत्पादन म सहायता देती है तो वह प्रगतिशील है अन्यथा प्रतिगामी।

हम यहा वैयक्तिक आय पर सावजनिक व्यय की प्रतिक्रिया पर भी विचार कर लेना चाहिए। यदि सावजनिक अनुदान काय करने व बचत करन की इच्छा को कम करता है तो इससे लाभ पान वालों की आय म कमी हो सकती है। यदि ऐसा है तो धन के वितरण की असमानताएँ कम नहीं की गइ।

साराश यह है कि आधुनिक युग मे सावजनिक व्यय समाज म धन के वितरण म अधिकतर समता लाता है।

अध्याय ४५

सार्वजनिक वित्त (क्रमशः)

(Public Finance – *Contd*)

सार्वजनिक राजस्व

(Public Revenue)

१ सार्वजनिक राजस्व का वर्गीकरण (Classification of Public Revenue)—पिछले अध्याय म सार्वजनिक व्यय के बारे म चर्चा की गई थी, अब हम सार्वजनिक राजस्व पर विचार करेंगे। पहले इसके वर्गीकरण को लेंगे। सार्वजनिक राजस्व का वर्गीकरण इस प्रकार है। एडम स्मिथ (Adam Smith) न सार्वजनिक राजस्व को दो भागो मे विभक्त किया है—(i) सम्पूर्ण प्रभु (sovereign) की सम्पत्ति से प्राप्त राजस्व, तथा (ii) लोगो की आय और सम्पत्ति से प्राप्त राजस्व। स्पष्टतया यह वर्गीकरण समयानुकूल नही है, क्योकि सम्पूर्ण प्रभु (sovereign) और राज्य (state) के बीच पूर्ण अलगाव किया गया है। सम्पूर्ण प्रभु को सिविल लिस्ट की उदार सूची से सन्तुष्ट होना पडता है। आधुनिक राज्य अपनी अधिकाश आय करो द्वारा प्राप्त करता है।

एडम्स (Adams) ने सार्वजनिक राजस्व का इस प्रकार वर्गीकरण किया है—

(i) प्रत्यक्ष राजस्व (Direct Revenue)—राज्य की निजी आय अर्थात् सार्वजनिक कार्यों, सार्वजनिक उद्योगो, ग्रेच्युटी, उपहार, ऋणो और हर्जानो से प्राप्त किया जाता है।

(ii) व्युत्पन्न राजस्व (Derivative Revenue)—यह आय लोगो की आय से प्राप्त की जाती है। इसे आयकर, फीस निर्धारित कर, जुर्माना और दण्डो से प्राप्त किया जाता है।

(iii) प्रत्याशित राजस्व (Anticipatory Revenue)—इसमें भावी आय का अनुमान किया जाता है, जैसे ऋण तथा ट्रेज़री बिलो से प्राप्त आगम।

किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि ऋणो से प्राप्त आय सामान्यत सार्वजनिक राजस्व का अग नही मानी जाती। जैसा कि साधारणतया विदित है, सार्वजनिक राजस्व म राज्य की आय सम्मिलित है, जो राज भूमि-अधिकार, उद्योग और करो आदि से प्राप्त होती है।

हमें स्मरण रखना चाहिए कि वर्गीकरण के प्रयत्नो का केवल सैद्धान्तिक महत्त्व होता है, व्यावहारिक महत्त्व बहुत थोडा या बिलकुल नही होता। भारत म राजस्व के साधनो का वर्गीकरण केन्द्रीय, राज्य और स्थानीय म किया गया है। केन्द्रीय राजस्व मे आय कर, चुगी, केन्द्रीय आबकारी कर, अफीम, नमक, डाक-तार, रेलवे और कारपोरेशन कर सम्मिलित हैं। राज्य राजस्वो मे हैं लगान, जगलात,

रजिस्ट्रेशन, टिकट, आबकारी, आमोद प्रमोद कर, बिक्री कर तथा आय कर का भाग सम्मिलित हैं तथा स्थानीय राजस्व म राज्य-पालिकाओ के लिए चुँगी कर, गाडियो, व्यापारो, व्यवसायो पर कर, पानी कर, मकान कर, आदि तथा जिला बोर्डों के लिए प्रान्तीय दरें और अनुदान सम्मिलित हैं।

२ कर, फीस, दर आदि (Tax, Fees, Rates etc)—हमने देखा है कि सार्वजनिक राजस्व का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्रोत कर हैं। किन्तु करो द्वारा प्राप्त राजस्व के बहुत से रूप होते हैं। उनमें कर, फीस, कीमतें, विशेष निर्धारण, दरें आदि सम्मिलित हैं। अब हम इन सब के भेदो पर विचार करेंगे।

कर (Tax)—प्लेह्न (Plehn) ने कर की परिभाषा इस प्रकार की है—"कर धन के रूप म दिए गए सामान्य अनिवार्य अशदान हैं जो राज्य के निवासियों पर सामान्य लाभ पहुँचाने के लिए किए गए व्यय को पूरा करने के लिए, लोगो से लिए जाते हैं।"[1] इस परिभाषा से कर का वास्तविक स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। कर की विशेषता यह है—(क) कुछ दशाओ के अन्तर्गत यह अनिवार्य आरोपण (levy) है और (ख) यह राज्य के सामान्य प्रयोजनो के लिए लिया जाता है। व्यक्ति यह आशा नही कर सकता कि उसके द्वारा दिए गए कर के बदले राज्य को उसकी विशेष सेवा करनी चाहिए।

शुल्क या फीस (Fee)—यह भी अनिवार्य अदायगी है, जो उन लोगो द्वारा दी जाती है जो बदले म निश्चित सेवा कराते है। फीस की गई सेवा की लागत के एक अश को सामान्यत पूरा करने के लिए ली जाती है। यह सेवा की लागत से अधिक नही होती।

कीमत (Price)—राज्य द्वारा की गई विशिष्ट सेवाओ के लिए कीमतें भी दी जाती हैं। किन्तु फीस और कीमत म अन्तर यह है कि फीस म सार्वजनिक हित प्रमुख होते हैं जब कि कीमत व्यापारिक ढग की सेवा के लिए अदायगी है, जैसे कि राज्य की रेलो द्वारा यात्रा करने की लागत।

विशेष निर्धारित कर (Special Assessment)—प्रोफेसर सेलिगमैन (Prof Seligman) ने विशेष कर निर्धारण की परिभाषा इस प्रकार की है—"यह विशेष लाभ के अनुपात से लिया गया एक अनिवार्य अशदान है जो सार्वजनिक हित के लिए ली गई सम्पत्ति के विशेष सुधार की लागत को चुकाने के लिए लिया जाता है।" कल्पना कीजिए कि सरकार सडक का निर्माण करती है अथवा नालियो की उचित व्यवस्था करती है तो पडोस की सारी सम्पत्ति के मूल्य म वृद्धि हो जाएगी। सरकार को अधिकार है कि वह इस अनर्जित आय-वृद्धि का एक भाग उपयोग म लाए।

दरें (Rates)—वे स्थानीय अभिप्रायों से नगरपालिकाओ और जिला बोर्डों द्वारा लगाए जाते हैं। वे सामान्यता निवासियो की अचल सम्पत्ति पर लगाए जाते हैं किन्तु यह आवश्यक नही कि ये किसी विशेष सुधार अथवा लाभ के बदले म लगाए जाते हैं। दरें स्थान-स्थान पर भिन्न होती हैं।

---

1 Plehn Introduction to Public Finance, 1921, p 59

३ करों का वर्गीकरण (Classification of Taxes)—करों का वर्गीकरण विभिन्न प्रकार से किया गया है। कुछ वर्गीकरण नीचे दिए जा रहे हैं—

(i) कर अनुपाती (proportional), प्रगामी (progressive), प्रतिगामी (regressive) तथा अधोगामी (degressive) हो सकते हैं।

अनुपाती कर (Proportional Tax)—आनुपातिक कर उसे कहते हैं जिसमें आय का चाहे जो भी आकार हो, वही दर अथवा वही प्रतिशत लिया जाता है। यदि सभी कर-दाताओं को अपनी आय का १ प्रतिशत अथवा रुपये म ६ पाई कर के रूप में देना पडे तो यह आनुपातिक कर कहलाता है। सभी कर-दाताओं से एक ही प्रतिशत दर पर कर लिया जाता है।

प्रगामी कर (Progressive Tax)—इसके विपरीत यदि कर की दर उस आय की वृद्धि के साथ बढती है, जिस पर कर लगाया जाए तो इस कर को प्रगामी कर कहते हैं। प्रगामी कर का सिद्धान्त यह है कि जितनी अधिक आय हो उतनी ही अधिक कर की दर होती है।

प्रतिगामी (या क्रमश घटता हुआ) कर (Regressive Tax)—जब कर का भार अमीरों की अपेक्षा गरीबों पर अधिक पडता है, तो उसे प्रतिगामी कर कहते हैं।

अधोगामी कर (Degressive Tax)—उस कर को अधोगामी कर कहते हैं, जो अधिक आय उचित त्याग नहीं करती अथवा जब कर का भार अमीरों पर अपेक्षाकृत कम होता है। ऐसा उस दशा म होता है जब कर अर्द्ध-प्रगामी होता है अर्थात् जब प्रगतिशीलता की गति काफी ढालू नहीं होती। कोई भी कर एक सीमा तक प्रगतिशील हो सकता है, जिसके आगे वही दर ली जाती है। ऐसी दशा म कम आय की अपेक्षा अधिक आय को, कम त्याग करना पड सकता है।

(ii) करों का एक अन्य वर्गीकरण प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष करों (Direct or Indirect Taxes) म किया जा सकता है। प्रत्यक्ष कर मे जो व्यक्ति उसे अदा करता है, वही उसे बरदाश्त भी करता है। किन्तु अप्रत्यक्ष कर का भार अन्य व्यक्तियों पर चला जाता है। यदि मैं आय कर देता हूँ तो मुझे ही उसे बरदाश्त करना पडता है। मै उसे किसी अन्य व्यक्ति के माथे बरदाश्त करने के लिए नहीं मढ सकता। यह प्रत्यक्ष कर है। किन्तु यदि शक्कर पर कर लगाया जाता है तो शक्कर का व्यापारी जो उस कर को देता है वह उसकी अदायगी दूसरे क्रेता से करा लेता है। अन्त में यहाँ तक कि उसे शक्कर के उपभोक्ताओं द्वारा बरदाश्त करना पडता है। कर एक के ऊपर से दूसरे पर बरदाश्त करने के लिए हट जाता है। इसे अप्रत्यक्ष कर कहते हैं।

(अगले अध्याय में हम प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष करों के गुण दोषों पर विचार करेंगे।)

(iii) विशिष्ट तथा यथामूल्य कर (Specific and 'Ad valorem' Taxes)—विशिष्ट कर वस्तु के भार के अनुसार लगाया जाता है। यथामूल्य कर वस्तु के मूल्य के अनुसार होता है। यदि उसे मोटी और सस्ती वस्तुओं पर लगा दिया जाए तो उसे प्रतिगामी समझा जाता है। किन्तु ऐसे करों का प्रशासन करना आसान होता

है। यथामूल्य करो के प्रशासन के लिए समुचित प्रशासकीय व्यवस्था की आवश्यकता होती है।

४ कर नीति के सिद्धान्त (Canons of Taxation)—अर्थशास्त्र सिद्धान्त के इस अंश के प्रति एडम स्मिथ (Adam Smith) का योगदान अब भी प्रतिष्ठित और मौलिक माना जाता है। उसके निम्नलिखित चार नियम अब भी कर-निर्धारण सिद्धान्तो पर होने वाली बातचीत का आधार ग्रहण करते हैं।

(i) समानता का सिद्धान्त (The Canon of Equality)—"प्रत्येक राज्य की प्रजा को अपनी क्षमतानुसार सरकार के सहयोग के लिए योगदान देना चाहिए अर्थात् उस आमदनी के समानुपात से जो राज्य द्वारा दी गई सुरक्षा के अन्तर्गत उसे प्राप्त होती है।'

इस नीति म समानता या न्याय का सिद्धान्त निहित है। यह कर-निर्धारण का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। इससे कर-प्रथा की नैतिक नीव पड़ती है। समानता के नियम का यह अर्थ नही है कि प्रत्येक कर-दाता को उतना ही कर अदा करना चाहिए। ऐसा अनुचित होगा। न इसका यही अर्थ है कि उन्हे उसी दर से अदा करना चाहिए जिसका अर्थ होता है समानुपातिक कर-निर्धारण। और समानुपातिक-कर भी उचित कर नही होता। इस रीति का अर्थ है त्याग की समानता। कर की मात्रा कर दाता की क्षमता के अनुसार होनी चाहिए। इसमे साफ-साफ प्रगामी (progressive) कर का सकेत मिलता है।

(ii) निश्चितता का सिद्धान्त (Canon of Certainty)—"वह कर जिसे प्रत्येक व्यक्ति को अदा करना पडता है, निश्चित होना चाहिए, ऐच्छिक नही। अदायगी का समय, अदायगी का ढग, अदायगी की मात्रा, अदा करने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए स्पष्ट होनी चाहिए। जहाँ ऐसी बात नही है, वहाँ प्रत्येक व्यक्ति, जिसे कर अदा करना होता है, कर वसूलकर्त्ता के अधिकार के अन्तर्गत कम या ज्यादा आ जाता है। वसूलकर्त्ता या तो कर न देने वाले व्यक्ति के ऊपर यह कर और अधिक बढा सकता है अथवा बढाने का डर दिखाकर अपने लिए कुछ भेंट या रिश्वत वसूल कर सकता है।"

न केवल कर दाता के दृष्टिकोण से निश्चितता आवश्यक है वरन् राज्य के दृष्टिकोण से भी उसकी आवश्यकता है। लगाए जाने वाले प्रस्तावित करो का मोटे तौर से सरकार म अनुमान लगाने की क्षमता होनी चाहिए, और उसे उस समय का भी अनुमान लगाने की योग्यता होनी चाहिए जब कि वे आने लगेंगे। तभी सरकार अपने वित्तीय कार्यक्रम पर चल सकती है।

(iii) सुविधा का सिद्धान्त (The Canon of Convenience)—प्रत्येक कर का ऐसे समय और इस ढग से लगाना चाहिए, जिससे कि कर-दाता को अधिक से अधिक सुविधा का अनुभव हो।

निश्चितता का नियम बताता है कि अदायगी का समय और ढग निश्चित होना चाहिए, किन्तु सुविधा का नियम बताता है कि अदायगी का समय और ढग सुविधाजनक होना चाहिए। यदि भूमि अथवा मकान पर किराया ऐसे समय मे लिया

जाता है जब कि किराया अदा किए जाने की आशा है, तो यह सुविधाजनक हो जाता है। यदि कर चेक द्वारा अदा किया जा सकता है तो यह ढग सुविधाजनक है, किन्तु यदि कर अधिकारी को व्यक्तिगत रूप म अदा करना है तो इस मामले में बहुत अधिक असुविधा और परेशानी होगी।

(iv) मितव्ययिता का सिद्धान्त (The Canon of Economy)—प्रत्येक कर को इस प्रकार लगाना चाहिए कि लोगों की जेबो से जितना लिया जाता है, और जितना सरकार के पास पहुँचता है, इन दोनों म कम से कम अन्तर हो।

मितव्ययिता की रीति का अर्थ बहुत ही स्पष्ट है। वह कर मितव्ययी है जिस पर वसूली की लागत बहुत कम होती है। इसके विपरीत यदि कर वसूली करने वाले अधिकारियो के वेतन में कर से प्राप्त आय का बहुत बडा भाग निकल जाता है, तो यह कर निश्चय ही अमितव्ययी होगा। जहाँ तक सम्भव हो, राज्य के कोष में उतना आना चाहिए, जितना कि लोगो की जेबो से लिया जाए।

अन्य सिद्धान्त (Other Canons)—जब से एडम स्मिथ (Adam Smith) ने लिखा है, तब से सार्वजनिक वित्त-विज्ञान ने बराबर प्रगति की है। बाद के लेखकों ने एडम स्मिथ के चार सिद्धान्तो म अपने सिद्धान्त भी जोड दिए हैं।

(v) राजकोषीय औचित्य अथवा उत्पादकता (Fiscal Adequacy or Productiveness)—कर द्वारा लोगो से प्राप्त राजस्व पर ही राज्य को रहना चाहिए। सरकार को आर्थिक कठिनाइयो से मुक्त रहना चाहिए। अतएव यह आवश्यक है कि कर से प्राप्त आय पर्याप्त होनी चाहिए और सरकार को घाटा नहीं होना चाहिए। किन्तु सरकार को ज्यादती की गलती भी नही करनी चाहिए। अधिक राजस्व बढाने के उत्साह मे उसे समाज की उत्साह क्षमता को किसी भी प्रकार से कम अथवा देश के आर्थिक साधनो का नुकसान नही पहुँचाना चाहिए।

(vi) लोच का सिद्धान्त (The Canon of Elasticity)—लोच का सिद्धान्त राजकोषीय औचित्य के निकट है। जैसे-जैसे राज्य की जरूरियात बढती है, वैसे वैसे राज्य की आय भी बढनी चाहिए अन्यथा वे पर्याप्त नही रह पाएँगे। सकट *अथवा परेशानी की अवधि का सामना करने के लिए* राज्य को इस स्थिति म होना चाहिए कि वह अपने आर्थिक साधनो को बढा सके। कुछ कर ऐसे होने चाहिएँ कि यदि आवश्यकता आ पडे तो उनमे अधिक आय हो सके। आय कर लोचपूर्ण कर का एक अच्छा उदाहरण है।

(vii) लचीलापन (Flexibility)—लचीलेपन का सिद्धान्त लोच के सिद्धान्त से मिलता-जुलता लगता है किन्तु दोनो के बीच का अन्तर बहुत ही स्पष्ट है। लचीलेपन का अर्थ यह है कि कर-प्रथा मे कोई कठोरता न होनी चाहिए जिससे कि उसका नई दिशाओं के अनुसार *आसानी के साथ समन्वय किया जा सके। लोच का अर्थ* यह है कि आय बढाई जा सकती है। जब तक प्रथा लचकदार नही है, आय बढाई नही जा सकती, क्योंकि परिवर्तन सम्भव नहीं होगा। इस प्रकार लचीलापन का होना लोच की एक शर्त है।

(viii) सरलता (Simplicity)—आरमीटेज स्मिथ (*Armitage Smith*)

के शब्दों में "कर-प्रथा सादी, सीधी और सर्वसाधारण की समझ में आने योग्य होनी चाहिए।" भ्रष्टाचार और दबाव को रोकने के लिए कराधान का सरल होना आवश्यक है।

(ix) अनेकरूपता (Diversity)—करो म अनेकरूपता भी आवश्यक है। अकेले एक कर से अथवा थोड़े करो से काम नही चलेगा। करो की बहुत सी किस्में होनी चाहिएँ, जिससे कि सभी नागरिक जो राज्य की आय मे अशदान करने की क्षमता रखते हो, दे सकें। उनके पास विभिन्न तरीको से पहुँचना चाहिए। प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष करो का बुद्धिमत्तापूर्ण मिश्रण होना चाहिए।

(x) आधुनिक काल म करारोपण के लाभो पर विचार करते हुए एक नए सिद्धान्त का जन्म हुआ है, अर्थात् किसी समुदाय में कर का प्रभाव वहाँ के आर्थिक और सामाजिक लक्ष्यो के तथा उन सस्थाओ तथा विधियो के अनुरूप होना चाहिए जो इन्हे पूरा करने म सहायक हो। तटस्थता का सिद्धान्त अथवा 'वे जैसे हो उन्हे रहने दो' सिद्धान्त आज इस कसौटी पर पूरा नही उतरता। करारोपण नीति अधिक निश्चित होनी चाहिए। इसका उद्देश्य अधिकाधिक आर्थिक स्थिरता तथा विकास के अलावा राजनैतिक तथा सामाजिक लक्ष्य पूरे करना है।

५ उत्तम कर-प्रथा की विशेषताएँ (Characteristics of a Good Tax System)—उत्तम कर प्रथा म ऐसे कर शामिल होने चाहिएँ जो उपर्युक्त कर-निर्धारण के नियमो के अनुकूल हो। समूची कर प्रथा समान और न्याय्य होनी चाहिए। उसका भार सभी पर पड़ना चाहिए। उसे किफायती होना चाहिए जिससे कि एकत्र करने का काम जितना हो सस्ते ढग से हो सके उतना ही अच्छा है। उससे व्यापार और उद्योग के विकास मे बाधा नही पडनी चाहिए। इसके विपरीत उसे देश के आर्थिक विकास म सहायता करनी चाहिए। सरकार को अपनी आमदनी के सम्बन्ध मे निश्चय होना चाहिए। कर-प्रथा सम्पूर्ण और वर्तमान आँकड़ो सम्बन्धी जानकारी पर आधारित होनी चाहिए, जिससे कि सही भविष्यवाणी सम्भव हो सके। कर-प्रथा अँधेरे म एक उछालमात्र नही होनी चाहिए। उसके प्रभावो का सही-सही हिसाब लगाया जा सकना चाहिए। समूचे कर सुविधाजनक होने चाहिएँ अर्थात् उनको जितना भी सम्भव हो, उतना कम महसूस किया जा सके।

कर-प्रथा सरल, वित्तीय रूप से उचित और लोचपूर्ण होनी चाहिए जिससे कि उसको आवश्यकताओ के अनुरूप समायोजित किया जा सके। वह हमारे लगान की भाँति जटिल नही होनी चाहिए जो ३० या ४० वर्षों के लिए निर्धारित कर दिया जाता है। पजाब म लगान की विसर्प अनुमाप प्रणाली (sliding scale system) के उपयोग से यह खराबी कुछ सीमा तक दूर हो जाती है।

सरलता के आदर्श से हम एकल (single) कर-प्रणाली के समर्थक हो सकते हैं। किन्तु एकल कर प्रथा अन्य गम्भीर आपत्तियों को जन्म देगी। अतएव, यह माना जाता है कि कर-प्रथा का जितना सम्भव हो, उतना ही विस्तृत आधार होना चाहिए। कर-प्रथा म विभिन्नता और अनेकरूपता होनी चाहिए। किन्तु हम करो की बहुत अधिक सख्या नही चाहते।

इसके अतिरिक्त प्रशासन के दृष्टिकोण से कर-प्रथा सुगम होनी चाहिए। बकाया से दवा जाने अथवा जमा हो जाने की गुजाइश नही होनी चाहिए। वह इतनी सरल और बोधगम्य हो कि भ्रष्टाचार की गुजाइश कम रहे।

उत्तम कर-प्रथा की एक अन्य विशेषता यह है कि वह पूरी तरह से सद्भावना-पूर्ण, मधुर और सुव्यवस्थित होनी चाहिए। वह वास्तविक रूप में एक प्रथा होनी चाहिए न कि अलग करो की वसूली मात्र। प्रत्येक कर समूची कर-प्रणाली मे ठीक-ठीक जम जाना चाहिए जिससे कि वह मिली-जुली सम्पूर्ण कर-व्यवस्था का एक अग हो जाए। आर्थिक ढांचे मे प्रत्येक कर को एक निश्चित और उचित स्थान प्राप्त होना चाहिए। वे विभिन्न दिशाओ में खीचातानी करने वाले नही होने चाहिएँ। उदाहरणार्थ, सरक्षणात्मक शुल्क (protective duty) तथा उत्पादन शुल्क (excise duty) साथ-साथ भली भाँति नही चल सकते।

६ भारतीय कर-प्रणाली (The Indian Tax System)—प्रशासन के दृष्टिकोण से भारतीय कर-प्रणाली बहुत ही सुन्दर है। चोरी से वस्तुएं लाने और ले जाने का काम नही हो पाता और न उसमे बहुतसी खामियाँ ही हैं। कर देने से बचना भी आसान नही है। कर वसूली की लागत भी असमानुपातिक रूप से अधिक नही है। वह बहुत ही सादी है। राज-कर के औचित्य और पर्याप्तता के आधार पर कठिनता से कोई आपत्ति की जा सकती है। कर-प्रथा नितान्त उत्पादक है। इसका आधार भी पर्याप्त विस्तृत है। यहाँ तक कि देश का गरीब से गरीब व्यक्ति भी कुछ न कुछ अदा करता है, अर्थात् लगान। यह अनेक रूपो वाली कर-प्रणाली है। अन्य देशों की अपेक्षा भारतीय कर-प्रथा विशेषतया असुविधाजनक भी नही है। लगान किश्तो म अदा किया जाता है और फसल कटने के बाद दिया जाता है। वस्तुओ पर करो का महत्त्वपूर्ण स्थान है। लचीलेपन अथवा लोच के आधार पर हमे शिकायत का कोई कारण नही है। हमारी कर-प्रथा ने खर्चीले युद्ध के प्रभावो का शानदार ढग से सामना किया है।

किन्तु हम यह नही कह सकते कि हमारी कर-प्रणाली आदर्श कर-प्रथा है। भारत मे भारतीय व्यापार और उद्योग की आवश्यकता के महत्व को समझे बिना कर लगाए गए हैं। चुंगी कर आमदनी के उद्देश्य से लगाए गए हैं। टैरिफ अनुसूची ने भारतीय उद्योगो के विकास में बहुधा बाधा उपस्थित हुई, घिसाई-खर्च के लिए कम राशि मजूर की गई। अतएव, उद्योग के यन्त्रो का नया करने अथवा उनके स्थान पर दूसरे यन्त्र लगाने में वास्तविक कठिनाई अनुभव हुई। यद्यपि हाल के बजटो में इस बुराई को कुछ सीमा तक दूर किया गया है, फिर भी हमारी कर-प्रथा किफायत सम्बन्धी नियम के पूरी तरह अनुकूल नही है।

सबसे अधिक उल्लघन न्याय्यता के नियम का है।[1] भारतीय कर-प्रथा अमीरो के प्रति गरीबो के विरुद्ध भेद भाव रखती है। आय कर वह कर है, जो अमीरो द्वारा अदा किया जाता है, किन्तु प्रगति उतनी विगुप (steep) नही है जितनी कि होनी चाहिए। लगान, चुंगी, आबकारी और यहाँ तक कि रेलवे किराया कुल मिलाकर गरीबो द्वारा अमीरो की अपेक्षा अधिक अदा किया जाता है। उत्तराधिकार अथवा

1 See Indian Economics by Dewett and Singh

मृत्यु कर की अनुपस्थिति हमारी कर-प्रथा की प्रतिगामी प्रवृत्ति को बढ़ा देती है। प्रोफेसर के० टी० शाह के शब्दों में, "अमीर वर्ग अपेक्षाकृत थोड़े भार के साथ बच जाता है, यद्यपि इस भार को टाल देने अथवा सहन करने की उनकी क्षमता अधिक होती है, जब कि गरीब वर्ग, जो इस प्रकार के भार से बच नहीं सकता, उसे सिंह-सी शक्ति के इस भारी बोझ को वहन करना पड़ता है जबकि उसे वहन करने की उसकी क्षमता मैमने जैसी होती है।" भारतीय आय-कर-प्रथा आश्रितों की संख्या के लिए कोई भत्ते की व्यवस्था नहीं करती। अतएव वह अदायगी की क्षमता के सिद्धान्त के अनुकूल नहीं है।

अनिश्चितता का तत्त्व भी इसमें निहित है। मानसून एक घबड़ाहट पैदा करने वाला कारण ।। भारतीय बजट मानसून में एक जुआ माना गया है।

भारतीय कर-प्रणाली में अन्य बहुत से दोष हैं। वह बहुत ही उलटी सीधी है और उसकी योजना वैज्ञानिक ढंग से नहीं तैयार की गई। वह समय की आवश्यकताओं के अनुकूल तोड़ी मोड़ी गई है। विशेष आवश्यकता बजट में सन्तुलन बनाने की रही है। करों के प्रभावों तथा उत्पादन और वितरण पर उनके प्रभावों के प्रति बहुत कम ध्यान दिया गया है। वह वास्तव में कोई प्रथा नहीं रही। सर वाल्टर लेटन ने भारतीय बजट को 'कसा हुआ' (tight-fit) बताया है, जिसमें अप्रत्याशित और अनजाने व्ययों की बिलकुल ही व्यवस्था नहीं है।

हमारी कर प्रणाली बहुत ही अनुदार भी है। वर्तमान रूप में आबकारी कर और लगान कर भी जारी हैं, यद्यपि उनकी व्यापक रूप से निन्दा की गई है।

अन्य उन्नत देशों के असमान भारत में प्रत्यक्ष कर गौण काम करते हैं, यद्यपि युद्धकाल (१९३९ ४५) में अपनाए गए आर्थिक साधनों के फलस्वरूप यह प्रथा इस दशा में सुधारी गई है। १९३८-३९ में सम्पूर्ण राजस्व में आय पर लगाए करों का अनुपात २२ ६ प्रतिशत था, किन्तु १९४५ ४६ में वह ६२ ३ प्रतिशत था।

अभी हाल तक हमारी कर-प्रणाली ने अर्जित और अनर्जित आय में कोई भेद नहीं किया और इस प्रकार वास्तविक श्रमिक और निष्क्रिय अमीर के साथ एक सा व्यवहार किया जाता रहा। १९४५ ४६ में अर्जित आय पर १० प्रतिशत सहायता स्वीकार की गई थी।

केन्द्रीय प्रान्तीय और स्थानीय वित्त के बीच वितरण की रीति भी दोषपूर्ण है। चूँकि आय कर प्रत्यक्ष कर है, अतएव वह सम्पूर्णतया प्रान्तीय होना चाहिए और बहुत से प्रान्तीय कर जैसे मनोरंजन कर और बिक्री कर स्थानीय संस्थाओं के होने चाहिएँ। भूमि कर का एक भाग भी स्थानीय निकायों को मिलना चाहिए।

प्रो० काल्डर (Prof Kaldor) के अनुसार भारतीय प्रत्यक्ष कर प्रणाली दोषपूर्ण एवं अन्यायपूर्ण है। यह अन्यायपूर्ण इसलिए है कि विधि विहित आय का विचार ही गलत है और निहित स्वार्थ उसके मनमाने अर्थ लगा सकते हैं। यह दोषपूर्ण भी है क्योंकि बहुत बड़ी संख्या में कर देयता की सामर्थ्य वाले लोग भी करों से बचे रहते हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि सौदों और सम्पत्ति पर आय के सम्बन्ध में उचित रिपोर्ट सम्बन्धी व्यवस्था नहीं है।

प्रो० कल्दर (Prof. Kaldor) ने इस दिशा में स्वस्थ सुझाव पेश किए हैं जिन्हें भारत सरकार कार्यान्वित कर रही है। कल्दर ने सुझाया है कि आय पर ४५% से अधिक कर किसी भी हालत में नहीं लिया जाना चाहिए। इस समय कुछ आय पर ९२% तक कर लिया जाता है। वे सम्पत्ति कर की अधिकतम सीमा १½% करना चाहते हैं जो १५ लाख से अधिक की सम्पत्ति पर लगना चाहिए। व्यक्तिगत व्यय पर वे अधिक-से अधिक ३०% कर का सुझाव देते हैं और उपहार कर अधिक से-अधिक ८०% (प्रति व्यक्ति ५०,००० वार्षिक व्यय पर ३०% व्यय कर, और ४० लाख से ऊपर के उपहारों पर ८०% उपहार कर)। उनका सुझाव है कि पूंजीगत लाभों पर आय कर की दर से ही कर लगें। प्रो० कल्दर (Prof Kaldor) ने आय कर को न्याय्य और सम बनाने के लिए यह भी सुझाया है कि कर योग्य आय में से घटाई जाने वाली राशि के सम्बन्ध में कुछ सुधार किया जाए। वे चाहते हैं कि कम्पनियों से उनकी सम्पूर्ण आय पर ७ आना प्रति रुपया कर लिया जाए।

प्रो० कल्दर चाहते हैं कि करों से बचने वाले लोगों की रोक-थाम करने के लिए यह आवश्यक है कि जिन व्यापारियों की आय ५० ००० रु० वार्षिक से अधिक है उनके हिसाब-किताब की लेखा परीक्षा (auditing) होनी चाहिए और जिन लोगों की व्यक्तिगत आय १,००,००० रु० वार्षिक से अधिक है, उनके हिसाब किताब की भी सरकार को लेखा-परीक्षा करानी चाहिए।

अतएव, हम यह नहीं कह सकते कि भारतीय कर प्रणाली पूर्णत सन्तोष-जनक है। सुधार की बहुत ही गुंजायश है।

७ कराधान में न्याय की समस्या (The Problem of Justice in Taxation)—हमने कर-निर्धारण के विभिन्न नियमों पर विचार किया है और इनमें अत्यधिक महत्त्वपूर्ण नियम न्याय्यता का नियम जान पड़ता है। अतएव कर-निर्धारण की अत्यधिक आधारभूत समस्या न्याय की समस्या है। प्रत्येक व्यक्ति वित्त मन्त्री से आशा करता है कि वह अपने कर निर्धारण प्रस्तावों को इस प्रकार तैयार करे कि जिससे इस बात का विश्वास पैदा हो जाए कि कर-निर्धारण का भार उन पर पड़ता है, जो उसे पूरी तरह से वहन कर सकते हैं। यह उचित है कि एक ही आर्थिक स्थिति के लोगों के साथ कर-निर्धारण के अभिप्राय से एक प्रकार से व्यवहार किया जाए, किन्तु आर्थिक स्थिति की नाप क्या होनी चाहिए ?

कर निर्धारण में न्याय के आदर्श को प्राप्त करने के लिए समय समय पर अनेक सिद्धान्त सामने रखे गए हैं। हम नीचे उनमें से कुछ सिद्धान्तों की जाँच करेंगे—

(1) सेवा की लागत का सिद्धान्त (The Cost of Service Principle)—कहा जाता है कि यदि लोगों से उतना ही कर वसूल किया जाए जितनी कि सेवाएँ उनको दी जाती हैं, तो ऐसा कर न्यायसंगत होगा। किन्तु चाहे कितना ही सेवा लागत सिद्धान्त उचित जान पड़े, उसे वास्तविक व्यवहार में लागू नहीं किया जा सकता। करों से प्राप्त आय द्वारा की जाने वाली सेवाओं जैसे सशस्त्र सेनाएँ, पुलिस आदि का लागत खर्च ठीक ठीक निश्चित नहीं किया जा सकता। हम हिसाब लगाना

समानुपातिक त्याग (proportional sacrifice) के सिद्धान्त के अनुसार व्यक्तिगत करदाताओं के ऊपर वास्तविक बोझ समान नहीं वरन् या तो उनकी आय या आर्थिक कल्याण, जो वे प्राप्त करते हैं, उनके समानुपातिक होगा। जो अधिक त्याग कर सकते हैं, उन्हे ऐसा करने के लिए मजबूर किया जाना चाहिए। इसका अर्थ है *प्रगामी (progressive) कराधान।*

न्यूनतम त्याग का सिद्धान्त (Minimum Sacrifice Principle)—करदाताओं का विचार सम्पूर्ण रूप से करता है न कि व्यक्तिगत रूप से। इस सिद्धान्त के अनुसार समुदाय पर कुल बोझा इतना कम होना चाहिए, जितना कि सम्भव हो। न्यूनतम सम्पूर्ण त्याग सिद्धान्त के प्रमुख प्रतिनिधि एजवर्थ (Edgeworth) के शब्दो मे, *"न्यूनतम त्याग कर-निर्धारण का श्रेष्ठतम सिद्धान्त है।"* इस सिद्धान्त में "न्यूनतम शक्ति का एक ऊँचा धरातल होगा और जैसे-जैसे आय बढती है, बहुत ही ढालू क्रम (steep progression) निहित होगा। जितना ही सम्पूर्ण त्याग कम होगा, उतना ही समुदाय पर कर-भार का अच्छा वितरण होगा। राज्य मानव-कल्याण को बढाने के लिए होता है। ऐसा वह *निहित त्यागों को कम करके कर सकता है।*

अतएव व्यक्ति की क्षमता को मापने के लिए हमे दूसरी विधि से काम लेना चाहिए। यहाँ हमारा आधार अपेक्षाकृत अधिक निश्चित है। किन्तु यहाँ पर फिर हम देखते हैं कि बहुत सी विधियाँ बताई गई हैं। व्यक्ति की कर देने की क्षमता को (क) उपभोग, (ख) सम्पत्ति, अथवा (ग) आय के अनुसार मापना चाहिए। उपभोग निश्चित विधि नही है क्योंकि गरीब द्वारा राज्य की सेवाओ का उपभोग अथवा उपयोग उनके साधनो के सम्पूर्ण समानुपात से बाहर माना जाता है। अतएव उसे कर-निर्धारण का व्यावहारिक सिद्धान्त नही माना जा सकता। सम्पत्ति भी कर-निर्धारण का उचित आधार नही मानी जा सकती, क्योंकि उसी आकार और उसी प्रकार की सम्पत्ति से *नही आय नही प्राप्त हो सकती।* कुछ लोगो के पास दिखाने के लिए कोई सम्पत्ति न हो, किन्तु हो सकता है कि वे अधिक आय प्राप्त करते हो, जब कि सम्पत्ति वाले व्यक्तियो को, हो सकता है, छोटी आय होती हो। सम्पत्ति के आधार पर क्षमता के अनुसार कर नही होगा। फिर भी मनुष्य की देने की क्षमता के लिए *आय सबसे अच्छा परीक्षण है। किन्तु आय के मामले मे भी* कर क्षमता के अनुसार तभी होगा जब कि उचित निर्वाह के लिए न्यूनतम छूट दी जाती है, बशर्ते कि आश्रितो की सख्या के लिए भत्ते की व्यवस्था कर दी जाती है, और अन्त मे यदि धनी व्यक्ति पर ऊँची दर पर कर लगाकर प्रगतिशीलता के सिद्धान्त को लागू किया जाता है।

इसके अतिरिक्त न केवल हम व्यक्तिगत कर-दाता की वरन् सम्पूर्ण समुदाय की कर-देयता की क्षमता पर विचार करना है। इस अवस्था में यह आवश्यक है कि सम्पूर्ण कर-प्रणाली दबावपूर्ण न हो अर्थात् वह बचत को हतोत्साह न करती हो और न ही पूँजी के निर्माण में शिथिलता लाती हो, *और न देश के व्यापार एवं उद्योग के* विकास मे अडचन डालकर समुदाय की उत्पादन-क्षमता को कम करती हो।

कर-निर्धारण (कराधान) मे न्याय की समस्या का यही हल है। न्याय के

उद्देश्य से सेवा के मूल्य सिद्धान्त को लागू करने अथवा लाभ के अनुसार कर लगाने से पूर्ण न्याय नही होता, वरन् न्याय अदा करने की क्षमता और योग्यता के अनुसार ही होता है। अदा करने की क्षमता निहित त्याग की मात्रा के द्वारा परोक्ष ढग से नही आँकी जा सकती, वरन् मनुष्य की आय के अनुसार परोक्ष ढग से, और उसके उपभोग अथवा सम्पत्ति के अनुसार ही आँकी जा सकती है। न्याय प्राप्त करने का प्रत्येक प्रस्ताव कर-निर्धारण मे प्रगतिशीलता के एक ढग की ओर ले जाता है। आवश्यकता है कि सम्पूर्ण कर प्रणाली न्याय्य हो। प्रत्येक व्यक्तिगत कर बिलकुल ही उचित नही भी हो सकता। एक कर की बुराई दूसरे कर की अच्छाई से तटस्थ बन सकती है।

८ कराधान के कुछ अन्य सिद्धान्त (Some Other Theories of Taxation)—सार्वजनिक वित्त पर कुछ लेखको द्वारा प्रस्तुत कुछ अन्य सिद्धान्तो अथवा विधियो का हम यहाँ पर केवल संक्षिप्त उल्लेख करेंगे।

"जैसा उन्हें पाया वैसा छोड दो" सिद्धान्त ('Leave-as you-found them' Principle)—इस सिद्धान्त के अनुसार वर्तमान धन वितरण से छेड-छाड नही की जाती। धन वितरण की असमानताएँ न तो बढाई जाती हैं और न घटाई जाती है। इस सिद्धान्त के समर्थक वर्तमान धन-वितरण के प्रश्न की आलोचना न करने का रुख अपनाना चाहते हैं। इसके अनुसार "करो को इस प्रकार लगाना चाहिए कि जब सभी उन्हे अदा कर दें, प्रत्येक व्यक्ति अपने साथियो जैसी स्थिति मे रह जाए जैसा कि वह अदायगी से पहले था।" इस सिद्धान्त को आधुनिक काल मे नही माना जाता। राज्य को धन वितरण की असमानता को कम करना चाहिए और जैसे वे हैं, वैसे ही उन्हे नही छोड देना चाहिए।

राजनीतिक अथवा नैतिक सिद्धान्त (The Political or Ethical Principle)—इसका सम्बन्ध कर निर्धारण मे समानता, औचित्य अथवा न्याय से है। इस सिद्धान्त पर हम पहले ही विचार कर चुके हैं। यदि करदाता की परिस्थितियाँ और आर्थिक दशा वही रही तो न्याय प्राप्त करना एक साधारण क्रम होगा। किन्तु व्यक्तिगत करदाता की विभिन्न परिस्थितियो म न्याय प्राप्त करने का प्रयत्न वित्त-मन्त्री को कुछ सिर दर्द पैदा कर सकता है। अनेक तरीको के सुझाव किए हैं जिनकी पहले ही जाँच की जा चुकी है।

वित्तीय सिद्धान्त (The Financial Principle)—कोल्बर्ट (Colbert) ने इसका वर्णन इस प्रकार किया है—"ऐसी चुटकी काटो कि रोए नही।"[1] इस सिद्धान्त के अनुसार कर वसूल करने वाले के लिए एक मात्र पथ-प्रदर्शन यह है कि कम से-कम विरोध के साथ अधिक से अधिक आय हो। उसके मस्तिष्क मे न्याय का कोई विचार नही आना चाहिए। उसे कम-से-कम विरोध का मार्ग अपनाना चाहिए। वास्तव मे वित्तमन्त्री इस प्रकार के मार्ग को अपनाते हैं, यद्यपि वे इसे स्वीकार नहीं करेंगे।

---

1 'Pluck the goose without its squealing"

समाजवादी अथवा सम्पूरक सिद्धान्त (Socialist or Compensatory Theory)—कर निर्धारण के इस सिद्धान्त के समर्थकों के अनुसार यह राज्य का काम है कि वह समुदाय में धन वितरण म समानता लाए। यह प्रगतिशील या प्रगामी कर निर्धारण द्वारा किया जा सकता है। उद्देश्य गरीब और अमीर के बीच की खाई को पाटने का है। यदि यह उद्देश्य पूरी तरह से प्राप्त हो जाता है तो उसम अमीरो पर इस सीमा तक कर लगाने की आवश्यकता पडेगी कि बचत को प्रोत्साहन न मिले और पूँजी को बाहर खदेड दे, जिससे इसम सन्देह नही कि समुदाय की उत्पादन-शक्ति पगु बन जाएगी। धन वितरण की असमानताएं केवल कर लगाने से ही नही वरन् बुद्धिमत्ता से सार्वजनिक व्यय कम करके कम की जा सकती हैं।

प्रत्येक व्यक्ति को कुछ अदा करना चाहिए (Every one Ought to Pay Something)—विचार यह है कि राज्य के मामलो म प्रत्येक नागरिक म जिम्मेदारी की भावना पैदा हो जिससे कि वह नागरिक जीवन म अधिक सक्रिय और बुद्धि-सम्पन्न दिलचस्पी ले सके। इससे नागरिक को अपनी स्थिति का आभास और राज्य में अपने महत्व का आभास होगा। किन्तु गरीब लोगो के लिए यह नागरिक आभास बहुत ही मँहगा पडेगा यदि उनसे अत्यधिक कर देने को कहा जाता है। इसलिए यदि गरीबो को कर के भार से बिलकुल मुक्त कर दिया जाए तो यह अधिक उचित होगा।

६ आनुपातिक बनाम प्रगामी कराधान (Proportional Vs Progressive Taxation)—कर-भार के उचित वितरण के विभिन्न सिद्धान्तो पर विचार करते समय हम इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि जहाँ कहीं सम्भव हो कर म प्रगतिशीलता की कुछ मात्रा होनी चाहिए। तभी कराधान प्रणाली न्याय्य होगी। प्रगामी कराधान के सिद्धान्तो को सर्वत्र स्वीकार किया गया है। किन्तु ऐसा सदैव नही था।

आनुपातिक कर निर्धारण के बहुत से समर्थक हुए हैं। मैक कुलो (Mc Culloch) का प्रसिद्ध कथन १९वी शताब्दी की मनोवृत्ति को स्पष्ट करता है। उन्होने लिखा है—'जब आप सरल सिद्धान्त (समानुपात) को छोड देते हैं तो आप अपने को बिना पतवार तथा *कम्पास के समुद्र म पाते है और अनौचित्य* की कोई सीमा नही जिसे आप पार नही कर सकते हैं।'

त्याग की समानता के सिद्धान्त के अनुसार आनुपातिक करारोपण केवल इस अनुमान पर उचित हो सकता है कि आय के बढने के साथ धीरे धीरे आय की उपयोगिता कम होनी है। परन्तु यह मान लेना ठीक नही है। यदि हम समानुपातिक त्याग के सिद्धान्त को दृष्टिकोण म रखें तो समानुपातिक कर केवल इस अनुमान पर उचित हो सकता है कि जैसे जैसे आय बढती है, वैसे वैसे आय की उपयोगिता बिलकुल ही कम नहीं हो ती। यह अनुमान गलत है, क्योकि जब आय बढती है तो उसकी उपयोगिता अवश्य गिरनी चाहिए। इसलिए *आनुपातिक करारोपण न तो त्याग की समानता के सिद्धान्त पर और न आनुपातिक त्याग के ही सिद्धान्त पर उचित है।* आनुपातिक करारोपण म समान त्याग निहित होगा जब कि स्वय त्याग करदाता की क्षमता के अनुपात में होना चाहिए। अतएव समानुपातिक करारोपण न्यायपूर्ण और

उचित नही है । वह पर्याप्त लाभदायक भी नही है और यहाँ तक कि आनुपातिक करारोपण में भी स्वेच्छा का तत्त्व बिलकुल ही अनुपस्थित नही रहता । अतएव समानुपातिक करारोपण के सिद्धान्त को, जहाँ तक प्रत्यक्ष करारोपण का सम्बन्ध है, बिलकुल ही त्याग दिया गया है । दूसरे शब्दों में, जहाँ सम्भव है, प्रगामी करारोपण का सिद्धान्त अपनाया गया है ।

प्रगामी करारोपण का सिद्धान्त कुछ अनुमानो पर उचित भी है । यह मान लिया गया है कि जैसे जैसे आय बढती है, आय म होने वाली प्रत्यक वृद्धि की उपयोगिता कम होती है । आग यह भी मान लिया गया है कि आय के बढने के साथ विलास की सामग्रियो पर व्यय बढता है । जब कि आर्थिक लाभ के विचार से विलास की सामग्रियो की अपेक्षा आवश्यकताएँ अधिक महत्त्वपूर्ण हे । अतएव इससे यह होता है कि धनवानो पर अधिक कर लगाकर हम उन्हे विलास की सामग्रियो मे कमी करने के लिए बाध्य करते है । इसम जो त्याग निहित है, वह उन गरीबो को होने वाले लाभ की भाँति ही महान् है कि जिन पर कर से प्राप्त धन खर्च किया जा सकता है ।

प्रगामी करारोपण से अधिक आय होती है और इस कारण वह अधिक उत्पादक है । यह बडा कठिन है कि प्रगामी सिद्धान्त की अनुपस्थिति म आधुनिक सरकारें आज अपने बजट को किस प्रकार सन्तुलित करती हं ।

प्रगामी करारोपण अधिक मितव्ययितापूर्ण है । जब दर बढती है तो करो के उगाहन की लागत नही बढती । प्रगामी करारोपण की न्याय्यता के सम्बन्ध मे कोई आपत्ति नही उठाई जा सकती । वह करदाता से समानुपातिक त्याग की माँग करता है । वह चौडी पीठ पर सबसे भारी बोझा रखता है ।

प्रगामी कर-प्रणाली, कर प्रणाली को अति आवश्यक नमनता प्रदान करती है । जब आवश्यकता पडती है तो दरो में थोडी वृद्धि कर देने से स्थिति का सामना किया जा सकता है ।

प्रगामी कर प्रणाली के सिद्धान्त के विरोधियो ने इस प्रणाली के विरुद्ध बहुत सी आपत्तियाँ उठाई हं । हम नीचे इन आपत्तियो की जाँच करेंगे ।

(i) कहा जाता है कि यह बिलकुल ही स्वेच्छाचारितापूर्ण है । प्रगामी कर-प्रणाली की मात्रा वित्तमन्त्री द्वारा बिना किसी निश्चित और वैज्ञानिक आधार के तय की जाती है । यह विशुद्ध व्यक्तिगत राय होती है । स्पष्ट है कि यह आपत्ति सिद्धान्त पर नही वरन् प्रगामी कर प्रणाली की मात्रा पर है । यद्यपि उसे वैज्ञानिक ढग से निर्धारित नही किया जा सकता, फिर भी व्यावहारिक उद्देश्यो के लिए छोटे अन्तरो का कोई महत्त्व नही । वित्तमन्त्री की बुराइयो को ठीक करने के लिए विधान सभा के सदस्य तो होते ही हैं ।

(ii) कहा जाता है कि प्रगामी कर प्रणाली के सिद्धान्त का समर्थन हित-वृद्धि करने के आधार पर नही किया जा सकता, क्योंकि हित परोक्ष होता है और उसे मापा नही जा सकता । ऐसा कोई वैज्ञानिक यन्त्र नहीं जिससे यह परीक्षण किया जा सके कि आय में असमानता की कमी होने के फलस्वरूप हित-वृद्धि हुई है या नही । कदाचित् गरीबो को आराम पहुँचने की अपेक्षा धनवानों को परेशानी अधिक होती है ।

(iii) प्रगामी कर प्रणाली बचत को हतोत्साहित करेगी, पूजी को बाहर निकालेगी और इस प्रकार व्यापार तथा उद्योग में बाधा उपस्थित करेगी। सक्षप म वह मितव्ययितापूर्ण नही होगी।

किन्तु ऐसे बुरे परिणाम उसी दशा म होग, जब प्रगामी कर-प्रणाली औचित्य और विवेक की सीमा पार कर जाएगी। ऐसा बहुत कम हुआ है। पूंजी इतनी चेतन शील नही है जैसा कि समझा जाता है।

(iv) प्रगामी कर प्रणाली वैज्ञानिक आधार पर उचित नही ठहरती। उसका यह आधारभत अनुमान कि वही आय उसी सन्तोष को नापती है, उचित नही है। फिर घटती हुई या आह्रासी प्राप्ति के नियम की उपयोगिता धन के मामने म ठीक नही भी उतर सकती। उनका कथन है, 'धन एक वस्तु का प्रतिनिधित्व नही करता वरन् सामान्यत अनेको वस्तुओ का प्रतिनिधित्व करता है। चूंकि मानव की आवश्यकताएँ असीम ह, इसलिए यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या धनी व्यक्ति को अतिरिक्त धन की आवश्यकता कम होती है। यह भी हो सकता है कि जैसे जैसे आय बढे वैसे वैसे उसकी अतिरिक्त आय की इच्छा भी बढे। ऐसा उस दशा म हो सकता है जब आय मे वृद्धि उसके रखने वालो को उच्चतर सामाजिक क्षेत्र म आन जाने के लिए प्रेरित करे और इस प्रकार उसकी आवश्यकताओ म वृद्धि हो।[1] चूंकि गरीब की अपेक्षा अमीर के लिए आय की सीमान्त उपयोगिता कम होती है इसलिए अमीरो पर प्रगामी करारोपण होना चाहिए।

किन्तु इस क्षत्र म राबिन्स (Robbins) घटती हुई उपयोगिता सिद्धान्त को पूरे तौर पर अवैध और अवैज्ञानिक ठहराते ह।[2] चूंकि सीमान्त उपयोगिता आत्मपरक है इसलिए दृष्टिगोचर नही होती। राबिन्स (Robbins) के अनुसार व्यक्तियो की परस्पर भावनाओ का मापना असम्भव है। प्रगामी करारोपण के अन्तगत हम यह मानते है कि समान आय वालो को उससे समान सन्तुष्टि प्राप्त होती है। किन्तु हम यह नही कह सकते कि यह धारणा निश्चित तथ्यो पर आधारित है, चूंकि सन्तुष्टि की माप नही की जा सकती। राबिन्स (Robbins) कहते ह 'यदि हम अपनी बात की पुष्टि के लिए यह बहाना बनाएँ कि यह किसी भी रूप म वैज्ञानिक है ही, तो सचमुच यह बडी मूर्खता होगी।'

वैज्ञानिक धरातल पर तो इस तर्क का कोई उत्तर ही नही है। प्रगामी करारोपण का जोरदार समथन समान रूप से नैतिक तथा राजनैतिक आधारो पर किया जा सकता है।

वैज्ञानिक आधार पर इस दलील का जवाब नही दिया जा सकता किन्तु धार्मिक और राजनैतिक आधार पर प्रगामी कर प्रणाली का समथन जोरो के साथ किया जा सकता है।

(v) कहा जाता है कि क्रमवधमान या प्रगामी करारोपण से कर देने से बच

---

1 Thomas S E Elements of Econom cs 1936 p 332

2 Robbins L—The Nature and Significance of Economic Science 1931 Ch VI

जाने की भावना बढ़ सकती है। किन्तु समानुपातिक कर निर्धारण में भी कर देने से बच रहने की सम्भावना कम नहीं है। यह सामाजिक चेतना पर निर्भर करता है।

इस प्रकार प्रगामी करारोपण चाहे वैज्ञानिक ढंग से उचित हो अथवा नहीं, नैतिक रूप से ठीक है सामाजिक रूप से उचित है और मितव्ययिता, उत्पादन तथा नम्रता के नियमों के अनुरूप है।

१० कर-देय शक्ति (Taxable Capacity)—कर देने की क्षमता के विचार ने बहुत से अर्थशास्त्रियों और विचारकों के मस्तिष्कों को परेशान किया है। डाल्टन (Dalton) उसे एक धुंधला ग्रस्त व्यस्त विचार" कहते हैं। वह कहते हैं कि 'कर देने की क्षमता एक ऐसी पौराणिक कहानी है जिसे सार्वजनिक वित्त पर होने वाले गम्भीर विचार के समय बिलकुल ही त्याग देना चाहिए।" इस प्रश्न पर कि क्या कर देने की क्षमता नापी जा सकती है उनका विचार है कि कैनन (Cannan) का यह उत्तर कि "नहीं कैसे ?' सबसे अच्छा है। फिंडले शिराज (Findlay Shirras) कहते हैं कि "सरकार के लिए मोटे तौर से भी यह जानना बुद्धिमानी होगी और साथ ही उपयोगी भी, कि साधारण और असाधारण दोनों ही परिस्थितियों में करों के द्वारा देश किस सीमा तक अदायगी कर सकता है।" उनका आगे यह कहना है कि 'युद्धोत्तरकालीन वित्त की आवश्यकता ने, विशेषकर सार्वजनिक ऋण में लदे आय व्ययका के सन्तुलन की आवश्यकता ने कर अदा कर सकने की क्षमता को कर निर्धारण का एक स्थिर और वास्तविक समस्या बना दिया है।'[1]

कर-देय क्षमता क्या है ? (What is Taxable Capacity ?)—कर अदा कर सकने की क्षमता दो अर्थों में प्रयुक्त हो सकती है—(i) निरकुश (निरपेक्ष) अर्थों में (ii) तुलनात्मक (सापेक्ष) अर्थों में। निरकुश या निरपेक्ष कर-देय क्षमता की परिभाषा भिन्न तरीकों से की गई है। इसका अर्थ है कि एक विशेष समुदाय करों के रूप में कोई अशोभनीय प्रभाव पड़े बिना कितना कर अदा कर सकता है। इसके विपरीत तुलनात्मक कर देय क्षमता का अर्थ है साझे खर्च में अर्थात् केन्द्रीय खर्च के प्रान्तीय योगदान में समुदायों को अलग अलग कितना देना चाहिए। डाल्टन (Dalton) का कहना है कि पहली एक कल्पना है, और दूसरी वास्तविकता। सापेक्ष सीमा पर निरकुश सीमा के बिना जाया जा सकता है अर्थात् हम उस सीमा तक पहुँच सकते हैं कि एक विशेष समुदाय को कितना अदा करना चाहिए। ऐसा हम उस सीमा तक पहुँचे बिना कर सकते हैं कि जिसके आगे सम्भवत वह समुदाय अदा नहीं कर सकेगा।

निरकुश कर अदा कर सकने की क्षमता के दो अलग-अलग दृष्टिकोण हैं—(क) बिना पीडा के अदा करने की क्षमता, (ख) पीडा की परवाह किए बिना अदा कर सकने की क्षमता। पहले अर्थ में अदा कर सकने की क्षमता वस्तुत कुछ भी नहीं है क्योंकि प्रत्येक कर में कुछ पीडा निहित होती ही है। दूसरे अर्थ में अदा कर सकने की क्षमता की कोई सीमा नहीं है। सिवा इसके कि जो समुदाय के साधनों के विचार से निश्चित की जाए।

1 Findlay Shirras Science of Public Finance 1936 p 227

सर जोसिया स्टाम्प (Sir Josiah Stamp) ने कर-देय क्षमता की परिभाषा इस प्रकार की है— 'कुल उत्पादन म से कुल व्यय निकालकर शेष धन या जनसंख्या को एक जीवनोपार्जन के स्तर पर रखने के लिए आवश्यक धन। इसका अर्थ यह है—"अधिक-से अधिक जो कि समुदाय अदा कर सके और इस अदायगी म दुखी और पददलित जीवन म रहे और न संगठन म बहुत अधिक गड़बड़ी हो।" फिंडले शिराज (Findlay Shirras) ने निरंकुश कर-देय क्षमता की परिभाषा इस प्रकार की है—'किसी असहनीय कष्ट का अनुभव किए बिना देश के नागरिकों द्वारा सार्वजनिक खर्च के लिए दिया गया अधिक-से-अधिक धन। संक्षेप म कर देय क्षमता दबाव की सीमा है। 'राष्ट्र की कर दे सकने की क्षमता है कर से वसूल किया गया और समुदाय और आर्थिक भलाई के लिए खर्च किया गया अधिक-से-अधिक धन।'

इन परिभाषाओं मे वैज्ञानिक औचित्य की कमी है और साथ ही वह अस्पष्ट भी हैं। स्टाम्प (Sir Josiah Stamp) का 'जीवकोपार्जन का धरातल और दुखद पददलित जीवन" और शिराज (Findlay Shirras) का असहनीय दुख और "अधिक-से अधिक आर्थिक कल्याण" की वैज्ञानिक परिभाषा नही की जा सकती और न उनको ठोस शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है। किन्तु इससे कर-देय क्षमता के विचार की उपयोगिता तथा व्यावहारिक महत्त्व कम नही होता। ऊपर की परिभाषाओ म जो अर्थ है, वह बहुत ही स्पष्ट है। यद्यपि हम यह स्वीकार करना चाहिए कि कर दे सकने की क्षमता को नापने के लिए कोई भी प्रयत्न निश्चित रूप से असफल होगा। कैनन का 'नही कैसे" वास्तव म सही उत्तर है।

कर-देय क्षमता की सीमा कब पार होती है? (When is the Limit of Taxable Capacity Exceeded)—इस सम्बन्ध म भी दृष्टिकोण म अन्तर है कि कर देय क्षमता के पार हो जाने की पहचान क्या है। स्टाम्प (Sir Josiah Stamp) कर देय क्षमता के लिए दो सीमाओ का उल्लेख करते हैं—(अ) कुल उत्पादन पर अंकुश व (ख) कुल राजस्व प्राप्ति पर अंकुश। किंतु अत्यधिक कर निर्धारण के अतिरिक्त अंकुश के और भी कारण हो सकते हैं। कर निर्धारण ही एक ऐसा कारण नही है जो उत्पादन पर प्रभाव डालता है। एलिंगर (Elinger) समझते हैं कि सीमाओ तक उस समय पहुँचा जाएगा जब कि करदाता की जेब से इतना लिया जाए कि उत्पादन के लिए किए गए प्रयत्नो म कमी हो जाए और जब कमी को पूरा करने के लिए आवश्यक पूंजी की व्यवस्था करने के लिए तथा बढ़ी हुई जनसंख्या म नए श्रमिको को काम पर लगाने के लिए अपर्याप्त शेष रह जाता है।'[1] वह उत्पादन पर सार्वजनिक व्यय के लाभप्रद प्रभाव को स्पष्टतया ध्यान में नही रखते।

तथ्य यह है कि कर-देय क्षमता का जटिलता के साथ निर्धारित नहीं किया जाता। वह एक गतिशील बिन्दु है। वह ऐसे बहुत से कारणो से सम्बन्धित है जिसमें होने वाला कोई भी परिवर्तन राष्ट्र की कर-देय क्षमता के सम्बन्ध में किए गए

1 Quoted by Dalton in Principles of Public Finance 1943 p 136

हमारे अनुमानो को बदल देगा । फिंडले शिराज (Findlay Shirras) ने निम्न तत्त्व बताए हैं जो राष्ट्र की कर देय क्षमता को निश्चित करते हैं[1]—

(१) निवासियो की सख्या (The Number of Inhabitants)—यह बिलकुल स्पष्ट है कि जितनी ही अधिक जनसख्या होगी उतना ही अधिक सरकारी व्यय होगा और उस व्यय को पूरा करने के लिए समुदाय उतना ही अधिक कर देगा। इस दृष्टिकोण से भारत का स्थान अच्छा है। उसकी कर-देय क्षमता उस समय निश्चित रूप से बढेगी, जब कि देश का उचित आर्थिक विकास किया जाएगा।

(२) देश में धन का वितरण (The Distribution of Wealth in the Country)—यदि धन को अधिक समानता के साथ वितरित किया जाएगा तो उसी हिसाब से कर-देय क्षमता भी कम होगी। कि तु यदि कुछ हाथों में धन का अधिक जमाव है तो सरकार अमीरो पर कर लगाकर अधिक धन एकत्र कर सकती है।

(३) कराधान का तरीका (The Method of Taxation)—वैज्ञानिक ढग से निर्मित कर-प्रणाली, जिसम करो के विभिन्न प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष तरीको का बुद्धिमानी के साथ समन्वय किया गया हो, निश्चित रूप से अधिक प्राप्ति करेगी। हमारी कर प्रणाली इतनी विभिन्नरूपी नही है। कृषि की लम्बी आय तथा उत्तराधिकार पर हमारे यहाँ कर नही लगाए जाते। इससे निश्चय ही कर दे सकने की क्षमता में कमी होती है।

(४) कराधान का उद्देश्य (The Purpose of Taxation)—यदि करारोपण का उद्देश्य लोगो की भलाई करने का है, तो अपने ऊपर कर लगाने के लिए वह अपेक्षाकृत अधिक इच्छुक होगे। एक लोकप्रिय उद्देश्य के लिए लोग अपनी क्षमता को अधिकाधिक विस्तृत करने के लिए इच्छुक होग। यदि सरकार अकाल और बीमारी का सामना करन के लिए और शिक्षा प्रसार के लिए धन वसूल करना चाहती है तो करो की प्राप्ति म आश्चर्यजनक विस्तार होगा।

(५) करदाता की मनोवैज्ञानिक स्थिति (The Psychology of the Tax Payer)—सरकार के प्रति लोगो के रुख पर भी कर देय क्षमता निर्भर करती है। लोकप्रिय सरकार लोगो के उत्साह को बढा सकती है और उन्हे बडे त्याग के लिए तैयार कर सकती है। लोगो की देश-भक्ति की दुहाई देकर किसी लोकप्रिय कार्य के लिए धन वसूल किया जा सकता है। युद्ध के लिए ऋण, इसी प्रकार इकट्ठे किए जाते हैं। लोगो का मनोविज्ञान एक महत्त्वपूर्ण वस्तु है और जब तक उचित ढग से उनके पास पहुँचा न जाए, वे अपने ऊपर कर लगाने के लिए तैयार नही हो सकते।

(६) आय की स्थिरता (Stability of Income)—यदि नागरिको की आय गम्भीर रूप से कम है तो अधिक कर-निर्धारण के लिए गुजाइश नही रह सकती। अनिश्चित मानसून भारत म कम कर-देय क्षमता का कारण है। केवल स्थिर आय पर ही दीर्घकालीन वित्तीय व्यवस्थाएँ आधारित हो सकती हैं।

---

1 Findlay Shirras Science of Public Finance, 1936, p 234

(७) मुद्रा-स्फीति (Inflation)--इससे लोगो की क्रय-शक्ति कम हो जाती है। कर देने की शक्ति पर इसका बुरा प्रभाव पडता है।

राष्ट्र की कर देय क्षमता की जानकारी के लिए हमें इन सब बातो पर ध्यान देना चाहिए। ऐसा भी हो सकता है कि कर देय क्षमता पर प्रभाव डालने वाले अनेकानेक कारणो के फलस्वरूप हम इस क्षमता की माप न कर सकें। महत्त्व यात्रा मे निहित है, न कि लक्ष्य मे।

११. एकल कर प्रथा का औचित्य (Feasibility of a Single Tax)—इसकी सादगी से आकर्षित होकर बहुत से लेखकों ने केवल एक कर लगाने का समर्थन किया है। इसके पीछे एक लम्बा इतिहास है। साथ ही इसका समर्थन भी विभिन्न रूपो मे किया गया है।

क्वेसने (Quesnay) और टरगाट (Turgot) जैसे निर्बाधावादियो (physiocrats) ने भूमि म एकल कर का समर्थन किया है। उनके अनुसार भूमि ही धन के उत्पादन का एक-मात्र साधन है। भूमि ही से अकेले विशुद्ध आय की प्राप्ति होती है। उन्होने इस विशुद्ध प्राप्ति पर इकहरे कर की व्यवस्था की है।

सानफ्रासिस्को के हेनरी जार्ज (Henry George) ने भूमि के मूल्य में अनर्जित वृद्धि पर एकल कर का समर्थन किया है। वह समाजवादी ढग की विचार-धारा रखते थे और उनका कहना था कि भूमि पर कुछ लोगो का एकाधिकार जनता की गरीबी का कारण है। वे समझते थे कि लगान अनर्जित आय है। उन्होने राज्य द्वारा करारोपण के माध्यम से समूचे लगान पर अधिकार करने का समर्थन किया है। उन्होने कहा कि इसके बाद किसी भी कर की आवश्यकता नही होगी।

उसके सिद्धान्त को स्वीकार नही किया गया और उनके प्रस्तावो के विरुद्ध निम्न आधारो पर आपत्ति उठाई गई है—

(क) कहा जाता है कि केवल भूमि-कर से प्राप्त आय आधुनिक सरकार के लम्बे खर्च को सहन करने के लिए काफी नही होगी।

(ख) उससे एक ढग की आय के व्यक्तियो को दण्ड सहना पडेगा और दूसरे लोग बिलकुल अछूते बच जाएंगे। यह न केवल अनुचित है, वरन् उससे कर देने से बचे रहने का मार्ग खुलेगा, क्योकि जमीदार जमीन के बजाय दूसरे ढग की जायदाद प्राप्त करने का प्रयत्न करेंगे और उससे कर के बोझ का उचित वितरण नही होगा।

(ग) यह हिसाब लगाना आसान नही है कि ठीक ठीक कितनी आय अनर्जित है और व्यक्तिगत प्रयत्न अथवा भूमिस्वामी के सुधारो के फलस्वरूप आय में कितनी वृद्धि हुई है।

(घ) जहाँ भूमि का मूल्य कम हो जाता है, वहाँ राज्य द्वारा मुआवजा देना पडेगा। अनावश्यक रूप से सरकार भूमि मूल्य के उतार-चढाव के विवादो मे फँस जाएगी।

(ङ) बहुत सी प्रशासन-सम्बन्धी कठिनाइयाँ होगी।

आय पर एकल कर (Single Tax on Income)—समाजवादी आय पर एकल कर का समर्थन करते हैं। वे चाहते हैं कि प्रत्येक आय पर कर लगाना चाहिए।

कहा जाता है कि इससे भूमि पर एकल कर के समक्ष उपस्थित दो प्रमुख कठिनाइयाँ आसानी के साथ हल की जा सकती हैं। सभी आयों पर सामान्य तौर पर और ऊँची आयों पर अधिक कर लगाने से उचित कोष तैयार किया जा सकता है। वर्गीकरण और अन्तरीकरण (graduation and differentiation) के द्वारा भी कर का बोझ उचित ढंग से वितरित किया जा सकता है। किन्तु यह प्रस्ताव भी आपत्तियों से मुक्त नहीं है। निम्नलिखित आपत्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं—

(क) यह कष्टप्रद होगा, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति को कर देने की असुविधा उठानी पड़ेगी।

(ख) अनेकानेक छोटी-छोटी आयों से कर वसूल करने का खर्च लगभग निषेधात्मक होगा। फिर भी शासन सम्बन्धी सुधारों से इस पर विजय प्राप्त की जा सकती है।

(ग) जब केवल एक ही कर होगा तो कर से बच रहना अपेक्षाकृत एक गम्भीर मामला होगा। शिथिलताओं को ठीक करने के प्रयत्न में कर-प्रणाली और भी दुरूह हो जाएगी।

(घ) प्रशासन सम्बन्धी कठिनाइयाँ होंगी।

(ङ) धन के उत्तराधिकारी बचे रहेंगे, यदि केवल आय पर कर लगाया जाएगा। इस पर केवल इसी प्रकार विजय प्राप्त की जा सकती है कि उत्तराधिकार को कर लगाई जाने वाली आय समझा जाए।

(च) इससे बचत पर रोक रहेगी और इसलिए पूँजी जमा न होगी और फिर इससे व्यापार और उद्योग के विकास में बाधा पहुँचेगी। इस आपत्ति को बचत पर छूट देकर दूर किया जा सकता है। किन्तु इसका अर्थ व्यक्तिगत आय पर कर लगाना न होगा वरन् व्यक्तिगत खर्च पर कर लगाना होगा। इससे फिर प्रशासकीय कठिनाइयाँ उपस्थित होंगी और बहुत सी शिथिलताएँ रह जाएँगी।

इस प्रकार आय पर एक कर व्यावहारिक भी नहीं है।

इकहरे कर की दूसरी किस्म सम्पत्ति की पूँजीगत कीमत पर कर लगाना है। किन्तु हम पहले ही कह चुके हैं कि आय पर कर-निर्धारण जायदाद की अपेक्षा मनुष्य की अदा कर सकने की क्षमता का अधिक अच्छा संकेत है।

एकल कर के विशेष रूपों के विरुद्ध आपत्तियों के अलावा एकल कर के सभी रूपों के विरुद्ध सामान्य ढंग की दो दलीलें दी जा सकती हैं—

(क) इससे व्यक्तियों के बीच असमानता पैदा होगी और उस असमानता को केवल बहुरूपी कर-प्रणाली द्वारा ही सुधारा जा सकता है।

(ख) एकल कर-पद्धति में कर देने से बचे रहना आसान है जबकि गुणक (multiple) प्रणाली में करों से बचना उतना आसान नहीं है।

एकल कर सिद्धान्तवादियों का स्वप्न था। व्यावहारिक राजनीतिज्ञों में उसके बहुत कम समर्थक हैं। इस वाद-विवाद का केवल सैद्धान्तिक महत्त्व है, क्योंकि एकल कर व्यावहारिक वित्त से परे की चीज है। प्रत्येक देश ने कर निर्धारण की मिश्रित अथवा गुणक कर-प्रणाली अपनायी है।

१२. स्थानीय कर (Local Taxation)[1]—चूँकि स्थानीय अधिकारी ही नागरिकों के घनिष्ठ सम्पर्क में आते हैं, इसलिए स्थानीय कर-व्यवस्था का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसलिए अर्थशास्त्रियों को स्थानीय करारोपण के सिद्धान्तों पर अवश्य विचार करना चाहिए।

स्थानीय वित्त की सबसे महत्त्वपूर्ण समस्या केन्द्रीय और स्थानीय वित्त सम्बन्धों का समन्वय है। यह एक टेढ़ी समस्या है। प्रजातन्त्रवाद और कार्य-क्षमता कुछ अंश तक एक दूसरे के विरोधी हैं। प्रजातन्त्रवाद के सिद्धान्तों की पूर्ति के लिए स्थानीय बोर्ड या कमेटी को बहुत अधिकार या छूट देनी पड़ती है। लेकिन स्थानीय बोर्ड सुचारु रूप से उच्च कोटि की सेवाएँ नहीं कर सकता। फलस्वरूप कार्य क्षमता गिरेगी। लेकिन यदि कोई कार्य क्षमता बढ़ाने के लिए केन्द्रीय सरकार स्थानीय सेवाओं को अपने हाथों में लेती है तो स्थानीय बोर्ड की स्वतन्त्रता और अधिकार छिन जाएँगे। स्थानीय सुप्रबन्ध के लिए उन स्थान की जानकारी आवश्यक है। लेकिन स्थानीय सम्पत्ति और स्थानीय आवश्यकताओं के बीच जो अन्तर होता है उसके कारण स्थानीय वित्त समस्या का समाधान अत्यन्त कठिन होता है। अधिकतर स्थानीय सम्पत्ति आवश्यकताओं की दृष्टि से बहुत कम होती है। जितना ही कोई स्थान निर्धन होता है, उतनी ही अधिक वहाँ की आवश्यकताएँ होती हैं। स्थानीय आवश्यकताओं के प्रति अधिकारी भी प्राय उदासीन रहते हैं। और फिर स्थानीय प्रशासन का स्तर भी प्राय गिरा हुआ होता है। इस कमी को दूर करने के लिए स्थानीय करों और केन्द्रीय अनुदानों की उचित व्यवस्था आवश्यक है।

केन्द्रीय सरकार और स्थानीय शासन के बीच तीन प्रकार के सम्बन्ध होते हैं। सघात्मक शासन में स्थानीय निकायों को व्यापक वित्तीय अधिकार प्राप्त होते हैं, और उनके करारोपण सम्बन्धी अधिकार केन्द्रीय सरकार के अधिकारों से अक्सर टकराते हैं इसके विपरीत कठोर एकात्मक शासन में स्थानीय निकायों को प्राय वित्तीय स्वतन्त्रता नाम मात्र की ही होती है, और उन्हें केन्द्रीय अधिकार के नियन्त्रण में कार्य करना पड़ता है। वास्तव में अपने राजस्व पर उन्हें प्रभावी नियन्त्रण प्राप्त *नहीं रहता। इन दोनों अतिवादी स्थितियों के बीच एक ऐसी स्थिति की भी कल्पना* की जा सकती है जहाँ एकात्मक शासन के ढाँचे में स्थानीय निकायों को पर्याप्त स्थानीय स्वायत्तता प्राप्त रहे और वे आर्थिक एवं वित्तीय प्रबन्धों का भली प्रकार सचालन कर सकें। फिर भी हम सर्वत्र यही देख रहे हैं कि आधुनिक राज्यों की आर्थिक और राजनीतिक आवश्यकताओं के वश स्थानीय वित्त पर केन्द्रीय प्रभुत्व बढ़ता जा रहा है।

जिस प्रकार केन्द्रीय कर सम्बन्धी कुछ सिद्धान्त हैं उसी प्रकार स्थानीय करों के सम्बन्ध में कुछ सिद्धान्तों की स्थापना की जा सकती है। एक अच्छी स्थानीय कर-प्रणाली के लिए क्या-क्या बातें आवश्यक हैं? अन्य करों की तरह, स्थानीय करों को भी समानता, निश्चितता, वचत तथा सुविधा के सिद्धान्तों को पूरा करना चाहिए। इनके

1 See Hicks U K —Public Finance 1948 Ch XV

अलावा अच्छे स्थानीय करों की कुछ और भी विशेषताएँ हैं क्योंकि स्थानीय वित्त-व्यवस्था केन्द्रीय वित्त-व्यवस्था से कई आधारभूत बातों में भिन्न है।

(१) अच्छे स्थानीय करों की एक मुख्य विशेषता यह है कि उनसे प्राप्त आय स्थायी होनी चाहिए। व्यापार के उतार-चढ़ाव का उस पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए। स्थानीय सरकार के लिए यह बात अपेक्षाकृत बहुत आवश्यक है। स्थानीय सरकार की ऋण लेने की शक्ति सीमित होती है जबकि केन्द्रीय सरकार के सम्बन्ध में इस दिशा में वस्तुतः कोई सीमा नहीं होती। अस्तु यह आवश्यक है कि स्थानीय सरकार की आय जहाँ तक हो सके स्थायी हो और व्यापार आदि की दशा पर निर्भर न हो। अन्यथा मन्दी के दिनों में स्थानीय सेवाओं का काम बन्द हो जाएगा। सन् १९३० में अमरीका में ऐसा ही हुआ।

(२) आधार का स्थानीयकरण स्थानीय कर-प्रणाली की दूसरी विशेषता है। जब तक कि कर का आधार कुछ सीमाओं के भीतर केन्द्रित न होगा, बजट पर प्रभावपूर्ण नियन्त्रण सम्भव न होगा, और स्थानीय स्वायत्तता भी पूर्ण न होगी। लेकिन इसमें एक खतरा भी निहित है। कराधान इतना भारी हो सकता है कि स्थानीय निकाय के क्षेत्र से पूंजी और उपक्रम सदा के लिए विदा हो सकता है। छोटे क्षेत्रों में आमदनी के अवसर तो कम होते हैं लेकिन बाहर जाने के अवसर अपेक्षाकृत अधिक होते हैं। बम्बई में ऊंचे स्थानीय करों के कारण सूती मिल उद्योग वहाँ से हटकर हैदराबाद, अहमदाबाद आदि नगरों की ओर चला गया। इसलिए यह आवश्यक है कि स्थानीय कर अमीरों और गरीबों के बीच की खाई को और अधिक चौड़ा न करें। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जहाँ तक सम्भव हो, स्थानीय वित्त व्यवस्था से तीव्र और प्रगतिशील करों को यथासम्भव दूर रखना चाहिए। स्थानीय करों को आनुपातिक और थोड़ा सा घटता हुआ होना चाहिए।

(३) "स्थानीय उपयोग के लिए स्थानीय कर" एक तीसरी विशेषता है। राष्ट्रीय और स्थानीय सरकारों के बीच कर लगाने के अधिकारों का उचित बँटवारा होना आवश्यक है। इससे स्थानीय स्वायत्तता अक्षुण्ण बनी रहेगी। ऐसा न होने पर दोबारा और तिबारा कर लगने का डर बना रहेगा, जिससे वित्तीय क्षेत्र में बड़ी गड़बड़ी हो सकती है। साथ ही केन्द्रीय सरकार को अपनी कर-व्यवस्था को उन्नतिशील बनाने में अड़चन होगी।

इन तमाम बातों को ध्यान में रखते हुए भूमि और मकान पर कर स्थानीय उद्देश्यों के लिए अति उत्तम प्रतीत होते हैं। इन करों से आय स्थायी होती है और इनका आधार निश्चित रूप से केन्द्रित होता है। स्थायी होने का कारण यह है कि अन्य माल की तुलना में इनके चलन का वेग धीमा होता है और फलस्वरूप इनके मूल्य में कम उतार-चढ़ाव होता है। अचल सम्पत्ति पर कर में एक और अच्छाई है। प्रत्येक नागरिक के आर्थिक जीवन में उनका इतना महत्व होता है कि कर के थोड़े से भार से भी काफी आय हो सकती है। 'इस प्रकार अधीनस्थ सरकार इस तरह से स्वतन्त्र रूप में काफी राजस्व प्राप्त कर सकती है और उन्हें अपनी मदों को अधिकतम करने की जरूरत भी नहीं है।" केन्द्रीय सरकार द्वारा इन करों पर

अधिकार प्राप्त करने का भी डर नही रहता। सामान्य समय मे केन्द्रीय सरकार की दशा ठीक रहती है किन्तु आपातकाल म इन मदो से अतिरिक्त राजस्व प्राप्त नही कर सकती, चूंकि ये पूर्णतया स्थायी होते हैं।

फिर भी अचल सम्पत्ति पर कर लगाने के सम्बन्ध मे एक कमजोरी नजर आती है। अचल सम्पत्ति का मूल्याकन बहुत दिनो पहले हुआ था। स्थानीय निकाय अचल सम्पत्ति के मूल्याकन के लिए विशेषज्ञो को नियुक्त नही कर सकते। हाँ, यदि केन्द्रीय सरकार स्थानीय अचल सम्पत्ति के वर्तमान मूल्याकन का प्रबन्ध कर दे, तो कुछ सुविधा हो सकती है। एक दूसरी कठिनाई छूट के गुणन से पैदा होती है। फल यह होता है कि जिन्हे छूट नही मिल पाती उन्हे कर का अधिक भार वहन करना पडता है। सिद्धान्तत भूमिकर या अचल सम्पत्ति पर कर के विरुद्ध यह बात कही जाती है कि स्थानीय अधिकारी की दृष्टि से यह आय लोचहीन है, और करदाता की दृष्टि से यह प्रतिगामी है। लेकिन हम यह पहले ही कह चुके हैं कि लोचहीनता और प्रतिगामी स्वरूप, स्थानीय कर-प्रणाली के गुण हैं, दोष नही।

तो फिर उपर्युक्त विश्लेषण के बाद हम किन करो को स्थानीय प्रयोजनो के लिए उचित माने ? किसी नए देश में सबसे अच्छा कर वह होगा जो अचल सम्पत्ति (जमीन) के मूल्य के अनुसार निर्धारित किया जाएगा। इसके अतिरिक्त आमोद-प्रमोद कर, सवारी कर, मोटर कर, चुंगी कर, आजीविका कर, साइकिल कर, पशु कर आदि भी लगाए जा सकते हैं।

यदि स्थानीय सरकारो को अनुदान देने की व्यवस्था हो तो इससे विभिन्न स्थानीय निकायो मे समता स्थापित की जा सकेगी। अनुदानो से स्थानीय आवश्यकताओ और स्थानीय साधनो के बीच का अन्तर कम किया जा सकेगा। स्थानीय साधनों की सहायता करना नितान्त आवश्यक है। किन्तु अनुदान देते समय अत्यधिक उदारता न करनी चाहिए अन्यथा स्थानीय अधिकारी अन्धाधुन्ध खर्च कर डालेंगे। स्थानीय अधिकारियो को प्रत्येक मद पर व्यय करने के पूर्व अनुमान तैयार कराने चाहिएँ और व्यय होने के बाद स्थानीय शासन की लेखा परीक्षा होनी चाहिए। सभी कार्यो के लिए एक मुश्त अनुदान अच्छा रहेगा किन्तु विशिष्ट कार्यो के लिए अलग-अलग अनुदान उतने ठीक नही क्योकि छोटे छोटे विशिष्ट उद्देश्यो के लिए अनुदान स्थानीय आय-व्ययको के लिए सिर दर्द बन सकते हैं।

अध्याय ४६

कर का भार या करापात

(Incidence of Taxation)

१ कर का भार और उसका महत्व (Incidence and its Importance)—वास्तव म कर कौन देता है ?—यही कर के भार की समस्या है। कर सदैव उन्ही व्यक्तियो पर नही पड़ता जो उसको प्रारम्भ मे देते हैं। कभी-कभी वह अन्य व्यक्तियो पर टाला जा सकता है। करापात का अभिप्राय कर के अन्तिम स्थान पर स्थिर होने से है। कर का भार उस मनुष्य के कधो पर पडता है, जो अन्त में उस कर का द्रव्य भार सहन करता है।

हम दबाव (impact) और भार (incidence) म भेद कर सकते हैं। कर का दबाव उस व्यक्ति पर होता है जो प्रारम्भ म उसे देता है। और भार उस व्यक्ति पर होता है जो अन्त म उसे सहन करता है। यदि चीनी पर उत्पादन-कर लगा दिया जाता है, तो प्रारम्भ म उसका भुगतान चीनी का व्यवसायी करता है, तथा उसका दबाव उसी पर ही पड़ता है। परन्तु वह कर चीनी की बिक्री के समय मूल्य म जोड़ दिया जाएगा जो कि तबादलो द्वारा अन्त में चीनी के उपभोक्ता पर पड़ेगा। अतएव उसका भार अन्त मे उपभोक्ता पर पड़ता है।

कर का भार, विवर्तन नहीं होता (Incidence is not Shifting)—कर विवर्तन का अर्थ है हस्ता तरण की विधि अर्थात् एक कर का उस व्यक्ति से, जो सबसे पहले भुगतान करता है, आग उस व्यक्ति तक बढना, जो अन्त म सहता है। यह कर विवर्तन या चलन की विधि के द्वारा ही है कि कर का भार अन्त म कहीं-न कही पड ही जाता है। कर विवर्तन की क्रिया धीमी हो सकती है अथवा कुछ ही अश तक प्रभावक हो सकती है, जिसके कारण एक कर का बोझा उस व्यक्ति पर पूरी तरह नही भी पड सकता, जिस पर कि पडना चाहिए था। कर विवर्तन को प्रतिक्रिया या प्रतिप्रभाव (repercussion) भी कहते हैं।

कर विवर्तन अपवचन से सर्वथा पृथक् है (Shifting is Quite Different from Evasion)—अपवचन का अर्थ कर देने से मुँह चुराना है। मैं कर लगी हुई वस्तु का उपभोग छोड सकता हूँ और इस प्रकार कर को टाल सकता हूँ। इस प्रकार कर से बचना बिलकुल कानूनी है। अपवचन म किसी दूसरे पर कर विवर्तन का कोई प्रश्न नही उठता, कर तो बिलकुल दिया ही नही जाता।

कर के 'भार' और प्रभाव या परिणाम में भेद करना चाहिए। कर के प्रभावो से उसके आनुषगिक परिणाम प्रतीत होते हैं। एक कर के लगाने से ऐसे बहुत से परिणाम होते हैं जो कि कर भार की समस्या से सर्वथा पृथक् होते हैं। जैसा कि

हम देख चुके हैं, यदि चीनी पर उत्पादन कर लगाया जाता है तो वह अन्त मे चीनी के उपभोक्ता पर विवर्तित किया जा सकता है। उपभोक्ता पर उसका भार पड़ता है परन्तु ऐसे उत्पादन-कर के प्रभाव गहरे भी हो सकते हैं, भारी उत्पादन-कर किसी उद्योग को कुचल सकता है। उस व्यवसायी का लाभ कम हो सकता है। मजदूरी घट सकती है। श्रमिकों तथा पूंजीपतियों को उद्योग छोड़ना पड़ सकता है। हजारों बिचौलियों की, जो कि चीनी के वितरण म लगे हुए हैं, आय घट सकती है। उनके पारिवारिक आय व्ययकों (बजटों) में उथल-पुथल होने के कारण कुछ अन्य वस्तुओं की मांग पर भी प्रभाव पड सकता है। चीनी का उपभोग कम हो सकता है और उसकी स्थानापन्न वस्तुओं का उपभोग बढ़ सकता है। यह सब कर के ही प्रभाव हैं।

हम कर के द्रव्य-भार तथा वास्तविक भार म भेद कर सकते हैं। कर का मुद्रा-भार, कोष मे जो कुल द्रव्य आता है उसके बराबर होता है। यदि एक उपभोक्ता को ५ रुपये प्रतिमास चीनी पर इसलिए व्यय करने पड़ें क्योंकि चीनी पर कर लगा हो, तो उसको मुद्रा-भार सहना ही होगा। परन्तु वह चीनी के उपभोग को कम कर सकता है जिससे उसके आर्थिक क्षेम म कमी हो जाएगी। उसको अन्य वस्तुओं के उपभोग को भी कम करना पड सकता है। यह प्रेरणा, असुविधा, त्याग अथवा संक्षेप म आर्थिक कल्याण की क्षीणता है जो कि एक कर का वास्तविक भार कहा जा सकता है। कर के भार में हम मुद्रा भार को ही देखते हैं, न कि वास्तविक भार को।

२. प्रत्यक्ष और परोक्ष कर (Direct and Indirect Taxes)—हम पहले यह बता चुके हैं कि कर के भार की समस्या, जहां तक कि एक प्रत्यक्ष कर का सम्बन्ध है, बहुत सीधी है, क्योंकि एक ही व्यक्ति पर कर का आपात् और कर-भार पड़ते हैं परन्तु एक परोक्ष *कर का एक व्यक्ति पर तो दबाव पड़ता है* और दूसरे पर भार। एक प्रत्यक्ष कर को विवर्तमान बनाने की इच्छा से नहीं लगाया जाता, जब कि एक परोक्ष कर को इसी इच्छा से लगाया जाता है। वास्तव में कर के भार की समस्या परोक्ष कर के सम्बन्ध म ही खडी होती है। इसमें पहले कि हम एक कर के भार की खोज करें, हमको चाहिए कि प्रत्यक्ष और परोक्ष करो मे अधिक स्पष्ट रूप मे भेद करें और उनके सापेक्ष गुण-अवगुण का अध्ययन करें।

वस्तुओं पर कर, साधारणत परोक्ष कर कहलाते हैं, क्योंकि वे पूर्ण रूप से अथवा अपूर्ण रूप से उपभोक्ताओं पर टाल दिए जाते हैं यद्यपि वे विक्रेता या उत्पादकों से पहले वसूल किए जाते हैं। परन्तु हमको यह याद रखना चाहिए कि केवल एक वस्तु पर कर का लगाना ही उसको परोक्ष कर नहीं बना देता। कर को परोक्ष कहने से पूर्व हमको यह निश्चित करना चाहिए कि उसका दबाव विवर्तमान हो। यह भी बहुत सम्भव है कि किसी वस्तु पर कर लगाया जाए, तो भी उसकी कीमत पर कोई प्रभाव न पड़े। इस अवस्था म उपभोक्ता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता और कर प्रत्यक्ष होगा न कि परोक्ष यद्यपि कर वस्तु पर ही है।

३ प्रत्यक्ष तथा परोक्ष करो के सापेक्ष गुण और अवगुण (Relative Merits and Demerits of Direct and Indirect Taxes)—हम प्रत्यक्ष करों के पक्ष म यह कह सकते हैं (In favour of direct taxes we can say)—

(क) वे अधिक निष्पक्ष हैं, क्योंकि उनमे क्रमवर्धमान सिद्धान्त लागू होता है। कर की दर को बदला जा सकता है ताकि कर नागरिक की कर-देयता के अनुसार हो।

(ख) वे मितव्ययी होते हैं, क्योंकि उनके सग्रह पर बहुत थोड़ा व्यय होता है और क्योंकि कर-दाता और राज्य के बीच म कोई मध्य जन नही होते इसलिए मार्ग में कर का कोई अश लोप नही हो जाता।

(ग) उनकी प्राप्ति की गणना बहुत कुछ पूर्ण रूप से की जा सकती है। कर-दाता को भी अपनी निश्चित राशि का, जो उसको देनी है, ज्ञान होता है।

(घ) उनमे अत्यधिक मात्रा म लाच होती है। आय कर ने युद्ध मे राज्य की अत्यधिक बढी हुई आवश्यकताओ की काफी पूर्ति की।

(ङ) वे कर-दाताओ मे एक नागरिक चेतना का भाव उत्पन्न करते हैं। एक मनुष्य जो कि प्रत्यक्ष कर देता है, और जो यह अनुभव करता है कि वह राज्य के व्यय के प्रति धन दे रहा है तो उससे यह आशा की जाती है कि वह नागरिक मामलो मे अधिक तीव्र अभिरुचि रखेगा।

इसके विपरीत प्रत्यक्ष करो में कुछ अवगुण भी होते हैं (On the other hand, direct taxes have some drawbacks too)—(क) उनके भुगतान करने म बहुत असुविधा होती है। प्रत्यक्ष कर-दाता को उनको देते समय कष्ट होता है। इसलिए वे लोकप्रिय नही हैं। कर को एक इकट्ठी राशि मे देना पडता है। विक्रय बही का अनुवर्तन एक जटिल काम है और बहुत क्लेश सहना पड़ता है।

(ख) उनको आसानी से बचाया जा सकता है और राज्य की यथोचित आय म धोखे के कारण कमी हो जाती है। एक तरह से प्रत्यक्ष कर ईमानदारी पर लगाए गए कर के समान होता है।

परोक्ष कर के गुण निम्नलिखित है (The Merits of Indirect Taxation are as under)—

(क) य सुविधाजनक हैं। हम जब कोई वस्तु खरीदते हैं तो कर देते हैं और वह उस समय जब वह सुविधा से दिया जा सकता है। वह थोड़ा-थोड़ा करके दिया जाता है, न कि एकमुश्त। 'बहुत से व्यक्ति कर के मामले मे अधकार में रहना पसन्द करते हैं।' कर-दाता यह अनुभव नही करता कि वह कर दे रहा है। कर तो उस वस्तु के मूल्य मे मिश्रित रहता है जिसको वह खरीदता है।

(ख) परोक्ष कर को टालना अत्यन्त दुष्कर है।

(ग) यदि उन वस्तुओ पर कर लगाया जाए जो कि प्राय धनी पुरुष ही उपभोग करते है, तो परोक्ष करो को भी अधिक समान बनाया जा सकता है। विलास-सामग्री पर साधारणत कर अधिक दर से लगाया जाता है।

(घ) जब कि परोक्ष कर जीवन की अनिवार्यताओ पर लगाया जाता है अथवा उन वस्तुओं पर जिनकी माँग लोचपूर्ण हो, तो वह कर बहुत अश तक लोच-पूर्ण हो जाता है।

(ङ) उनका एक लाभदायक सामाजिक प्रभाव पड़ता है, क्योंकि ऐसे करो द्वारा हानिकारक पदार्थों तथा मादक वस्तुओ के उपयोग को कम किया जा सकता है।

परोक्ष करों में निम्नलिखित अवगुण होते हैं (The Demerits of Indirect Taxes are as follows)—

(क) वे अनिश्चित होते हैं। किसी कर के, जो कि एक वस्तु पर लगाया गया हो, अनेक प्रभावों के सम्बन्ध में पूर्व धारणा करना सर्वथा सम्भव नहीं है। वित्तमन्त्री ठीक ठीक यह अनुमान नहीं कर सकता कि एक कर से कितनी आय प्राप्त हो सकेगी।

(ख) वे प्रतिगामी होते हैं। एक कर लगाई हुई वस्तु का प्रत्यक उपभोक्ता, चाहे वह धावान हो अथवा गरीब, एक ही दर से कर देता है। अतएव, वास्तविक भार गरीब पर धनवान की अपेक्षा अधिक पड़ेगा।

(ग) वे कर दाता म किसी नागरिक चेतना का विकास नहीं करते।

(घ) यद्यपि दुकानदार को अवैतनिक कर इकट्ठा करने वाला समझा जाता है, तो भी यह विचार किया जाता है कि कुछ निश्चित परोक्ष करो को वसूल करन मे लागत अत्यधिक लग जाती है। सीमा शुल्क के वसूल करन के लिए एक उच्च आगम कर्मचारी वग को, चोरी से भीतर से माल लाने को रोकने के लिए छापा मारने वाले समूह का अभियोजन करना पड़ता है। य कर एक दूसरी दृष्टि से भी अलाभकर हैं। कर आरोपित वस्तु अनेक मध्य जनो के बीच से निकलती है और हर एक उम पर कुछ कर जोड देता है। इस प्रकार अन्तिम ग्राहक, राज्य को जो कुछ मिलता है, उससे कहीं अधिक भुगतान करता है।

४ कर का सम्मिश्रण सिद्धान्त (Diffusion Theory of Taxation)—कर के सम्मिश्रण के सिद्धात को मानने वाले यह कहते ह कि कर समुदाय म अपने आप विस्तारपूवक मिश्रित हो जाता है जिससे कि हर एक कर दाता कर के बोझ का केवल एक छोटा अनुपात ही अपने ऊपर लेता है। वह एक ऐसा अनुप त है जिसे वह सह सकता है और उसे सहना भी चाहिए। वास्तविकता यह है कि कर का बोझ अपने आप समाज के विभिन्न वर्गों के ऊपर बराबर से बँट जाता है।

विनिमय की विधि के द्वारा प्रसार होता है। यदि किसी वस्तु पर कर लगा दिया गया है तो वह वस्तु की कीमत मे छिपकर धीरे धीरे उपभोक्ताओं पर आ जाता है। लाभ पर लगाया हुआ कर भी वस्तु की लागत मे आ जाएगा। कर उत्पादन व्यय का एक भाग होता है या किसी सेवा काय के व्यय का भाग होता है और इस प्रकार यह एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के पास वस्तु के साथ जाता है और शान्त हो जाता है जब कि उसे होना ही चाहिए। यह समुदाय क किसी विशप भाग को हानि नहीं पहुँचाता।

इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि करारोपण का कुछ प्रसार या सम्मिश्रण ता होता ही है पर तु यह कहना कि कर प्रसार के कारण करारोपण का बोझ अपने आप कर दाता की सहनशक्ति के अनुसार समावर्तित हो जाता है, शायद अतिशयोक्ति होगा। यदि यह इतना स्वयगामी होता तो वित्तमन्त्रियो को किसी कर के सम्भावित प्रभाव का पता लगाने और उसकी गहरी खोज करने की आवश्यकता न पड़ती। यदि कर किसी अज्ञात नियम के अनुसार प्रसारित हुआ करते, तो वे किसी

विशेष वर्ग के लोगो के लिए करारोपण के मार्ग न ढूँढते । कोई भी यह गम्भीरता-पूर्वक विश्वास नही करता कि कर समस्त समुदाय के ऊपर अपने आप न्यायोचित ढग से फैले हुए हैं वरना जब भी कर लगाया जाता है, उस समय के कोलाहल की व्याख्या हम किस प्रकार कर सकते हैं।

कुछ ऐसे कर है जैसे पोल टैक्स, उत्तराधिकार कर या आय कर जिनमें कि विवर्तन (shifting) बिलकुल नही होता, उनमे सम्मिश्रण भी बिलकुल नही होता। इस सिद्धान्त का प्रयोग केवल सीमित है । यह परोक्ष करो के सम्बन्ध मे प्रयुक्त होता है और उनके सम्बन्ध मे भी यह नही कहा जा सकता कि ये समस्त समुदाय में स्वयं फैल जाते हैं ।

सम्मिश्रण या प्रसार-सिद्धान्त स्वतन्त्र और पूर्ण प्रतियोगिता को मान लेता है, जिसका अस्तित्व नही होता । आर्थिक सघर्ष अधिक मात्रा में रहता है जो कि कर के विवर्तन के मार्ग को रोकता है ।

प्रसार सिद्धान्त, नियम की दृष्टि से दोषपूर्ण है, वास्तविक अनुभव तथा विश्वास के प्रतिकूल है तथा यह केवल एक सीमित प्रयोग के ही अन्तर्गत है । इसकी केवल यही विशेषता है कि यह इस बात पर जोर देता है कि कर जहाँ पहले लागू किए जाते है, वही नही बने रहते । किन्तु समाज मे उचित रूप से पूर्णत कर के बोझ को वितरित करने के लिए हम ऐसे सिद्धान्त पर विश्वास नही कर सकते ।

हम अब कुछ महत्त्वपूर्ण करो के भार पर विचार करेंगे ।

५ वस्तु कर (Commodity Tax)—किसी वस्तु पर कर विवर्तन की प्रवृत्ति उत्पादक से उपभोक्ता की ओर, और फिर उपभोक्ता से उत्पादक की ओर विवर्तन करती रहती है । किसी वस्तु के उत्पादन पर कर की प्रवृत्ति उसकी कीमत को बढाने की ओर रहती है और इसलिए उसको साधारणत उपभोक्ता सहन करेगा । किन्तु उपभोग पर कर लगाने से उपभोग पर रोक लगने की सम्भावना रहती है और उसकी प्रवृत्ति फिर पीछे उत्पादक तक विवर्तन की ओर रहती है।

किन्तु जिस सीमा तक वास्तव मे कर का विवर्तन किया जाएगा, यह मांग और उसकी पूर्ति वक्रो पर आधारित है । यदि मांग लोचहीन है, जैसा कि जीवन की आवश्यकताओ के सम्बन्ध मे है, तो लोग उस वस्तु को अवश्य खरीदेंगे । उत्पादक की स्थिति दृढ रहेगी और कर के पूरे बोझ को उपभोक्ता पर विवर्तित किया जाएगा । परन्तु यदि मांग लोचदार हुई तो लोग कम खरीदेंगे । इस स्थिति मे कर की पूरी रकम के अनुसार कीमत नही बढेगी । इसलिए कुछ अश मे विक्रेता व कुछ अश मे खरीदार कर का बोझ सहन करेंगे । ठीक-ठीक कितना ? यह लोच की मात्रा पर निर्भर करेगा । इसी प्रकार यदि पूर्ति लोचहीन होती है, जैसा कि खराब हो जाने योग्य वस्तु के सम्बन्ध मे होता है, विक्रेता पूर्ति को वापस नहीं ले सकता । उसकी स्थिति कमजोर होती है । कर उसी पर पडेगा और जमा रहेगा । यदि पूर्ति लोचदार हुई तो वह उपभोक्ता पर बोझ को विवर्तित कर सकता है ।

यह सम्भव है कि कीमतो में बिलकुल वृद्धि न हो । यह तब होता है जब कि उपभोक्ता उस वस्तु की ऐसी प्रतिपूर्ति ढूँढ निकालता है, जिस पर कर नहीं लगा हो

या उसने कोई दूसरी ऐसी वस्तु निकाली हो जो उसी की स्थानापन्न हो और जिस पर कर न लागू हो। ऐसी स्थिति में कर का पूरा बोझ उत्पादक तथा विक्रेता पर पड़ेगा।

पूर्ति की ओर से प्राप्ति के नियम अपने प्रभाव का प्रयोग करेंगे। किसी वस्तु पर कर लगाने से उसकी मांग पर रोक लगती है जिसके बदले में उत्पादन भी रुक जाएगा। यदि किसी उद्योग पर क्रम वर्द्धमान प्राप्ति का नियम लागू होता है तो ऊँची लागत पर कम उत्पादन होगा, किन्तु यदि ह्रासमान प्राप्ति का नियम लागू होता है तो कम लागत पर अधिक उत्पादन। इस स्थिति से पहले बताई गई स्थिति में कीमतें ऊँची होंगी, फलतः उपभोक्ता पर बोझ आएगा।

बहुत कुछ कर की रकम और प्रणाली पर भी निर्भर करता है। छोटे कर की कोई चिन्ता नहीं करता। थोड़ी सी रकम के लिए कोई उत्पादक अपने ग्राहक को परेशान करना पसन्द नहीं करेगा। वह स्वयं प्रसन्नता के साथ उसे सहन कर लेगा। केवल जब कर की रकम भारी होगी तभी उसका विवर्तन होगा। सीमान्त पैदावार पर कर कीमत को बढ़ा देगा परन्तु आधिक्य पैदावार पर नहीं।

वस्तु की किस्म से भी अन्तर पड़ेगा। शक्कर जैसी वस्तु पर लगे कर का विवर्तन शीघ्रता से हो जाएगा। किन्तु इतनी जल्दी एक मकान पर लगे कर का विवर्तन नहीं हो सकता, क्योंकि एक निश्चित अवधि के लिए किराया निश्चित होता है और जब तक पट्टा चालू है, उस अवधि में कुछ भी नहीं किया जा सकता।

वस्तु-कर के विवर्तन की क्रिया को जो अन्य तत्त्व प्रभावित करते हैं, वे यह हैं—प्रतियोगिता पूर्ण है या नहीं तथा श्रम और पूंजी स्वतन्त्र रूप से गतिशील है या नहीं। केवल स्वतन्त्र और बन्धनरहित प्रतियोगिता के द्वारा ही कर को उपभोक्ता तक पहुँचाया जा सकता है। अन्यथा यह उत्पादक पर ही स्थिर रहेगा। यदि श्रम तथा पूँजी स्वतन्त्र रूप में गतिशील हैं तो इससे उत्पादक की उपभोक्ता पर बोझ डालने की क्षमता में वृद्धि होती है। इसके विपरीत, यदि किसी उद्योग में पूँजी बड़े परिमाण में एकत्रित और बेकार पड़ी है, तो उत्पादक की उतनी ही स्थिति कमजोर रहेगी और सम्भावना इस बात की रहेगी कि उसी को कर का बोझ सहन करना पड़ेगा। वह अपनी पूँजी को वापिस नहीं ले सकता। कुछ समय गँवाते हुए भी उसे मैदान में रहना ही होगा।

इस प्रकार 'भार' बहुत जटिल प्रश्न है। यह कीमत की निर्धारण की बड़ी समस्या का एक भाग है। कीमत पर भिन्न भिन्न और परस्पर विरोधी प्रभाव होते हैं।

६ एकाधिकार पर कर (Tax on Monopoly)—हम यह बता चुके हैं कि कर भार का प्रश्न कीमत सम्बन्धी सिद्धान्त के बड़े प्रश्न का एक भाग है। जिस प्रकार एकाधिकार के अन्तर्गत कीमत निर्धारण प्रतियोगिता की स्थिति में होने वाले कीमत निर्धारण से भिन्न होता है, उसी प्रकार एकाधिकार पर कर का भार भी भिन्न रूप में कार्य करता है।

एकाधिकार कर (क) एकाधिकृत उत्पादित वस्तु की उपस्थिति से स्वतन्त्र

हो सकता है (ख) तथा वह पैदावार से भिन्न रूप का हो सकता है अर्थात् पैदावार के साथ वृद्धि या कमी।

जब कर उत्पादित वस्तु के परिमाण से स्वतन्त्र होता है, तब यह एकाधिकारी पर एकमुश्त रकम के रूप में कर, या एकाधिकारी के विशुद्ध राजस्व (लाभ) का एक प्रतिशत हो सकता है। इन दोनो स्थितियो मे यह एकाधिकारी पर पड़ेगा। वह इसका विवर्तन उपभोक्ता पर नहीं कर सकता। ऐसा कीमत बढ़ाकर किया जा सकता है। किन्तु ऐसा माना जाता है कि वह पहले ही कीमत निश्चित कर चुका है, जिससे उसको एकाधिकार की अधिकतम विशुद्ध आय हुई है। इससे ऊँचे या नीचे मूल्य (कीमत) का अर्थ होगा कम एकाधिकार का लाभ। यदि उसके लिए अपना लाभ अधिकतम करने की नीति के अनुरूप कीमत बढाना सम्भव होता है, तो उसने इसे पहले ही कर लिया होता है। इस प्रकार लाभ काटकर ही कीमत में कोई परिवर्तन होगा। ऐसा होने के कारण उसको अब अपने लाभ म से ही कर का भुगतान करना होगा। विक्रय-कीमत को अपवर्तित रखकर और उपभोक्ता को बिना प्रभावित किए हुए वह कर का भुगतान करने के बाद अधिकतम लाभ प्राप्त करेगा।

यह सम्भव है कि वह बजाय यह खोज करने के कि कर देने के बाद लाभ को कैसे अधिकतम किया जाएगा वह कीमत बढाकर उपभोक्ता पर कर का बोझ डाल दे। लेकिन ऐसा करना लाभ को कम करना होगा।

यदि अधिकतम लाभ पाने की अपेक्षा वह उपभोक्ता के हित का ध्यान रखते हुए कम लाभ लेता है तो जब कर लगेगा, वह धीरे से उसे प्राप्त कर लेगा और इस सीमा तक कर के बोझ को उपभोक्ताओं पर विवर्तित कर दिया जाएगा।

आइए हम अब यह अध्ययन करें कि जब कर प्रत्यक्ष रूप मे या उलटे रूप म उत्पादित वस्तु के परिमाण मे भिन्न होता है, तब क्या होता है। ऐसी स्थिति में जैसा कि पहले विचार किया जा चुका है, माँग और पूर्ति की लोच तथा उत्पादन के नियमो के प्रभाव पर विचार करना होगा। कर उत्पादन की लागत में शामिल हो जाएगा। इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक उत्पादित इकाई के व्यय में योग हो जाएगा। अस्तु वस्तुओं पर कर लगने से कीमत बढती है जो माँग को कम कर देगी।

यदि वस्तु का उत्पादन क्रम वर्द्धमान प्राप्ति के नियम को मानता है, तो कर लगाने के फलस्वरूप उत्पादन मे होने वाली कमी घटती हुई प्राप्ति के नियम से भी अधिक कीमत बढा देगी। पहली स्थिति से दूसरी स्थिति में उपभोक्ता पर अधिक भार आएगा। जब सीमान्त लागत स्थिर है तथा एकाधिकारी के सामने माँग वक्र एक सीधी रेखा की तरह है, तो एकाधिकार कीमत के सिद्धान्त[1] के अनुसार कर लगाई गई वस्तु की कीमत कर की आधी मात्रा के बराबर बढ जाएगी; जबकि प्रतियागिता की स्थिति मे कीमत कर की पूरी मात्रा के बराबर बढ जाती। यदि माँग वक्र नतोदर (Concave) है तो कीमत मे वृद्धि इससे अधिक होगी। जहां माँग वक्र इस प्रकार नतोदर है कि सीमान्त आय वक्र प्रासगिक फैलाव पर माँग वक्र के समानान्तर है तो कीमत कर की पूरी मात्रा के बराबर बढ जाएगी। तो भी यदि माँग वक्र केवल

1 See Mrs J Robinson—The Economics of Imperfect Competition

नतोदर नहीं है परन्तु स्थिर लोच प्रकट करता है, तो सीमान्त लागत और कीमत के बीच अनुपात स्थिर रहेगा। सीमान्त आमदनी, कीमत से कम होने के कारण सीमान्त आमदनी वक्र की ढाल माँग वक्र की ढाल से कम होगी, अतः कीमत कर से अधिक बढ़ जाएगी।[1]

यदि उत्पादन को प्रोत्साहित करने के लिए कर की दर उत्पादन के विपरीत रूप में भिन्न होती है, तब एकाधिकारी को अधिक उत्पादन करने तथा कीमत को नीचा रखने का प्रलोभन मिलेगा। कर का भार पूर्णतः एकाधिकारी पर होगा जो वास्तव में अपने एकाधिकार-लाभ का एक अंश उपभोक्ताओं को देता रहेगा।

सत्य यह है कि चूँकि एकाधिकारी में कीमत प्रभावित करने की बहुत अधिक क्षमता होती है और साथ ही चूँकि वह बाजार पर भी नियन्त्रण रखने की स्थिति में होता है, इसलिए एकाधिकार कर का भार अनिश्चित रहता है।

७ आयात तथा निर्यात पर कर (Taxes on Imports and Exports)—सामान्यतः तथा लगभग विशिष्टत स्वदेश के उपभोक्ताओं को ही आयात करों को सहन करना पड़ता है। आयातकर्ता जो कर देता है, वह उस कीमत में जोड़ दिया जाता है जिसे वह दूसरे खरीदार से लेता है और यही क्रम चलता रहता है। अन्तिम रूप से कर उपभोक्ता तक ही पहुँचता है। ऐसे थोड़े से ही आयात होते हैं जिनमें करों का भार विदेशी उत्पादकों पर छोड़ा जा सकता है। यदि आयात की हुई वस्तु के लिए हमारी माँग लोचदार है ताकि हम उसे खरीदें या न खरीदें, और यदि पूर्ति लोचदार नहीं है, और विदेशी उत्पाद के लिए कोई दूसरा बाजार नहीं है, तब ऐसी स्थिति में कर का भार विदेशी उत्पादक पर डाला जा सकता है। किन्तु ऐसी स्थितियाँ बहुत कम रहती हैं तथा स्वदेश के उपभोक्ता ही को कर का भार सहन करना पड़ता है।

इसी प्रकार निर्यात कर माल भेजने वाले को देना पड़ता है। जहाँ तक उस का सम्बन्ध है विश्व के बाजारों में कीमत निश्चित है। कोई भी व्यक्तिगत निर्यातक विश्व की कीमत को प्रभावित करने की स्थिति में नहीं है। किन्तु हम यहाँ भी उस स्थिति की कल्पना कर सकते हैं, जिसमें अपवादस्वरूप निर्यातक मजबूत स्थिति में है, ताकि कर विदेशी खरीदार पर डाला जा सके। उदाहरणार्थ, किसी वस्तु की पूर्ति के हम एकाधिकारी हो सकते हैं और हमारे उत्पादनों के लिए विदेशियों की माँग लोचहीन हो सकती है, क्योंकि उनके दूसरे बाजार हमारे माल के लिए खुले हो सकते हैं। ऐसी परिस्थितियों में हम कर की पूरी रकम के अनुरूप वस्तु की कीमत बढ़ाकर निश्चित रूप में विदेशियों से निर्यात कर दिला सकते हैं। किन्तु ऐसी स्थिति मुश्किल से आती है। जब तक यह स्थिति उपस्थित न हो, निर्यातक को ही निर्यात कर देना पड़ता है। डाल्टन ने यह नियम स्थिर किया है—"आयात और निर्यात पर करों को विनिमय की बाधा माना जा सकता है और पिछले सिद्धान्त के अनुसार ऐसी किसी बाधा के मुद्रा-सम्बन्धी भार को विनिमय के दो पक्षों के बीच में अपनी क्रमिक माँगों की लोच के विपरीत अनुपात में विभाजित किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में

1 Mrs U K. Hicks—Public Finance, 1948, pp 173 74

विभाजन उनकी क्रमिक आवश्यकताओं की तात्कालिकता के प्रत्यक्ष अनुपात में होता है जिनकी तृप्ति विनिमय के द्वारा होती है।'[1]

८ भूमि पर कर (Taxation on Land)—भूमि का मूल्य दो प्रकार के तत्वों पर निर्भर करता है—(क) भूमि की उर्वरता, भूमि की स्थिति तथा कुछ अन्य प्राकृतिक दशाएँ तथा (ख) नाली सम्बन्धी योजनाओं पर पूँजी का लगाना भूमि क्षय विरोधी उपाय सिंचाई सम्बन्धी सुविधाएँ तथा उत्पादित शक्ति को कायम रखने और उनमें वृद्धि करने के लिए आवश्यक अन्य उपाय। प्रथम प्रकार के तत्व पर आश्रित रहने वाला कर आर्थिक लगान पर कर है और वह मालिक पर आता है। वह इस किराएदार पर नहीं लगा सकता। कारण आर्थिक लगान भूमि कर से स्वतन्त्र मांग द्वारा निश्चित किया जाता है। सीमान्त भूमि से अपनी भूमि की श्रेष्ठता के अनुरूप मालिक पहले से ही पूरा किराया लेता रहता है, यह अनुमान लगाया गया है। किन्तु यदि अज्ञानता या आलस्यवश वह पूरा आर्थिक किराया नहीं ले रहा है तो जब कर लगेगा तब वह चारों ओर शीघ्र ही अपनी दृष्टि डालेगा और धीरे से उसे प्राप्त करेगा। इस सीमा तक कर का बोझ किरायदार पर आ जाता है।

इस प्रकार के कर अथवा आर्थिक लगान पर कर का बोझ उपभोक्ता पर नहीं डाला जा सकता क्योंकि केवल कीमत के द्वारा ही उपभोक्ता तक पहुँचा जा सकता है। हम जानते हैं कि लगान कीमत में नहीं शामिल होता। लगान को कम या अधिक करने का प्रभाव कीमत पर नहीं पड़ता। भूमि पर रहने वालों के द्वारा लगान का भुगतान होता है वह कोई अन्तर नहीं उपस्थित करती। यदि वह कर का भुगतान करता है तो वह मालिक को लगान का भुगतान करने के समय उसे उसमें से काट सकता है।

इस प्रकार भूमि के मालिक द्वारा आर्थिक लगान सहन किया जाता है न कि किरायदार या उपभोक्ता के द्वारा।

किन्तु जहाँ मालिक भूमि में अपने विनियोग को बदल सकता है, वहाँ जब कर लागू होगा वह अपने विनियोग को कम कर देगा। इसका प्रभाव उपज पर और इसलिए वस्तु की कीमत पर पड़ेगा। ऐसी स्थिति में अथवा उन्नति की स्थिति में कर उपभोक्ता पर पहुँच जाता है।

भवन के स्थानों पर लगने वाला कर इन स्थानों के मालिकों पर ही जो अपनी भूमि की अधिक अच्छी स्थिति होने के कारण अतिरिक्त आय प्राप्त करते हैं, पड़ता है।

९ मकान पर कर (Tax on Buildings)—जहाँ तक गृह निर्माण का सम्बन्ध है दो पक्षों का तत्काल पारस्परिक सम्पर्क होता है। ये पक्ष हैं मालिक और किरायदार। यदि मालिक पर कर लगाया जाता है तो वह मकान का किराया बढ़ाने का प्रयास करेगा और इस प्रकार वह कर के बोझ को किरायदार पर या रहने वाले

1 Dalton Principles of Public Finance 1943 p 57

पर पहुँचा देगा। किन्तु जब तक पट्टा चालू है उस अवधि के बीच वह कुछ नहीं कर सकता। किराये पर नियंत्रण रखने और मालिकों को किराया बढ़ाने से रोकने के लिए किराया कानून भी हो सकते हैं। यदि वह किराया बढ़ा भी सकता है तो किरायेदार कम निवास स्थान का अधिक ऊँचा किराया समझकर दूसरे मकान में चला जा सकता है। अतः ऐसे मामलों में कम से कम कुछ समय के लिए भार जमींदार पर ही रहेगा। किन्तु परिणाम यह हो सकता है कि किराये पर उठाने के लिए भवन निर्माण लाभप्रद साध्य न रहे। भारी कर भवन निर्माण की क्रिया में रुकावट हो जाएगा तथा सम्भव है कि इस काम में लगे लोगों व निर्माणकर्त्ता की आय का स्तर गिर जाए। भवनों के लिए स्थानों की माँग कम हो सकती है। यदि वे उसे बेचने की चेष्टा करेंगे तो नया खरीदार कर को ध्यान में रखेगा और उसके अनुरूप कम कीमत आँकेगा। किन्तु कुछ समय में मकानों की पूर्ति कम हो सकती है तब किराये में अधिक वृद्धि होगी। इस प्रकार कुछ सीमा तक कर का बोझ पुनः किरायेदारों पर आ जाएगा। इस प्रकार कर का बोझ अन्त में मालिक अथवा भवन निर्माणकर्त्ता और अंशतः रहने वालों पर पड़ता है।

इस प्रकार अन्त में हम इस परिणाम पर पहुँच सकते हैं कि सामान्यतः मकान पर लागू कर का बोझ रहने वाले पर आता है। परन्तु कुछ परिस्थितियों में इसे मालिक या निर्माणकर्त्ता या ग्राहक पर डाला जा सकता है।

१० जायदाद कर (Property Tax) वास्तव में यह आय कर है और यह क्षतिपूर्ति के अभिप्राय से लगाया जाता है। जब किसी भी प्रकार की जायदाद पर कर लगाया जाता है तो उसकी कीमत में वृद्धि होती है। यह माँग को कम करेगी तथा इसके पश्चात् पूर्ति समायोजित हो जाएगी जिससे इसके उत्पादक साधन दूसरे व्यवसायों में प्रयोग में लाए जाएँगे। इसके विपरीत कर के हटाए जाने अथवा कम करने से उत्पादक साधन इस ओर आकर्षित होंगे। स्थायी वस्तुओं में जिनके उत्पादन में काफी समय लगता है पूर्ति केवल क्रम से प्रभावित होगी। यह मकानों में लागू होता है। उत्पादक वस्तुओं के विषय में क्या होगा? उत्पादक साधनों का जो कर लगाई गई वस्तुओं के उत्पादन में प्रयोग में लाए जाते हैं मूल्य कम हो जाएगा। परन्तु वह किस सीमा तक गिरेगा यह माँग की प्रकृति यन्त्र के जीवन तथा कब तक उसका प्रयोग सम्भव है इस पर निर्भर होगा। परन्तु जब उत्पादक वस्तुओं पर प्रत्यक्ष रूप में कर लगाया जाता है उनके मूल्य तुरन्त प्रभावित होते हैं। जितनी ही वस्तु स्थायी होगी और जितने ही समय तक कर लगने की सम्भावना होगी उतना ही अधिक उत्पादन मूल्यों पर प्रभाव पड़ेगा जब कि कम स्थायी वस्तुओं पर थोड़े समय के लिए कर लगने से प्रभाव कम पड़ेगा।

११ दरों का भार (Incidence of Rates)—सम्पत्ति के पूंजीकृत मूल्य या वार्षिक मूल्य के अनुपात से अचल सम्पत्ति पर स्थानिक संस्थाओं द्वारा दर लागू किए जाते हैं। उनका भार ठीक भवन निर्माण करों के भार जैसा होता है। इसको भी मालिक रहने वाले या ग्राहक (यदि व्यावसायिक उद्देश्य में सम्पत्ति का प्रयोग होता है) सहन करेंगे तथा हर एक पड़ने वाला क्रमिक बोझ आर्थिक संघर्ष तथा सभी

पक्षों की सम्बन्धित सौदा करने की शक्ति या उस सम्पत्ति के लिए माँग और पूर्ति की सापेक्ष लोचों पर निर्भर करेगा।

यह सामान्य नियम है कि स्थान के मूल्य पर कर उसके मालिक पर पड़ेगा और भवन का कर अथवा निर्माण दर उसके रहने वाले या उद्योग के ग्राहक पर पड़ेगा। रहने वाले की दूसरा मकान बदलने की इच्छा तथा योग्यता पर बहुत कुछ निर्भर करेगा। जितना ही अधिक वह स्थान बदलने के लिए इच्छुक तथा योग्य होगा, उतना ही अधिक दर का भार मालिक पर पड़ने की सम्भावना होगी। अल्पावधि में संग्रह की रीति भी महत्त्वपूर्ण है। चाहे मालिक अथवा रहने वाले, जिस पर भी इसका दबाव होता है, अल्पावधि में इसकी प्रवृत्ति वहीं पर जमे रहने की रहेगी।

यह सभी जानते हैं कि हर म्यूनिसिपैलिटी के तथा हर डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के अपने अपने अलग अलग दर होते हैं। इसलिए करदाता ऊँचे कर वाले स्थानों से हटकर नीची दर वाले स्थानों को हटना पसन्द करते हैं। वर्तमान स्थानीय करों की असमानताएँ बहुत अधिक हैं किन्तु इनमें देश में उत्पादक साधनों के सही वितरण में सहायता मिलेगी।

१२ मृत्यु कर (Death Duty)—लगभग सभी विकसित देशों में मृत्यु कर कर व्यवस्था का प्रमुख अंग है। मृत्यु कर के दो रूप होते हैं—सम्पदा कर (Estate Duty) तथा उत्तराधिकार कर (Succession Duty)। उत्तराधिकारी के सम्बन्ध में प्रयोजन न रखते हुए मृत व्यक्ति द्वारा छोड़ी हुई चल अचल समस्त सम्पत्ति के कुल मूल्य पर भू सम्पत्ति कर लगाया जाता है। सम्पत्ति के कुल मूल्य के अनुसार इसमें वृद्धि हो जाती है। उत्तराधिकार कर में मृतक के साथ माफीदार (beneficiary) के सम्बन्ध के अनुरूप रूपान्तर होता है। इसको उस अलभ्य तत्त्व के आधार पर विभाजित किया जाता है जो सम्बन्ध की दूरी को बढ़ाता है। यह उत्तराधिकारी के वैयक्तिक हिस्सों पर विचार करता है न कि कुल मूल्य पर, जैसा कि भू सम्पत्ति कर के सम्बन्ध में होता है।

मृत्यु करों का भार कहाँ पर पड़ता है? क्या यह भार मृतक या माफीदार अर्थात् उत्तराधिकारी पर होता है? यदि मालिक मर चुका है तो ऐसा कहा जाता है कि मृत्यु समस्त ऋण का भुगतान करती है। उससे अब और अधिक कर नहीं लिया जा सकता। उस पर आगे कोई और बोझ नहीं डाला जा सकता। यदि इस प्रकार का कर देने के लिए उसका बीमा हुआ होता, तब वह निश्चित रूप में इसे सहन करता जब कि उसने प्रीमियम का भुगतान किया है। क्योंकि जायदाद के मालिक को, जब कि वह जीवित था, ऐसी कोई सम्भावना नहीं थी, इसलिए अब उस कर का भार स्पष्टतः माफीदार पर पड़ेगा क्योंकि वह उसकी उतनी कम सम्पत्ति का उत्तराधिकारी है। मृतक की सम्पत्ति पर लगाए गए कर के द्वारा वह और गरीब होता है।

करदाता के दृष्टिकोण से भारी वार्षिक आय कर तथा मृत्यु कर में कौनसा कर अच्छा है? यह इस बात पर निर्भर है कि वह किस दर से मृत्यु कर के अपने दायित्व को पूर्णप्रापण करता है। क्योंकि वर्तमान स्वामी को न तो अपनी आय देनी पड़ती है और न अपनी पूंजी। इसलिए वह मृत्यु कर के दायित्व को ऊँची दर से

अपहार करता है। अतएव मृत्यु कर का अर्थ उसके लिए थोड़े त्याग से है। अत सरकार आय कर के लगाने के बजाय मृत्यु कर लगाकर अपनी आमदनी बढ़ा सकती है तथा इससे करदाता को असन्तोष भी कम होगा।

जहाँ तक मृत्यु कर के आर्थिक प्रभाव का प्रश्न है, वे वार्षिक आय कर की भाति अधिक हैं किन्तु एकमुश्त कर भुगतान के समान उतने नहीं हैं। इसम सन्देह नहीं कि मृत्यु कर का भुगतान भू सम्पत्ति अथवा पूँजी से किया जाता है परन्तु इस दायित्व को भुगतान करन म बेची जाने वाली सम्पत्ति समदाय की सामान्य वार्षिक बचत द्वारा सरलता से खरीदी जा सकती है। अत मृत्यु कर का भुगतान पूँजी की अपेक्षा आय से समझना चाहिए।

समुदाय म मृत्यु कर धन के वितरण म अधिक समानता लाना है और इसलिए सामाजिक न्याय क आदर्श के पूर्णतया अनुरूप है। यह उपभोग म स्थिरता प्रोत्साहित करता है।

यह बहुधा कहा जाता है कि मृत्यु कर छोटे व्यवसायियों का विस्तार के लिए पूँजी इकट्ठा करने म बाधक होता है। परन्तु इसके लिए केवल मृत्यु कर पर पूरा दोष न लगाना चाहिए। आजकल छोटी व्यावसायिक सस्थाओं की पूँजी के बाज़ार म अधिक साख नही है। अतिरिक्त कर भी विनियोजन के लिए पर्याप्त निजी पूँजी में कमी कर देता है। तो भी मृत्यु कर कृषि पूँजी को हानि पहुँचाता है। वास्तविक भू सम्पत्ति का बाज़ार सीमित होता है और अब मृत्यु कर के दायित्व को भुगतान करने के लिए उन्हे बेचना होता है तो उसके उत्पादक मूल्य म भारी कमी हो सकती है।

१३ आय पर करो का भार (Incidence of Taxes on Income)—आय-कर, अतिरिक्त कर तथा आधिक्य लाभ कर य सभी प्रत्यक्ष कर हैं और इनको वे लोग सहन करते हैं जो पहले इनका भुगतान करते हैं। उनको साधारणतया स्थानान्तरित नही किया जा सकता। किन्तु एक व्यवसायी यदि उन लोगों से जिनसे उस के व्यापारिक सम्पर्क हैं ज्यादा मजबूत स्थिति म होता है तो वह अपने कर के एक भाग को अपने ग्राहकों पर डाल सकता है। हो सकता है कि वह बहुत ही लोकप्रिय व्यापारी हो हो सकता है कि वह ऐसा चिकित्सक हो जिसम उसके रोगियो का पूर्ण विश्वास हो। ऐसा स्थिति में ग्राहक कुछ अधिक भुगतान करने को तैयार हो सकते हैं। किन्तु ऐसी स्थिति बहुत कम होती है और आय कर-दाताओं को ही कर का बोझ सहन करना पडता है। अल्पावधि म यह निश्चित है कि व्यवसायी पर कर की कीमत जो माँग और पूर्ति के द्वारा निश्चित होती है, कोई प्रभाव नही रखती। लाभ कीमत पर निर्भर करता है परन्तु इसके विपरीत सही नहीं है। अत लाभ पर कर कीमत म वृद्धि करके उपभोक्ता पर नहीं डाला जा सकता। दीर्घकाल म भारी कर पूर्व धारणा किए हुए लाभो को घटाकर उद्यम म बाधा डाल सकता है। परन्तु यह पूँजी लगाने के प्राप्य वैकल्पिक स्रोतो तथा पूर्ति की लोच पर निर्भर करेगा। यह कहना अत्यन्त कठिन है कि दीर्घकाल म क्या होगा। उदार कर की अवाछित प्रतिक्रिया न होने की सभावना है।

यदि आय कर अत्यधिक भारी है, तो यह बचत को हतोत्साह कर सकता है, पूंजी के इकट्ठा होने को रोक सकता है, या उसे बाहर निकाल सकता है। ऐसे भारी कर की व्यापक प्रतिक्रिया होगी तथा समाज की उत्पादक क्षमता का ह्रास होगा। किन्तु मुश्किल से ही कर इतने भारी होते हैं। अस्तु, साधारणत ये कर उन्ही पर निर्भर करते हैं, जिन पर इनका लाग किया जाता है।

भारी आय कर उद्यम तथा साहस को हताश कर सकता है। फिर भी यह इस बात पर निर्भर होगा कि कर औसत आय पर पड़ता है या सीमान्त आय पर पड़ता है। पहली अवस्था में करदाता कम आय की श्रेणी म हस्तान्तरित हो जाता है तथा उसको अपने प्रचलित रहन-सहन का स्तर बनाए रखने के लिए अधिक परिश्रम करना पड़ेगा। यदि कर की वृद्धि पूर्णतया सीमान्त आय वालो पर पड़ती है तो इसका अर्थ आय को पूरा करने के लिए उत्साह भग करने के कार्य से होगा। वास्तव मे उद्यम कितना प्रभावित होगा यह करदाता की आय तथा उसके अपने प्रयत्न को परिवर्तित करके, दायित्व को परिवर्तित कर सकने की शक्ति पर निभर होगा। साधारणतया अपने प्रयत्नो को परिवर्तित करके आय क परिवर्तित कर सकने की शक्ति कुछ ही श्रमिको मे होती है। ऐसा तभी हो सकता है जबकि अतिरिक्त समय म काम करने की माँग अधिक है।

१४ ब्याज पर कर (Tax on Interest)—आय के स्रोत के रूप मे साधारणत आय कर के अन्तर्गत ब्याज पर कर लिया जाता है। किन्तु ब्याज से होने वाली आय पर जुदा कर लगाया जा सकता है। साधारणत इस प्रकार के कर पूँजीपति द्वारा सहन किए जाएँगे। विशेषतया तब, जब कि पूंजी की पूर्ति बहुत अधिक हो और पूंजी के लिए माँग कम हो परन्तु यदि माग अधिकतर तात्कालिक है और पूंजी की पूर्ति बहुत थोड़ी है जैसा कि भारत के ग्राम्य क्षेत्रा म होता है तो ब्याज पर लगने वाले कर को ऋण वाले पर पहुँचा दिया जायगा। बहुत कुछ पूँजी की गतिशीलता की मात्रा पर निभर करता है। यदि पूँजी को लागत व कुछ अन्य स्रोतो में ले जाया जा सकता है तो उधार देने के लिए पूँजी की पूर्ति सकुचित हो जाएगी जिससे ब्याज की दर बढ जाएगी। इसका अर्थ यह है कि इसका भार ऋण लेने वाले पर होगा। वास्तव म मुश्किल म ही पूंजी इतनी गतिशील होती है तथा कर का एक अश कम से कम पूंजी के स्वामियो द्वारा सहन किया जाता है। यदि कर बहुत भारी है तो यह पूँजी के एकत्रित होने को हतोत्साहित करेगा, जिससे देश के व्यवसाय तथा उद्योग की क्षति होगा। ऐसी स्थिति म उपभोक्ताओं म भार व्यापक रूप म फैल जाएगा।

१५ लाभ पर कर (Tax on Profits)—लाभ पर कर के भार की समस्या इस बात के कारण जटिल है कि लाभ तथा जिन तत्त्वो से यह बनते है, उनकी व्याख्या पर अर्थशास्त्रियो मे मतभेद है। प्रोफेसर वॉकर (Prof Walker) जैसे अर्थशास्त्री लाभ को लगान के सदृश मानते हैं। इस अर्थ म लाभ ऐसे उद्यमी द्वारा अर्जित आधिक्य है, जो सीमान्त उद्यमी से श्रेष्ठतर है। सीमान्त उत्पादक द्वारा बाजार मे कीमत निश्चित है इसलिए लगान के समस्त लाभ भी कीमत में नही शामिल होता। अत इसे उपभोक्ता पर नही डाला जा सकता। इसे वही व्यापारी सहन करेगा जो इसका भुगतान करता है। किन्तु हम इस विचारधारा को नही मानते।

सीमान्त उद्यमी भी दीर्घावधि म थोडा लाभ प्राप्त कर सकता है। अत साधारण लाभ आधिक्य नही वरन् आवश्यक लागत का एक भाग है। इससे हम इस परिणाम पर नही पहुँचते कि जब तक उद्यमी कीमत को प्रभावित नही कर सकता जिसको वह मुश्किल से कर सकता है, तो लाभ पर लगाया कर उपभोक्ता पर डाल दिया जाएगा। किसी उद्यमी क लिए बाज़ार की कीमत निश्चित है। ऐसा होने के कारण उसक लाभो पर लग हुए कर उसी को अपनी जब मे अदा करने हाग। जब तक कीमतें तेजी से न चढ रही हो और उपभोक्ता खरीदन क लिए उतने 'चन्तित न हों तब तक लाभा पर लगन वाला कर, जैसा कि नियम है, स्थानान्तरित नही किया जा सकता। मगर ऐसा बहुत कम हाता ह।

परन्तु यदि कर किसी विशेष व्यापार तथा उद्योग से हुए लाभ पर है, तो उद्यमिया म इन उद्योगो से हट जाने की प्रवृत्ति फैल जाएगी। यदि एमा होता है तो यह कर भार वस्तु के उपभोक्ताओं पर, तथा ऐसी सेवा प्राप्त करन वाला पर जि हे इन उद्यमियो ने उत्पादित किया अन्तत डाला जाएगा। बहुत कुछ माग की लोच तथा पूँजी की गतिशीलता पर निभर करता है।

लाभो पर लगने वाला कर लाइसेंस कर का रूप धारण कर सकता है। इस स्थिति मे भी उत्पादक ही इसको सहन करेगा। अपनी हानि को सन्तुलित करन के लिए वह अपन उत्पादन को बढा सकता है। उपभोक्ता को सामान्यत लाभ होता है लेकिन लाइसेंस कर का भार उत्पादक पर पडेगा। यह सामान्यत इतना छोटा कर होता है कि उत्पादक इसका विवर्तन करन की चेष्टा ही नही करता।

यद्यपि लाभ को कर से पूरी छूट देना वाछनीय नही है तो भी अधिक करारोपण अवाछनीय है। इसम आविष्कार तथा उद्यम पर कुठाराघात होगा। राजस्व खत्म हो जाएंगे और साथ ही मशीनो का आधुनिकीकरण का काय चौपट हो जाएगा। श्रीमती हिक्स (Mrs Hicks) क शब्दो म, लाभ पर अधिक कर का प्रभाव यह होगा कि प्रत्याशित लाभ के वक्र पर अनिश्चित कर से वक्र बाएँ को मुड जाएगा, किन्तु इससे इसकी आकृति म अन्तर न आएगा तथा नुकसान का अवसर न होगा। इस प्रकार पहले ऊँचे लाभ के अवसर जो जाखिम वाल बड नुकसान के नियोजक वक्रा के कारण सतुलित होते थे खत्म हो जाते ह और परिणामस्वरूप तुला इसके विरुद्ध हो जाती है, इसके विपरीत सुरक्षित नियोजन, जो अपक्षाकृत प्रभाव रहित रहता है, अधिक आकर्षक रहेगा। अधिक लाभा पर कर के विरुद्ध उपक्रम पूँजी' (venture capital) म भेद करना किसी देश के लिए गहन हो सकता है, अर्थात आधुनिक विकास के साथ जुडे रहना, यह विशेष रूप से औद्योगिक देश के लिए गहन है, जहाँ कई किस्म का औद्योगिक सामान मिलता है और जहां, नए उद्यम को होशियार रहने की जरूरत है। इस टैक्स में महत्त्वपूर्ण चक्र सगति है। मन्दी म, प्रत्याशित प्राप्ति के वक्र सीधे हो जाते हैं, बहुत से सुरक्षित नियोजन प्राय जाखिम वाले वग म चले जाते हैं।"[1]

---

[1] Mrs U K Hicks op cit 1948 pp 224 225

१६ आधिक्य लाभ पर कर (Excess Profit Tax)—यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि आधिक्य लाभ पर कर का अर्थ अत्यधिक लाभ पर कर से नहीं है अथात वह लाभ जो आवश्यक लाभ से अधिक है। कौन बता सकता है कि लाभ कितना होना चाहिए ? यदि लाभ के लिए कोई एक दर निश्चित कर दी जाए जिससे अधिक लाभ अति लाभ मान लिया जाए तो यह मनमाना होगा। इसके अतिरिक्त विनियोजित पूँजी आदि के बारे में टैक्नीकल कठिनाइयो तथा अनिर्यमितता के कारण, जो इस तरह के कर से पैदा होती है, बचना चाहिए क्योकि इससे समन्याय (equity) का सिद्धान्त भग होता है। विशेष कठिनाइयो तथा इस कर की अव्यवस्थाओं के कारण इसको त्याग देना चाहिए नहीं तो यह समता रीति के विरुद्ध होगा। क्योकि अतिरिक्त सामान्य लाभ का होना इस बात का आवश्यक आर्थिक सूचक है कि समुदाय के उत्पादक साधन किस ओर ले जाए जाएँ। इसलिए ऐसे लाभ पर कर इस सूचक को हटाकर साधनो के सर्वोत्तम बटवारे को रोकेगा। अतएव हम को ऊँचे लाभ पर यह समझकर कि लाभ भारी है कर न लगाना चाहिए।

१७ मजदूरी पर कर (Tax on Wages)—आधुनिक युग म मजदूरी (वेतन) पर प्रत्यक्ष कर नही लिया जाता। परन्तु सामाजिक बीमा की योजनाओ म श्रमिको के योगदान को मजदूरी पर कर माना जा सकता है। यदि श्रमिको पर कर सामान्यत लागू किया जाता है तो मजदूर नियोजको पर इस कर को स्थानान्तरित करने म समर्थ नही हो सकते यदि श्रम के लिए माँग लोचदार है और पूर्ति लोचहीन है। यह सर्वविदित है कि मजदूरो की सापेक्ष सौदा करने की शक्ति कमजोर होती है। यदि उन पर कर लागू होता है तो मजदूरी म वृद्धि कराना उनकी शक्ति म नहीं है। जब तक वे मजदूरी म वृद्धि नही करा पाते, कर का बोझ उन्ही पर रहेगा। श्रम सम्बन्धी झगडो म कर्मचारी (मजदूर) सदैव विजयी नही होते। श्रमिकों के लिए माँग में जितनी अधिक लोच होगी, उतना ही अधिक उन पर मजदूरी का भार होगा। और इसके विपरीत भी विलोमत ही होगा। यदि इससे उनका जीवन स्तर गिरता है तो कर का भार मजदूरो पर आता है। किन्तु यदि यह योग्यता के स्तर को गिराता है तो उत्पादन व्यय बढ जाएगा और वस्तु की कीमत ऊँची हो जाएगी। ऐसी स्थिति में कर का बोझ उपभोक्ताओ पर चला जाएगा। स्वय उपभोक्ता होते हुए मजदूरो को भी कर म अपना भाग बँटाना पडेगा।

परन्तु विशेष प्रकार के श्रम पर लागू कर का विवर्तन किया जा सकता है। वे दूसरे व्यवसाय म जा सकते है। ऐसी स्थिति म श्रम की पूर्ति म बहुत अधिक लोच होगी परन्तु माँग उतनी लोचदार नही हो सकती। अस्तु यदि श्रम की पूर्ति लोचदार है किन्तु माँग लोचहीन है तो मजदूरी कर का बोझ मालिकों पर पडेगा।

१८ सामाजिक बीमा भार (Incidence of Social Insurance)—सामाजिक बीमा योजना म योगदान का भुगतान मालिक तथा सेवक दोनों करते है। जहाँ तक मालिक के योगदान का प्रश्न है यह मजदूरी के लेखा म जुड जाता है। इससे करीब करीब उसी अनुपात में कीमत बढ जाती है। परन्तु क्योकि बीमे का धन श्रमिको को बाँटा जाता है तो उनकी आय में कीमत की वृद्धि के साथ वृद्धि होनी

है। इससे वास्तविक आय तथा व्यवसाय प्रभावित नही होते। यद्यपि आन्तरिक स्थिति नहीं प्रभावित होती परन्तु बाह्य स्थिति अवश्य प्रभावित होती है। घरेलू कीमत में वृद्धि से निर्यात मे कमी हो जाती है जबकि श्रमिकों की आय मे वृद्धि से आयात बढ सकते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि भुगतान शेष की स्थिति कमजोर हो जाती है।

१६ आधिक्य पर कर (Taxation on Surplus)—किसी भी उत्पादन साधन.की पूर्ति बनाए रखने के लिए यह आवश्यक है कि उसके लिए निम्नतम पारिश्रमिक की व्यवस्था की जाए। प्रत्यय अभिकर्ता को न्यूनतम मजदूरी, ब्याज की न्यूनतम दर व लाभ की उचित तथा साधारण दर मिलनी ही चाहिए। उनकी आय आवश्यक लागत का सविधान करती है। इन आवश्यक लागतों पर कर नही लिया जा सकता। यदि इन पर कर लगाया गया तो वह विवर्तित हो जाएगा। उदाहरणार्थ, यदि कोई कर साधारण लाभ मे कटौती करता है तो इससे उद्यमी हतोत्साहित होगा, उत्पादन मे कमी हो सकती है और कर मजदूरो या उपभोक्ताओ पर विवर्तित हो जाएगा। यदि न्यूनतम मजदूरी पर कर लगता है तो या तो यह श्रमिक की योग्यता को घटा देगा या उसकी पूर्ति को घटा देगा। इसका अर्थ उपभोक्ता या मालिक पर कर का विवर्तन होगा। आवश्यक लागतो पर कर लगाने का अर्थ सम्बन्धित साधनो को हटाना होगा। इस प्रकार यह कहा जाता है कि सभी करो की प्रवृत्ति आधिक्य, अर्थात् किसी साधन को नियमित रखने के लिए न्यूनतम आवश्यकता से अधिक आय की ओर होती है। यदि एकाधिकारी आधिक्य का आनन्द लेता है तो वह स्वय ही कर का बोझ सँभालेगा। यदि जीवन की आवश्यकता के उत्पादन से आधिक्य आता है तब माँग के लोचहीन होने के कारण कर का बोझ पूर्णत उपभोक्ताओ पर चला जाएगा। यदि यह वस्तु विलासिता की है तो इस भार को अशत उत्पादक, अशत मध्यम वर्ग और अशत उपभोक्ता सहन करेंगे।

२० बिक्री कर का भार (Incidence of Sales Tax)—यह कर विक्रय राशि पर लगता है चाहे लाभ हो या न हो। इसका भार एक जटिल समस्या है, क्योंकि इसमे विस्तृत रूप म विभिन्न किस्म की वस्तुएँ आ जाती है। यदि किसी वस्तु के लिए माँग लोचहीन है तो उसकी कीमत बढायी जा सकती है और बाद मे उसी सीमा तक उपभोक्ताओ पर कर को विवर्तित कर दिया जाएगा। किन्तु यदि माँग लोचदार है तो अशत विक्रेता और अशत उपभोक्ता इसे सहन करेंगे। विक्रय कर लाभो पर ऐसा आघात पहुँचा सकता है जिससे व्यवस्था विभाग व कर्मचारियो की छटनी हो सकती है, कुछ व्यावसायिक स्थान खाली रह सकते है। इस प्रकार इसके भार कर्मचारियों, व्यवस्था विभाग व जमीदारो पर पड सकते हैं। वास्तव मे बिक्री कर विभिन्न प्रकार की बडी सख्या में जनता पर चोट करता है।

२१ व्यवसाय कर या हैसियत कर (Profession Tax or Haisiyat Tax)—यह कर व्यवसाय या सेवा नियोजन पर लगता है। इसका भार आय कर के समान होता है। यह वही पडा रहता है, जहाँ इसे लागू कर दिया जाता है और विवर्तित नही होता बशर्ते कि यह सामान्य कर है। यदि यह कुछ निश्चित व्यवसायो

पर कर है और भारी है तब यह उन व्यवसायों में दूसरों के प्रवेश को हतोत्साहित करता है। जो लोग ऐसे लोगों की सेवा का प्रयोग करते हैं उन्हें अधिक भुगतान करना होगा और अधिक भार सहन करना होगा।

२७ करों की विभिन्नता (Tax Differentiation)—जब कोई कर लगाया जाता है तो उससे कुछ लोग निश्चय ही प्रभावित होंगे। कुछ के पक्ष और कुछ के विपक्ष में इसका प्रभाव पड़ेगा। किसी स्थान के लोगों के पक्ष में यह पड़ सकता है और किसी दूसरे स्थान के लोगों को यहाँ दण्डित कर सकता है। कुछ लोगों की हानि करके यह प्रभाव कुछ व्यापारियों को लाभ पहुँचा सकता है। दूसरे शब्दों में करों में कुछ लोगों के पक्ष व कुछ के विपक्ष में भिन्नता होती है। यही कर भिन्नता है।

अध्याय ४७

लोक ऋण

(Public Debt)

१ प्रस्तावना (Introduction)—सरकार द्वारा ऋण लेने की प्रणाली हाल ही मे प्रारम्भ हुई है। १८वीं शताब्दी तक इसे कोई नही जानता था। जब भी कोई आकस्मिक घटना, जैसे लडाई आदि छिडती थी, तो राजा अपने सचित धन का आश्रय लेता था अथवा अपनी निजी साख पर ऋण लेता था। इतिहास म बहुत से ऐसे उदाहरण पाए जाते हैं, जिनमें राजाओ के खजानों अथवा मन्दिरों और गिरजाघरो से सचित धन की लूटमार का वर्णन किया गया है। परन्तु वित्त प्रबन्ध की यह रीति आधुनिक काल के लिए उचित नही है। यह पर्याप्त तथा मितव्ययी नही होगी। १९वीं शताब्दी मे निजी ऋण का स्थान लोक ऋण ने ले लिया है। एक साधारण नागरिक आजकल अधिक सुरक्षा तथा विश्वास के कारण उधार देने के अधिक योग्य और तत्पर है। ये सब लोक ऋण की प्रणाली के मुख्य आधार हैं।

२ लोक ऋण के लाभ व हानियाँ (The Benefits and the Dangers of Public Debt)—इससे उत्पादन का विकास होता है, और इससे राष्ट्रीय सम्पत्ति म वृद्धि होती है। धीरे-धीरे इससे जीवन स्तर भी ऊँचा हो जाता है। लोक-ऋण के बिना राज्य के बडे-बडे कार्य, जैसे, सडकों, नहरो आदि का निर्माण कार्य असम्भव था। लोक ऋण ही प्राकृतिक दुर्घटनाओ जैसे बाढ, भूकम्प, अकाल आदि के समय देश की साधारण स्थिति बनाए रखने का एकमात्र उपाय है। इस प्रकार की दुर्घटनाओं का सामना सामान्य राजस्व के सहारे करना कठिन ही नही, असम्भव भी है।

आधुनिक युद्ध भी लोक ऋण के बिना नही लडे जा सकते। जिस राष्ट्र की आर्थिक स्थिति सकुचित हो जाती है, वह युद्ध म आत्म समर्पण के लिए बाध्य हो जाता है। अत लोक ऋण ही राज्य की सुरक्षा और स्वतन्त्रता का अस्तित्व बनाए रखता है। जनता द्वारा दिए गए लोक ऋण से ही पिछडे देश अपने प्राकृतिक साधनो का विकास करके, अपनी शक्ति और प्राकृतिक सम्पत्ति बढा सकते है। उधार देने वाले राष्ट्रो को भी लोक ऋण अधिक लाभप्रद सिद्ध हुआ है। उधार देने वाले राष्ट्रो के नागरिको के लिए सुरक्षित और लाभजनक धन लगाने के साधन मिल जाते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय ऋण व्यापारिक सन्तुलन म एक अनुकूल प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है और वैदेशिक विनिमय को भी सन्तुलित रखता है।

अन्त मे अन्तर्राष्ट्रीय ऋण व्यवस्था के कुछ ऐसे लाभ भी हैं जो शुद्ध आर्थिक नही हैं, जैसे उधार देने वाले देश ऋणी देश के भौतिक उत्थान मे रुचि रखने लगते हैं। यह उधार देने वाले देश के नागरिको के दृष्टिकोण को विकसित करता है। इस

तरह विभिन्न देशों का पारस्परिक सम्बन्ध एक दूसरे को समझने में सहायक होता है और फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को बनाए रखने में समर्थ होता है।

लोक ऋण के लाभों के साथ-साथ कुछ हानियाँ भी होती हैं, जो निम्न प्रकार हैं—

लोक ऋण का सबसे बडा भय इस बात से उत्पन्न होता है, कि सरकार बहुत आसानी से उधार ले सकती है। किन्तु कोई-कोई सरकार अत्यधिक ऋण भी ले सकती है और यह ऋण लेना लोगों की कर देने की क्षमता की सीमा पार कर सकता है। नये और पिछडे देशों का लापरवाही से उधार लेना उनको अमितव्ययी बना देता है। अधिक व्यय वाली योजनाएं होने वाले लाभ का माप किए बिना ही प्रारम्भ की जाती हैं और इस ओर ध्यान ही नहीं दिया जाता कि योजनाएँ देश की सहन शक्ति की सामर्थ्य की हैं भी या नहीं। यह आने वाली पीढी पर ब्याज का भार और अधिक बढ़ा देती है, जब कि इन योजनाओं से कोई विशेष लाभ नहीं होता।

अत्यधिक ऋण लेने के कारण बहुत से देशों ने अपनी राजनैतिक स्वतन्त्रता तक खो दी। मिस्र उनमें से एक देश था। देश के राजस्व कभी कभी विदेशी बाण्ड रखने वालों के यहाँ धरोहर के रूप में रख दिए जाते हैं। उनके हित सुरक्षित रखने के लिए विदेशी सरकार हस्तक्षेप करती है। विदेशी ऋण देश के धन को निरन्तर देश के बाहर ले जाते हैं। अगर धन अनुत्पादक कार्यों के लिए लिया गया है, तो ब्याज का देना आने वाली पीढी पर व्यर्थ का भार होगा। लोक ऋण अन्तर्राष्ट्रीय उलझनें बढाता है और शान्ति को बढाने के बजाए उसको खतरे में डाल देता है। इससे निजी स्वार्थ उत्पन्न हो जाते हैं। लोक ऋण प्राय. उधार देने व लेने वाले देशों में निरन्तर फूट का कारण बन जाते हैं।

३ आपातकालीन कोष (Funds For Emergencies)—सरकारें सकटापन्न स्थितियों में धन जुटाने के निम्नांकित साधन अपनाती हैं —

(i) संचित धन का उपयोग।
(ii) सरकारी सम्पत्ति का विक्रय।
(iii) नए करों का लागू करना और पुराने करों की दर में वृद्धि करना।
(iv) अस्थायी ऋणों का लेना।
(v) स्थायी ऋणों का लेना।
(vi) अपरिवर्तनीय कागजी मुद्रा का चलन।

संचित सम्पत्ति कुछ ही आधुनिक सरकारों के पास होती है। जवाहरात और संचित सम्पत्ति शासकों की अपनी निजी सम्पत्ति है। दूसरा साधन 'सरकारी सम्पत्ति का विक्रय' है, जो कि पुराने देशों में जहाँ राज्य की भूमि पहले से ही बिकी हुई मान ली जाती है, महत्त्वपूर्ण नहीं है। एक आधुनिक सरकार पूर्वत सम्पत्ति को बेचने की अपेक्षा अधिक सम्पत्ति प्राप्त करना चाहेगी।

जब कभी युद्ध जैसा आकस्मिक सकट उपस्थित हो जाता है तो राज्य के कोष को बढाने के लिए सबसे पहला साधन है, नए करों की वृद्धि के साथ पुराने करों जैसे आय कर, उत्पादन कर, रेलवे और डाक दरों आदि में वृद्धि करना। इसके

अतिरिक्त कुछ नए कर भी लगाए जा सकते हैं। नए उत्पादन कर लगाए जा सकते हैं, और आयात-निर्यात करो की सूची बढाई जा सकती है। परन्तु इसकी भी एक सीमा होती है। इसके बाहर सरकार को इस दशा म अप्रिय कर बढाना सुरक्षित नही है। एक सीमा के बाहर लोग कर देने म असमर्थ या अपने आपको परेशान पाते हैं या कर न देने की इच्छा करते हैं। यदि कर अधिक लगाए जाते हैं तो इससे राष्ट्र के उत्पादन-सामर्थ्य को क्षति होती है। इसके अलावा देश के नागरिको की देश भक्ति पर अत्यधिक दबाव पडता है। इसलिए सरकार कम-से कम विरोध की नीति को अपनाती है और अपनी कर-प्रणाली को अधिक नही फैलाती। ऐसी स्थिति मे सरकार के सामने दूसरा विकल्प है लोक ऋण लेना।

४ **अस्थायी बनाम स्थायी ऋण (Temporary Vs Permanent Loans)**—ऋण अस्थायी भी हो सकते हैं और स्थायी भी। अस्थायी ऋण बहुधा सरकारी हुण्डियो के बेचने से प्राप्त किया जाता है अथवा केन्द्रीय बैंक के अर्थोपाय-पेशगियो (ways and means advances) द्वारा। नियम के अनुसार यह ऋण देश के अन्दर ही प्राप्त किए जाते हैं। नीचे कुछ "अल्प-अवधि ऋण" लेने के विषय में आवश्यक विवेचनाएँ दी जाती हैं—

(क) जब मुद्रा बाजार म ब्याज की दर साधारण से कुछ अधिक हो तो यह बुद्धिमत्ता नही होगी कि सरकार अधिक ब्याज के बोझ को सहन करे। जब ब्याज की दर कम हो तब स्थायी ऋण लेना बुद्धिमत्ता होगी।

(ख) जब सरकार को अस्थायी कठिनाइयो पर विजय पानी होती है तब स्थायी ऋण लेना अनावश्यक होगा, जैसे बजट की कमी को पूरा करना या तात्कालिक व्यय और आशान्वित आय के बीच की खाई को पूरा करना। जून और जुलाई से पहले नए करो की आय का आना प्रारम्भ नही हो सकता और अप्रैल और मई म धन-कोष का अभाव हो सकता है। ऐसी परिस्थिति म अल्पकालीन या अस्थायी ऋण-व्यवस्था ही केवल एकमात्र उपाय है। अगर ऋण की आवश्यकता अस्थायी है तो ऋण का स्थायी होना आवश्यक नही।

(ग) अस्थायी ऋण की यह विशेषता है कि वह सरकार को अपने कामो को अविरोध और बेरोक टोक करने की क्षमता प्रदान करता है और स्थायी ऋण बढाने की कठिनाइयो से बचाता है।

(घ) मुद्रा बाजार मे अस्थायी ऋण के निकालने का स्वागत होता है। सरकारी हुण्डियाँ सबसे अधिक सुरक्षित और बैंको के लिए सबसे अधिक लाभप्रद विनियोग है और वे बैंको के लिए एक आदर्श विनियोग बनती हैं।

दूसरी ओर अस्थायी ऋणो की कुछ बुराइयाँ भी हैं—

(क) जब सरकार मुद्रा बाजार म अस्थायी ऋण प्राप्त करने के लिए प्रवेश करती है तो बैंको का रुपया व्यापार और उद्योग से हटाकर सरकारी हुण्डियो में परिवर्तित कर दिया जाता है। फलस्वरूप वे नष्ट हो जाते हैं। यहाँ तक कि बैंक जमा मे भी कमी आ जाती है। सरकार की ओर से भी ऐसी स्थिति के कारण आर्थिक चेष्टा को आघात पहुँचता है।

(ख) एक बड़े अल्पकालीन ऋण का होना सरकार के लिए एक परेशानी का कारण बन सकता है। इससे सरकार की आर्थिक स्थिरता में अविश्वास उत्पन्न हो सकता है और इसके परिणाम बुरे हो सकते हैं। जब एक बड़ा अस्थायी ऋण पूरा हो लेता है तो यह सरकारी अर्थ-प्रबन्ध के लिए कठिन और भार-स्वरूप प्रतीत होता है।

(ग) यह बहुधा देखा जाता है कि जब एक अस्थायी ऋण पूरा प्राप्त होता है तो उसके भुगतान के लिए दूसरे ऋण निकाले जाते हैं। इस तरह से यह अस्थायी ऋण एक स्थायी ऋण का रूप धारण कर लेता है। मुद्रा बाजार का धन अनिश्चित काल के लिए एक जगह बन्द कर दिया जाता है जिससे व्यापार और उद्योग को क्षति पहुँचती है।

(घ) एक बड़े अल्पकालीन ऋण का होना, भविष्य में एक भयानक रूप धारण कर लेता है जब कि वास्तविक संकट उत्पन्न होता है। उदाहरण के लिए जब युद्ध छिड़ जाता है तो सरकार को शीघ्र ही अधिक धन की आवश्यकता होगी, लेकिन पहले से ऋणी होने के कारण और ऋण लेने के कम अवसर प्राप्त होंगे।

(ङ) अल्पकालीन ऋण से दूसरी कठिनाई यह उत्पन्न होती है कि वह मुद्रा-प्रसार को जन्म देता है। जब ऋण लौटाने का समय आता है तो चुकाने के लिए सरकार पत्र मुद्रा छाप सकती है और मुद्रा प्रसार की कठिनाइयों से तो हम भली भाँति परिचित ही हैं। मुद्रा प्रसार सम्बन्धी कठिनाइयों का हम आगे विवेचन करेंगे।

(च) अल्पकालीन ऋण पर वैधानिक नियन्त्रण नहीं रहता और उसका प्रचार भी अधिक नहीं होता। ये सब निर्णय कार्यपालिका द्वारा किए जाते हैं। अत्यधिक ऋण लेना वास्तव में एक बड़ी कठिनाई है। अत्यधिक ऋण लेना अमित-व्ययता को जन्म देता है।

स्थायी ऋण की भी हानियाँ और लाभ हैं। स्थायी ऋण के पक्ष में हम निम्न बातें कह सकते हैं—

(क) यह उस समय लाभप्रद होगा जबकि ब्याज की दर कम हो। इन परिस्थितियों में जन कल्याण की योजनाएँ कार्यान्वित करना अच्छा होगा क्योंकि धन के लिए अधिक ब्याज नहीं देना पड़ेगा।

(ख) दीर्घकालीन ऋण सरकार के लिए कठिनाई स्वरूप नहीं होते। इनके भुगतान के लिए सामयिक प्रबन्ध किए जा सकते हैं।

(ग) सरकारी बॉण्ड वास्तव में अच्छा विनियोग है। वे न्यास कोषों (trust funds), बैंक और बीमा कम्पनियों के लिए लाभप्रद प्रतीत होते हैं। निःसन्देह इसके द्वारा धन का बचत बढ़ती है और देश अधिक पूँजी का सचय कर सकता है।

(घ) यह हमारी समन्याय की भावना को भी सन्तुष्ट करता है जिससे रेलों, नहरों का निर्माण आने वाली सन्तान को लाभप्रद होता है। उन्हें ही इन व्ययों का बोझा वहन करना पड़ता है। युद्ध के द्वारा हुई बर्बादी के लिए भी दीर्घकालीन ऋण ही लाभप्रद हो सकता है। यह सब तभी हो सकता है जब कि अधिक समय के लिए ऋण लिया जाए।

(ङ) आधुनिक युद्ध को सफल बनाने और उसके द्वारा हुई बर्बादी के सुधार के लिए स्थायी ऋणों का लेना नितान्त आवश्यक है। क्षतिग्रस्त स्थानों की मरम्मत और पूर्ववत् दशा में लाने के लिए भी इतने अधिक कोष चाहिएँ जो अधिक करों के बढ़ाने से पूरे न होंगे। ऋण का इतना बड़ा भार कुछ ही वर्षों द्वारा प्राप्त धन पर नहीं लादा जा सकता। इसे सहने योग्य बनाने के लिए इसकी अवधि अधिक लम्बी होनी चाहिए। यह केवल स्थायी ऋण के द्वारा ही सम्भव है।

(च) उत्पादक-कार्यों के लिए लिए गए ऋण राष्ट्रीय धन की उत्पत्ति करते हैं, जिससे मूलधन और ब्याज, दोनों चुकाए जा सकते हैं। स्थायी ऋण की सहायता से धन बढ़ाने वाले साधन उत्पन्न होते हैं—जैसे नहरें, रेलें आदि जो सदैव रहती हैं और भविष्य में राष्ट्रीय धन को बढ़ाती हैं। अतः स्थायी ऋण अधिक लाभकारी है।

(छ) अन्त में स्थायी ऋणों के कारण नागरिकों की राज्य में स्थायी रुचि उत्पन्न होती है। यह उनमें नागरिक भावनाएँ तथा देश-भक्ति को बढ़ाते हैं और सरकार का जनता द्वारा ऋण लेने से सरकार और जनता के बीच एक निकट सम्पर्क स्थापित हो जाता है।

दीर्घकालीन अथवा स्थायी ऋण में कुछ बुराइयाँ भी हैं जो निम्नलिखित हैं—

(क) स्थायी ऋण ब्याज की दर ऊँची होने की दशा में लेना उचित नहीं होता। ऐसे समय में दीर्घकालीन ऋण का निकालना जनता के हितों में अनुचित होगा।

(ख) यह भी उचित नहीं है कि हमारी भूलों को आने वाली सन्तान भुगते। हिटलर द्वारा की जाने वाली भूलों के लिए जर्मनी की आने वाली सन्तानों को क्यों दण्ड दिया जाए? इसी ढंग से गलत जन कल्याण की योजनाएँ भी आने वाली सन्तान के लिए अहितकर व भारस्वरूप हो सकती हैं।

(ग) सरकार के लिए करों की तुलना में ऋण लेना आसान है। कर लोकप्रिय नहीं होते लेकिन सरकार ऋण लेकर एक अप्रिय कार्य की उन्नति दे सकती है या एक अनुचित उद्देश्य को चला सकती है। सरकार के हाथ में यह एक भयंकर शस्त्र है और यह प्रजातन्त्र की भावना के विपरीत है। यदि युद्धों की अकेले करों द्वारा ही अर्थ व्यवस्था होती है तो वह समाप्त हो जाएँगे।

(घ) भारी लोक ऋण उद्योग और व्यवसाय पर रोक लगाने का काम करते हैं। सरकार को अधिक ब्याज का भुगतान करने के लिए (ऊँचे) भारी करों का लगाना आवश्यक हो जाता है और अधिक कर आर्थिक उन्नति में बाधक होते हैं। इस तरह उद्योगों पर भारी दबाव पड़ेगा।

५ राष्ट्रीय ऋण की सीमा (Limit to National Borrowing)—

आखिरकार ऋण चुकाने ही होते हैं। इसलिए कोई भी राज्य लौटाने की सामर्थ्य के बाहर उधार ऋण नहीं ले सकता। राज्य विभिन्न रूपों में ऋण ले सकता है, लेकिन इनकी भी सीमा है और राज्य उस सीमा के बाहर नहीं जा सकता। आइए, हम ऋण के विभिन्न रूपों और उनमें से हर एक की सीमा पर विचार करें।

(क) कागजी मुद्रा का जारी करना (Issue of Paper Money)—यह अस्वाभाविक या विवश ऋण कहलाता है। अब यह मान लिया गया है कि मुद्रा-प्रसार

एक बहुत भयानक शस्त्र है। हम शीघ्र ही बढ़ी हुई कीमतों के जाल म जकड जाते हैं। अगर कागजी मुद्रा-प्रसार सीमा के बाहर बढ जाता है, तो यह सारहीन हो जाता है और देश को नष्ट कर देता है।

(ख) बाह्य ऋण (External Loan)—विदेशी ऋण लेना देश की आर्थिक स्थिरता और साख पर निर्भर करता है। कुछ ही देशों की असीमित राष्ट्रीय साख होती है। प्रत्येक देश का बजट उस सीमा को बतलाता है जिसके बाद विदेश से ऋण लेने की आशा नही की जा सकती। विदेशी सरकार उधार लेने वाले देश के नागरिकों की कर-सहन-शक्ति और देश के प्रत्येक व्यक्ति की औसत आय के अनुसार ही ऋण देगी। कोई भी विदेशी सरकार एक सीमा के बाहर उधार नही दे सकती।

(ग) आन्तरिक ऋण (Internal Borrowing)—यहाँ फिर से इसे दुहराना पड़ेगा कि उधार लेने की भी एक सीमा है। उसके बाहर उधार लेना असम्भव है। भौतिक सम्भावित बचत के द्वारा ही उधार लेने की अधिकतम सीमा निर्धारित की जाती है। सिद्धान्तत यह कहा जा सकता है कि सरकार वह सब उधार ले सकती है जो कि नागरिक बचत करते हैं। निसन्देह जब तक सरकार कठोर संघर्ष काल म न गुजर रही हो तब तक ऐसा कम ही होता है। परन्तु यदि सरकार उस सब को, जो कि नागरिक बचाते है, ले लेती है तो व्यापार और उद्योगों को चलाने के लिए कुछ भी नही बचता। नई पूँजी का निरन्तर बहाव वर्तमान पूँजी को न केवल पूर्ववत् बनाए रखने के लिए है वरन् और नई पूंजी बनाने के लिए भी आवश्यक है, साथ ही उद्योगो का न केवल सुचारु रूप से चलाने के लिए ही बल्कि उनके उत्थान के लिए भी आवश्यक है। अगर सरकार पूंजी के इस बहाव को रोक देती है या मन्द कर देती है, तो निसन्देह व्यापार और उद्योग धन्धो को हानि पहुँचेगी। इसीलिए हम कह सकते हैं कि साधारणतया सरकार अतिरिक्त बचत ही उधार ले सकती है। अतिरिक्त बचत से हमारा तात्पर्य उस धन से है जो उद्योग-धन्धो और व्यापारो की आवश्यकता के बाद बचे रहते हैं।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि चाहे सरकार विदेश से उधार ले या देश के भीतर से, या केवल कागजी मुद्रा छापकर धन प्राप्त करे, प्रत्येक दशा म इन सब की एक सीमा होगी। इस सीमा को या तो देश की सुरक्षा को खतरे में डाले बिना या देश की उत्पादन शक्ति को हानि पहुँचाए बिना पार नहीं किया जा सकता।

६ नोट जारी करके लोक-धन प्राप्त करना (Public Fund Through Note Issue)—आधुनिक युद्ध इतने महँगे हो गए है कि किसी देश का युद्ध मे प्रवृत्त होना पत्र-मुद्रा निकाले बिना असम्भव हो गया है। ऋण और कर युद्ध संचालन के लिए पर्याप्त सिद्ध नही होते। १९१४-१८ के युद्ध के अन्तिम दिनो म, जर्मनी को करीब-करीब पूर्ण रूप मे इसी का आश्रय लेना पडा और यह उसके लिए विनाशकारी भी सिद्ध हुआ। द्वितीय महायुद्ध से सम्बन्धित सभी देशों ने कम या अधिक रूप में इस साधन को अपनाया। इंगलैण्ड और अमरीका जैसे देशो मे भी प्रचुर मात्रा में कागजी मुद्रा छापी गई। भारत में इसने बहुत बडे रूप मे खतरे का आह्वान किया, जिसका भारतीय अर्थशास्त्रियो ने विरोध किया। भारत मे पहली सितम्बर, १९३९ को १८२

करोड़ रुपये के नोट चलन में थे। किन्तु १६ अक्तूबर, १६४५ को १,१६० करोड़ रुपये के नोट चलन में हो गए थे। इस प्रकार यह छः गुना से भी अधिक वृद्धि हुई।

इस प्रकार आकस्मिक घटनाओं के लिए धन बढ़ाने में पत्र मुद्रा निकालने के साधन ने सार्वजनिक वित्त व्यवस्था में एक विशेष स्थान प्राप्त कर लिया है। लेकिन यह मानना होगा कि यह एक गलत और चिन्तायुक्त साधन है। यहाँ हम पत्र मुद्रा प्रसार के विपरीत आर्थिक कारणों पर विचार नहीं करेंगे। किन्तु हम बलपूर्वक कह सकते हैं कि पत्र-मुद्रा प्रसार या उसके अत्यधिक निकालने का आन्तरिक व्यापार पर बुरा प्रभाव होता है, और यह विदेशी विनिमय को उद्विग्न करके अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में बाधा उत्पन्न कर देता है। यह भयंकर सट्टे के व्यापार को जन्म देता है और व्यापारिक सम्बन्धों में अविश्वास की भावना उत्पन्न करता है। इस प्रकार यह व्यापार की जड़ काटता है जिस पर किसी देश की भविष्य की उन्नति निर्भर होती है।

मुद्रा-चलन के तीव्र विस्तार के कारणों से कीमतों में जो कष्टकर वृद्धि होती है, उससे समाज को अनन्त कष्ट उठाने पड़ते हैं। इससे निर्धन उपभोक्ताओं, परिमित आय वालों और मजदूरी पाने वालों को सबसे अधिक कष्ट होता है। ऋण लेने वाले और देने वालों के पारस्परिक सम्बन्ध बिगड़ जाते हैं। मुद्रा-प्रसार के विशुद्ध परिणाम से कुछ को अनुचित लाभ और अनेकों को अकारण हानियाँ होती हैं।

राज्य की स्थिरता से लोगों का विश्वास उठ जाता है। देश की निर्यात मुद्रा पलायन कर जाती है। सरकार एक दुश्चक्र में फँस जाती है जिसमें से निकलना आसान नहीं होता। नोटों का निकालना कीमतों को बढ़ाता है, इसलिए, सरकार को अपने क्रय के लिए अधिक धन प्राप्त करना ही पड़ता है। इसके फलस्वरूप पत्र-मुद्रा और अधिक निकाली जाती है, और इसी प्रकार क्रम जारी रहता है। यह बहुत ही असन्तुलन का मार्ग है, और मुद्रा प्रसार का विस्तार करने वाली सरकार आर्थिक और राजनीतिक विनाश को आमन्त्रित करती है।

किन्तु मुद्रा प्रसार की इन भीषण प्रतिक्रियाओं के अतिरिक्त भी अर्थशास्त्र के पण्डितों ने इसकी कड़ी निन्दा की है क्योंकि यह वित्त व्यवस्था की सुदृढ़ नीतियों की विरोधी है।

द्रव्य के इस प्रकार प्राप्त करने के प्रति आधारमूलक आपत्ति यह है कि यह न्याय अथवा समानता की रीति को भंग करता है। जब कीमतें बढ़ती हैं तो धनी और निर्धन, सब ऊँची कीमतें देते हैं, और वे सब एक ही कीमत पर क्रय करते हैं। यदि खांड की कीमत ५० नये पैसे प्रति सेर से १ रु० सेर हो जाती है, तो निर्धन भी धनी के साथ साथ दुगनी कीमत देता है। किन्तु धनी तो सशक्त है और निर्धन दे नहीं सकता। मुद्रा-प्रसार की आनुपातिक टैक्स-निर्धारण से तुलना हो सकती है। यह सहन करने की शक्ति का विचार नहीं रखती। इसलिए, अपने प्रभाव की दृष्टि से यह प्रतिगामी है। समाज का निर्धन वर्ग राज्य के अर्थ कोष में अधिक अंशदान करने के लिए विवश किया जाता है और वही ऐसे लोग हैं जो देने की शक्ति ही नहीं रखते। यह सर्वथा अन्याय है। सम्पत्ति का पुनर्वितरण उन्हीं के पक्ष में होता है जो पूर्वत धनी हैं।

इस प्रकार मुद्रा-प्रसार राजनीतिक दृष्टि से भयानक, आर्थिक दृष्टि से विनाश-

कारी और नैतिकता की दृष्टि से बुरा है। यदि यह उपाय सरकारों के लिए कभी-कभी अत्यावश्यकता के समय और केवल संकट पूर्ति के लिए न होता, तो कोषों की रचना का यह उपाय, सम्भवतः कदापि न अपनाया जाता। यह धन के वितरण की असमानताओं में वृद्धि करता है, यह सम्पत्ति के उत्पादन के यंत्र को नष्ट-भ्रष्ट कर देता है और आगम का स्रोत होने के रूप में यह शीघ्र ही सूख जाता है।

७ ऋण को कम करना या चुकाना (Debt Redemption or Repayment)—आधुनिक सरकारें अपने ऋण चुकाने को एक सम्मानपूर्ण कार्य समझती हैं। ऋण चुकाना उनकी साख और शक्ति को बनाए रखता है। जब कभी राष्ट्र पर संकट आता है, तो बाद में कोष बढ़ाना सरल हो जाता है। ऋण चुका देने से व्यापार और उद्योग के लिए धन मुक्त हो जाता है।

ऋण चुकाने के निम्नांकित कुछ उपाय हैं—

(१) आधिक्य राजस्व का उपयोग (The Utilization of Surplus Revenue)—यह एक प्राचीन उपाय है लेकिन आधुनिक परिस्थितियों में पूर्ण रूप से व्यर्थ है। बजट का आधिक्य साधारणतः सम्भव नहीं है और यदि बजट में आधिक्य भी हो तो वह इतना महत्त्वहीन होगा कि वह ऋण को कम करने में उपयोगी नहीं हो सकता।

(२) सरकारी प्रतिज्ञापत्रों का क्रय (Purchase of Govt Bonds)—सम्भव है, सरकार बाजार में अपने निजी स्टाक को क्रय कर ले और इस प्रकार उस सीमा तक अपने दायित्व का अन्त कर दे। यह कार्य राजस्व के आधिक्य या कम ब्याज पर अनुकूल परिस्थिति में लिये हुए ऋण से किया जा सकता है।

(३) सावधि वार्षिकी (Terminal Annuities)—जब यह पूर्ण निश्चय कर लिया जाता है कि सरकार को अपने स्थायी ऋणों का भुगतान करना है तो वह प्रतिवर्ष कुछ निश्चित धन वार्षिकी के रूप में ऋणदाताओं को उधार चुकाने के लिए बाँध देती है। इसी भुगतान को वार्षिकी कहते हैं। यह स्पष्ट है कि जिस काल में यह वार्षिकी दी जा रही होगी उसमें केवल ब्याज देने के काल की अपेक्षा सरकारी वित्त पर कहीं अधिक दबाव पड़ा होगा।

(४) रूपान्तरकरण (Conversion)—ऋण का भार घटाने का यह एक अच्छा उपाय है। सम्भव है कि कभी सरकार ने ऊँची दर के समय ऋण लिया हो और अब अगर ब्याज की दर कम हो गई हो तो सरकार ऊँचे ब्याज की दर वाले ऋण को कम ब्याज की दर के ऋण में परिवर्तित कर सकती है। ऐसे समय में सरकार उधार देने वालों को सूचना देती है या तो अपने ब्याज की दर को कम करें या अपना रुपया वापस ले लें। यदि बांड होल्डर (bond holder) ब्याज की दर को कम करना स्वीकार नहीं करते तो सरकार कम ब्याज पर दूसरा धन उधार लेकर उस धन से पिछले ऋण को चुका देती है। इस प्रकार ऊँचे ब्याज की दर को कम ब्याज की दर में परिवर्तित करने से सरकार का आर्थिक बोझ कम हो जाता है।

(५) ऋण निवारण निधि (Sinking Fund)—यह उपाय बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। प्रतिवर्ष राजस्व में से एक निश्चित धन ऋण चुकाने के लिए निकाल लिया जाता

है। यह इस हिसाब से निकाला जाता है कि एक निश्चित समय के अन्दर ऋण को ब्याज सहित चुकाने में आसानी हो।

ऋण चुकाने के इन साधारण उपायों के अतिरिक्त कुछ और भी नवीन क्रान्तिकारी योजनाएँ हैं। उनमें से ये मुख्य हैं—

(क) ऋण निषेध (Debt Repudiation)—जब कोई नई क्रान्तिकारी सरकार बनती है तो वह पहली सरकार द्वारा लिये गए ऋण चुकाने से इनकार कर सकती है। यह तभी होता है, जब नई सरकार का निर्माण क्रान्ति द्वारा हुआ हो लेकिन विद्वान् राजनीतिज्ञ इन प्रस्तावों का स्वागत नहीं करते। सरकार के लिए यह एक चलन है कि वह अपनी पूर्ववर्ती सरकार के वचनों का सम्मान करे।

(ख) ब्याज में अनिवार्य कमी (Compulsory Reduction of Interest)—यदि परिस्थितियों के बदल जाने से ऊँची ब्याज की दर सरकार को कष्टदायक हो गई हो तो सरकार का ब्याज की दर में कमी कराना कम अप्रिय उपाय दिखता है, लेकिन एक सभ्य सरकार के लिए वचन भंग करना उचित नहीं है।

(ग) ऊँची आय पर उच्च करारोपण (Steep Taxation of Higher Income)—हम पहले कह आए हैं कि करों की अधिकता से उद्योग-व्यवसायों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है। यह नए धन या बचत को नष्ट कर देता है। नई औद्योगिक योजनाएँ विफल और व्यर्थ हो जाती हैं; क्योंकि उन्हें ठीक तरह से चलाने के लिए सामयिक सुधार और प्रतिस्थापन आवश्यक हो जाते हैं। इसलिए व्यापारी वर्ग के हितों में यह आवश्यक है कि कोई ऐसा आर्थिक कदम न उठाया जाए, जिससे उद्योग व्यापार की पूँजी में कमी आए, और व्यापार की क्षति हो। वास्तव में जब कि पुराने कर अपनी अन्तिम सीमा तक पहुँच गए हों उस समय करों का लगाना उद्योग व्यापार के लिए अहितकर होगा।

(घ) इसके अलावा पूँजी कर (Capital Levy) का भी बड़ा महत्त्व है इसलिये इस पर एक अलग विभाग में विचार किया गया है।

८. पूँजी कर (Capital Levy)—पूँजी कर के समर्थकों का कथन है कि युद्ध-काल में लिए गए ऋणों को चुकाने के लिए पूँजी पर एक प्रकार का कर लगाना चाहिए, जिसे पूँजी कर कहते हैं। एक ऐसा कानून बनाया जाए, जिसके अनुसार "एक निश्चित मात्रा की सम्पत्ति वाला प्रत्येक व्यक्ति मरा हुआ मान लिया जाएगा और दूसरे दिन वह फिर अपनी सम्पत्ति पर कर देने के बाद उस सम्पत्ति के उत्तराधिकारी के रूप में जीवित हो जाएगा।" यह प्रस्ताव प्रथम महायुद्ध (१९१४-१८) के समय बहुत ठीक और उसके अनुकूल था, क्योंकि उस समय मनोवैज्ञानिक परिस्थितियाँ इसके अनुकूल थीं। लेकिन युद्ध की समाप्ति के बाद इसके समर्थकों का उत्साह कम हो गया। प्रशासन की दृष्टि से कर लगाना बिलकुल व्यावहारिक है लेकिन यह साधारणतया बिना पूर्व-स्वीकृति के नहीं चलाया जा सकता।

पूँजी पर करारोपण के प्रस्ताव के विपक्ष में भी कई तर्क उपस्थित किए जा सकते हैं।

सबसे पहले तो यह कि इससे पूँजी तथा साख दोनों को हानि पहुँचेगी।

इससे उद्योग और व्यापार को क्षति पहुँचेगी। इस प्रकार के अपहरण से जनता का विश्वास उठ जाता है और उद्योग व्यापार में पूँजी का आना रुक जाता है।

दूसरे, यह मितव्ययिता के प्रति एक दण्डस्वरूप है। जो लोग अधिक खर्च करते हैं सरकार उनसे कुछ नहीं ले सकती। वे अपना मस्त जीवन बिताएँगे। पूँजी पर करारोपण की परछाई से ही पूँजी भाग खड़ी होगी और बचत निरुत्साहित होगी।

तीसरे, पूँजी पर करारोपण से व्यापार पर दबाव पड़ता है। कीमतों और मजदूरी म कमी आ जाती है तथा व्यापारी वर्ग की उधार लेने की शक्ति क्षीण हो जाती है।

चौथे, यह कि पूँजी पर करारोपण से यह डर रहता है कि पूँजी उपभोग के काम म न आ जाए और इस तरह समाज की उत्पादक-क्षमता को नष्ट कर दे। इससे समाज के वर्तमान उपबन्ध की तुलना मे भविष्य का उपबन्ध समाप्त हो जाएगा।

अन्तत पूँजी कर सम्बन्धी प्रशासन म भी कठिनाई आएगी।

पूँजी पर करारोपण निम्नांकित आधारो पर न्यायसगत है—(क) सरकारी खजाने को ऋण के भारी भार से मुक्त करके उसे सार्वजनिक (समाज-सेवा) कार्यों में लगाया जा सकता है। अधिक से-अधिक मनुष्यो की हालत सुधारी जा सकती है। अब यह सम्भव नही है, क्योंकि आगम का अधिक-से-अधिक भाग बॉड रखने वालो को चला जाता है।

(ख) यह युद्ध-काल म गरीबो और अमीरो के त्याग मे समानता लाएगा। कहा जाता है कि युद्ध काल म धनी वर्ग तो घर पर रहा और कीमतों के बढ़ जाने से अधिक धन कमाते रहे जब कि गरीबो ने सेना म भर्ती होकर युद्ध क्षेत्र म अपनी जानें गँवाई।

(ग) यह करारोपण के समानता के सिद्धान्त का पालन करता है। जो लोग कर देने की क्षमता रखते हैं, उन्हें कर देना ही पड़ेगा। पूँजी का मालिक उसमे प्राप्त आय के अतिरिक्त कुछ आर्थिक लाभ भी उठाता है। पूँजीपति के इस आधिक्य पर कर लगाना उचित है।

(घ) यातना को एक ही बार सह लेना कहीं अच्छा है, और दो सौ वर्ष तक चुकाने की सरदर्दी की अपेक्षा एक ही धक्के म ऋण चुका देना चाहिए।

(ङ) ऊँचे करो की अपेक्षा पूँजी पर कर लगाना अधिक न्याय-सगत है हालांकि दोनो एक ही से हैं। दोनों ही नैतिक दृष्टि से बुरे बताए जाते हैं, लेकिन उगाही के व्यवस्थित रूप से कोई अनैतिकता नहीं। नैतिकता तो केवल सापेक्ष पदावलि है।

(च) यह धन-वितरण को असमानताओं को कम करेगा।

(छ) अत्यधिक आय-कर उपक्रम तथा उद्यम को मिटाता है और लोगों को कर वचन की ओर प्रवृत्त करता है। परन्तु पूँजी कर म यह दोष नही होते क्योंकि इसका सम्बन्ध पिछले कार्यों म है न कि वर्तमान प्रयास से।

(ज) पूँजी कर का समर्थन युद्धकालीन मुद्रा-प्रसार को रोकने के लिए किया जाता है क्योंकि इसका प्रसार अपस्फीतिकारी होता है। यह इसलिए है क्योंकि इससे

पूंजी का पूर्ण रूप से हस्तान्तरण हो जाता है ताकि करदाताओं के पास कर-भुगतान के लिए तरल निधि हो सके। तो भी वास्तव में इसका उल्टा असर हो सकता है, क्योंकि कर का भुगतान करने के लिए उनको ऋण लेने की सुगमता दी जाती है। इस नये ऋण का स्फीतिकारी प्रभाव पडता है।

इस प्रकार विरोधी तर्कों के समक्ष कोई अपना मत उपस्थित करना सरल नहीं है। इस पर एक राय होना असम्भव है। फिर भी हमारा मत है कि पूंजी पर करारोपण वित्तीय व्यवस्था की दृष्टि से व्यावहारिक नहीं है और न इससे ऋण के चुकाने में ही कमी आती है।

वास्तव में इस पूंजी कर के पक्ष में दो मुख्य तर्क हैं—(१) ऋण का पूंजी मूल्य अत्यधिक है, और (२) ऋण की वार्षिक लागत भी अधिक है। यह आवश्यक रूप से उचित नहीं है कि राज्य ऋण की मात्रा घटा दी जाए। राष्ट्रीय ऋण की वापसी पर देश की आर्थिक तथा वित्तीय स्थिति का ध्यान रखना चाहिए। पूंजी पर कर लगाने से सम्पत्ति का बड़े पैमाने में जो नाश होता है उसमें व्यापार के कार्यक्रम तथा पूंजी बाजार में विघ्न पडता है। तो भी वार्षिक ऋण व्यय का कम करने के बहुत से सारपूर्ण लाभ हैं। पर यह पूंजी कर के ढांचे पर अर्थात् उसकी छूट की अन्तिम सीमा तथा उसकी वृद्धि के उत्तरोत्तर क्रम पर निर्भर है। ऋण पर ब्याज की दर, कहाँ तक यह कर-रहित है, तथा ऋण की मात्रा आदि पर भी ध्यान रखना चाहिए। बहुत कम देशों में पूंजी पर कर लगाने के अनुकूल स्थिति होगी।

९ लोक ऋण का बोझ (Burden of Public Debt)—लोक ऋण के बोझ की व्याख्या करने के लिए हम उसके रूप और उद्देश्य की विवेचना करनी पडेगी। यदि ऋण उत्पादक या जन-कल्याण के कार्यों के लिए लिया गया है, जैसे सिंचाई, रेलवे आदि, तो यह बोझ नहीं होगा, बल्कि अगर योजना सफलतापूर्वक चलाई गई है, तो ऐसा ऋण लाभ ही पहुँचाएगा। लेकिन यदि ऋण अनुत्पादक कार्यों के लिए लिया गया है तो यह आर्थिक दृष्टि से भी और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी समाज पर बोझा होगा, भले ही वह आन्तरिक ऋण हो या विदेशी।

आन्तरिक ऋण में धन देश में ही हस्तान्तरित होता है, जैसे अगर सरकार ने किसी से ऋण लिया तो उधार देने वाले का धन हस्तान्तरित होकर सरकार के पास आ जाता है और सरकार फिर उस धन को देश के दूसरे लोगों, जैसे सरकारी नौकरों, ठेकेदारों आदि को देती है। इस तरह देश का धन एक वर्ग से दूसरे वर्ग में जाता है। इसे हमें सरकार के ऊपर बोझ नहीं समझना चाहिए या यह ऋण बोझ के रूप में नहीं है। लेकिन देने वाले वर्ग पर यह एक प्रत्यक्ष बोझ होगा, परंतु यदि धन का हस्तान्तरण उपयुक्त रूप से होता है, जैसे अगर धन धनी वर्ग से गरीब लोगों के पास जाता है, तो लोक ऋण बोझ की अपेक्षा लाभदायक ही सिद्ध होगा, लेकिन यदि लोक ऋण इसके विपरीत होता है, तो निःसन्देह एक बोझ हो जाएगा।

अस्तु, हम 'हस्तान्तरण' के रूप की पूर्ण विवेचना करनी चाहिए। ऋण और ब्याज के भुगतान के लिए सरकार को कर लगाना आवश्यक है, लेकिन जो कुछ करों के लगाने से मिलता है, वह बांड रखने वाले ले लेते हैं। ऐसे पत्र (bonds) रखने

वाले तो नि सन्देह ही धनी होते हैं, लेकिन करो का बोझ केवल अमीरो पर ही नहीं, बल्कि गरीबो पर भी पडता है। अधिकतर करो का बोझ गरीबो पर ही पडता है, इसलिए धन के हस्तान्तरण से अधिकतर धन गरीबो के पास जाता है। इसका अर्थ यही है कि आर्थिक हितो की वास्तविक क्षति होती है।

इस तथ्य से यह बोझ और भी बढ जाता है कि युवको से वृद्ध (बॉड वाले, जो सरकार के ऋणदाता होते हैं सामान्यत बडी आयु वाले होते हैं) और समाज के सक्रिय सदस्यो से निष्क्रिय सदस्यो को यह हस्तान्तरण होता है। डाल्टन (Dr Dalton) का कथन है 'राजस्व के क्षेत्र म, अन्यत्र नही समानता अथवा न्याय की ऊँची एव स्पष्ट ध्वनि घोषित होती है। उत्पादन के आधार पर (वितरण के आधार को छोडकर) यह सामान्य धारणा भी है कि निष्क्रिय सक्रिय के बल पर अधिकाधिक धनी होते हैं जिनके द्वारा सचित सम्पत्ति के लाभ के लिए कार्य और उत्पादक जोखिम लेना दण्डनीय हो जाता है।[1] इस प्रकार आन्तरिक ऋण का सम्पत्ति के उत्पादन और वितरण दोनो पर ही विपरीत प्रतिघात होता है। यह इसका प्रत्यक्ष वास्तविक बोझ है।

इसका वास्तविक भार अप्रत्यक्ष रूप से उत्पादन की रोक पर लगता है। यदि काय करने तथा बचाने की योग्यता और इच्छा को कम कर दिया जाता है तो निश्चय ही उत्पादन पर रोक लगेगी। यदि ऋण चुकाने के लिए भारी करो को लगाया जाता है तो अवश्य ही काम करने की योग्यता और धन बचत करने की इच्छा में कमी हो जाती है।

अब विदेशी ऋण-भार के विषय में विचार कीजिए। विदेशी ऋण भी हस्तान्तरण को प्रोत्साहन देता है, लेकिन धन का यह हस्तान्तरण उसी देश मे नही होता। इससे स्थिति म बहुत अन्तर पड जाता है। जब ऋण लिया जाता है तो धन उधार देने वाले देश को चला जाता है परन्तु जब भुगतान होता है तो इससे विपरीत दिशा म होता है। जो धन उधार लेने वाला देश दता है उसम उसे मूलधन के बोझ के साथ ही साथ ब्याज का भार भी देना होता है। लेकिन यदि हम वास्त विक भार को जानना चाहते हैं तो हम इस बात पर विचार करना पडेगा कि इस उधार को चुकाने मे गरीबो और अमीरो ने किस अनुपात म अशदान दिया (अर्थात् कितने आर्थिक कल्याण का त्याग सहन किया) क्योकि सरकार यह धन करो द्वारा प्राप्त करेगी। यदि यह कर प्रत्यक्ष रूप से धनी वर्ग से लिए जाते हैं, तो वास्तविक ऋण का सीधा भार अधिकतर गरीबो से लिये गए करो की अपेक्षा कम होगा। जो भुगतान हम बाहरी देशो या साहूकारो को करते हैं तो उसम हमारा माल और सेवा भी आ जाते हैं। अर्थात् हमारी वस्तुओ और सेवाओ पर विदेशी सत्ता का अधिकार हो जाता है। हमारा धन उनके उपयोग का नही होता। वे हमारी सेवाओ और वस्तुओ को लेते हैं, धन नही लेते। वे उस धन से हमारे देश का सामान मोल लेते हैं, इसलिए विदेशी ऋण से हमारा माल भी बाहर चला जाता है। ऋणी न होने

1 Dalton Principles of Public Finance 1943, p 244

पर यह माल देश के अन्दर ही हम लोगों द्वारा उपयोग किया जाता। इसका अर्थ है हमारे आर्थिक सुखों का हनन और फलत एक प्रत्यक्ष तथा वास्तविक बोझ।

अप्रत्यक्ष रूप से विदेशी ऋण का भार देश के धन-उत्पादन पर रोक लगाता है। ऋण चुकाने के लिए करो के लगने मे कार्य करने की क्षमता और बचत करने की इच्छा मे कमी हो सकती है। सरकार द्वारा ऋण चुकाने से सार्वजनिक व्यय की उन दिशाओं मे कमी होगी जिसमे उत्पादन में वृद्धि होती है। फलत उत्पादन घट सकता है।

अन्तर्राष्ट्रीय ऋणों का भुगतान केवल वस्तुओं के निर्यात से ही सकता है। इस कारण उधार लेने वाले देश को उसका भुगतान करने के लिए अधिक उत्पादन करना पडता है। इससे उत्पादन को सहायता मिलती है लेकिन उत्पादन एक निश्चित दिशा में होता है। साधारणत उत्पादन और नियोजन में सामान्य वृद्धि नही होती। उत्पादन के साधन सीमित होते हैं। यदि उत्पादन के साधनों की आवश्यकता निर्यात सम्बन्धी उद्योगो मे होती है तो उन साधनो को अन्य उद्योगो से हटाकर निर्यात उद्योगो में ही नियोजित करना पडेगा। इससे अन्य उद्योगो का विकास रुकेगा। इस प्रकार उत्पादन के साधनों का हस्तान्तरण मात्र होता है, और उत्पादन तथा नियोजन में वास्तविक वृद्धि नही होती।

१० युद्धकालीन वित्त-व्यवस्था (War Finance)[1]—युद्ध का किस तरह अर्थ-प्रबन्ध किया जाए? इस प्रश्न का कोई प्रत्यक्ष या सीधा उत्तर नहीं दिया जा सकता। युद्ध का कुल व्यय, युद्ध-प्रारम्भ काल, मुद्रा बाज़ार की परिस्थितियों और इन सबसे अधिक मनोवैज्ञानिक तथा राजनैतिक परिस्थितियों पर इस प्रश्न का उत्तर निर्भर है। एक परिस्थिति के अन्तर्गत किया हुआ कार्य दूसरी परिस्थिति के अन्दर भिन्न हो सकता है।

हम यहाँ एक पुराने विवादग्रस्त विषय को ले सकते हैं कि "क्या युद्ध के लिए अर्थ-प्रबन्ध करो से या ऋणों से करना चाहिए?"

कुछ अर्थशास्त्रियों ने पूर्ण कर-प्रणाली तथा कुछ ने पूर्ण ऋण-प्रणाली का समर्थन किया है। रिकार्डो पूर्ण कर-रीति का पक्का समर्थक था, और युद्ध का अर्थ-प्रबन्ध करने के लिए ऋण लेने का वह विरोध किया करता था, क्योंकि इससे घाटा होता है और पूँजी कम हो जाती है। साथ ही युद्ध के लिए लगाए गए कर उस समय की सन्तान के मस्तिष्क मे युद्ध के विरुद्ध धारणा उत्पन्न कर देते हैं।

पूर्ण कर-रीति के पक्ष म यही मत दिया जाता है कि कर युद्ध-व्यय को कम से कम सतह तक बनाए रखते हैं और युद्ध-काल को भी कम से कम करते हैं। दूसरे, कर युद्ध के द्वारा उत्पन्न होने वाले मुद्रा-प्रसार को रोकते हैं, क्योंकि आधुनिक युद्ध म मुद्रा-प्रसार का सहारा अनिवार्य है। पिछले युद्ध के परिणामस्वरूप कितनी ही प्रकार की परेशानियाँ केवल मुद्रा-प्रसार के कारण झेलनी पडी। करों से अधिक व्यय और अनावश्यक उपभोग कम हो जाएगा। करो के बोझ से युद्ध की कठिनाइयाँ युद्ध करने वाली पीढ़ी को झेलनी पड़ेंगी और वही अपनी गलतियों के लिए उचित ही भुगतेगी।

1. Keynes, J M How to Pay for the War, 1940

लेकिन इन मतो के विरोध मे भी यह कहा जा सकता है कि कोई भी कर-प्रणाली आधुनिक युद्ध के भयानक बोझ को सहन नही कर सकती है। अधिक करो से देश की पूँजी कम होगी और इससे उत्पादन को क्षति पहुँचेगी। भारी कर लगाने से उच्च वर्ग की जनता म से सरकार के प्रति विश्वास उठ जाएगा और यह सरकार के विपक्ष म गुप्तचर कार्यों को बढावा देंगे। इससे सामाजिक सगठन मे दरार पड जाएगी। चतुर राजनीतिज्ञ ऐसी स्थिति को कभी पैदा नही होने देंगे।

ऋण नीति धन को प्राप्त करने का अच्छा और सरल ढग है। करो की अपेक्षा ऋण लेने से सरकार की लोकप्रियता नही घटती। ऋण देने वाले यह जानते हैं कि वे ब्याज से जो धन प्राप्त करेंगे, वह उस कर से अधिक होगा जो कि उनको ब्याज भुगतान करने के लिए देना पडेगा। इसलिए अपनी आवश्यकताओ को कम करके लोग युद्ध काल में बडे-बडे बॉंड खरीदकर लाभ उठाते हैं और इस प्रकार युद्ध को भी सहायता मिलती है। कर उद्योग व्यापार म भी बाधा डालते है लेकिन ऋण उत्पादन का सहायक होता है। ऋण देने वाले अपनी आवश्यकताओ से बचे हुए धन को ही देते हैं। इस प्रकार उद्योग-धन्धो को हानि नही पहुँचती। सरकार भी लिये हुए ऋण का उपयोग वस्तुओ और सेवाओ को खरीदने के लिए करती है। अत इससे व्यापार को सहारा मिलता है।

इस प्रकार युद्धकालीन अर्थ व्यवस्था के दो रूप है—(१) केवल ऋण लेकर, और (२) अकेले करो से। लेकिन यह दोनो ही अन्त में अपने-अपने पक्ष मे एकतरफा है। दोनो के मिश्रित उपयोग द्वारा ही आय प्राप्त करना सबसे अच्छा है। एडम स्मिथ (Adam Smith) का कथन है कि "शान्ति के दिनो मे खर्च करने से बचाया हुआ धन युद्ध-काल मे देना आवश्यक हो जाता है।" लेकिन हमारे मतानुसार शान्ति काल की बचत ही पूर्ण रूप से आधुनिक युद्ध की अर्थ-व्यवस्था को पूर्ण नही कर सकती। ऋण लेना आवश्यक है। लेकिन ऋण लेना उस समय अति आवश्यक हो जाता है जब युद्ध छिड जाता है और सरकार को शीघ्र ही उसके लिए कोष की आवश्यकता होती है। ऐसे समय म कर आगम शीघ्र प्राप्त नही किए जा सकते। इसलिए सरकार के लिए ऋण लेना आवश्यक हो जाता है।

युद्ध के लिए अर्थ-प्रबन्ध का तीसरा तरीका है कागजी मुद्रा का छापना। यह बहुत ही भयानक उपाय है। सदा युद्ध म लगे रहने वाले राष्ट्रो मे इसका उपयोग होता आया है लेकिन इसका उपयोग बडी ही सावधानी से करना चाहिए। हम इस विषय पर ७वें विभाग में कह आए हैं। इस प्रकार युद्ध की अर्थ व्यवस्था हम तीन तरह से कर सकते हैं—

(१) ऋण से, (२) करो से, और (३) पत्र मुद्रा निकालने से।

११ युद्ध कालीन भार (The Cost of War ?)—युद्ध की लागत का अर्थ द्रव्य लागत से या वास्तविक लागत से हो सकता है। युद्ध की द्रव्य लागत का आशय उन तमाम खर्चों से है जो युद्ध में करने पडते हैं। इसका भार उन लोगो पर पडता है जो युद्ध-व्यय के लिए योगदान करते हैं, जैसे कर देने वाले, ऋण देने वाले और भविष्य में आने वाली सन्तान, जिसको इसके लिए कर तथा ब्याज देना पडेगा। युद्ध की

वास्तविक लागत है – आतंक, चिन्ता, कष्ट, वियोग, परेशानियाँ, घृणा और नैतिक पतन। यह लागत स्पष्टत वर्तमान पीढी को भुगतनी पडती है।

युद्ध का भार युद्धकालीन जनता पर है या कि आने वाली सन्तान पर, यह युद्ध के लिए प्राप्त आय और उनकी आर्थिक परिस्थितियो की नीति पर निर्भर है। जहाँ तक युद्ध के लिए अर्थ-प्रबन्ध पत्र-मुद्रा छापने से प्राप्त किया जाता है उसका भार अधिकतर उस काल की जनता पर ही होता है। मुद्रा प्रसार के सभी कुपरिणामो को उस समय की जनता को ही उठाना पडता है, भविष्य के लिए इसका कोई भी कुपरिणाम शेष नही रह जाता।

साधारणत यह कहा जाता है कि करो द्वारा युद्ध के लिए प्राप्त आय का भार उस समय की जनता पर पडता है और ऋण द्वारा प्राप्त आय का भार आने वाली सन्तान पर। लेकिन यह आवश्यक नही है।

ऐसा विश्वास करने के कुछ कारण हैं कि करो का अधिक आघात वर्तमान पीढी को भी सहना पडता है। कर देनदारो को अपने उपभोग को कम करना पडता है। अधिक करो का तो उपभोग व्यापार पर ऐसा उल्टा प्रभाव पडता है कि आवश्यक वस्तुओ की भारी कमी हो जाती है। लेकिन यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि यह उत्पादन का कुप्रभाव आने वाली सन्तान पर न छा जाएगा ? कल-कारखानो की उत्पादन की क्षमता के नष्ट होने से भविष्य म भी उत्पादन कम हो सकता है।

यह जानने के लिए कि किस सीमा तक आने वाली सन्तान पर ऋण का भार पडता है, हम यह सोचना पडेगा कि क्या यह अल्प-अवधि ऋण है या स्थायी ऋण है, और साथ ही यह देखना होगा कि वह आन्तरिक ऋण है या वाह्य ऋण।

यदि ऋण की अवधि २० ३० वर्ष है, तब तो वर्तमान पीढी में ही वह समाप्त हो जाएगा, और भावी पीढी पर उसका कोई प्रभाव नही होगा, केवल दीर्घकालीन ऋण की दशा में ही भावी सन्तति पर ब्याज चुकाने का बोझा पड सकता है।

आन्तरिक ऋण के बारे में यह शकापूर्ण है कि क्या ऋण का सम्पूर्ण भार आने वाली सन्तान पर पडता है। नि सन्देह ब्याज और मूलधन भविष्य म चुकाए जाएँगे, और उनके लिए लोगो पर कर लगाए जाएँगे। इसलिए भविष्य में कर देने वालो को उसका भार सहन करना पडेगा। किन्तु ब्याज का भुगतान कौन प्राप्त करता है ? वर्तमान स्टॉक होल्डरो की सन्तानें। इसके यह अर्थ हुए कि सम्पत्ति का भावी पीढी के कुछ वर्गों मे से (अर्थात् कर दाताओ) भावी पीढी के अन्य वर्गों मे (अर्थात् बांड रखने वालो में) हस्तान्तरण हुआ। इसलिए यदि आने वाली सन्तान को कुछ देना पडता है तो आने वाली सन्तान कुछ लेती भी है। इसलिए हम कैसे कह सकते हैं कि भविष्य की सन्तान को ऋण का भार सहन करना पडता है। हाँ, यदि ऋण आन्तरिक नही है तो ऐसा नही होता।

लेकिन यदि ऋण बाहरी है तो भविष्य की सन्तान को ब्याज तथा मूलधन का भुगतान करना पडता है। पूँजी उधार लेने वाले देश से उधार देने वाले देश म हस्तान्तरित होती है। इस तरह से एक देश का धन दूसरे देश म जाने लगता है। युद्ध-काल मे

या युद्ध के बाद ही जब व्यापार पूरे जोर पर तथा कीमतें बढी हुई और बेकारी नहीं होती है, तब ऋण का बोझ कम होता है। लेकिन जब परिस्थितियाँ इसके प्रतिकूल होती है और मन्दी का दौर चलता है तब यह बोझ बहुत बढ जाता है।

इन सब का सार निकालकर अगर हम यह कहे कि युद्ध की वित्त-व्यवस्था पत्र मुद्रा से हो तो बहुत हद तक उस काल की सन्तान को ही उसका बोझ उठाना पडता है लेकिन जहाँ तक युद्ध के लिए अर्थ की पूर्ति कर द्वारा होती है उस काल की सन्तान को ही मुख्यत उसके बोझ को उठाना पडता है। फिर भी भविष्य की सन्तान भारी करो के कुप्रभाव से बची नही रह सकती। इसी प्रकार हालांकि ऋणों का यह स्वभाव है कि वह भविष्य की सन्तान पर अपना बोझ डालते हैं, लेकिन लोक ऋण से उस काल की जनता पर प्रभाव पडता है। यदि वह अल्पकालीन ऋण है तो आने वाली सन्तान बची रहती है लेकिन आन्तरिक स्थायी ऋण मे भी आने वाली सन्तान पूर्ण भार नहीं उठाती, क्योंकि वह भविष्य की सन्तान, भविष्य की सन्तान को ही दे देती है। केवल विदेशी ऋण म ही युद्ध-कर बोझ पूर्णत आने वाली सन्तान पर पडता है। केवल इसी तरह हम युद्ध-कर का आने वाली सन्तान से वसूल करते हैं जबकि युद्ध के दोषी हम हैं।

निर्देश पुस्तकें

Dalton, H Public Finance
Pigou A C Public Finance
U Hicks Public Finance
Macgregor Public Aspects of Finance
Armitage Smith Principles and Methods of Taxation.
Lutz, Harley Leist Public Finance
Robinson Public Finance
Adams The Science of Finance
Silverman Taxation
Shirras Science of Public Finance
Plehn Introduction to Public Finance
Bastable Public Finance
Keynes, J M How to Pay for the War, 1940
De Vebi De Marco Principles of Public Finance
Alfred G Buchler on "Taxation and Economy" in (National Tax Journal June, 1950, pp 121-33)

अध्याय ४८

घाटे की वित्त-व्यवस्था

(Deficit Financing)

१. प्रस्तावना (Introduction)—निजी खर्चे, कुल खर्चे अथवा अर्थ-व्यवस्था में जरूरी मांग के स्तर मे जो पूर्ण नियोजित पैदावार चालू कीमत स्तर पर खरीदने के लिए जरूरी है गिरावट आने से, घाटे की वित्त-व्यवस्था, १६३० के आस-पास की मन्दी के दौर की एक महत्त्वपूर्ण खोज थी। आज तो सरकारें इसका मुख्य अस्त्र के रूप में प्रयोग करती हैं। विशेष रूप से उन देशों में जहां उन्नत निजी उद्यम की व्यवस्था है, जिससे निजी खर्चे में मन्दी की प्रवृत्ति दिखाई देने पर भी विशेष रूप से निजी कुल घरेलू नियोजन में, आर्थिक चेष्टाओं का उच्च स्तर सुनिश्चित रहे।

२. घाटे की वित्त-व्यवस्था क्या है ? (What is Deficit Financing ?)—घाटे की वित्त-व्यवस्था वाक्यांश की परिभाषा उस उद्देश्य के सन्दर्भ में की जा सकती है जिसके लिए घाटे की वित्त-व्यवस्था की आवश्यकता है। उदाहरण के लिए कोई व्यक्ति यह खोज करना चाहे कि सरकार किस सीमा तक अपने उपलब्ध साधनों की सीमा मे व्यय कर रही है ? जब कोई सरकार अपना सार्वजनिक व्यय (चालू व्यय और पूंजीगत व्यय), अपने प्राप्त करों, फीसों, सरकारी व्यापारों और उद्यमों के आधिक्यों से प्राप्त प्राप्तियों से भी अधिक करती है तो कहा जाएगा कि उक्त सरकार घाटे की वित्त-व्यवस्था का आश्रय ले रही है। इस परिभाषा के अन्तर्गत चाहे तो सरकार सार्वजनिक ऋण प्राप्त करके अपना घाटा पूरा करे, चाहे वैंकों से ऋण लेकर अपना व्यय पूरा करे, दोनों प्रकार से कमी को पूरा करने को घाटे का वित्तीयकरण कहेंगे। पुन कोई अन्वेषक यह भी जानने का प्रयत्न कर सकता है कि सरकार के आयव्ययक से मुद्रा-स्फीति किस सीमा तक बढेगी। सरकार द्वारा व्यय के लिए आवश्यकताओं के अनुरूप ही किसी देश का आय-व्ययक संजोया जाता है। सरकार की कुछ प्राप्तियाँ (जैसे करों द्वारा प्राप्त प्राप्तियाँ) सर्वसाधारण की क्रय-शक्ति कम करके ही प्राप्त की जाती हैं। उस सीमा तक सर्वसाधारण देश के उपलब्ध साधनों के प्रयोग से वंचित हो जाते हैं। ऐसा इसलिए है कि सरकार की कुछ अन्य प्राप्तियों से सर्वसाधारण की क्रय-शक्ति बिलकुल नहीं घटती या उस सीमा तक नहीं घटती जो घाटे की वित्त-व्यवस्था का आश्रय लेना आवश्यक हो जाए। सरकार के घाटे में किन प्राप्तियों को शामिल किया जाए, यह निर्णय करने के लिए हमको यह निर्णय करना होगा कि किस प्राप्ति से सर्वसाधारण की समान राशि की क्रय शक्ति का ह्रास होता है और वह भी किस सीमा तक। इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर देना कठिन है; इसलिए अर्थशास्त्री घाटे के वित्तीयकरण की सर्वसम्मत परिभाषा देने में भी असमर्थ रहे हैं। पुन, कोई व्यक्ति आय व्ययक के घाटे की राशि से यह

अनुमान लगाने का प्रयत्न कर सकता है कि सरकार ने देश की सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था में कितना तरल योगदान दिया।

उपरोक्त विवेचन के सन्दर्भ में हम कह सकते हैं कि सभी देशों में सब समयों पर घाटे की वित्त-व्यवस्था की एक ही परिभाषा नहीं होगी। भारतीय योजना आयोग (Planning Commission of India) ने घाटे की वित्त-व्यवस्था की जो परिभाषा बताई है वह यह है: "घाटे की वित्त-व्यवस्था का अर्थ है सर्वसाधारण की क्रय-शक्ति म उसी सीमा तक वृद्धि।" जब कभी सरकार का व्यय उसकी आय से (करों, फीसों और लोक-ऋणों से प्राप्त धन) अधिक बढ़ जाता है तो उस अवस्था में सरकार को घाटे की वित्त-व्यवस्था का आश्रय लेना पड़ सकता है। आय और व्यय के बीच की खाई को पाटने के लिए सरकार या तो केन्द्रीय बैंक के पास जमा नकदी शेष को कम करती है अथवा उससे उधार लेती है। इस खाई को पाटने के लिए प्रयोग म लाए गए उक्त दोनों उपाय घाटे की वित्त व्यवस्था के दो रूप हैं। घाटे की पूर्ति के उपरोक्त दोनों उपाय सर्वसाधारण की मुद्रा पूर्ति की शक्ति को विस्तार प्रदान करते हैं। इन्हीं अर्थों म भारत सरकार घाटे की वित्त व्यवस्था की परिभाषा इस प्रकार करती है "यह सरकारी व्यय का वह भाग है जो या तो सरकार की जमा तरल शेष से पूरा किया जाता है, या फिर केन्द्रीय बैंक (Reserve Bank of India) से ऋण लेकर पूरा किया जाता है। घाटे की वित्त-व्यवस्था की उक्त परिभाषा सरकार के उस व्यय से सम्बन्धित है जिसका वित्त-पोषण सर्वसाधारण की मुद्रा-पूर्ति की क्षमता में वृद्धि उत्पन्न करता है।

३ मन्दी के दौर में घाटे की वित्त व्यवस्था (Deficit Financing During the Depression)—व्यापार-चक्रो सम्बन्धी अध्याय म हमने उन्नतिशील और विकसित देशों में व्यापक बेरोजगारी के कारणों पर प्रकाश डाला था। वहाँ पर हमने यह भी बताया था कि चक्रिक बेरोजगारी का मुख्य कारण वस्तुओं की प्रभावी माँग का अभाव था। ऐसी स्थिति में प्रभावी माँग उत्पन्न कर देने से स्थिति सुधर सकती है। इस दिशा म सरकार बहुत कुछ कर सकती है। यदि सरकार स्वयं प्रत्यक्ष हस्तक्षेप न करना चाहे तो भी वह प्राइवेट उपभोग को बढ़ावा देकर नियोजन को प्रोत्साहन दे सकती है। सरकार करों की दरों को घटाकर, किन्तु साथ ही अपने व्ययों को ज्यों का त्यों रखकर प्राइवेट उपभोग का उन्नत कर सकती है और नियोजन को प्रोत्साहन दे सकती है। इस दशा में चूँकि सरकार अपनी करों की आय से अधिक व्यय करने लग जाती है इसलिए वह एक प्रकार से घाटे का वित्त पोषण करने लगती है जिसमें घाटे की रकम ऋण से पूरी की जाती है। यदि इस प्रकार सरकार आर्थिक क्रिया-कलाप को गति नहीं दे पाती तो वह सार्वजनिक निर्माण कार्यक्रम प्रारम्भ कर सकती है। इस स्थिति में सरकार की करों से आय तो स्थायी बनी रहती है, किन्तु उसका व्यय बहुत बढ़ जाता है, अतः पुनः इस घाटे को पूरा करने के लिए सरकार का ऋण का आसरा लेना पड़ता है।

स्वर्गीय लार्ड जे० एम० कीन्स (J M Keynes) ने यही दिशा इंगित की थी। शास्त्रीय अर्थशास्त्री विशेष रूप से घाटे की वित्त-व्यवस्था के विरुद्ध थे।

किन्तु लार्ड कीन्स (Lord Keynes) ने सिद्ध कर दिया कि जहाँ व्यापक बेरोजगारी फैली हो, और पूंजी को लाभदायक कामो मे लगाने की गुजाइश हो, वहाँ घाटे की वित्तीय व्यवस्था का परिणाम मुद्रा-स्फीति नही हो सकता। उनका तर्क यह था कि जब सरकार घाटे की वित्त-व्यवस्था का आश्रय लेगी तो उसके द्वारा अधिक श्रम नियोजन होगा और अधिक पूंजी नियोजन होगा तो साथ ही साथ उत्पादन भी तो बढेगा। मन्दी के दौर मे उत्पादन की औसत और सीमान्त लागत मे बिना वृद्धि किए हुए भी पूर्ति मे वृद्धि की जा सकती है। इस प्रकार अतिरिक्त माँग के द्वारा बिना कीमतो म वृद्धि किए हुए अतिरिक्त पूर्ति की जा सकती है। अत मन्दी के जमाने म घाटे की वित्त-व्यवस्था के द्वारा, उत्पादन, श्रम नियोजन और राष्ट्रीय आय मे वृद्धि की जा सकती है जबकि स्फीति का भय नाम को भी न होगा। बल्कि मन्दी के दिनो मे करो की दर बढाना अच्छा नही किन्तु सरकारी व्यय को घाटे की वित्त व्यवस्था के आधार पर बढाना अधिक अच्छा है। यदि करो की दरें बढाई जाएँगी तो इससे आर्थिक गति मन्द होगी क्योकि बढे हुए करो का प्रभाव यह होगा कि प्राइवेट उपभोग और नियोजन पर आघात लगेगा और फलस्वरूप प्रभावी माँग घटेगी। इस प्रकार सरकारी व्यय मे वृद्धि के आर्थिक परिणाम ऊँचे करो के प्रभाव से कुण्ठित हो जाएँगे और निजी नियोजन तथा उपभोग पर अनर्थकारी प्रभाव पडेगा।

४ घाटे की वित्त-व्यवस्था और आर्थिक विकास (*Deficit Financing and Economic Development*)—भारत जैसे अविकसित देशो म घाटे की वित्त-व्यवस्था के द्वारा कहाँ तक आर्थिक विकास किया जा सकता है? नियोजन के सिद्धान्त सम्बन्धी अध्याय मे हमने कहा था कि अर्द्ध-विकसित देशो की मुख्य कठिनाई यह है कि उनमें पूंजी-निर्माण की गति धीमी है जबकि जनसख्या तीव्र गति से बढ रही है। ऐसे देशो मे समस्त श्रमिक शक्ति को पूर्ण नियोजन तभी दिया जा सकेगा जबकि बहुत अधिक पूंजी की व्यवस्था पूर्ण कर ली जाएगी। अविकसित देशो की वास्तविक समस्या प्रभावी माँग की कमी नही है। वहाँ पर कमी है पर्याप्त पूंजी की और पर्याप्त पूंजीगत माल की। विकसित और उन्नत देशो मे पूंजी-निर्माण निजी या प्राइवेट उद्यमियो के हाथ में है जबकि गरीब देशो में ऐसे लोगो का सर्वथा अभाव है जो पूंजी-निर्माण कर सकें या उद्यम चला सकें। अत भारत जैसे अर्द्ध-विकसित देशो म सारा उत्तरदायित्व सम्बन्धित सरकारो को ही वहन करना होगा।

सत्य यह है कि पूंजी नियोजन की गति बढाकर ही अविकसित देशो का आर्थिक कायाकल्प किया जा सकेगा। इसके लिए बहुत अधिक पूंजी दरकार होगी और पर्याप्त विदेशी सहायता के अभाव में हमको देश मे बचत योजना को आगे बढाना होगा और बचत के धन को उत्पादक कार्यो मे लगाना होगा। सर्वसाधारण में ऐच्छिक बचत को प्रोत्साहन देना चाहिए। राष्ट्रीय अल्प बचत योजना के द्वारा बचत की धनराशि को सरकार के सुपुर्द किया जा सकता है। किन्तु ऐसे देश मे जहाँ लाखो-करोडो व्यक्ति मुश्किल से भरपेट अन्न प्राप्त कर पाते हैं, वहाँ आमदनी और उपभोग के बीच कुछ बचता ही कहाँ है; और ऐसी स्थिति म ऐच्छिक बचत से इतना

धन सग्रह करना असम्भव है जिससे देश के विकास म कुछ सहायता मिल सके। अति-रिक्त करो की आय से भी विकास योजनाओ की पूर्ति सम्भव है किन्तु गरीब देशो में करो की आय भी इतनी नही होगी जिससे विकास योजनाओ को पूरा किया जा सके। और अत्यधिक ऊँचे करा से आर्थिक और राजनीतिक अशान्ति का भी भय होता है। अत अन्तिम उपचार के रूप म अविकसित देश की सरकार को घाटे की वित्त-व्यवस्था का ही आश्रय लेना पडता है।

५ घाटे की वित्त-व्यवस्था और स्फीति (Deficit Financing and Inflation)—१९३० के आस पास उन्नत देशो में भी घाटे की वित्त व्यवस्था का आश्रय लिया गया था। किन्तु उनम स्फीति की दशा उत्पन्न नही हुई क्योकि वहाँ उत्पादन के पूर्ति वक्र लोचदार थे। अतिरिक्त सरकारी व्यय के कारण प्रभावी माँग मे वृद्धि होती है। किन्तु यदि उसी अनुपात में पूर्ति को भी बढाया जा सकता है तो स्फीति का भय नही रहता।

किन्तु अविकसित देशो की स्थिति भिन्न है। वहाँ विकास के प्रारम्भिक चरणो मे स्फीति का भय वास्तविक होता है। इसका कारण यह है कि यातायात और सचार के साधनो के विकास के लिए बहुत अधिक पूँजी आयोजित करना नितान्त आवश्यक हो जाता है। इस पूँजी विनियोजन से भी अन्य विनियोजनो की भाँति ही माँग बढती है किन्तु इनसे उपभोग्य वस्तुओ के उत्पादन की पूर्ति नही बढती। इन्ही सब कारणो से अविकसित देशो म घाटे की वित्त-व्यवस्था के परिणामस्वरूप स्फीतिकारी परिणाम अवश्य भोगने पडते हैं और इनको नियन्त्रण म रखने के उद्देश्य से इन पर कडी निगाह रखना आवश्यक है। घाटे की वित्त-व्यवस्था का एक परिणाम होता है कि जनता के पास मुद्रा की पूर्ति बढ जाती है। यद्यपि मुद्रा की पूर्ति के बढ जाने और कीमतो म स्फीतिकारी वृद्धि के बीच सीधा सम्बन्ध नही है। उदाहरण के लिए नवनिर्मित मुद्रा को बचाकर या गाडकर रख दिया जा सकता है। ऐसी स्थिति में मुद्रा-स्फीति नही होगी। किन्तु जहाँ तक नए द्रव्य मुद्रा से नए व्यक्तियो को रोजगार मिलेगा, वहाँ तक वह सारा द्रव्य अतिरिक्त माँग पैदा करेगा। उसी प्रकार यदि अतिरिक्त नियोजन से अतिरिक्त उपभोग्य वस्तुओ की पूर्ति बढाई जा सकती है तो भी स्फीतिकारी प्रभाव दृष्टिगोचर नही होग, और उच्चतर स्तर पर माँग और पूर्ति म साम्य स्थापित हो जाएगा। किन्तु यदि किसी कारणवश माँग के अनुरूप पूर्ति को न बढाया जा सका, तो कीमतो म स्फीतिकारी वृद्धि होगी।

६ घाटे की वित्त-व्यवस्था के स्फीतिकारी परिणामो पर अकुश (Minimising Inflationary Potential of Deficit Financing)—निम्नलिखित उपायो से घाटे की वित्त व्यवस्था से उत्पन्न स्फीतिकारी परिणामों को प्रभावहीन किया जा सकता है—

(१) राजकोषीय नीति (Fiscal Policy)—किसी सीमा तक घाटे की वित्त-व्यवस्था से उत्पन्न स्फीतिकारी परिणामो को अपस्फीतिकारी राजकोषीय नीति द्वारा सचालित प्रयत्नो के द्वारा प्रभावहीन किया जा सकता है। इसके लिए आय कर

से प्राप्त राजस्व को बढाना होगा, व्यय पर भी कर लगाना होगा तथा अनावश्यक सरकारी व्यय म काट-छांट करनी होगी।

(२) मुद्रा नीति (Monetary Policy)—मुद्रा जारी करने की नीति पर नियन्त्रण रखकर आवश्यक शासनेतर पूँजी नियोजन को नियन्त्रित किया जा सकता है और इस नियन्त्रण के परिणामस्वरूप आवश्यक पूजी नियोजन म सहायता मिलेगी।

(३) प्रवृत्त नियन्त्रण (Selective Controls)—नियन्त्रित साख भौतिक एव राजकोपीय नियन्त्रणो के द्वारा सरकार शासनतर नियोजन को प्रभावित कर सकती है और उसको ठीक दिशा प्रदान कर सकती है । उदाहरण के लिए अलभ्य पदार्थों का राशन किया जा सकता है, भवन निर्माण सम्बन्धी नीति पर नियन्त्रण लगाया जा सकता है और कम्पनियो द्वारा पंजी निगम पर रोक लगाई जा सकती है।

(४) प्राकृतिक साधनो का उचित बँटवारा (Proper Allocation of Resources)—ऊपर जिन उपायो का निर्देश किया गया है वे मांग के दबाव को कम करने म सहायक सिद्ध होगे। किन्तु साथ ही उपभोग्य वस्तुओ के उत्पादन को बढाने का प्रयत्न भी करते रहना चाहिए। इस उद्देश्य के लिए उद्योगो और कृषि के बीच उचित सामञ्जस्य रखना आवश्यक होगा । उसी प्रकार भारी उद्योगो और छोटे उद्योगो के बीच भी सन्तुलन रखना आवश्यक होगा। कृषि से ही भोजन मिलता है जो मौलिक पारिश्रमिक है। इसलिए यदि आर्थिक विकास की योजना म कृषि के विकास पर उचित ध्यान नही दिया जाएगा, तो वह स्फीतिकारी प्रभावो को बढावा देगी। उसी प्रकार छोटी पूँजी वाले और शीघ्र फलदायक छोटे कुटीर उद्योगो के विकास पर उचित ध्यान दिया जाना नितान्त आवश्यक है।

(५) आयात आधिक्य का निर्माण (Developing an Import Surplus)—आयात आधिक्य का सहारा लेकर भी वस्तुओ की पूर्ति को बढाया जा सकता है। प्रथम पञ्चवर्षीय योजना म भारतीय योजना आयोग ने २०० करोड रु० के स्टर्लिंग शेष निकालना निश्चय किया था, ताकि घाटे की वित्त व्यवस्था के स्फीतिकारी परिणामो का निराकरण किया जा सके। किन्तु वास्तव म योजना की वित्त-व्यवस्था में घाटा, आशा से अधिक रहा जबकि स्टर्लिंग शेष आशा से कम निकाला जा सका। फिर भी कोई देश एक सीमा तक ही आयात आधिक्य का निर्माण कर सकता है। विदेशी विनिमय साधनो की सीमा और विदेशी ऋण प्राप्त करने की सीमा भी आयात आधिक्य के निर्माण मे बाधक है।

७ घाटे की वित्त-व्यवस्था की सीमायें (Scope and Limitations of Deficit Financing)—ऊपर हमने घाटे की वित्त व्यवस्था की सीमा और विस्तार का वर्णन किया है। किसी देश की विकास योजनाओ की पूर्ति के लिए घाटे की वित्त व्यवस्था आवश्यक हो सकती है किन्तु इस उपाय का अत्यधिक आश्रय घातक होगा। जिस सीमा तक हम स्फीतिकारी प्रभावो पर नियन्त्रण रख सकेंगे और वस्तुओ की मांग पर काबू रख सकेंगे, तथा जिस सीमा तक हम देश में उत्पादन बढा सकेंगे, वही तक घाटे की वित्त-व्यवस्था लाभदायक सिद्ध हो सकती है।

अध्याय ४६

आर्थिक व्यवस्थाएँ

(Economic Systems)

१ पूंजीवाद (Capitalism)—किसी देश की आर्थिक क्रिया उस देश मे प्रचलित अर्थ-व्यवस्था के अनुरूप होती है। मुख्य आर्थिक व्यवस्थाएँ ये हैं—पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था, समाजवादी अर्थ-व्यवस्था और साम्यवादी अर्थ-व्यवस्था। इस अध्याय मे हम इन आर्थिक व्यवस्थाओं का अध्ययन करेंगे। पहले हम पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था पर विचार करेंगे।

पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत समस्त खेत, कारखाने तथा उत्पादन के अन्य साधन व्यक्तियों तथा फर्मों की निजी सम्पत्ति मानी जाती है, तथा अपने लाभ के लिए उनका उपयोग करने अथवा न करने की उन्हें पूर्ण स्वतन्त्रता होती है। अपनी सम्पत्ति का किसी प्रकार आदान-प्रदान करते समय लाभ प्राप्त करना सम्पत्ति के स्वामियों का एक मात्र उद्देश्य होता है। हर व्यक्ति उत्पादन का कोई भी मार्ग ग्रहण कर सकता है, तथा अपने लाभ के लिए अन्य नागरिकों से संविदा अथवा ठेका करने के लिए स्वतन्त्र है। यद्यपि जन कल्याण के लिए समस्त आधुनिक राज्य प्राइवेट सम्पत्ति के प्रयोग पर कुछ प्रतिबन्ध लगाते हैं, तथापि इन प्रतिबन्धों के होते हुए भी सम्पत्तिवान वर्गों को अपनी सम्पत्ति का जैसे चाहें वैसे प्रयोग करने की, अपने लिए लाभदायक कोई भी कारोबार चालू करने की, तथा अपने हितों को आगे बढाने के लिए किसी प्रकार के संविदा करने की बहुत गुंजायश रहती है।

पूंजीवाद की वेब्स (webbs) द्वारा की गई परिभाषा से इस पद्धति मे निहित अर्थ स्पष्ट हो जाते हैं। यह परिभाषा इस प्रकार है —"पूंजीवाद या पूंजीवादी पद्धति या पूंजीवादी सभ्यता का अर्थ है उद्योगों के विकास तथा वैधानिक सगठन में वह स्थिति जिसमें कि श्रमिकों का समुदाय उत्पादन के यन्त्रों के स्वामित्व से इस प्रकार अलग हो जाता है और वह ऐसे मजदूरों में परिणत हो जाता है कि उनका निर्वाह तथा निजी स्वातन्त्र्य राष्ट्र के थोडे से ऐसे व्यक्तियों की, जो भूमि, यन्त्रादि तथा श्रम-शक्ति के स्वामी हैं, तथा अपने कानूनी स्वामित्व के द्वारा उनके प्रबन्ध पर नियन्त्रण रखते हैं और अपने लिए व्यक्तिगत तथा निजी लाभ प्राप्त करने के उद्देश्य से ऐसा करते हैं, इच्छा पर निर्भर हो जाता है।"

२ पूंजीवाद के प्रमुख लक्षण (Outstanding Features of Capitalism)—पूंजीवाद के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि इस पद्धति के कई प्रमुख लक्षण हैं। इनमें से (1) निजी सम्पत्ति का अस्तित्व तथा उत्तराधिकार की प्रणाली सबसे प्रधान है। हरेक व्यक्ति को निजी सम्पत्ति प्राप्त करने का, उसे रखने का तथा अपनी मृत्यु के पश्चात् अपने उत्तराधिकारियों को देने का अधिकार होता है।

(ii) इसी से सम्बन्धित दूसरा लक्षण यह है कि उत्पादन के साधन व्यक्तियों के हाथों में रहते हैं और वे उनका प्रबन्ध एक मात्र अपने लाभ के लिए करते हैं।

(iii) इसी वर्तमान आर्थिक व्यवस्था का एक और लक्षण प्रकट होता है। वह है वर्ग-संघर्ष। समाज दो वर्गों में बँट गया है। एक वे जो 'भरे' (सम्पन्न) हैं, दूसरे वे जो 'खाली' हैं। दोनों वर्गों में निरन्तर संघर्ष चला करता है।

(iv) पूँजीवादी व्यवस्था का एक प्रमुख लक्षण आर्थिक स्वातन्त्र्य है जिसमें तीन बातें निहित हैं—(क) उद्यम स्वातन्त्र्य, (ख) संविदा या ठेके (Contract) का स्वातन्त्र्य (ग) अपनी सम्पत्ति का बेरोक-टोक उपयोग। हर व्यक्ति को जो उद्योग वह चाहे करने की स्वतन्त्रता होती है तथा अन्य नागरिकों से अपने लिए सबसे अधिक लाभदायक ढंग से संविदा या ठेका करने की स्वतन्त्रता भी होती है। किन्तु व्यवहारतः इस प्रकार की स्वतन्त्रता को निरपेक्ष नहीं कहा जा सकता क्योंकि सर्व साधारण के कल्याण की दृष्टि से समस्त राज्यों में व्यक्तिगत अधिकारों पर प्रतिबन्ध लगाए गए हैं। अपना काम स्वयं चुनने की स्वतन्त्रता नाम मात्र की ही है।

(v) वर्तमान आर्थिक व्यवस्था का एक विशेष लक्षण उसकी अव्यवस्था है। आर्थिक क्रियाओं का कोई विचारयुक्त नियमन या केन्द्रीय संचालन नहीं होता। सब कुछ अपने आप होता हुआ सा प्रतीत होता है अनेक एकाकी साहसिक उपक्रमों के करने वालों और उनके निश्चयों के फलस्वरूप उत्पादन जारी रहता है।

(vi) वर्तमान आर्थिक व्यवस्था का एक मुख्य लक्षण यह भी है कि साहसी उद्यमी महत्त्वपूर्ण रोल अदा करता है। सारे देश की समस्त उत्पादक यन्त्रावलि उसी के निर्देशानुसार चलती है।

(vii) वर्तमान आर्थिक व्यवस्था का एक और लक्षण यह है कि कारोबार का नियन्त्रण तथा जोखिम सहगामी है। इसे पूँजीवाद का स्वर्ण नियम कहते हैं।

(viii) हम को इस बात पर भी ध्यान रखना चाहिए कि वर्तमान आर्थिक व्यवस्था न केवल प्रतियोगिता पर अवलम्बित है वरन् साथ साथ विभिन्न हितों के संगठन पर भी अवलम्बित है।

३ पूँजीवाद की सफलताएँ (Achievements of Capitalism)—पूँजीवाद की अनेक सफलताएँ हैं—

पूँजीवाद के समर्थक हमारा ध्यान सामान तथा सेवाओं की विभिन्नता तथा बाहुल्य की ओर आकर्षित करते हैं। लाभ की तृष्णा के वशीभूत उद्यमी जोखिम उठाने तथा उत्पादन के नवीन क्षेत्रों को हस्तगत करने का प्रयत्न करने के लिए बाध्य हो जाता है। रहन सहन का स्तर ऊँचा हो गया है। जीवन के वैभव में वृद्धि हुई है तथा जीवन अधिकाधिक परिपूर्ण तथा सम्पन्न होता गया है। इस प्रकार पूँजीवाद ने समाज की बहुत बड़ी सेवा की है।

दूसरे, समाज के सीमित साधन अधिकतम मितव्ययिता से तथा न्यूनतम नष्ट होते हुए प्रयुक्त होते हैं। जिस व्यक्ति पर विनाश का दायित्व होता है, उसे हानि तथा दिवाले के रूप में अपनी गलती का फल तुरन्त मिल जाता है।

तीसरे, पूँजीवाद में सबसे अधिक योग्य, साहसी तथा दूरदर्शी उद्यमी को ही

सबसे अधिक लाभ होता है। जो आगे बढ़कर असाधारण चातुर्य और जीवट से काम करता है वही ऊंचे से ऊंचे लाभ का भागी होता है। इससे अधिक उचित और क्या है कि योग्यता के अनुसार पारितोषिक मिले।

चौथे उपभोक्ताओं का नियंत्रण बना रहने के कारण यह पद्धति जनतन्त्र की भावना को व्यक्त करती है। यह कोई नहीं चाहता कि उपभोग के मामले में हमारी रुचि पर कोई अन्य उच्चतर शक्ति शासन करे।

पांचवें पूंजीवाद में जोखिम और नियंत्रण साथ साथ चलते हैं अतः आर्थिक विषयों पर सदा विचारपूर्वक निश्चय किए जाते हैं।

और छठे यदि जीवन-सम्पन्न ही जीवित रह पाता है के सिद्धान्त को किसी पद्धति की श्रेष्ठता का आधार मान लिया जाए तो पूंजीवाद निस्सन्देह ठोस सिद्धान्त कहा जाएगा। इस पद्धति ने अनेकों विषम परिस्थितियों का सामना किया है परन्तु अन्त में यही पद्धति अपनी कुछ कमजोरियों के बावजूद भी विजयी सिद्ध हुई है। इस पद्धति ने अद्वितीय ढंग से अपने आपको परिवर्तनशील परिस्थितियों के अनुकूल बनाया है। इस पद्धति की सुदृढ़ता और अवसर के अनुकूल बन जाने की योग्यता का इससे बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है कि इस पद्धति ने दो खर्चीले महायुद्धों के भार को भली भांति वहन किया है।

४ पूंजीवाद की आलोचना (Criticism of Capitalism)—परन्तु अब पूंजीवाद की चारों ओर आलोचना हो रही है। सर्वप्रथम प्रतियोगिता जो कि पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था का प्रमुख लक्षण है एक विनाश मात्र है। विज्ञापन तथा विक्रय पटुता में बहुत बड़ी धन राशियां केवल प्रतिद्वन्द्वी को मात देने के लिए व्यय की जाती हैं। इस दौड़ में हारने वालों द्वारा प्रयुक्त साधनों को विनाश ही कहा जाएगा। भीषण और विनाशकारी प्रतियोगिता से कोई विशेष सामाजिक लाभ नहीं होता।

दूसरे अर्थ व्यवस्था में गड़बड़ी को दूर करने के लिए आवश्यक शक्तियों का आवागमन प्रबल प्रतियोगिता के क्रियाशील होने पर ही निर्भर है। परन्तु कानूनी सामाजिक और आर्थिक संघर्ष के फलस्वरूप खुली प्रतियोगिता नहीं हो पाती तथा उत्पादन शक्तियां अधिकतर व्यर्थ पड़ी रहती हैं।

तीसरे उपभोक्ताओं अर्थात समाज तथा उत्पादकों के हितों में माना हुआ सामंजस्य वास्तविक नहीं होता। खुली प्रतियोगिता न हो सकने के कारण नैतिकता हीन उत्पादकों द्वारा जान बूझकर बेईमानी करने के कारण तथा व्यक्तिगत रूप से उपभोक्ता के अज्ञानी और साहसहीन होने के कारण यह उपभोक्ता राजा से रंक हो जाता है और शोषण का शिकार हो जाता है।

चौथे अत्यधिक प्रतियोगिता तथा अत्यधिक बचत के कारण व्यापारिक घटबढ़ की पुनरावृत्तियां जिनके फलस्वरूप अत्यधिक उत्पादन होता है हम पूंजीवाद का सबसे कड़वा फल कह सकते हैं। जब कि एक ओर उत्पादन योजना हीन होकर पूंजी के निरंतर बढ़ते हुए एकत्रीकरण के कारण जोर पकड़ता है तथा दूसरी ओर उपभोक्ताओं में से अधिकतर का शोषण होता है। ऐसी स्थिति में उत्पादन और खपत में संतुलन बनाए रखना कठिन अवश्य होगा।

पाँचवें, हमारे राष्ट्र का बहुत बडा अग श्रमजीवियो का है और वे हर समय नौकरी से हटा दिए जाने के भय से ग्रस्त रहते हैं। स्थिरता की'कोई भावना उनमे नही है।

छठे, पूंजीवाद मानवीय अधिकारो के विरुद्ध सम्पत्ति के अधिकारो पर अनुचित जोर देता है। ईश्वर का अश, मानव, एक वस्तु-म न समझा जाता है।

सातवें, श्रम तथा पूंजी नामक प्रतिद्वन्द्वियो म समाज को बाँटकर पूंजीवाद ने चिर-सामाजिक असन्तोष का बीज बोया है। यह दोनो प्रतिद्वन्द्वी एक दूसरे को घूर-घूरकर देखते हैं और परस्पर लडने का अवसर ढूंढा करत हैं।

आठवें, पूंजीवाद का सबसे विषम फल धन के वितरण की वह अत्यधिक असमानता है, जा समय के साथ साथ बढ रही है। जैसा कि जी० डी० एच० कोल (G D. H Cole) ने लिखा है, 'उद्योग के मन्दिर म सुख के नाम पर पुजारी और दासो में जमीन आसमान का अन्तर है।'[1]

अन्त में पूंजीवाद घातक विरोधाभासो से परिपूर्ण है। कुछ थोड स लोग तो मनमाने वैभव म मस्त हैं, किन्तु अधिकतर आधे पेट भोजन करक जीवित रहते हैं। एक ओर फसलें सड रही है तो दूसरी ओर मनुष्य भूखा मर रहा है। कारखानो क अन्दर मशीने खाली पडी हैं और बाहर बेकारी नग्न नृत्य कर रही है।

इन थोडी सी बातो म वर्तमान पूंजीवादी पद्धति की पर्याप्त आलोचना हो जाती है। स्त्रियो और बच्चो का कठोरतापूवक शोषण, वृद्ध रुग्ण और बेकारा की निमम उपेक्षा, तथा समस्त मानव सम्बन्धो पर आर्थिक विषमताओ के प्रभुत्व ने समाज की आत्मा को छेद दिया है तथा लोग अन्य किसी म ग की खोज म भटक रहे हैं। ससार के बहुत बडे भाग म पूंजीवाद का शव दफनाया जा चुका है। अब ससार अधिनायकवाद की दिशा म बढ रहा है और पूंजीवाद की काली छाया समाप्त हो रही है। पूंजीवाद म सर्वसाधारण को जिन कठिनाइयो का सामना करना पडता है उनसे बचाव के लिए पूंजीवाद के बजाए निम्नलिखित तान विकल्प सुझाए गए हैं। वे हैं आयोजित पूंजीवाद (Planned Capitalism), समाजवाद (Socialism) और साम्यवाद (Communism)। अब हम इनम से प्रत्यक पर विचार करगे।

५ आयोजित अर्थ व्यवस्था (Planned Economy)—महान् मन्दी के उन दिनो के पश्चात्, जब कि ससार म बाहुल्य होते हुए भुखमरी का विचित्र तथा असाधारण दृश्य उपस्थित हुआ, ससार की प्रवृत्ति योजनाधीन रहने की ओर अग्रसर होती जा रही है। अब आर्थिक व्यवस्था का माँग और पूर्ति के आधार पर अपने आप सचालित होना अच्छा नही समझा जाता। वर्तमान प्रणाली म वैषम्य क दोष का खतरा मूलत विद्यमान है। अब बहुत कम लोगो को यह आशा रह गई है कि यदि आर्थिक शक्तियो को निरकुश छोड दिया जाए तो देश के आर्थिक साधनो का सर्व-सम्मत वितरण हो सकेगा। विषमताओ की उन पुनरावृत्तियो को रोकने के लिए, जिसके कारण वर्तमान आर्थिक प्रणाली में व्यापार-चक्र चलने लगता है, योजनाओ के बनाने की विशेष आवश्यकता पर जोर दिया जाता है।

---

1 Cole, G D H Principles of Economic Planning 1935 p 3

किन्तु योजना बनाने का क्या तात्पर्य है? (But What is Planning?)—इस विषय पर विचारों में बहुत मतभेद है। राबिन्स का कथन है, "सच तो यह है कि आर्थिक जीवन में हर जगह योजना बनाने की आवश्यकता पड़ती है। योजना बनाने का अर्थ है कि किसी अभिप्राय को लेकर कार्य किया जाए तथा चयन किया जाए। यही चयन आर्थिक योजना का मूल तत्त्व है।[1] परन्तु सामान्यतया योजना बनाने का यह अर्थ नहीं लगाया जाता और न योजना बनाने का यह अर्थ है कि उद्योग का राष्ट्रीयकरण हो अथवा कृषि की पुनर्व्यवस्था हो। भारत में केन्द्रीय तथा राज्यों की सरकारों के विभिन्न विभागों ने द्वितीय युद्ध के पश्चात् विकास की योजनाएँ बनाईं। एक प्रकार से इसे भी भविष्य के लिए योजना बनाना कह सकते हैं। परन्तु ऐसी योजनाओं को आर्थिक नियोजन कहना समझ में नहीं आता।

योजना बनाने का अर्थवेत्ता जो अर्थ लगाते हैं वह यह है कि राष्ट्रीय साधनों को निश्चित उद्देश्य के आधार पर रेखाङ्कित किया जाए तथा केन्द्रीय नियन्त्रण में रखा जाए जिसमें समस्त आर्थिक विषयों का निश्चित रूप में एकत्रीकरण हो जाए तथा उनमें सामञ्जस्य स्थापित हो जाए तथा इस प्रकार व्यर्थ की प्रतियोगिता तथा व्यय का दोहराव हो ही न पावे। लारविन (Lorwin)ने योजनाधीन अर्थ-व्यवस्था की व्याख्या इस प्रकार की है, "आर्थिक प्रबन्ध की ऐसी योजना समस्त प्राप्य साधनों को उपयोगी बनाने के अभिप्राय से व्यक्तिगत तथा विभिन्न यन्त्रादि, उद्यम तथा उद्योगों को एक ही प्रणाली की एक साथ चलने वाली इकाइयाँ माना जाता है जिससे निश्चित समय के अन्दर लोगों की आवश्यकताओं की अधिकतम तुष्टि हो सके।"[2] अथवा जैसा कि डिकेन्सन (Dickenson) कहता है, "आर्थिक योजना बनाने का तात्पर्य बड़े-बड़े आर्थिक निश्चय करना है—क्या और कितना उत्पादन किया जाए, तथा एक सुनिश्चित अधिकारी के विचारयुक्त निश्चयानुसार सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था के विस्तृत निरीक्षण के आधार पर वह किसको बाँटा जाए।"[3]

इस आधार को लेकर योजना बनाने के लिए निम्नलिखित आवश्यकताएँ स्पष्ट हो जाती हैं—

(क) योजना बनाना विचारयुक्त, जानबूझकर तथा एक निश्चित उद्देश्य को लेकर हो।

(ख) एक ही ऐसा अविभक्त अधिकारी हो, जो विभिन्न आर्थिक क्रियाओं को आयोजित करने और उनका एकीकरण करने के लिए जिम्मेदार हो। कृत्यों का भार दूसरों पर भी डाला जा सकता है।

(ग) सम्पूर्ण आर्थिक क्षेत्र आयोजित किया जाना परमावश्यक है। टुकड़े-टुकड़े करके योजना न बनाई जाए।

(घ) समस्त प्राप्य साधनों का एकमात्र सर्वसाधारण के कल्याण के उद्देश्य से वैज्ञानिक वितरण किया जाए।

1 Robbins, Lionel Economic Planning and International Order, 1937 p 4

2 Quoted by George Frederick in his 'Readings in Economic Planning p 153

3 Dickenson H D Economics of Socialists, 1939, p 41

योजना बनाना अब केवल सैद्धान्तिक वाद विवाद का विषय नहीं रह गया है अपितु व्यावहारिक नीति का एक आवश्यक अंग हो गया है। जून सन् १९३३ के राष्ट्रीय औद्योगिक पुनर्जीवन अधिनियम (National Industrial Recovery Act) द्वारा अमरीका की सरकार को उत्पादन के विभिन्न क्षेत्रों में पूर्ण नियन्त्रण का अधिकार दिया गया। इस प्रयोग के सफल होने में किसी को सन्देह नहीं है। रूस में तो आयोजन द्वारा और भी अधिक शानदार सफलता प्राप्त हुई है, जिससे कि रूस को औद्योगिक उत्पादन में यूरोप में प्रथम तथा ससार में द्वितीय स्थान प्राप्त हुआ है। जर्मनी में भी, जहाँ पूँजी पर राज्य का स्वामित्व नहीं था, आयोजन के फलस्वरूप बेकारी दूर हुई, वेतन बढ़ तथा कृषि का विकास हुआ। आयोजन के बिना जर्मनी इतना आश्चर्यजनक आर्थिक पुनर्निर्माण न कर पाता।

नियोजन के आलोचकों का कहना है कि इससे आर्थिक स्वतन्त्रता खत्म हो जाएगी। उनका कहना है कि उपभोक्ता की स्वतन्त्रता तथा उत्पादक का उपक्रम नष्ट हो जाएगा। किन्तु यह विचार भ्रमपूर्ण है। नियोजन तो आर्थिक स्वतन्त्रता का पूर्णतया पोषक है। श्रीमती वूटन (Mrs. Wootton) का कथन है "आर्थिक प्राथमिकताओं के सचेत रूप में योजना बनाने में ऐसा कोई भी तत्व नहीं पाया जाता जो स्वतन्त्रता का—ऐसी स्वतन्त्रता का जिसे अमरीकावासी और अंग्रेज सामयिक काल में नितान्त आवश्यक मानते हैं—वैरी हो। नियोजित अर्थ व्यवस्था में उपभोक्ताओं को मनमाना उपभोग करने की छूट दी जा सकती है और उत्पादकों को स्वतन्त्रतापूर्वक उत्पादन करने की छूट दी जा सकती है।'[1]

६ समाजवाद (Socialism)—समाजवाद पूँजीवाद का एक विकल्प है। इसका सबसे अधिक विस्तृत प्रभाव है। स्वीडन के एक राजा ने अपने एक मन्त्री से कहा था, "यदि कोई व्यक्ति पच्चीस वर्ष की आयु तक समाजवादी नहीं होता है तो इससे यह प्रकट होता है कि उसके हृदय नहीं है। परन्तु यदि पच्चीस वर्ष की आयु के पश्चात् वह समाजवादी बना रहता है तो उसके मस्तिष्क नहीं है।" वस्तुत समाजवाद ने सारे ससार के नौजवानों की कल्पना को जकड़ रखा है।

परन्तु इस विषय पर विद्वानों में पूर्ण मतैक्य नहीं है कि समाजवाद वास्तव में है क्या ? ऐसा प्रतीत होता है कि जितने समाजवादी हैं उतने ही प्रकार के समाजवादी मत भी हैं। समाजवाद को उस हैट के समान कहा गया है जिसका हर किसी के पहन लेने के कारण, कोई रूप ही नहीं रह गया है। यह कथन ठीक ही है कि समाजवाद के अन्तर्गत बहुत सी बातें शामिल हैं और उसी प्रकार बहुत सी बातों को मिलाकर समाजवाद का नाम दे दिया गया है। इस बहुरंगी स्थिति का विवरण शेडवेल (Shadwell) ने इस प्रकार दिया है—'यह समान रूप से भावपरक तथा ठोस सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक, आदर्शवादी तथा भौतिक, प्राचीनतम तथा आधुनिकतम है। यह भावना मात्र से लेकर निश्चित कार्यक्रम तक चलता है। इसके पोषक इसे जीवन दर्शन मानते हैं, अर्थात् एक प्रकार का धर्म, नीतिशास्त्र, आर्थिक प्रणाली,

1 Wootton B Freedom under Planning 1945

ऐतिहासिक सत्य, न्याय सिद्धान्त आदि। यह लोकप्रिय आन्दोलन है तथा वैज्ञानिक विश्लेषण भी है। यह भूतकाल का विवेचन और भविष्य का स्वप्न, युद्ध की विभीषिका तथा युद्ध का निषेध, हिंसात्मक क्रान्ति तथा सहज क्रान्ति भी है। यह प्रेम का उपदेश तथा परोपकार, घृणा और लोभ का मूलमन्त्र भी है। यह मानवमात्र की आशा तथा सभ्यता का अन्त, स्वर्णिम युग का उषा काल तथा भयंकर विनाश का घनघोर बिगुल भी एक साथ ही है।'

इस प्रकार समाजवाद में कितना विरोधाभास है। समाजवादी समाज-व्यवस्था के चित्र को समझने के लिए हम को विभिन्न वर्गों के समाजवादियों की मान्यताओं का समझना आवश्यक है।

७ मार्क्सवादी समाजवाद अथवा वैज्ञानिक समाजवाद (Marxian Socialism of Scientific Socialism)—कार्ल मार्क्स (Karl Marx) ने सन् १८६७ में अपनी प्रसिद्ध पुस्तक दास कैपिटल' (Das Capital) लिखी, जो समाजवाद की गीता समझी जाती है। कार्ल मार्क्स को वैज्ञानिक समाजवाद का जन्मदाता माना जाता है। उसके सिद्धान्त के प्रधान अंग निम्नलिखित हैं—

(१) इतिहास की भौतिक धारणा (Materialistic Conception of History)—उसने इतिहास की प्रत्येक घटना के आर्थिक आधार को लेकर समझाने का प्रयत्न किया है। उसने इतिहास का आर्थिक विश्लेषण किया है। समस्त युद्धों, दंगों तथा राजनैतिक आन्दोलनों के मूल में आर्थिक कारण होते हैं। हर एक आर्थिक स्थिति का समकालीन कोई न कोई उपर्युक्त राजनैतिक संगठन होता है। उदाहरणार्थ, पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था ऐसी शासन प्रणाली का विकास करती है जो सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकारों का समर्थन तथा अनुगमन करती है।

वह आगे यह समझाता है कि किस प्रकार पूंजीवाद से ऐसी परिस्थितियों का प्रादुर्भाव होगा, जिनमें समाजवाद पूँजीवाद का स्थान ग्रहण कर लेगा। पूँजीपति समय बीतते बीतते अधिकाधिक धनवान होते जाएँगे परन्तु उनकी संख्या कम होती जाएगी। बड़ी मछलियां छोटी मछलियों को लीलती जाएँगी। एकाधिकार उत्पन्न हो जाएँगे। उत्पादन बढ़ेगा तथा विदेशी बाजारों में माल की खपत के लिए भड़भड़ाहट होगी। साम्राज्यवादी युद्ध होगा जब तक कि इस संघर्ष में पूँजीवाद समाप्त हो जाएगा तथा मजदूर वर्ग के हाथों में शासन की बागडोर आ जाएगी।

(२) अतिरेक मूल्य का सिद्धान्त (Theory of Surplus Value)—कार्ल मार्क्स का कथन है कि उत्पादक अपनी बनाई हुई वस्तु से मूल्य के रूप में श्रम तथा अन्य लागत में लगे हुए धन से अधिक धन प्राप्त कर लेता है। बाजार मूल्य का वह भाग जो लागत से अधिक होता है मूल्याधिक्य या अतिरेक मूल्य कहलाता है। यह अतिरेक मूल्य या मूल्याधिक्य श्रमिक की ही सृष्टि है। इसकी उत्पत्ति होने का कारण यह है कि श्रमिक को, जो मिलना चाहिए उससे बहुत कम मिलता है। पूँजीपति द्वारा इस मूल्याधिक्य को हड़प कर जाना कार्ल मार्क्स की दृष्टि में लूट तथा शोषण है। उसके अनुसार हर वस्तु श्रम का निखरा हुआ अथवा सिमटा हुआ रूपान्तर मात्र है।

८ समूहवाद अथवा राजकीय समाजवाद (Collectivism or State Socialism)—समूहवादी अथवा राजकीय समाजवादी संसदीय जनतन्त्र में तथा उत्पादन के साधनों के राष्ट्रीयकरण में विश्वास करते हैं। वे राजनीतिक शक्तियों को हस्तगत तथा सुदृढ़ करके उनको समाजवादी उद्देश्यों तथा आदर्शों की प्राप्ति में प्रयुक्त करना चाहते हैं। वे बलवान राजकीय शक्ति का प्रयोग धनोपार्जन तथा उसके समवितरण में करना चाहते हैं। समाजवादियों के लिए राज्य ही सब कुछ है, तथा उनको राज्य शक्ति प्राप्त होते ही अपने लक्ष्य की प्राप्ति हो जाती है। राज्य उनके लिए सब कुछ करेगा। व्यक्तिगत उद्यम समाप्त कर दिए जाएँ तथा समस्त उत्पादन राज्य के वैतनिक अधिकारियों द्वारा सम्पन्न होकर लाभ सार्वजनिक कोष में एकत्रित होगा और उसका प्रयोग जनता की उन्नति के लिए किया जाएगा। पूँजीवाद और राजकीय समाजवाद में केवल इतना ही अन्तर है कि राजकीय समाजवाद में उत्पादन के साधनों का स्वामित्व और प्रबन्ध व्यक्तिगत रूप में उद्यमी के हाथ में न रहकर राज्य के हाथ में रहता है। पूँजीवाद के अन्य विनिमय साधन, जैसे मूल्यांकन विक्रय आदि ज्यों के त्यों बने रहते हैं।

समाजवादी सिद्धान्त के अन्तर्गत ये मान्यताएँ सम्मिलित हैं—(क) उत्पादन के साधनों पर राज्य का नियन्त्रण, (ख) राष्ट्रीय आय का न्याय के अनुसार पुनर्वितरण, (ग) आर्थिक नियोजन, तथा (घ) प्रजातन्त्रात्मक तथा शान्तिपूर्ण उपायों से अर्थ व्यवस्था का स्वस्थ विकास।

९ श्रेणी समाजवाद (Guild Socialism)—श्रेणी समाजवादी राज्य पर विश्वास नहीं करते। समूहवादियों के समान, श्रेणी समाजवादी राज्य को इस योग्य नहीं समझते हैं कि वह उत्पादन के साधनों का सफल सचालन कर सकेगा। श्रेणी समाजवादियों के अनुसार पूँजीपतियों का स्वामित्व हरण नितान्त आवश्यक है। परन्तु वे व्यवसाय-संस्थाओं, कारखानों तथा उत्पादन के साधनों आदि को श्रमिकों की श्रेणियों को सौंप देना चाहते हैं। वे समझते हैं कि श्रमिक श्रेणियाँ उद्योगों का प्रबन्ध अच्छी तरह कर सकती हैं। वे श्रमिकों को उद्योगों में स्वशासन देना चाहते हैं। वे तो चाहते हैं कि राज्य तो केवल देखभाल करे, कीमतें निश्चित करने के लिए तथा उत्पादित माल की कोटि का ध्यान रखने के लिए उपभोक्ताओं के हितों का प्रतिनिधित्व करे।

मूल सिद्धान्त यह है कि उत्पादन के साधनों का स्वामित्व राज्य के हाथ में अवश्य हो परन्तु स्वामित्व की वास्तविक क्रियान्विति कारीगरों के हाथों में होनी चाहिए। राज्य का कार्य तो केवल यह देखते रहना है कि उपभोक्ता को धोखा तो नहीं दिया जा रहा है या उसके साथ छल तो नहीं किया जा रहा है। अत्यधिक केन्द्रीकरण की बुराइयों का तथा कारोबार में नौकरशाही की अयोग्यता को दूर करना श्रेणी समाजवादियों का उद्देश्य है। इनका दावा है कि इनकी पद्धति के अनुसार विकेन्द्रीकरण होने पर समाज में वास्तविक जनतन्त्र आ जाएगा तथा उद्योगों में कार्यक्षमता अवश्य आ जाएगी।

१० श्रमिक सघवाद (Syndicalism)—श्रेणी समाजवादियों के समान श्रमिक सघवादी भी समाजवादी आदर्शों की प्राप्ति के लिए राज्य शक्ति को उपयुक्त नही समझते। राजकीय अधिकारी में, वह चाहे जिस श्रेणी का भले ही क्यों न हो, एक विशेष प्रकार की नौकरशाही प्रवृत्ति अवश्य होती है। वह कभी समझ ही नही सकता कि श्रमिक क्या चाहता है? दूसरो पर रौब जमाने की उसकी आदत होती है। अत श्रमिक सघवादियों के विचारों के अनुसार राज्य को शक्तिमान बना देने पर बहुत से छोटे-छोटे अत्याचारी शासक उत्पन्न हो जाएँगे। अत श्रमिक सघवादी सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक ढाँचे को, ट्रेड यूनियनों की नीव पर बनाना चाहते हैं।

वैधानिक उपायों से ये अपना लक्ष्य प्राप्त कर सकते हैं—इसमे भी इनका विश्वास नही है। वे जानते हैं कि राजकीय अधिकारी बहुत शक्तिमान होते हैं। अत इनका विश्वास सीधी तथा हिंसात्मक कार्यवाही में है। हड़ताल इनका प्रधान अस्त्र है। इनका विश्वास है कि यदि हड़ताल असफल भी हो तो भी उससे आर्थिक युद्ध का अनुभव कामकरों को प्राप्त हो जाता है। हड़तालों से कामकर सुसगठित होते हैं और पूँजीपतियों के प्रति उनकी घृणा बढ़ती है। इस घृणा को कम न होने देना चाहिए। इनका मत है कि हड़ताल पर हड़ताल जारी रहे तथा अन्त में एक लम्बी आम हड़ताल होकर राजनीतिक प्रक्रिया को व्यर्थ कर दिया जाए और शक्ति को हस्तगत कर लिया जाए। श्रमिक सघवादी विद्यमान आर्थिक और राजनीतिक ढाँचे को नष्ट करने पर बहुत जोर देते हैं और क्रान्ति के पश्चात् समाज के उस ढाँचे पर जिसे ये जन्म देना चाहते हैं जान बूझकर प्रकाश नही डालते। वे विनाश की नीति पर चलते है, निर्माण की नीति पर नही।

११ साम्यवाद (Communism)—आजकल का साम्यवाद, जैसा कि सन् १८४८ के साम्यवादी घोषणा-पत्र (Communist Manifesto of 1845) से स्पष्ट है, साम्यवादी उद्देश्यों की प्राप्ति के सिद्धान्तो को अधिक स्पष्ट करता है, किन्तु जैसे समाज को ये जन्म देना चाहते हैं उसको स्पष्ट नही करता। साम्यवादी इस बात पर जोर देते हैं कि सारे देश में ही नही, वरन् समस्त ससार में साम्यवादी सगठनो का जाल बिछा दिया जाए, तथा अन्य सगठनो के केन्द्रीय पदो को हस्तगत करके शान्तिपूर्वक अपने अनुयायियों की सख्या बढ़ाई जाए। जब पार्टी सुदृढ हो जाए, तब वह पूँजीपतियों का तख्ता पलटकर शासन सूत्र अपने हाथ में ले सकती है और मज़दूर राज्य स्थापित कर सकती है। राज्य-शक्ति का उपयोग समस्त विरोध को दबाने तथा पूँजीपतियों को समाप्त करने में किया जाए। इनका उद्देश्य है—वर्ग-विहीन समाज की स्थापना, जिसमे कोई ऊँचा-नीचा, धनी या निर्धन न हो। इस उद्देश्य की प्राप्ति के पश्चात् राज्य की आवश्यकता ही नही रह जाएगी। राज्य अपने आप विलीन हो जाएगा।

साम्यवादी जिस प्रकार का समाज चाहते हैं, उसका कुछ अनुमान प्लेटो (Plato) की 'रिपब्लिक' (Republic) तथा वेल की 'न्यू वर्ल्ड फार ओल्ड' (Well's New World for Old)—इन पुस्तकों से लग सकता है। साम्यवादी न

केवल उत्पादन के साधनों पर सब प्रकार की निजी सम्पत्ति को समाप्त कर देना चाहते हैं, वरन् उपभोग वस्तुओं में भी निजी सम्पत्ति के प्रश्न को समाप्त कर देना चाहते हैं। साम्यवादी चाहते हैं कि भोजन और कपड़ा जैसी आवश्यक वस्तुओं पर तो व्यक्तियों या परिवारों का अधिकार रहे, किन्तु मकान आदि पर समाज का नियन्त्रण रहे, हाँ, व्यक्तिगत उपभोक्ता ऐसी सम्पत्ति की सेवाओं का उपभोग कर सकते हैं।

लोग अपनी सामर्थ्य के अनुसार कार्य करें और अपनी आवश्यकतानुसार फल प्राप्त करें। हर एक व्यक्ति को निश्चित कार्य दे दिया जाए। वह स्वयं अपना उद्यम न चुन सकेगा। साम्यवादी समाज-व्यवस्था में किसी का निजी मकान अथवा बैंक में हिसाब नहीं होगा। हर व्यक्ति सरकारी कर्मचारी समझा जाएगा। उसे नकद रुपया नहीं मिलेगा वरन् राजकीय क्वार्टरों में निवास तथा राजकीय भोजनालयों से भोजन मिलेगा। उसे वही वस्तुएँ तथा सेवाएँ प्रदान की जाएँगी, जो राज्य द्वारा तत्कालीन उत्पादन के आधार पर निश्चित किए जाएँगे। बच्चों का पालन-पोषण, उनकी शिक्षा दीक्षा आदि सब राज्य का काम होगा। मूल्यांकन की प्रणाली ही समाप्त हो जाएगी। लाभ की नीयत के बिना राज्य उत्पादन को नियन्त्रित करेगा, काम देगा और कार्य का प्रतिफल एवं वस्तुओं तथा सेवाओं की कीमत निश्चित करेगा। कैसा सुहावना स्वप्न है!

साम्यवादी समाज में न तो व्यापारिक उथल पुथल हो सकती है, न बेकारी रह सकती है, न धनवान तथा निर्धन का भेद-भाव रह सकता है और न पूँजी तथा श्रम में संघर्ष ही रह सकता है। विचार निस्सन्देह काल्पनिक और अव्यावहारिक हैं। प्रारम्भिक अवस्थाओं में रूसियों ने इन विचारों को कार्य रूप में परिणत करने का प्रयास किया। उन्होंने मुद्रा तथा विनिमय समाप्त कर दिया। परन्तु सफलता नहीं मिली। मुद्रा-सम्बन्धी आर्थिक व्यवस्था की पुन स्थापना करनी पड़ी। कार्य-कुशलता को प्रोत्साहन देने तथा फलीभूत करने के लिए विभिन्न वेतन देने पड़े।

१२ अराजकतावाद (Anarchism)—साम्यवादियों का अन्तिम उद्देश्य यही है कि समाज का ऐसा ढाँचा बना लिया जाए कि राजकीय शासन का अस्तित्व समाप्त हो जाए। 'राज्य विलीन हो जाएगा' सामान्य बोलचाल में अराजकता का अर्थ अव्यवस्था, कुप्रबन्ध आदि से होता है। परन्तु समाजवादी शब्दावली के अनुसार इस का अर्थ है 'राज्य-हीनता' जबकि शासन अनावश्यक हो चुका हो। साम्यवादियों को आशा है कि जब संसार से पूँजीवादी उठ जाएगा तब लोभ, स्वार्थ, छल, अत्याचार आदि पाप नष्ट हो जाएँगे तथा उनके स्थान पर त्याग, समाज सेवा, सद्भावना आदि गुणों का प्रादुर्भाव होगा, एव लोगों में हड़पने की प्रवृत्ति के स्थान पर त्याग की भावना प्रबल होगी। उस समय मानव इतना ऊँचा उठ जाएगा कि पुलिस की आवश्यकता नहीं होगी। न्यायालय बन्द हो जाएँगे। क्या यह चकित करने वाली बातें नहीं हैं? प्राचीन भारत के सम्बन्ध में फाहियान (Fahien) हमें बतलाता है कि चोरियाँ तथा डकैतियाँ नहीं होती थीं और लोग घरों में ताले नहीं डालते थे। सम्भव है, अराजकतावादियों के स्वप्न कभी सजीव हो जाएँ।

सामाजिक तथा आर्थिक जीवन को स्वशासित संस्थाओं द्वारा सुसंगठित किया जाएगा। समाज के सारे कार्यकलाप स्वैच्छिक समझौतों के आधार पर स्वयं सम्पन्न होते रहेंगे। प्रत्येक व्यक्ति दूसरे के अधिकारों का आदर करेगा, अतः कोई कठिनाई नहीं होगी। सरकार तो आवागमन पर रोक थाम रखने वाले चौराहे के सिपाही के समान होगी। जब कुछ घण्टों के लिए सिपाही चला जाता है तब भी आवागमन चलता रहता है, ठीक इसी प्रकार समाज की क्रियाएँ चला करेंगी। यह और भी अधिक सुखद स्वप्न है। प्रिंस क्रोपाटकिन से हम इस योजना की रूप-रेखा प्राप्त हुई है। अराजकतावादियों का कथन है कि पूंजीवादियों के अन्यायपूर्वक प्राप्त किए गए लाभों तथा लूट अथवा सम्पत्ति की रक्षा करने के लिए ही राज्य की आवश्यकता है। जब यह सब चला जाएगा तो राज्य शासन भी उसका अनुगामी होगा।

१३ फेबियन समाजवादी (Fabian Socialists)—बर्नार्ड शॉ के समान य समाजवादी साहित्यिक हैं। इंग्लैंड म और भी बहुत से ऐसे विद्वान हैं, जिन्हें यह विश्वास है कि समाजवाद का सम्बन्ध धारणा से है। यदि लोगों को समाजवाद से उत्पन्न विशेषताओं का विश्वास दिलाया जा सके तो समाजवाद के स्थापित होने को रोका नहीं जा सकता। फेबियन समाजवादी, साहित्य—विशेषतया उपन्यास, नाटकों तथा कहानियों द्वारा पूंजीवाद के विरुद्ध अविराम प्रचार करते रहते हैं, तथा समाजवाद की आवश्यकता तथा उसमे लाभ का दिग्दर्शन कराते हैं। उनका यह विश्वास है कि वह समय आएगा जबकि संसार को समाजवाद में विश्वास हो जाएगा तथा समाजवाद चारों ओर फैल जाएगा। यह विश्वास सही हो सकता है।

१४ समाजवादी योजना के सार तत्त्व (Essentials of a Socialist Scheme)—हमने समाजवादियों के मतों के विभिन्न दृष्टिकोणों का सिंहावलोकन कर लिया है। इन दृष्टिकोणों म अन्तर होते हुए भी, जो किसी किसी विषय पर अत्यन्त तीव्र विरोध का रूप धारण किए हुए हैं एक ऐसी योजना समझ में आ सकती है, जिस पर अधिकांश समाजवादियों का मतैक्य हो। उत्पादन के साधनों का व्यक्तिगत स्वामित्व हटाए जाने के पक्ष म सभी समाजवादी हैं। भूमि, कारखाने रेलें खानें तथा उत्पादन के अन्य समस्त साधनों का राष्ट्रीयकरण अवश्यमेव किया जाए। उनका स्वामित्व तथा नियन्त्रण राज्य के हाथ म हो, जिसमें राज्य हर एक व्यक्ति को काम दे सके। कोई निजी उद्यम नहीं होगा। उत्पादन म राज्य ही हाथ डालेगा, तथा राज्य ही उत्पादन का संचालन करेगा, वेतन देगा तथा अन्य व्यय करेगा, और लाभ राज्य स्वयं लेगा। पूंजीपतियों तथा जमीदारों को ब्याज तथा किराए आदि की अदायगी समाप्त हो जाएगी, क्योंकि राज्य ही पूंजीपति, जमींदार तथा उपक्रमी माना जाएगा। साम्यवादियों को छोड़कर समस्त समाजवादी मकान, फर्नीचर, घरेलू सामान तथा अन्य उपभोग सामग्री को निजी सम्पत्ति के रूप में रहने दे सकते हैं।

अनर्जित आय पर रहना हतोत्साहित किया जाएगा। कार्य का प्रतिफल कार्य की कोटि के अनुरूप तथा बिलकुल समान नहीं होगा। योग्यता के अनुसार इसमें विभिन्नता होगी। इस दिशा म माँग तथा पूर्ति के नियम की सीमित रूप म क्रियान्विति को मान्य समझा गया है। यह विश्वास निराधार है कि समाजवाद के अन्तर्गत

सब लोग आर्थिक दृष्टि से समान होंगे। आर्थिक समानता की कोई गारंटी नहीं की जा सकती। श्रेणी विहीन आधार पर सभी के लिए अवसर की समानता अवश्य प्राप्त होगी। राज्य व्यक्ति को अपना उद्यम चुनने में तथा उसे उस उद्यम के योग्य बनाने में सहायता करेगा।

राज्य के ऊपर ही उत्पादन तथा वितरण दोनों का दायित्व भार होगा। समाज के उत्पादन साधनों का वितरण तथा उपयोग केन्द्रीय प्राधिकारी के निर्देशानुसार निश्चित किया जाएगा। उत्पादन के लाभ कुछ थोड़े से व्यक्तियों की जेबों में जाने के स्थान पर राजकीय खजाना में जाएँगे तथा उनका व्यय सामान्य व्यक्ति को, उसके परिवार तथा बच्चों को पर्याप्त चिकित्सा, परिपूर्ण तथा निःशुल्क शिक्षा तथा आमोद-प्रमोद के यथेष्ट साधन प्रदान करके उसके भाग्य में परिवर्तन लाने के लिए किया जाएगा, आवश्यकताओं की पूर्ति अवश्य ही होगी तथा अरक्षा से उत्पन्न भय के लिए कोई स्थान न रहेगा। हर एक व्यक्ति को अपना उद्यम चुनने में स्वतन्त्रता होगी तथा अपनी आय को वह जैसे चाहे व्यय कर सकेगा। समाज में वर्ग या श्रेणियाँ नहीं होंगी। संक्षेप में यही समाजवादी योजना है।

बहुत दिनों तक वेब्स (Webbs) द्वारा की गई समाजवाद की परिभाषा को अधिकांश समाजवादी स्वीकार करते रहे। वह परिभाषा यह है 'समाजवादी सिद्धान्तों पर स्वलम्बित उद्योग वह है जिसमें उत्पादन के राष्ट्रीय साधन सार्वजनिक प्राधिकार अथवा स्वेच्छापूर्वक किए गए संस्थापन के स्वामित्व में हों तथा अन्य व्यक्तियों को किए गए विक्रय से लाभ प्राप्ति की दृष्टि से संचालित न हों वरन् उन लोगों की सीधी सेवा के रूप में हों—जिनका वह प्राधिकारी या संस्था प्रतिनिधित्व करती है।' यह परिभाषा समाजवाद की वर्तमान धारणा से नहीं मिलती, क्योंकि इसमें योजना बनाने का विचार निहित नहीं है। अतः डिकेन्सन (Dickenson) द्वारा की गई परिभाषा अधिक उपयुक्त प्रतीत होती है। डिकेन्सन (Dickenson) के अनुसार समाजवाद समाज का वह आर्थिक संगठन है जिसमें उत्पादन के भौतिक साधन सम्पूर्ण समाज के स्वामित्व में होते हैं तथा ऐसे अंगों द्वारा चलाए जाते हैं, जो एक सामान्य योजना के अनुसार समाज का प्रतिनिधित्व करते हों तथा समाज के प्रति उत्तरदायी हों, और समाज के समस्त सदस्यों को ऐसे समाजवादी आयोजित उत्पादन के फलों से प्राप्त लाभ समान अधिकारों के आधार पर प्राप्त करने का हक हो।[1]

१५ समाजवाद की आलोचना (Case against Socialism)—समाजवाद के आलोचकों ने समाजवादी बुनावट में बहुत से छिद्र बतलाए हैं। कुछ आपत्तियाँ तो विचार हीन हैं जैसे समाज वाद धर्म को नष्ट कर देगा, विग्रहत या पारिवारिक बन्धनों को समाप्त कर देगा आदि। भोले तथा मूढ़ व्यक्तियों को भड़काने के ऐसे प्रयत्नों के अतिरिक्त समाजवाद को समझकर उसकी वास्तविक कठिनाइयाँ तथा खतरे बतलाने का भी प्रयत्न किया गया है।

समाजवाद के विरुद्ध सबसे महत्त्वपूर्ण तर्कों का समूह आर्थिक व्यवस्था के

1 Dickenson H D—Economics of Socialism 1939 p 11

नौकरशाही द्वारा सचालन होने के विरुद्ध है । नौकरशाही को कारोबार चलाने म कार्य कुशल नही समझा जाता ।

कोई भी सरकारी विभाग कारोबार म सफलता का दावा नही कर सकता, क्योकि तात्कालिक निश्चय करने पडते हैं तथा साहसयुक्त नीति की आवश्यकता होती है । सरकारी कर्मचारीमण्डल नए क्षेत्रो को हस्तगत करने के योग्य नही होता । सरकारी विभागो म योग्य व्यक्ति अवश्य आते हैं परन्तु राज सेवाओ का वातावरण असाधारण योग्यता प्रदर्शित करने के लिए उपयुक्त नही होता । प्राप्त होने वाला फल किए गए परिश्रम के अनुरूप नही समझा जाता । नौकरशाही म व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य नही रहता और अहकार की भावना से सरकारी अफसर काम करते हैं और सरकारी विभागो म छिपी हुई गुप्त कार्य प्रणाली का आश्रय लिया जाता है ।

यह भी कहा जाता है कि सरकार समस्त उद्योग तथा व्यापार की उन्नति तथा सफल सचालन के लिए बहुत बडी आवश्यक पूँजी का प्रबन्ध नही कर सकती ।

समाजवाद के अन्तर्गत समाज के साधनो का सबमे अधिक मितव्ययितापूर्वक उद्योगो के बीच वितरण करने के लिए कोई स्वचालित यन्त्र नही होगा । पूँजीवाद के अन्तर्गत उपभोक्ताओ की पसन्द एक ऐसी बात है, जो कीमतो को अपने आप उतार-चढाकर इन साधनो का आशातीत वितरण करती रहती है । अत समाजवाद म हम अँधेरे म टटोलना पडेगा । कुछ वस्तुएँ अधिक उत्पादित होगी और खराब जाएँगी जबकि अन्य वस्तुओ की कमी होगी और माग पूरी नही होगी । भय है कि माँग और पूर्ति म असामान्य वैषम्य उत्पन्न हो जाए । कोई भी एक प्राधिकारी इतने बडे कार्य को नही कर सकता कि उत्पादन का प्रबन्ध करे भूमि के प्रत्येक एकड को उचित प्रयोग के लिए बाँटे, प्रत्येक कामगर को सही काम दे तथा प्रत्येक रुपये को अधिकतम कार्य क्षमता की दृष्टि से लगावे ।

पूँजीवाद के अन्तर्गत उपभोक्ता का प्रभुत्व होता है । यह तो सही है कि यह प्रभुत्व उसकी आय एकाधिकार के अस्तित्व आदि द्वारा सीमित होता है, फिर भी उसके लिए पसन्द और चुनाव का बहुत विस्तृत क्षेत्र है । परन्तु समाजवाद के अन्तर्गत तो उसका प्रभुत्व जाता रहेगा । उपभोग को उत्पादन के अनुकूल बनाना होगा । उपभोक्ता के लिए यह हानि बहुत वास्तविक है । वह अपने आपको यथेष्ट रूप से सन्तुष्ट नही कर सकेगा । अत समाजवाद का अर्थ है कि उपभोक्ता को मुसीबत और तगी झेलनी पडगी तथा त्याग करना पडेगा । राज्य द्वारा कीमतें अवश्य निश्चित हो जाएँगी परन्तु सब स्वेच्छाचारयुक्त होंगी ।

यह भी भय है कि जब निजी लाभ या व्यक्तिगत हित का प्रश्न ही न रहेगा तो कठिन परिश्रम तथा आत्मोन्नति की प्रेरणा भी नही रहेगी । लोग लगन से कोई कार्य नही करेंगे । आविष्कार, उद्यम और आगे बढने की प्रवृत्ति धीरे-धीरे कम होती जाएगी तथा सृजन कार्य असम्भव हो जाएगा । कहा गया है कि "शेक्सपियर के ग्रथो का अच्छा सस्करण सरकार अवश्य निकाल सकती है, परन्तु उन ग्रन्थो को लिखवा नही सकती ।"[1]

1 Pigou Capitalism and Socialism p 80

कुछ लोग समाजवाद से इस कारण हतोत्साहित हो गए हैं कि रूस म, जहाँ समाजवाद को क्रियान्विति हुई, वहाँ आर्थिक समानता स्थापित न हो सकी। वहाँ अब भी धनवान और निर्धन का भेदभाव है। वर्ग विहीन समाज का स्वप्न अब भी बहुत दूर है।

यह मानना पडता है कि समाजवाद के अन्तर्गत बेकारी नही होती। परन्तु समाजवाद के आलोचको का कहना है कि जेल म भी तो बेकारी नही होती। समाजवादी राज्य को एक बहुत बडी जेल समझा जाता है तथा इन आलोचको का कहना है कि रोजगार से लगाए जाने को स्वातन्त्र्य-विनाश का सही बदला नही माना जा सकता।

अन्त म यह भी बतलाया जा सकता है कि मार्क्सवादी समाजवाद की वास्तव मे पूर्ण रूपरेखा वैज्ञानिक नही है। समस्त मूल्य का एकमात्र आधार श्रम नही है और न समस्त मूल्य को श्रम द्वारा ही ले लिया जाना अधिकृत माना जा सकता है। इतिहास के भौतिक विवेचन को, जो मार्क्स की मान्यता है बहुत कम लोग मानते है। यद्यपि आर्थिक उद्देश्य सबसे अधिक बलवान होते हैं परन्तु वही मनुष्य मात्र के कार्यों को प्रभावित करने वाले एकमात्र उद्देश्य नही कहे जा सकते।

१६ समाजवाद के आलोचको को मुँहतोड जवाब (Answer to Critics of Socialism)—*समाजवाद के विरुद्ध बहुत से तर्क दिए गए हैं परन्तु उनमे विशेष* सार नही है। समाजवाद का सुदृढता पूँजीवाद की बुराइयो से प्रकट है जो सिद्ध हो चुकी है। समय समय पर ससार म इतनी मन्दी आ जाती है कि अव्यवस्था, बेकारी तथा मुसीबत बहुत बढ जाती है। पूँजीवाद द्वारा आर्थिक स्थायित्व प्राप्त नही हो सका है और राष्ट्रीय साधनो को व्यक्तिगत लाभ के लिए प्रयुक्त किया गया है। मानव, विशेषतया स्त्री बच्चो को पूँजीपतियो का धन बढाने के लिए मशीनो के रूप म प्रयोग किया गया है। जिस समय कोई गरीब परिवार कठिन परिश्रम करने पर भी भूखा और नगा दिखाई देता है, जब उनके तग बदबूदार मकानो म उनके स्वास्थ्य *का नाश प्रतिदिन हो रहा है, जब दूध और चिकित्सा सम्बन्धी अभावो के कारण* बच्चे अकाल मौत मर रहे है, तो समाज की आत्मा स्वत तडप उठती है। इसके विपरीत धनवान विलास म डूब रहे हैं। उनके घोडे और कुत्ते उनके सहयोगी मानवो से उत्तम भोजन और निवास के भागी होते हैं। वे धनिक सम्भवत यह समझते हैं कि निर्धन म मनुष्यत्व है ही नही। वह तो किसी अन्य कोटि का प्राणी है। जिस पद्धति से ऐसी असमानता उत्पन्न हो वह अपने आप कलकित मानी जाएगी।

इसके विरुद्ध समाजवाद की ओर देखिए। समाजवाद मे व्यापारिक मन्दी नही हो सकती और बेकारी, जो श्रमिको के सर पर नगी तलवार के रूप म लटका करती है, *दूर भाग जाती है। यह एक बहुत बडी समस्या है जिसको समाजवाद दूर करता* है। पूँजीवादी व्यवस्था म उद्योग की स्वतन्त्रता विडम्बना मात्र होती है। अपना उद्योग कौन चुन पाता है। चुनाव तो उसके माता-पिता के साधनो तथा प्रभाव पर निर्भर होता है। कभी-कभी मनुष्य जो भी काम मिल जाए, वही करने के लिए प्रस्तुत हो जाता है। परन्तु काम नही मिलता। पूँजीवाद ऐसे व्यक्ति को कूडा समझता है।

कोई भी लाचारी में काम करते रहने को बेकारी और भुखमरी से अच्छा समझेगा। समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत हर एक व्यक्ति को अपनी-अपनी सामर्थ्य तथा झुकाव के अनुकूल स्थायी तथा पेन्शन सहित काम मिलता है।

समाजवादी राज्य में समाज के साधनों का एक मात्र सामाजिक स्थिरता तथा कल्याण के आधार पर बाँटा जा सकता है। उपभोक्ताओं की इच्छा के स्थान पर उच्च कोटि की सामाजिक भावनाओं को स्थान दिया जाता है। यह सम्भव है कि किसी स्थिति में किसी प्रकार की उपभोग सामग्री की कमी हो जाए। परन्तु ऐसा समाज के वास्तविक कल्याण के लिए जान-बूझकर किया जाता है। इसमें कोई हानि नहीं है कि हम कुछ दिनों के लिए त्याग करें, जिससे हमारे बच्चे आगे चल कर जीवन अच्छे स्तर पर व्यतीत कर सकें। देश की शक्ति और उन्नति के लिए केवल समाजवादी व्यवस्था ही सुदृढ़ नींव डाल सकती है। पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में दृष्टिकोण संकीर्ण तथा नीति अदूरदर्शी होती है, जिसमें एकमात्र उद्यमी के लाभ की ओर ध्यान दिया जाता है।

समाजवाद में सब प्रकार की शिक्षा के प्रसार के लिए बहुत कुछ व्यय किया जा सकता है, समुचित चिकित्सा-प्रबन्ध किया जा सकता है, उद्योगों को वैज्ञानिक आविष्कारों से सज्जित किया जा सकता है, कृषि का पुनर्गठन हो सकता है। फलस्वरूप राष्ट्र के भौतिक तथा मानव साधन बहुत उन्नति कर जाते हैं। समाजवादी राज्य में विभिन्न कार्यों की सहायतार्थ बहुत बड़ी धन राशि प्राप्त हो सकती है क्योंकि लाभ का धन पूँजीवादी व्यवस्था में धनवानों का धन बढ़ाता है परन्तु वही धन समाजवादी व्यवस्था में राजकीय कोष में एकत्रित हो जाता है। स्वास्थ्य तथा कार्यक्षमता के लिए उपयोगी वस्तुएँ निःशुल्क अथवा बहुत कम मूल्य में दी जा सकती हैं।

समाजवादी राज्य सब प्रकार के उत्पादन में तत्काल वृद्धि कर सकता है। ऐसे लाभ तो कुछ दिन पूर्व ही अपढ़, अज्ञानी, पिछड़े हुए, रूढ़िपरायण दीन किसान थे, वे समान रूप से उन्नत क्या कर सकते हैं, इसका जीता-जागता उदाहरण रूसी पंचवर्षीय योजनाओं की सफलता है। हमारे ही समान रूस भी छोटे छोटे किसानों का एक देश था, जो सब अपढ़ थे। अब उस देश में लगभग शत प्रतिशत लोग पढ़े हुए हैं और उत्पादन में रूस ने लगभग उन सब योरोपियन देशों को पछाड़ दिया है, जिन्होंने लगभग एक शताब्दी पूर्व औद्योगिक दौड़ प्रारम्भ की थी। इसका कारण यह है कि समाजवादी राज्य में ही नियोजन वास्तव में प्रभावयुक्त हो सकता है।

नौकरशाही के प्रबन्ध से उत्पन्न खतरा को बढ़ा-चढ़ाकर वर्णित किया गया है। कम्पनियों के प्रबन्ध में भी पूँजीवादी पद्धति के अन्तर्गत "लाल फीते" की बहुत प्रधानता होती है। समाजवादी राज्य भी लेन-देन तथा बैंकों के कार्य का ऐसा प्रबन्ध कर सकता है कि किसी प्रकार की अक्षमता का नाम न रहे।

जहाँ तक कठिन परिश्रम का प्रश्न है समाजवादी राज्य में लगातार प्रचार तथा शिक्षा द्वारा जनता की मनोवृत्ति को बदला जा सकता है तथा नई भावनाओं को उत्पन्न किया जा सकता है। उत्पादन-विषयक अतिरिक्त लाभांश द्वारा श्रमिकों को अधिक कार्य के लिए प्रोत्साहित किया जा सकता है। गन्दे तथा नीच सेवा-कार्य

कौन करेगा ? समाजवादियों का कहना है कि अधिकतर तो वह मशीन से किया जाएगा। मशीन का प्रयोग ऐसे कार्यों म आजकल इसी कारण नही हो रहा है कि मनुष्य मशीनो से सस्ता है।

समाजवाद हर एक को आर्थिक समानता भले ही न प्रदान कर सके, लेकिन यह कभी समाजवादी राज्य की प्रबन्धकारिणी शक्ति की कमी के कारण नही वरन् मनुष्यों के जन्मजात असमानता के कारण ही होगी। प्रकृति सबको समान नही बनाती। प्रत्येक व्यक्ति म भिन्न भिन्न शक्ति तथा कार्य सामर्थ्य है। राज्य इसके लिए क्या करे। विधान द्वारा इसे नही सभाला जा सकता। परन्तु समाजवादी राज्य म प्रत्येक व्यक्ति की योग्यता और झुकाव जानकर शिक्षा तथा प्रशिक्षण द्वारा उसे समुन्नत किया जा सकता है जिससे हर एक नागरिक राज्य के कल्याण के लिए अपना सर्वश्रेष्ठ योगदान कर सके। निधनता के कारण वास्तविक योग्यता को दबने या नीचे गिरने नही दिया जाएगा। समाजवादी राज्य म नीच से नीच परिवार म से प्रतिभाशाली व्यक्ति को निकालकर उसे पूरी सुविधाएँ तथा अवसर दिए जा सकते हैं। अत यदि आर्थिक समानता की प्राप्ति सम्भव नहीं दिखलाई पडती तो कम से कम अवसर की समानता का हर व्यक्ति को आश्वासन दिया जा सकता है और इतना हो जाना ही कोई छोटा काम न कहलाएगा। जनता को बहुत कुछ समान स्तर पर भी लाया जा सकता है।

अस्तु, समाजवाद का भविष्य बहुत आशाप्रद जान पडता है।

१७ समाजवाद की प्रगति (Progress of Socialism)—पीगू (Pigou) ने कहा था, "यदि वर्तमान आर्थिक परिस्थितियों को जैसी कुछ वे अपने देश में आजकल हैं, हम पूँजीवाद का प्रतिनिधि मान लें, तथा समाजवाद को स्पष्ट रूप म छोड दें, तो पूंजीवाद का पलडा ऊँचा उठकर समाजवाद के बराबर आने लगेगा, क्योंकि ऐसा करते समय हम वास्तव म पूँजीवाद की नग्न मूर्ति को जिसके समस्त दोष स्पष्ट हैं, समाजवाद की ऐसी मूर्ति के सामने रखेंगे जिस पर पर्दा पडा हुआ है।"[1] अब समाजवाद की मूर्ति परदे के अन्दर नही है। एक समय था जब समाजवाद प्लेटो की 'रिपब्लिक' (Plato's Republic) अथवा मूर की 'यूटोपिया' (More's Utopia) सरीखी पुस्तकों म ही पाया जाता था अथवा राबर्ट ओवेन (Robert Owen) सरीखे आदर्शवादी उसे कार्यान्वित करने का प्रयत्न करते थे। आधुनिक समाजवादी पूरे देश को समाजवाद से ओत-प्रोत चाहता है, समाजवाद के बिखरे हुए टुकडे नहीं। सन् १८४८ के कम्युनिस्ट घोषणा-पत्र ने समस्त ससार के मजदूरों से एक होने की पुकार करके सनसनी फैला दी। यह क्रान्ति की पुकार थी और उसमे कहा गया था कि मजदूरों के बन्धन टूटने के अतिरिक्त उनका और कुछ नही बिगडता है तथा समस्त ससार विजय किए जाने के लिए सामने है।

तब से समाजवाद के अनुयायी ससार में बढते जा रहे हैं। जर्मनी से भागकर यहूदियों ने साइप्रस म समाजवादी आधार पर कई समाज स्थापित किए। लेकिन हाल ही म समाजवाद का फैलाव देखने योग्य हुआ है। सन् १६१६ म जर्मन चुनावों में

1 Pigou Capitalism and Socialism

समाजवादियों को लगभग पचास प्रतिशत वोट मिले। सन् १९२४ में एक-तिहाई ब्रिटिश जनता ने मजदूर दल को वोट दिया, १९३१ में यह संख्या चालीस प्रतिशत हो गई तथा १९४५ में मजदूर दल को ठोस बहुमत से चुन लिया गया। फ्रांस में १९३६ में एक तिहाई से अधिक संसद् सदस्य (Deputies) समाजवादी विचारों के थे स्पेन में समाजवादी सरकार थी जिसको जनरल फ्रैंको ने हिटलर और मुसोलिनी से अनुचित गठ-बन्धन करके उलट दिया। रूसी सेनाओं ने पिछले महायुद्ध में शानदार सफलता पाई तथा हिटलर के प्रवाह को ऐसा पलटा जैसा कि अन्य कोई राष्ट्र न कर सका। इस प्रकार रूस समस्त संसार की सराहना का भागी बना। स्वाभाविक फल यह हुआ है कि लगभग सब पूर्वी योरोपीय देश साम्यवादी हो रहे हैं। इटली, बलगेरिया, यूगोस्लाविया, फ्रांस आस्ट्रेलिया और पोलैण्ड सब देशों की सरकारें समाजवाद की ओर झुक रही हैं।

पूर्व में कम्युनिस्टों ने पृथ्वी के एक अच्छे खासे भाग, चीन का हस्तगत कर लिया है। चीन की कम्यूनिस्ट जीत मानव इतिहास की सबसे प्रभाव युक्त घटना सिद्ध हो सकती है। इस प्रकार पूर्व और पश्चिम में समाजवाद का प्रभाव बढ़ता जा रहा है।

भारतीय मस्तिष्क युवक-हृदय तथा प० जवाहरलाल नेहरू सरीखे नेता किसी न किसी रूप में समाजवाद पर विश्वास करते हैं। भारत ने देश में समाजवादी राज्य स्थापित करने का व्रत लिया है।

समाजवाद के लिए उत्साह उत्पन्न करने का श्रेय रूस को है। यदि हम रूसी प्रयोग के विषय में कुछ तथ्यों को संकलित करें तो ऐसा करना अवसर के अनुकूल होगा।

१८ रूस का प्रयोग (The Russian Experiment)—वाल्शेविक नेता लेनिन के नेतृत्व में रूसी मजदूर वर्ग ने किसानों की सहायता से ७ नवम्बर, १९१७ को सर्वहारावर्गीय समाजवादी क्रान्ति को पूरा किया। इसके फलस्वरूप एक नए राज्य का निर्माण हुआ जिसमें मजदूर वर्ग को सशक्त राजनैतिक शक्ति प्राप्त हुई। क्रान्ति के नेताओं को मार्क्स के समाजवादी सिद्धान्तों से प्रेरणा मिली थी जिससे उन्होंने क्रान्तिकारी कार्यक्रम आरम्भ किया। मूल उद्योगों तथा भूमि का राष्ट्रीयकरण बिना मुआवजा दिए किया गया। ऐसा विचार था कि समस्त निजी उद्योग तथा व्यापार को धीरे-धीरे सार्वजनिक स्वामित्व में बदल दिया जाए, तथा खेती को समाजवादी आधार पर पुनर्गठित किया जाए। किन्तु १९१८-२० का गृह युद्ध, कई विदेश शक्तियों के हस्तक्षेप के कारण तथा घरेलू प्रति-क्रान्तीय तत्त्वों के कारण, समाजवादी समाज का ढांचा बनाने में असफल रहा। गृह-युद्ध के कारण उत्पन्न हुई शोचनीय दशा को कठोर उपायों द्वारा सुधारा जा सकता था। इन उपायों को "उग्र साम्यवाद" (War Communism) का नाम दिया जाता है। इसके मुख्य उद्देश्य ये थे—(क) उत्पादन का केन्द्रीयकरण तथा मूल उत्पादन और सेवाओं का वितरण और इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए बीच के तथा लघु-स्तर के उद्योगों का राष्ट्रीयकरण

करना, साथ ही किसानों से कृषि-जन्य आवश्यकताओं से अधिक माल लेकर उसका राष्ट्रीयकरण करना, (ख) मजदूरी को माल के रूप में देना चूँकि उस समय मुद्रा का मूल्य मुद्रा स्फीति के कारण बिलकुल खत्म हो गया था, तथा (ग) युद्ध की सी स्थिति का मुकाबला करने के लिए श्रम-सेवा को व्यापक रूप देना।

गृह युद्ध के समाप्त होने के पश्चात देश में सामान्य स्थिति पैदा हुई। इसकी जरूरत इसलिए पड़ी कि अर्थ-व्यवस्था को फिर से ठीक किया जाए जो कि युद्ध के कारण खत्म हो गई थी, इसलिए १९२१ में नयी आर्थिक नीति शुरू की गई। इस नीति की मुख्य बात यह है कि राज्य के अन्तर्गत अर्थ सम्बन्धी सभी जरूरी बातें आती थीं, किन्तु एक सीमित मात्रा में निजी उद्योग को भी स्वतन्त्र छोड़ दिया गया। खेती द्वारा तैयार अधिक माल को सरकारी कब्जे में लेने के बजाए एक प्रकार का टैक्स लगाया गया जो माल के रूप में था जिससे किसानों को अधिक पैदा करने की प्रेरणा मिले। कुछ निजी उद्योगों तथा व्यापारों को खुला छोड़ दिया गया जिससे औद्योगिक उत्पादन तथा वस्तुओं के आदान प्रदान बना रहे। इसके बाद मजदूरी फिर मुद्रा में दी जाने लगी।

बोल्शेविस्ट युग के प्रारम्भिक काल में रूस में ३ वर्ष तक चलने वाले गृह युद्ध के कारण दीनता तथा दुःख का राज्य छा गया था। उत्पादन युद्ध के पूर्वकाल के आँकड़ों का अंश मात्र रह गया था, तथा रहन-सहन का स्तर बहुत कुछ गिर गया था। परन्तु पुनर्वास का कार्य जारी रहा तथा सन् १९२७ में युद्ध काल के पूर्व की स्थिति को प्राप्त कर लिया गया। १९२८ में प्रथम पंचवर्षीय योजना का श्रीगणेश हुआ, जिसमें कृषि विषयक तथा बड़े उद्योगों के उत्पादन के निश्चित लक्ष्य निर्धारित किए गए। कृषि के क्षेत्र में एकत्रीकरण की नीति पूरे जोर से काम में लाई गई। बड़े बड़े फार्म बनाए गए, ऋण तथा मशीनें दी गईं। कृषि के उत्पादन में बाढ़ सी आ गई। सन् १९३३ ३४ में कृषि के सामूहिकीकरण या एकत्रीकरण की चाल धीमी कर दी गई तथा व्यक्तिगत लाभ को कुछ सीमा तक स्थान दिया गया। स्टालिन (Stalin) ने बड़ी वास्तविक नीति ग्रहण की। उसने मानव मनोविज्ञान का पूर्ण-रूपेण लाभ उठाया जो शक्ति प्रभाव, यश और प्रतिफल चाहता है। औद्योगिक नेताओं को सम्मान सूचक पदक प्रदान किए गए। अधिक कार्य कुशलता के लिए लाभांश तथा पारितोषिक दिए गए। प्रतिस्पर्द्धा की भावना को विभिन्न औद्योगिक समूहों के बीच फैला दिया गया तथा समस्त वातावरण को खिलाड़ियों के ऐसे खेल के समान कर दिया गया जिसमें दोनों पक्ष सम्मान के लिए परिश्रम करते हैं। उत्पादन की गति बढ़ी तथा योजना आयोग (Gosplan) के निर्देशानुसार लक्ष्य प्राप्त किए गए। जब वे अर्ध सभ्य अपढ़ किसान, जिन्होंने कभी सामूहिक कार्य करना नहीं जाना था नई प्रणालियों में काम पर लगाए गए तब सभ्य संसार ने रूस को तिरछी निगाहों से देखा परन्तु जब प्रथम योजना ने अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर ली, तब संसार चकित रह गया। ट्रैक्टर, मशीन बनाने के कल-पुर्जे, मोटरें तथा अन्य भारी मशीनें कारखानों से तांता बाँध कर निकलने लगीं।

दूसरी योजना म उपभोग्य माल के उत्पादन पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा। १९३८ म तीसरी पचवर्षीय योजना, जिसके अन्तर्गत १९३८-४२ का समय आता है, शुरू की गई। १९४० म सोवियत सघ एक औद्योगिक देश बन चुका था। कच्चे लोहे की पैदावार १५० लाख टन, इस्पात १८३ लाख टन, कोयला १६६० लाख टन, तेल ३१० लाख टन, तथा ४८० करोड किलोवाट बिजली का उत्पादन होने लगा। सन् १९२८ में यह आंकडे इस प्रकार थे—कच्चा लोहा ३३ लाख टन, इस्पात ४३ लाख टन, कोयला ३५५ लाख टन, तेल ११७ लाख टन तथा बिजली ५० करोड किलोवाट। इसके बाद नाजी हमले के कारण आर्थिक विकास म बाधा पडी जिससे सोवियत अर्थ व्यवस्था फिर से बिगड गई। सोवियत यनियन म युद्ध पूर्व की स्थिति का स्तर १९४८ म प्राप्त हुआ। इस तरह युद्ध काल म आठ वर्ष तक बाधा पडती रही। किन्तु तब से यह उन्नति बहुत अधिक हुई है। १९५० में चौथी पचवर्षीय योजना तथा १९५५ म पांचवी पचवर्षीय योजना पूरी हुई। १९५५ ५६ म छठी पचवर्षीय योजना शुरू की गई है। इस योजना के अन्तगत काफी बड लक्ष्य निर्धारित किए गए हैं। १९६० म सोवियत यूनियन म कच्चा लोहा ५३० लाख टन, इस्पात ६८३ लाख टन कोयला ५९३० लाख टन, तेल १३५० लाख टन तथा बिजली ३२०० करोड किलोवाट उत्पन्न होगी। इसके अलावा ५५० लाख टन सीमट और १८०० लाख टन अनाज उत्पन्न होगा। यह पैदावार आज के ब्रिटेन, पश्चिमी जर्मनी तथा फ्रास की कुल पैदावार से बहुत ज्यादा है। अमरीकी पैदावार की तुलना म यह कम है किन्तु सोवियत यूनियन को इस बात का पूरा भरोसा है कि वे इस सीमा को पार कर जाएँगे और जहाँ तक आर्थिक विकास का सम्बन्ध है वह ससार में पहले दर्जे का देश होगा। इस विश्वास की झलक सोवियत यूनियन की छठी योजना मे दिखाई देती है। इस समय रूस के पास सारी आवश्यक चीजे मौजूद हैं। यदि रूस इतने थोडे समय में शान्तिपूर्ण और आर्थिक प्रतियोगिता के माग से अपने मुख्य आर्थिक लक्ष्य प्राप्त कर चुका है तो यह उसके लिए निस्सन्देह बडे गर्व का विषय है। सभी विचारवान लोग यह मानते हैं कि रूस ने पूँजीवादी देशों को प्रति व्यक्ति उत्पादन के क्षेत्र मे पीछे छोड दिया है।

१९ समाजवादी राज्य में आर्थिक समस्याएँ (Economic Problems in a Socialist State)—रूस ने अपनी विभिन्न आर्थिक समस्याओं का कैसे सामना किया, वह जानना रुचिकर होगा।

निजी सम्पत्ति (Private Property)—मकान, मोटर, कुछ जानवर तथा अन्य उपभोग सामग्री के रूप में निजी सम्पत्ति रखना कानून के खिलाफ नहीं है। सरकारी बाड तथा प्रतिभूतियां खरीदी जा सकती हैं तथा बैंक मे हिसाब रखा जा सकता है। पचास सहस्र रूबल तक की सम्पत्ति उत्तराधिकार म दी जा सकती है, परन्तु बिना कमाई की आय पर निर्भर रहना बहुत हतोत्साहित किया जाता है और ऐसी आय पर भारी कर लगाया जाता है।

कीमत व्यवस्था (Pricing System)—स्वतन्त्र व्यवसाय प्रणाली या प्रतियोगी व्यवसाय प्रणाली या व्यक्तिगत व्यवसाय प्रणाली म कीमत व्यवस्था के द्वारा

प्रमुख आर्थिक समस्याएँ अपने आप हल हो जाती है। कुछ अर्थ-विज्ञानवेत्ताओं विशेषतया श्रीमती हेयक (Mrs Hayek) तथा रॉबिन्स (Robins) का कथन है कि समाजवादी पद्धति के अन्तर्गत विचारयुक्त हिसाब किताब रखना असम्भव है। उनका विचार है कि कीमत व्यवस्था के विषय म समाजवादी अँधेरे मे भटकते हैं। परन्तु पीगू (Pigou) आदि कई अर्थशास्त्रियो का कथन है कि समाजवादी पद्धति मे ऐसा हिसाब-किताब रखने में कोई कठिनाई नही है। डिकेन्सन (Dickenson) का विचार भी यही है कि मूल्य व्यवस्था तथा विक्रय व्यवस्था का पूँजीवादी यन्त्र समाजवाद म भी सफलता के साथ प्रयोग किया जा सकता है। रूसी लोगो ने अपनी वस्तुओ की कीमतें अवश्य निर्धारित की हैं। वे किसी वस्तु की कीमत निर्धारित करते समय कच्चे माल की कीमत, मजदूरी लागत, यातायात व्यय और अन्य आवश्यक लागतो को जोडकर उसमें कुछ प्रतिशत लाभाश भी जोडते हैं। इस प्रकार वे विक्रय कीमत निर्धारित करते हैं। यह किसी सीमा तक मनमानी कीमत कही जा सकती है। समाजवादी व्यवस्था में उपभोक्ताओं की माँग की तीव्रता पर ध्यान नहीं दिया जाता, यद्यपि वस्तुओ की दुर्लभता पर कुछ ध्यान अवश्य दिया जाता है। किन्तु पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था के समान ही समाजवादी अर्थ-व्यवस्था म भी कीमतें इतनी नीची भी होगी कि माल पडा न रहे, और इतनी ऊँची भी होगी जो उत्पादन की ऐसी सीमान्त लागत अवश्य प्राप्त हो जाए, जो समाज के निर्वाह लायक काफी हो। समाजवादी अर्थ व्यवस्था म यह आवश्यक नही है कि कीमत बाजार कीमत ही हो जैसा कि पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था मे आवश्यक है। बल्कि समाजवादी व्यवस्था म कीमत, पूर्व निश्चित होती है जिसे नियोजन अधिकारी निश्चित करते हैं।

श्रम की पूर्ति तथा मजदूरी (Supply of Labour and Wages)—अब रूस में धन्धो को छाँटने की स्वतन्त्रता है। परन्तु अब टेक्नीकल शिक्षा की बहुत सुविधाएँ हैं। शिक्षा का व्यय सरकार इस शर्त पर सहन करने को तैयार है कि शिक्षा के पश्चात् निश्चित अवधि तक (शर्त के अनुसार) वे सरकारी कारखानो में काम करें। कार्य का प्रतिफल (मजदूरी) द्रव्य या रुपय के रूप म दिया जाता है और योग्यता, कार्यपटुता तथा काम के आधार पर मजदूरी म अन्तर होता है। कार्य मे कितना श्रम और कितना समय लगता है (motion study and time study) आदि की जाँच करके इसका पूर्ण वैज्ञानिक अध्ययन करने के पश्चात् मजदूरी का प्रमाप निर्धारित किया जाता है। जिन श्रमिको को अधिक उत्पादन करने म कम समय लगता है, उन्हे उनकी कार्यपटुता के आधार पर अतिरिक्त पारिश्रमिक दिया जाता है। श्रमिको को वेतन के अतिरिक्त सामाजिक लाभाश भी दिया जाता है जिससे वे अपना जीवन-स्तर अच्छा रख सकें। सामाजिक लाभाश, परिवार के सदस्यो की सख्या और उनकी आवश्यकताओ के अनुरूप कम या अधिक होता है। इस प्रकार के लाभाश देने का उद्देश्य यही है कि विभिन्न वर्गों की आय के स्तरो म कम से-कम भेद हो। यदि किसी विशेष कोटि के श्रम की कमी है, तो ऊँचे वेतन का प्रलोभन देना पडता है, जिसम अच्छा और सही श्रम प्राप्त हो सके। कामकरो को निश्चित कार्य सौंपा जाता है। श्रमिको को सरकारी कर्मचारियो के समान एक स्थान से

दूसरे स्थान पर भेजा जा सकता है। सरकार माँग के अनुसार पूर्ति का प्रबन्ध करने की व्यवस्था करती है।

वित्त (Finance)—रूसियों ने विदेशी ऋणों को खत्म कर दिया था। अत विदेशी ऋण मिलने की तो आशा ही नहीं थी। इसलिए उन्हें मुद्रा-द्रव्य बनाना पड़ा। नोट बड़ी संख्या में निकाले गए। मुद्रा-स्फीति तथा उसके समस्त परिणाम झेलने पड़—बड़े-बड़े मूल्य और बड़ा महँगा जीवन-निर्वाह। जनता से भी ऋण लिया गया। तत्पश्चात् उद्योगों से आय होने लगी और योजना के आगे बढ़ाने म वित्त-प्राप्ति होने लगी।

लगान (Rent)—समाजवादी राज्य म भी लगान के विचार को हटाया नहीं जा सकता। पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था को समाजवादी रूप देने में सीमित भूमि, असीमित नहीं बन जाएगी। उत्पादन शक्ति के सूचक के रूप म लगान भूमि को विभिन्न प्रयोगों म वितरण करने म सहायक होगा। समाजवादी राज्य को भी भूमि को एक उपयोग में हटाकर दूसरे उपयोग में लगाना होगा जिससे उसकी सीमान्त उत्पादन-शक्ति सब उपयोगों म समान हो जाए। लगान द्वारा जमीन की सीमान्त उत्पादन शक्ति का अनुमान लगाया जा सकता है। जैसा कि सेम्युलसन का कथन है "जमीन की कीमत अथवा लगान इसलिए बढ़ता है कि सर्वोत्तम उपयोग में इसकी पूर्ति बँट सके।"[1] समाजवादी राज्य म भी भूमि को एक काम से हटाकर दूसरे में लगाना होगा, जिससे सब उद्योगों म इसका सीमान्त उत्पादन समान रहे। लगान के आधार पर ही हम भूमि की सीमान्त उर्वरता को निर्धारित कर सकते हैं। मूल्यवान मानवीय अथवा अमानवीय स्रोतों के उचित बँटन सुनिश्चित करने का यही मार्ग है।

ब्याज (Interest)—रूसियों ने ब्याज को समाप्त नहीं किया है। राजकीय ऋण पर ब्याज मिलता है। इससे यह प्रकट होता है कि पूँजी की माँग और पूँजी की प्राप्ति को समतल पर लाने का प्रयत्न किया गया है। व्यक्तिगत खातों पर बैंक भी ब्याज देता है। निजी पूँजी के समाप्त हो जाने के कारण पूँजीपतियों को प्रयोग-हीन धन के जमा रखने के ब्याज के रूप म प्रतिफल नहीं मिल पाता। राज्य ऋण लेता है, ब्याज देता है, और उद्योग का लाभ स्वयं रख लेता है।

समाजवादी व्यवस्था म ब्याज का क्या कार्य होता है? जैसा कि हम जानते हैं, पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में ब्याज निम्नलिखित तीन कार्य करता है—(१) बॉड तथा आस्तियों आदि की सहायता से ब्याज के द्वारा लोगों की आय का अन्दाजा लगाया जा सकता है, (२) ब्याज के कारण लोगों को प्रोत्साहन मिलता है कि वे पूँजी नियोजित करें तथा (३) ब्याज वर्तमान और भावी मूल्यों में सम्बन्ध स्थापित करता है अर्थात् ब्याज से समाज यह निश्चय करता है कि राष्ट्रीय आय का कितना अंश पूँजी निर्माण में लगाया जाए, और फिर वह निर्मित पूँजी किस काम में लगाई जाए। समाजवादी अर्थ-व्यवस्था म प्रथम दो बातों का कोई महत्त्व नहीं दिया जाता क्योंकि पूँजी पर व्यक्तियों का स्वामित्व है ही नहीं, अत ब्याज न तो समाज की आय

---

1 Economics, 1948 p. 538

निर्धारित करने का मापदण्ड है और न वह पूँजी निर्माण म प्रोत्साहन देने वाला तत्त्व है। परन्तु अर्थ व्यवस्था का प्रकार कुछ भी हो, ब्याज के द्वारा राष्ट्रीय पूँजी का वर्तमान कार्यों पर कितना अश लगाया जाए और भविष्य के कार्यों पर कितना अश लगाया जाए यह तो निश्चित करना ही होगा। पूँजी सीमित होती है किन्तु इसके प्रयोग असीमित हैं। ब्याज की दर यह निर्धारित करती है कि पूँजी किन दिशाओं म लगाई जाए। निस्सन्देह वे व्यवसाय जहाँ १२% ब्याज मिलने की सम्भावना है उन व्यवसायो से अधिक आकर्षक होंगे जहाँ केवल १०% आय की सम्भावना है। दुर्लभ पूँजी की प्राप्ति के लिए भी ब्याज का आकर्षण प्रभावी होता है। ब्याज की दर से ही हम वैकल्पिक विकास योजनाओ म प्राथमिकता दे सकते हैं।

मजदूरी (Wages)—अन्य उत्पादन साधनो की तरह श्रम के सम्बन्ध म लेखा-कीमत की पद्धति उपयुक्त न होगी क्योंकि श्रम की मात्रा बँधी हुई नही है। लोग कार्यों को अपनी पसन्द के हिसाब से चुन सकते हैं और यह भी तय कर सकते हं कि अधिक काम करें या कम अर्थात् वे आमदनी प्राप्त करें या आराम करें। इसलिए यह आवश्यक है कि वास्तविक बाजार-मजदूरी की दरें निश्चित की जाएँ। ये दरें विभिन्न बातो पर निर्भर होंगी, जैसे काम की पसन्दगी, सहायक धन्धो के मिलने के अवसर, श्रमिको की उत्पादन-शक्ति आदि। सीमान्त उत्पादन-शक्ति से मजदूरी निर्धारित होगी। अस्तु, समाजवादी राज्य म कोई एक बँधी हुई मजदूरी की दर नही होगी। मजदूरी की दरें श्रमिको की उत्पादन-क्षमता, तथा कठिन काम करने वाले मजदूरों को दिए जाने वाले मुआविजे की रकम पर निर्भर करेगी। समाज के विभिन्न वर्गों के व्यक्तियों की आयों म जो असमानता होगी, उसका आधार सम्पत्ति विषयक असमानता न होकर ऊपर कहे गए कारण होंगे।

उत्पादन के साधनो का बँटन (Allocation of Factors of Production)—राज्य का योजना अधिकारी किसी उद्योग से सम्बन्धित उन साधनो को आँकता है जो उक्त उद्योग में अधिकतम उत्पादन के लिए नितान्त आवश्यक होते हैं और तब फिर वह उन साधनो की पूर्ति की व्यवस्था करता है। पहले यह निश्चित किया जाता है कि किन उद्योगों को विकसित करना है और किस सीमा तक। तब उक्त साधनो को उपभोक्ताओं की पसन्द के आधार पर नही वरन् योजना अधिकारियो के निश्चयानुसार प्रवाहित किया जाता है। उदाहरण के लिए रूसियो ने भारी उद्योगों की ओर साधनों को केन्द्रित किया। अत स्वाभाविक ही था कि उपभोक्ताओ की आवश्यकताओं की वस्तुओं की कमी हो गई और उनकी कीमतें बहुत ऊँची चली गईं। पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत ऐसी स्थिति म उत्पादन के साधन, उपभोक्ताओं की आवश्यक वस्तुओ के निर्माण म लगाए जाते, ताकि उक्त कमी पूरी हो सकती। किन्तु समाजवादी राज्य म इस ओर ध्यान ही नही दिया जाता। वहाँ कमी बनी रहती है और कीमत नियन्त्रण तथा राशनिंग प्रभावी कर दिए जाते हं। रूस म राज्य अधिकारियों के द्वारा सामान्य कीमत प्रणाली को, जो उपभोक्ताओं के मूल्याकन के आधार पर साधनो का बँटन करती है, निष्क्रिय कर दिया जाता है। अत साधना का बँटन, उपभोक्ताओं की पसन्द के आधार पर न

होकर राज्य की इच्छा के आधार पर होता है। राष्ट्र के जीवन में अमुक अवधि के लिए सब से उपयोगी क्या है, इसका निर्णय राज्य करता है। उसी के अनुसार राज्य साधनों का बँटन करता है। उपभोक्ताओं को अपनी मांग राजकीय परिस्थितियों तथा उत्पादन की स्थिति के अनुसार व्यवस्थित करनी पड़ती है।

२० कल्याणकारी राज्य (The Welfare State)—इन दिनों हर व्यक्ति कल्याणकारी राज्य के बारे में कुछ-न-कुछ सोचता है। सभी आधुनिक राज्य कल्याणकारी राज्य होने का दावा करते हैं। परन्तु कल्याणकारी राज्य का वास्तविक अर्थ क्या है, इस बारे में सभी लोग एकमत नहीं हैं। फलस्वरूप विभिन्न देशों में सामाजिक कल्याण के कार्यक्रम भी भिन्न हैं। कल्याणकारी राज्य में समाज को निम्नलिखित सुविधाएँ अवश्य प्राप्त होनी चाहिएँ

(१) कल्याणकारी राज्य के नागरिकों को आकस्मिक विपत्तियों जैसे बीमारी, बेकारी, बुढ़ापा आदि के विरुद्ध सुरक्षा की व्यवस्था रहनी चाहिए।

(२) कल्याणकारी राज्य नागरिकों के लिए प्रारम्भिक शिक्षा तथा चिकित्सा आदि सामाजिक सेवाओं की मुफ्त व्यवस्था करे।

(३) कल्याणकारी राज्य समस्त हृष्टपुष्ट श्रमिकों के लिए पूरा रोजगार देने की व्यवस्था करे चाहे इसमें कितना ही व्यय क्यों न हो। काम के इच्छुक श्रमिकों के लिए काम की व्यवस्था करना राज्य का कर्त्तव्य है।

(४) कल्याणकारी राज्य में सभी नागरिकों को बिना भेदभाव के समान काम के अवसर मिलें और विभिन्न वर्गों के बीच आय में अधिक अन्तर न रहे। धनिकों पर अधिक कर लगाकर तथा सार्वजनिक निर्माण पर अधिक पूँजी व्यय करके समाज में ऊँच नीच का भेद भाव कम किया जा सकता है।

(५) और सामाजिक सेवाओं तथा मौलिक उद्योगों का नियन्त्रण राज्य (समाज) के हाथों में रहे।

आधुनिक राज्यों में कल्याणकारी राज्य का दर्जा प्राप्त करने के सम्बन्ध में मानो होड़ लगी है। उदाहरण के लिए जहाँ पहले स्वयंसेवक संस्थाएँ सामाजिक सेवा का कार्य किया करती थी वहीं कार्य अब सरकारें अपने हाथों में ले रही हैं। पहले जो सेवाएँ केवल गरीब लोगों के लिए की जाती थीं, वे अब सभी नागरिकों को उपलब्ध की जा रही हैं। राज्य अब सुरक्षा बीमा योजनाएँ चला रहे हैं, जिनमें नागरिकों को बुढ़ापे बीमारी और बेकारी के विरुद्ध सुरक्षा का आश्वासन रहता है। राज्यों ने स्थानीय निकायों से ऐसी सेवाओं को लेकर अपने अधीन कर लिया है जिनका सम्बन्ध नागरिकों के कल्याण से है। अब राज्य, सामाजिक सेवाओं की व्यवस्था करते हैं, उनका प्रबन्ध और वित्तपोषण भी करते हैं, ताकि सारे राष्ट्र को सामाजिक सेवाओं का फल प्राप्त हो सके।

सामाजिक सेवा से तात्पर्य यह है कि सरकार स्वैच्छिक निकायों या विभागों के द्वारा सर्वसाधारण को नियोजन के अवसर दे, चिकित्सा-व्यवस्था करे, रहने को अच्छे घर दे तथा पिछड़े वर्गों को अधिक सहायता उपलब्ध करे ताकि वे भी आगे बढ़ सकें। सामाजिक कल्याण का अर्थ यह है कि सारे समाज की उन्नति हो। इसका अर्थ यह

है कि सभी व्यक्तियों की उन्नति हो, सभी परिवारों की भी उन्नति हो और समाज के प्रत्येक वर्ग और समुदाय की भी उन्नति हो। सामाजिक कल्याण के अन्तर्गत लोगों की धार्मिक भावनाओं का भी सहन करना होगा और उनमें लोकतन्त्रात्मक जाग्रति भी उत्पन्न करनी होगी। इस प्रकार सामाजिक कल्याण के किसी कार्यक्रम को पूरा करते समय हमको ध्यान रखना होगा कि समाज के सभी वर्गों और सभी व्यक्तियों को समान अवसर दिए जाएँ ताकि सभी अपनी शारीरिक, मानसिक, भौतिक, आर्थिक, बौद्धिक और राजनीतिक एवं सामाजिक उन्नति कर सकें। सामान्यत सामाजिक कल्याण कार्यक्रम में निम्नलिखित बातें सम्मिलित रहती हैं—परिवार भत्ता, वैवाहिक अनुदान, सन्तान अनुदान, भोजन महँगाई भत्ता स्कूली नाश्ता व्यवस्था, घर या फर्नीचर आदि खरीदने के लिए सस्ता सरकारी ऋण, कपड़े की व्यवस्था छात्रवृत्तियाँ, चिकित्सा सुविधाएँ छुट्टी वेतन मुफ्त छुट्टी व्यवस्था, मुफ्त यात्रा, तथा स्त्रियों और बच्चों को विशेष सुविधाएँ आदि आदि। सामाजिक सुरक्षा का अन्तिम ध्येय यही है कि समाज के सभी वर्गों को विपत्ति के विरुद्ध सामाजिक सुरक्षा का आश्वासन रहे। इस प्रकार सभी लोगों को कुछ मुफ्त सामाजिक सेवाएँ प्राप्त हो तथा सामाजिक बीमा उन्हें आकस्मिक विपत्तियों में रक्षा प्रदान करे।

कल्याणकारी राज्य से निम्नलिखित आर्थिक लाभ भी हैं—समानता सामाजिक सुरक्षा, अपनी आय से अधिक महँगी किन्तु नितान्त आवश्यक सेवाओं की प्राप्ति, आर्थिक प्रजातन्त्र पूर्ण नियोजन आदि आदि। और कल्याणकारी राज्य के निम्नलिखित राजनीतिक लाभ भी हैं—सामाजिक शान्ति, व्यक्ति की गरिमा की रक्षा। इसके अतिरिक्त कल्याणकारी राज्य में लोगों का नैतिक स्तर भी उच्च रहता है।

क्या भारत एक कल्याणकारी राज्य है ? (Is India A Welfare State ?) भारत के लिए कल्याणकारी राज्य का विचार नवीन विचार नहीं है। अशोक आदि कई प्राचीन राजाओं ने तथा अकबर, फीरोजतुगलक शेरशाह सूरी आदि कई मध्ययुगीन राजाओं ने सामाजिक कल्याण की ओर पर्याप्त ध्यान दिया था। हमारे ब्रिटिश शासकों ने भी विधान निर्माण के द्वारा तथा प्रशासनिक उपायों के द्वारा सामाजिक सुधार करने चाहे थे। किन्तु आम तौर पर राज्य इस ओर उदासीन रहा। अन्त में १९वीं शताब्दी के अन्त में इस ओर समाज-सुधारकों ने पहल की। १८९० में अखिल भारतीय सामाजिक सम्मेलन (All India Social Conference) की स्थापना हुई।

बीसवीं शता०दी में कई समाज सुधारक हुए, जिनमें महात्मा गाँधी के इस दिशा में किए गए प्रयत्न सर्वाधिक लाभदायक सिद्ध हुए। १९२६ में अखिल भारतीय महिला सम्मेलन की स्थापना हुई। १९३६ में कस्तूरबा ट्रस्ट तथा टाटा के सामाजिक विज्ञान संस्थान की स्थापना हुई। इसके पश्चात १९४७ में भारतीय समाज सेवकों के सम्मेलन की स्थापना हुई। फिर १९५७ में अखिल भारतीय ग्रामोद्योग सभा हरिजन सेवक संघ, तथा केन्द्रीय सामाजिक सेवा निगम की स्थापना हुई।

भारत का संविधान चाहता है कि भारत कल्याणकारी राज्य के रूप में विकसित हो। भारतीय संविधान की प्रस्तावना में कहा गया है कि 'भारत के लोग, भारत

को एक सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य बनाने के लिए, तथा उसके समस्त नागरिको को—

(१) सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय,

(२) विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतन्त्रता;

(३) प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त कराने के लिए, तथा उन सब मे

(४) व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता सुनिश्चित करने वाली बन्धुता बढाने के लिए सविधान को अङ्गीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।"

उसी प्रकार भारतीय सविधान म वर्णित राज्य की नीति के निदेशक तत्वो मे कहा गया है कि "राज्य ऐसी सामाजिक व्यवस्था की, जिसमे सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय राष्ट्रीय जीवन की सभी सस्थाओं को अनुप्राणित करे, भरसक कार्यसाधक रूप म स्थापना और सरक्षण करके लोक कल्याण की उन्नति का प्रयास करेगा।" आगे चलकर कहा गया है कि 'राज्य अपनी नीति का विशेषतया ऐसा सचालन करेगा कि सुनिश्चित रूप से—

(क) समान रूप से नर और नारी सभी नागरिको को जीविका के पर्याप्त साधन प्राप्त करने का अधिकार हो,

(ख) समुदाय की भौतिक सम्पत्ति का स्वामित्व और नियन्त्रण इस प्रकार बँटा हो कि जिससे सामूहिक हित का सर्वोत्तम रूप से साधन हो,

(ग) आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार चले कि जिससे धन और उत्पादन के साधनो का सर्वसाधारण के लिए अहितकारी केन्द्रण न हो,

(घ) पुरुषो और स्त्रियो दोनो का समान कार्य के लिए समान वेतन हो,

(ङ) श्रमिक पुरुषो और स्त्रियो का स्वास्थ्य और शक्ति तथा बालको की सुकुमार अवस्था का दुरुपयोग न हो, तथा आर्थिक आवश्यकता से विवश होकर नागरिको को ऐसे रोजगारो मे न जाना पडे जो उनकी आयु या शक्ति के अनुकूल न हो, और

(च) बच्चो और सुकुमारो को शोषण से तथा अनैतिक व्यापारो से बचाया जाए"।

१६५० म भारत म योजना आयोग की स्थापना हुई। उक्त आयोग का ध्येय है कि भारत में कल्याणकारी राज्य की स्थापना का लक्ष्य पूर्ण हो। प्रथम पचवर्षीय योजना के लक्ष्य निर्धारित करते हुए कहा गया था कि सभी नागरिको के साथ सामाजिक न्याय किया जाएगा और विभिन्न वर्गो के बीच की आर्थिक और सामाजिक असमानता को कम किया जाएगा। योजना के द्वारा राष्ट्रीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र का समुचित विकास अभीष्ट है। सामाजिक सेवाओ से सम्बन्धित अध्याय म बताया गया है कि कल्याणकारी राज्य के लक्ष्यो को प्राप्त करने के लिए क्या क्या उपाय करने होगे।

भारत म भारत सरकार के प्रशासनिक विभाग और भारत सेवक समाज सरीखी अनेक सस्थाएँ सामाजिक कल्याण के कार्यक्रम को पूरा कर रही हैं। उक्त कार्यक्रम के अन्तर्गत युवक सुधार, स्त्री कल्याण, सामुदायिक विकास, अपाहिजो और

अपाहिजो की सेवा-शुश्रूषा, गरीबों, पतितो और अनाथो का भरण-पोषण तथा पिछडे लोगो की आर्थिक और बौद्धिक उन्नति भी शामिल है।

इस प्रकार भारत शनै शनै किन्तु दृढता से कल्याणकारी राज्य का दर्जा प्राप्त करने जा रहा है। इस दिशा में हमारी प्रगति हमारे अपने साधनो और विदेशी सहायता की मात्रा पर बहुत कुछ निर्भर होगी।

निर्देश पुस्तकें

Taylor, F and Lange O On the Economic Theory of Socialism

Ludwig Von Mises Socialism

Joad C E M Modern Political Theories

Cole, G D H Principles of Economic Planning

Dickenson H D Economic Planning and International Order

Pigou A C Capitalism Vs Socialism

Hayek Collectivist Economic Planning

Lewis Principles of Economic Planning

Dobb Studies in Development of Capitalism

Meade Planning and Price Mechanism

Joan Robinson Essay on Marxian Economics

Wootton B Freedom under Planning

Harris S E Economic Planning in Foreign Countries

Govt of India First Five Year Plan and Second Five Year Plan

Hess and others Outside Readings in Economics 1957

Paul Douglas and Others What is Capitalism pp 793 4

Edward Ballaney The Parable of the Water Tank p 804 12

Karl Marx and F Engles The Communist Manifesto pp 816 18

Loucks and Weldon Hoot Socialism and Communism Defined, pp 811 23

परिशिष्ट

अर्थशास्त्र के सिद्धान्तो का अध्ययन करने के लिए निर्देश पुस्तकें—

प्रारम्भिक विद्यार्थियो के लिए

Croome, H and King, G *The Livelihood of Man*
Croome, H *Approach to Economics*
Dane *Economics for Boys and Girls*
Dewett, Varma and Singh *Introductory Economics*, Part I (*Theory*).
Hague and Stonier *Essentials of Economics*

बी० ए० के विद्यार्थियो के लिए

Hicks, J R *The Social Framework* (2nd edn.)
Meade, J E, and Stone, J. R N *National Income and Expenditure*
Tew, J H B *Wealth and Income*
Benham, F. C *Economics.*
Cairncross, A K *Introduction to Economics*
Samuelson, Paul A *Economics* An Introductory Analysis
Nevin, E *Textbook of Economic Analysis*
Albert Meyers *Elements of Modern Economics*
Stonier and Hague *A Textbook of Economic Theory*
Tarshis, L *The Elements of Economics*

परम्परागत अर्थशास्त्र (Traditional Economics) का अध्ययन करने के लिए निर्देश पुस्तकें—

उच्च विद्यार्थियों के लिए

Marshall, A *Principles of Economics*
Henderson *Supply and Demand*
Wicksteed *Common Sense of Political Economy*
Wicksell *Lectures on Political Economy*
Pigou *Economics of Welfare.*
Meade *Economic Analysis and Policy*

परम्परागत अर्थशास्त्र से सम्बन्धित पुस्तकों का मुख्य सम्बन्ध मार्केट प्रणाली के विश्लेषण से है जो गतिहीन तथा भावपरक और काल्पनिक है। इसके अन्तर्गत उपभोग का सिद्धान्त, उत्पादन का सिद्धान्त तथा वितरण का सिद्धान्त शामिल है। इसके प्रत्येक अंग म कुछ सैद्धान्तिक धारणाओं के अन्तर्गत जिनका सम्बन्ध प्रतियोगिता तथा स्रोतों की स्थिति से है, साम्य की स्थिति का पता लगाने का प्रयत्न किया गया है। परम्परागत अर्थशास्त्र में हम माँग, पूर्ति और कीमत व्यवस्था के परस्पर सम्बन्धों के अन्तर्गत मूल्य के सिद्धान्त की विवेचना करते हैं। अधिकतम आर्थिक कल्याण की प्राप्ति के लिए कीमत व्यवस्था किस प्रकार की रहे, यही पीगू (Pigou) और मीड (Meade) ने अपनी अपनी उपरोक्त पुस्तकों में बताया है।

नवीन अर्थशास्त्र

कीन्स का अर्थशास्त्र (Keynesian Economics) या नवीन अर्थशास्त्र, परम्परागत अर्थशास्त्रियों की मान्यताओं पर प्रहार करता है। कीन्स (Keynes) ने नया दृष्टिकोण प्रदान किया है। कीन्स वास्तविक संसार में विचरण करता है। उसने अपनी पुस्तक (General theory of Employment Interest and money) में नया आर्थिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। कीन्स के अर्थशास्त्र सम्बन्धी विचारों का अध्ययन करने के लिए प्रारम्भिक विद्यार्थी को जोन राबिन्सन (Joan Robinson) की पुस्तक (Introduction to the Theory of Employment) पढ़नी चाहिए। इस के अतिरिक्त ये पुस्तकें भी पढ़नी चाहिएं

Oxford institute of Statistics *Economics of full Employment*
Meade *Economic Analysis and Policy*
Planning and the Price Mechanism
Morgan *Conquest of Unemployment*
Dillard *Economics of Keynes*
Hansen *Guide to Keynes*
Harris (Ed) *New Economics*

परम्परागत अर्थशास्त्र के विरोध के साथ साथ अर्थशास्त्र के अर्थों और उस की सीमा को लेकर भी विरोध चल पड़ा है। इस अध्ययन के लिए देखिए —

Robbins *Nature and Significance of Economic Science*
Wooton *Lament for Economics*
Hess and others *Outside Readings in Economics*
Robinson E E G *Monopoly*
Joan Robinson *Economics of imperfect Competition*
Chamberlain *Theory of Monopolistic Competition*
Hicks *Value and Capital*
Hicks *Revision of Demand Theory*
Hayek *The Pure Theory of Capital*
Stigler *Production and Distribution Theories*
Theory of Price (2nd edition)
Tugwell *Trend of Economics*
Boulding *Economic Analysis* (3rd edition)
Hansen *Monetary and Fiscal Policy*
Ellis H S (ed) *A Survey of Contemporary Economics*, Vol 1
Haley, B F (ed) *A Survey of Contemporary Economics* Vol 2
American Economic Association s *Readings* series

कीन्स के अर्थशास्त्रीय क्षेत्र (Keynesian field) से बाहर का अध्ययन करने के लिए निम्नलिखित पुस्तकें भी लाभदायक होगी —

Joan Robinson *Essay in Theory of Employment*
Essay on Marxian Economics

M Kalecki *Theory of Economic Dynamics*

W J Baumol *Economic Dynamics An Introduction*

अर्थशास्त्र के सिद्धान्तो का अध्ययन करने वाले विद्यार्थियो को सामयिक पत्रिकाओ मे भी लाभदायक सामग्री मिल सकती है। निम्नलिखित पत्रिकाओ का अध्ययन लाभदायक होगा —

1 *The Economic Journal* (Royal Economic Society, London)
2. *Econom co* (London School of Economics)
3 *Review of Econom c Stud es*, Cambridge
4 *Oxford Economic Papers*, New Series
5 *Quarterly Journa of Economics* (Department of Economics, Harvard University)
6 *Review of Economics and Statics* (Do)
7 *Journal of Political Economy* (Department of Economics University of Chicago)
8 *American Econom c Review* (American Economic Association
9 *Econometrica* (Econometric Society Chicago)